आर्यसमाज-शिक्षादर्शन

[सिद्धान्त एवं कार्य]

कर्तव्य पथ के पथिक आर्यजगत् के प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री

आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री
अभिनन्दन - ग्रन्थ

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (अलीगढ़)
दीपावली २०३७ वि०

ओ३म्

आर्यसमाज-शिक्षा दर्शन

आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री

अभिनन्दन-ग्रन्थ

आर्यसमाज

आचार्य

-शिक्षादर्शन

महेन्द्रप्रताप शास्त्री अभिनन्दन-ग्रन्थ

सम्पादक
विजयेन्द्र स्नातक
उप सम्पादक
शंकरदेव विद्यालंकार
उमेशचन्द्र स्नातक
प्रबन्ध सम्पादिका
कमला स्नातिका

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (अलीगढ़)

संरक्षक
महात्मा आनन्द स्वामी सरस्वती

संयोजक
प्रो० जयकुमार मुद्गल

सम्पादक-मण्डल
श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' डा० भवानीलाल भारतीय
डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री डा० राजकिशोर सिंह
डा० सौभाग्यवती स्नातिका

संस्करण : १९८०

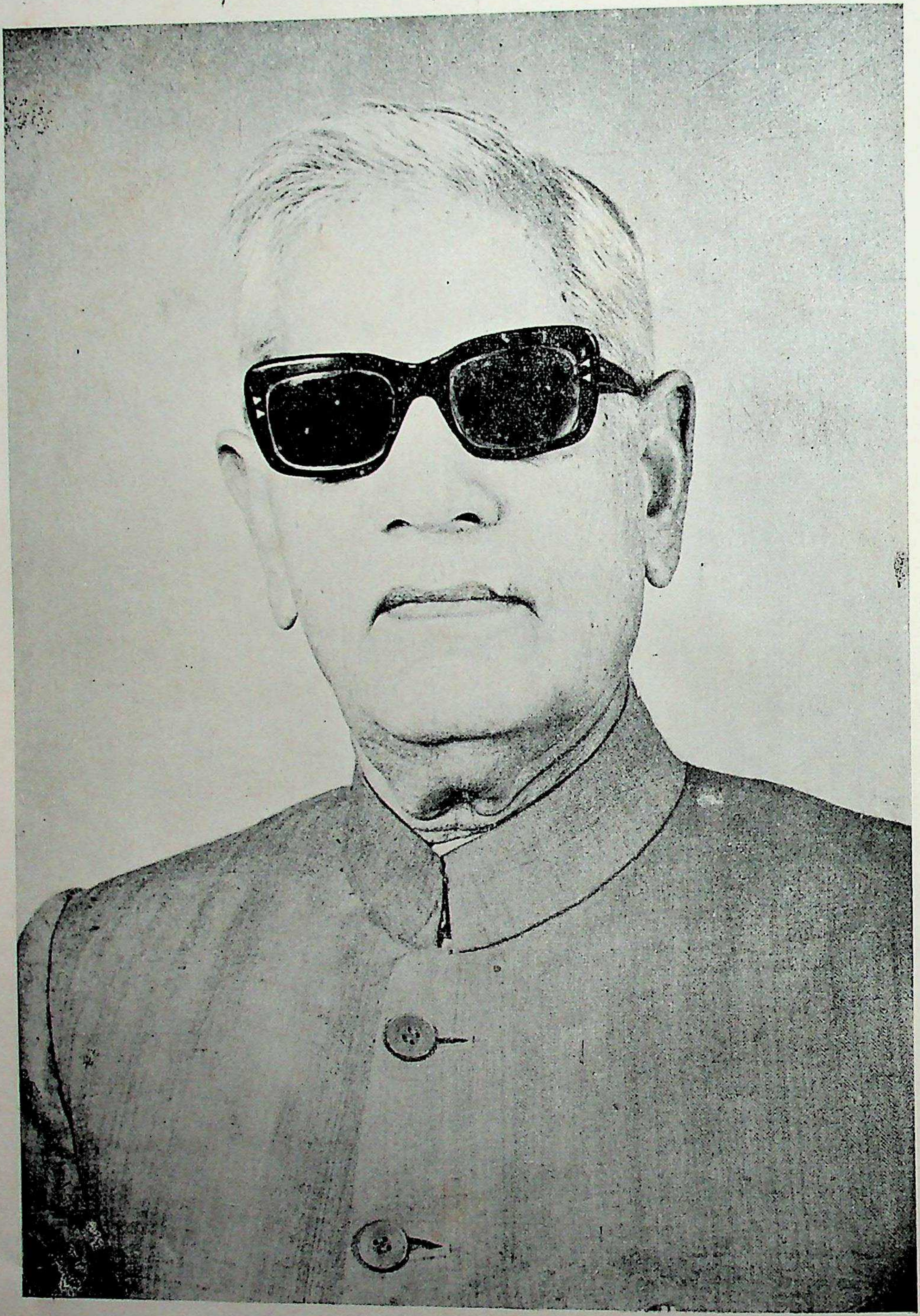
मूल्य : १०० रुपये

प्रकाशक एवं प्राप्ति स्थान
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय,
हाथरस (अलीगढ़) उ० प्र०

मुद्रक
भारती प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२



महर्षि दयानन्द सरस्वती
१९वीं सदी में भारत की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षिक, नैतिक एवं आर्थिक नव चेतना के अग्रदूत



आचार्य प्रवर श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री
जो आर्यसमाज के तत्त्वावधान में शैक्षिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में विगत ६० वर्षों से सतत कार्यरत हैं।

सम्पादकीय

आर्यजगत् के प्रख्यात नेता, शिक्षाशास्त्री, आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री की बहुमुखी प्रशंसनीय सेवाओं के उपलक्ष्य में उनके सम्मानार्थ एक अभिनन्दन-ग्रंथ समर्पित करने का निश्चय आज से पाँच वर्ष पूर्व किया गया था। आदरणीय शास्त्रीजी के बहुसंख्य शिष्यों, मित्रों, प्रशंसकों और आर्य बन्धुओं ने इस पवित्र अनुष्ठान को सम्पन्न करने का निश्चय शास्त्रीजी के ७५वें जन्म-दिवस के शुभ अवसर पर किया था। सन् १९७५ की दीपावली का दिन शास्त्रीजी का ७५वाँ जन्म-दिवस तो था ही, वह आर्यसमाज की स्थापना का भी पवित्र शताब्दी वर्ष था। अतः यह निश्चय किया गया था कि आदरणीय शास्त्रीजी को जो अभिनन्दन-ग्रंथ भेंट किया जाये वह साधारण स्तुति-परक ग्रंथ न होकर आर्यजगत् की शैक्षिक उपलब्धियों, कार्य-कलापों और सांस्कृतिक गतिविधियों का एक प्रामाणिक संदर्भ ग्रंथ हो। वह एक ऐसा ग्रंथ हो जिसमें वैदिक सिद्धान्तों तथा विचारधाराओं पर भी सामग्री एकत्र की जाये तथा पाठक के लिए पठनीय लेख-निबंध आदि संकलित हों। सामग्री-संकलन के इस लोभ में हम इस कार्य के निमित्त विद्वान् लेखकों से निरन्तर पत्राचार करते रहे और आशा में रहे कि अभीष्ट सामग्री समय के भीतर उपलब्ध हो सकेगी। हमें खेद है कि निर्धारित अवधि में सामग्री प्राप्त नहीं हुई और समय प्रतीक्षा में ही व्यतीत होता रहा। अब पाँच वर्ष के विलम्ब से यह ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है, जब शास्त्रीजी ८० वर्ष पूरे कर रहे हैं।

हमारे शुभ संकल्प की सफलता पर किसी को संदेह करने का अवकाश नहीं है। संकल्प को कार्य रूप में परिणत करने के लिए हम जो थोड़े-बहुत प्रयास कर सकते थे, उसमें भी किसी को त्रुटि लक्षित न होगी। आर्यसमाज के शैक्षिक सिद्धान्तों, कार्यकलापों के साथ-साथ हमने अभिनन्दनीय आचार्य शास्त्रीजी की सामाजिक तथा सांस्कृतिक सेवाओं का सम्पूर्ण विवरण इस ग्रंथ में एकत्र कर दिया है, जो पाठक को शास्त्रीजी के कार्यकलाप से परिचित कराने के साथ उसके मन में समाज-सेवा की प्रेरणा उत्पन्न कर सकेगा। शास्त्रीजी का जीवन-वृत्त और शिक्षा, संस्कृति एवं समाज-सेवा के कार्य स्वयं में ऐसे हैं जो पाठक को उदात्त चरित्र, त्याग और उत्कर्ष की ओर प्रेरित करेंगे।

आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री का जन्म एक साधारण कृषक-परिवार में सन् १९०० में दीपावली के दिन हुआ था। शास्त्रीजी के पूज्य पिता श्री माधवसिंहजी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। एक प्रकार से उनका जीवन वैदिक सिद्धान्तों और आदर्शों के लिए समर्पित था।

अपनी गाँव की सम्पत्ति को छोड़कर वे आर्यसमाज के प्रचार के लिए आगरा में रहने लगे थे। किसी प्रकार की आर्थिक सहायता या वेतन आदि के बिना निःस्वार्थ भाव से वे सामाजिक कार्यों में संलग्न रहते थे। उन दिनों आगरा आर्यसमाज के प्रचार-कार्यों का केन्द्र था। वैदिक सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले मेधावी विद्यार्थी जो आगरा कालेज में पढ़ने आते थे वे सभी श्री माधवसिंहजी के सम्पर्क में रहते और आदर्श जीवन व्यतीत करने की शिक्षा उनसे ग्रहण करते थे। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने आर्य सिद्धान्तों का परिचय श्री कालीचरणजी से और 'सादा जीवन उच्च विचार' का पाठ ठाकुर माधवसिंह जी से ही पढ़ा था। श्री शालिग्राम, श्री पूर्णचन्द्र वकील, श्री छोटूराम आदि अनेक सुप्रसिद्ध आर्य विचारों के व्यक्ति ठा० माधवसिंह जी के द्वारा ही आर्य-समाज के प्रभाव क्षेत्र में आये थे।

श्री माधवसिंह जी आज से साठ-पैंसठ वर्ष पहले जिस प्रगतिशील वैदिक विचार-धारा में विश्वास रखकर जीवन व्यतीत कर रहे थे वह सचमुच ही बड़ी विस्मयकारी है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी निष्ठा थी और पूरी सक्रियता से वे अस्पृश्यता निवारण, शुद्धि, संगठन, स्त्री-शिक्षा, जात-पाँत विध्वंस, अन्तर्जातीय विवाह, वैदिक शिक्षा आदि कार्यों में रुचि लेते थे। उनका विश्वास परोपदेश में नहीं, स्वयं आचरण में था। अपने होनहार पुत्र महेन्द्रप्रताप को उन्होंने अँग्रेजी स्कूल के स्थान पर गुरुकुल में प्रविष्ट कराया था और उस युग में अपने पुत्र का अन्तर्जातीय विवाह किया था। शुद्धि आन्दोलन से प्रभावित हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित मुसलमान भाइयों के साथ बैठकर वे भोजन करते थे, उन्हें सम्मानपूर्वक बंधु-बांधव की भाँति गले लगाते थे। आगरा शहर में उनका निवास-स्थान दीन-दुखियों का आश्रयस्थल था। स्त्री-शिक्षा के लिए उनके प्रयत्न सदैव जारी रहे। रूढ़ियों, अंधविश्वासों और जड़ परम्पराओं का उन्होंने बड़ी दृढ़ता से खंडन किया। उनके इस सामाजिक तथा धार्मिक जीवन का प्रभाव उनके पुत्र पर पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री उन सभी सांस्कृतिक एवं सामाजिक कार्यों में अद्यावधि लगे हुए हैं जिनकी छाप शैशव से उनके पूज्य पिता द्वारा उन पर पड़ी थी। श्री आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री के समस्त रचनात्मक कार्यों के पीछे उनके यशस्वी पिता की प्रेरणा आज भी कार्य कर रही है।

आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री का जीवन-परिचय आप इस ग्रंथ में पढ़ेंगे। मेरा केवल इतना ही निवेदन है कि आप इस ग्रंथ को व्यक्ति-पूजा तक सीमित न रखकर राष्ट्र के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं शैक्षिक जगत् में कार्य करने वाले एक तपस्वी कर्मठ व्यक्ति के अशेष योगदान के रूप में ग्रहण करें। शास्त्रीजी का जीवन शिक्षा और समाज सेवा में व्यतीत हुआ है। अब उनका जीवन एक व्यक्ति तक सीमित नहीं, वरन् संस्था का रूप ले चुका है। व्यक्ति अपने समर्पित जीवन में जब संस्था बन जाता है तब वह किसी एक घर, परिवार या जाति विशेष की सम्पत्ति न रहकर राष्ट्र की धरोहर बन जाता है। अतः वह सार्वजनिक सम्मान का भाजन होता है। जिस देश में राष्ट्रसेवक, राष्ट्रनिर्माता और राष्ट्रभक्तों का सम्मान नहीं होता वह अपनी धरोहर से ही वंचित हो जाता है। हमने इसी भावना से इस पावन अनुष्ठान का आयोजन किया है। हमें विश्वास है कि आर्य-जगत् में इस ग्रंथ को समुचित स्थान मिलेगा। शास्त्रीजी तो आज भी अस्सी वर्ष की आयु में आर्य-जगत् की सेवा में संलग्न हैं। परमात्मा से हम उनके शतायु होने की कामना करते हैं। हमारी प्रार्थना वेद की ऋचा के साथ यही है—

पश्येम शरदः शतम्, जीवेम शरदः शतम्:,
अदीनाः स्याम शरदः शतम् ।।

इस पावन अनुष्ठान के प्रेरणा-स्रोत महात्मा आनन्द स्वामीजी महाराज थे। हमारी प्रार्थना पर उन्होंने इस यज्ञ का संरक्षक बनना स्वीकार किया था। हमारा यह दुर्भाग्य है कि ग्रंथ तैयार होने से पहले ही उनका भौतिक शरीर हमारे बीच से उठ गया। उनके स्वर्गप्रयाण से इस अनुष्ठान में जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति तो असंभव है, किन्तु उनके सात्विक आशीर्वाद के शब्द आज भी हमारे साथ हैं और हम स्वामीजी महाराज का पुण्य स्मरण करते हुए इस ग्रंथ के शब्द-शब्द और पृष्ठ-पृष्ठ पर उनके वरदहस्त एवं मंगलकामना की छाप देखते हैं।

इस ग्रंथ की प्रेरणा-शक्ति—श्री डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री हमारे पथप्रदर्शक हैं। श्री महेन्द्र-प्रताप जी उन्हें अग्रजवत् मानते हैं। इनके जीवन-निर्माण में उनका भी योग रहा है। उन्हें मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूँ ! भाई जयकुमार जी तथा कुमारी कमला स्नातिका ने इस कार्य को संकल्प के रूप में स्वीकार किया था और कुमारी कमला जी ने ही सचमुच इसे पूर्णाहुति तक पहुँचाया है। ये दोनों मेरे साधुवाद के पात्र हैं।

एक और व्यक्ति जिनका स्मरण मैं शास्त्रीजी की शक्ति के रूप में करता हूँ श्रीमती अक्षयकुमारीजी हैं, जो शास्त्रीजी की सहधर्मिणी ही नहीं, उनकी 'गृहिणी सचिवः सखीमिथः, प्रियशिष्या ललिते कलविधौ' की कोटि में आती हैं। उनकी सामर्थ्य, सूझबूझ, कार्यदक्षता, व्यवहार-कुशलता और प्रशासनिक योग्यता को देखकर विस्मय विमुग्ध हो जाना पड़ता है। शास्त्रीजी के विविध कार्यकलापों में उनका योग और साहचर्य भुलाया नहीं जा सकता। शास्त्रीजी के अभिनन्दन-कार्य में वे तटस्थ रहीं। उन्होंने शास्त्रीजी के अभिनन्दन को स्वयं अपना ही अभिनन्दन समझा। अतः उनकी शालीनता ने उन्हें आगे आने से रोका तो हमने भी उन्हें कष्ट नहीं दिया, किन्तु इस संदर्भ में उनका स्मरण करना हमारा कर्तव्य है। हमने इस ग्रंथ में शास्त्रीजी के व्यक्तित्व के निर्माण और कृतित्व की सफलता में श्रीमती शास्त्री के योगदान को विस्मृत नहीं किया है। शास्त्रीजी से पृथक् अपने अस्तित्व की कल्पना न तो उन्हें स्वीकार्य है और न हम ही उन्हें शास्त्रीजी से पृथक् देख सके हैं। श्रीमती अक्षयकुमारी जी अपने अक्षय सौभाग्य के साथ अक्षय कीर्ति की भाजन हैं। हम उनके स्वास्थ्य, सौभाग्य, सुख और चिरायुष्य की कामना करते हैं।

इस ग्रंथ के प्रणयन में सहयोग देने वाले अन्य सभी महानुभावों के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ जिन्होंने सम्पादन, लेखन, मुद्रण आदि में हमारा हाथ बँटाया और इस शुभ कार्य को नैतिक बल दिया।

आचार्य, हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—विजयेन्द्र स्नातक
सम्पादक

नम्र निवेदन

१९७५ की बात है। कन्या गुरुकुल, हाथरस के वार्षिकोत्सव पर एक दिन प्रातः हम लोग जलपान के लिए एकत्रित थे। उत्सव में गुरुकुल के कुलपति श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री की भूमिका और गत दस-बारह वर्ष में गुरुकुल की सर्वतोमुखी उन्नति, जिससे उसका कायापलट हो गया है, देखकर सभी के मन में शास्त्रीजी के लिए प्रशंसा के भाव उमड़ रहे थे। सभी अनुभव कर रहे थे कि पचास वर्ष तक निरन्तर शिक्षा-संस्थाओं में कार्य करने के बाद भी और पचहत्तर वर्ष के हो जाने पर भी उनके उत्साह, लगन एवं कार्यशक्ति में कोई कमी नहीं आयी है। वास्तव में वे एक अद्वितीय सूझबूझ वाले होने के साथ-साथ कुशल प्रबन्धक, चतुर शिक्षक और कभी न थकने वाले व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक है। लम्बे समय से वे समाज में काम कर रहे हैं। उनका सार्वजनिक सम्मान होना चाहिए। विचार करने के लिए कागज और लेखिनी मँगायी गयी। उपस्थित सज्जनों की सूची लिखी गयी। सम्मान के सम्बन्ध में विचार लिखे गये। प्रमुख रूप से यही तय पाया कि ७५ वर्ष का होने पर उनका सार्वजनिक सम्मान किया जाये, स्मृति को स्थायी करने के लिए उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट भी किया जाये।

ग्रन्थ को उपयोगी बनाने के लिए विचार-विमर्श के पश्चात् निश्चय किया गया कि ग्रन्थ आर्यसमाज की शिक्षा सम्बन्धी गतिविधि के बारे में हो, क्योंकि यही शास्त्रीजी के कार्य का क्षेत्र रहा है। प्रो० जयकुमार मुद्गल ने, जो गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं, और शास्त्रीजी के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे हैं, ग्रन्थ की रूपरेखा प्रस्तुत की। सबने उसे स्वीकृत किया और निश्चय किया गया कि ग्रन्थ का नाम "आर्य समाज—शिक्षा दर्शन (सिद्धांत एवं कार्य)" रखा जाये।

योजना को महत्व देने के लिए श्री पूज्य आनन्द स्वामीजी महाराज से संरक्षक बनने की प्रार्थना की गयी, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया और योजना की सफलता के लिए आशीर्वाद दिया। इससे कार्यकर्ताओं को बहुत उत्साह और बल मिला। डा० विजयेन्द्र स्नातक ने ग्रन्थ-सम्पादन स्वीकार कर हमें गौरवान्वित किया।

कार्य आरम्भ कर दिया गया। लेख आमंत्रित किये और शिक्षा-संस्थाओं के विवरण माँगे गये। लेख तो समय पर मिल गये, परन्तु विवरणों के प्राप्त करने में अत्यधिक कठिनाई हुई। देश-देशान्तर की लगभग तीन हजार संस्थाओं—आर्य प्रतिनिधि सभाओं, आर्यसमाजों एवं शिक्षा-संस्थाओं को पत्र लिखे गये; चार-चार, पाँच-पाँच स्मरण-पत्र भेजे गये, परन्तु अभी तक

सब संस्थाओं के विवरण प्राप्त नहीं हुए। फिर विवश होकर ग्रन्थ-मुद्रण का कार्य आरम्भ करना पड़ा। सोचा कि पिचहत्तर वर्ष-पूर्ति पर नहीं तो अशीति वर्ष-पूर्ति पर तो यह कार्य अवश्य हो जाना चाहिए। उसी निश्चय का फल पाठकों के समक्ष है।

साधनों की कमी के कारण कार्यों में बाधाएँ होती ही हैं। हम भी उनसे न बच पाये। अध्यवसाय से बाधाओं का निवारण किया जा सकता है। हमने भी उसी का सहारा लिया। प्रभु की कृपा से सफलता मिली। विलम्ब भले ही हो गया हो।

हमें ग्रन्थ को देखकर प्रसन्नता है। "क्लेशः फलेन हि पुनर्नवनां विधत्ते।" ग्रन्थ का प्रकाशन कन्या गुरुकुल, हाथरस की पत्रिका 'सूनृता' के अंक-विशेष के रूप में ही किया गया है। कन्या गुरुकुल की प्रबन्ध समिति के अधिकारी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। प्रो० जयकुमारजी, श्री उमेशचन्द्रजी स्नातक और श्री शंकरदेव जी विद्यालंकार (पोरबन्दर) की सहायता के बिना यह कार्य नहीं हो सकता था। उनको धन्यवाद न देना कृतघ्नता होगी। आशीर्वाद एवं शुभ-कामनाएँ भेजने वाले विशिष्ट महानुभाव, संस्मरण लिखने वाले शास्त्रीजी के प्रशंसक, कलम के धनी लेखक और शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं। आर्थिक सहायता देने वालों को भुलाना भूल होगी। मेरे एक बार निवेदन करने पर ही यथेष्ट सहायता पाने को मैं अपना सौभाग्य समझती हूँ।

हमने ग्रन्थ को अधिक-से-अधिक उपादेय बनाने का यत्न किया है। आर्यसमाज के शैक्षिक-जगत् के सिद्धांत एवं कार्यों से सम्बन्धित सामग्री सम्भवतः किसी अन्य एक ग्रन्थ में इस मात्रा में उपलब्ध न होगी। देश-देशान्तर की शिक्षा-संस्थाओं की इतनी लम्बी सूची भी किसी अन्य एक स्थान पर मिलना कठिन है। फिर भी ग्रन्थ में कमियाँ रहना स्वाभाविक है। वे मेरी अक्षमता के कारण ही हैं। उसके लिए क्षमा की पात्र हूँ।

खेद है कि कुछ रचनाएँ स्थानाभाव एवं विलम्ब से प्राप्त होने के कारण मुद्रित न हो सकीं। आशा है, सम्बन्धित लेखक क्षमा करेंगे।

—**कमला स्नातिका**

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—जीवन-गरिमा

पृष्ठ भाग पर प्रेरणा

अभिनन्दन : आर्यजगत् एवं अन्य

स्तवन : प्रशंसक सहयोगी

नमन : शिष्यगण एवं अन्य

अर्चन : पारिवारिक जन

शास्त्रीजी के कतिपय अनुभव : विचार और अनुभूतियाँ

द्वितीय खण्ड—वैदिक शिक्षा-दर्शन

पृष्ठ भाग पर शिक्षा

तृतीय खण्ड—वैदिक जीवन-पथ

पृष्ठ भाग पर अभिलाषा

चतुर्थ खण्ड—आर्यसमाज का शिक्षा कार्य

पृष्ठ भाग पर सर्वहित भावना

याचना

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती ।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु ॥

ऋग्वेद १०-११०-८; यजु० २९-३३

आओ हे भारती ! हमारे अनुष्ठान में, तुम अध्वर में ।
ज्ञान, चेतना, भक्ति प्रवर दो भर दो दिव्य ज्योति अन्तर में ॥
आओ हे तुम इडे, पधारो जन-मानस-विष्टर-सुखकर में ।
सरस्वती भगवती विराजो हृदय - हंस में, मानस सर में ॥

देवि भारती, इळे सरस्वती !
तीनों अमृत प्रवाहित कर दो ।
दिव्य शक्तियो ! सम्प्रति ऋग्यजु,
साम-छन्द का वर सत्वर दो ।

हमारे इस ज्ञान यज्ञ को कान्तिमती, मननशील मनीषीवत् चेतना युक्त करने वाली वाणी और सरस्वती वेदवाणी शीघ्र ही प्राप्त हो ! तीनों उत्तम कर्म करने वाली प्रकाश-ज्ञान-प्रदायिका इस आसन पर ऋक्-यजुः-सामरूपिणी सुखपूर्वक विराजें ।

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार

कामना

सह नाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥

तैत्तिरीयारण्यक, अष्टम प्रपाठक, प्रथम अनुवादक

हम दोनों, बटुक तथा गुरुवर,
हम दोनों, पथ-दर्शक, अनुचर,
हम दोनों, अध्यापक, पाठक,
श्रोता - वक्ता, लेखक-वाचक ॥१॥

हम बाल-वृद्ध, हम वृद्ध-तरुण,
हम युगल परस्पर मित्र-वरुण,
हम तनय-पिता, दुहिता-माता,
हम दोनों स्वसा तथा भ्राता ॥२॥

हम दोनों पुरुष तथा जाया,
हम दोनों आत्मा औ काया,
हम दोनों ब्रह्म राज्य नायक,
कुलपति सुप्रजापालक शासक ॥३॥

हम दोनों भौतिक वैज्ञानिक,
एवं सत्साधक आध्यात्मिक,
हम गृही-विरक्त, युगल आश्रम,
हम सेवक सेव्य विहित आगम ॥४॥

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार

सत्यमेव जयते

उपराष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली

६ अगस्त, १९७९

मुझे प्रसन्नता है कि कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस के कुलपति आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री की शैक्षिक एवं सामाजिक सेवाओं के उपलक्ष्य में अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है।

शास्त्रीजी प्राचीन गुरुकुल पद्धति एवं अभिनव शिक्षा-प्रणाली के प्रयोक्ता हैं और यह उचित ही है कि यह एक संदर्भ कोश के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

मैं ग्रंथ के सफल प्रकाशन के लिए अपनी शुभकामनाएँ भेजता हूँ और आशा करता हूँ कि आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री इसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में अपना मूल्यवान् योगदान देते रहेंगे।

(ब० दा० जत्ती)

सत्यमेव जयते

प्रधानमंत्री भवन
नई दिल्ली

६ अगस्त, १९७९

यह जानकर हर्ष हुआ कि आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री का उनकी ८०वीं वर्षगाँठ के शुभावसर पर सार्वजनिक अभिनंदन किया जा रहा है तथा इस अवसर पर उन्हें एक अभिनंदन ग्रंथ भी भेंट किये जाने की योजना है। आचार्यजी उच्च कोटि के समाजसेवी एवं शिक्षाविद् हैं। शिक्षा-क्षेत्र में उच्च पदों पर रहकर उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है, संस्थाओं के निर्माण एवं विकास में उनकी विशेष रुचि रही है और इसमें उन्होंने प्रशंसनीय सफलताएँ प्राप्त की हैं। वे एक सफल प्रबंधक, संगठन-कर्त्ता हैं। उनकी उपलब्धियों पर कोई भी गर्व कर सकता है। मैं उनके चिरंजीवी होने की कामना करता हूँ।

आयोजन की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएँ।

(चरण सिंह)

सत्यमेव जयते

उपप्रधानमंत्री, भारत

नई दिल्ली

२६ मई, १९७९

आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ समिति, हाथरस द्वारा आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री की ८०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उनको एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट करके स्वागत किया जा रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है।

आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री की शिक्षा एवं समाज सुधार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण सेवाएँ हैं।

आशा है, अभिनंदन ग्रंथ में इनकी जीवनी तथा इनके द्वारा देश और समाज के प्रति की गयी सेवाओं की समुचित जानकारी प्रकाशित होगी।

ग्रंथ में आर्यसमाज की शिक्षा-नीति और आर्यसमाज द्वारा अन्य क्षेत्रों में की जा रही सेवाओं की जानकारी देने से इसकी उपादेयता बढ़ गयी है।

श्री शास्त्रीजी का ग्रंथ-समर्पण द्वारा अभिनंदन करके उनके प्रशंसक एवं शिष्य अपने कर्तव्य का पालन कर रहे हैं।

मेरी शुभकामना है कि अभिनंदन समारोह सफल हो और ग्रंथ उपयोगी सिद्ध हो।

(जगजीवन राम)

सत्यमेव जयते

पेट्रोलियम, रसायन और उर्वरक मंत्री
भारत
नई दिल्ली

२४ मई, १९७९

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री महेन्द्र-प्रतापजी शास्त्री की ८०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उनके स्वागत में एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। शिक्षा-जगत् एवं आर्यसमाज को श्री शास्त्रीजी का योगदान महत्वपूर्ण है। मुझे भी उनका शिष्य होने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। अभिनंदन ग्रंथ के सफल प्रकाशन एवं आयोजन की सफलता हेतु मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

(हेमवतीनन्दन बहुगुणा)

सत्यमेव जयते

शिक्षा तथा समाज कल्याण मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली

११ जून, १९७९

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि शिक्षा के क्षेत्र में आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी की सेवाओं के लिए उन्हें एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। ऐसे व्यक्ति का सम्मान करना एक प्रकार से शिक्षा का गौरव बढ़ाना है और इस प्रकार के अभिनंदन से एक ही ग्रंथ में शिक्षा का दीर्घकालीन इतिहास भी ग्रथित होगा जिससे हमें अतीत और वर्तमान शिक्षा प्रणालियों की झाँकी भी मिलेगी। यह एक सराहनीय प्रयास है। कृपया मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ स्वीकार करें।

प्रताप चन्द्र चन्द्र

(प्रताप चन्द्र चन्द्र)

राज्य मंत्री
रक्षा मंत्रालय
भारत सरकार
नई दिल्ली

२५ जुलाई, १९७९

श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री का जन्म एक बहुत आस्थावान् परिवार में हुआ। इनके पिता ठाकुर माधवसिंहजी आर्यसमाज के उन मूर्धन्य नेताओं में से एक थे, जिन्होंने आर्यसमाज के आन्दोलन को बहुत आगे बढ़ाया। स्वामी श्रद्धानन्दजी के वे अनन्य भक्त थे और उनके कार्य-क्रम को उन्होंने बहुत आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने इस इकलौते होनहार पुत्र को उच्च शिक्षा दिलाकर आर्यसमाज को सौंप दिया। इनका विवाह भी पिताजी की सिद्धान्तनिष्ठा के फलस्वरूप जाति-पाँति का बन्धन तोड़कर विदुषी महिला श्रीमती अक्षयकुमारी जी के साथ हुआ।

शास्त्रीजी ने अपने पिता के मनोरथ को मूर्त रूप देते हुए आर्य-समाज की जीवन-भर सेवा की। आप डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ, डी०ए०वी० कालेज, देहरादून तथा जनता वैदिक कालेज, बड़ौत आदि प्रसिद्ध संस्थाओं के प्रधानाचार्य रहे, तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के उपकुलपति रहे। आपका देश के शिक्षाविदों की पंक्ति में सदा उच्च स्थान रहा है। सेवा-निवृत्ति के अनन्तर आप दोनों पति-पत्नी कन्या गुरुकुल, हाथरस के संचालन में लगे हुए हैं। आयु के पिछले भाग में भी इस संस्था के संचालन में जो तपस्या ये विद्वान् दम्पति कर रहे हैं इससे प्राचीन वैदिक मुनियों के जीवन का दृश्य प्रस्तुत होता है।

शास्त्री जी का अभिनंदन एक आदर्श जीवन सेवा तथा सांस्कृतिक मर्यादाओं का सही मूल्यांकन है। मैं उनके दीर्घायुष्य की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि समाज उनकी सेवाओं से चिरकाल तक लाभान्वित होता रहेगा।

(शेर सिंह)

GOVERNOR
UTTAR PRADESH

राज्यपाल
उत्तर प्रदेश
लखनऊ

२० जनवरी, ७८

मुझे यह जानकर हर्ष है कि प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के मित्रों एवं प्रशंसकों ने शीघ्र ही उनका अभिनंदन करने तथा एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का निश्चय किया है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी राष्ट्र, समाज अथवा संस्था का इतिहास वहाँ के चंद, मुट्ठी-भर लौह इच्छा-शक्ति वाले एवं ऊर्ध्वगामी व्यक्तियों का इतिहास हुआ करता है। जब ऐसे व्यक्तियों का अभाव हो तो उस समूह का पतन सुनिश्चित है। आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ने राष्ट्र के शिक्षण एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में जो भारी योगदान किया है, उससे मातृ-भूमि के गौरव तथा प्रगति में यथेष्ट बल मिला है। इस शुभ-अवसर पर मैं उनके सुदीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की कामना करते हुए आयोजन की सफलता चाहता हूँ।

ग. दे. तपासे

(गणपत देव तपासे)

सभापति
विधान परिषद्, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

६ मई, १९७९

प्रिंसिपल महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के स्वागत एवं अभिनंदन ग्रंथ सम्बन्धी पत्र प्राप्त होते ही कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि माननीय शास्त्रीजी की सौजन्यता एवं विनम्रतापूर्ण सौम्य मूर्ति के दर्शन, जैसे मैंने अपने शैशव काल में किये थे वैसे ही रहे हों। मैं आत्म-विभोर हो उठा। जब मेरा जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय से ही माननीय शास्त्रीजी ईश्वर, धर्म, राष्ट्र और समाज की सेवा में समर्पण भाव से, अपने पवित्र उत्तरदायित्व का निष्ठापूर्वक निर्वाह करते हुए मानवमात्र के कल्याण हेतु, आदर्शमय जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सौभाग्य से उनके अभिनंदन में श्रद्धा के पुष्प समर्पित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

शिक्षक, प्रवक्ता, प्राध्यापक, प्राचार्य या कुलपति—किसी भी रूप में हों—उनका एक ही भाव, एक ही साधना, एक ही कामना रही। प्रभु कृपा से जो प्रकाश प्राप्त हुआ है, उसमें अधिकाधिक जीवन प्रकाशित हो सकें, अगणित दीपक प्रज्ज्वलित हों और अनुपम देवताओं को जन्म दिया जा सके।

विद्यार्थियों को केवल शिक्षित करना ही उनका ध्येय नहीं रहा है, अपितु उनके योगक्षेम के सम्बन्ध में सदा सावधान—वे अपना लौकिक जीवन का सदुपयोग करते हुए अभ्युदय की सम्प्राप्ति और निःश्रेयस की ओर प्रगति कर सकने में समर्थ हों, यही उनका सतत प्रयास रहा है।

अपने पूज्य पिताजी, जो महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त एवं उपासक थे, के अक्षरशः अनुव्रती होकर, उनके स्वप्नों को भव्यरूप से साकार करके, माननीय शास्त्रीजी स्वयं तो ऋषि और पितृ-ऋण से उऋण हो गये हैं, अब हम सबको भी सन्मार्ग प्रदर्शित कर रहे हैं जिससे कि हम मानव-जीवन का सदुपयोग करके अपना भावी जीवन प्रशस्त कर सकें।

लोक कल्याण के हेतु—युग-युग जीवें हमारे माननीय शास्त्रीजी, यही हमारी मंगलकामना है :

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु ।।

सस्नेह,

(वीरेन्द्र स्वरूप)

उपमुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

१९ अप्रैल, १९७९

आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री प्रसिद्ध शिक्षाविद् हैं और शिक्षा-क्षेत्र में पिछले पचास वर्षों से उल्लेखनीय सेवा कर रहे हैं। वैदिक प्रणाली पर आधारित गुरुकुल और दयानंद विद्यालयों के रूप में प्रचलित अभिनव शिक्षा-पद्धतियों के समन्वय में उन्हें सफलता मिली है।

आर्यसमाज और उससे सम्बद्ध अनेक संस्थाओं के माध्यम से उन्होंने सराहनीय समाज-सेवा की है। वे एक सशक्त लेखक भी हैं। उनकी कृतियाँ समाजोपयोगी हैं।

आचार्यजी की ८०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उन्हें सम्मानित करने तथा अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करने का आयोजन प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

मेरी कामना है कि उनका जीवन दीर्घजीवी एवं मंगलमय हो।

(नारायणसिंह)

उच्च शिक्षामंत्री, उत्तर प्रदेश

लखनऊ

२१ अप्रैल, १९७९

यह जानकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के प्रशंसकों एवं शिष्यों ने उनकी ८०वीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने की योजना बनायी है।

मैं इस ग्रंथ की सफलता हेतु हार्दिक कामना करता हूँ।

(शिवानन्द नौटियाल)

मंत्री
उत्तर प्रदेश

शिक्षामंत्री
(माध्यमिक, प्राथमिक एवं प्रौढ़)
उत्तर प्रदेश

लखनऊ

२५ जुलाई, १९७९

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री की ८०वीं वर्षगाँठ के शुभावसर पर एक अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशित करके एक मूर्धन्य शिक्षाशास्त्री, यशोलब्ध प्रशासक एवं वरिष्ठ आर्य नेता को सम्मानित करने की श्रृंखला में एक स्वर्णिम कड़ी जोड़ी जा रही है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी श्री शास्त्रीजी का सम्पूर्ण जीवन जन-सेवा में सर्वात्मना सर्वतोभावेन समर्पित रहा है। शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने वैदिक प्रणाली की प्राचीन आश्रम-पद्धति को गुरुकुलों के रूप में और अभिनव शिक्षा-पद्धति को श्री दयानन्द विद्यालयों के रूप में प्रचलित करके प्राचीन एवं अर्वाचीन का समन्वय किया है। आपकी यश-कौमुदी आर्य जगत् को स्नात करती हुई शिक्षा, समाज, साहित्य-प्रणयन एवं प्रशासन के क्षेत्रों में भी विकीर्ण हुई है।

मुझे विश्वास है कि यह अभिनंदन ग्रंथ श्री शास्त्रीजी की महान सम्प्राप्तियों के साथ ही साथ उनके आदर्श, प्रेरक एवं निष्ठा-पूर्ण जीवन के लिए एक सच्चा दर्पण सिद्ध होगा।

मैं इसके सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(कैलाशनाथ सिंह)

कृषिमंत्री,
उत्तर प्रदेश
लखनऊ

३० जनवरी, १९७८

यह प्रसन्नता का विषय है कि आचार्यश्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री की ८०वीं वर्षगाँठ के शुभअवसर पर अभिनंदन समारोह आयोजित किया जा रहा है। इस अवसर पर उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भी प्रस्तुत किया जायेगा जिसमें शास्त्रीजी की उपलब्धियों तथा समाज व जन-सेवा के प्रति कार्यों का उल्लेख रहेगा।

शास्त्रीजी परम विद्वान्, आर्यसमाज के पोषक तथा शिक्षा-क्षेत्र में अग्रगण्य रहे हैं। गत ५२ वर्षों से उन्होंने शिक्षा-क्षेत्र के अनेक पदों पर बड़ी सफलता के साथ कार्यकुशलता का परिचय दिया है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के वह कुशल प्रेरक तथा पोषक रहे हैं। अपनी दृढ़ता, कर्तव्यनिष्ठा व उदार व्यक्तित्व के फलस्वरूप वह प्रत्येक क्षेत्र में सफल हो सके हैं। कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, सासनी (हाथरस) के कुलपति के रूप में महाविद्यालय को समुन्नत किया है।

शास्त्रीजी का अभिनंदन करते हुए मैं उनके चिरायु होने की कामना करता हूँ। मुझे यह विश्वास है कि अभिनंदन समारोह गौरवपूर्ण तथा पूर्णरूपेण सफल होगा।

(राजेन्द्र सिंह)

ग्राम्यविकास मंत्री
उत्तर प्रदेश

लखनऊ

१६ अक्तूबर, १९७५

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री के प्रशंसकों एवं शिष्यों ने उनकी ८०वीं वर्षगाँठ के शुभ अवसर पर एक अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने की योजना बनायी है। यह बहुत अच्छी बात है।

श्री शास्त्रीजी देश के उन महान् शिक्षाविदों में हैं, जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में नवीन आदर्शों के कीर्तिमान स्थापित किये। प्रशासन और जीवन निर्माण के लिए प्रत्येक स्तर पर भी वे अग्रगण्य सिद्ध हुए हैं।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास भी है कि शास्त्रीजी का यह अभिनंदन ग्रंथ सबके लिए प्रेरणा का स्रोत बनेगा।

(बलदेव सिंह आर्य)

सेवा कुटीर
पान दरीबा,
लखनऊ

२० जून, १९७७

मुझे प्रसन्नता है कि आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी के अभिनंदनार्थ एक समारोह का आयोजन किया जा रहा है। शिक्षा जगत् में आचार्यजी की सेवाएँ सराहनीय हैं और मुझे विश्वास है कि उनके मार्गदर्शन से असंख्य युवक एवं युवतियाँ सदैव लाभान्वित होते रहेंगे।

समारोह की सफलता की कामना के साथ,

(चन्द्रभानु गुप्त)
(भूतपूर्व मुख्यमंत्री, उत्तर प्रदेश)

सदस्य विधान सभा
उत्तर प्रदेश

अमेठी कोठी
ऐशबाग रोड, लखनऊ

२० फरवरी, १९७६

आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी के प्रति मेरे हृदय में अपार श्रद्धा है। उनके पूज्य पिताजी जैसे महान् कर्मठ महापुरुष से भी पूरा परिचय था।

श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी सुयोग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। एक आदर्श परिवार के रत्न हैं। शास्त्रीजी की विद्वत्ता एवं कार्यकुशलता आदि की जितनी भी प्रशंसा की जाये कम है। मैं उनके सुखमय सुदीर्घ जीवन के लिए परम पिता प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

(रणञ्जय सिंह)

श्रीमान् प्राचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री आर्य जगत् के एक माने हुए शिक्षाशास्त्री और कर्मठ नेता हैं। उनके द्वारा संचालित अनेक शिक्षण-संस्थाएँ आर्यसमाज के लिए गौरवरूप हैं। उनकी हीरक जयन्ती के अवसर पर गुजरात प्रान्त की समाजों एवं शिक्षण संस्थाओं की ओर से हम उनका अभिनंदन करते हैं और परम देव विभु से प्रार्थना करते हैं कि वे शतायु हों, उनकी यश-कीर्ति दिगन्तव्यापिनी बने।

उनके द्वारा संचालित कन्या गुरुकुल, हाथरस कन्या-शिक्षण की एक गौरवपूर्ण संस्था है। उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती रहे एवं शास्त्रीजी की छत्रछाया आर्यसमाज तथा उनके द्वारा संस्थापित विविध संस्थाओं पर चिरकाल तक बनी रहे और आर्यसमाज उनकी शताब्दी मना सके, ऐसी मंगलकामना करते हैं।

(आनन्द प्रिय)

प्रधान,
गुजरात प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा,
बड़ौदा।
मंत्री, आर्यकुमार महासभा
बड़ौदा।

कुलपति
कामेश्वरसिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

२४ सितम्बर, १६७७

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि गुरुकुल महाविद्यालय आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करने जा रहा है।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री जैसे शिक्षाविद् के नेतृत्व में भारतीय वातावरण में शिक्षा देने का स्तुत्य कार्य कर रहा है। मेरी ओर से विनम्र शुभकामनाएँ एवं बधाइयाँ स्वीकार करें।

सादर,

(रामकरण शर्मा)

प्रथम खण्ड

जीवन-गरिमा

परम्परा • प्रतान
परिवार • प्रदान
परिकर • प्रज्ञान

असतो
मा
सद्गमय

प्रेरणा

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

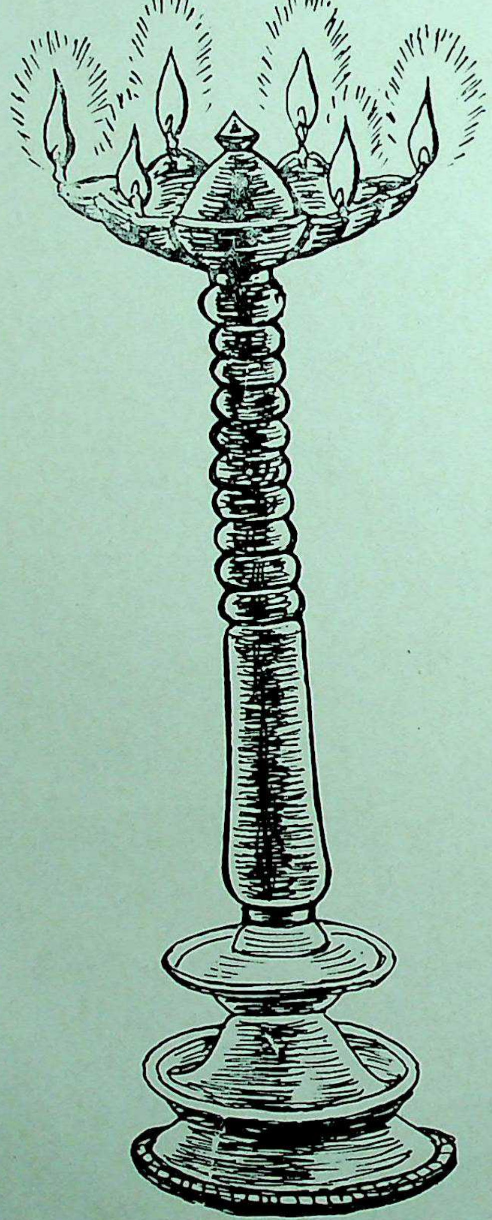
यजुर्वेद ४०-२ ।

रे नर कर्म कर निष्काम !
इस संसृति के पंक मध्य तू बन पंकज अभिराम !
कर्मों को करते-करते नर,
शतायु जीवन की इच्छा कर,
इस प्रकार तुझको न ग्रसेगा जगबंधन अविराम !
इससे अन्य उपाय नहीं है,
मुक्ति-मार्ग बस एक यही है ।
निज कर्तव्य-मार्ग पर बढ़ दृढ़ देख नहीं परिणाम ।।

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार



प्रिंसिपल श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री
(१६३१ में)



जीवन-ज्योति

ज्योति-पर्व की ज्योति

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष की दीपावली के पवित्र एवं ज्योतिर्मय आलोक में आगरा में पूजनीया मातुश्री आनन्दी देवी की गोद में श्री ठा० माधवसिंहजी के पुत्ररत्न ने जन्म लिया। उस बालक ने आर्यसमाज के एक भावी कर्णधार, शिक्षा जगत् के भानु, गुरुकुल प्रणाली के आधार-स्तम्भ, राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नायक, नारी को वेदाधिकार दिलाने वाले एवं नारी की सामाजिक उन्नति में सदैव तत्पर, स्वदेश-स्वभाषा-स्वजीवन-पद्धति के प्रबल समर्थक के रूप में धर्म, देश, मानवजाति और समाज की अहर्निश सेवा की और आज भी वह ज्ञान-भानु के रूप में हम सबको प्रकाश दे रहा है।

शैशव और परम्परा

शास्त्रीजी के पूर्वज बीकानेर राज्य से उत्तर प्रदेश में आकर हाथरस (जि० अलीगढ़) के पास 'रोहई' ग्राम में रहते थे। उस समय उनके यहाँ नील का व्यापार होता था, बाद में जमींदार बन गये। जमींदार ठा० गंगाराम के पुत्र ठा० माधवसिंहजी ने शिक्षा के बाद आगरा के एलाइंस बैंक ऑफ़ शिमला लिमिटेड में नौकरी कर ली तथा आर्यसमाज के सदस्य बन गये।

ठाकुर साहब आगरा में गोकुलपुरा के 'काला महल' नाम से प्रसिद्ध एक बड़े मकान में रहते थे। पहले इस मकान को भुतहा मकान कहा जाता था और लोग उसमें रहने से डरते थे, पर ठाकुर साहब ने आर्यसमाजी संस्कारों से प्रेरित होकर उस मकान को किराये पर ले लिया। वहीं पर शास्त्रीजी का जन्म हुआ। शास्त्रीजी के जन्म के समय तक परिवार में आर्यसमाज की बातें अच्छी प्रकार घर कर गयी थीं।

शास्त्रीजी का जन्म का नाम साहबसिंह रखा गया, जो उस समय के प्रचलित नामों में से था, परन्तु किसे पता था कि यह बालक जीवन-भर साहब के रूप में दूसरों का पथ-प्रदर्शन करने वाला ही बनेगा! शास्त्रीजी जीवन-भर प्रोफेसर साहब, वार्डन साहब, प्रिंसिपल साहब आदि के सम्बोधनों से सम्बोधित होते रहे। यही नहीं, सार्वजनिक जीवन में भी मंत्री और प्रधान जैसे उच्च पद आपको सदैव प्राप्त होते रहे। सम्भवत: यह सब साहबसिंह नाम की ही करामात हो!

ठाकुर साहब ने बचपन से ही शास्त्रीजी को धार्मिक वातावरण में रखने का प्रयत्न किया। उस समय आर्यसमाज के प्रमुख संन्यासी स्वामी परमानन्दजी, शास्त्रीजी की बहिनों को धार्मिक शिक्षा दिया करते थे। शास्त्रीजी भी उनके साथ बैठकर बड़ी रुचि से प्रार्थना-संध्या-हवन के मंत्र याद करने लगे। इस प्रकार बचपन से ही शास्त्रीजी को धार्मिक संस्कार मिलने लगे।

एक बार गोकुलपुरा मुहल्ले के ताश खेलने वाले बच्चों के साथ मिलकर आपने ताश खेलना सीख लिया। जब ठाकुर साहब को मालूम हुआ तो वे बहुत अप्रसन्न हुए; तब से फिर कभी आपने ताश नहीं खेले, किन्तु बड़े होने पर फुटबाल, टैनिस आदि के खेलों में आपकी रुचि बढ़ी और पुरस्कार भी प्राप्त किये। इनमें टैनिस का खेल आपको बहुत प्रिय लगा, जो बाद में बहुत वर्षों तक अच्छे खिलाड़ी के रूप में आपने खेला।

आर्यसमाज के नियमों को दृष्टि में रखते हुए ठाकुर साहब ने शास्त्रीजी को आठ वर्ष की आयु में गुरुकुल भेजने का निश्चय कर लिया।

परिवार पर आर्यसमाज का प्रभाव और शास्त्रीजी की गुरुकुल में शिक्षा

महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना द्वारा जिस सामाजिक और धार्मिक क्रांति का सूत्रपात किया था, उसका प्रभाव शास्त्रीजी के परिवार पर व्यापक रूप से पड़ा था। न केवल प्रभाव ही पड़ा था, अपितु श्रद्धेय ठा० माधवसिंहजी अपने क्षेत्र में उस क्रांति के पुरोधा बन चुके थे।

परिवार में अंधविश्वासों का उन्मूलन, पाखंड-खंडन के साथ-साथ विशुद्ध धार्मिक एवं सांस्कृतिक वातावरण बढ़ रहा था। उस वातावरण को स्थायी रूप देने के लिए ठाकुर साहब ने अपनी तीनों पुत्रियों की शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था पाठशालाओं में तथा स्वामी परमानन्दजी महाराज के पास की और अपने छोटे पुत्र की मृत्यु के दो-तीन मास बाद ही एकमात्र पुत्ररत्न को गुरुकुल की शिक्षा में दीक्षित करने का संकल्प किया।

ममतामयी माता श्रीमती आनन्दीदेवीजी ने पौराणिक परिवार से आकर अपने को आर्यसामाजिक वातावरण के अनुकूल अवश्य बना लिया था, परन्तु पुत्र को परिवार से दूर रखकर शिक्षा दिलाना उनके ममत्व पर गहरा आघात था। ठाकुर साहब ने उन्हें बहुत समझाया कि बालक यहाँ से अच्छी तरह रहेगा, अच्छी शिक्षा मिलेगी, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, पर माता का मोह भंग न हुआ।

ठाकुर साहब आर्यसमाज के कार्य को दिखावे के रूप में नहीं करते थे। वे चाहते थे कि आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुल शिक्षा-संस्थाएँ उन्नति करें और सफल हों। इसके लिए वे जहाँ जन-जन के पास जाकर धन की भिक्षा माँगते थे वहीं चाहते थे कि उनके छोटे बालक भी गुरुकुलों में प्रविष्ट हों। उनके इस विचार का तब तक असर नहीं हो सकता था, जब तक वे स्वयं अपनी संतान को गुरुकुल में न भेज देते। इसीलिए ठाकुर साहब ने शास्त्रीजी को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने का निश्चय किया था।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में शिक्षा-संस्थाओं का व्यापक अभाव था, परन्तु आर्यसमाज ने डी० ए० वी० कालेज लाहौर, कन्या महाविद्यालय जालन्धर तथा इसी प्रकार सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर), कांगड़ी, ज्वालापुर, फर्रुखाबाद आदि में गुरुकुलों की स्थापना

करके शिक्षा जगत् में एक नवीन हलचल मचा दी थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने सिकन्दराबाद में स्थापित गुरुकुल को अपने अन्तर्गत लेकर फर्रुखाबाद में स्थानांरित कर दिया था। फर्रुखाबाद का स्थान महर्षि दयानन्द को बहुत प्रिय था, वे वहाँ कई बार पधारे थे और वहाँ उन्होंने संस्कृत पाठशाला भी स्थापित की थी, जो बाद में बंद हो गयी थी। फर्रुखाबाद में आम्र कुंजों के मध्य गुरुकुल प्रगति करने लगा। गुरुकुल के संचालन का भार जिन प्रमुख व्यक्तियों पर था, उनकी सहायता सारे प्रदेश की आर्य जनता कर रही थी। मथुरा में श्रद्धेय कुंवर हुकमसिंहजी और आगरा में ठा० माधवसिंहजी पर गुरुकुल के लिए धन-संग्रह का भार था।

आर्थिक सहायता के इस उत्तरदायित्व के साथ-साथ पुत्र की शिक्षा भी गुरुकुल में हो, इस भावना से ठाकुर साहब ने अपना नैतिक उत्तरदायित्व मानकर शास्त्रीजी को फर्रुखाबाद गुरुकुल में प्रविष्ट करा दिया।

गुरुकुल में उपनयन और वेदारम्भ के पश्चात् शास्त्रीजी ने बड़ी लगन और निष्ठा के साथ अध्ययन आरम्भ कर दिया। वहीं आपका नाम महेन्द्र रखा गया। उस समय के गुरुकुलीय वातावरण में ब्रह्मचारी को परिवार से कम-से-कम सम्पर्क रखने की प्रेरणा दी जाती थी।

यद्यपि ठाकुर साहब गुरुकुल के लिए चन्दा करते रहते थे और गुरुकुल की प्रबन्ध-व्यवस्था में भी सहयोग देते थे, फिर भी अपने पुत्र को कठोर अनुशासन में रखने के पक्षपाती थे। इसलिए बहुत कम पत्र लिखते थे और अवकाश पर भी घर नहीं बुलाते थे। यही नहीं, ठाकुर साहब ने पढ़ाई में बाधा पहुँचने के भय से बहिनों के विवाह-संस्कार की शास्त्रीजी को सूचना तक न दी थी।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को वृन्दावन में क्रांतिकारी देशभक्त राजा महेन्द्र प्रतापजी के सात्विक दान रूप में २५ एकड़ जमीन के तीन बगीचे मिल जाने पर गुरुकुल फर्रुखाबाद से वृन्दावन ले आया गया। वृन्दावन लाने के प्रयास में कुँवर हुकमसिंहजी का विशेष योगदान था और ठा० माधवसिंहजी उनके घनिष्ठ मित्र थे। वृन्दावन में स्थानांतरित होने के कारण गुरुकुल आगरा के और भी अधिक समीप हो गया। इस कारण ठाकुर साहब का गुरुकुल के साथ और भी घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। वे गुरुकुल की संरक्षक सभा के प्रधान बन गये तथा गुरुकुल प्रबन्धक सभा के सदस्य रूप में गुरुकुल संचालन में योगदान देते रहे।

शास्त्रीजी के गुरुकुलीय जीवन के साथी डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, श्री आचार्य बृहस्पति आदि बताते हैं कि शास्त्रीजी गुरुकुल जीवन में बड़े अनुशासित और स्वाध्याय-शील रहे। उनके स्वभाव में चंचलता न थी। वे गुरुभक्त और आदर्श मित्र थे। शास्त्रीजी की गुरुभक्ति का ही परिणाम था कि आर्यसमाज के शिरोमणि नेता, वयोवृद्ध संन्यासी महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज का उन पर सदैव पितृवत् स्नेहाशीर्वाद बना रहा। इस आशीर्वाद ने ही शास्त्रीजी को आर्यसमाज की नयी पीढ़ी का उज्ज्वल जाज्वल्यमान नक्षत्र बना दिया जो आज भी प्रकाश दे रहा है।

गुरुकुल के बौद्धिक वातावरण ने शास्त्रीजी के मस्तिष्क पर व्यापक प्रभाव डाला और वे गहन-गम्भीर विषयों में रुचि लेने लगे। गुरुकुल की विद्या परिषद् के वे एक ओजस्वी वक्ता थे और सदैव पारितोषिक प्राप्त करते रहे। अन्य विधाओं यथा श्लोक अन्त्याक्षरी आदि में भी वे विशेष रूप से भाग लेते थे। विद्या परिषद् के साथ आज भी उनका उसी प्रकार घनिष्ठ

सम्बन्ध बना हुआ है। इसी स्नेह सम्बन्ध के कारण अनेकों बार गुरुकुलोत्सवों पर शास्त्रीजी ही परिषद् के हिन्दी अधिवेशन के अध्यक्ष बनते रहे हैं और गुरुकुल ब्रह्मचारियों को अपने प्रबुद्ध मार्ग-दर्शन से कृतार्थ करते आये हैं।

शास्त्रीजी की गुरुकुल में सुन्दर लेख के लिए भी प्रसिद्धि रही। गुरुकुल में पधारने वाले महात्मा गांधीजी, कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर आदि विशेष अतिथियों के अभिनंदन पत्र उनसे ही लिखवाये गये थे। मथुरा-वृन्दावन मार्ग के आरम्भ में गुरुकुल मार्गदर्शक पत्थर पर और मुख्य द्वार पर पीतल में लिखे 'गुरुकुल वृन्दावन' के अक्षर उन्हीं के लेख की निशानी हैं।

ठाकुर साहब की हार्दिक अभिलाषा थी कि शास्त्रीजी गुरुकुल से स्नातक बनकर निकलते, परन्तु दशम श्रेणी में अध्ययन करते समय स्वास्थ्य अच्छा न रहने तथा कतिपय अन्य कारणों से ठाकुर साहब ने बड़ी अनिच्छा के साथ आपको गुरुकुल छोड़ने की अनुमति दी।

यह ठीक है कि शास्त्रीजी गुरुकुल के स्नातक न बन सके, परन्तु गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का उनके जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, उसके कारण वे गुरुकुल से बाहर जाकर भी सदा गुरुकुलमय ही बने रहे। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के प्रस्तोता और मंत्री, गुरुकुल की विभिन्न समितियों के वर्षों पदाधिकारी एवं सदस्य, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति और परिद्रष्टा (विज़िटर) तथा कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस के कुलपति रूप में आपकी सेवाएँ गुरुकुल आन्दोलन के इतिहास में सदैव ऐतिहासिक महत्व की बनी रहेंगी।

शास्त्रीजी न केवल पदाधिकारी के रूप में ही गुरुकुलों से सम्बन्धित रहे, अपितु उनके जीवन पर, रहन-सहन पर गुरुकुल प्रणाली की गहरी छाप है और वे गुरुकुल-भक्त होने में स्वयं को गौरवांवित अनुभव करते हैं।

गुरुकुल से बाहर आने के बाद आपने मैट्रिक और स्कूल लीविंग परीक्षा उत्तीर्ण की। तदनन्तर १९२० में उस समय के उत्तरी भारत के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र आगरा कालेज में आप प्रविष्ट हुए। वहाँ से १९२४ में बी० ए० उपाधि प्राप्त की। गुरुकुल के ब्रह्मचारी होने के कारण शास्त्रीजी का संस्कृत के प्रति अनुराग होना स्वाभाविक था। इधर जब वे बी० ए० में अध्ययन कर रहे थे, इसी बीच १९२३ में उन्होंने पंजाब यूनिवर्सिटी की शास्त्री परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली।

ठाकुर साहब को जब शास्त्रीजी के शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण करने का समाचार मिला तो वे अत्यधिक प्रसन्न हुए। शास्त्रीजी के अन्य अँग्रेजी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने पर ठाकुर साहब को कोई विशेष हर्ष न था। वे कहते थे कि अँग्रेजी तो आजकल सभी पढ़ रहे हैं। वास्तव में शास्त्रीजी ने शास्त्री-परीक्षा उत्तीर्ण कर ठाकुर साहब की उन्हें गुरुकुल भेजकर संस्कृत का विद्वान बनाने की प्रबल इच्छा को बहुत अंश में पूर्ण कर दिया। इस कार्य से उन्हें बहुत सन्तोष हुआ और उन्हें विश्वास हो गया कि अब हमारे परिवार में संस्कृत का महत्व स्थापित हो गया है, जो आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार में भी सहायक सिद्ध होगा। शास्त्रीजी ने भावी जीवन में संस्कृत-शिक्षक बनकर, संस्कृत की कुछ पुस्तकों की रचना कर तथा अन्य प्रकार से संस्कृत के लिए जो कार्य किया है, वह ठाकुर साहब की आशाओं के अनुरूप ही है।

ठाकुर साहब स्वयं वकील बनना चाहते थे पर सफल न हुए, परंतु उनकी हार्दिक इच्छा थी कि हिंदी-संस्कृत के विद्वान होने के साथ-साथ शास्त्रीजी वकालत की परीक्षा भी उत्तीर्ण करें।

पिताजी की इच्छानुसार शास्त्रीजी ने इलाहाबाद विश्वविद्यालय में एम० ए० तथा एल-एल० बी० की पढ़ाई आरम्भ कर दी थी। कुछ समय तक अध्ययन करते रहे, किन्तु आपके मन ने वकालत के पेशे को इसलिए स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वकील का जीवन बड़ा अशान्त होता है और उसे प्रायः झूठे मुकदमों को भी सच्चा सिद्ध करने का यत्न करना पड़ता है। इसलिए आपने डी० ए० वी० कालेज लाहौर में प्रविष्ट होकर एक ही सत्र में संस्कृत में एम०ए० कर लिया और पंजाब विश्वविद्यालय में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। बाद में आपने पंजाब विश्वविद्यालय से एम० ओ० एल० उपाधि भी प्राप्त कर ली। हिन्दी के प्रति भी विशेष रुचि होने के कारण आपने हिन्दी में भी एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। इस प्रकार संस्कृत एवं हिन्दी के क्षेत्र में आपने अपना स्थान बनाना आरम्भ कर दिया।

गुरुकुल एवं आर्यसमाज के संस्कारों के कारण शास्त्रीजी की अध्यापन कार्य में विशेष रुचि थी और अन्त में अध्यापन कार्य को ही जीवन-मार्ग के रूप में स्वीकार करने का शास्त्रीजी ने निश्चय किया और शीघ्र ही अध्यापक बन गये। तब से आज तक वे शिक्षा-क्षेत्र में ही रचनात्मक कार्य कर रहे हैं।

अन्तर्जातीय विवाह

ठाकुर साहब चाहते थे कि अध्ययन-समाप्ति और नौकरी लगने के पश्चात् ही शास्त्रीजी का विवाह किया जाये।

यद्यपि उस युग में बाल-विवाह की कुप्रथा प्रचलित थी और ठाकुर साहब के वंश में भी बाल-विवाह हो रहे थे, परन्तु ठाकुर साहब ने इस कुप्रथा को समाप्त करने में दृढ़ता दिखायी। अपनी दोनों पुत्रियों के विवाह १६ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर ही किये। तीसरी पुत्री अपने शिक्षण-काल में ही काल-कवलित हो गयी थीं। ठाकुर साहब ने अपने पुत्र के विवाह का विचार ब्रह्मचर्य काल के २५ वर्ष पूर्ण होने पर ही किया।

ठाकुर साहब आर्यसमाज के रंग में इतना अधिक रँग चुके थे कि उनके हृदय में अपने पुत्र के लिए भी शुद्ध किये हुए मुस्लिम परिवार की कन्या को अपनी पुत्रवधू के रूप में लाने की इच्छा थी। उनकी दृष्टि में यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य था कि एक शुद्ध हुए मुस्लिम परिवार की कन्या एक आर्यसमाजी परिवार में आये। इससे शुद्ध होने वाले परिवारों के मनों में से हीनता की भावना समाप्त होगी और एकता सुदृढ़ होगी। यद्यपि परिवार के लोगों ने विशेषकर शास्त्रीजी की माताजी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, फिर भी इससे ठाकुर साहब की लगन और कौमी एकता के लिए बेचैनी का पता लगता है।

अपने इस प्रस्ताव के बाद ठाकुर साहब ने दूसरा प्रस्ताव जाति-बन्धन तोड़कर दूसरी जाति में विवाह किये जाने का प्रस्तुत किया। शुद्धि वाले प्रस्ताव की अपेक्षा यह प्रस्ताव परिवार को कम क्रांतिकारी लगा। यद्यपि पहले माताजी ने कहा कि मेरे एक ही पुत्र है। दूसरे पुत्र के लिए मैं जाति-बन्धन तोड़ना मान लेती, पर बाद में वे इससे सहमत हो गयीं और परिवार का बहिष्कार आन्दोलन समाप्त हो गया।

ठाकुर साहब विवाह में कोई जोर-जबरदस्ती नहीं चाहते थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि वर-कन्या की सम्मति जानकर गुण-कर्मानुसार विवाह होना चाहिए, क्योंकि उन्होंने जीवन-भर साथी रहना है। आज से ६० वर्ष पूर्व के समाज में ऐसा सोचना अकल्पनीय था, परन्तु ठाकुर

साहब ने पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन किया। पूर्ण विचार-विमर्श के उपरान्त शास्त्रीजी का विवाह-सम्बन्ध १५ नवम्बर, १९२५ को बरेली निवासी बाबू जगदम्बाप्रसाद जौहरी तथा आर्य-समाज की प्रमुख कार्यकर्तृ माता लक्ष्मीदेवीजी की सुपुत्री सौ० अक्षयकुमारीजी के साथ होना निश्चित हुआ।

आर्यसमाज के क्षेत्र में भी जाति-बन्धन तोड़कर होने वाले विवाहों में यह विवाह अपना ऐतिहासिक महत्व रखता है। इस विवाह में सम्मिलित होने के लिए दोनों पक्षों की ओर से प्रमुख-प्रमुख आर्यसमाजी बरेली पहुँचे थे। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध महोपदेशक पं० बिहारी-लालजी शास्त्री और आचार्य विश्वश्रवाजी व्यास अपनी चर्चाओं में इस विवाह-समारोह की प्रशंसा करते नहीं अघाते हैं। इस प्रकार शास्त्री-दम्पति का विवाह आर्यजगत् में एक आदर्श के रूप में बहुत समय तक प्रशंसात्मक चर्चा का विषय रहा और बाद में ऐसे जाति-तोड़क विवाहों से उत्पन्न संतानों को उत्तराधिकार दिलाने की दृष्टि से केन्द्रीय असेम्बली में माननीय श्री घनश्यामसिंह गुप्त ने 'आर्य मैरिज एक्ट' पारित कराया। इस प्रकार इस विवाह का कानूनी और ऐतिहासिक महत्व भी स्पष्ट है।

विवाह के अवसर पर वधू अक्षयजी के वेद-मन्त्रोच्चारण की उस समय उपस्थित सभी सभ्य जनों ने प्रशंसा की। वेद-मन्त्रोच्चारण में बचपन से ही उनकी प्रसिद्धि रही। फरवरी १९२५ में मथुरा में हुई दयानन्द जन्म-शताब्दी के अवसर पर हुए यजुर्वेद पारायण यज्ञ में एकमात्र महिला प्रतिनिधि के रूप में आपका सस्वर मन्त्रपाठ आकर्षण का विषय रहा। उससे प्रसन्न होकर उस यज्ञ के एक यजमान बरेली निवासी श्री अम्बाप्रसादजी ने अक्षयजी को चाँदी के यज्ञ-पात्र पुरस्कारस्वरूप प्रदान किये। ठाकुर साहब ने वहीं उनको अपनी पुत्रवधू बनाने का निश्चय किया था।

इस विवाह ने यह सिद्ध कर दिया कि शिक्षित वर-वधू ही समाज की उन्नति में योगदान दे सकते हैं। यदि अक्षयजी भी भारत की असंख्य ललनाओं की भाँति पर्दे में रहकर विवाह सम्पन्न करातीं तो उसका कोई विशेष महत्व नहीं होता, परन्तु अक्षयजी को एक आर्य परिवार में वैदिक धर्म की शिक्षा मिली थी; संस्कृत पढ़ने का, यज्ञवेदी पर बैठकर मन्त्रोच्चार का अधिकार मिला था, इस कारण वे स्वयं धन्य हुई और उनका परिवार धन्य हुआ। विवाह के समय तक अक्षयजी हिन्दी, संस्कृत की कई परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर चुकी थीं और एक योग्य विदुषी बनकर आपने समाज का मार्गदर्शन किया।

रूढ़िवादी-विरोधी परिवार में पग धरते ही अक्षयजी को नये मार्ग पर चलना पड़ा। नारी-सुलभ घूंघट रखकर जब आपने ठाकुर साहब के चरण स्पर्श करने चाहे, तब पिता के रूप में सम्बोधन कर उन्होंने कहा, 'सब बन्धन तोड़कर मैं तुम्हें पर्दा कराने के लिए नहीं वरन पर्दा हटाने के लिए लाया हूँ।' यह कहकर उन्होंने स्वयं पर्दा उठा दिया। कैसा अपूर्व दृश्य होगा, पर वह समय रूढ़ियां तोड़ने का था और सबने देखा उस दिन की घटना आज समय का सत्य बन चुकी है।

ठाकुर साहब आभूषणों को नारी के लिए बन्धन मानते थे। रूढ़िवादी परिवारों में विवाहिता के पैरों में बिछुवे अवश्य होने चाहिए। परिवार की अन्य स्त्रियों के आग्रह पर शास्त्री जी की माताजी बिछुवे बनवा लायीं तथा बहू को पहनने के लिए दिये। बहू के संकोच करने पर स्वयं पहना दिये। जब बिछुवे पहनकर वे अपने श्वसुर ठाकुर साहब के सामने भोजन परोसकर

लायीं तब ठाकुर साहब ने उनके पैरों में बिछुवे देखकर कहा, 'बस बेटा ! अब तुम्हारे हाथ से खाना नहीं लूंगा। नारी जाति में फैली हुई समस्त रूढ़ियों को नष्ट करने के लिए ही मैंने तुम्हें अपने घर के लिए चुना। तुमको मजबूती से उन रूढ़ियों को तोड़ना है। इस प्रकार दुर्बलता दिखाने से इस उद्देश्य में सफलता नहीं मिलेगी।' उस दिन बहू के पैरों से बिछुवे उतरवाकर ही उन्होंने भोजन किया। इस घटना में हम जहाँ ठाकुर साहब में रूढ़िनिषेध का आग्रह पाते हैं, वहीं अक्षयजी की शालीनता एवं गम्भीरता का भी हमें परिचय मिलता है।

ठाकुर साहब नारी को रूढ़ियों से मुक्त कर समाज-सेविका के रूप में आगे बढ़ाना चाहते थे। इसलिए विवाह के पश्चात् जब आर्यसमाज आगरा द्वारा सार्वजनिक अभिनंदन का आयोजन किया गया तो नववधू अक्षयजी ने स्वागत का उत्तर देते हुए नारी समाज को रूढ़ियों से मुक्त करने-कराने में अपनी शक्ति लगाने की घोषणा की। ५५-५६ वर्ष पूर्व की इस घटना ने नारी समाज को एक नेतृत्व प्रदान किया।

उस दिन के बाद से आदरणीया अक्षयजी ने अपने सैंकड़ों भाषणों में नारी समाज को पर्दा छोड़ने और अन्य रूढ़िवादी अन्ध परम्पराओं को तोड़ने की बारम्बार प्रेरणाएँ दी होंगी और आज भी दे रही हैं।

शिक्षा-क्षेत्र में पदार्पण

शास्त्रीजी का आर्यसमाज से घनिष्ठ पारिवारिक सम्पर्क सुविदित ही था। आर्यसमाज को शास्त्रीजी जैसे नवयुवक और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों की विशेष आवश्यकता थी।

कोल्हापुर (महाराष्ट्र) के महाराजा की हार्दिक इच्छा थी कि उनके राज्य में संस्कृत और आर्यसमाज का व्यापक प्रचार हो। अपनी इस अभिलाषा की पूर्ति के लिए महाराजा ने अपनी अन्य कई संस्थाओं के साथ राजकीय महाविद्यालय राजाराम कालेज कोल्हापुर की संपूर्ण व्यवस्था आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को सौंप दी। सभा की ओर से कोल्हापुर कालेज के लिए जो शिक्षक नियुक्त करके भेजे गये, उनमें शास्त्रीजी भी एक थे। वहाँ आप १९२५ में संस्कृत के प्रोफेसर पद पर नियुक्त किये गये। दो वर्ष तक आपने वहाँ बड़ी लगन और योग्यता के साथ बी० ए० (आनर्स) और एम० ए० कक्षाओं को सफलतापूर्वक पढ़ाया। आपके साथ ही पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, राजाराम हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक बनाकर भेजे गये थे। दोनों ने मिलकर आर्यसमाज के प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया।

आर्यसमाज के शुद्धि आन्दोलन में योगदान

शास्त्रीजी के पिता ठाकुर माधवसिंह जी की आर्यसामाजिक गतिविधियों का संक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है। उनके साथ-साथ अंतिम दिनों में उनके कंधों पर अखिल भारतीय शुद्धि महासभा के महामंत्री का पदभार भी था, जिसका उन्होंने बड़ी योग्यता से निर्वाह किया था। स्वामी श्रद्धानन्द, महात्मा नारायण स्वामी, महात्मा हंसराज, राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री, (स्वामी ध्रुवानंदजी), महात्मा खुशहाल चंद जी (आनंद स्वामीजी महाराज) आदि के साथ ठाकुर साहब ने शुद्धि आन्दोलन की धूम मचा दी; मलकाने राजपूत मुसलमानों की शुद्धि में तो उन्होंने कमाल ही कर दिया।

ऐसे महान् कार्य में शास्त्रीजी ने अपने पिताजी की भरपूर सहायता की और शुद्धि सभा

के कार्य संचालन में आगरा-दिल्ली-लखनऊ जाकर, रहकर आन्दोलन को सफल बनाया। इस प्रकार अपने पिताजी के सम्मुख ही शास्त्रीजी आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्ताओं में गिने जाने लगे।

शाहपुरा के राजकुमारों के राजगुरु और विदेश-यात्रा

आर्यसमाज के इतिहास में राजस्थान की शाहपुरा रियासत का ऐतिहासिक योगदान रहा है। महर्षि दयानन्द ने इस परिवार को स्वयं दीक्षा दी थी। शाहपुराधीश की हार्दिक इच्छा थी कि उनके पौत्रों की शिक्षा-दीक्षा वैदिक विद्वानों की देखरेख में हो। १९२७ में शास्त्रीजी को महाराजा ने अपने पौत्रों के शिक्षक के रूप में नियुक्त किया और थोड़े दिन बाद १९२८ में अपने पौत्रों के साथ इंग्लैंड भेज दिया। शास्त्रीजी राजपुत्रों के संरक्षक बनकर उनका मार्ग-दर्शन करते रहे।

इंग्लैंड में ऋषि का संदेश

शास्त्रीजी इंग्लैंड में संस्कृत में विशेष शोधकार्य भी करना चाहते थे और वहाँ से पी-एच० डी० करके लौटना चाहते थे, परंतु आर्यसमाजी संस्कारों के कारण पूर्ण शाकाहारी जीवन-निर्वाह करना वहाँ उस समय उनके लिए कठिन हो गया, स्वास्थ्य पर भी प्रभाव पड़ा। ऐसी स्थिति में आपने भारत लौटना ही ठीक समझा और भारत लौट आये।

इंग्लैंड में भी शास्त्रीजी ने अँग्रेज विद्वानों के पास जा-जाकर महर्षि दयानन्द के वेद-भाष्य को समझाने का यत्न किया। लंदन विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष को आपने महर्षि-रचित 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका' भेंट की तथा स्वामीजी का वेद-भाष्य सम्बन्धी दृष्टि-कोण समझाया। इस प्रकार १९२८ में ही शास्त्रीजी मिशनरी रूप में इंग्लैंड में प्रचार कार्य करते रहे। आज तो बहुत से आर्य विद्वान् विदेशों में वैदिक धर्म का संदेश सुना रहे हैं, परंतु आज से ५० वर्ष पूर्व यह कार्य कितना कठिन था, इसका अनुमान सहज नहीं है।

इंग्लैंड से लौटने पर शास्त्रीजी ने अपने अनुभवों का एक लेख में वर्णन किया था, जिसमें उन्होंने अँग्रेजों के कुछ अच्छे गुणों का उल्लेख करते हुए देशवासियों से अनुरोध किया था कि हम अँग्रेजों की विलासिता, राजशाही तथा अन्य बातों की उपेक्षा और निंदा अवश्य करें, परंतु उनके राष्ट्रीय चरित्र से देशभक्ति, समय-पालन, ईमानदारी, सफाई, शिक्षा-प्रचार आदि की शिक्षा अवश्य ग्रहण करें। शास्त्रीजी के इन विचारों पर कई मित्रों ने उन पर इंग्लैंड के असर का दोष लगाना चाहा पर वह गलत था, क्योंकि शास्त्रीजी ने स्वयं के जीवन में उन अच्छे गुणों को आत्मसात् करके अपना गुण-ग्राहकपन सिद्ध कर दिया।

शास्त्रीजी यदि अधिक समय इंग्लैंड में रहे होते तो जहाँ वे अपने अध्ययन को अधिक बढ़ा पाते, वहीं वे आर्यसमाज की भी उस क्षेत्र में अधिक सेवा कर सकते थे।

अक्षयजी की गुरुकुल देहरादून सेवा

शास्त्रीजी के इंग्लैंड प्रवास के दिनों में अक्षयजी, माता लक्ष्मी देवी जी के साथ कन्या गुरुकुल, देहरादून के संचालन में योगदान देती रहीं। वास्तव में यही काल कन्या गुरुकुल, हाथरस की पुनर्स्थापना का काल कहा जा सकता है।

माता लक्ष्मीदेवी जी के हृदय में कन्या गुरुकुल की स्थापना की बड़ी तीव्र इच्छा थी। सौभाग्य से दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्दजी के प्रयास से कन्या गुरुकुल आरम्भ हुआ और वही बाद में देहरादून स्थानान्तरित हो गया। देहरादून में गुरुकुल के प्रबंध के लिए योग्य आर्य महिलाओं की आवश्यकता थी और स्वामीजी ने माताजी से सहयोग का अनुरोध किया। माताजी की मनचाही होने जा रही थी, उन्होंने सहयोग की भावना से स्वीकृति दे दी और कह दिया कि 'जब तक आपको कोई और महिला नहीं मिलती तब तक थोड़े समय तक मैं और मेरी पुत्री गुरुकुल की सेवा कर देंगे, क्योंकि मैं स्वयं अपना गुरुकुल उत्तर प्रदेश में स्वतंत्र रूप से चलाने का निश्चय कर चुकी हूँ।' उन दोनों की उस समय की कन्या गुरुकुल की सेवा भविष्य के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई। माताजी ने आगे चलकर १९३१ में सासनी में पूर्वनिर्मित कन्या गुरुकुल का पुनरुद्धार किया और १९६१ तक वे उसे चलाती रहीं। उनके बाद आज इस गुरुकुल की आचार्या एवं मुख्याधिष्ठात्री माता अक्षयकुमारी जी बनी हुई हैं। गुरुकुल सब प्रकार से गुरुकुल-प्रणाली की कसौटी पर पूर्णतया सफल हो रहा है।

डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में शिक्षक (१९२८-१९४२)

इंग्लैंड से लौटने के पश्चात् शास्त्रीजी ने डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष-रूप में कार्य आरंभ कर दिया। वहाँ भी ये दम्पति तत्कालीन प्रिंसिपल श्री लक्ष्मणप्रसादजी के विशेष स्नेहपात्र रहे और वे सदा उनको आदर्श दम्पति मानते थे।

इस काल में शास्त्रीजी ने संस्कृत के कई ग्रंथों पर अपनी टीकाएँ भी प्रकाशित कीं, जो विद्यार्थियों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

दयानन्द छात्रावास के वार्डन

कालेज में अध्यापन के साथ-साथ शास्त्रीजी के कंधों पर दयानन्द छात्रावास के अध्यक्ष (वार्डन) पद का भार भी डाल दिया गया। यह पद जहाँ उत्तरदायित्वपूर्ण था, वहीं छात्रों से सम्पर्क के लिए विशेष सुअवसर भी सिद्ध हुआ।

उस काल में डी० ए० वी० कालेज, देहरादून आसपास के कई ज़िलों में, विशेषकर गढ़वाल जैसे पिछड़े क्षेत्र में तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में एक प्रमुख शिक्षा-संस्था थी। अतः गढ़वाल क्षेत्र के छात्रों और उनके संरक्षकों से शास्त्रीजी का निकट सम्पर्क बढ़ता गया, जो बाद में गढ़वाल में आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

आज तो नहीं कहा जा सकता कि डी० ए० वी०कालेज, देहरादून और उसका दयानन्द छात्रावास आर्यसमाज की दृष्टि से कोई विशेष भूमिका सम्पन्न कर रहे हैं, परंतु सन् १९२८ से ४२ तक के समय में इन संस्थाओं का आर्यसमाज के शैक्षिक, सैद्धांतिक और व्यावहारिक कार्यक्रमों को सफल बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा, जिसका अधिकांश श्रेय शास्त्रीजी की वहाँ शिक्षक एवं वार्डन के रूप में उपस्थिति को ही दिया जा सकता है।

दयानन्द छात्रावास की दिनचर्या बड़ी नियमित और संयमित थी। दोनों समय दैनिक संध्या-हवन होता था और उसमें सभी छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य थी। वार्डन के रूप में शास्त्रीजी स्वयं उपस्थित रहते थे और समय-समय पर स्वयं उपदेश देते या अन्यों से उपदेश कराने की व्यवस्था करते थे। रविवार के दिन छात्रों को पंक्तिबद्ध कर आर्यसमाज, देहरादून के

सत्संग में ले जाया जाता था। यही नहीं, छात्रावास से छात्रों के रात्रि में बाहर जाने पर भी कठोर नियंत्रण था, परंतु इसके साथ ही छात्रों की सुविधाओं, भोजन-व्यवस्था, क्रीड़ा आदि में शास्त्रीजी व्यक्तिगत रूप से रुचि लेकर छात्रों को उचित संरक्षण भी प्रदान करते थे।

प्रवासी भारतीय छात्रों के संरक्षक

आर्यसमाज के शिक्षा-कार्य से प्रभावित होकर प्रवासी भारतीयों ने भी अपने बालक-बालिकाएँ भारत में आर्यसमाज की शिक्षा संस्थाओं, कालेजों, गुरुकुलों में भेजने आरम्भ किये। कन्याओं का प्रबन्ध जालंधर महाविद्यालय और कन्या गुरुकुल देहरादून में किया गया और लड़कों को गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन तथा डी०ए०वी० कालेज, देहरादून में प्रविष्ट किया गया।

देहरादून डी० ए० वी० कालेज में प्रविष्ट प्रवासी भारतीय छात्रों को दयानन्द आश्रम में शास्त्रीजी के संरक्षण में सौंप दिया गया। सामान्य स्थिति में छात्रावासों में छात्र आते-जाते ही रहते हैं, परन्तु यह एक ऐतिहासिक घटनाक्रम था। फीजी जैसे सुदूर देश से आने वाले बीस बालकों को अपने संरक्षण में रखना और उनकी सब कठिनाइयों को दूर करना शास्त्रीजी का दायित्व था। शास्त्रीजी ने गढ़वाल तथा उत्तर प्रदेश के अन्य जनपदों से आये छात्रों से भी अधिक प्रवासी छात्रों का ध्यान रखा। प्रवासी छात्रों के लिए शास्त्रीजी पितृतुल्य थे और वे सभी छात्र पुत्रवत्।

भारत में होली, दीवाली के पर्वों पर शिक्षा-संस्थाओं में लम्बी छुट्टियाँ हो जाती हैं, और छात्र अपने घरों को चले जाया करते हैं, परन्तु फीजी से आने वाले छात्र दयानन्द आश्रम छोड़कर फीजी कैसे जा सकते थे? उन्हें वहीं रहना पड़ता था। पर्वों की खुशियों में वे छात्र कभी अकेले नहीं रहे। शास्त्रीजी ने नियम बना रखा था कि वे होली, दीवाली पर सभी प्रवासी छात्रों को अपने घर बुलाते थे और उन सबकी दावत करते थे। उनके इस कार्य में कोई दिखावट न थी, अपितु उनका यह कार्य उनके ममत्व, पितृवात्सल्य और अन्तेवासी ब्रह्मचारी के प्रति आचार्य के कर्तव्य की भूमिका स्वरूप था। वे सभी प्रवासी छात्र आज भी अपने गुरुदेव को उसी प्रकार आदर के साथ स्मरण करते और उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करते रहते हैं। फीजी के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में इनमें से कई छात्रों ने महत्वपूर्ण भूमिकाएँ सम्पन्न की हैं। फीजी के श्री रामलखन, श्री घनानन्द, श्री अम्बिकाप्रसाद आदि प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता शास्त्रीजी के शिष्यों में से ही हुए हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के प्रस्तोता और मंत्री के रूप में श्री शास्त्रीजी ने वहाँ अध्ययन करने वाले फीजी के छात्रों की शिक्षा-दीक्षा पर भी विशेष ध्यान दिया। श्री कमलाप्रसाद जो आज फीजी के प्रसिद्ध हिन्दी पत्रकार हैं और जिनकी हिन्दी सेवाओं के लिए उन्हें भारत में बुलाकर सम्मानित किया गया है, शास्त्रीजी के ही युग में गुरुकुल के स्नातक बने थे। इस प्रकार आर्यसमाज द्वारा प्रवासी भारतीयों की उन्नति में दिये गये योगदान में शास्त्रीजी की उल्लेखनीय भूमिका ऐतिहासिक महत्व रखती है।

आर्यकुमार सभा आदि द्वारा छात्रों को प्रोत्साहन

आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं के आरम्भ करने का मुख्य उद्देश्य था—शिक्षा के साथ-साथ नैतिक जीवन का विकास, सामाजिक जीवन में नेतृत्व की क्षमता का विकास तथा देशभक्ति

की भावना को प्रोत्साहन आदि। आरम्भ में डी० ए० वी० संस्थाओं ने इन उद्देश्यों की पूर्ति में सराहनीय योगदान दिया था। इस उद्देश्यों की सफलता के लिए प्रत्येक आर्य शिक्षा-संस्था में 'आर्यकुमार सभा' स्थापित की गयी और उसमें सभी छात्रों को भाषण, लेखन तथा अन्य बौद्धिक प्रक्रियाओं द्वारा बौद्धिक विकास का अवसर प्रदान किया जाता था। उस युग में अस्पृश्यता निवारण, दहेज कुप्रथा उन्मूलन, बाल-विवाह निषेध, मद्य-निषेध, स्वदेशी प्रचार, देशभक्ति आदि समस्याओं पर छात्रों के वाद-विवाद, निबन्ध, कविता-पाठ आदि के विशेष कार्यक्रम होते थे।

शास्त्रीजी अपने विद्यार्थी काल में आगरा की आर्य मित्र सभा के प्रधान रह चुके थे और अखिल भारतीय आर्यकुमार सभा अधिवेशनों में सम्मिलित होते रहे थे। इस कारण शास्त्रीजी को सभा के कार्यक्रमों का समुचित ज्ञान था और वे बड़ी लगन के साथ डी० ए० वी० कालेज देहरादून की आर्यकुमार सभा के संरक्षक बने हुए थे, क्योंकि आपकी दृष्टि में सभा के कार्यक्रम जहाँ छात्रों की प्रतिभा का विकास करने वाले थे, वहीं उनमें भावी समाज को नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता भी उत्पन्न होती थी। आर्यकुमार सभा आन्दोलन को प्रोत्साहन देने के कारण आप उत्तर प्रदेशीय आर्यकुमार परिषद् के फैजाबाद अधिवेशन के अध्यक्ष भी चुने गये थे। भारत के प्रमुख राजनीतिज्ञ श्री हेमवतीनन्दन बहुगुणा ने कानपुर में आयोजित आर्यसमाज शताब्दी समारोह में समापन-समारोह के अवसर पर, जिसकी अध्यक्षता भारत के उपराष्ट्रपति महामहिम श्री बासप्पा दासप्पा जत्ती कर रहे थे, कहा था—"मैंने आर्यसमाज से ही भाषण और नेतृत्व की कला सीखी है। गुरुदेव शास्त्रीजी ने आर्यकुमार सभा में बोलना सिखाया और फिर सभा का मन्त्री बना दिया, तब से मैं जिस क्षेत्र में भी गया, मन्त्री बनता रहा हूँ और आज भी मन्त्री के रूप में आपके सम्मुख खड़ा हूँ। मैं आज जो कुछ भी हूँ, इन्हीं गुरुचरणों की कृपा है।"

कानपुर विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति एवं भूतपूर्व राज्य शिक्षामन्त्री, भारत सरकार, श्री भक्तदर्शनजी भी आपके देहरादून के प्रिय शिष्यों में से हैं। उन्होंने अनेक अवसरों पर शास्त्रीजी के चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण करने का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है और आज भी शास्त्रीजी का बहुत आदर करते हैं। श्री दुर्गाप्रसाद आर्य जो उत्तर प्रदेश सरकार के सेक्रेटरी बने और वर्तमान में उत्तर प्रदेश के लोकसेवा आयोग के सदस्य हैं, आर्यकुमार सभा की ही देन हैं। श्री विश्वम्भरसहाय एडवोकेट भी इसी आर्यकुमार सभा के रत्न हैं, जो देहरादून आर्यसमाज के कार्यों में संलग्न हैं और अपने को शास्त्रीजी का पुत्र मानते हैं। इस प्रकार के अनेकों योग्यतम नागरिकों एवं कुशल नेताओं को तैयार करने में शास्त्रीजी ने आर्यकुमार सभा द्वारा महत्वपूर्ण भूमिका सम्पन्न की है, उससे आर्य शिक्षा-संस्थाओं में कार्य करने वाले आर्य शिक्षकों को प्रेरणा लेनी चाहिए।

यह भी स्मरणीय है कि शास्त्रीजी की सभी शैक्षिक गतिविधियों, छात्रावास व्यवस्था, आर्यकुमार सभा आन्दोलन आदि में कालेज के प्राचार्य बाबा लक्ष्मणप्रसादजी का आशीर्वाद रहा और शास्त्रीजी की सभी कठिनाइयों को दूर करने में वे पूर्ण सहयोग देते रहे; ऐसे प्राचार्यों का भी आज आर्य शिक्षा-संस्थाओं में अभाव हो गया है।

शास्त्रीजी छात्रों के सुधार के लिए भी यत्नशील रहते थे और प्रायः कहा करते थे कि जिस लड़के को बिगड़ा हुआ शरारती समझो, उसे मेरे पास छात्रावास में भेज दो। शास्त्रीजी ऐसे शरारती लड़कों की चंचल मनोवृत्तियों पर व्यक्तिगत रूप से ध्यान रखते और धीरे-धीरे

उसका सुधार हो जाता। ऐसे अनेक छात्र आज भी शास्त्रीजी को अपने सुधार के लिए याद करते हैं। छात्रों की अनुशासनहीनता को रोकने में शास्त्रीजी केवल कागजी आदेशों में ही विश्वास नहीं रखते थे, वे स्वयं तथ्यों की जाँच करने का यत्न करते थे। एक बार आपको सूचना मिली कि कुछ लड़के सिनेमा देखने गये हैं जो आश्रम की मर्यादा के विरुद्ध अनुशासनहीनता और आज्ञा के उल्लंघन की घटना थी। शास्त्रीजी सूचना मिलते ही नगर के सिनेमाघर पहुँच गये और टार्च से चेहरों को पहचानकर वहाँ बैठे छात्रों को बाहर निकाल लाये। इस कठोर अनुशासन-भावना को देखकर सभी नागरिक दंग रह गये। विद्यार्थियों ने भी शास्त्रीजी से क्षमा याचना की और भविष्य में ऐसा न करने की प्रतिज्ञा की। कहाँ हैं आज ऐसे छात्रावास और छात्रावासों के शास्त्रीजी जैसे आदर्श वार्डन ? आज तो छात्रावासों में दूषित और कुत्सित रहन-सहन का बोल-बाला है। उन्हें होटल या किराये का मकान कहना ही ठीक होगा, जहाँ पूर्ण स्वच्छन्दता और उच्छृंखलता का नग्न नृत्य हो रहा है। छात्रावास विद्यार्थी के जीवन-निर्माण में अपनी अहं भूमिका निभा सकते हैं पर उसके लिए शास्त्रीजी जैसे समझदार, कठोर और कोमल स्वभाव वाले व्यक्तियों को ही ढूंढ़ना पड़ेगा।

आर्यसमाज, देहरादून

आर्यसमाज की शिक्षा-संस्था में शिक्षक होने तथा आर्य-परिवार के सदस्य रूप में शास्त्रीजी का आर्यसमाज, देहरादून के साथ सम्बन्ध आवश्यक और अनिवार्य था। शास्त्रीजी जब तक देहरादून रहे तब तक देहरादून आर्यसमाज की उन्नति में सदैव पूर्ण सहयोग देते रहे। आर्यसमाज के सत्संगों में शास्त्रीजी का पूरा परिवार सम्मिलित हुआ करता था। आप कहते थे कि मैं दूसरों से आर्यसमाज में आने की तभी आशा कर सकता हूँ जब स्वयं सपरिवार आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशनों में पहुँचूं।

आर्यसमाज, देहरादून के आप वर्षों तक निरंतर निर्विरोध प्रधान चुने जाते रहे। आपने बड़ी योग्यता के साथ आर्यसमाज के कार्य और सुधारवादी आन्दोलन का संचालन किया। आर्यसमाज के अतिथि भवन आदि का निर्माण आपके ही प्रधानत्व में हुआ। आपके समय में आर्यसमाज के कार्यों में एक नवीन चेतना, एक नवीन जागृति आयी।

उसी समय में एक बार सहारनपुर से एक महिला आपके पास आयी और रोने लगी। शास्त्रीजी के पूछने पर उसने बताया कि 'मेरे पति दिल्ली इम्पीरियल बैंक में खजांची हैं। वे मेरे होते हुए देहरादून के एक वकील की कमउम्र की कन्या से शीघ्र ही विवाह करने आ रहे हैं। किसी तरह इस विवाह को रोकिये अन्यथा मैं कहीं की न रहूँगी।' शास्त्रीजी ने उसको आश्वासन दिया और आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं को स्थिति से अवगत कराया। निश्चय हुआ कि जैसे ही बारात स्टेशन पर आये, उन्हें इस अनमेल एवं अनीतियुक्त विवाह को रोकने के लिए काले झंडे दिखाये जायें तथा बारात वापस की जाये। शास्त्रीजी के नेतृत्व में सभी साथी स्टेशन से कुछ दूर काले झंडे लेकर रास्ते में खड़े हो गये। वर-पक्ष को इसकी जानकारी हो गयी, वे स्टेशन पर प्रतीक्षालय में ही रुक गये। इसी बीच कांग्रेस के प्रमुख कार्यकर्ता एवं संसद-सदस्य श्री महावीर त्यागी एवं उनकी धर्मपत्नी भी आ गयीं। कुछ देर बाद जब दूल्हा निकलकर चलने लगा तो श्री महावीर त्यागी की धर्मपत्नी ने कार पर चढ़ने की कोशिश की तथा दूल्हे का हाथ पकड़कर खींचना चाहा। पुलिस वहाँ पहुँच गयी तथा हाथापाई हुई और डंडे चले। अतः जो कार्य शान्ति-

पूर्वक करने का विचार था वह न हो सका। दूल्हा इसी बीच निकल गया। तब ये लोग वकील साहब के यहाँ पहुँचे। युवकों ने विवाह की सज्जा को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री भी कुछ महिलाओं के साथ उनके घर में घुस गयीं तथा कन्या को समझाने का यत्न किया, पर १३ वर्ष की कन्या को हीरे-जवाहरात के आभूषणों का लालच दिया हुआ था। वह टस से मस न हुई। हारकर कन्या की माता ने यह भी कहा कि हम वहाँ विवाह न करेंगे, क्योंकि जिस विवाह में इतनी बाधाएँ हों, वहाँ मेरी कन्या सुखी न रहेगी। ये कुछ आश्वस्त हुईं, पर परिवार की अन्य स्त्रियों ने इन्हें पीटना तथा डंडे लगाने प्रारम्भ किये। पुलिस वहाँ पहुँच गयी। अँग्रेजों का राज्य था। कोतवाल आदि के शास्त्रीजी के पक्ष का समर्थक होते हुए भी उन्हें आन्दोलनकारी महिलाओं-पुरुषों पर शान्ति भंग करने का आरोप लगाकर गिरफ्तारियाँ करनी पड़ीं। इसी बीच वर-कन्या को उनके घर वालों ने सहारनपुर छिपाकर निकाल दिया।

इस कार्य में यद्यपि शास्त्रीजी को सफलता नहीं मिली, पर सर्वत्र तहलका-सा मच गया। इसकी इतनी प्रसिद्धि हुई कि अन्य शहरों में भी जहाँ कहीं इस प्रकार के विवाह होने जा रहे होते, वहाँ से शास्त्रीजी के पास इस प्रकार के विवाह को रोकने के लिए पत्र आ जाते।

देहरादून में ही एक बूढ़ा सिक्ख एक कमउम्र की कन्या से विवाह करने के लिए आ गया। शास्त्रीजी को पता लगा। शास्त्रीजी अपने कुछ साथियों सहित वहाँ गये। वर सिक्ख के एक बूढ़े साथी ने पाँच रुपये का नोट निकालकर शास्त्रीजी की जेब में डाल दिया कि किसी प्रकार विवाह हो जाने दीजिये। शास्त्रीजी ने वह नोट निकालकर फेंक दिया और बारात को वापस लौटने के लिए विवश कर दिया। शास्त्रीजी के प्रयत्नों से वह अनमेल विवाह रुक गया। इस प्रकार समाज सुधार के कार्यों में आपकी प्रमुख भूमिका रही है।

एक बार शास्त्रीजी के एक पुराने अध्यापक, जो डी० ए० वी० हाई स्कूल आगरा के प्रधानाध्यापक रह चुके थे, अपने छोटे पुत्र का वैदिक रीति से विवाह कराने के लिए शास्त्रीजी को पुरोहित बनाकर ले गये। सायंकाल जब शास्त्रीजी यज्ञवेदी पर यज्ञ का सामान ठीक करा रहे थे तो उन्हें किसी ने सूचना दी कि बारात की शोभा-यात्रा आ रही है और उसके आगे एक वेश्या नाचती हुई आ रही है। यह सुनते ही शास्त्रीजी का पारा आसमान पर चढ़ गया और जैसे ही वह वेश्या सभा-मण्डप में पहुँची, जहाँ नगर के अनेक गण्यमान्य नागरिक उपस्थित थे, शास्त्रीजी ने किसी की भी परवाह न करते हुए उस वेश्या को एक मिनट में सभा-मण्डप से बाहर निकाल दिया। लोगों में हलचल मच गयी और वे पुरोहित के इस कार्य पर आश्चर्य करने लगे, लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि शास्त्रीजी एक आर्यसमाजी और डी०ए०वी० कालेज, देहरादून के अध्यापक हैं तो वे उनके इस कार्य की सराहना करने लगे।

बाद में ज्ञात हुआ था कि वेश्या के पक्षपातियों ने रुष्ट होकर शास्त्रीजी पर हमला करने की योजना बनायी थी, परन्तु आवश्यक कार्यवाही कर लेने के कारण उनको सफलता न मिली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीजी निर्भीक प्रकृति के दृढ़-निश्चयी व्यक्ति हैं। जिस बात को ठान लेते हैं, उसे पूरा करके ही छोड़ते हैं।

एक बार डी० ए० वी० कालेज, देहरादून के विद्यार्थियों ने 'दुर्गादास' नाटक खेलने का निश्चय किया। शास्त्रीजी ने उनको प्रोत्साहित किया। चूंकि इस नाटक की कुछ बातें

ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी मुसलमानों को प्रियकर न थीं, इसलिए इस नाटक के प्रसंग को लेकर मुसलमान भड़क उठे। उन्होंने उसका तीव्र विरोध करना आरम्भ कर दिया और घोषणा कर दी कि वे इसका अभिनय किसी प्रकार न होने देंगे। स्थिति के गम्भीर होने पर प्रिंसिपल महोदय ने श्री शास्त्रीजी को कालेज की प्रबन्ध-समिति के अधिकारियों से परामर्श करने और उनकी अनुमति प्राप्त करने हेतु कानपुर भेजा। जब शास्त्रीजी कानपुर गये हुए थे तो मुसलमानों ने योजना बनायी कि डी० ए० वी० कालेज में आग लगायी जाये। शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी बच्चों के साथ अकेली थीं। पुलिस वहाँ पहुँच गयी। पुलिस के व्यक्तियों ने बैठक में सोने के लिए कहा, किन्तु अक्षयजी ने दृढ़तापूर्वक मना कर दिया कि मुझे कोई भय नहीं है। शास्त्रीजी के कानपुर से अनुमति लेकर लौटने पर कालेज में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। अभिनय की तैयारी होने लगी। नाटक सफलतापूर्वक और उत्साहपूर्वक खेला गया। पुलिस का कड़ा पहरा रहा, कोई उपद्रव न होने पाया। डी० ए० वी० कालेज में पढ़ने वाले लड़कों में एक मुसलमान लड़का भी था, जो शास्त्रीजी का बहुत आदर करता था। उसने शास्त्रीजी से कहा कि 'शास्त्रीजी ! आप अमुक सड़क पर से निकलकर न जाया करें, मुसलमानों ने तय किया है कि आपकी नाक काटी जाये।' किन्तु शास्त्रीजी भला कहाँ मानने वाले थे ! वे सदैव उसी सड़क से होकर गये और कुछ न हुआ।

प्रधान की साक्षी पर निर्णय

एक बार देहरादून में किसी अदालत में शास्त्रीजी को साक्षी के लिए बुलाया गया। जज महोदय ने आपकी साक्षी पर ही निर्णय दे दिया और कहा कि 'आर्यसमाज का प्रधान कभी असत्य नहीं बोल सकता। मैं शास्त्रीजी की बात को ही सत्य मानता हूँ।' आज भी आर्यसमाज को सत्यता के लिए इस प्रकार का गौरव स्थिर रखने की आवश्यकता है।

अजमेर अर्द्धशताब्दी में सहयोग

१९३३ में अजमेर में महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दी मनायी गयी थी। उसमें जात-पाँत तोड़क सम्मेलन के शास्त्रीजी संयोजक थे। उस समय डी० ए० वी० कालेज देहरादून के छात्र और बड़ी संख्या में देहरादून के आर्य नर-नारी आपके नेतृत्व में अजमेर गये थे। अजमेर शताब्दी के कारण देहरादून-क्षेत्र में जो विशेष जागृति उत्पन्न हुई, उस सबका श्रेय शास्त्रीजी को ही दिया जा सकता है।

हरिजन सेवक संघ के मन्त्री

उन दिनों हरिजनोद्धार का कार्य विशेष रूप से किया जा रहा था। शास्त्रीजी देहरादून जिले के हरिजन सेवक संघ के मन्त्री के रूप में हरिजनोद्धार का कार्य करते थे। चूहड़पुर तथा अन्य क्षेत्रों में आपके सहयोग से विशेष कार्य हुआ। चौधरी बिहारीलालजी जो बाद में राजनैतिक नेता बने, उस समय शास्त्रीजी के संरक्षण में समाजोत्थान का कार्य किया करते थे। शास्त्रीजी अनेक वर्षों तक हरिजन विद्या-सभा के प्रधान-पद पर रहे तथा एक हरिजन बालिका विद्यालय की स्थापना की, जिसकी प्रबन्धिका के रूप में अक्षयजी ने भी सहयोग दिया। एक बार हरिजनों की प्रमुख बस्ती भयंकर आग से नष्ट हो गयी। शास्त्रीजी ने उसके लिए सार्व-

जनिक रूप से धन-संग्रह करके बस्ती का पुर्नानिर्माण कराया तथा वस्त्र, अन्नादि संग्रह करके पीड़ितों को तात्कालिक सहायता दी। आपने देहरादून आर्यसमाज में हरिजनों और सवर्णों के कई बार सहभोज भी कराये, जिनमें हरिजनों द्वारा भोजन परोसवाया गया। इस प्रकार हरिजनोद्धार के कार्य में भी शास्त्रीजी की विशेष भूमिका रही है।

जात-पाँत तोड़क मण्डल के अधिष्ठाता

शास्त्रीजी देहरादून आर्यसमाज के प्रतिनिधि-रूप में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के अन्तरंग सदस्य, अधिकारी, अधिष्ठाता आदि पदों पर कार्य करते रहे और सार्वदेशिक सभा में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के सम्मानित सदस्य के रूप में प्रमुख प्रतिनिधि होकर जाते रहे।

आपने अपना विवाह जात-पाँत-बन्धन तोड़कर किया था, इस कारण सभा ने आपको जात-पाँत तोड़क मण्डल का अधिष्ठाता बना दिया। अनेक वर्षों तक आपने इस पद पर रहकर जातिभेद-उन्मूलन कार्यक्रम को आगे बढ़ाया।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की स्वर्ण जयन्ती के संयोजक

१९३७ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का स्वर्ण जयन्ती समारोह मेरठ में मनाया जाना निश्चित हुआ। जयन्ती-समारोह की सफलता के लिए एक कुशल एवं कर्मठ कार्यकर्ता की आवश्यकता थी। सभा ने यह भार शास्त्रीजी के कन्धों पर डाल दिया।

देहरादून में रहकर अध्यापन कार्य करते हुए आपके लिए मेरठ समारोह को सम्पन्न करना कठिन ही नहीं दुःसाध्य कल्पना थी, परन्तु दयानन्द के वीर सैनिक के रूप में आपने देहरादून से ही मेरठ जयन्ती के लिए धन-संग्रह किया और कार्यक्रम को ऐतिहासिक सफलता दिलवायी। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के इतिहास में मेरठ में सम्पन्न स्वर्ण जयन्ती समारोह का विशेष स्थान है। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के नव-स्नातकों का दीक्षान्त संस्कार भी स्वर्ण जयन्ती पण्डाल में ही सम्पन्न कराया गया, जिसका आर्य जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। शताब्दी में आयोजित विशाल शोभा-यात्रा को देखकर श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय ने प्रसन्न होकर शास्त्रीजी की पीठ ठोककर कहा था—तुमने आज अपने पिता ठाकुर साहब का ऋण चुका दिया।

निजाम हैदराबाद सत्याग्रह में योगदान

हैदराबाद में आर्यसमाज के सत्याग्रह की तैयारी के लिए शोलापुर में जब महासम्मेलन बुलाया गया, तब शास्त्रीजी ने और अक्षयजी ने वहाँ जाकर उसमें योगदान दिया। हैदराबाद संचालन समिति के उत्तर प्रदेश से आप एकमात्र सदस्य थे। सत्याग्रह-संचालक महात्मा नारायण स्वामीजी ने आप लोगों को प्रचार कार्य सौंपा, जिसे आप लोगों ने बहुत अच्छी प्रकार किया। शास्त्रीजी ने देहरादून से बड़ी संख्या में सत्याग्रही भिजवाये तथा यह घोषणा की कि जब तक यह सत्याग्रह चलेगा तब तक प्रति मास दस सत्याग्रही जेल के लिए तथा एक हजार रुपया भिजवाऊँगा। यह सत्याग्रह ८-९ मास चला। शास्त्रीजी ने १०० सत्याग्रही तथा दस हजार रुपया दिया।

सत्याग्रह के अधिनायकों (डिक्टेटरों) का देहरादून में आपके प्रयास से भव्य स्वागत किया गया। महात्मा आनन्द स्वामी जी (तत्कालीन ला० खुशहालचन्द), हैदराबाद के बैरिस्टर श्री विनायकराव जी विद्यालंकार आदि जो भी डिक्टेटर आते थे, उनके सम्मान में जुलूस निकाला जाता था तथा सार्वजनिक सभाएँ करके लोगों को उत्साहित किया जाता था।

जिस समय समझौते की बात चल रही थी तो शास्त्रीजी देहरादून से दिल्ली होते हुए शोलापुर जा रहे थे। दिल्ली में श्री रामगोपाल शाल वाले स्टेशन पर आपसे मिलने आये तथा समझौता न करने के लिए कहा।

अन्त में विजय आर्यसमाज को मिली। इस संघर्ष में योगदान देकर शास्त्रीजी ने अपने कुशल नेतृत्व का परिचय दिया और अपने कर्तव्य का पालन किया। माता अक्षयजी ने भी महिलाओं में जागृति कर धन-संग्रह आदि द्वारा सत्याग्रह को सफल बनाने में पूर्ण योगदान दिया। बिहार के भयंकर भूकम्प के समय भी आपने भूकम्प-पीड़ितों के लिए यथाशक्ति धन संग्रह कर भेजा।

सन्तानों के यज्ञोपवीत संस्कार

आर्यसमाज ने यज्ञोपवीत संस्कार के लिए व्यापक आन्दोलन किया है। सर्वसाधारण को तथा नारी समाज को यज्ञोपवीत धारण करने के अधिकार से पौराणिक पाखण्ड ने वंचित कर दिया था। महर्षि दयानन्द ने इसके विरुद्ध संघर्ष किया। महर्षि की प्रेरणा से बालकों के यज्ञोपवीत तो होने लगे, पर बालिकाओं के यज्ञोपवीत संस्कार करने की उपेक्षा ही की गयी, परन्तु शास्त्रीजी ने इस उपेक्षा को समाप्त करने के लिए अपनी पुत्री सुवीरा एवं चि० रवीन्द्र प्रताप के यज्ञोपवीत संस्कार का सार्वजनिक समारोह आयोजित किया। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामदेवजी ने यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कराया। इस प्रकार शास्त्री-परिवार की नयी पीढ़ी ने आर्यसमाज में प्रवेश किया। इस यज्ञोपवीत संस्कार कार्यक्रम की सर्वत्र विशेष चर्चा हुई और प्रमुख आर्य नेताओं ने अपने आशीर्वाद भेजकर शुभकामनाएँ प्रदान कीं।

गढ़वाल के डोला-पालकी आन्दोलन का नेतृत्व और समाधान

देहरादून में रहने के कारण गढ़वाल जैसे पिछड़े क्षेत्र में समाज-सुधार के कार्य का दायित्व भी शास्त्रीजी पर ही था। सार्वदेशिक सभा दिल्ली और आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश आपके माध्यम से ही गढ़वाल में आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ा रही थीं। आपके प्रयत्नों से गढ़वाल में उस समय लगभग ९० आर्यसमाजें स्थापित हुईं जो उस समय बहुत सक्रिय थीं। उस समय गढ़वाल में छुआछूत, ऊँच-नीच की कुरीतियाँ व्यापक रूप से फैली हुई थीं। विट (सवर्ण) जाति के लोग असवर्ण जातियों-शिल्पकारों को अपने विवाहों में डोला-पालकी और घुड़सवारी का प्रयोग नहीं करने देते थे और कहते थे कि यह अधिकार ऊँची जाति के लोगों को ही प्राप्त है। ब्रिटिश गढ़वाल में इस प्रकार की घटनाओं को अन्दर से अँग्रेज शासक भी प्रोत्साहन देते थे, परन्तु शास्त्रीजी ने इस कुप्रथा और अत्याचार के विरुद्ध व्यापक आन्दोलन किया और स्वयं गढ़वाल जाकर डोला-पालकी निकलवाये। इस प्रकार जन-जागृति कर इस प्रथा को समाप्त कराने की पूर्ण चेष्टा की, अनेक सत्याग्रह किये। उत्तरप्रदेश सरकार के पास शास्त्रीजी के नेतृत्व में अनेक बार प्रतिनिधि-मंडल गये और रकार को विवश होकर समस्या को सुलझाने के लिए

आर्यसमाज के दृष्टिकोण को स्वीकार करना पड़ा। सामाजिक सुधार की प्रक्रिया में विलम्ब अवश्य होता है पर, सफलता मिलने पर प्रभाव स्थायी पड़ता है। हर्ष की बात है कि आज गढ़वाल में यह कुप्रथा समाप्त हो चुकी है। इस सफलता में शास्त्रीजी का योगदान स्मरणीय रहेगा।

स्वाधीनता आन्दोलन

देहरादून में रहते समय शास्त्रीजी और उनके पारिवारिक जन राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन में भी पूर्ण योगदान देते रहे।

१९२९ में जब महात्मा गांधी देहरादून पधारे थे, तब शास्त्रीजी उन प्रमुख व्यक्तियों में थे जिन्होंने उनके आतिथ्य का प्रबन्ध किया था। डी० ए० वी० कालेज के मैदान में हुई सार्व-जनिक सभा का प्रबन्ध एवं संचालन मुख्य रूप से शास्त्रीजी के ही हाथ में था। उन्हीं दिनों हुए उत्तर प्रदेश के कांग्रेस अधिवेशन में भी श्री शास्त्रीजी ने भाग लिया था और कालेज के विद्यार्थियों से स्वयंसेवक का कार्य कराया था। शास्त्रीजी के ये कार्य अपने पूज्य पिता की परम्परा के अनुकूल ही थे। ठाकुर साहब मुख्य रूप से धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता होते हुए भी राष्ट्रीयता के भावों से भरे हुए थे और जब-तब सार्वजनिक कार्यों में भाग लेते रहते थे। भारत को स्वतंत्रता देने के सम्बन्ध में आये साइमन कमीशन को कीठम स्टेशन पर काले झण्डे दिखाने वाले जन-समूह का नेतृत्व पूज्य ठाकुर साहब ने ही किया था। वह घटना आगरा के स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में एक प्रमुख स्थान रखती है। लार्ड साइमन ने ठाकुर साहब के नारे 'साइमन लौट जाओ' सुने और काले झण्डे भी देखे। साइमन साहब के साथियों ने इस प्रदर्शन के फोटो भी लिये और स्वयं साहब ने ठाकुर साहब से बातें कीं तथा उन्हें 'फ़ादर' कहकर सम्बोधित किया। बाद में साइमन कमीशन के एक सदस्य ने अपनी पुस्तक में इस घटना का उल्लेख किया था।

पं० जवाहरलाल नेहरू जिन दिनों देहरादून जेल में थे, उन दिनों नेहरू-परिवार अधिकतर देहरादून में ही रहता था। उस समय राष्ट्रीय आन्दोलन की गतिविधियों में नेहरू-परिवार—श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्रीमती कमला नेहरू, (इन्दिराजी उस समय छोटी थीं)—का प्रमुख स्थान था। उनके लिए श्री महावीर त्यागी, श्रीमती शर्मदा त्यागी आदि के साथ मिलकर अक्षयजी तथा अन्य सहयोगी राष्ट्रीय आन्दोलन की सार्वजनिक सभाओं का आयोजन किया करते थे। आज वे बातें बहुत पुरानी हो चुकी हैं, परन्तु देहरादून के राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में इन सबका आधारभूत महत्व है।

संस्कृत-अध्यापन

देहरादून में प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल 'दून स्कूल' है। उसकी ख्याति ३०-४० के दशकों में त थी ही, आज भी बनी हुई है। इस स्कूल में अँग्रेज अधिकारियों ने संस्कृत-अध्यापन के लिए शास्त्रीजी को सादर आमन्त्रण दिया और आप पर्याप्त समय तक वहाँ संस्कृताध्यापन करते रहे। दून स्कूल के वातावरण पर आपके सादा रहन-सहन और उच्च विचार का भी व्यापक प्रभाव पड़ा।

क्रान्तिकारी नेता एम० एन० राय से वार्तालाप

विश्व कम्युनिज्म के प्रमुख नेता श्री एम० एन० राय रूस से लौटकर जब देहरादून आ

गये थे, तब प्राय: शास्त्रीजी से मिलते रहते थे। यद्यपि श्री राय अनीश्वरवादी थे, पर शास्त्रीजी के विचारों को सुनकर बड़े प्रभावित होते थे। बाद में श्री राय ने मार्क्सवाद की अपेक्षा अपने मानवतावादी सिद्धांत की घोषणा की, जिसका आधार मानव एकता तथा विश्वबंधुत्व था। सम्भवत: श्री राय पर शास्त्रीजी के गम्भीर विचारों का प्रभाव काम कर गया। इस प्रकार वैचारिक क्रान्ति में शास्त्रीजी का यह कार्य विशेष महत्व का माना जायेगा।

अस्वस्थता

देहरादून-काल में एक बार शास्त्रीजी विशेष रूप से अस्वस्थ हो गये। योग्यतम चिकित्सकों से चिकित्सा करायी, डाक्टरों ने सामिष आहार की सलाह दी, पर शास्त्रीजी ने इसे स्वीकार नहीं किया। चिकित्सा के लिए गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन से आयुर्वेद महाविद्यालय के आचार्य श्री उमाशंकर वैद्य भी गये, परन्तु उनकी चिकित्सा से भी विशेष लाभ न हुआ। अन्त में एक यूनानी हकीम श्री शिवदयालसिंह जी की चिकित्सा से आपको स्वास्थ्य-लाभ हुआ। आप उन हकीमजी के सदैव के लिए प्रशंसक बन गये।

गुरुकुल के अनुशासित एवं संयमित जीवन के कारण आपने व्याधि पर विजय प्राप्त कर ली और उसके बाद से ऐसी नियमित जीवनचर्या बनायी, जिससे फिर कभी संकट न आया। आज भी नियमित भ्रमण, व्यायाम आदि आपकी दिनचर्या में पूर्ववत् बने हुए हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रमुख कार्यकर्ता होने के कारण सबका ध्यान आपकी ओर रहता था। जिस वर्ष श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय सभा के प्रधान चुने गये, उन्होंने इसी शर्त पर प्रधान बनना स्वीकार किया कि मन्त्री श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री को बनना होगा। तब श्री शास्त्रीजी को विवश होकर मन्त्री-पद स्वीकार करना पड़ा।

सभा के नियमित संचालन के लिए अभी तक अपना कार्यालय और भवन नहीं था। अनेक स्थानों पर विभागीय फाइलें पड़ी रहती थीं। प्रधान तथा मन्त्री ने परामर्श कर लखनऊ में एक भवन खरीदने की व्यवस्था की। धन नहीं था। उसके लिए उस समय के सभा कोषाध्यक्ष पं० रामचन्द्र शर्मा से सभा के लिए ऋण लेकर वर्तमान 'नारायण स्वामी भवन' ३८ हज़ार रुपये में ख़रीद लिया गया। समस्या थी कि सभा धन कैसे चुका सकेगी, परन्तु प्रधान और मन्त्री के संयुक्त दौरों तथा अन्य आर्यजनों एवं आर्यसमाजों के सहयोग से ऋण की राशि चुका दी गयी और सभा की एक बड़ी सम्पत्ति बन गयी। आज उस भवन-भूमि की कीमत लाखों में है। इस प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को वर्तमान स्वरूप तक पहुँचाने में सभा-भवन की खरीद का ऐतिहासिक महत्व है और सभा-भवन के साथ-साथ तत्कालीन मन्त्री श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को कभी भुलाया न जा सकेगा।

श्रद्धानन्द अनाथ-वनिता आश्रम के प्रधान

श्रद्धानन्द अनाथ-वनिता आश्रम, देहरादून के आप प्रधान थे। अपने प्रधानत्व में आपने अनाथ आश्रम में अनेक भवन बनवाये, बैण्ड तैयार कराया। बैण्ड वादन से जो धन आता था, उससे आपने उन अनाथ लड़कों के बैंक में खाते खुलवाये। इस प्रकार आपने अनाथ बालक-

बालिकाओं की उन्नति में भी योगदान दिया।

एक बहिन का निधन और दूसरी बहिन के विधवा होने का संकट एवं पितृ-निधन

शास्त्रीजी की बड़ी बहिन श्रीमती यशोदादेवी जी का विवाह बिजनौर के प्रसिद्ध वकील श्री रामचन्द्रजी के साथ हुआ था, परन्तु एक पुत्री के जन्म के पश्चात् उनका निधन हो गया। प्रभु के विधान में किसी का वश नहीं चलता। ऐसे समय मानव के धैर्य और कर्त्तव्य की परीक्षा होती है। शास्त्रीजी बहिन की पुत्री को अपने पास ले आये और उसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। प्रभाकर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद अपनी भांजी का आपने नरसिंहपुर (मध्य-प्रदेश) के प्रसिद्ध राजनीतिक कार्यकर्ता श्री निरंजनसिंह बी० ए० एल-एल० बी० (जो बाद में एम० एल० ए० तथा संसद-सदस्य, राज्यसभा रहे) के साथ विवाह संपन्न कर दिया।

दूसरी बहिन श्रीमती सुखदादेवी जी का विवाह पंजाब में जालंधर जिले के मंगूवाल ग्राम में रायसाहब माणिकचन्द्र जी से हुआ था। यह ग्राम अमर शहीद भगतसिंह के पैतृक ग्राम खटकरकलाँ झंडाजी के समीप का ही ग्राम है, जहाँ बहिन के परिवार की जमीन-जायदाद अब भी है। रायसाहब माणिकचन्द्र एग्जीक्यूटिव इंजीनियर, डी० ए०वी० कालेज, जालंधर के विद्यार्थी थे और रुड़की से इंजीनियरिंग की शिक्षा लेकर मध्य प्रदेश में सार्वजनिक निर्माण विभाग में सर्विस में थे। १६२८ में उनका बीमारी में आकस्मिक निधन हो गया।

उनके निधन से शास्त्री-परिवार के ऊपर एक और दायित्व आ पड़ा। बहिन के चार बच्चे—दो लड़कियाँ और दो लड़के—सभी छोटे थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा का दायित्व पूरा करना था। इसी के साथ बहनोई द्वारा राजस्थान में बीकानेर के विजयनगर स्थान में खरीदी गयी जमींदारी के प्रबन्ध की विकट समस्या भी सामने थी।

जमींदारी का प्रबन्ध करने के लिए शास्त्रीजी के पिताजी कई बार वहाँ गये और अनेक व्यक्तियों को प्रबन्ध के लिए भेजते रहे, परन्तु वहाँ की जलवायु अनुकूल न होने के कारण कोई स्थायी रूप से वहाँ न टिक सका। इसी बीच १६२६ में ठाकुर साहब भी वहाँ जाकर अचानक अस्वस्थ हो गये और एक सहायक को साथ लेकर जब आगरा लौट रहे थे, रोहतक में ही उनका निधन हो गया। ऐसे महान संकट में भी जमींदारी का प्रबन्ध कैसे हो, इसकी चिन्ता आपको लगी रही। आपके मामाजी के दो पुत्र गोविन्दपुर (आगरा) के रहने वाले थे। उनमें एक बड़े भाई सेना में थे, परन्तु उस समय सेना के कार्य से निवृत्त हो चुके थे। ठाकुर साहब अन्तिम दिनों में उनको वहाँ ले गये थे। सम्भव था ठाकुर साहब के सम्मुख वे भी मलेरिया के डर से तथा जलवायु अनुकूल न होने के बहाने से वहाँ से लौट आते, परन्तु बहिन के संकट में भाइयों ने कष्ट उठाकर भी वहाँ रहना स्वीकार कर लिया और आज तक वे दोनों भाई वहीं रहते हैं। इस प्रकार शास्त्री-परिवार का संकट कुछ कम हो गया। अब बहिन के बच्चों की शिक्षा का प्रश्न था।

बहिन की बड़ी पुत्री शकुन्तला को, जो बचपन से ही शास्त्रीजी के पास रही थी, प्रभाकर परीक्षा उत्तीर्ण कराकर उसका विवाह बिजनौर निवासी रिटायर्ड तहसीलदार श्री रामस्वरूप-सिंह के तृतीय पुत्र श्री चन्द्रपालसिंह इंजीनियर के साथ सम्पन्न कर दिया।

दूसरी पुत्री दयावती को शिक्षा के लिए माता लक्ष्मीदेवी जी ने बरेली में अपने पास रख लिया और स्त्री सुधार विद्यालय में शिक्षा दिलायी। वहीं से आकर जब माताजी ने कन्या

गुरुकुल, सासनी (हाथरस) का पुनर्निर्माण किया, उस समय गुरुकुल की सर्वप्रथम ब्रह्मचारिणी के रूप में एकमात्र उसी बालिका का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न किया गया। महात्मा नारायण स्वामीजी ने उस समय कुलपति के रूप में बच्ची को आशीर्वाद दिया। ये ही ब्रह्मचारिणी दयावती गुरुकुल की स्नातिका बनीं। विद्या विभूषिता परीक्षा के साथ-ही-साथ इन्होंने शास्त्री, साहित्यरत्न परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली और इनका विवाह मध्यप्रदेश के प्रमुख राजनीतिज्ञ श्री निरंजनसिंहजी के साथ सम्पन्न हुआ और आज वे मध्य प्रदेश में प्रमुख समाज-सेविका की भूमिका निभा रही हैं।

बहिन के बड़े पुत्र उमेशचन्द्र को भी शास्त्रीजी ने देहरादून बुला लिया और वहीं डी० ए० वी० कालेज में शिक्षा दिलायी। कुछ समय पश्चात् देहरादून के समीप ही गुरुकुल कांगड़ी में उसे प्रविष्ट कर दिया। एक वर्ष तक वहाँ शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् वे वहाँ से लौट आये, बाद में गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन में अध्ययन कर वे वहाँ से स्नातक बने तथा एम० ए० किया। इस प्रकार शास्त्रीजी ने उनके पढ़ने की पूर्ण समुचित व्यवस्था की। बाद में श्री उमेशचन्द्र जी आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश और सार्वदेशिक सभा के उपमन्त्री, 'आर्यमित्र' के सम्पादक, महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी के संयोजक, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस के मन्त्री और गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के उपमन्त्री तथा उपप्रधान आदि विभिन्न पदों पर रहते हुए आर्यसमाज की सेवा में संलग्न हैं। हलद्वानी (नैनीताल) में एक कालेज में शिक्षक का कार्य करते हुए भी आर्यसमाज की सेवा में ही अपना सारा समय लगाते हैं।

बहिन की चतुर्थ सन्तान चि० रमेशचन्द्र की शिक्षा-दीक्षा अधिकतर माता के संरक्षण में ही हुई। भारत-विभाजन के पश्चात् लाहौर के पाकिस्तान में चले जाने के कारण अध्ययन के लिए वे लखनऊ पहुँच गये। वहीं शास्त्रीजी प्रिंसिपल के रूप में कार्य कर रहे थे। फिर लखनऊ विश्वविद्यालय से एम० कॉम०, एल-एल० बी० उत्तीर्ण करने के बाद आज वे पी० एण्ड टी० के गवर्नमेंट कॉन्ट्रेक्टर के रूप में लखनऊ में अपना व्यवसाय करते हुए सुखी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

इस प्रकार एक आदर्श भाई के रूप में शास्त्रीजी ने अपनी बहिनों के पारिवारिक संकटों को निजी संकट मानकर उनका निवारण किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि शास्त्रीजी किस प्रकार आदर्शों को आचरण में क्रियान्वित कर परिवार और समाज के लिए आदर्श उपस्थित करते रहे।

पितृ-वियोग का धैर्यपूर्वक सामना और रूढ़ियों का उन्मूलन

नवम्बर १९२८ में ठाकुर साहब (बीकानेर) राजस्थान में अपनी पुत्री की ज़मींदारी की व्यवस्था कर लौट रहे थे। रोहतक में तबीयत अधिक खराब हो जाने पर रेल से उतार लिये गये। चिकित्सा की समुचित व्यवस्था की गयी, परन्तु विधाता ने ठाकुर साहब को हम सबसे जुदा कर दिया। रोहतक आर्यसमाज से देहरादून तार द्वारा शास्त्रीजी को सूचना दी गयी। शास्त्रीजी सूचना पाकर हतप्रभ रह गये। शास्त्रीजी रोहतक गये और वहाँ से ठाकुर साहब के शव को लेकर दिल्ली होकर आगरा पहुँचे। यद्यपि ठाकुर साहब सामाजिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण शास्त्रीजी के पास बहुत कम जा पाते थे, परन्तु इस बार राजस्थान जाने से पूर्व देहरादून मिलने गये थे। शायद अन्तिम मिलन का उन्हें पूर्वाभास था।

आगरा की शोक-सन्तप्त जनता ने ठाकुर साहब के निधन पर हार्दिक शोक-सम्वेदना प्रकट की। ठाकुर साहब की शव-यात्रा में आगरा के सहस्रों नर-नारी सम्मिलित हुए। स्त्रियाँ भी अपने मकान की छतों पर से शव पर पुष्प-वर्षा कर रही थीं। ठाकुर साहब अजातशत्रु थे और सभी उन्हें अपना प्यारा मानते थे। अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात विशाल सार्वजनिक सभा सभा में ठाकुर साहब को श्रद्धांजलियाँ अर्पित की गयीं। आगरा आर्यसमाज की ओर से पं० हरिशंकर शर्मा 'कविरत्न', सम्पादक 'आर्यमित्र' द्वारा लिखित ठाकुर साहब के जीवन-चरित्र का प्रकाशन किया गया। उस जीवन-चरित्र में ठाकुर साहब के भक्तों, प्रेमियों द्वारा प्रकट की गयीं श्रद्धांजलियाँ भी संग्रहीत हैं। उन सबका अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि सभी लोग ठाकुर साहब के वियोग से अपने को अनाथ अनुभव कर रहे थे।

ठाकुर साहब के निधन-काल में भी समाज में पुरानी रूढ़ियाँ फैली हुई थीं, परन्तु ठाकुर साहब ने पुत्र को निर्देश दिये हुए थे कि—

१. मेरे निधन पर मेरा कफ़न खादी का हो।

२. मेरी मृत्यु पर अपना सिर न मुँडाना।

३. मेरे निधन के बाद तेरहवीं न की जाये।

परिवार के निर्बल विचारों के लोग बराबर इन बातों को करने के लिए दबाव डालते रहे, परन्तु शास्त्रीजी ने पिता की आज्ञा का पूर्ण पालन किया और परिवार तथा समाज के सम्मुख दृढ़ता एवं रूढ़ि-उन्मूलन का आदर्श उपस्थित किया।

पितृ-आज्ञा का पालन कर रूढ़ियों को तोड़ते हुए शास्त्रीजी ने आर्यसमाज की सेवा-सम्बन्धी पितृ-आज्ञा का पूर्ण आस्था और लगन के साथ पालन किया है और समाज के सम्मुख कर्मनिष्ठ पिता का आदर्श पुत्र बनकर दिखाया है।

कन्या गुरुकुल हाथरस की स्थापना में योगदान

माता लक्ष्मीदेवी जी ने अलीगढ़-हाथरस के बीच पूर्व-स्थापित कन्या गुरुकुल के विशाल परकोटे में पुनः गुरुकुल की स्थापना कर दी और शास्त्रीजी की भांजी के यज्ञोपवीत संस्कार से कार्य आरम्भ हो गया। उस समय कार्यकर्ताओं की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए शास्त्रीजी के पारिवारिक तथा कुटुम्बी जनों ने पूर्ण मनोयोग एवं तत्परता के साथ सहयोग दिया।

शास्त्रीजी के वंश के लोग सादाबाद (मथुरा) के पास एदलपुर गाँव में रहते थे। वहाँ से शास्त्रीजी के चचेरे भाई श्री कुन्दनसिंह और उनकी पत्नी श्रीमती कंचनकुमारीजी, शास्त्रीजी के भतीजे श्री खजानसिंह, श्री सरनामसिंह आदि गाँव से गुरुकुल पहुँच गये और माताजी के आदेशानुसार गुरुकुल के प्रबन्ध, सुरक्षा, कृषि, भण्डार व्यवस्था आदि में सहयोग देने लगे। इनमें से श्रीमती कंचनकुमारी जी और श्री खजानसिंह आज भी गुरुकुल में सेवा कर रहे हैं।

इसी प्रकार शास्त्रीजी की माता श्रीमती आनन्दीदेवी जी, बड़ी बहिन यशोदा की पुत्री कुमारी शान्ति तथा दूसरी बहिन सुखदाजी स्वयं और उनकी बड़ी पुत्री शकुन्तला भी गुरुकुल पहुँच गयीं। शास्त्रीजी तथा अक्षयजी भी बराबर आते-जाते रहते थे।

इस प्रकार शास्त्री-परिवार ने गुरुकुल के प्रबन्ध की ओर से माता लक्ष्मीदेवीजी को निश्चिन्त कर दिया, जिससे वे अपने प्रचार-कार्य द्वारा बाहर से कन्याओं को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने ला सकीं तथा गुरुकुल ने शीघ्र ही उन्नति कर ली।

शास्त्रीजी गुरुकुल प्रबन्धकारिणी के अनेक वर्ष प्रधान बनाये गये और अक्षयजी गुरुकुल की प्रस्तोता के रूप में माताजी के जीवन-काल तक सहयोग करती रहीं। माताजी के निधन के बाद अक्षयजी गुरुकुल की आचार्या एवं मुख्याधिष्ठात्री हैं और शास्त्रीजी कुलपति के रूप में संस्था का संचालन कर रहे हैं।

माता आनन्दीदेवी जी का निधन

शास्त्रीजी की माताजी एक पौराणिक परिवार से आयी थीं और ठाकुर साहब के परिवार में भी ठाकुर साहब को छोड़कर अभी तक बहुत-से लोग पौराणिक विचारधारा के थे और चाहते थे कि ठाकुर साहब के परिवार में भी पौराणिक कर्मकाण्ड किये जायें, परन्तु पति की आर्यसामाजिक भावनाओं का उन्होंने प्रारम्भ से ही आदर किया और स्वयं को आर्यसमाजी बना लिया। वे आगरा स्त्री समाज की प्रधान भी रहीं।

माताजी के स्वभाव में स्वावलम्बन, स्वच्छता और सादगी ऐसे गुण थे जिनका दूसरों पर प्रभाव पड़ता था। श्री जगनप्रसाद रावत (कांग्रेसी नेता एवं उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री) की पत्नी, प्रोफ़ेसर रामस्वरूप (आगरा कालेज, आगरा) की पत्नी तथा परिवार के लोगों के साथ उनका विशेष स्नेह था और ठाकुर साहब की प्रेरणा पर उन सबको भारतीय गृहस्थ जीवन की शिक्षाओं में ढालने का प्रयत्न करती रहीं।

माताजी अपने स्वावलम्बी स्वभाव के कारण अपने सभी कार्य स्वयं करती थीं और चाहती थीं कि उनकी बीमारी आदि में भी किसी और को उनकी सेवा-सुश्रूषा के कारण कष्ट न उठाना पड़े।

ठाकुर साहब के निधन के लगभग दो वर्ष पश्चात् दो-तीन बार उन्हें ज्वर आया और वे २२ सितम्बर, १६३१ को इस संसार से विदा हो गयीं। पितृ-वियोग के पश्चात मातृ-वियोग शास्त्रीजी और उनके परिवार पर एक और दारुण दुख था, परन्तु शास्त्रीजी ने बड़े साहस और धैर्य के साथ इस दुख को सहन किया। प्रभु की इच्छा बताकर ही सभी पारिवारिक जनों को धैर्य धारण कराया।

दयानन्द एंग्लो वैदिक इण्टर कालेज, लखनऊ के प्रधानाचार्य

आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्ता होने के कारण उत्तर प्रदेश के सभी आर्य नेता शास्त्रीजी से परिचित हो चुके थे।

लखनऊ के आर्यसमाज गणेशगंज के प्रधान श्री रासबिहारी तिवारी एम० एल० सी० आर्य प्रतिनिधि सभा के सहयोगी होने के कारण शास्त्रीजी से प्रायः मिलते रहते थे। आर्यसमाज द्वारा संचालित डी० ए० वी० स्कूल को इण्टर की मान्यता मिलने पर प्रधानाचार्य के पद पर श्री तिवारीजी ऐसे योग्य व्यक्ति को बिठाना चाहते थे जो शिक्षा-शास्त्री तो हो ही, साथ ही उसमें आर्यसमाज की लगन भी हो।

श्री तिवारीजी को उनके कुछ मित्रों ने शास्त्रीजी का नाम सुझाया। शास्त्रीजी के सम्मुख जब प्रस्ताव आया तब एक बार तो वे देहरादून के अपने ममत्व, सामाजिक क्षेत्र तथा अन्य बातों के कारण संकोच में पड़ गये, परन्तु तिवारीजी के बार-बार आग्रह पर आपने भी सोचा कि एक विद्यालय के प्रधानाचार्य रूप में मुझे समाज-सेवा का अच्छा अवसर मिलेगा, आप

लखनऊ जाने के लिए तैयार हो गये। श्री तिवारीजी ने शास्त्रीजी को ढाई सौ रुपया वेतन देने के लिए कहा, किन्तु शास्त्रीजी इतने निस्पृह हैं कि उन्होंने तिवारीजी को पत्र लिखा कि मैं ढाई सौ रुपया लेकर क्या करूँगा? मेरा दो सौ रुपये में काम चल जायेगा। जब अक्षयजी को इसका पता लगा तो उन्होंने कहा—आप अपना न सही, हमारा और बच्चों का तो ख्याल कीजिये। और किसी प्रकार शास्त्रीजी को उस पत्र को डाक में डालने से रोका।

देहरादून-वासियों ने बड़े दुख भरे हृदय से आपको विदाई दी, अनेकों सार्वजनिक संस्थाओं ने विदाई-पत्र भेंट किये और मित्रों ने भावपूर्ण शुभकामनाएँ।

शास्त्री-दम्पति ने भी देहरादून से विदा होते समय हार्दिक दुख प्रकट किया और देहरादून-वासियों को, मित्रों और शुभचिन्तकों को विश्वास दिलाया कि वे देहरादून से निरन्तर आत्मीय सम्बन्ध बनाये रखेंगे और देहरादून तथा उसमें छोड़े हुए अपने मित्रों को कभी न भूलेंगे। देहरादून से शास्त्री-परिवार की विदाई देहरादून आर्यसमाज और डी०ए०वी० कालेज, दयानन्द छात्रावास तथा अन्य अनेक सामाजिक संस्थाओं के लिए बहुत गहरा आघात था, जिसकी पूर्ति कभी न हो सकी।

आज भी देहरादून में डी० ए० वी० कालेज है, पर उसकी वह धवल यश-कीर्त्ति धूमिल हो चुकी है। दयानन्द छात्रावास में न सन्ध्या-हवन है और न आर्यकुमार सभा का वातावरण ही। अनुशासन की तो चर्चा ही क्या?

शास्त्री-दम्पति ने लखनऊ जाकर वर्षों तक भी आर्यसमाज देहरादून की सदस्यता से त्याग-पत्र नहीं दिया तथा चन्दे के रूप में अपनी आय का शतांश देते रहे। प्रतिनिधि सभा में वे आर्यसमाज देहरादून की ओर से ही आर्यसभासद् और प्रतिनिधि बनाकर भेजे जाते रहे। आर्यसमाज देहरादून के साथ शास्त्री-दम्पति के इस अनोखे सम्बन्ध से ही उनके देहरादून के साथ प्रगाढ़ सम्बन्धों का पता चलता है।

अंग्रेजी राज्य में सम्भवतः उत्तर प्रदेश में यह पहला अवसर था जब एक संस्कृत तथा हिन्दी के अध्यापक को इण्टर कालेज का प्रिंसिपल बनाया गया। स्वाभाविक रूप से हिन्दी और संस्कृत के अध्यापकों को इससे बहुत प्रसन्नता हुई और उन्होंने इस नियुक्ति का स्वागत करते हुए अपने शुभकामना संदेश भेजे। दूसरी ओर कुछ लोगों को आशंका थी कि एक अप्रशिक्षित हिन्दी एवं संस्कृत का अध्यापक इस पद के उत्तरदायित्व को किस प्रकार निभा सकेगा, परन्तु अधिकारी एवं जनता सभी साक्षी हैं कि शास्त्रीजी समय की कसौटी पर आशातीत रूप से खरे उतरे।

जब शास्त्रीजी देहरादून से लखनऊ आये, उस समय राष्ट्रीय स्वाधीनता आन्दोलन जोरों पर था। प्रान्त की राजधानी लखनऊ में एक शिक्षा-संस्था के प्रधानाचार्य के रूप में शास्त्रीजी पर और भी अधिक दायित्व आ गया था। शास्त्रीजी ने बड़ी कुशलता के साथ संस्था का कार्य-भार सम्भाला और राजनीतिक संकटों से बचाते हुए संस्था को उन्नति की ओर अग्रसर किया। लखनऊ जैसे प्रमुख नगर में शास्त्रीजी के संरक्षण में डी० ए० वी० कालेज की शिक्षा-व्यवस्था और अनुशासन की धाक जमने लगी और डी० ए० वी० कालेज नगर की प्रमुख संस्था मानी जाने लगी। प्रदेश के एक प्रमुख कालेज कान्य-कुब्ज कालेज, लखनऊ के निर्माता रायसाहब पं० जयनारायण मिश्र ने पं० रासबिहारी तिवारी से कहा था कि यदि शास्त्रीजी जैसा प्रिंसिपल मुझे मिल गया होता तो मैं स्वर्ग तक सीढ़ी लगा देता।

शास्त्रीजी ने संस्था की उन्नति के लिए कुछ आदर्श नियम बनाये और उनका दृढ़ता से

पालन किया। समय की पाबन्दी, कठोर अनुशासन, अध्ययन-अध्यापन की समुचित व्यवस्था और परीक्षा में नकल की प्रवृत्ति का उन्मूलन, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा की व्यवस्था आदि ऐसी बातें थीं, जिनका आपने दृढ़ता से पालन किया।

आप स्वयं समय से पहले कालेज पहुँचते और प्रार्थना के पश्चात शान्तिपूर्ण वातावरण में विद्यालय का कार्य आरम्भ कराते। विद्यालय के प्रांगण और भवन में सर्वत्र सफाई और सुन्दरता का ध्यान रखा जाता। कहीं कूड़ा, फटे कागज, गन्दगी आदि न दिखायी देती।

आदर्श व्यवस्था और समुचित ध्यान रखने के कारण कालेज का परीक्षा-फल नगर और प्रदेश में उत्तम रहने लगा और संस्था की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी।

संस्था के कार्य से सन्तुष्ट होकर शिक्षा-विभाग ने संस्था में दीक्षा (ट्रेनिंग) कालेज खोलने की भी अनुमति दे दी। औपचारिक दृष्टि से ट्रेनिंग की कोई डिग्री न होने पर भी शास्त्रीजी ने बड़ी योग्यतापूर्वक ट्रेनिंग कक्षाओं का संचालन किया और योग्य शिक्षकों का निर्माण किया, जो आज देश की शिक्षा को गति देने में संलग्न हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय में छात्रों की प्रवेश-समस्या उत्पन्न होने पर शास्त्रीजी ने डी० ए० वी० कालेज में बी० एस-सी० कक्षाएँ आरम्भ करने का प्रस्ताव विश्वविद्यालय के सम्मुख प्रस्तुत किया और कालेज में डिग्री कक्षाएँ भी आरम्भ हो गयीं। लखनऊ विश्वविद्यालय के कोर्ट तथा उसकी कतिपय समितियों के सदस्य-रूप में कालेज के साथ-साथ आपने विश्वविद्यालय के कार्यों में भी सहयोग दिया। आचार्य नरेन्द्रदेवजी और आचार्य जुगलकिशोर जैसे प्रमुख शिक्षा-शास्त्री जब विश्वविद्यालय के कुलपति रहे, उन दिनों शास्त्रीजी से उनका विशेष सम्पर्क रहा।

शिक्षक-समाज की उन्नति में योगदान

इस प्रकार लखनऊ के शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करते हुए जहाँ आपने डी०ए० वी कालेज की प्रशंसनीय उन्नति की, वहीं माध्यमिक शिक्षक संघ की कार्यकारिणी के सदस्य तथा उपप्रधान पद पर रहते हुए आपने सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश की शिक्षा-व्यवस्था पर भी प्रभाव डाला।

१९४७ में स्वाधीनता के बाद से ही शिक्षक-समाज इस बात का आन्दोलन कर रहा था कि नये वेतनमान स्वीकार होने चाहिए। यद्यपि शास्त्रीजी हड़ताल आदि के समर्थक नहीं थे, तदपि शिक्षामन्त्री श्री सम्पूर्णानन्दजी आदि से सम्पर्क कर आपने शिक्षक-ससाज को नये वेतन-मान दिलाने में सफलता प्राप्त की। उस समय जो सिलसिला आपने आरम्भ कराया, आज वह सरकारी वेतनमान की समानता तक पहुँच गया है और यही नहीं, पेन्शन में भी बहुत कुछ समानता मिल चुकी है। आपके इस प्रयास के लिए उत्तर प्रदेश का शिक्षक-समाज सदैव आभारी रहेगा।

हिन्दी-संस्कृत की अनिवार्यता के लिए प्रयास

श्री शास्त्रीजी १९४६ से १९५६ तक उत्तर प्रदेश के इण्टर कालेजों के प्रिंसिपलों के प्रतिनिधि के रूप में उच्चतर माध्यमिक शिक्षा परिषद् के सदस्य और उसकी संस्कृत, हिन्दी, पाली, प्राकृत, पंजाबी, सिन्धी, नैपाली समितियों के संयोजक एवं कई महत्वपूर्ण समितियों के सदस्य रहे। हाईस्कूल परीक्षा में सबके लिए हिन्दी पढ़ना अनिवार्य करने का श्रेय आपको और आपके सहयोगियों को है। आपने अनुभव किया कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्तर हाईस्कूल व

इण्टर में उन्नत करने के लिए आवश्यक है कि हिन्दी के साथ बेसिक भाषा के रूप में संस्कृत का ज्ञान अवश्य कराया जाना चाहिए।

आपके प्रयास से परिषद् ने हाईस्कूल तथा इण्टर परीक्षाओं में हिन्दी के तृतीय पत्र के साथ २० अंक संस्कृत के लिए निर्धारित कर दिये, जो आज भी प्रत्येक परीक्षार्थी के लिए अनिवार्य हैं। हिन्दी के ८०प्रतिशत शब्द संस्कृत से आये हैं, इस बात को समझने के लिए संस्कृत से सम्पर्क आवश्यक है।

सम्भव है सभी छात्र संस्कृत में रुचि न ले सकें, परन्तु इस व्यवस्था से छात्रों को वेद, गीता, महाभारत, रामायण आदि की सुन्दर सूक्तियों और कथानकों से परिचित कराया जाना सम्भव हो गया। इस कार्य के लिए उच्चतर माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश ने जो पुस्तक प्रकाशित की थी उसका संकलन शास्त्रीजी ने ही किया था। इससे अपने देश के छात्रों को अपने इतिहास और साहित्य का बड़ी आसानी से परिचय प्राप्त हो रहा है। इस योजना को आगे और भी सुधारा जा सकता है, परन्तु मूल भावना अपने में सफल हुई है।

आगरा विश्वविद्यालय की सीनेट तथा अन्य समितियों के सदस्य होने के नाते विश्व-विद्यालय के कार्यों में भी सहयोग दिया।

आर्य शिक्षा-संस्थाओं को मान्यता की सुविधाएँ

इसी प्रकार शास्त्रीजी ने परिषद् में अनुभव किया कि अँग्रेजों का शासन होने के कारण ईसाई मिशन के स्कूलों को मान्यता शीघ्र मिल जाती है। उनके लिए नकद प्राभूत जमा कराने का प्रतिबन्ध भी शिथिल कर दिया गया है, केवल मिशन की केन्द्रीय संस्था को प्राभूत के ब्याज को चुकाने का दायित्व अपने ऊपर लेना पड़ता है।

शास्त्रीजी ने परिषद् द्वारा आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं के लिए भी इस सुविधा की माँग की और बाद में एक प्रस्ताव द्वारा यह अधिकार आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं को भी दिला दिया। इस अधिकार के फलस्वरूप जिस आर्य शिक्षा-संस्था की आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश संस्तुति करेगी कि यह आर्यसमाज की शिक्षा-संस्था है और इसके प्राभूत का उत्तर-दायित्व सभा पर है, परिषद् उस संस्था को हाईस्कूल तथा इण्टर की मान्यता दे देती है। आर्य शिक्षा-संस्थाओं को नकद प्राभूत की राशि इकट्ठा करने और बैंक में फिक्स्ड डिपोजिट कराने की आवश्यकता नहीं रहती।

परिषद् के इस निश्चय का लाभ उठाकर आर्य शिक्षा-संस्थाओं के उच्चीकरण में जूनि-यर से हाईस्कूल और हाईस्कूल से इंटर कराने में बहुत सुविधा हो गयी है।

परिषद् के इस नियम को प्रदेश के विश्वविद्यालयों ने भी स्वीकार कर लिया है और वहाँ भी इंटर से महाविद्यालय बनाने में भी आर्य प्रतिनिधि सभा के मान्यता प्रमाणपत्र पर प्राभूत धन से मुक्ति मिल जाती है।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि शास्त्रीजी ने अपने प्रयास से आर्यसमाज को शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करने में कितनी सुविधा दिलवा दी। शास्त्रीजी के इस कार्य के लिए उत्तर प्रदेश की आर्य शिक्षा-संस्थाओं के संचालकों, शिक्षकों, छात्रों और जनता सभी को आभार मानना चाहिए। यदि यह सुविधा न होती तो अनेकों आर्य शिक्षा-संस्थाएँ प्राभूत धन इकट्ठा करने में ही आज तक जुटी रहतीं और उनकी प्रगति न हो पाती।

गुरुकुलों को स्नातक परीक्षा को विश्वविद्यालयों से मान्यता दिलाना

उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् इलाहाबाद, लखनऊ विश्वविद्यालय के सदस्य होने के साथ आगरा विश्वविद्यालय के क्षेत्रीय स्नातक होने के कारण आप वहाँ के स्नातकों के प्रतिनिधि के रूप में विश्वविद्यालय के सदस्य बनते रहे।

आगरा विश्वविद्यालय में आपके प्रयास से एक प्रस्ताव द्वारा माँग की गयी कि प्रदेश तथा बाहर की गैर-सरकारी विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा-संस्थाओं के स्नातकों को आगरा विश्वविद्यालय की स्नातकोत्तर परीक्षाओं में बैठने का अधिकार प्रदान किया जाये।

प्रस्ताव में मुख्य रूप से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की अलंकार उपाधि, गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन की शिरोमणि उपाधि, काशी विद्यापीठ की शास्त्री उपाधि और इसी प्रकार जामिया मिलिया दिल्ली की स्नातक उपाधि को निर्धारित विषयों में एम० ए० में बैठने का अधिकार देने का प्रश्न था। प्रश्न बहुत समय तक विश्वविद्यालय के विचाराधीन रहा, परन्तु राष्ट्रीय जागृति के कारण अंत में विश्वविद्यालय ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव की स्वीकृति में शास्त्रीजी के साथ डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, श्री अलगूराय शास्त्री, डॉ० कालकाप्रसाद भटनागर, श्री दीवानचन्द आदि प्रमुख आर्य विद्वानों ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। तब से आज तक अनेकों गुरुकुलों के स्नातकों, विद्यापीठ के शास्त्रियों आदि ने सीधे एम० ए० परीक्षा में बैठकर उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की हैं। आज भी यह नियम व्यवहार में आ रहा है।

कुमारी कल्याणी को काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में वेदाध्ययन अधिकार दिलाना

आर्यसमाज प्रारम्भ से ही वेदाध्ययन के सार्वजनिक अधिकार पर जोर देता रहा है। पौराणिक जगत् ने स्त्री-शिक्षा की घोर उपेक्षा की थी, तब नारियों के वेदाध्ययन का तो उनके सामने प्रश्न ही नहीं था।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अरबी भाषा के विभागाध्यक्ष स्व० मौलवी महेश प्रसाद जी आलिम फाजिल (जो आगरा में मुसाफिर विद्यालय में श्री राहुल सांकृत्यायन के साथी थे और जिन्होंने महर्षि जीवन-चरित्र पर कई अनुसंधान प्रकाशित किये) की पुत्री कु० कल्याणी कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में विद्याध्ययन करती थीं। श्री महेशप्रसादजी ने उसे विश्वविद्यालय में वेद का अध्ययन कराने के लिए प्रविष्ट कराना चाहा, किन्तु पौराणिक जगत् में इस समाचार से खलबली मच गयी। एक लड़की और वह भी कायस्थ परिवार में जन्मी, विश्वविद्यालय में वेदाध्ययन कैसे कर सकती है?

प्रवेश की स्वीकृति न मिलने पर विषय को मालवीयजी तथा तत्कालीन उपकुलपति सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन तक पहुँचाया गया, पर किसी ने भी विशेष ध्यान न दिया। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न आर्यसमाज के लिए सीधे चुनौती का प्रश्न बन गया।

कन्या गुरुकुल से माता लक्ष्मीदेवीजी ने सत्याग्रह आन्दोलन करने की घोषणा कर दी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अंतरंग में इस प्रश्न पर विचार हुआ और समस्या के समाधान का दायित्व सभा-प्रधान श्री नारायण स्वामीजी के आदेशानुसार शास्त्रीजी को सौंप दिया गया।

शास्त्रीजी ने पूज्य मालवीयजी और डॉ० राधाकृष्णन के सम्मुख आर्यसमाज का दृष्टि-

कोण प्रस्तुत किया। शास्त्रीजी ने बताया कि जब विदेशों में वेदाध्ययन पर कोई प्रतिबंध नहीं है तब भारत में, जो वैदिक संस्कृति का आधार स्थान है, स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार न देना उचित नहीं है। जाति-भेद और लिङ्ग-भेद के नाम पर वेद के अध्ययन-अध्यापन में कोई रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। आर्यसमाज मनुष्य मात्र के लिए वेदाधिकार का समर्थक है।

शास्त्रीजी के साथ वार्तालाप से डॉ० राधाकृष्णन बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने कु० कल्याणी को वेदाध्ययन के लिए विश्वविद्यालय में प्रवेश दे दिया।

समस्या का समाधान हो गया और इससे आर्यसमाज को सैद्धांतिक विजय मिली। बीसवीं शताब्दी में शिक्षा-क्षेत्र में किसी विषय के अध्ययन और अध्यापन पर जाति-भेद, लिङ्ग-भेद के कारण प्रतिबंध लगाने की घटना बड़ी विचित्र और हास्यास्पद तो है ही, राष्ट्रीय शिक्षा-दर्शन पर भी एक प्रश्नचिह्न लगाती है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि दयानन्द ने **यथेमा वाचं कल्याणीम्** प्रभु-उपदेश कहकर वेद का अधिकार सबको दिलाया। आर्यसमाज को इस अधिकार के लिए संघर्ष करना पड़ा। समाज में तो वेदाधिकार पर कोई प्रतिबंध न रह सका, पर शिक्षा-क्षेत्र में रूढ़ि-बंधन बाँध दिये गये। शास्त्रीजी के प्रयत्नों से वे सभी बंधन कट गये। उस घटना के बाद से फिर कभी किसी पौराणिक शिक्षाशास्त्री ने इस प्रकार के प्रतिबंध का प्रश्न नहीं उठाया।

इस प्रकरण में प्राप्त हुई सफलता के लिए जहाँ आर्यसमाज को गौरव प्राप्त रहेगा, वहीं शास्त्रीजी की सेवाओं को भी सदैव स्मरण किया जायेगा।

पुत्री का विवाह

शास्त्रीजी की प्रथम संतान, बड़ी पुत्री सुवीरा का शुभ विवाह श्री रामसिंह एम० ए० भूपगढ़ी (मेरठ) के सुपुत्र डॉ० तेजपालसिंह एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (अमेरिका) के साथ १९५१ में बड़े समारोह के साथ सम्पन्न हुआ। डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ के विशाल हाल में भव्य वेदी का निर्माण कराया गया और आर्य जगत् के प्रमुख नेता, राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री ने गोधूलि बेला में विवाह-संस्कार सम्पन्न कराया। विवाह में नगर के अनेक प्रमुख प्रशासकीय अधिकारी, नागरिक एवं आर्यजगत् के प्रमुख नेताओं और विद्वानों ने वर-वधू को आशीर्वाद दिया और शास्त्रीजी को बधाइयाँ दीं।

इस विवाह में रूढ़िवाद को त्यागकर सभी वैदिक मर्यादाओं का पालन किया गया। यद्यपि बारातियों के लिए प्रत्येक सुख-सुविधा का प्रबन्ध था, परन्तु अन्यों के कहने पर भी सिद्धान्त-विरुद्ध होने से शास्त्रीजी ने सिगरेट-बीड़ी का प्रबंध नहीं किया। जामाता और जामाता के पिता भी बधाई के पात्र कहे जायेंगे, क्योंकि उन्होंने भी शास्त्री-परिवार के आर्यसामाजिक स्वरूप को समझा और दहेज तथा रूढ़िमुक्त विवाह सम्पन्न कराया।

शास्त्रीजी के जामाता उस समय कानपुर के कृषि महाविद्यालय में कीट विज्ञान के सहायक प्रोफेसर थे, और अब भारतीय लाख अनुसंधानशाला, रांची के निदेशक पद पर कार्यरत हैं और अखिल भारतीय कीट विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष भी हैं।

बड़े पुत्र का विवाह

शास्त्रीजी अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री रवीन्द्रप्रताप को एक अच्छा वक्ता, स्वाध्यायशील और

विश्वविद्यालय का प्रोफेसर बनाना चाहते थे। छोटी आयु से ही वे उसे एकान्त स्थान में ले जाकर वक्तृता देने का अभ्यास कराते थे। एक बार जब वे आठवीं कक्षा में ही पढ़ते थे, उत्तर प्रदेश की वाद-विवाद प्रतियोगिता में उन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया था। जब वे इंटर कक्षाओं में पढ़ते थे, तब उनके अध्यापक कहा करते थे कि इतनी अच्छी अँग्रेजी बी० ए०, एम० ए० के कम छात्र लिख सकेंगे।

श्री रवीन्द्रप्रताप अत्यधिक स्वाध्यायशील थे। सैकड़ों पृष्ठ वे एक दिन में पढ़ जाते। यद्यपि उन्होंने एम०ए० अँग्रेजी में नहीं किया था, फिर भी वे अँग्रेजी भाषा और साहित्य में गहराई तक पहुँचे हुए थे। एक बार एक अमेरिकन यात्री उनसे अमेरिका में अँग्रेजी की तात्कालिक प्रवृत्तियों के बारे में बातचीत करके आश्चर्य में पड़ गया और कहने लगा कि मैं नहीं समझता था कि भारत के एक नवयुवक को अमेरिका के अँग्रेजी साहित्य के बारे में इतना ज्ञान होगा।

श्री रवीन्द्रप्रताप की प्रखर बुद्धि का एक उदाहरण यह है कि उन्होंने उर्दू कभी नहीं पढ़ी थी, पर उर्दू में अच्छी तुकबन्दी कर लेते थे। हिन्दी में कविता, कहानी तथा लेख लिखने का भी अच्छा अभ्यास था। उन्हें प्रायः मासिक पत्रिकाओं में छपवाते रहे।

उनकी एक भावपूर्ण कविता, जो उन्होंने अपने पूज्य पिता के जन्मदिन पर उन्हें भेंट की थी—

तात !

तुम्हारे जन्मदिवस के शुभ अवसर पर -
तुच्छ भेंट यह -
बाल तुम्हारे,
चरणों में अर्पित करते हैं ।....

सदा तुम्हारी अविरल छाया में
हम निर्भय ;
सदा सदा को
पूज्य ! तुम्हारे जीवन का आदर्श
हमें शुभ मार्ग दिखावे ।....

अविचल पग, उन्मुक्त वक्ष से,
सदा तुम्हारे वरद हस्त की
शुभ छाया में,
हम जीवन के तूफ़ानों से
टक्कर पर टक्कर ले पायें ।....

यही माँगते जगदीश्वर से
सदा तुम्हारा पथ कुसुमित हो,
और तुम्हारी कीर्ति-तारिका
सदा समुज्ज्वल रह ज्योतित हो।...

तेज रवि
शुचि विजय उषा

लखनऊ .... दीपावलि सं. २०११

वे आचार्य नरेन्द्रदेवजी के प्रमुख शिष्यों में थे। प्रथम श्रेणी में एम० ए० उत्तीर्ण कर लेने के वाद वे लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग में प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुए। लखनऊ की साहित्यिक एवं सामाजिक गतिविधियों में उन्होंने वहुत शीघ्र ही अपना स्थान वना लिया था।

उनका विवाह प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता श्री चन्द्रधर जौहरीजी की सुपुत्री उषा के साथ सम्पन्न हुआ। यह विवाह-सम्वन्ध शास्त्रीजी के विवाह-सम्वन्ध की भाँति जाति-वन्धन तोड़कर हुआ। इस प्रकार पुत्र ने पिता की परम्परा को निभाया और आदर्श उपस्थित किया।

जौहरी-परिवार से शास्त्रीजी का आगरा से ही घनिष्ठ सम्वन्ध था। शास्त्रीजी के पिता और जौहरीजी एक युग में राष्ट्रीय आन्दोलन में साथ काम कर चुके थे। दोनों परिवारों की सामाजिक पृष्ठभूमियाँ राष्ट्रीय, सुधारवादी और प्रगतिशील थीं। इस कारण विवाह-सम्वन्ध को और भी महत्व प्राप्त हो गया।

गुरुदेव महात्मा नारायण स्वामीजी का निधन

आर्यनेता महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज शास्त्रीजी को पुत्रवत् मानते थे और जव भी लखनऊ आते, शास्त्रीजी के पास ही ठहरते थे। वे शास्त्रीजी के गुरु तो थे ही, शास्त्रीजी के पिताजी के सहयोगी सामाजिक कार्यकर्ता भी थे। उस समय से शास्त्री-परिवार के साथ उनका घनिष्ठ सम्वन्ध था। शास्त्रीजी के पिता के निधन पर स्वामीजी ने हार्दिक शोक सम्वेदना प्रकट की थी और उनके शव को दिल्ली से आगरा लेकर साथ गये थे।

स्वामीजी शास्त्रीजी तथा परिवार के वच्चों को गर्मियों में नारायणाश्रम, रामगढ़ (नैनीताल) वुलाया करते थे और वहाँ शास्त्री-परिवार स्वामीजी के पुस्तकालय की पुस्तकों और आश्रम की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था वड़ी श्रद्धा और प्रेम से किया करता था। कभी-कभी कन्या गुरुकुल, हाथरस से व्रह्मचारिणियों को लेकर माता लक्ष्मीदेवी जी भी रामगढ़ पहुँच जाया करती थीं। इस प्रकार स्वामीजी के आश्रम में आर्य परिवार का वातावरण वन जाता था। १९४५ ई० में स्वामीजी की हीरक जयन्ती मनायी गयी। तव स्वामीजी को भेंट करने के लिए सार्वदेशिक सभा की ओर से जो अभिनन्दन-ग्रन्थ तैयार किया गया, उसका सम्पादन शास्त्रीजी ने ही किया था। इस प्रकार स्वामीजी के प्रति शास्त्रीजी की अपार श्रद्धा रही। दुर्भाग्यवश १५ अक्तूबर,

१९४७ को स्वामीजी का बरेली में लम्बी बीमारी के पश्चात् निधन हो गया। बीमारी-काल में ही शास्त्रीजी स्वामीजी के पास बरेली पहुँच गये थे और जो भी सम्भव थी सेवा करते रहे। स्वामीजी को शास्त्रीजी के समीप होने से बड़ा सन्तोष और शान्ति मिली। स्वामीजी को समय ने हम सबसे जुदा कर दिया। अपने गुरुदेव, आदरणीय नेता और परिवार के शुभचिन्तक के निधन से शास्त्रीजी को गहरा दुख हुआ, पर धैर्य धारण कर उन्होंने अन्त्येष्टि संस्कार की व्यवस्था की। स्वामीजी के निधन के बाद शास्त्रीजी और भी अधिक उत्साह से समाज-सेवा में लग गये।

आर्यनगर सैटिलमैन्ट लखनऊ के अधिष्ठाता

आर्यसमाज की समाज-सुधार की जो रचनात्मक भूमिका रही है, उसके अन्तर्गत लखनऊ के समीप जरायमपेशा जाति के लोगों को एक स्थान पर रखकर, उन्हें उद्योग-धन्धे सिखाकर सामान्य नागरिक जीवन में प्रविष्ट कराने के लिए सरकार ने एक सैटिलमैन्ट की स्थापना का निश्चय किया।

श्री रासबिहारी तिवारी के प्रयत्न से यह कार्य आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को सौंप दिया गया और उन लोगों के लिए जो निवास-गृह बनाये गये, उस स्थान को 'आर्यनगर सैटिलमैन्ट' की संज्ञा दे दी गयी। इस सैटिलमैन्ट में प्रदेश की चोरी, डकैती आदि पर गुजर करने वाली जाति के लोगों को समझा-बुझाकर बसाने का यत्न किया जाता था और उन्हें शिक्षा देकर, धन्धे सिखाकर आजीविका चलाने की शिक्षा दी जाती थी। आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से इस कार्य के लिए श्री शास्त्रीजी को अधिष्ठाता बना दिया गया। आपके संरक्षण में आर्यनगर का कार्य निरन्तर उन्नति करता गया। आर्यनगर-निवासियों में अच्छे संस्कार उत्पन्न करने के लिए शास्त्रीजी वहाँ निरन्तर आर्यसमाज के प्रचारक भेजते रहे तथा एक सामाजिक वातावरण उत्पन्न करते रहे। शास्त्रीजी के प्रयास से वहाँ पर उद्योग-धन्धा सीखकर रोजी कमाने वाले अनेक व्यक्तियों ने अपनी पुरानी असामाजिक प्रवृत्तियाँ छोड़ दीं और अच्छे नागरिक बन गये। यह आर्यसमाज की राष्ट्र के प्रति, समाज के प्रति सच्ची सेवा थी। शास्त्रीजी को इसका श्रेय प्राप्त रहेगा।

दैनिक 'आर्यमित्र' के अधिष्ठाता

स्वाधीनता के उषा काल का जमाना था। आर्यजनों में उत्साह था और इच्छा थी कि आर्यसमाज का दैनिक निकलना चाहिए। आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने अल्प साधनों के होते हुए भी 'आर्यमित्र दैनिक' का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया।

कार्य अच्छा था, आर्यसमाज के यश का भी था, परन्तु व्यवस्था सम्बन्धी कठिनाइयाँ सामने आने लगीं, आर्थिक प्रश्न भी खड़ा हो गया। सभा ने इस कार्य में शास्त्रीजी का सहयोग चाहा और शास्त्रीजी ने अधिष्ठाता बनना स्वीकार कर लिया। शास्त्रीजी ने पूर्ण मनोयोग से 'दैनिक आर्यमित्र' के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता दिलवायी, पर अकेले शास्त्रीजी कब तक गाड़ी खींचते? हताश और निराश होकर सभा को दैनिक का प्रकाशन बन्द करना पड़ा। शास्त्रीजी जैसे कुछ और लोग सहायता को आगे आ जाते तो सम्भव था दैनिक की गाड़ी खिंच जाती, पर सबके हृदय में एक-सी लगन की भावना नहीं हुआ करती। **यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः।**

माता अक्षयजी समाज-सेवा क्षेत्र में

लखनऊ में शास्त्रीजी की शैक्षिक और सामाजिक गतिविधियों के साथ माता अक्षयकुमारीजी की सामाजिक गतिविधियाँ भी बढ़ने लगी थीं। समाज कल्याण बोर्ड उत्तर प्रदेश की आप कई वर्ष तक संयोजिका रहीं। दस ग्रामों में केन्द्र स्थापित कर बाल-बाड़ी, प्रौढ़-शिक्षा केन्द्र, महिला शिल्प कला केन्द्र, महिला और बाल स्वास्थ्य केन्द्र आदि स्थापित करवाये तथा महिलाओं को स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दिलवायी।

महिला आश्रम लखनऊ की आप अनेक वर्षों तक आदरी मन्त्री रहीं। इस संस्था में बड़ी उम्र की भागी हुई या परित्यक्ता महिलाओं के संरक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है।

वैदिक कन्या इंटर कालेज, लखनऊ की आप अनेक वर्षों तक आदरी प्रबन्धिका रहीं। इन सबके अतिरिक्त बाढ़, सूखा तथा अन्य दैवीय संकटों में प्रदेश की जनता के लिए धन-संग्रह, वस्त्र संग्रह, अन्न-संग्रह आदि के कार्यों में आपका सदैव योगदान रहा।

आचार्य जुगलकिशोरजी की पत्नी श्रीमती शान्तिदेवी, श्रीमती लीलावती मुंशी (श्री के०एम० मुंशी, राज्यपाल की पत्नी), श्रीमती प्रकाशवती सूद, डॉ० कंचनलता सब्बरवाल, श्रीमती विद्याधरी जौहरी आदि के साथ लखनऊ में आप जनसेवा में सदैव अग्रणी बनी रहीं। शास्त्रीजी का आपको इन सभी कार्यों में सदैव उत्साहपूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहा।

लखनऊ से विदाई

शास्त्रीजी की शिक्षा-जगत् में ख्याति सुनकर बड़ौत (मेरठ) के जनता वैदिक डिग्री कालेज के प्रिंसिपल पद के लिए आपको बुलाया गया, पर आप लखनऊ छोड़कर जाना न चाहते थे। उधर बड़ौत के लोग बहुत पीछे पड़े रहे। यहाँ तक कि एक वर्ष तक आपकी प्रतीक्षा में प्रधानाचार्य का पद रिक्त रखा। उस बीच कालेज के अधिकारी बार-बार लखनऊ आकर आपसे निरन्तर आग्रह करते रहे। पर्याप्त समय तक आर्यसमाज की शिक्षा-संस्था को छोड़कर जाने से आप चिन्तित बने रहे, पर जब आपको यह विश्वास हो गया वह संस्था भी आर्य सज्जनों के हाथ में है और वहाँ भी आपको आर्य विचारधारा के प्रचार का पूर्ण अवसर प्राप्त होगा, तब आपने वहाँ जाना स्वीकार कर लिया।

लखनऊ के लोग आपको छोड़ने को तैयार न थे और आप भी जाने के अधिक इच्छुक न थे, पर कर्तव्य-भावना से आपको जाना ही पड़ा। लखनऊ के आर्य बन्धुओं ने, कालेज के अध्यापकों एवं विद्यार्थियों के आपको भावमीनी विदाइयाँ दीं और बिलख-बिलख कर रोये। यह बात अवश्य है कि शास्त्रीजी लखनऊ को कभी भूल नहीं सके, वर्ष में ८-१० बार आपको लखनऊ जाना ही पड़ता है और वहाँ फिर पुरानी स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं।

जनता वैदिक डिग्री कालेज, बड़ौत के प्रिंसिपल

बड़ौत में प्रिंसिपल पद पर पहुँचते ही आपने डिग्री कालेज को कला, कृषि और विज्ञान के बारह विषयों में स्नातकोत्तर महाविद्यालय बनवा दिया। कृषि क्षेत्र में इस महाविद्यालय की अपनी विशेषता थी, उसे और भी अधिक महत्व दिलाया। इस उन्नति के साथ आपने कालेज के वातावरण में अनुशासन और गरिमा की स्थापना की। प्रत्येक शिक्षक और छात्र को अपने

विद्यालय पर गर्व करने की भावना सिखायी, साथ ही आर्यसमाज की विचारधारा को फैलाया। कालेज के वार्षिकोत्सव को आर्यसमाज के यज्ञ, उपदेश, भजन, व्याख्यान एवं प्रचार का माध्यम बनाया। आपके समय में बड़ौत का महाविद्यालय मेरठ जिले के शीर्षस्थ महाविद्यालयों में पहुँच गया था। जिस समय आप अक्तूबर १९५७ में बड़ौत गये थे, उस समय जनता वैदिक कालेज में छात्रों की संख्या २१२ थी, आपके कार्यकाल में छात्रों की संख्या बढ़कर १०३२ हो गयी। आपने वहाँ लाखों की लागत के भवन बनवाये।

बड़ौत में अक्षयजी

श्रीमती अक्षयजी बड़ौत में भी समाज-सेवा से विमुख न हुईं और वहाँ पहुँचते ही सेवा-क्षेत्र बनाना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने भारत के सम्भवतः सबसे बड़े गाँव बावली में इन्दिरा गांधी कन्या पाठशाला नाम से ८वीं कक्षा तक की कन्या पाठशाला स्थापित कर दी, जिसमें दो मास के भीतर ही कन्याओं की संख्या १५० हो गयी। आप बड़ौत से प्रतिदिन ही रिक्शा द्वारा बावली जाकर कन्या पाठशाला का कार्य सम्भालती रहीं, परन्तु माता लक्ष्मीदेवी के निधन के बाद आपको कन्या गुरुकुल का भार सम्भालना पड़ा और बड़ौत छोड़ना पड़ा। ग्रामवासियों तथा कन्याओं ने अत्यन्त दुखी होकर आपको विदाई दी और आपके आने के पश्चात् ग्राम पंचायत को कन्या पाठशाला सरकारी शिक्षा विभाग को सौंपनी पड़ी।

इसके अतिरिक्त चीन का युद्ध छिड़ जाने पर आपने बड़ौत की महिलाओं में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की। स्थान-स्थान पर सभाएँ करने, जुलूस निकालने आदि के साथ ही धन-संग्रह का कार्य चलता रहा। स्वयं आपने अपने हाथों की छः तोले की सोने की चूड़ियाँ दे दीं। पुत्र की मृत्यु के कुछ मास पश्चात् ही आपको इस प्रकार उत्साह के साथ कार्यरत देखकर बड़ौत की जनता आश्चर्यचकित थी।

श्री शास्त्रीजी ने भी चीन के आक्रमण के समय सभाएँ करके, जुलूस निकालकर जन-चेतना जागृत की। जब तक युद्ध चलता रहा, आप सौ रुपया मासिक की सहायता देते रहे।

गंगाप्रसाद उपाध्याय अभिनंदन ग्रन्थ का सम्पादन

बड़ौत जाने के बाद भी आर्य प्रतिनिधि सभा शास्त्रीजी से बराबर कार्य लेती रही। १९५९ में मथुरा में महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी समारोह मनाने का निश्चय हुआ। इस अवसर पर आर्यसमाज के दो प्रतिष्ठित विद्वानों—पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० और श्री गंगाप्रसाद चीफ़ जज (टेहरी) के सम्मान में अभिनंदन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया। आपको उसका प्रमुख सम्पादक बनाया गया। तीन मास का अल्प समय था। आपने बड़ी तत्परता और कुशलतापूर्वक दोनों ग्रन्थों का सम्पादन किया। वे अभिनंदन ग्रन्थ आर्यसमाज के अभिनंदन साहित्य में महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं। वे आर्यजगत् के उच्चतम अभिनंदन ग्रन्थों में से हैं।

द्वितीय पुत्र चि० यतीन्द्रप्रताप का विवाह

शास्त्रीजी के द्वितीय पुत्र यतीन्द्रप्रताप डिफेंस एकेडमी देहरादून से शिक्षा प्राप्त कर सैनिक सेवा में लग गये थे। उनका विवाह-सम्बन्ध नेपाली राजपूत परिवार के श्री बलदेवसिंह ठाकुर की पुत्री आयुष्मती शान्ता के साथ दिल्ली में सम्पन्न हुआ। यह जहाँ दान-दहेज की

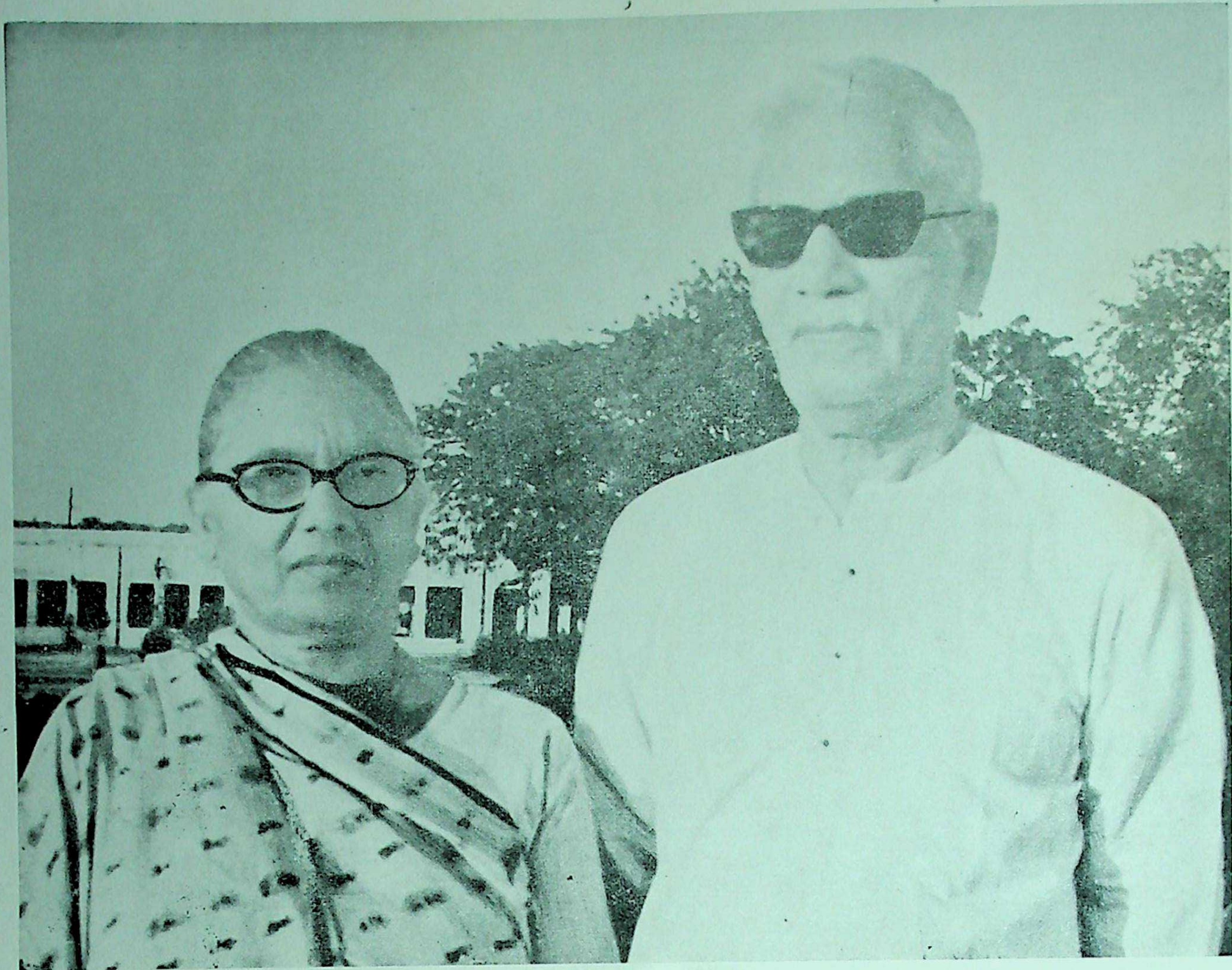
श्री शास्त्रीजी के पूज्य पिताजी एवं माताजी



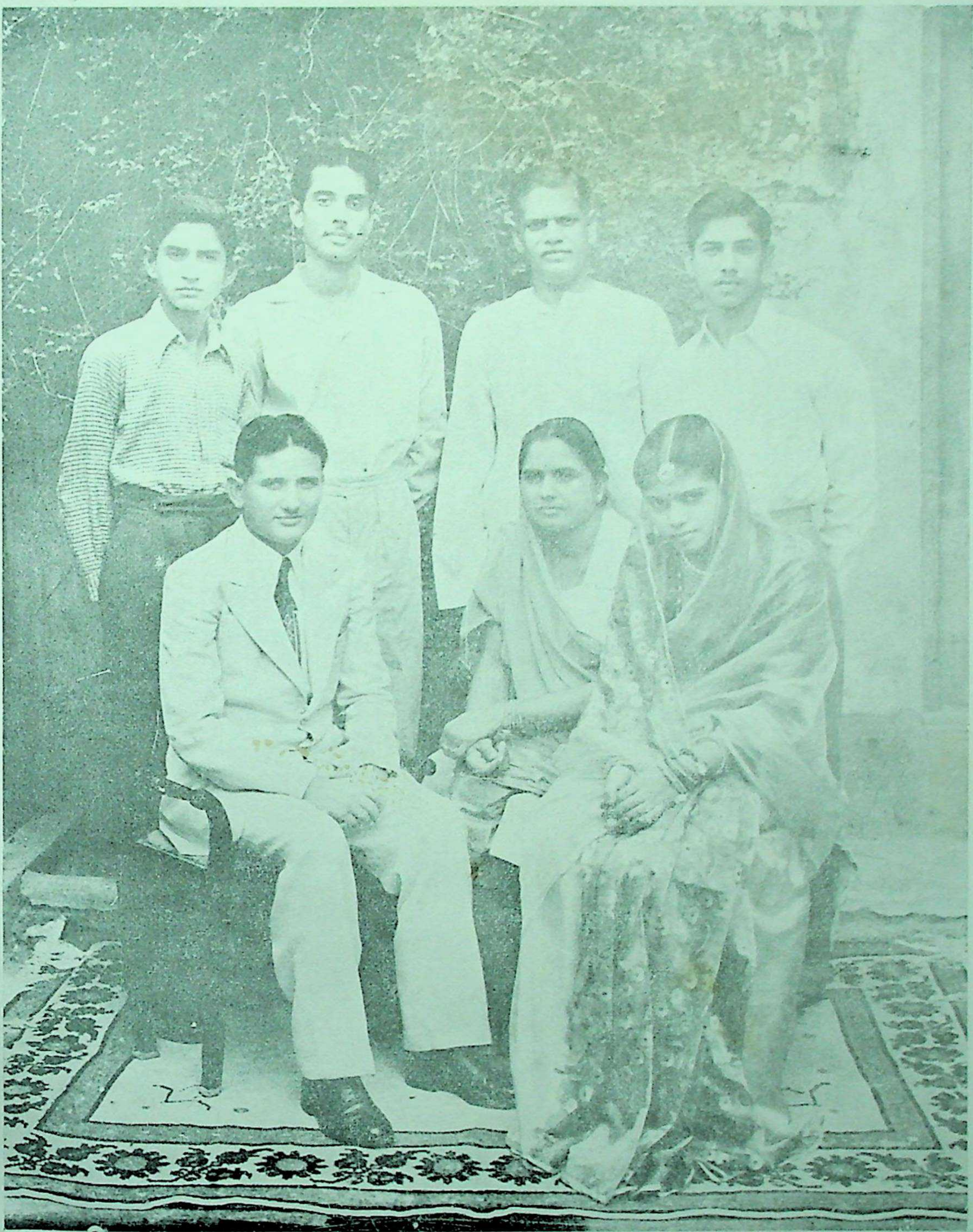
ठा० माधवसिंह जी
आर्यसमाज के अनथक आदर्श कार्यकर्त्ता, जिन्होंने अन्य सामाजिक कार्यों के साथ-साथ स्वामी श्रद्धानन्दजी एवं महात्मा हंसराजजी के साथ वर्षों भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के महामंत्री पद पर कार्य किया।



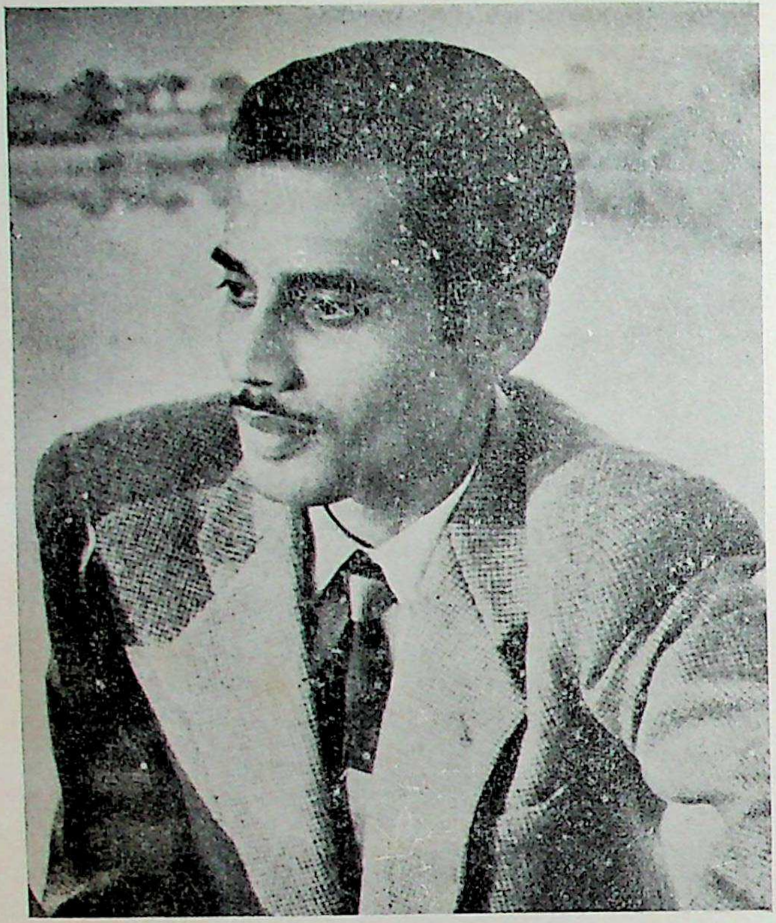
श्रीमती आनन्दी देवी जी
जिन्होंने अशिक्षित होते हुए भी अपने पति के सभी सामाजिक कार्यों में पूर्ण सहयोग दिया।



श्री शास्त्री दम्पती (सन् १९७५)



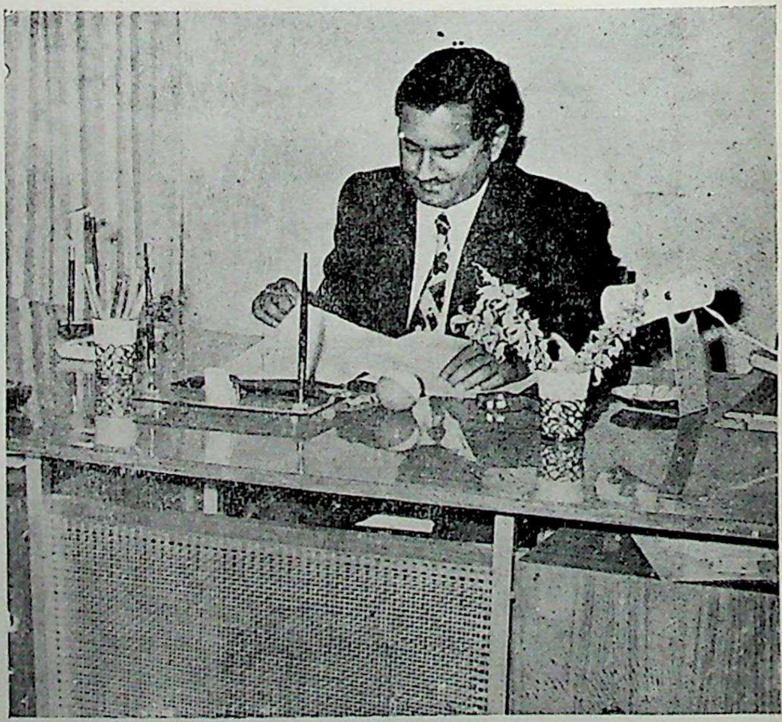
श्री शास्त्रीजी सपरिवार (पुत्री के विवाह के अवसर पर सन् १९५१)



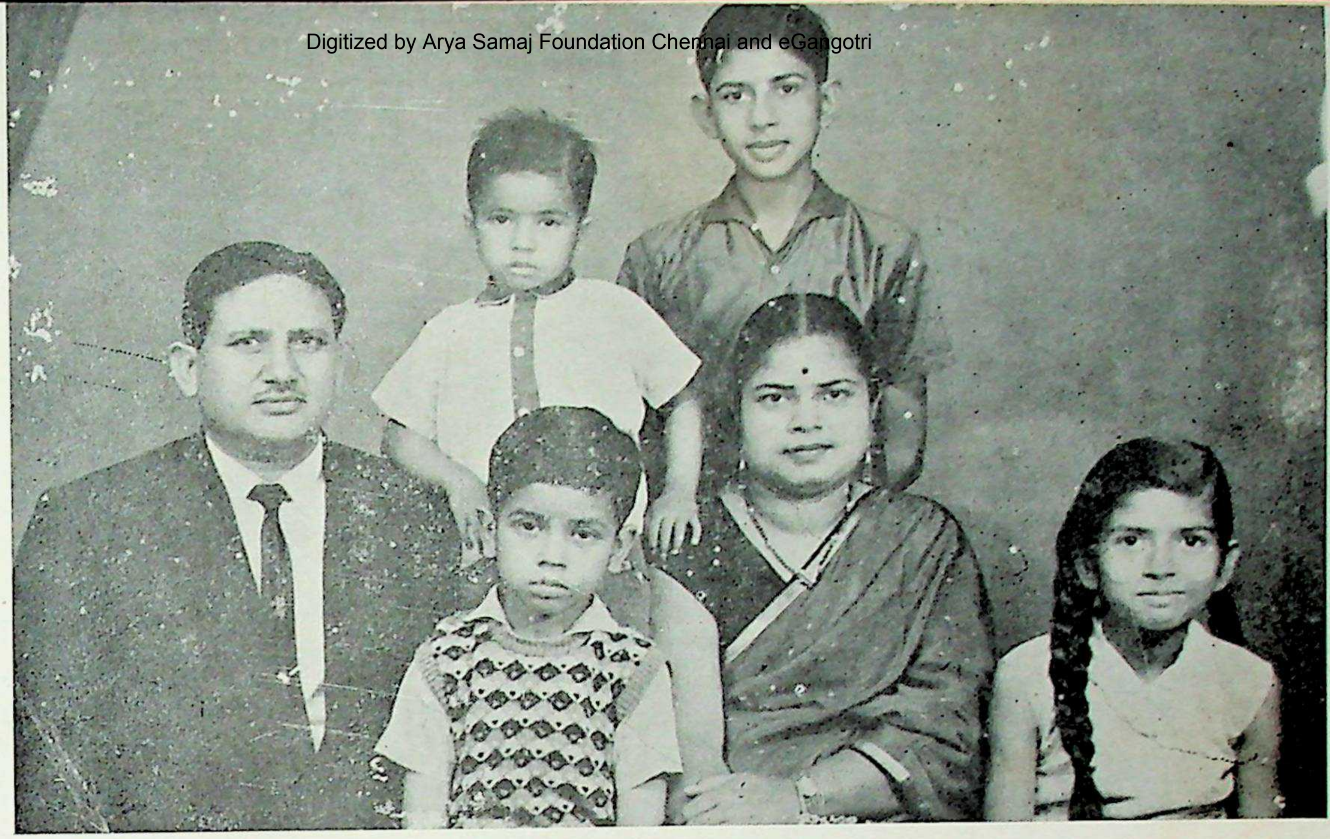
श्री शास्त्रीजी के ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय श्री रवीन्द्रप्रताप जो लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति विभाग में प्रवक्ता थे, और युवावस्था मे ही काल-कवलित हो गये।



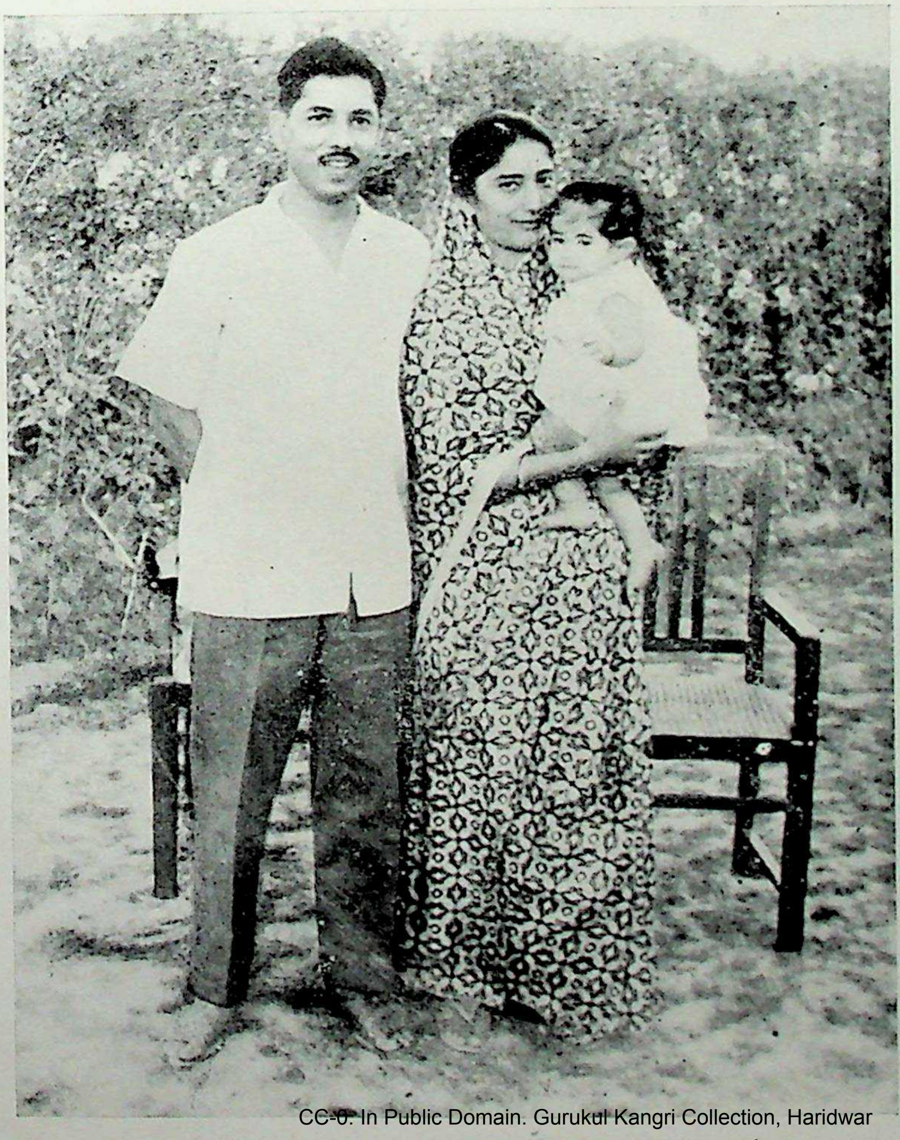
श्री शास्त्रीजी के द्वितीय पुत्र कर्नल यतीन्द्रप्रताप अपने कार्यालय में (आप इस समय ब्रिगेडियर पद पर कार्य कर रहे हैं)



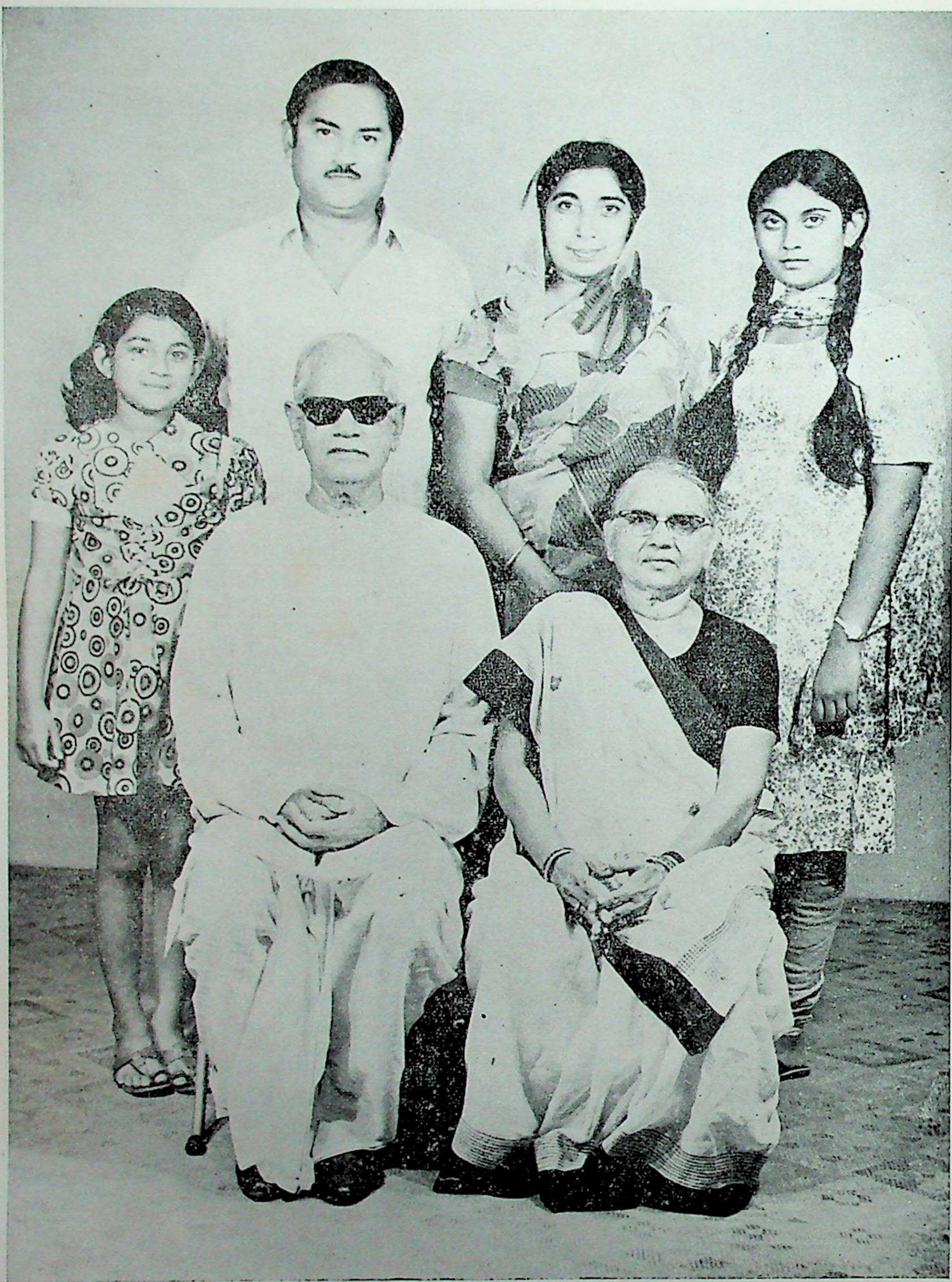
श्री शास्त्रीजी के कनिष्ठ पुत्र श्री विजयप्रताप, अधीक्षण अभियन्ता अपने कार्यालय में कार्य करते हुए।



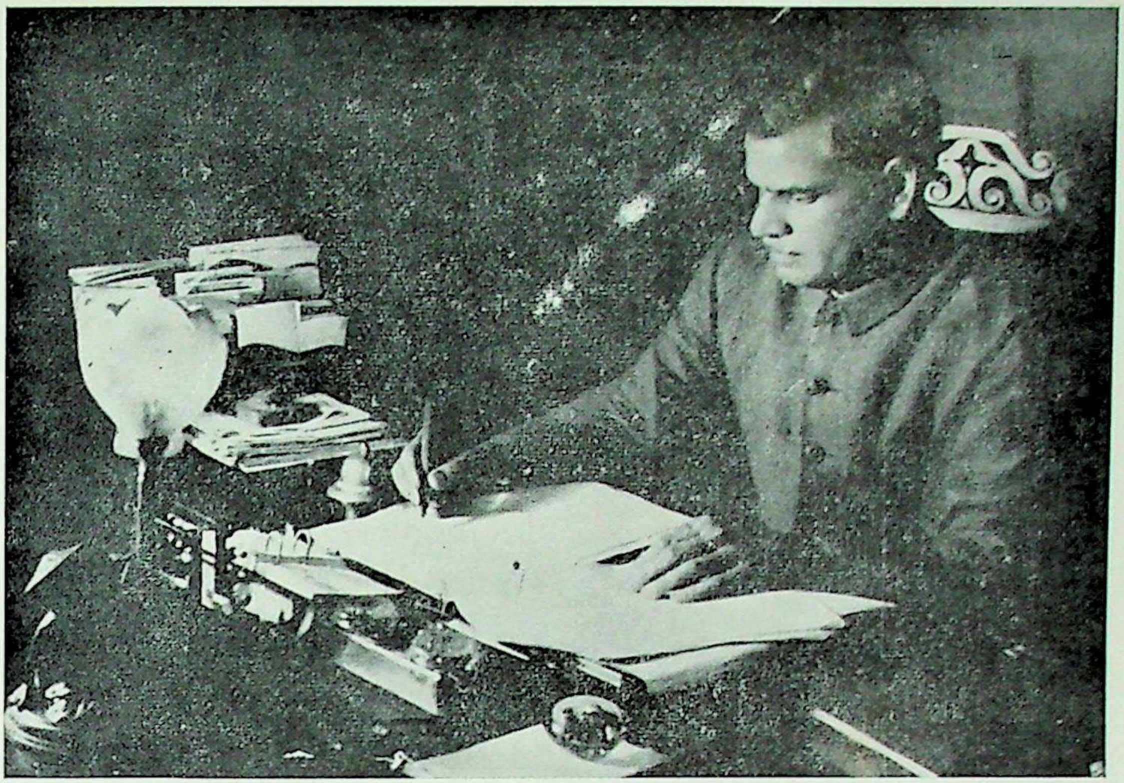
श्री शास्त्रीजी की पुत्री श्रीमती सुवीरा
अपने परिवार सहित



श्री शास्त्रीजी के द्वितीय पुत्र
ब्रिगेडियर यतीन्द्रप्रताप अपनी
पत्नी एवं पुत्री के साथ



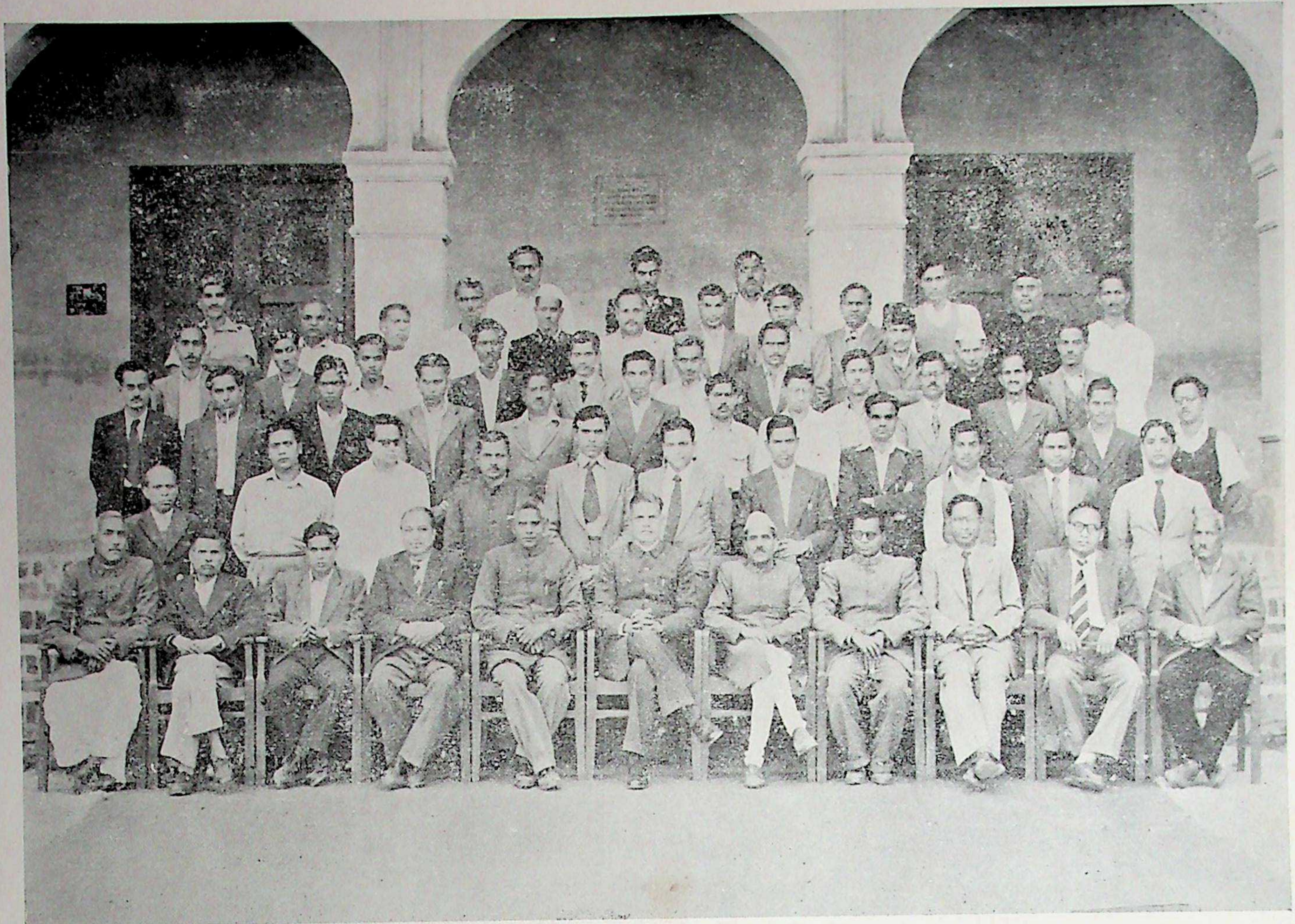
श्री शास्त्रीजी सपत्नीक अपने छोटे पुत्र श्री विजयप्रताप, पुत्रवधू डा० हेमलता एवं पौत्रियों के साथ



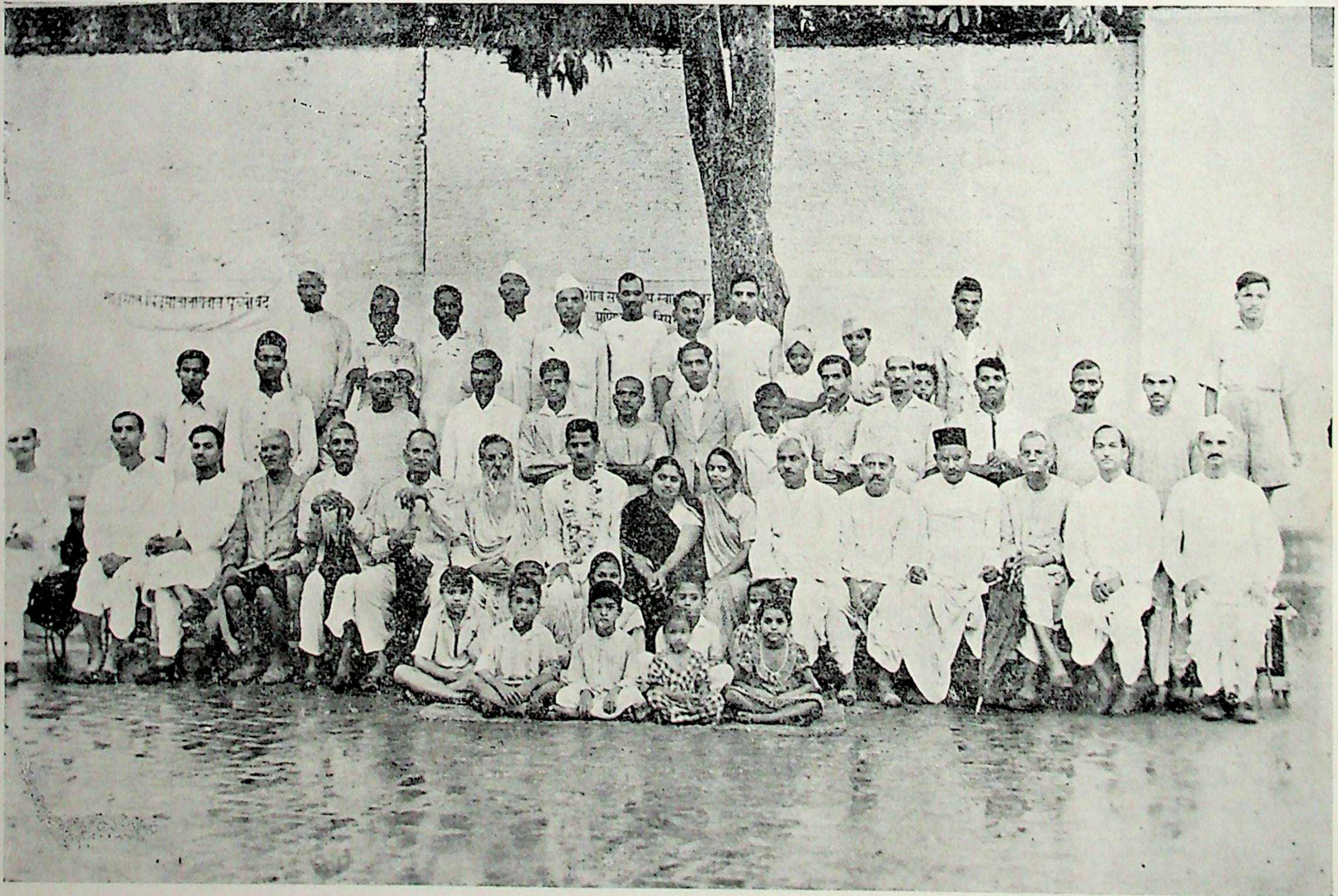
प्रिंसिपल श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री
डी० ए० वी० कॉलेज लखनऊ में अपने कार्यालय में काम करते हुए



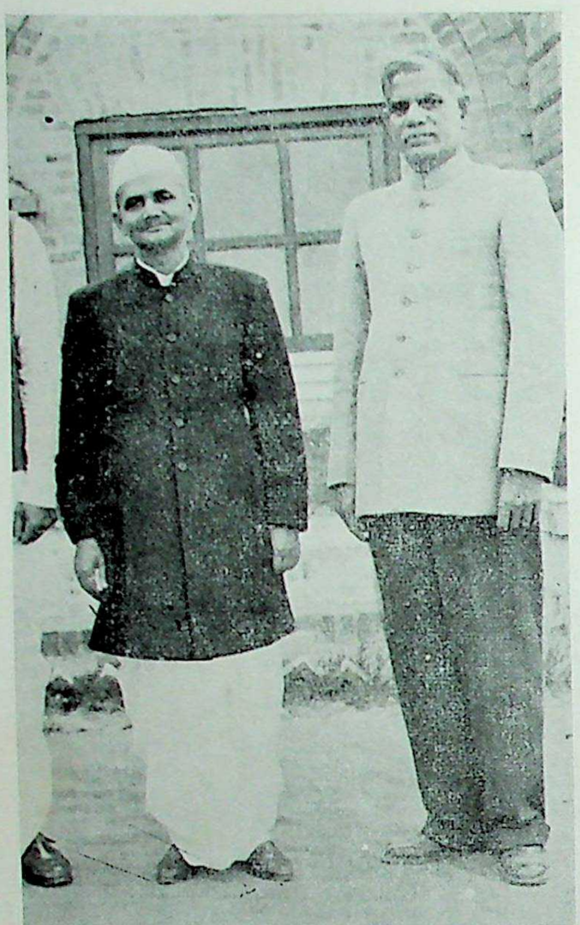
श्री शास्त्रीजी अपने दौहित्र राजीव को घुड़सवारी कराते हुए। दाहिनी ओर शास्त्रीजी के पुत्रवत् शिष्य श्री विश्वम्भर सहाय एडवोकेट बैठे हैं।



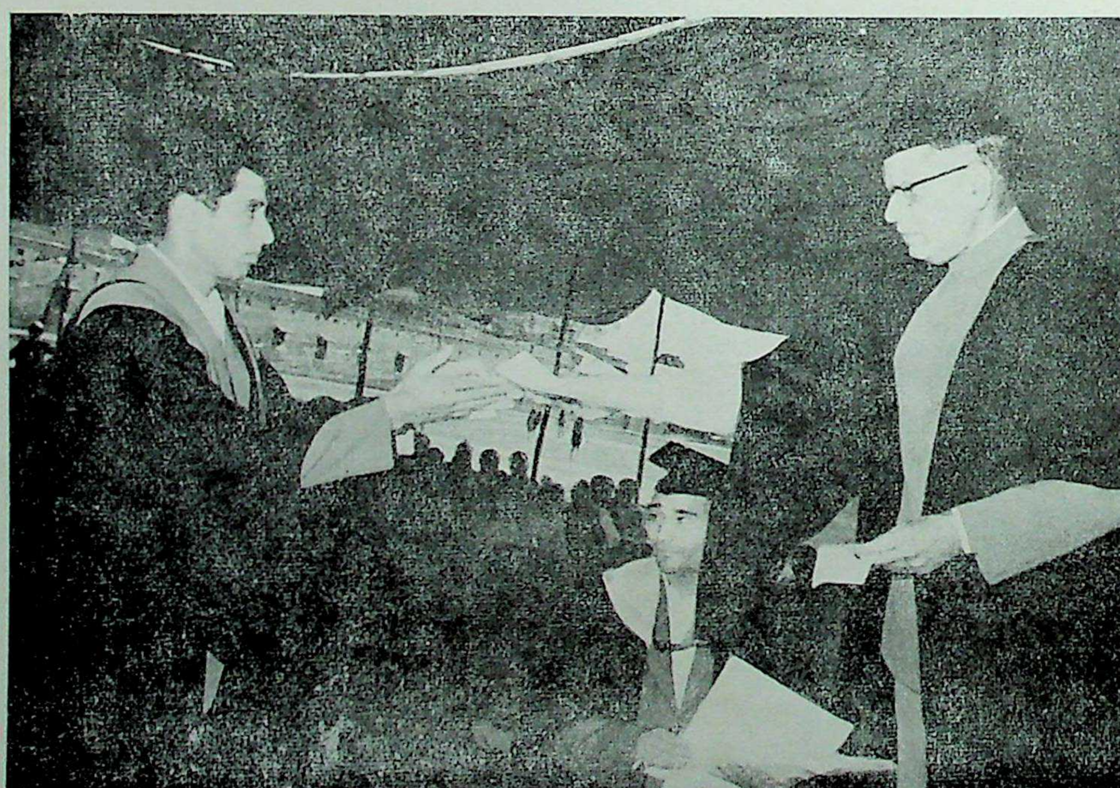
प्रिंसिपल महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री
डी० ए० वी० कॉलेज लखनऊ में अपने कार्यकाल में अध्यापक वर्ग के साथ



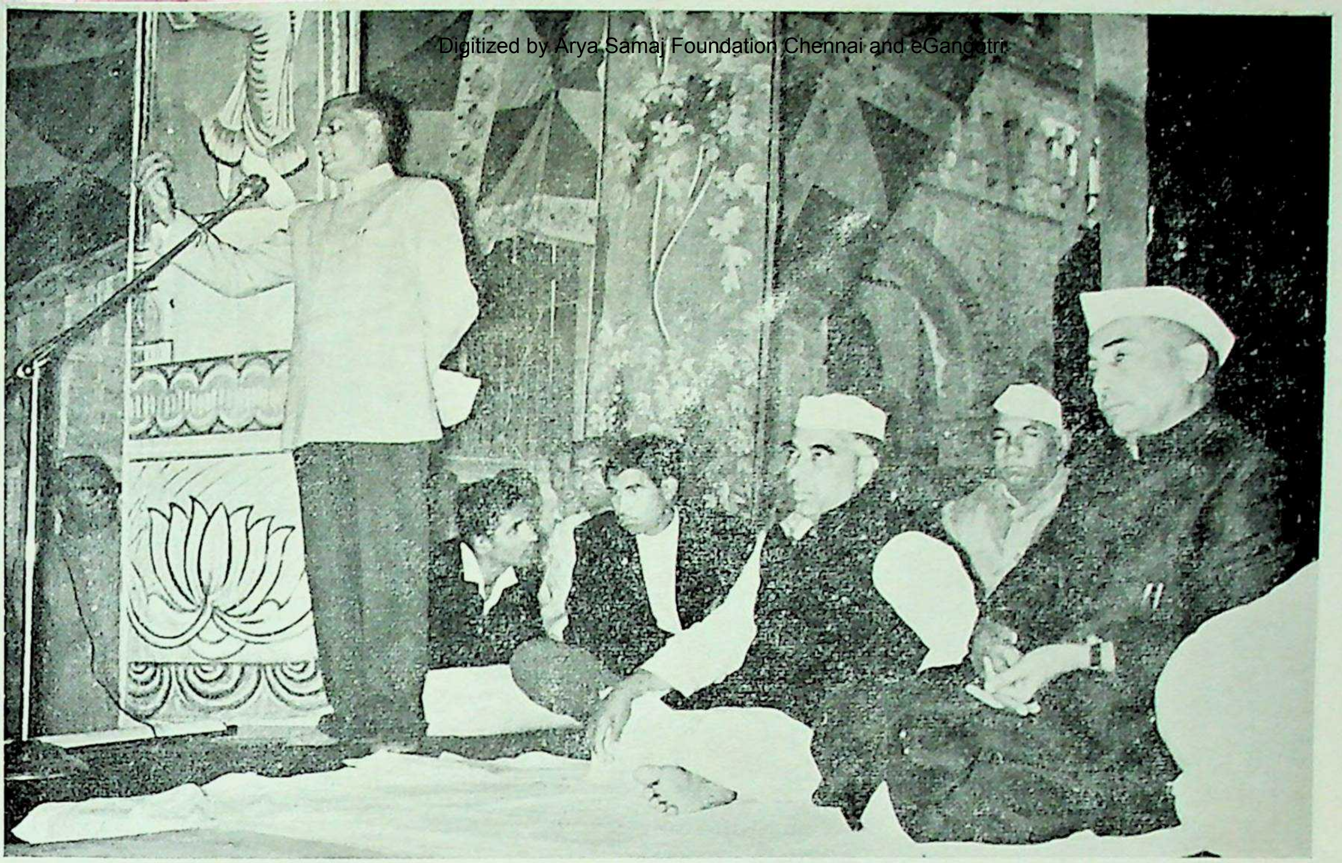
आर्यसमाज देहरादून द्वारा श्री शास्त्रीजी को विदाई देने के अवसर पर (श्री शास्त्रीजी वर्षों सर्वसम्मति से आर्यसमाज के प्रधान निर्वाचित होते रहे और आर्यसमाज को उन्नत करने में अपूर्व योगदान दिया)।



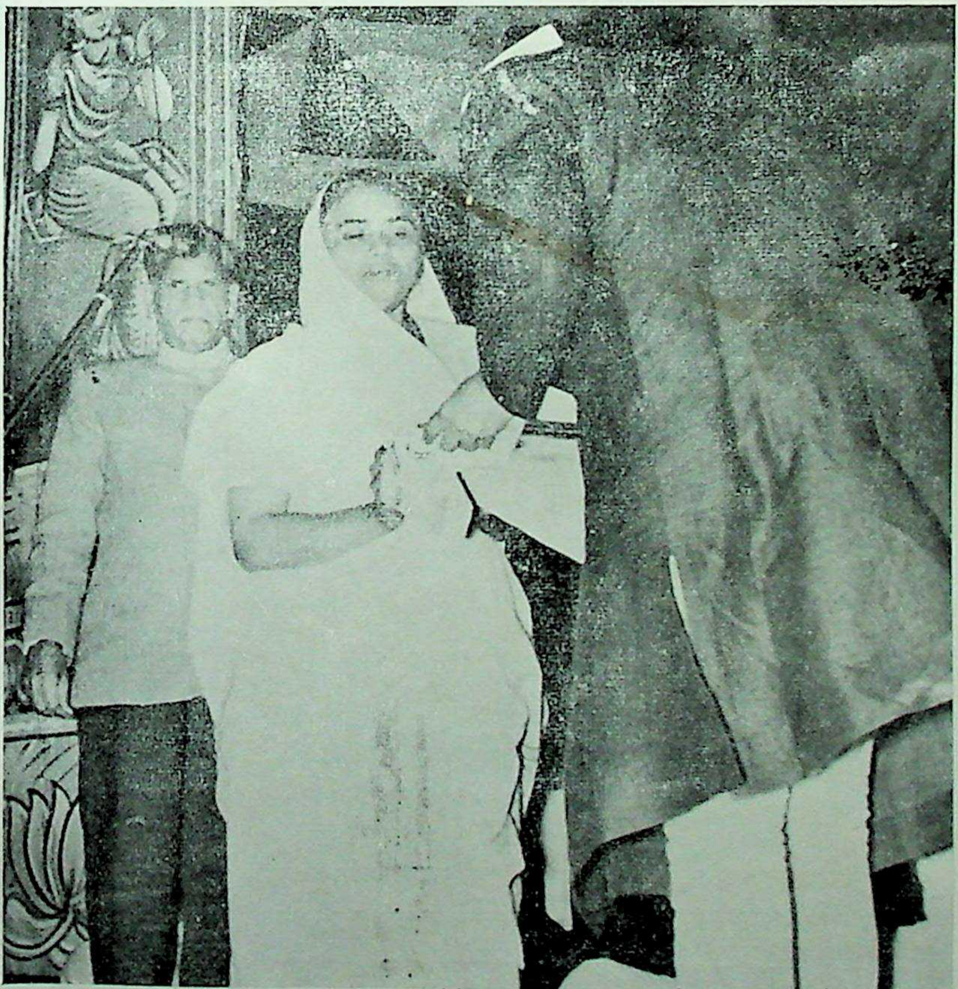
श्री शास्त्रीजी भारत के भूतपूर्व प्रधानमंत्री माननीय श्री लालबहादुरजी शास्त्री के साथ।



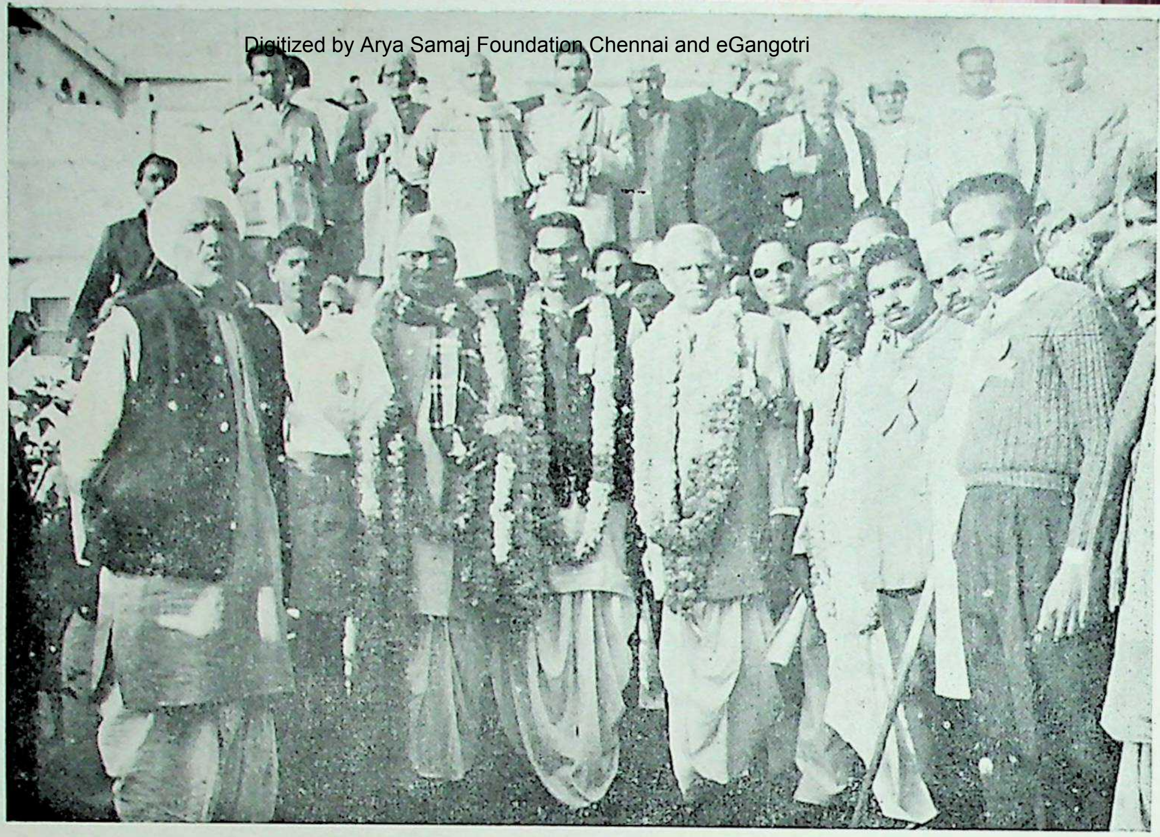
जनता वैदिक महाविद्यालय बड़ौत में दीक्षान्त के अवसर पर श्री शास्त्रीजी प्रमाण-पत्र देते हुए



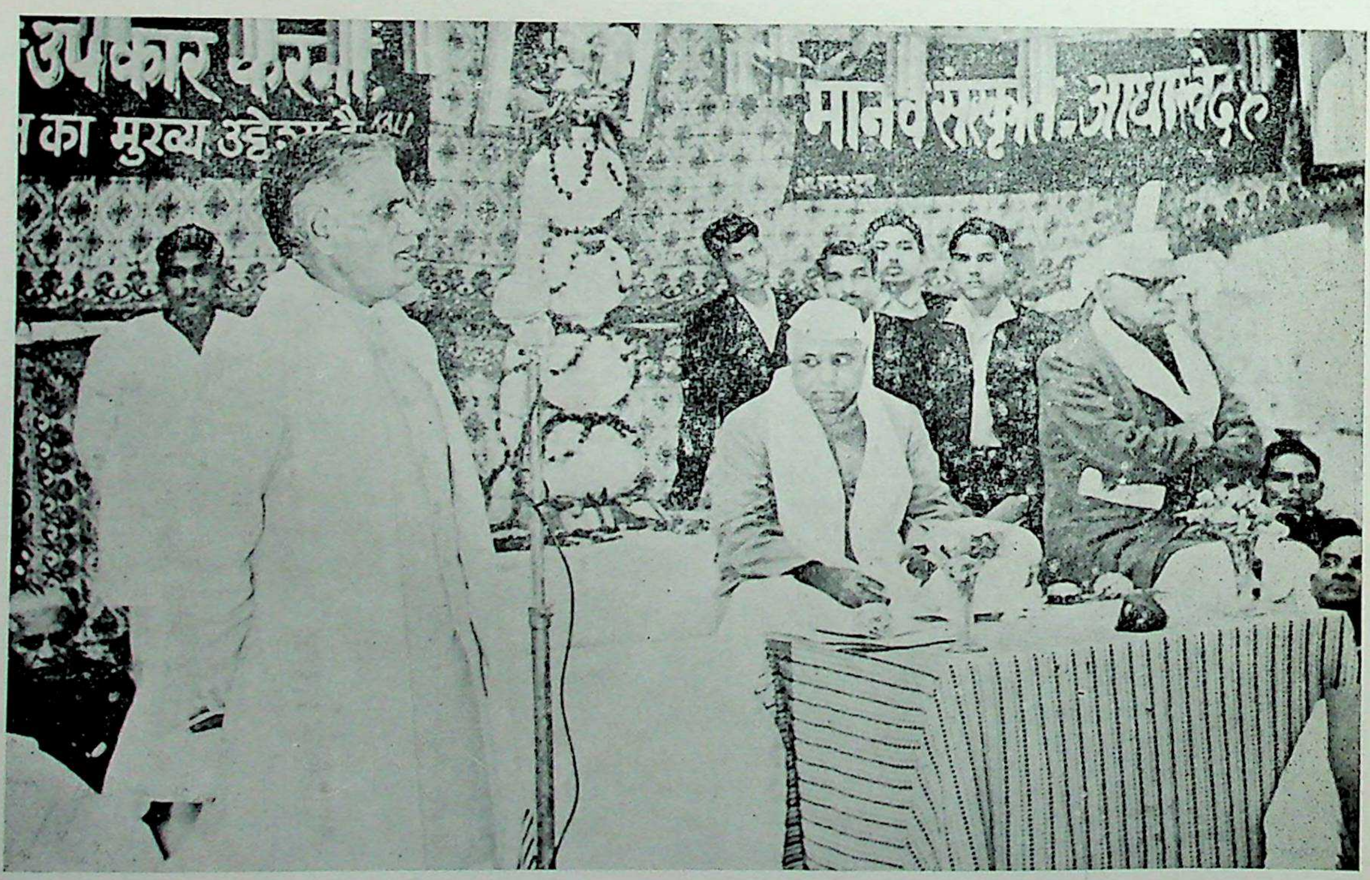
श्री शास्त्रीजी १९६२ में भारत पर चीनी आक्रमण के समय बड़ौत क्षेत्र की जनता से धन एवं अन्य सहायता के लिए अभ्यर्थना करते हुए । दाहिनी ओर सभा के अध्यक्ष माननीय चौ० चरणसिंहजी बैठे हैं ।



श्री शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री १९६२ में चीनी आक्रमण के समय राष्ट्रीय कोष में अपनी ६ तोले सोने की चूड़ियाँ माननीय चौधरी चरणसिंहजी को देते हुए ।



सन् १९६९ में वाराणसी में सम्पन्न काशी शास्त्रार्थ एवं पाखंड खण्डिनी पताका की शताब्दी के अवसर पर श्री शास्त्रीजी तथा अन्य प्रमुख कार्यकर्त्ताओं का आर्य जनता द्वारा स्वागत। श्री शास्त्रीजी शताब्दी समारोह के संयोजक थे।



कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस के कुलपति श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री दीक्षान्त समारोह के अवसर पर मुख्य अतिथि माननीय श्री यशवन्तराव बलवन्तराव चह्वाण, रक्षा मंत्री, भारत सरकार का स्वागत कर रहे हैं।

कुप्रथाओं से मुक्त अन्तर्जातीय विवाह था, वहीं मेरठ की पंचायत के अनुसार भी था कि बारात में पाँच व्यक्ति से अधिक नहीं जाने चाहिए। शास्त्रीजी ने इस नियम का पूर्णरूपेण पालन किया और बारात में केवल पाँच व्यक्तियों को लेकर ही पुत्र का विवाह करने गये। शास्त्रीजी ने विवाह-संस्कार एक हरिजन पुरोहित से कराया। आज के समय लोग सुधार की बातें तो करते रहते हैं, पर समय आने पर सब भूल जाते हैं। शास्त्रीजी ने यहाँ भी आदर्श उपस्थित किया, जो हम सबके लिए अनुकरणीय रहेगा।

बड़े पुत्र की बीमारी और निधन

शास्त्रीजी के बड़े पुत्र श्री रवीन्द्रप्रताप, जो लखनऊ विश्वविद्यालय में प्रवक्ता थे, अस्वस्थ हो गये। उनकी चिकित्सा की शास्त्रीजी ने पूरी व्यवस्था की। क्रिश्चियन हास्पिटल वैल्लोर (मद्रास) में, क्लैरास्वेन हास्पिटल बरेली में तथा सैनिटोरियम भुवाली में आपरेशन और चिकित्सा व्यवस्था हुई, पर बीमारी बढ़ती ही गयी। शास्त्रीजी रवि को चिकित्सा के लिए रूस भेजना चाहते थे। इसके प्रबन्ध का दायित्व तत्कालीन केन्द्रीय गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिया, परन्तु वहाँ से यह सूचना मिलने पर कि अब और चिकित्सा सम्भव नहीं है, दुःख के साथ वहाँ भेजने का विचार छोड़ना पड़ा।

अनेक बार पौराणिक तन्त्र-मन्त्रवादियों ने शास्त्री-दम्पति से पाठ कराने, मृत्युंजय जपादि कराने का आग्रह किया। शास्त्री-दम्पति ने कहा कि यह सब पाखंड है, हमें इसमें विश्वास नहीं। हम सच्चे हृदय से परमात्मा से पुत्र की स्वास्थ्य-कामना करते हैं। आगे ईश्वर की इच्छा। हम कर्मफल में विश्वास रखते हैं।

दुर्भाग्य से प्रिय रवीन्द्र का ५ जून, १९६२ को लखनऊ में निधन हो गया। शास्त्रीजी के ऊपर यह वज्रपात के समान था। आपको कभी किसी ने रोते न देखा था, पर उस समय बिलख-बिलखकर रो उठे। प्रभु की इच्छा मानकर धैर्य धारण करना ही पड़ता है, पर शास्त्रीजी के जीवन पर इस घटना का व्यापक असर हुआ।

शास्त्रीजी के सम्मुख पुत्र के निधन के कारण एक गम्भीर समस्या आ खड़ी हुई। जवान पुत्रवधू का वैधव्य सहन नहीं किया गया। कुछ समय पश्चात् उन्होंने स्वयं पुत्रवधू के पुनर्विवाह का प्रस्ताव किया और माता-पिता को पुनर्विवाह रचाने में पूर्ण सहयोग दिया तथा विवाह में उपस्थित होकर स्वयं आशीर्वाद दिया।

आज के बड़े-बड़े समाज-सुधारकों से ऐसा साहस नहीं होगा, परन्तु शास्त्रीजी सच्चे समाज-सुधारक हैं। अतः उन्होंने रचनात्मक कदम उठाकर समस्या का समाधान कर दिया। इस प्रकार के साहसिक पग भावी पीढ़ी को सदैव प्रेरणा देते रहेंगे।

माता लक्ष्मीदेवी का निधन और अक्षयजी पर दायित्व

शास्त्रीजी बड़ौत अधिक समय तक नहीं रहने वाले थे। शीघ्र ही सेवा-निवृत्त होना था, पर इसी बीच कन्या गुरुकुल, हाथरस की आचार्या माता लक्ष्मीदेवी जी का आगरा में जलोदर रोग से निधन हो गया। बीमारी और चिकित्सा के सिलसिले में अक्षयजी माताजी के पास जाती-आती रहीं, पर माताजी के वियोग से अक्षयजी का दायित्व और बढ़ गया।

माता लक्ष्मीदेवी जी के निधन पर गुरुकुल में आयोजित श्रद्धांजलि-सभा में आर्यनेता

पं० प्रकाशवीर शास्त्री, पं० हरिशंकर शर्मा आदि ने अक्षयजी से प्रार्थना की कि अब आप इस संस्था को संभाल लें अन्यथा संस्था जीवित न रह सकेगी। शास्त्रीजी को अकेले बड़ौत में छोड़कर अक्षयजी को अपना अधिकतर समय गुरुकुल में बिताना पड़ा। शास्त्रीजी को जो पारिवारिक असुविधा हुई, उस सबकी शास्त्रीजी ने कोई परवाह न की और बराबर आवश्यकतानुसार उन्हें भेजते रहे और स्वयं भी पहुँचते रहे।

बड़ौत से विदाई

जुलाई १९६३ में शास्त्रीजी बड़ौत कालेज की सेवा से निवृत्त हो गये और इस प्रकार शास्त्रीजी के शिक्षा-विभाग में सेवा-कार्य का समय पूर्ण हो गया। अधिकारी वर्ग ने आपके सेवा-काल बढ़वाने की चेष्टा करनी चाही, पर शास्त्रीजी गुरुकुल की चिन्ता के कारण सेवाकाल बढ़वाने को तैयार न हुए। बड़ौत और समीप की जनता ने भावपूर्ण हृदय से शास्त्रीजी को विदाई दी।

शास्त्रीजी बड़ौत से विदा लेकर अपने छोटे पुत्र चि० विजयप्रताप इंजीनियर के पास जयपुर पहुँच गये, पर यह तो शास्त्रीजी के नये युग के लिए केवल थोड़ी देर के लिए विश्राम मात्र था।

चि० विजयप्रताप का विवाह

जयपुर पहुँचते ही शास्त्रीजी के सम्मुख अपने छोटे पुत्र के विवाह की समस्या थी और आगे के जीवन के लिए कार्यक्रम निर्धारण का प्रश्न मुख्य था।

श्री शास्त्रीजी ने पुत्र के विवाह की समस्या को आते ही निपटाया। चि० विजयप्रताप की नियुक्ति राजस्थान के कृषि विभाग में इंजीनियर के रूप में हो गयी थी। शास्त्रीजी ने पुत्र की सहमति से उनका विवाह-संबंध जोधपुर के ठा० भीमसिंह एवं श्रीमती डॉ० सीताबाई की पुत्री सौ० हेमलता से करना निश्चित किया। चि० विजयप्रताप एवं आयुष्मती डॉ० हेमलता का शुभ-विवाह बड़ी सादगी और पवित्रता के साथ सम्पन्न हुआ। विजयप्रताप दहेज प्रथा के सख्त विरोधी हैं और उन्होंने वधू के साथ कुछ भी सामान लाने से इन्कार कर दिया। केवल एक साड़ी पहनाकर वधू को जोधपुर से ले आये।

जयपुर में वधू के सम्मान में आयोजित स्वागत-समारोह में राजस्थान के राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने उपस्थित होकर वर-वधू को आशीर्वाद दिया। श्री सम्पूर्णानन्द जी का शास्त्रीजी से लखनऊ का घनिष्ठ परिचय था।

शास्त्री-दम्पति इस बात पर हर्ष अनुभव कर सकते हैं कि उन्होंने एक पुत्री और दो पुत्रों के रूप में राष्ट्र को तीन सुयोग्य नागरिक दिये हैं।

इस प्रकार शास्त्रीजी अपने पारिवारिक दायित्वों से प्रायः मुक्त हो गये। अब उनको अपना जीवन कार्य चुनना था, क्योंकि उनका ध्येय है कि जीवन के अन्तिम समय तक समाज सेवा में संलग्न रहना है। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतङ् समाः** के वे मूर्त्त रूप हैं।

कन्या गुरुकुल, हाथरस को महत्व

माता लक्ष्मीदेवीजी के निधन के पश्चात् माता अक्षयजी ने कन्या गुरुकुल का कार्य संभाल अवश्य लिया था, परन्तु अभी निश्चित रूप से वे गुरुकुल में बैठ नहीं सकती थीं। समय-

समय पर आपको बड़ौत, जयपुर तक की भागदौड़ करनी पड़ती थी। बड़ौत का चक्कर तो किसी तरह समाप्त हुआ, पर अभी जयपुर जाना-आना लगा ही रहा।

इस बीच शास्त्रीजी ने योजना बनानी प्रारम्भ की। उनका विचार था कि वे ऐसे समस्यात्मक बच्चों को सुधारने का यत्न करें, जो माता-पिता के लिए सिरदर्द हैं, बिगड़े हुए हैं। यह कार्य उनकी रुचि के अनुकूल भी था, क्योंकि कालेजों में वे इस प्रकार के विद्यार्थियों को अपने प्रयत्नों से सही मार्ग पर लाने में सफल हुए थे। आज भी वे विद्यार्थी अपने सामाजिक जीवन में सफल होकर अपनी सफलता का श्रेय शास्त्रीजी को ही देते हैं। दूसरा विचार यह भी हुआ कि जयपुर में बैठकर शिक्षा-साहित्य का निर्माण किया जाये और उसके प्रकाशन आदि में समय लगाया जाये। शास्त्रीजी के लिए यह कार्य बड़ा आसान था। उन्हें लिखने-लिखाने एवं छात्रोपयोगी साहित्य तैयार करने का अभ्यास भी था, क्योंकि अपने शिक्षण-काल में विद्यार्थियों के लिए उपयोगी कई पुस्तकों की शास्त्रीजी ने रचना की थी, परन्तु यह कार्य अब उनके जैसे महान् व्यक्तित्व के अनुकूल न था। शास्त्रीजी की शक्ति अधिक महत्वपूर्ण रचनात्मक कार्य में लगनी चाहिए थी।

इसी समय शास्त्रीजी के गुरुकुल-सखा डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने प्रस्ताव किया कि आप दिल्ली आ जावें। हम लोग लाला लाजपतराय के नाम पर एक डिग्री कालेज आरम्भ करना चाहते हैं, आप उसे सँभाल लें और संस्था का संचालन करें।

शास्त्रीजी ने इन विषयों पर परिवार के सभी लोगों से चर्चा की और राय माँगी। कन्या गुरुकुल, हाथरस के तत्कालीन मन्त्री श्री उमेशचन्द्र स्नातक ने शास्त्रीजी पर जोर डाला कि आप साहित्य प्रकाशन का विचार न करें क्योंकि यह एक आर्थिक-व्यापारिक कार्य है, जो आपकी प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं होगा। बाद में आपको अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा एवं आर्थिक हानि भी उठानी पड़ेगी, साथ ही आपका क्षेत्र बहुत सीमित हो जायेगा।

श्री उमेशचन्द्र स्नातक ने शास्त्रीजी से निवेदन किया कि कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस आपके लिए अधिक उपयुक्त है। माता लक्ष्मीदेवी जी ने ३१ वर्ष की निरन्तर सेवा से इसका निर्माण किया है। यदि आप जैसा कोई व्यक्ति उसको नहीं सँभालेगा तो संस्था प्रगति न करेगी और संकट में पड़ जायेगी। माता अक्षयजी भी संस्था के लिए जो समय दे रही हैं, वह पर्याप्त नहीं है, क्योंकि उन्हें आपकी देखभाल की भी चिन्ता करनी ही पड़ती है। अतः यदि आप स्वयं भी गुरुकुल को कार्यक्षेत्र बनायें तो यह आपके जीवन-लक्ष्यों की पूर्ति में सहायक होगा। आप अपनी इच्छानुकूल संस्था का विकास कर आदर्श उपस्थित कर सकेंगे और संस्था की भी गौरव-वृद्धि हो सकेगी।

शास्त्रीजी ने सारी परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर कन्या गुरुकुल, हाथरस के लिए अपना समय देना स्वीकार कर लिया। गुरुकुल के लिए यह बड़े सौभाग्य की घड़ी थी। गुरुकुल का भविष्य उज्ज्वल दीख पड़ने लगा। शास्त्रीजी ने गुरुकुल आना तो स्वीकार कर लिया, परन्तु उन्हें किस उत्तरदायी पद पर रखा जाये, यह प्रश्न विचारणीय बन गया। गुरुकुल की आचार्या व मुख्याधिष्ठात्री पदों पर तो माता अक्षयकुमारी जी को गुरुकुल सभा पहले ही नियुक्त कर चुकी थी और कन्याओं की संस्था होने के नाते महिला को ही इन पदों पर नियुक्त किया जाना उपयुक्त था। माता अक्षयजी आदरी मुख्याधिष्ठात्री एवं आचार्या के रूप में गुरुकुल का संचालन कर रही थीं।

कुलपति-पद ग्रहण

गुरुकुल सभा के सम्मुख मन्त्रीजी ने प्रस्ताव रखा कि शास्त्रीजी को गुरुकुल का कुलपति-पद प्रदान किया जाये। ठा० फूलनसिंहजी ने, जो उस समय सभा के प्रमुख थे, प्रस्ताव का समर्थन किया। आवश्यक विचार-विमर्श के पश्चात् गुरुकुल सभा ने वैधानिक व्यवस्था करके शास्त्रीजी से गुरुकुल का कुलपति-पद स्वीकार करने की प्रार्थना की और शास्त्रीजी ने सभा के अनुग्रह को स्वीकार कर लिया। शास्त्रीजी तभी से, १९६३ से गुरुकुल के आदरी कुलपति हैं और गुरुकुल की उन्नति में निरन्तर लगे हुए हैं।

शास्त्री-दम्पति के जीवन की संध्या वेला में गुरुकुल ही उनका मानस पुत्र है। उसकी उन्नति को ही वे अपनी उन्नति मानते हैं। वास्तव में आर्यसमाज के नारी शिक्षा आन्दोलन में कन्या गुरुकुल, हाथरस जैसी संस्थाओं की विशेष भूमिका है। शास्त्रीजी के कुलपति बनकर पहुँचने से अक्षयजी का काम पर्याप्त सरल हो गया। गुरुकुल की समस्त बाह्य गतिविधियों, धन-संग्रह, शिक्षा योजनाओं आदि का सारा भार शास्त्रीजी ने उठा लिया और अन्दर का प्रबन्ध माताजी करती रहती हैं।

इस प्रकार दोनों के सम्मिलित प्रयास से गुरुकुल की प्रगति हो रही है। ब्रह्मचारिणियों की संख्या ३५० से अधिक है। भारत के प्रायः सभी प्रान्तों की कन्याओं के अतिरिक्त नेपाल, थाईलैण्ड, मारीशस तथा अन्य देशों की कन्याएँ भी गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करने आती हैं। अल्प व्यय और सादगी के साथ उच्च शिक्षा गुरुकुल का लक्ष्य है। शास्त्री-दम्पति गुरुकुल के वातावरण को इस उद्देश्य की पूर्ति के अनुकूल बनाने में जुटे हुए हैं। प्रभु उन्हें दीर्घायुष्य प्रदान करें, यही कुलवासियों एवं शुभचिन्तकों की प्रार्थना है।

भारतीय विद्या संस्थान, दिल्ली के निदेशक

शास्त्रीजी के मित्र डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री चाहते थे कि शास्त्रीजी उनके संस्कृत-प्रचार कार्य में सहयोग दें। डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के छोटे भाई श्री महेन्द्रनाथ जी ने अपने पिता के नाम पर पचास लाख रुपये से ट्रस्ट बनाकर भारतीय विद्या संस्थान की स्थापना की थी, जहाँ दिल्ली विश्वविद्यालय के पी-एच०डी० के छात्र संस्कृत में शोध कार्य करने के लिए आते थे। यह कार्य डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की देखरेख में हो रहा था। शास्त्रीजी को उन छात्रों के अनुसंधान कार्य का निरीक्षण और निर्देशन करना था। शास्त्रीजी ने डॉक्टर साहब के आग्रह को इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि वे कन्या गुरुकुल के कार्य को करते हुए ही इस कार्य में सहयोग दे सकेंगे। डॉक्टर साहब ने शास्त्रीजी को संस्थान का निदेशक बना दिया।

शास्त्रीजी बड़ी योग्यतापूर्वक पी-एच० डी० के छात्रों का निर्देशन करते रहे और अनेक छात्रों के शोध-निबन्ध पूर्ण कराये, परन्तु सामाजिक कार्यकर्ता होने के कारण शास्त्रीजी को अन्य कार्यों में भी व्यस्त रहना पड़ता था। अतः संस्थान के निदेशक-पद को आपने शीघ्र ही छोड़ दिया।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति

आर्यसमाज के शिक्षा आन्दोलन में गुरुकुल पद्धति की शिक्षा संस्थाओं का अपना विशिष्ट स्थान है। स्वामी श्रद्धानन्दजी महाराज ने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की स्थापना

१९०१ में की थी। गुरुकुल आन्दोलन का शिक्षा-जगत् एवं राष्ट्रीय आन्दोलन में विशेष महत्व रहा है और उस सबका केन्द्र गुरुकुल कांगड़ी ही रहा है। स्वाधीनता के पश्चात् गुरुकुल संचालकों ने भारत सरकार से गुरुकुल को विश्वविद्यालय के रूप में विकसित करने की स्वीकृति प्राप्त कर ली और गुरुकुल में भी अन्य विश्वविद्यालयों की भाँति कुलपति, उपकुलपति नियुक्त होने लगे।

गुरुकुल के संचालकों को एक आदर्श शिक्षा-शास्त्री एवं गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में आस्था रखने वाले व्यक्ति की आवश्यकता थी। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्कालीन प्रधान प्रोफ़ेसर रामसिंह, मन्त्री श्री रामनाथ भल्ला, श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, तथा श्री रघुवीरसिंह शास्त्री आदि ने प्रयत्न कर आपको गुरुकुल का कुलपति नियुक्त कर दिया।

शास्त्रीजी ने आदर्श कुलपति के रूप में बड़ी योग्यता और लगन के साथ गुरुकुल की उन्नति में योगदान दिया। गुरुकल भावना और अनुशासन का जो स्वरूप आपके समय में वहाँ विकसित हुआ उसे आज भी कुलवासी स्मरण करते हैं। अल्प काल में ही छात्रों की संख्या में वृद्धि हुई। विज्ञान में स्नातकोत्तर कक्षाओं का प्रारम्भ हुआ।

दुर्भाग्यवश पंजाब सभा में फैले हुए आपसी मतभेदों और संघर्ष का प्रभाव गुरुकुल पर भी पड़ा और स्नातक वर्ग ने आन्दोलन किया कि गुरुकुल का कुलपति स्नातकों में से तथा पंजाब का ही होना चाहिए। इस मतभेद का प्रभाव गुरुकुल के सामान्य जीवन, अनुशासन तथा आन्तरिक प्रवन्ध पर भी पड़ने लगा। शास्त्रीजी ने उदार भावना से कुलपति-पद से त्याग-पत्र दे दिया। शास्त्रीजी के स्वेच्छा से त्याग-पत्र दे देने के कारण संघर्ष में ढीलापन आ गया। शास्त्रीजी ने **'गंगातीरमपि व्यजन्ति मलिनं ते राजहंसा वयम्'** का आदर्श प्रस्तुत कर दिखाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वे पद के लोभी नहीं हैं, वे सेवाभाव से ही गुरुकुल आये थे।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के विजिटर

तदनन्तर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने शास्त्रीजी को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का परिद्रष्टा (विजिटर) नियुक्त किया। आप अनेक वर्षों तक इस पद पर रहे।

महात्मा नारायण स्वामी जन्म-शताब्दी समारोह

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर-प्रदेश ने आर्यनेता महात्मा नारायण स्वामीजी की जन्म-शताब्दी मनाने का निश्चय किया। सभा के इस कार्य में शास्त्रीजी ने संयोजक के रूप में अपना अमूल्य सहयोग दिया, क्योंकि जहाँ यह सभा की ओर से एक आयोजन था वहीं शास्त्रीजी के गुरुदेव की शताब्दी का आयोजन भी था। शास्त्रीजी ने जन्म-शताब्दी की सफलता के लिए बम्बई आदि स्थानों में धन-संग्रह कार्य किया। शास्त्रीजी की ही प्रेरणा पर महात्मा नारायण स्वामीजी की 'आत्मकथा' का पुनः प्रकाशन किया गया और 'आर्यमित्र' का नारायण स्वामी शताब्दी अंक प्रकाशित किया गया।

शताब्दी समारोह गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन की पावन शिक्षा-स्थली में सम्पन्न हुआ, क्योंकि स्वामीजी महाराज ने इस संस्था का निर्माण करने में अपना जीवन समर्पित कर दिया था।

शास्त्रीजी की प्रेरणा पर इस समारोह में भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के क्रान्तिकारी

शहीदों के परिवारों का अभिनंदन भी किया गया। अमर शहीद श्री रामप्रसाद बिस्मिल की बहिन, अमर शहीद भगतसिंह की बहिन श्रीमती अमरकौर, छोटे भाई श्री राजेन्द्रसिंह, श्री यतीन्द्रनाथ दास के छोटे भाई श्री किरणचन्द्र दास (कलकत्ता), श्री लालबहादुर शास्त्रीजी के चाचा प्रोफ़ेसर सद्गुरु शरण श्रीवास्तव, श्री लालबहादुर शास्त्री की धर्मपत्नी श्रीमती ललिता शास्त्री और प्रसिद्ध क्रान्तिकारी राजा महेन्द्रप्रतापजी आदि अनेकों स्वतन्त्रता-सेनानी पधारे थे। इस समारोह को सफल बनाकर शास्त्रीजी ने अपने गुरु के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की। यह समारोह भी आर्यसमाज के समारोहों की ऐतिहासिक परम्परा में स्मरणीय रहेगा।

काशी शास्त्रार्थ शताब्दी के संयोजक

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने महर्षि दयानन्द के काशी शास्त्रार्थ विजय एवं पाखण्ड-खण्डिनी पताका शताब्दी की स्मृति में समारोह मनाने का निश्चय किया। समारोह के संयोजन का भार शास्त्रीजी के कन्धों पर डाल दिया गया। यह समय ऐसा था कि जब आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश और सार्वदेशिक सभा के आपसी सम्बन्धों में खिंचाव बना हुआ था। यद्यपि शास्त्रार्थ शताब्दी का कार्य ऐतिहासिक और महत्वपूर्ण था, परन्तु सार्वदेशिक सभा के सहयोग से सभा को वंचित रहना पड़ा। शास्त्रीजी ने साहस से काम लिया और आर्य जगत् के विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों से सम्पर्क स्थापित किया।

शास्त्रार्थ शताब्दी के निर्धारित समय दिसम्बर १९६९ से पूर्व एक मास तक भारत के विभिन्न प्रान्तों में, दिल्ली में तथा उत्तर प्रदेश के प्रमुख नगरों में आर्य विद्वानों की टोलियाँ शास्त्रार्थ करने के लिए घूमती रहीं; कई स्थानों पर पौराणिक विद्वानों से शास्त्रार्थ हुए, कई स्थानों पर पौराणिक विद्वान् शास्त्रार्थ की स्वीकृति देकर भी नहीं आये। इस प्रकार सारे देश में आर्यसमाज के शास्त्रार्थ आन्दोलन की धूम मच गयी। शास्त्रार्थ मण्डलियाँ आर्यसमाज की दुन्दुभि बजाती हुई काशी पहुँचीं।

आर्यसमाज के शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह की घोषणा से पौराणिक जगत् में खलबली मच गयी। पौराणिक नेता श्री करपात्रीजी और श्री शंकराचार्यजी ने काशी के हरिश्चन्द्र कालेज में भी एक आयोजन सनातन धर्म की ओर से रख दिया।

आर्यसमाज का शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह आरम्भ हुआ। विशाल शोभा-यात्रा निकली और आर्य जनता ने उस उद्यान को देखा, जहाँ महर्षि दयानन्द ने शास्त्रार्थ किया था। वह स्थान आर्यसमाज के संरक्षण में है। वह उद्यान अमेठी राज्य की सम्पत्ति था और अमेठी के राजा श्री रणञ्जयसिंहजी ने उसे आर्यसमाज को भेंट कर दिया है। वहाँ शिलापट्ट लगा दिया गया है, जिसमें शास्त्रार्थ आदि का पूर्ण विवरण है। आर्य-जगत् स्वामीजी के विजय-स्थल को देखकर आत्मविभोर हो उठा।

शास्त्रार्थ शताब्दी के प्रमुख कार्यक्रमों में आर्य जगत् के प्रमुख शास्त्रार्थ महारथी विद्वानों के अभिनंदन का कार्यक्रम भी विशेष आयोजन था। इस कार्यक्रम से आर्य विद्वान् बहुत प्रभावित हुए और आर्यसमाज में पुराने शास्त्रार्थ युग की उमंगें फिर उठने लगीं।

शताब्दी समारोह के उद्घाटन के लिए चौ० चरणसिंहजी को आमन्त्रित किया गया था। चौधरी साहब ने बड़ी ही श्रद्धा के साथ महर्षि के प्रति श्रद्धांजलि समर्पित की और बताया कि मैं महर्षि दयानन्द को अपना गुरु मानता हूँ और महर्षि के शिष्य और भक्त के रूप में

श्रद्धांजलि समर्पित करने आया हूँ, जो प्रत्येक ऋषि-भक्त का अधिकार है।

शास्त्रार्थ शताब्दी के कार्यक्रम में खुले मंच पर शास्त्रार्थ के लिए सनातनी पंडितों को निमन्त्रण भेज दिया गया। दोनों पक्षों की ओर से पत्र-व्यवहार हुआ। आर्यसमाज की ओर से शास्त्रीजी ने पत्र लिखे। शास्त्रार्थ की मध्यस्थता के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय के कुलपति श्री श्रीमालीजी को स्वीकार किया गया।

शास्त्रार्थ के लिए आर्य विद्वान् मंच पर पहुँच गये थे, पौराणिक विद्वानों की प्रतीक्षा थी। बहुत विलम्ब से एक भीड़ के साथ श्री माधवाचार्य मंच पर आये और आते ही महर्षि दयानन्द के चित्र पर माल्यार्पण किया। शास्त्रीजी ने तत्काल उस माला को तोड़कर घोषणा की कि हम महर्षि के चित्र पर माल्यार्पण का समर्थन नहीं करते हैं। इस बीच एक शताब्दी पूर्व जिस प्रकार सनातनी पंडितों ने शोर-शराबा करके महर्षि दयानन्द को घेर लिया था, उसी प्रकार भीड़ में नारेबाजी और जय-जयकार कर वातावरण को विषाक्त बना दिया। फलतः सिटी मजिस्ट्रेट ने धारा १४४ की घोषणा कर पण्डाल को खाली करवा दिया। यदि यह सावधानी न बरती जाती तो सम्भव था पण्डाल में आग लग जाती और बड़ी हानि होती।

कुछ लोगों ने आर्यसमाज के शास्त्रार्थ आन्दोलन की आलोचना की थी और उसे असामयिक बताया था, परन्तु शताब्दी कार्यक्रम ने सिद्ध कर दिया कि इसकी अत्यधिक आवश्यकता है।

माता अक्षयजी की अस्वस्थता एवं शास्त्रीजी की आँखों का आपरेशन

सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए परिवार की ओर ध्यान देना प्रायः कठिन हो जाता है, पर प्रकृति तो अपने नियमों पर चलती है।

अक्षयजी के हर्निया हो गया था, जिसका दिल्ली में डॉ० महाजन के क्लीनिक में आपरेशन हुआ। पेट का आपरेशन काफी लम्बा हुआ। डॉक्टर ने सलाह दी कि आप दो मास तक आराम करें, किन्तु अक्षयजी को गुरुकुल की चिन्ता सवार थी। अतः डॉक्टर की सलाह की परवाह न कर वे आपरेशन के एक मास के अन्दर ही गुरुकुल आ गयी थीं। परिणाम विपरीत हुआ। हर्निया पुनः हो गया, किन्तु बाद में मधुमेह की बीमारी हो जाने के कारण आपरेशन भी सम्भव न था। अब आँख में ग्लूकोमा और मोतियाबिन्द भी हो गया है। इन बीमारियों के बावजूद भी अक्षयजी निरन्तर कार्यरत रहकर गुरुकुल की उन्नति में योगदान दे रही हैं।

इसी प्रकार शास्त्रीजी को आँखों के मोतियाबिन्द के आपरेशन के कारण पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ा। मेडीकल कालेज जयपुर में उत्तम चिकित्सा और वैज्ञानिक युग होते हुए भी दुर्भाग्य से एक आँख का आपरेशन सफल न हो सका। दूसरी आँख का आपरेशन महात्मा गांधी नेत्र चिकित्सालय, अलीगढ़ में सम्पन्न हुआ और सौभाग्य से सफल हुआ। इस प्रकार की शारीरिक असुविधाओं का सामना करते हुए भी शास्त्रीजी के क्रिया-कलापों में कोई अन्तर न आया। मोतियाबिन्द होने के समय से दूसरी आँख के आपरेशन तक उनके कार्यों में कहीं कोई शिथिलता न आयी। मोतियाबिन्द की स्थिति में ही आपने काशी शास्त्रार्थ शताब्दी को सफल बनाया। केवल एक अन्तर पड़ा है। जहाँ आप पहले लेखन-कार्य स्वयं करते थे वहाँ अब आँख पर जोर न पड़े, इसलिए दूसरों को बोल-बोलकर लिखाते हैं। उनकी एक नियमित दिनचर्या है—प्रातःकाल एक घंटा भ्रमण। भ्रमण समय में ही गुरुकुल के प्रत्येक दिन के कार्यों के सम्बन्ध में

निर्देश देना, प्रत्येक स्थान पर जाकर देखना, ठीक कार्य हो रहा है अथवा नहीं; गुरुकुल में किस समय, कौन, कहाँ, क्या कर रहा है इसकी पूरी जानकारी रखना, गुरुकुल की बड़ी-से-बड़ी चीज से लेकर छोटी-से-छोटी चीज तक का ध्यान रखना, कोई गुम न होने पाये इत्यादि बातों पर आपका पूरा ध्यान रहता है। भ्रमणोपरान्त स्नान, सन्ध्या-हवन, दुग्धपान के पश्चात १०-३० बजे से मध्याह्न १ बजे अथवा १-३० तक पत्रों के उत्तर लिखवाना; तदुपरान्त भोजन, विश्राम; सायं पुनः दिन-भर के अन्य कर्मचारियों के किये गये कार्यों की जानकारी करना; सायं सन्ध्या-हवन के पश्चात् रात्रि ७ बजे से ९-३० बजे तक गुरुकुल सम्बन्धी लेखन-कार्य कराना, हिसाब आदि देखना, तत्पश्चात् भोजन एवं भ्रमण, तदुपरान्त शयन—यही उनकी दिनचर्या है। इसी प्रकार की नियमित दिनचर्या माता अक्षयजी की भी है। गुरुकुल की प्रत्येक ब्रह्मचारिणी के विषय में वे पूरी-पूरी जानकारी रखती हैं। इस प्रकार दम्पति अहर्निश गुरुकुल चिन्तन एवं गुरुकुल उन्नयन के प्रयास में संलग्न हैं।

उत्तर प्रदेशीय विद्यार्य सभा के प्रधान

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने प्रदेश की आर्य शिक्षा-संस्थाओं के विकास, सुधार और संगठन की दृष्टि से 'प्रदेशीय विद्यार्य सभा' नामक सभा का निर्माण किया। शास्त्रीजी सभा के प्रारम्भ से ही उसके प्रधान रहे। आपने बड़ी योग्यता के साथ सभा का संचालन किया तथा अनेक शिक्षा-संस्थाओं के विवादों को सुलझाने में सफलता प्राप्त की। सभा ने शिक्षा-संस्थाओं के लिए एक प्रशासनीय योजना का निर्माण किया और प्रयास किया कि सबकी नियमावली और संगठन व्यवस्था एक-सी हो तथा सभी आर्य शिक्षण-संस्थाओं की नियन्त्रण व्यवस्था सभा द्वारा हुआ करे। इस दिशा में काफी प्रगति हुई है। आशा है, शीघ्र ही पूर्ण सफलता के साथ एक नया रूप सामने आ सकेगा।

नैतिक शिक्षा की व्यवस्था और परीक्षाएँ

शास्त्रीजी के नेतृत्व में विद्यार्य सभा ने आर्य शिक्षा-संस्थाओं के लिए नैतिक शिक्षा की परीक्षाएँ आरम्भ कीं और शिक्षा-संस्थाओं के अधिकारियों के मस्तिष्क में धार्मिक शिक्षा देने में शिक्षा विभाग की असहमति का जो झूठा भय जमा हुआ था, उसे समाप्त किया। सभा की ओर से प्रत्येक कक्षा के लिए नैतिक शिक्षा की पुस्तकें प्रकाशित की गयी हैं, जो बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई हैं। विद्यार्य सभा के मन्त्री रूप में श्री रामबहादुरजी एडवोकेट, पूरनपुर (पीलीभीत), तत्पश्चात् श्री माधवसिंहजी शास्त्रीजी के बड़े सहायक सिद्ध हुए। दोनों ही आर्यजन सभा के कार्य को बड़ी लगन के साथ करते रहे हैं।

दयानन्द बाल मन्दिर योजना

आर्यसमाज के शिक्षा कार्यक्रम में स्कूलों और कालेजों की ओर जितना ध्यान दिया गया, उतना छोटे बालकों की शिक्षा की ओर नहीं दिया गया। देश के युवक चरित्र का निर्माण करने के लिए बालपन से ही चरित्र-निर्माण की आवश्यकता पर शास्त्रीजी बल देते रहे हैं। विद्यार्य सभा के प्रधान होने के नाते आपने दयानन्द बाल मन्दिर योजना आरम्भ करायी। बाल मन्दिरों की नियमावली और पाठविधि का निर्माण कराकर दयानन्द बाल मन्दिर खुलवाने

आरम्भ कर दिये। आपकी प्रेरणा से प्रदेश में ५० से अधिक दयानन्द बाल मन्दिर खुल चुके हैं। इस योजना से इंगलिश पब्लिक स्कूलों का मुकाबला किया जा सकता है। शास्त्रीजी का प्रयास है कि इन विद्यालयों की परीक्षा को कक्षा ६ में प्रवेश की अनुमति प्राप्त हो जाये। ऐसा होने पर इन बाल मन्दिरों का महत्व और भी बढ़ जायेगा।

शिक्षा-संस्थाओं का व्यापक संगठन

विद्यार्य सभा की स्थापना से उत्तर प्रदेश की आर्य शिक्षा-संस्थाओं को विशेष बल मिलने लगा। राजकीय अधिकारी आर्य शिक्षा-संस्थाओं में अनधिकृत हस्तक्षेप करते थे, उसे रोका गया और उनसे कह दिया गया कि सभा द्वारा आवश्यक प्रबन्ध कर समस्याओं के समाधान का यत्न किया जायेगा। सभा की असफलता पर ही राज्य शिक्षा विभाग को हमारी शिक्षा-संस्थाओं में हस्तक्षेप करना चाहिए। इसी प्रकार शिक्षा-संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर आर्यसमाज के दृष्टिकोण को शास्त्रीजी ने सभा द्वारा सबके सम्मुख रखा और इस प्रश्न को अदालत में प्रस्तुत किया कि आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाएँ बहुमत की शिक्षा-संस्थाएँ नहीं हैं। आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाएँ एक विशेष शिक्षा-दर्शन का प्रचार करती हैं। अतः उनका स्वतन्त्र अस्तित्व बना रहना चाहिए। राष्ट्रीयकरण की आँधी में उन्हें नहीं समेटना चाहिए। यह प्रश्न अभी तक न्यायालय में स्पष्टीकरण के लिए पड़ा हुआ है।

१९७६ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की ओर से वाराणसी में तीसरा आर्यसमाज शताब्दी समारोह मनाया गया। उसमें उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री नारायणदत्त तिवारी ने आर्यसमाज एवं सभा के कार्य की (विशेष रूप से शिक्षा-क्षेत्र में) प्रशंसा करते हुए सभा के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए पाँच लाख रुपये का अनुदान देने की घोषणा की। इस घोषणा से आर्यसमाज के शिक्षा-क्षेत्र में होने वाले विकास को बल मिला। इसका बहुत-सा श्रेय शास्त्रीजी जैसे महान् व्यक्ति को है। उनके हाथ में प्रदेश की आर्य शिक्षा-संस्थाओं का नियन्त्रण होने से ही यह उत्तम स्थिति आ सकी।

शास्त्रीजी की विशेषताएँ

शास्त्रीजी का जीवन जहाँ समाज-सेवा की एक लम्बी कहानी है, वहीं शास्त्रीजी के जीवन में हमें कुछ ऐसी विशेषताएँ मिलती हैं, जिनका अधिकांश सार्वजनिक सामाजिक नेताओं में सर्वथा अभाव पाया जाता है।

शास्त्रीजी सत्यवादी, मिलनसार, कर्तव्यपरायण, कर्मठ, स्पष्ट वक्ता एवं निर्भीकता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। यद्यपि नेता के रूप में आपमें मानसिक एवं वाचिक शुचिता तो है ही, अर्थ-शुचिता में भी आप अपना कोई सानी नहीं रखते। आपके जीवन में अर्थशुचि का बड़ा महत्व है। लाखों रुपयों के वितरण का अधिकार रखते हुए भी आपने कभी किसी का एक भी पैसा न अपने पास रखा और न व्यर्थ नष्ट किया। जिन संस्थाओं और सार्वजनिक सभाओं में आप रहे, सर्वत्र अर्थशुचित्व के लिए आपकी प्रशंसा की गयी।

कर्तव्यपरायणता एवं कर्मठता आपके जीवन में कूट-कूटकर भरी हुई है। नयी पीढ़ी के आर्यसमाजी शास्त्रीजी की कर्मठता और कर्तव्यपरायणता से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं।

बहिन का वियोग

शास्त्रीजी की बड़ी बहिन श्रीमती सुखदा देवीजी शास्त्रीजी से बहुत स्नेह करती थीं। वर्ष में कुछ समय निकाल अपने भाई-भाभी के पास रहने अवश्य आती थीं। देहरादून, लखनऊ, बड़ौत के बाद कन्या गुरुकुल, सासनी में भी उनका पहुँचना पूर्ववत् बना रहा। गुरुकुल की उन्नति में वे बहुत रुचि लेती थीं, और अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री उमेशचन्द्र स्नातक को गुरुकुल की उन्नति में पूर्ण सहयोग देने की प्रेरणा देती रहती थीं। वे गुरुकुल के आरम्भ-काल से ही उसके संचालन में सहयोग देती रहीं। जब माता लक्ष्मी देवीजी बाहर जाती थीं तब उन्हें सहायक मुख्याधिष्ठात्री के रूप में कार्यभार सौंप जाती थीं। वे जीवनपर्यन्त गुरुकुल सभा की भी सदस्या रहीं। शास्त्रीजी के गुरुकुल में रहने के कारण उन्हें पूर्ण सन्तोष था कि गुरुकुल विशेष उन्नति करेगा।

अकस्मात् दीपावली १९७८ को बहिनजी की अस्वस्थता का समाचार शास्त्रीजी को मिला। शास्त्रीजी और माता अक्षयजी दोनों उनको देखने और चिकित्सा-व्यवस्था के लिए लखनऊ पहुँचे, जहाँ बहिनजी अपने छोटे पुत्र श्री रमेशचन्द्र के समीप थीं। बड़े पुत्र श्री उमेशचन्द्र, पुत्रवधू रीता, पुत्री दयाजी आदि भी वहीं थे। बहिनजी को डाक्टरों ने जिगर का कैंसर बताया, जिसकी चिकित्सा सम्भव न हो सकी। शास्त्रीजी बहिनजी को रुग्ण शय्या पर देखकर बड़े चिन्तित और दुखी थे, पर परिवार के लोगों को साहस और धैर्य दिलाने के लिए वे अपने दुख को दबाये रखते थे। १७ नवम्बर, ७८ को बहिनजी इस संसार से विदा हो गयीं। ८२ वर्ष की अवस्था में ५० वर्ष के वैधव्य दुख को झेलकर वे अपने भाई को भी अकेला छोड़कर चली गयीं। शास्त्रीजी और माता अक्षयजी ने इस अवसर पर बहिनजी के परिवार को सान्त्वना दिलायी। शास्त्रीजी भाई के अतिरिक्त बहिनजी के पूर्ण संरक्षक भी थे। ५० वर्ष से अधिक शास्त्रीजी ने बहिनजी की समस्त जिम्मेदारियों को अपनी जिम्मेदारियों की भाँति पूर्ण किया। उनके इस कर्तव्यपालन से शास्त्रीजी के वंश का गौरव बढ़ गया है।

उपसंहार

शास्त्रीजी का जीवन सूर्य के समान प्रकाशवान् और अज्ञानता, पाखण्ड एवं मिथ्याभिमान की बुराइयों, कालिमाओं (अन्धकारों-कल्मषों) से रहित है। उनके प्रकाशमान तेजस्वी जीवन से सम्पूर्ण आर्य जगत्, शिक्षा जगत्, मानव जगत् शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

गुणिगणनारम्भे सदैव शास्त्रीजी पर ही सबकी दृष्टि जाती है और आशा होती है कि उन जैसा महान् व्यक्तित्व आर्य जगत् को सत्य मार्ग पर चलाने में सफल हो सकेगा।

शास्त्रीजी के जीवन के प्रत्येक अध्याय से हमें शिक्षा मिल रही है। हम उन शिक्षाओं को ग्रहण कर सकें, यही उनका सच्चा अभिनंदन है। अभिनंदन के महोत्सव में शास्त्रीजी के प्रति ये कुछ शब्द-प्रसून बिखेरे गये हैं। आशा है, शास्त्रीजी के जीवन की सुगन्धि युग-युग तक मानव-जाति को सुवासित करती रहेगी।

अभिनन्दन : आर्यजगत् एवं अन्य

आर्यसमाज के गौरव

आर्यसमाज ने जनता जनार्दन को सुशिक्षित बनाने के लिए जहाँ कालेज प्रणाली की संस्था स्थापित की, वहाँ गुरुकुल प्रणाली को स्थापित करने के लिए एक जाल-सा बिछा दिया और यह प्रसन्नता की बात है कि आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ने दोनों प्रकार की शिक्षा प्राप्त करके अपने आपको जनता की सेवा के योग्य बना लिया। शास्त्रीजी के पूज्य पिता ठाकुर माधवसिंहजी के साथ मिलकर मुझे कार्य करने का सौभाग्य मिला था, जब स्वामी श्रद्धानन्द और महात्मा हंसराजजी ने मलकाना शुद्धि का ऐतिहासिक आन्दोलन शुरू किया था। आगरा में ठाकुर माधवसिंहजी बड़े प्यार और मान की दृष्टि से देखे जाते थे। ऐसे योग्य पिता के योग्य सुपुत्र आचार्य महेन्द्रप्रतापजी आजकल कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस के आदरी कुलपति हैं। उनके दर्शन के लिए मैं गुरुकुल पहुँचा और उनकी प्रबन्ध कुशलता को देखकर हृदय प्रसन्न हुआ। गत ५० वर्ष उन्होंने शिक्षा-कार्य में ही व्यतीत किये हैं। पूरी नम्रता से, बिना दिखावट के वे अपना कर्तव्य निभा रहे हैं। ऐसे महानुभाव ही आर्यसमाज के गौरव हैं। ऐसे ही लोगों को स्वामी दयानन्द के खामोश सिपाही कहा जाता है। प्रभु करे, उनका यश-सौरभ दिग्दिगन्त को सुरभित करे।

आनन्द स्वामी सरस्वती

नई दिल्ली
३-१०-७५

आर्यसमाज की भव्य देन

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री की सेवाओं के आदर स्वरूप उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है।

शास्त्रीजी आर्यसमाज की देन हैं और भव्य देन हैं। उन्होंने आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं, आर्यसमाजों, प्रांतीय समाजों और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के माध्यम से उच्च

पदों पर रहकर आर्यसमाज के कार्य और यश को बढ़ाया है। आर्यसमाज के डी० ए० वी० और गुरुकुल आन्दोलनों में उन्होंने विशिष्ट भूमिका निबाही है। वे आन्दोलन और प्रबन्ध दोनों ही प्रतिभाओं से युक्त हैं।

सार्वदेशिक सभा के वह युवावस्था से ही सदस्य व अंतरंग सदस्य रहे। कुमारी कल्याणी को बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के धार्मिक कर्मकाण्ड कालेज में प्रवेश दिलाने में उन्होंने सभा की ओर से बड़ी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की थी। उस कन्या का प्रवेश इसलिए वर्जित कर दिया गया था कि वह नारी है और नारी को वेदाध्ययन का अधिकार नहीं है। इस प्रसंग में वह वाराणसी गये तथा विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना पंडित मदनमोहन मालवीयजी से साक्षात्कार करके अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त की।

वह सुयोग्य पुत्र, सुयोग्य छात्र, सुयोग्य प्रिंसिपल, सुयोग्य सहकर्मी, सुयोग्य नेता और सबसे बढ़कर मानव रहे हैं। वह हृदय और मस्तिष्क की विशिष्टताओं के स्वामी हैं।

परमात्मा उन्हें शतायु करे।

रामगोपाल शालवाले
प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१
३.१०.७५

प्रतिष्ठित सहकर्मी

आचार्यश्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री की सेवाओं के आदर स्वरूप उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है, यह बहुत अच्छी बात है।

शास्त्रीजी हर प्रकार से इस अभिनंदन के पात्र हैं। उन्होंने आर्यसमाजों, प्रांतीय सभाओं और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के माध्यम से जो सेवा की है उसका रिकार्ड बड़ा लम्बा और विशद् है। उन्होंने हमारे साथ एक अत्यन्त प्रतिष्ठित सहकर्मी के रूप में कार्य किया है और हमें उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को बड़ी सूक्ष्मता से देखने का अवसर प्राप्त रहा है। उनका कृतित्व ऊँचा है।

आर्यसमाज के गुरुकुल और डी० ए० वी० आन्दोलन में उन्होंने बहुत अच्छी भूमिका निभायी है और गुरुकुलों तथा कालेजों के भाग्य-निर्माण में उनका बड़ा हाथ रहा है।

शास्त्रीजी शतायु हों और आर्यसमाज में उनकी सेवाओं का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हो, यही प्रभु से प्रार्थना है।

ओमप्रकाश पुरुषार्थी
संसद सदस्य
प्रधान मन्त्री, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा
महर्षि दयानन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली-१
४.१०.७५

सामाजिक क्रांति के अग्रदूत

जन्मगत जातपाँत के कीटाणु समाज के शरीर में बहुत गहरे प्रवेश कर गये हैं। आज उन्हें निर्मूल करने की बात सोचना भी स्वयं को उपहास का विषय बनाना लगता है। पहले यह बीमारी कुछ सीमित क्षेत्रों में ही थी, पर अब तो जब से देश स्वतंत्र हुआ है तब से उसके दर्शन लगभग हर क्षेत्र में ही होने लगे हैं। राजनीति की हवा लगने से तो वह संक्रामक रोग बनकर फैल रही है। शिक्षण-संस्थाएँ और सांस्कृतिक संगठन भी उसकी लपेट में आते जा रहे हैं।

आर्यसमाज ने प्रारम्भ में इसके लिए ईमानदारी से काम किया था। मुँह से कहने के बजाय स्वयं अपने परिवारों से उसके लिए आदर्श उपस्थित किये गये। हैदराबाद रियासत जो अब बँटकर तीन राज्यों का अंग बन गयी, वहाँ पर पहले यदि कोई आर्यसमाजी अपनी बिरादरी में शादी कर ले तो उसे आर्यसमाज की सदस्यता से वंचित कर दिया जाता था, पर अब यह संक्रामक रोग वहाँ भी पहुँच गया है। मुझे अच्छी तरह स्मरण है—एक संपन्न सवर्ण हिन्दू परिवार की सुशिक्षित कन्या का विवाह हरिजन परिवार में जनमे युवक के साथ इसलिए हुआ क्योंकि वह गुरुकुल कांगड़ी का स्नातक था। पर जब हरिजनों को राजनीति में पृथक स्थानों का आरक्षण हुआ और विद्यालंकार महोदय ने भी हरिजन सीट पर टिकिट माँगा तो कन्या के पिता को मर्मान्तक पीड़ा हुई। उसके तो सारे स्वप्न ही धूल में मिल गये, पर अब वह मन मसोस कर रह जाने के सिवाय कर ही क्या सकता था? 'बिंध गया सो मोती'—भारत में तो पहले से ही यह कहावत प्रसिद्ध है।

आर्यसमाज के पुराने जिन नेताओं ने अपने परिवारों से समाज में उस क्रांतिकारी योजना की दाग-बेल डाली थी उनमें ठाकुर माधवसिंहजी का नाम अँगुलियों पर गिना जायेगा। अपने पुत्र श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का अन्तर्जातीय विवाह उन्होंने किया। आज तो समाज में यह उतनी अजीब बात नहीं लगती, पर उन दिनों जब सामाजिक बहिष्कार, आर्थिक बहिष्कार और रिश्तेदारों तक से कटने की नौबत आ जाती थी तब महर्षि दयानन्द के कुछ अनुयायियों ने जान पर खेलकर वह चुनौती स्वीकार की थी। ठाकुर माधवसिंहजी ने श्री शास्त्रीजी को एक तरह से आर्यसमाज को ही सौंप दिया था।

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री आर्यसमाज और उसकी कई शिक्षण-संस्थाओं का बड़ी खूबी से संचालन करते रहे हैं। डी० ए० वी० कालेज, देहरादून और डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ के बाद वह वैदिक डिग्री कालेज, बड़ौत में वर्षों तक प्रिंसिपल रहे। रिटायर्ड होने के बाद कन्या गुरुकुल, हाथरस को उन्होंने और उनकी साध्वी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी ने संभाला ही नहीं बल्कि चार चाँद उसे लगा दिये हैं। माता लक्ष्मीदेवीजी के बाद यदि शास्त्रीजी ने उसे न संभाला होता तो यह संस्था समाप्त ही हो जाती। अब तो वह कन्याओं की शिक्षा का अच्छा केन्द्र उत्तर भारत में है।

शास्त्रीजी शिक्षाशास्त्री होने के साथ-साथ एक अच्छे कुशल प्रबन्धक और संगठक भी हैं। मैंने मेरठ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश की स्वर्ण जयन्ती के समय उनकी कार्यप्रणाली देखी थी। जिस व्यवस्थित ढंग से यह समारोह हुआ वह अपनी शान का निराला ही था।

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री स्वस्थ रहते हुए दीर्घायु प्राप्त करें, ऐसी मेरी कामना है।

भूतपूर्व प्रधान,आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश
१ केनिंग लेन, नई दिल्ली
१-६-७७

प्रकाशवीर शास्त्री
संसद सदस्य

आर्यसमाज के आदर्श शिक्षा-शास्त्री

माननीय श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री एक वयोवृद्ध, विद्यावृद्ध और अनुभववृद्ध सफल शिक्षा-शास्त्री हैं। श्री शास्त्रीजी हमसे पहली पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं। हम लोग जब विद्यालयों में प्रविष्ट होकर गुरुचरणों में बैठकर अक्षराभ्यास कर रहे थे तब श्री शास्त्रीजी कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होकर ख्याति प्राप्त करने लगे थे।

श्री शास्त्रीजी का मुख्यरूप से कार्यक्षेत्र शिक्षणालय ही रहे। डी० ए० वी० कालेज, देहरादून, डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ और जनता वैदिक कालेज, बड़ौत में श्री शास्त्रीजी प्राचार्य-पद के दायित्व को सफलतापूर्वक वहन करते रहे। श्री शास्त्रीजी को आर्यसमाज अपने पूज्य पिता ठा० माधवसिंहजी से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ। फलतः उन्होंने अपने विद्यार्थियों के ऊपर आर्यसमाज के संस्कार डालने में पूरा परिश्रम किया। मुझे राजनीतिक क्षेत्र में श्री शास्त्रीजी के देहरादून के अनेक शिष्य मिले, जिनके ऊपर उनके धार्मिक जीवन की गहरी छाप थी। शिक्षा के अपने दायित्व को निभाने के साथ-साथ आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर-प्रदेश के कार्यों में श्री शास्त्रीजी ने सदा गहरी रुचि ली। वे दसियों बार उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर निर्वाचित हुए और उन्हें पूरी सफलता के साथ निभाया। वे सभा द्वारा संचालित गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के संचालन में भी प्रायः सक्रिय भाग लेते रहे हैं।

उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित शिक्षा-संस्थाओं को नियन्त्रित और व्यवस्थित करने के लिए सभा ने एक विद्यार्य सभा बना रखी है। श्री शास्त्रीजी उसकी स्थापना से ही उसके प्रधान हैं। इस विद्यार्य सभा ने शिक्षा-संस्थाओं के विवादों के निपटाने में उन संस्थाओं में वैदिक धर्म की शिक्षा की व्यवस्था करने में और उनके सर्वाङ्गीण विकास में स्तुत्य कार्य किया है।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के तत्वावधान में सम्पन्न हुए काशी शास्त्रार्थ समारोह में श्री शास्त्रीजी ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की, किन्तु इन सबसे बढ़कर श्री शास्त्रीजी के प्रबन्ध कौशल्य में निखार आया माता लक्ष्मीदेवी जी के देहावसान के बाद, कन्या गुरुकुल, हाथरस को विकसित करने में। माताजी के बाद निश्चित रूप से यह संस्था दम तोड़ देती यदि श्री शास्त्रीजी का इसको संरक्षण न मिलता। संस्थाओं के सफलतापूर्वक संचालन में एक राष्ट्र के संचालन के समान ही सूझ-बूझ और दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से

श्री शास्त्रीजी की जितनी भी सराहना की जाये कम है। इस समय के आर्यसमाज के क्षेत्र के कन्या गुरुकुलों में मितव्ययिता के साथ उच्च शिक्षा देने में कन्या गुरुकुल, हाथरस का स्थान सर्वप्रथम है।

मैं आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार में श्री शास्त्रीजी की महत्वपूर्ण सेवाओं के लिए उनका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ और उनके उत्तम स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

सी (२) ३५-३६, मलकागंज
दिल्ली-७

शिव कुमार शास्त्री
भूतपूर्व संसद सदस्य

जैसा मैं उन्हें जानता हूँ

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि पं० महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री का शिष्य और मित्र-मण्डल उनकी ८०वीं वर्षगाँठ के अवसर पर उनकी सेवा में आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ समर्पित कर रहा है। श्री शास्त्रीजी आर्यसमाज के एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं। वे अनेक विषयों के ऊँचे और प्रामाणिक ज्ञाता हैं। अनेक शिक्षा-संस्थाओं में उन्होंने संस्कृत के प्रवक्ता और प्रोफेसर के रूप में अध्यापन का कार्य किया है। कितने ही प्रतिष्ठित कालेजों के वे वर्षों तक प्रिंसिपल भी रहे हैं। शिक्षक और संस्थाओं के संचालक एवं प्रबन्धक के रूप में शिक्षा-जगत् में उन्होंने जहाँ भी कार्य किया है वहीं उन्हें भारी सफलता और कीर्ति प्राप्त हुई है। अनेक संस्थाओं, कालेजों और विश्वविद्यालयों की संचालिका एवं प्रबन्धकर्त्री सभाओं के सदस्य भी वे चिरकाल तक रहे हैं और इस रूप में उन्होंने उन संस्थाओं के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आर्यसमाज की विविध प्रकार की गतिविधियों और आन्दोलनों के साथ भी उनका गहरा सम्बन्ध रहा है और उन सभी में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश और सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभाओं के सदस्य भी वे निरन्तर रहे हैं और इस रूप में वे इन सभाओं के नीति-निर्धारकों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में उनका बड़ा भारी योगदान रहा है। वे स्पष्ट और सुलझे हुए विचारों वाले एक प्रभावशाली व्यक्ति हैं। वे प्रायः आर्यसमाजों के उत्सवों पर वैदिक धर्म से सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यान देने के लिए जाते रहते हैं। समाजों में उनके भाषण बड़ी रुचि और ध्यान से सुने और पसन्द किये जाते हैं। आर्यसमाज के वक्ताओं में उनका अपना एक विशिष्ट स्थान है। शैक्षिक योग्यता के साथ-साथ श्री शास्त्रीजी चारित्रिक गुणों के भी धनी हैं। शास्त्रीजी एक मधुर भाषी, मिलनसार और सहृदय व्यक्ति हैं। उनमें कार्यनिष्ठा और कर्तव्यपरायणता, दया और परोपकारिता के गुण ऊँची मात्राओं में विद्यमान हैं। वे एक सरल जीवन वाले, सत्य एवं न्यायप्रिय, धर्मशील व्यक्ति हैं। वे गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

के कुलपति भी रहे हैं। तब मैं गुरुकुल विश्वविद्यालय का आचार्य और उपकुलपति भी था। उनके पश्चात् मैं वहाँ का कुलपति नियुक्त हुआ था। शास्त्रीजी गुरुकुल में जब तक रहे उन्होंने उसकी उन्नति के लिए पूर्ण मनोयोग और तत्परता से कार्य किया। उस समय मुझे शास्त्रीजी को बहुत समीप से देखने का अवसर मिला और मैंने उनमें मस्तिष्क और हृदय के जो ऊँचे गुण हैं उन्हें भली-भाँति अनुभव किया। गुरुकुल में उनके कार्यकाल में हम दोनों के सम्बन्ध बड़े मधुर रहे।

मैं उनके सम्बन्ध में किये जा रहे इस आयोजन की पूर्ण सफलता की कामना करता हूँ और भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि वे शतायु हों और पूर्ण स्वस्थ रहें जिससे वे वैदिक धर्म, आर्यसमाज और देश की और भी अधिक सेवा कर सकें।

भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार

आचार्य प्रियव्रत
वेदमार्तण्ड

एकनिष्ठ आर्य नेता

सुरूपः सुशीलः सदा कार्यदक्षः
सुशिक्षाप्रदो बुद्धिदो धर्मनिष्ठः।
सुमित्रः कृतज्ञो जनानां हितैषी
सदा वन्दनीयो महेन्द्रप्रतापः ॥१॥
महेन्द्रो विक्रमे यस्तु प्रतापे भानुमानिव
शिक्षाक्षेत्रे वृता कीर्ति. शास्त्री शास्त्रैः समन्वितः ॥२॥
अक्षया यस्य सत्कीर्तिः, अक्षयोज्ञानवैभवः
अक्षयदेव्यायुतः श्रीमान् अक्षयं सुखमाप्नुयात् ॥३॥
विष्णुपत्नीं परित्यज्य शारदा येन सेविता
तस्याभिनन्दनं यत्तु शारदापूजनं किल ॥४॥

कल की सी बात है जबकि पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का पाणिग्रहण संस्कार मेरे आचार्यत्व में बरेली में सम्पन्न हुआ था। अक्षय को मैंने छठी कक्षा में पढ़ाया भी था।

श्री शास्त्रीजी तथा सौभाग्यवती बेटी अक्षय के परिवार के साथ मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। श्री शास्त्रीजी के पूज्य पिता ठा० माधवसिंह जी आर्यसमाज के दीवाने थे। सरकारी सेवा में रहते हुए भी उन्होंने आर्यसमाज की सेवा बेधड़क होकर की। श्री शास्त्रीजी आई० सी० एस० बन सकते थे और सैनिक पद प्राप्त कर सकते थे, किन्तु उन्होंने अध्यापन कार्य, ब्राह्मण वृत्ति स्वीकार की और सारी आयु सरस्वती की सेवा में व्यतीत कर रहे हैं। शिक्षा-क्षेत्र में वह सफल अध्यापक रहे हैं और अनुशासन के कुशल प्राचार्य रहे हैं।

सबसे अधिक प्रशंसनीय है उनकी आर्यसमाज के प्रति एकरस निष्ठा। वे पार्टीबाजियों के चक्कर से बचते हुए समाज की सेवा में रत रहे। जो सेवा उन्हें समाज ने सौंपी, उसे मन लगाकर कुशलता से पूरा किया। आर्यमित्र की सेवा, सभाओं, महोत्सवों के प्रबन्ध उन्होंने अच्छी रीति से किये।

यत् प्रबन्धपयोदेन संस्थाक्षेत्रं सुसिञ्चतिम्।
इन्द्रतुल्य महेन्द्रोऽयं सर्वार्यजनताप्रियः॥

सब आर्य जनता के साथ मैं भी उनका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ।

आर्य महोपदेशक, बरेली — **बिहारीलाल शास्त्री**, व्याख्यान-वाचस्पति, काव्यतीर्थ

आत्मा वै जायते पुत्रः

सुनने में आता है—'आत्मा वै जायते पुत्रः' लेकिन देखने में प्रायः है—'शरीरं वै जायते पुत्रः।' पिता के भौतिक स्वत्व तो उत्तराधिकार में प्रत्येक औरस पुत्र को अनायास ही प्राप्त होते हैं किन्तु पैतृक आचार-विचार को उत्तराधिकार में पाने वाले अपने पिता के मानस पुत्र विरले ही होते हैं। आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ने अपने पिता स्वर्गीय ठा० माधवसिंहजी की वैचारिक सम्पत्ति को न केवल सँजोकर रखा बल्कि उसे खूब बढ़ाया भी। ऊँचे पद पर पहुँचने के बाद लोग धार्मिक कार्यकलाप से प्रायः उदासीन हो जाते हैं, किन्तु शिक्षा के क्षेत्र में कुलपति के सर्वोच्च पद पर आसीन होने पर भी आर्यसमाज के क्षेत्र में यथापूर्व सक्रिय रहना इस बात का प्रमाण है कि शास्त्रीजी सदा अपने पूज्य पिता की मिशनरी भावना से अनुप्राणित हो विषम परिस्थितियों से जूझते हुए हँसते-हँसते अपने निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर बढ़ते रहे हैं। वे हम सबके अभिनन्दनीय हैं।

भूतपूर्व प्रिन्सिपल, आर्य कालेज, पानीपत (हरियाणा), डी-१४/१६ माडल टाउन, दिल्ली — **लक्ष्मीदत्त दीक्षित**

कर्मठ मित्र

अपने प्रिय मित्र व साथी श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री को अभिनंदन ग्रंथ भेंट किये जाने के समाचार से प्रसन्नता हुई। इस अवसर पर मेरी श्री शास्त्रीजी को अतिशय हार्दिक बधाई।

मैं श्री शास्त्रीजी को सन् १९२६ से जानता हूँ। मेरे उनसे अत्यन्त स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहे हैं। जब श्री शास्त्रीजी ने भारतीय विद्या संस्थान, दिल्ली में आदरी निदेशक के रूप में कार्य किया, मुझे उनके सम्पर्क में कार्य करने का अवसर मिला। उनकी कार्यकुशलता, सूक्ष्म दृष्टि, सूझबूझ की छाप मेरे हृदय पर रही। शैक्षिक जीवन में उनका योगदान सारे देश व आर्य समाज में चिरस्मरणीय तथा प्रशंसनीय रहेगा। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वह उन्हें अनेकानेक वर्ष पर्यन्त स्वस्थ जीवन दे, जिससे वे जन-जीवन की अधिक उपयोगी सेवा कर सकें।

श्रीनगर

वेदव्यास
एम० ए०, एल-एल० बी०

ऋषि-भक्त, आर्य शिक्षा-शास्त्री

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का आकर्षक स्मरण चलचित्र के समान बहुत पीछे ले जाने के लिए बाधित करता है। सम्बन्धित अन्य चर्चाएँ भी लिखनी ही पड़ती हैं।

आर्यसमाज की पुरातन पीढ़ी के जो थोड़े से चमकदार महानुभाव शेष रह गये हैं शास्त्रीजी उन कतिपय रत्नों में से एक हैं। उनके चरित्र का यशोकीर्तन व सम्मान ऋषि दयानन्द के अनुयायियों को उत्साहित करेगा और मार्ग-दर्शन करायेगा।

सन् १९२१ और २२ की बात है, शुद्धि का आन्दोलन चल रहा था। मलकानों की शुद्धि हो रही थी। स्वामी श्रद्धानन्दजी शुद्धि सभा के प्रधान थे। शुद्धि-आन्दोलन के प्राण ठाकुर माधवसिंहजी (शास्त्रीजी के पिता) शुद्धि सभा के महामंत्री थे, जिनका केन्द्र आगरा था। श्रद्धानन्द जी के निजी सचिव होने के कारण मेरा शुद्धि-सभा से सम्बन्ध रहता था। शुद्धि कार्य की प्रगति के बारे में ठाकुर माधवसिंहजी प्रायः देहली आते-जाते थे। उनके निवास और आतिथ्य की व्यवस्था मेरे ऊपर रखी गयी थी। ठाकुर साहब मूर्तिमान आर्य पुरुष थे। खद्दर की मोटी धोती, खद्दर का कुर्ता और खद्दर की ही पगड़ी, हाथ में डंडा—विशुद्ध ग्रामवासी प्रतीत होते थे। ठाकुर साहब आर्य सदाचार और आर्य विचारों के मानने वाले थे। श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ने भी आर्य सदाचार, माधुर्य, सौम्यता, सरलता और कर्तव्यनिष्ठा अपने पिताजी से ही विरासत में प्राप्त की है।

उस समय बिहारीपुर, बरेली का आर्यसमाज, प्रान्त की आर्यसमाज के कार्य का केन्द्र हो उठा था। मेरी वहाँ पर ननसाल थी। वहाँ मेरा श्री शास्त्रीजी की सास माता लक्ष्मीदेवीजी से सम्पर्क हुआ। वे मुझे पुत्रवत् स्नेह करने लगीं और इस प्रकार पारिवारिक प्रकार का सम्बन्ध हो गया। वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रचार की रक्षा की माताजी को प्रचण्ड लगन थी। उनका विश्वास था कि आर्य संस्कृति और आर्य धर्म के प्रचार का मुख्य मौलिक आधार आर्य देवियों को

आर्य धर्म में दीक्षित करना है। आर्यसमाज के दूरदर्शी नेताओं का भी यही विचार था। इसीलिए कन्या महाविद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल देहली (देहरादून) तथा कन्या गुरुकुल हाथरस आदि अनेक गुरुकुल शिक्षा-स्थलों तथा कन्या विद्यालयों का उद्भव हुआ। माता लक्ष्मीदेवीजी ने जिस कठिन तपस्या व लगन से बहुत विरोधों के होने पर भी कन्या गुरुकुल का संचालन किया, वह अनुकरणीय है। अब तो जंगल में मंगल हो गया है। उन्हीं की तपस्या के आदर्श से कुल फल-फूल रहा है। इस संस्था के उत्तरोत्तर प्रगति होने का कारण यह है कि उसे श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री व उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री का संरक्षण प्राप्त हुआ।

सन् १९३५ में वे आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान निर्वाचित हुए। वे मुझे अपने साथ सभा में ले गये जहाँ मैं उपमंत्री तथा मंत्री आदि का कार्य निरन्तर १५-१६ वर्ष तक करता रहा। श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रमुख संचालक अधिकारियों में से रहे हैं। मेरा भी आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश से लगभग १५-१६ वर्ष से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि शास्त्रीजी सभा के उन कतिपयेक प्रमुख संचालकों में समझे जाते थे, जिनकी सम्मति आदर के साथ सुनी और मानी जाती थी। सभा का यह काल स्वर्णकाल कहा जाता है। श्री शास्त्रीजी लखनऊ के डी० ए० वी० कालेज के प्रिन्सिपल थे। सभा के कार्य से कठिन समस्या उपस्थित होने पर परामर्श के लिए उनसे मिलना होता था। उनकी समन्वयात्मक दृष्टि से समस्या का समाधान हो जाता था। सन् १९३७ में सभा की स्वर्ण जयन्ती मेरठ में मनाने का निश्चय हुआ। उसके लिए एक ऐसे व्यक्ति की तलाश थी जो कर्मठ हो, उत्साही हो और अपने चातुर्यपूर्ण मधुर स्वभाव से सबको साथ लेकर स्वर्ण जयन्ती का संचालन कर सके। इसके लिए सर्वसम्मति से शास्त्रीजी को चुना गया। जयन्ती के अवसर पर भी कतिपयेक प्रमुख आर्य पुरुषों का सभा संचालन के सम्बन्ध में तीव्र विरोध था। ऐसी दशा में शास्त्रीजी जैसे अनुभवी और मधुर स्वभाव वाले आर्यनेता का ही कार्य था कि जिससे स्वर्ण जयन्ती पूर्ण रूप से सफल हो सकी। मथुरा शताब्दी के बाद मेरठ के जुलूस की शान आज भी याद आती है।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का प्रबन्ध व संचालन आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा होता है। पं० इन्द्रजी और महाशय कृष्णजी मंत्री के बुलाने पर मैं गुरुकुल कांगड़ी के प्रबन्धक व प्रशासक पद पर नियुक्त किया गया। सन् '५२ से इस पद पर लगभग २० वर्ष कार्य करता रहा। पं० इन्द्रजी और पं० सत्यव्रतजी के बाद पंजाब की प्रतिनिधि सभा गुरुकुल के कार्य देखने लगी। पं० सत्यव्रतजी के उपकुलपति पद की कार्यकाल-समाप्ति के बाद किसे उपकुलपति पद पर नियुक्त किया जाये? यह प्रश्न उपस्थित था। श्री रघुवीरसिंह जी शास्त्री सभा के मंत्री थे और श्री रामनाथजी भल्ला वस्तुतः कार्यवाहक मंत्री थे। इन्होंने मुझे देहली में बुलाकर मालूम किया कि यदि श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्रीजी को गुरुकुल का उपकुलपति नियत किया जाये तो क्या मेरा पूर्ण सहयोग उन्हें मिलेगा? श्री शास्त्रीजी के प्रति हम सबका स्नेह, आदर और आत्मीयता का भाव तो था ही, साथ ही इस उत्तरदायित्वपूर्ण कर्तव्य को निभाने में उनका सहयोग करने की भावना भी थी। सभा ने श्री शास्त्री को उपकुलपति बना दिया। संस्था के दुर्भाग्यवश गुरुकुल में स्नातक और स्नातकेतर की एक विषैली दुर्भावना उत्पन्न हो गयी थी। विरोधियों ने अपनी एक पृथक विद्या-सभा बना ली। सभा में मुकदमेबाजी शुरू हो गयी।

गुरुकुल कांगड़ी का कार्य रुक गया। मुकदमे के कारण सभा और गुरुकुल का लगभग २०,००,०००/- रुपया बैंकों में रुक गया। ऐसे संकट के समय में श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, उपकुलपति ने जिस मधुर स्वभाव, कौशल और धैर्य से कार्य किया और गुरुकुल को एक उत्कृष्ट श्रेणी का विश्वविद्यालय बनाने का जो प्रयत्न किया, वह प्रशंसनीय है। गुरुकुल का उपाध्याय वर्ग और कर्मचारी उनके संचालन से प्रभावित थे। वे नियमपूर्वक शिक्षा तथा प्रबन्ध विभाग का निरीक्षण करते और विशेषकर गुरुकुलीय आश्रम व्यवस्था को गुरुकुल प्रणाली के अनुसार आदर्श बनाने की ओर विशेष ध्यान देते थे। गुरुकुल की शिक्षा की प्रगति में स्नातकोत्तर एम० एस-सी० का साइंस कालेज उनकी ही उमंग और प्रयत्नों का फल है।

गुरुकुल को इस संकट काल में से निकाल सकने की दृष्टि से ही श्री शास्त्रीजी ने स्वयं ही गुरुकुल से त्याग-पत्र दे दिया। दुर्भाग्यपूर्ण विषैली मनोभावना का फल अब तक गुरुकुल भुगत रहा है। इस अनीति का प्रायश्चित व सुधार कभी हो सकेगा कि नहीं ?

उत्तर प्रदेश में पाँच-छः सौ स्कूल, कालेज आदि शिक्षा-संस्थाएँ आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा संचालित हैं। उनमें प्रायः विवाद और झगड़े रहते हैं। कहीं-कहीं मुकदमेबाजी भी रहती है। इन झगड़ों को निपटाने के लिए सभा ने एक पृथक विद्यार्य सभा का निर्माण किया और शिक्षा सम्बन्धी समस्याओं और विवादों को निष्पक्षता तथा सौहार्द से सुलझा देने के विचार से श्री शास्त्रीजी को प्रधान नियत किया। इस स्थान के लिए श्री शास्त्रीजी से अधिक अनुभवी और उपयोगी शिक्षा-शास्त्री, कुशल समन्वयवादी, माधुर्य स्वभाव का सावधान व्यक्ति और कौन होता जो अब भी विद्यार्य सभा के प्रधान पद से कार्य निभा रहे हैं।

श्री शास्त्रीजी द्वारा प्रदत्त शिक्षा-दीक्षा से प्रभावित हजारों ग्रेजुएट ऋषि दयानन्द का सन्देश प्रसारित करने में सहायक हैं। ऋषि दयानन्द के सन्देशवाहक, पुरानी पीढ़ी के गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली तथा वर्तमान शिक्षा के मर्मज्ञ शिक्षा-शास्त्री, गम्भीर विचारक श्री शास्त्रीजी को सम्मानित कर आर्यसमाज न केवल स्वयं को सम्मानित कर रहा है अपितु नवयुवकों को भी इससे प्रेरणा मिलेगी। मैं श्री शास्त्रीजी की दीर्घायु की मंगलकामना करता हूँ।

धर्मपाल विद्यालंकार

भूतपूर्व सहायक मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

हर्षानुभूति

अभिनंदन ग्रंथों के निकालने की परम्परा आवश्यक और उपयोगी है। मैं इस प्रयास का स्वागत करता हूँ।

प्रिंसिपल श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के पिता ठाकुर माधवसिंहजी एक निष्ठावान् गुरु-कुल प्रेमी आर्यसमाजी थे। वे प्रतिवर्ष गुरुकुल वृन्दावन के वार्षिकोत्सव पर एक-दो हजार रुपये

आगरा से चन्दा इकट्ठा करके गुरुकुल के लिए दान लेकर उपस्थित होते थे। इसलिए श्री महेन्द्रप्रतापजी को भी उन्होंने गुरुकुल वृन्दावन में ही प्रविष्ट किया।

उस समय मैं भी गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन में ही विद्याध्ययन करता था। अपने शान्त, सौम्य, स्नेहशील स्वभाव के कारण श्री महेन्द्रप्रतापजी हम सबके स्नेहभाजन रहे। परिश्रमी व कुशाग्र बुद्धि के होने कारण वे गुरुजनों एवं अधिकारियों के भी प्रिय रहे।

तदनन्तर गुरुकुल शिक्षा पद्धति एवं कालेज शिक्षा पद्धति में दीक्षित होकर शास्त्रीजी ने उच्च पदों पर आसीन रहते हुए, आर्य शिक्षा-जगत् की जो महनीय सेवा की, शिक्षा में एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है जिसमें गुरुकुल शिक्षा एवं कालेज शिक्षा दोनों के ही गुणों का समावेश है, उसके लिए शिक्षा-जगत् सदैव उनका ऋणी रहेगा।

मैं अपने सहपाठी एवं सामाजिक क्षेत्र में सहयोगी बन्धु आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के अभिनंदन में अपार हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। शास्त्रीजी आर्यसमाज में सदैव अविस्मरणीय रहेंगे।

भूतपूर्व उपकुलपति, आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

बृहस्पति आचार्य
वेद-शिरोमणि, एम० ए०

एक अंतरंग परिचय

मुंशी नारायणप्रसादजी (महात्मा नारायण स्वामीजी) जब गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे, उनके आठ वर्ष के कार्यकाल में गुरुकुल, वृन्दावन ने जो ख्याति अर्जित की उसे देखते हुए यह कहना असंगत न होगा कि वह काल गुरुकुल के जीवन में स्वर्ण युग था। गुरुकुल शिक्षा-पद्धति के जिस आदर्श की हम कल्पना कर सकते हैं वह आदर्श उस स्वर्ण युग में वृन्दावन गुरुकुल में सर्वत्र लक्षित होता था। चरित्र-निर्माण, शिक्षास्तर, स्वास्थ्य, व्यायाम, नियमित जीवन, उच्च विचार आदि की दृष्टि से गुरुकुल उस समय भारत का एक आदर्श शिक्षा-केन्द्र बन गया था। तभी अध्यापक पद पर वहाँ मेरी नियुक्ति हुई। तत्कालीन ब्रह्मचारियों में द्विजेन्द्रनाथ, धर्मेन्द्रनाथ, शंकरदेव, बृहस्पति विद्याधर, रमेशचन्द्र, महेन्द्रप्रताप, विद्याभूषण आदि अनेक मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र थे, जिन्होंने स्नातक होने के बाद अपने-अपने क्षेत्रों में अच्छी ख्याति अर्जित की। इन विद्यार्थियों में शांत और सौम्य प्रकृति के ब्रह्मचारी महेन्द्रनाथ भी थे, जो बाद में महेन्द्रप्रताप नाम से प्रसिद्ध हुए।

मेरा सौभाग्य था कि मैं उस समय सभी कक्षाओं को पढ़ाता था और सभी विद्यार्थियों से मेरा सम्पर्क था। धर्मेन्द्रनाथ अत्यन्त प्रखर बुद्धि के विद्यार्थी थे और उनकी जिज्ञासा-वृत्ति सभी अध्यापकों को चकित करने वाली थी। महेन्द्रनाथ भी उनके साथ रहते थे, यद्यपि कक्षा की दृष्टि से ये संभवतः उस समय पाँचवीं-छठी कक्षा में थे। महेन्द्रनाथ से मेरा परिचय आकस्मिक

रूप में हुआ। एक दिन उनके मामा नन्दकिशोरजी उनसे मिलने आये, मैं नन्दकिशोरजी को जानता था। उन्हें मेरी निकट रिश्ते की बहिन ब्याही थी। इस प्रकार वे मेरे बहनोई थे। उनके द्वारा मुझे महेन्द्रप्रताप के परिवार का परिचय मिला और मेरी घनिष्ठता बढ़ती गयी। महेन्द्रप्रताप के पिता ठाकुर माधवसिंह जी के नाम से तो मैं परिचित था, किन्तु कभी मिलने का अवसर नहीं मिला था। जब नन्दकिशोरजी द्वारा पारिवारिक सम्बन्ध-सूत्र जुड़ा तब ठाकुर साहब से भी उसी स्तर पर घनिष्ठता बढ़ती गयी। उसके बाद जब कभी ठाकुर साहब अपने पुत्र महेन्द्रप्रताप से मिलने गुरुकुल आते, मेरे पास ही ठहरते और पारिवारिक स्नेह-सम्बन्ध मान-कर मुझे आत्मीय के रूप में ही देखते। ठाकुर माधवसिंहजी बड़े दृढ़ आर्यसमाजी, निष्ठावान् कार्यकर्ता, निःस्वार्थ सेवक एवं परम उदार स्वभाव के महापुरुष थे। आर्यसमाज के सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के लिए उन दिनों जिस लगन से वे कार्य करते थे, वह अनुकरणीय है। शुद्धि संगठन को उन्हीं के प्रयत्नों से सुदृढ़ आधार मिला था। जात-पाँत की संकीर्ण सीमाओं से ऊपर उठकर गुण, कर्म, स्वभाव से मानव की परख करना और सम्मान देना उनका स्वभाव बन गया था। इन गुणों की छाप महेन्द्रप्रतापजी के ऊपर भी शैशव से ही पड़ने लगी थी।

अपने पिताजी के शील-स्वभाव का जैसा प्रभाव महेन्द्रप्रतापजी पर बचपन में मैंने देखा वह भी उल्लेखनीय है। मैं इस संदर्भ में केवल एक छोटी-सी बात का ही उल्लेख करना चाहता हूँ। महेन्द्रप्रताप गुरुकुल के नियमों के पालन में अटूट आस्था रखने वाले ब्रह्मचारियों में गिने जाते थे। नियम-पालन में उनकी दृढ़ आस्था थी। पठन-पाठन के सिवा किसी अन्य कार्य में उनकी रुचि नहीं थी। जो कार्य जिस समय और जिस स्थान पर जिस विधि से करना है, उसे उसी तरह करना उनका स्वभाव था।

गुरुकुल की सीमाओं से बाहर क्या है, यह वे जानते ही न थे। इन्हीं दिनों मुझे उनके पिताजी का एक पत्र मिला, जिसमें लिखा था—'महेन्द्र की माताजी की तबीयत खराब है। उसे छुट्टी दिलवाकर आगरा भेज दीजिये।' मैंने महेन्द्रप्रताप को जब यह समाचार दिया तो उन्होंने अपने सरल, सीधे और भोले स्वभाव के अनुसार उत्तर दिया कि मैं तो गुरुकुल की सीमा के आगे का रास्ता ही नहीं जानता। गुरुकुल के बाहर जमुना तक ही गया हूँ। स्टेशन कैसे जा सकूँगा? इस उत्तर से महेन्द्रप्रताप की नियम-पालन-निष्ठा तो स्पष्ट है ही, स्वभाव की सरलता भी इसमें झलकती है।

मैं स्वयं महेन्द्रप्रताप को स्टेशन ले गया और टिकट दिलाकर गाड़ी में बिठा आया। आगरा पहुँचने पर मुझे पत्र से उनके सकुशल पहुँचने की सूचना मिल गयी, तब मैं आश्वस्त हुआ। गुरुकुल में पढ़ते समय मैंने महेन्द्रप्रताप को कभी किसी से लड़ते-झगड़ते, समय नष्ट करते, नियम-विरुद्ध कार्य करते नहीं देखा। इनके शांत-सौम्य स्वभाव के पीछे निश्चय ही इनके धर्मनिष्ठ पिता की प्रेरणा रही है।

सन् १९१८ में पारिवारिक परिस्थितियों के कारण महेन्द्रप्रताप गुरुकुल छोड़कर आगरा अपने पिताजी के पास चले गये। बाहर जाने के बाद कुछ समय तक मुझे उनकी गति-विधि का पता नहीं चल सका, किन्तु जब उन्होंने अपनी शिक्षा पूरी की और शास्त्री तथा एम० ए० आदि उपाधियाँ प्राप्त करके अध्यापन तथा समाज सेवा का कार्य प्रारंभ किया मैं पुनः उनके निकट हो गया। वे जब कभी गुरुकुल आते मुझे उसी श्रद्धाभाव से मिलते और गुरु का सम्मान देते। महेन्द्रप्रतापजी तो मेरे यों भी निकट थे। सम्बन्ध-सूत्र भी था, किन्तु जिस रूप में

वे आर्यसमाज के वरिष्ठ नेता के रूप में उभर रहे थे वह मेरे लिए अत्यधिक गौरव और गर्व का विषय था। मैं उन्हें अपना योग्य शिष्य, मित्र, सम्बन्धी, स्नेही सब-कुछ मानकर भी आर्य-नेता का सम्मान देता रहा हूँ। गुरुकुल की शिक्षा निश्चय ही अपने विद्यार्थियों पर एक प्रकार की आस्था-निष्ठा की छाप छोड़ती है। सच्चरित्रता, विद्वता, वैदिक संस्कार तो यहाँ सहज ही प्राप्त होते हैं पर व्यावहारिक जगत् की कार्यकुशलता प्रायः इनमें नहीं होती, किन्तु मुझे यह कहते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव होता है कि व्यावहारिक जगत् की कार्य-कुशलता और क्षमता महेन्द्रप्रतापजी में जिस सीमा तक है वैसी बहुत कम लोगों में दिखायी देती है। यह क्षमता उन्हें समाज-सेवा से ही मिली है। संस्थाओं का कुशलतापूर्वक संचालन, प्रशासन, व्यवस्था आदि में जैसी पटुता आज महेन्द्रप्रतापजी में है वह किसी भी प्रशासक के लिए अनुकरणीय हो सकती है।

कई संस्थाओं को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के बाद इस समय महेन्द्रप्रतापजी कन्या गुरुकुल हाथरस के कुलपति हैं। महेन्द्रप्रतापजी और कन्या गुरुकुल हाथरस दोनों को मैंने उनके शैशव काल से देखा-परखा है। व्यक्ति रूप में महेन्द्रप्रतापजी और संस्था रूप में कन्या गुरुकुल दोनों को मैं सफल और कृतकार्य मानता हूँ। व्यक्ति जब अपने उत्कर्ष के चरम बिन्दु पर पहुँचता है, संस्था बन जाता है...शास्त्रीजी आज आर्यसमाज में और शिक्षा-जगत् में संस्था का रूप धारण कर चुके हैं। कन्या गुरुकुल को उन्होंने जो रूप पिछले बीस वर्षों में दिया है वह केवल स्तुत्य ही नहीं संस्था संचालकों के लिए अनुकरणीय भी है। मैं महेन्द्रप्रतापजी के संस्मरणों में श्रीमती अक्षयकुमारीजी को भी समवेत रूप में याद करता हूँ और मेरी धारणा है कि शास्त्रीजी के निर्माण में उनके स्वर्गीय पिता माधवसिंहजी का जितना योगदान है उतना ही शास्त्रीजी के क्रिया-कलापों की सफलता में अक्षयजी का। वाक्-अर्थ की भाँति संपृक्त ये दोनों व्यक्ति आर्य-समाज के गौरव हैं, देश की विभूति हैं और हमारे स्नेहभाजन हैं। मैं इनके दीर्घायुष्य और उत्तरोत्तर उत्कर्ष की मंगल कामना करता हूँ।

जोधसिंह वर्मा

अध्यापक, गुरुकुल विश्वविद्यालय
वृन्दावन

गूँगे का गुड़

लगभग चालीस साल से अधिक समय बीत गया, जब रिहायश के इरादे से देहरादून पहुँचा था।

उस नगर से सर्वथा अपरिचित न होने पर भी अनायास निवास योग्य मकान मिलने में कुछ असुविधा हुई। थोड़ा समय आर्यसमाज मन्दिर में बिताने की सुविधा प्राप्त हो सकी। उन दिनों वहाँ समाज के मुख्य कार्यकताओं में एक मास्टर हुलास वर्मा रहते थे, जिनका निवास आर्यसमाज मन्दिर में ही था। मेरी छात्रावस्था के समय वे गुरुकुल ज्वालापुर में छोटी श्रेणियों को पढ़ाने के लिए अनेक वर्षों तक गणित आदि विषयों के अध्यापक रह चुके थे। उनके सहयोग से सुगमता-

पूर्वक एक कमरा निवास के लिए आर्यसमाज मन्दिर में मिल गया। तब जीवन-निर्वाह का साधन आयुर्वैदिक चिकित्सा था, मास्टरजी के प्रयत्न से मन्दिर के समीप ही मोती बाजार में एक दूकान का भी प्रबन्ध हो गया।

समय अनुकूलता के साथ निकलता रहा। जल्दी ही समाज से सम्बद्ध एवं असम्बद्ध नये-पुराने व्यक्तियों के साथ परिचय का अवसर मिला। ऐसे व्यक्तियों में एक श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री थे। उससे पहले उनसे कभी कहीं साक्षात्कार हुआ हो, ऐसा मुझे याद नहीं आ रहा; पर यह भी बात नहीं कि तब तक उनसे सर्वथा अपरिचित था। शास्त्रीजी के पिता ठा०माधवसिंहजी के दर्शन करने का एकाधिक बार अवसर प्राप्त कर चुका था। शास्त्रीजी के विषय में भी सामाजिक चर्चाओं के अवसर पर बहुत-सी बातें सुनने को मिलती थीं। नाम से पूर्ण परिचित था।

उस समय ठा० माधवसिंहजी जीती-जागती आर्यसमाज थे। आर्यसमाज के क्षितिज पर एक चमकता सितारा और था, जो ठा० माधवसिंहजी के छोटे-बड़े साथियों में से था। उनका नाम याद नहीं आ रहा है; दो दिन से अपनी स्मृति पर जोर दे रहा हूँ। आज (६-५-७७ में) प्रातः चार बजे जब यह प्रसंग आगे सरकाने के लिए तैयार होकर बैठा, तो अचानक वह नाम स्मृति में उभरा, कदाचित वह नाम ठा० हुकुमसिंह या चौधरी हुकुमसिंह रहा हो। अब भी मन सन्देह की दोला में झूल रहा है, पर यह निश्चय है, उनके गाँव का नाम 'आंगई' कहा जाता था, जो अब भी होगा। यह संभवतः आगरा जिले में आता है, जो भाग मथुरा जिले से मिलता है।

मथुरा के राजा महेन्द्रप्रतापजी समाज व राजनीति के क्षेत्र में उज्ज्वल व मूर्द्धन्य इकाई रहे हैं। यहाँ तीन बुजुर्गों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनके मस्तिष्क व हृदय महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सामाजिक एवं राजनैतिक मान्यताओं से न केवल प्रभावित थे, प्रत्युत उन भावनाओं से पूर्णरूप में ओत-प्रोत थे। पहले दो महापुरुषों का समस्त जीवन कर्मठतापूर्वक सामाजिक सेवा में व्यतीत हुआ। कदाचित आंगई के ठाकुर साहब कुछ समय तक आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के प्रधान पद पर भी सेवा करते रहे, ऐसा स्मरण आ रहा है। उनका सीधा सम्बन्ध आर्यसमाज के शिक्षा-केन्द्रों से भी रहा, जिनमें ज्वालापुर-गुरुकुल और वृन्दावन के गुरुकुल के सम्बन्ध का स्मरण है। इन्हीं प्रसंगों से उन महानुभावों के दर्शन व संपर्क का अवसर यदा-कदा प्राप्त होता रहा। अब से बहुत पहले वे दिवंगत हो चुके हैं; पर उनकी ज्योति-रेखा आज भी एक रूप में विद्यमान है।

तीसरे महापुरुष, जो दोनों महानुभावों के युवक साथियों में कहे जाने चाहिए, जग-ज्ञात हैं। इनका समस्त जीवन कण्टकाकीर्ण राजनीति में बीता, पर इन्होंने अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं का कभी किसी से सौदा नहीं किया। इनका प्रारम्भिक जीवन इतना तेजोमय व आकर्षक था, कि उससे प्रभावित होकर कदाचित ठा० माधवसिंह ने अपने पुत्र को वही नाम दिया। पहला नाम जैसे राजनीति में उलझा रहा; वैसे दूसरे नाम ने कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर सामाजिक संघटनों को निभाते हुए शिक्षा-कार्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया।

मेरे देहरादून पहुँचने के समय श्री शास्त्रीजी स्थानीय डी०ए०वी० कॉलेज में प्राध्यापक पद पर कार्य कर रहे थे। छात्रावास के मुख्याधिष्ठाता भी थे। छात्रावास के एक भाग की प्रथम मंजिल पर उनका निवास था। उन दिनों मेरे जीवन-निर्वाह का साधन आयुर्वैदिक चिकित्सा कार्य था। अब तक मुझे अपने कार्य के लिए देहरादून के मुख्य बाजार 'पल्टन बाजार'

में दुकान मिल चुकी थी, उसी में पीछे की ओर निवास के लिए उपयुक्त भाग था; अब सपरिवार वहीं मेरा निवास था।

शास्त्रीजी के साथ वहाँ के प्रथम सम्मिलन का अवसर व प्रसंग अब विस्मृति के गर्त्त में चला गया है; बस इतना स्मरण है, कि एक-दूसरे का इधर-उधर जाना-आना वर्षों तक निरन्तर चालू रहा, जब तक दोनों में से किसी एक का देहरादून-निवास छूट न गया। देहरादून में पहली मुलाकात पर शास्त्रीजी ने मुझे 'ठाकुर साहब' कहकर संबोधन किया और आज तक वे मुझे इसी नाम से पुकारते हैं। कारण वे जानें, पर मुझे प्रसन्नता ही होती है। केवल एकमात्र शास्त्रीजी हैं, जिन्होंने मेरे लिए इस नाम को जगाया हुआ है, यह मेरे प्रति उनकी आत्मीयता का ही द्योतक है।

देहरादून रहते हुए प्रातः से सायं किसी भी समय शास्त्रीजी के पास कॉलेज के छात्रा-वास-स्थित उनके निवास पर जाता रहा हूँ। उनकी दिनचर्या को देखा-समझा है, उनके वास का समस्त परिवेश जैसे आज भी दिखायी दे रहा है। खुली छत का विस्तृत आँगन, पूरब मुँहाना, खुला बराँडा, उसके उत्तर की ओर के भाग में एक तख्त बिछा है। एक दिन अधिक सवेरे पहुँचा, तो देखा—शास्त्रीजी सपरिवार तख्त पर बैठे अग्निहोत्र कर रहे हैं, यह उनका दैनिक नियम रहा है, अब भी होगा। वह तख्त उनका यज्ञमण्डप था, उस वातावरण की पवित्रता का ध्यान करता हूँ, तो उस व्यक्ति की अगाध धार्मिक निष्ठा के प्रति अनायास नत-मस्तक हो जाता हूँ। अनेक लोगों के मुख से उनके अपने धार्मिक कार्यकलापों का बखान करते हुए बहुत बार सुनता रहा हूँ, चाहे कुछ करते हों या न करते हों; पर इस धर्मनिष्ठ व्यक्ति के मुख से अपने विषय में इस प्रकार का कभी संकेत भी नहीं पा सका हूँ। यह निरभिमान निर्लेप जीवन का प्रतीक है। 'अहम्' की भावना को इस व्यक्ति में उभरते मैंने कभी नहीं देखा।

एक दिन तीसरे पहर के लगभग शास्त्रीजी के निवास पर पहुँचा, तो क्या देखता हूँ कि एक व्यक्ति आसन बिछाये बैठा है, और आगे डेस्क पर रखी तख्ती से क्लिप द्वारा बँधे कागज पर लिख रहा है, और शास्त्रीजी बोलकर उसे लिखा रहे हैं। स्वागत आदि औपचारिकता के अनन्तर यह निवेदन करता हुआ मैं चुपचाप बैठ गया, कि आप अपना कार्य पूरा कर लें। शास्त्रीजी पुनः अपने कार्य में संलग्न हो गये। प्रक्रिया से समझ सका—ये कतिपय आगत पत्रों के उत्तर लिखवा रहे हैं। किसी पत्र के उत्तर में व्यवस्था का निर्देश, किसी में सीधा आदेश, किसी में कुछ सुझाव थे। कार्य की समाप्ति पर पूछने से ज्ञात हुआ, शास्त्रीजी यहाँ कॉलेज के अपने व्यस्त कार्यक्रम के साथ गुरुकुल वृन्दावन के उत्तरदायित्वपूर्ण प्रस्तोता पद के कार्यभार को भी सफलतापूर्वक सँभाले हुए हैं।

पत्र-लेखक को सब डाक सँभालकर और यह कहकर कि इसे अभी जाकर पोस्ट कर दो, हमें आपसी बात करते पाँच-चार मिनट ही बीते थे कि जीने से कई व्यक्तियों के आपस में कुछ बात करते पदचाप सुनायी दिये। हमें बातचीत करते जानकर वे लोग कुछ ठिठकते हुए-से प्रतीत हुए; पदचाप शिथिल हो गया, आवाज भी जो अभी तक साफ सुनायी पड़ रही थी खुसर-पुसर में बदल गयी। शास्त्रीजी ने तब कुछ ऊँची आवाज में कहा, "कौन हैं, भाई ! अन्दर आ जाओ, वहीं क्यों रुक गये ?" आज्ञा पाकर मानो वे लोग आगे बढ़े। क्या देखता हूँ, कि चार-पाँच नव-युवक—जो अपनी किशोर अवस्था को पकड़े हुए युवावस्था की ओर कदम बढ़ा रहे हैं—दोनों हाथ जोड़ आदरभाव प्रकट करते सामने आकर खड़े हो गये हैं। तब शास्त्रीजी ने, जैसा उनका

स्वभाव है, कुछ मुसकराते हुए, एक-आध शब्द को दुहराते हुए पूछा, 'क्या बात है ?'' लड़कों ने अपने झगड़े की बात सुनाई । इस समय मुझे बिल्कुल स्मरण नहीं है कि वह कैसे झगड़े की बात थी, पर उस समय की शास्त्रीजी के द्वारा उन बालकों को समझाने की पद्धति और शास्त्रीजी के मुख की मुद्रा उच्चरित होते हुए शब्दों की लहरी का न केवल स्मरण है, प्रत्युत इस समय लिखते हुए उस सबको बिल्कुल अपने सामने अनुभव-जैसा कर रहा हूँ । दो-तीन मिनट से अधिक न लगा होगा, सब लड़के प्रसन्न होकर गुरुवचनों की स्वीकृति के साथ आदरपूर्वक नत-मस्तक हो हाथ जोड़ते हुए वापस चले गये ।

शास्त्रीजी के उस समझाने में यह बड़ी विशेषता थी कि उनके चेहरे पर रोष का नितान्त भी चिह्न तक न था, मुसकराते हुए सीधे शब्दों में उनकी झगड़े की बात को बे-असर कर दिया । शास्त्रीजी से पूछने पर मालूम हुआ कि यह समय उन्होंने छात्रावास के लड़कों की शिकायत सुनने का निर्धारित किया हुआ है । उनके सब कार्यक्रम नियमित व सुव्यवस्थित चलते रहे हैं । यही कारण है कि वे एक ही कार्य-काल में अनेक संस्थाओं के संचालन व शैक्षिक कार्यों में सफल सहयोग देने के लिए सक्षम रहे हैं ।

उस दिन जब उठकर चलने लगा—यह कहते हुए कि आपके नियमित कार्यों में यह ढीठ कभी विघ्न करने आ जाता है, तो तुरन्त बोले—अरे ठाकुर साहब ! क्या कहते हो ! आपके लिए समय की कोई रोक नहीं है, आप आ जाते हैं तो इस रुटीन से कुछ राहत मिलती है ।

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के जीवन की विशेषताओं का कोई बखान नहीं कर रहा । उन्होंने स्वयं कभी अपनी विशेषताओं को जबान पर लाने का खयाल भी किया हो, ऐसा एहसास भी मुझे नहीं होता । प्रायः ऐसे अनेक कलियुगी नेता आप लोगों के जीवन में भी टकराए होंगे, जो आत्म-प्रशंसा (आत्म-वंचना ?) के प्रदर्शन में ही जीवन की सार्थकता समझते हैं । पर यह शास्त्री अनोखा व्यक्ति है, जो अपने विषय में सर्वदा सर्वथा अज्ञानी बना रहता है । बूढ़े भक्तों की एक जग-प्रसिद्ध कहावत की छाया में ये उद्गार इस व्यक्ति के लिए ठीक फिट होते हैं—

गूंगे का गुड़ यह विद्वान, बाहर-भीतर एक समान ।

अन्दर-बाहर की बे-दाग स्वच्छता का यह एक नमूना है ।

बिरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश

उदयवीर शास्त्री
वेदाचार्य

कुशल प्रशासक

आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी एक महान् शिक्षाविद्, प्रख्यात विद्वान्, मनीषी एवं कुशल प्रशासक हैं । मेरे सदैव उनसे स्नेह-संबंध रहे हैं ।

जिस समय शास्त्रीजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के कुलपति, तदनन्तर विजिटर

हुए, तब मेरे आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का मंत्री तथा पुनः प्रधान होने के नाते हम परस्पर सहयोगी रहे। शास्त्रीजी की कार्यकुशलता को देखकर मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। यदि वे कुछ समय और वहाँ रह जाते तो आज गुरुकुल कांगड़ी का स्वरूप कुछ और ही होता।

मैं विद्वर आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का हार्दिक अभिनंदन एवं शतायु होने की मंगलकामना करता हूँ।

भूतपूर्व कुलाधिपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

जगदेवसिंह सिद्धान्ती, शास्त्री
तर्कवाचस्पति, संसद सदस्य

एक विलक्षण व्यक्तित्व

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि "आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री अभिनंदन ग्रंथ" के प्रकाशन का आयोजन किया जा रहा है। मुझे पूरी-पूरी आशा है कि यह ग्रंथ आचार्यजी के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करेगा।

मेरा शास्त्रीजी से पहला परिचय देहरादून में १९४२ में हुआ था। देहरादून में शास्त्री जी के लिए सभी वर्णों में श्रद्धा थी और समाज सेवा के अधिकांश प्रयासों में उनका हाथ रहता था। शास्त्रीजी के सौम्य व्यवहार एवं प्रसन्न मुद्रा से हम सभी प्रभावित थे।

दूसरी बार जो उन्होंने दिल्ली में प्रतिष्ठान की बागडोर हाथ में ली तो उसमें मुझे भी उसका सदस्य बनाया। कई बार उनसे भेंट हुई। विलक्षण बात यह थी कि जब भी वे आये या अकस्मात् उनसे भेंट हो गयी तो साक्षात्कार के पश्चात् ऐसा लगता कि जैसे किसी सुहावने दृश्य को देखकर निकला हूँ। शास्त्रीजी का व्यक्तित्व इतना आकर्षक है कि उनसे मिलने की इच्छा सदा बनी रहती है। यदि शास्त्रीजी देहरादून में न होकर दिल्ली में होते तो मुझे पूरा विश्वास है कि उनका कार्य-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँच जाता। मैं शास्त्रीजी का बड़ा सम्मान करता हूँ और मेरी कामना है कि शास्त्रीजी लम्बे समय तक हम सब के बीच रहकर समाज की सेवा करते रहें।

भूतपूर्व शिक्षा निदेशक, दिल्ली;
कुलपति, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर

भैरवदत्त भट्ट

आदर्श व्यक्तित्व

पंडित महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री से प्रारंभिक परिचय मेरा उस काल से हुआ जब उनका विवाह जाति-बंधन तोड़कर हमारे बरेली नगर में हुआ। इतने सुदीर्घ काल में ऐसा होना बहुत बड़ी बात थी। वह विवाह क्या था, एक महोत्सव था। उसमें बड़े-बड़े नेता पधारे थे। देवतास्वरूप भाई परमानन्दजी भी उसमें सम्मिलित होने आये थे।

पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का आर्यसमाज के क्षेत्र में बहुत बड़ा योगदान रहा है। हैदराबाद सत्याग्रह से लेकर सार्वदेशिक सभा द्वारा जितने सम्मेलन होते थे सबमें उनका प्रमुख हाथ रहता था। विषय निर्धारिणी समिति में तथा मंच पर बड़ी गंभीरता और योग्यता से संचालन करना उनका विशेष काम रहा।

काशी शास्त्रार्थ शताब्दी पर भी मंच का सारा उत्तरदायित्व उन पर ही रहा जो सफलतापूर्वक उन्होंने किया। वे ही शताब्दी समारोह के संयोजक थे।

जहाँ कहीं वे प्रिंसिपल पद पर रहे, शांति और योग्यतापूर्ण शैली से उन्होंने कार्य किया। इसी प्रकार शिक्षा बोर्ड आदि में भी ईमानदारी से कार्य वे करते रहे।

हमें वे सब युग याद हैं जबकि उन दिनों आर्य प्रतिनिधि सभा का प्रधान बनने के लिए जनता उनसे आग्रह करती थी, पर शिक्षा-विभाग में अत्यन्त संलग्न होने के कारण वे मना कर देते थे कि मेरे पास इतना समय नहीं जो मैं प्रधान पद के उत्तरदायित्व को निभा सकूँ और साथ ही यह कह देते थे कि जब मुझे अवकाश होगा, मैं स्वयं कह दूँगा कि अब मैं आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान का कार्य कर सकता हूँ।

माता लक्ष्मीदेवीजी ने बरेली से चलकर जिस कन्या गुरुकुल को हाथरस में चलाना आरम्भ किया, उनकी सुपुत्री बहिन अक्षयकुमारी और माता लक्ष्मीदेवीजी के दामाद पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ने आज उस गुरुकुल को विशाल रूप में खड़ा कर दिया है, जो भारत में एक आदर्श कन्या गुरुकुल है।

पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री जहाँ संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी के विद्वान हैं वहाँ आर्य-समाज के सिद्धांतों के भी पूर्ण ज्ञाता हैं तथा आर्यसमाज की सब गतिविधियों से पूर्ण परिचित हैं। अतएव उनके हाथ में जो भी आर्यसमाज का कार्य सौंपा जाता है उसको निर्दोष शैली से ठीक संपादन करते हैं।

आर्यसमाज में कार्यकर्ता बहुत हैं, पर आर्यसमाज की पुरानी सब ही गतिविधियों की पूरी जानकारी के साथ कार्य करना और उसकी क्षमता रखना विरलों में ही होती है। यह गुण पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री में देखा जाता है। इसीलिए आर्यसमाज के अंतिम नेता महात्मा नारायण स्वामीजी महाराज के पं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री सदा बहुत प्रिय और विश्वासपात्र रहे।

भगवान शास्त्रीजी को शतायु और भूयश्च शरदः शतात् करे जिससे आर्य जगत् को उनसे लाभ प्राप्त होता रहे।

वेद मंदिर, बरेली

विश्वश्रवा व्यास
एम० ए०, वेदाचार्य

धीर गंभीर शास्त्रीजी

आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है। उस समय श्री शास्त्रीजी डी०ए०वी० कालेज, लखनऊ के प्राचार्य थे। भव्य मूर्ति, हँसमुख स्वभाव और सदैव किसी भी सत्कार्य के लिए तत्पर आदरणीय शास्त्रीजी न केवल शिक्षा के क्षेत्र में वरन प्रत्येक क्षेत्र में अगुआ रहा करते थे। शास्त्रीजी के साथ ही उनकी जीवन-संगिनी श्रीमती अक्षयकुमारीजी ने भी मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। मृदुभाषी, मितभाषी, गंभीर, शांत किन्तु मन-प्राण से सेवारत श्री शास्त्रीजी, श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री के जीवन के वास्तविक प्रेरणा-स्रोत हैं, ऐसा आभास मुझे अनेकों बार हुआ।

समाजसेवी महिला होने के नाते बहिन अक्षयकुमारीजी लखनऊ के महिला आश्रम की मंत्रिणी थीं और मेरा भी संबंध उस संस्था से अत्यन्त घनिष्ठ था। उन्हीं दिनों की बात है, एक दिन लगभग रात्रि के आठ बजे बहिन अक्षयजी का टेलीफोन आया और उन्होंने मुझे तुरन्त ही महिला आश्रम में बुलाया। उनके स्नेह और घनिष्ठ संबंधों के कारण न जाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। मैं जैसे ही वहाँ पहुँची तो ज्ञात हुआ कि कुछ दिन पूर्व जिस दुखिनी पहाड़ी महिला को मेरे कहने पर उन्होंने आश्रम में आश्रय दिया था और जो पति द्वारा घर से मार-पीटकर निकाल दी गयी थी, उसके पति महोदय अक्षय बहिन के विरुद्ध उनकी पत्नी को बरबस रोक लेने तथा आभूषण लेकर भागने-भगाने के अपराध में अदालत तक ले जाने की धमकी दे रहे हैं। वस्तुतः पत्नी पति के अत्याचारों से तंग आ चुकी थी और उसे जिस बुरी तरह मारपीट कर पति ने जूलीकोट से रात को निकाल कर घर से बाहर कर दिया था, उस समय से वह स्त्री न जाने कैसे माँगती-खाती मुझ तक पहुँची। उसकी करुण कथा मुझे और श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री दोनों को ही द्रवित कर गयी थी। पत्नी के किसी प्रकार लखनऊ आकर आश्रय पा जाने की बात पति कैसे सहन कर सकता! अतः उसने यहाँ आकर झूठा मुकदमा बनाने की धमकी दी। 'होम करते हाथ जलते हैं'—इस भाव से इस समस्या का हल खोजने की बात हम दोनों कर ही रहे थे कि शास्त्रीजी ने अत्यन्त धैर्यपूर्वक गंभीरता से कहा, "होम तो करना ही है। हाथ जलेगा तो इलाज हो जायेगा।" उनका सदैव का कहने का लहजा कुछ ऐसा था कि हम लोग हँस पड़े और कुछ ऐसा जान पड़ा कि समस्या अत्यन्त सरल और छोटी-सी है। समस्या का हल तो निकल ही आया। मेरी वकील बहिन ने उपाय तो कर दिया, किन्तु बड़ी-से-बड़ी चिन्ता के समय भी श्री शास्त्रीजी की प्रत्युत्पन्न मति और सहज ढँग से साहस और धैर्य के साथ समस्या का सामना करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति अत्यन्त सराहनीय है। समय-समय पर उनकी ऐसी ही सरल एवं सरस उक्तियाँ जीवन में हमें शक्ति और साहस देती रहती हैं। आचार्य महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री एवं श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री दोनों ही सतत देश और समाज की सेवा में निरन्तर रत रहने के कारण प्रणम्य हैं।

(डॉ०) कंचनलता सब्बरवाल

प्राचार्या
महिला विद्यालय, लखनऊ

सहृदय शास्त्रीजी

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री हम सबके लिए अत्यन्त सहृदय रहे हैं। उनके सास-श्वसुर से भी हमारा अच्छा सम्बन्ध था, परन्तु देहरादून में आते ही इस युगल जोड़ी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया।

एक बार की एक घटना मेरे मानसपटल पर अंकित है। नवम्बर सन् चालीस में मैं अपने मायके में थी, मुझे एक तार मिला कि सेठजी (श्री सेठ रामकिशोरजी) को बुरी तरह पक्षाघात हुआ है। यह तार मेरे परिवार के डॉक्टर का था। मेरी बड़ी लड़की बनारस यूनिवर्सिटी में और छोटी इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ रही थी। सेठजी के पास केवल नौकर ही थे। मेरे लिए यह कितने कठिन परीक्षण का समय था।

मैं पहले देहली, फिर सहारनपुर और वहाँ से मोटरकार से ३-३० बजे रात्रि को कोठी पर पहुँची। मैंने आकर देखा कि सेठजी के पलंग के पास शास्त्रीजी कुर्सी पर बैठे हुए हैं, जबकि मेरा कोई सम्बन्धी भी वहाँ नहीं था। स्थिति जानने पर मुझे पता चला कि सेठजी के पक्षाघात होते ही रात्रि में ड्राइवर ने शास्त्रीजी को सूचित किया, तत्काल ही वे उसके साथ आ गये और सेठजी की सेवा में जुट गये तथा दो दिन से वे निरन्तर उन्हीं के पास हैं। यह सुनकर मुझे शास्त्रीजी में ही भगवान् के दर्शन हुए और लगा कि अब तक इन्हीं का प्रयास सेठजी को बचाये हुए था। इस प्रकार शास्त्रीजी की सहृदयता, करुणामय हृदय और मानवता का उज्जवल प्रकाश मुझे मिला। मेरे पति सेठ रामकिशोरजी शास्त्रीजी को अपना परम हितैषी और मित्र मानते थे। यद्यपि वे अपने स्वभाव के अनुसार कभी-कभी शास्त्रीजी से झगड़ भी पड़ते थे परन्तु फिर उन्हें मना लेते थे। शास्त्रीजी का ही प्रभाव था कि वे आर्यसमाज के अधिवेशनों में भी जाने लगे। जब कभी वे गलत कदम उठाते, शास्त्रीजी प्यार से समझाकर उन्हें उचित मार्ग पर ले आते थे। इस प्रकार हमारे परिवार की अनेक समस्याओं को सुलझाने में शास्त्रीजी का सहयोग रहा। जब तक वे देहरादून में रहे, मेरे तथा शास्त्रीजी के परिवार का बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। शास्त्रीजी के देहरादून छोड़कर लखनऊ जाते समय जो विदाई-समारोह आर्य-समाज में हुआ था, उसमें सेठजी ने शास्त्रीजी को अपना 'जीवन-रक्षक' कहकर उनकी अभ्यर्थना की थी। जब शास्त्रीजी को देहरादून के स्टेशन पर नर-नारियों की भीड़ विदाई देने आयी हुई थी तो उस भीड़ में ही मैंने सेठजी को शास्त्रीजी के गले लगकर रोते पाया। मेरा सारा ही परिवार शास्त्रीजी के सहयोग को भुला नहीं सकता।

शास्त्रीजी वस्तुतः अभिनंदनीय हैं। प्रभु उन्हें चिरायु करें, यही मंगलकामना है।

सत्यवती सेठानी

१७, इन्दर रोड, डालनवाला
देहरादून

प्रतिभाशाली होनहार सहपाठी

श्रीयुत महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को मैं तब से जानता हूँ जब वे और मैं गुरुकुल वृन्दावन में पढ़ते थे। तब गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता श्री नारायणप्रसादजी (महात्मा नारायणस्वामीजी) थे। उनके समय में गुरुकुल वस्तुतः प्राचीन पद्धति के अनुकूल एक आदर्श संस्था थी और सचमुच वे छात्र सौभाग्यशाली रहे जिन्होंने उनकी छत्रछाया में शिक्षा प्राप्त की। श्री महेन्द्रप्रतापजी की गणना तभी प्रतिभाशाली, होनहार छात्रों में थी। गुरुकुल छोड़ने के बाद उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त कर जिन शिक्षण-संस्थाओं में कार्य किया उन सभी संस्थाओं में उन्होंने अपने चरित्र, आदर्शवादिता और उत्साहमय कर्मठ जीवन की छाप छोड़ी। विद्यार्थियों से उनका स्नेहपूर्ण सम्बन्ध रहा किन्तु उन्होंने अनुशासन की परिपाटी को भी कायम रखा। जीवन में उन्हें उत्तरोत्तर उन्नति और सफलता मिलती रही। भाग्य भी सदैव उनके अनुकूल रहा। उनकी उन्नति और सफलता का बहुत कुछ श्रेय श्रीमती अक्षयकुमारीजी को है जो एक आदर्श गृहिणी और सच्ची सहधर्मिणी हैं। जहाँ-जहाँ श्री महेन्द्रप्रतापजी अध्यापक या प्रिंसिपल रहे उस संस्था के सभी छात्रों ने श्रीमती अक्षयकुमारीजी से माता का-सा स्नेह प्राप्त किया। मुझे प्रसन्नता है कि उनकी सेवाओं के उपलक्ष में अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। उनमें अब भी उत्साह और लगन है।

प्रभु से यह प्रार्थना है कि वे सपत्नीक चिरायु हों और आर्यसमाज को उनकी अमूल्य सेवाएँ उपलब्ध होती रहें।

इलाहाबाद

प्रभातकुमार
एडवोकेट

शास्त्रीजी : मेरी दृष्टि में

आदरणीय शास्त्रीजी के साथ अपने संपर्क का स्मरण मेरे लिए अतीव प्रसन्नता तथा कृतज्ञता का विषय हैं। जनता वैदिक कालेज, बड़ौत में सन् १९५७ से १९६३ तक जिसमें कि वे प्रिंसिपल रहे, मुझे उनके साथ एक अध्यापक के रूप में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह वह अवधि थी जिसमें कि कालेज ने अत्यधिक प्रगति की थी और इसका बहुत कुछ श्रेय शास्त्रीजी के अथक प्रयत्नों को ही दिया जा सकता है।

मेरे लिए शास्त्रीजी एक सफल प्रिंसिपल तथा सुसंस्कृत एवं शालीन मानव व्यक्तित्व का उदाहरण रहे हैं। एक प्रिंसिपल के रूप में कालेज के सर्वांगीण विकास में उनका योगदान नितांत सराहनीय है। प्रिंसिपल बनने के एक महीने के भीतर ही उन्होंने अध्यापकों, विद्यार्थियों

तथा प्रबंध समिति के सदस्यों का विश्वास सहज ही प्राप्त कर लिया था तथा उन्हें एक नवीन प्रयोजन से प्रेरित कर दिया था। फलतः कालेज के इतिहास में एक स्मरणीय काल आया। अतीत के लाभांशों को संकलित किया गया, स्नातक-पूर्व कक्षाओं में विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हो गयी, एम०ए०, एम०एस-सी० तथा एम०एस-सी०(एजी०) की कक्षाएँ प्रारंभ हो गयीं। नयी प्रयोगशालाओं का निर्माण हुआ और उन्हें साज-सज्जा से संपन्न बनाया गया। इस प्रकार कालेज ने स्थानीय क्षेत्र के साथ-साथ बाहर भी अपनी प्रतिष्ठा को स्थापित कर लिया।

इन सभी क्रिया-कलापों में कोई भी शास्त्रीजी के गतिशील व्यक्तित्व के निश्चयात्मक प्रभाव को महसूस कर सकता था, जिन्होंने प्रिंसिपल की हैसियत से अपनी कर्मधाराओं को विविध रूप में प्रवाहित किया। वे कालेज के कार्यकलापों का संचालन करने में बड़े कुशल थे और अध्यापकों के साथ अपने बर्ताव में न्यायशील, यथायोग्य सीधे-स्पष्ट तथा खरे थे। विद्यार्थियों के लिए वे पितृ-तुल्य थे—एक कठोर किन्तु उदार नियंत्रण-प्रेमी। दूसरों से अपनी बात मनवाने में वे बड़े निपुण थे—यह एक ऐसा गुण था जिसका प्रयोग वे विश्वविद्यालय तथा सरकार के अधिकारियों से व्यवहार करते हुए बरतते थे। कालेज की सेवा में उनके हार्दिक प्रयत्न और सभी सम्बन्धित व्यक्तियों से उनका उदात्त व्यवहार भी आस-पास के सभी लोगों में उनके प्रति सराहना का भाव जगाता था। स्वयं मेरे तथा मेरे साथियों के लिए वे नियमितता, कर्तव्य-परायणता तथा कार्यकुशलता के ज्वलंत उदाहरण थे। संक्षेप में, वे अपने आचार्यत्व के कार्य को बड़ी सच्चाई एवं तत्परता से करते थे।

मेरी दृष्टि में, बतौर प्रिंसिपल शास्त्रीजी की उपलब्धियाँ बहुत हद तक उनके सुसंस्कृत एवं सौम्य मानव व्यक्तित्व के गुणों पर अवलंबित थीं। उनके सौजन्य, सौहार्द तथा सामंजस्यपूर्ण व्यक्तित्व से मैं सदा प्रभावित रहा। उनके ये गुण अधिकांशतः संक्रामक थे और वे लोग जो उनके संपर्क में आते थे इसका अनुभव कर सकते थे। लोगों के साथ अपने व्यवहार में वे बड़े शिष्ट थे और जो उनसे मिलते थे उनके व्यक्तित्व के प्रति वे सम्मान तथा उदारता का भाव बनाये रखते थे।

शास्त्रीजी के दो प्रमुख अंतःसम्बन्धित गुण उनका साहस तथा संतुलन, जिसमें साथ-ही-साथ सहिष्णुता भी सम्मिलित है, मुझ पर अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं। ऐसे मौके भी आये जब वे भयानक रूप से बीमार पड़े और उन्होंने गहन वैयक्तिक कष्टों का सामना किया, परन्तु कभी हिम्मत नहीं हारी और न कभी कमजोरी के लक्षण ही प्रकट किये। यहाँ तक कि अपने बड़े पुत्र रवि की लम्बी तथा खतरनाक बीमारी को भी—जो कि उनके तथा उनके परिवार के लिए एक जीवित त्रासदी (tragedy) ही थी—उन्होंने विरल साहस के साथ झेला। उस दीर्घकालीन संकट के बीच में भी शास्त्रीजी ने अपनी व्यक्तिगत त्रासदी को कभी सार्वजनिक अभिव्यक्ति प्रदान नहीं की, बल्कि उन्होंने अपनी पीड़ा को अपने भीतर ही छिपाये रखा, अपनी समचित्तता को बनाये रखा और अपने कर्तव्यों का पालन करने में अपने-आपको बड़े उत्साह तथा मनोयोग के साथ एकाग्र किये रखा। वे दूसरे लोगों के कष्टों को उन पर एहसान जताये बिना ही तथा किसी प्रकार की परेशानी महसूस किये बिना ही उठा लेते थे।

उन लोगों के प्रति भी जो कि उनकी निन्दा करते तथा उनकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाते थे, उन्होंने कभी अपने मन में द्वेष का भाव नहीं आने दिया। जब किन्हीं लोगों के द्वारा स्वार्थ-परायण कारणों से उनकी निन्दा की जाती थी, उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचती थी, तब भी

उनमें इतना नैतिक साहस था कि वे उन लोगों के बारे में उनके गुणों के आधार पर ही निर्णय करते और उनके अच्छे गुणों की सराहना करते थे। मेरे लिए शास्त्रीजी एक ऐसे आदर्श व्यक्ति का निदर्शन रहे हैं जो किसी भी परिस्थिति में अपनी पीड़ित भावनाओं को अपने आलोचकों या विरोधियों के प्रति औचित्य तथा विवेकशीलता में आड़े नहीं आने देता है।

इन शब्दों के साथ, मैं इस अवसर पर शास्त्रीजी के चिरायु होने की तथा बहुत वर्षों तक जीवन में सक्रिय एवं प्रभावी होकर अपने प्रिय आदर्शों को चरितार्थ करते जाने की अभीप्सा करता हूँ।

(डॉ०) रघुवर सिंह

समाज विज्ञान विभाग
पश्चिमी आस्ट्रेलियन तकनीकी संस्थान,
बेनटेले, आस्ट्रेलिया

युवा पीढ़ी के आदर्श

आदरणीय महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के अभिनंदन ग्रंथ के आयोजन के समाचार से बड़ी प्रसन्नता हुई। शास्त्रीजी ने युवकों की एक पूरी पीढ़ी को अपनी कर्तव्यनिष्ठा, विद्वता तथा लगन से प्रभावित किया है। वे गम्भीर-से-गम्भीर संकट के समय में भी अडिग रहने वाले तथा तुरन्त सूझ-बूझ के साथ निर्णय करने की बुद्धि रखने वाले अद्वितीय पुरुष हैं। आर्यसमाज को उन पर गर्व है। प्रभु करे वे शतायु हों।

अनन्तानन्द आयुर्वेदालंकार

प्रिंसिपल
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

एक आकर्षक व्यक्तित्व

आर्य तथा शिक्षा-जगत् के महान प्रतिभाशाली व्यक्ति, महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के विषय में मैं अपने पूज्यनीय श्वसुर डॉ० स्व० हरिशंकरजी शर्मा के द्वारा अनेक बार चर्चा सुनती रहती थी। शास्त्रीजी की आदरणीय सास, स्वर्गीय श्रीमती माता लक्ष्मीदेवी जी जब कभी आगरा आती थीं, तब हमारे घर पूज्य पिताजी से मिलने अवश्य आया करती थीं। उनके सम्मुख भी

आदरणीय शास्त्रीजी की बातें अवश्य होती थीं। पिताजी के मुख से शास्त्रीजी की सौजन्यता, विद्वत्ता एवं पांडित्य को सुन कर उनके दर्शन करने की लालसा मेरे अन्दर उत्पन्न होनी स्वाभाविक ही थी, किन्तु मुझे इसका अवसर शीघ्र नहीं मिला।

श्रद्धेय शास्त्रीजी से मेरा प्रथम परिचय उनके चित्र द्वारा हुआ। डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ की पत्रिका जब मेरे विद्यालय में आयी तब उसमें वहाँ के प्रधानाचार्य श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री का भव्य एवं प्रभावशाली चित्र मुझे दृष्टिगत हुआ। मैंने उस पत्रिका को आद्योपांत पढ़ा और पाया कि सम्पूर्ण पत्रिका शास्त्रीजी के व्यक्तित्व से ओतप्रोत थी।

सन् १९६५ में आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने किसी असंभावित घटना के फलस्वरूप नगर आर्यसमाज, आगरा नगर तथा उसके द्वारा संचालित सभी संस्थाओं का प्रवन्ध अपने हाथ में ले लिया और हमारे विद्यालय के प्रशासक पद का भार शास्त्रीजी के सुयोग्य एवं अनुभवी हाथों में सौंप दिया। यह सूचना भी सर्वप्रथम मेरे पूज्य श्वसुर ने ही मुझे दी। इस समाचार से कुछ क्षणों के लिए मेरे मन में एक संकोच-सा प्रतीत हुआ कि इतने योग्य एवं अनुभवी व्यक्तित्व के सम्मुख मैं कैसे कार्य कर पाऊँगी, न जाने क्या-क्या त्रुटियाँ मुझसे हो जायें और मुझे शास्त्रीजी की प्रताड़ना सहनी पड़े। मन में यही कुतर्क चल ही रहे थे कि पिताजी तुरन्त बोल पड़े (सम्भवतः उन्होंने मेरी मनोदशा को भाँप लिया था) कि 'शास्त्रीजी बहुत ही व्यवहार-कुशल, योग्य एवं अनुभवी हैं। साथ ही शिक्षाविद् भी हैं, वे तुम्हारे विद्यालय को उन्नतिशील बनाने में वहुत ही सहायक होंगे।' इन शब्दों से मैं कुछ आश्वस्त तो हुई किन्तु फिर भी एक अजीब तरह का भय मन में समाया रहा। शीघ्र ही शास्त्रीजी व उनके सहयोगी विद्यालय में आये, तब मुझे उनके दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ और मैंने अनुभव किया कि वास्तव में इस व्यक्तित्व के विषय में अब तक जो कुछ सुना था उससे भी कहीं ऊँचा व्यक्तित्व है। बड़ी निश्छलता, शालीनता, एवं स्नेह के साथ उन्होंने वार्तालाप किया। बिल्कुल पितृवत् स्नेह उनका मुझे प्राप्त हुआ। पाँच वर्षों तक वे हमारे विद्यालय के प्रशासक रहे और इस अवधि में अनेकों बार ही उनसे भेंट होती रही, प्रत्येक बार उनके व्यक्तित्व का एक-एक गुण मुझे स्पष्ट होता चला गया। उनके सुझावों, उनकी विचारधारा, उनके कुशल प्रशासन आदि ने एक नवीन स्फूर्ति इस विद्यालय में उत्पन्न कर दी और मैं ही नहीं, समस्त शिक्षिका वर्ग भी इस समय को विद्यालय के 'स्वर्णयुग' के नाम से सम्बोधित करने लगा।

शास्त्रीजी की सूझ-बूझ तथा दूरदर्शिता कितनी गहन है, इसका परिचय मुझे अपने विद्यालय के वार्षिकोत्सव के अवसर पर मिला, जबकि साधारण एवं नगण्य-सी बातों को लेकर कुछ व्यक्तियों ने विरोध प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया, छात्राएँ एवं शिक्षिकाएँ भी निराश-सी होने लगीं, मेरे मन में भी उथल-पुथल-सी हो रही थी कि सांस्कृतिक कार्यक्रम सफल नहीं हो पायेगा, किन्तु शास्त्रीजी ने अपने विवेकशील सुझावों द्वारा सारी समस्याओं का समाधान कर दिया और कार्यक्रम सभी को सन्तुष्टि देता हुआ पूर्ण सफलता के साथ सम्पन्न हुआ।

कानपुर में होने वाले आर्य शिक्षण संस्थाओं के प्राचार्यों के सम्मेलन में यज्ञ के सम्बन्ध में शास्त्रीजी का सारगर्भित व्याख्यान सुनने को मिला। कितनी रोचक शैली में उन्होंने यज्ञ की प्रक्रिया के वैज्ञानिक स्वरूप को सुनाया, वह प्रशंसनीय है। यथार्थ में शास्त्रीजी का पाण्डित्य सर्वथा सराहनीय है।

आदरणीय शास्त्रीजी आजकल कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस के कुलपति हैं।

उनके कुशल संरक्षकत्व में यह संस्था कितनी प्रगति कर रही है; इसका संचालन कितनी सफलता के साथ हो रहा है, इसकी एक झलक मुझे गुरुकुल के वार्षिकोत्सव में जाने पर मिली। आश्रम की कन्याओं को पितातुल्य ममता प्रदान करते हुए, कन्याओं के स्वास्थ्य, अध्ययन, भोजन आदि की जैसी आदर्श व्यवस्था उन्होंने की हुई है वह सराहनीय है। सारे गुरुकुल पर मानो उनके मधुर व्यक्तित्व की छाप अंकित है। वयोवृद्ध होने पर भी वे उत्सव की सम्पूर्ण व्यवस्था बड़े मनोयोग व रुचि से करते हैं। गुरुकुल ही मानो उनका जीवन है, गुरुकुल ही उनका परिवार, उनका सब-कुछ है।

ऐसे सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न महापुरुष के अभिनंदन हेतु मेरे पास शब्द नहीं। ईश्वर उन्हें चिरायु एवं स्वस्थ रखें ताकि हमें उनका आशीर्वाद और स्नेह, एवं आर्य जगत् को उनका पथ-प्रदर्शन चिरकाल तक मिलता रहे।

(डा०) शान्ति शर्मा
प्रधानाचार्या
केदारनाथ सेकसरिया आर्य कन्या इण्टर कालेज
आगरा

एक समर्पित जीवन

माननीय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का व्यक्तित्व परम प्रभावशाली रहा है। जो भी उनके सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित हुए बिना न रहा। जहाँ कहीं भी जिस स्थिति में भी वे रहे हैं, उन्होंने उस स्थान पर अपनी एक अमिट छाप छोड़ी है।

आर्यसमाजी संस्कार तो उन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिले हैं। उनके पिता कट्टर, कर्मठ, कर्तव्यनिष्ठ आर्यसमाजी थे। आगरा के लोग आज भी उन्हें बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण करते हैं। वे अपने समय में आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध कार्यकर्ता थे। एक सामान्य आर्यसमाजी भी अपने बच्चों और परिवार पर आर्यसमाज के संस्कार डाले बिना नहीं रहता। उसके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति शत-प्रतिशत नहीं तो कुछ प्रतिशत आर्यसमाजी हो ही जाता है। फिर भला ठाकुर माधवसिंहजी का सुपुत्र क्यों न एक सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता होता! शास्त्रीजी युवावस्था से ही आर्यसमाजी नेताओं की प्रथम पंक्ति में रहे हैं।

उनका व्यक्तिगत जीवन एक प्रेरणादायक पुस्तक है। कुछ लोग उन्हें अँग्रेज आर्यसमाजी कहते हैं। उनके व्यक्तिगत जीवन पर अँग्रेजों के सद्‌गुणों की स्पष्ट छाप दिखायी देती है। समय-पालन में वे किसी अँग्रेज से कम नहीं। उनका प्रत्येक कार्य समयानुसार होता है, उसमें मिनटों का भी अन्तर नहीं होता। समयपालन की शिथिलता उन्हें सहन नहीं। उनके भोजन, जलपान, शयन, कार्यालय-कार्य आदि के समय सुनिश्चित रहते हैं। उनमें हेर-फेर संभव नहीं है। समय के इधर-उधर वे न कुछ खायेंगे, न पियेंगे। कोई आग्रह, अनुनय, विनय उन्हें इस कार्य से विचलित

नहीं कर सकता। कार्यालय के समय काम की ही बात करते या सुनते हैं। अनावश्यक बातों के लिए उनके पास कोई समय नहीं होता, चाहे यह बात किसी को कितनी ही बुरी क्यों न लगे। वैसे शिष्टाचार में कोई कमी नहीं रखते। आने वाले का पूरा स्वागत करते हैं, चलते समय छोड़ने भी जाते हैं।

घर की साज-सज्जा पर सादगी के साथ आधुनिकता की छाप रहती है। इसका श्रेय उनसे अधिक माताजी को है। उनके घर में प्रवेश करने पर यह भ्रम हो सकता है कि यह किसी अँग्रेजी वातावरण में पले व्यक्ति का घर है। सर्वत्र सुव्यवस्था दृष्टिगोचर होगी। युवावस्था में वे यूरोप गये थे और वहाँ जो अच्छी बातें उन्होंने देखीं, उनको अपने जीवन में धारण किया। वहाँ की किसी भी बुराई को अपने पास फटकने न दिया।

उनका जीवन एक समर्पित जीवन रहा है। उन्होंने सदैव आर्यसमाजी शिक्षा-संस्थाओं में सेवा की है। देहरादून, लखनऊ, बड़ौत के महाविद्यालयों में अध्ययन, अध्यापन, अनुशासन, नैतिक और धार्मिक वातावरण के जो मान स्थापित किये हैं, वे आज के प्राचार्यों के लिए पद-चिह्न बन सकते हैं, यदि वे उनका अनुसरण करने का साहस मात्र जुटा सकें। मुझे उन लोगों पर हँसी आती है जो यह कहते हैं कि डिग्री कालेजों में प्रार्थना सभा, नैतिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा संभव नहीं है। उनको मेरा परामर्श है कि वे शास्त्रीजी से इसकी शिक्षा लें। बड़ौत में स्नातकोत्तर कालेज में नित्य प्रार्थना होती थी, जिसमें सभी छात्र एवं अध्यापक सम्मिलित होते थे और सभा के पश्चात् कुछ प्रवचन भी होता था। कालेज में विद्वानों, साधु-संन्यासियों के प्रवचन भी प्रायः होते रहते थे। छात्रावास में प्रति रविवार यज्ञ, प्रवचन आदि का आयोजन होता था। वार्षिक उत्सव पर भी धार्मिक कार्यक्रमों को प्रमुखता दी जाती थी। इन सब बातों का छात्रों के जीवन पर अदृष्ट किन्तु अमिट प्रभाव पड़ा और वे अपने ऐसे गुरु के प्रति आज भी उतने ही श्रद्धावान् हैं। शास्त्रीजी के शिष्य, चाहे वे कितने ही ऊँचे पद पर हों, आज भी उनके चरणस्पर्श करने में अपना गौरव समझते हैं।

माननीय शास्त्रीजी का समस्त जीवन परम अनुकरणीय है। आर्यसमाजियों, शिक्षकों, समाज-सेवकों आदि के लिए वे प्रकाश स्तम्भ हैं। अस्सी वर्ष की अवस्था में भी गुरुकुल व्यवस्था का कार्यभार पूर्णरूपेण वहन कर रहे हैं और एक सजग प्रहरी की भाँति उसकी सुरक्षा में जुटे हुए हैं। ईश्वर उन्हें और माता अक्षयकुमारीजी को चिरायु करे और गुरुकुल को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के उनके स्वप्न को साकार करे।

माधवसिंह

मंत्री, गुरुकुल सभा
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

कर्मयोगी

मुझे इस बात का गौरव है कि प्रबन्धक के रूप में उस संस्था का सेवा-भार मुझे प्राप्त हुआ है जो कभी परम आदरणीय महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री द्वारा संवर्धित और पोषित की गयी है तथा जिसके साथ शास्त्रीजी का अटूट संबंध रहा है। जिस समय लखनऊ की अन्य शिक्षा-संस्थाएँ विकासोन्मुख थीं तभी हमारे पूज्य पितामह स्वर्गीय पं० रासबिहारी तिवारी को डी० ए० वी० विद्यालय के विकास की चिन्ता हुई एवं एक उपयुक्त प्रधानाचार्य की आवश्यकता हुई, जो संस्था को ऊपर उठाये, साथ ही आर्यसमाज के सिद्धांतों का भी प्रबल पोषक हो जिससे संस्था सही अर्थ में अपने को महर्षि दयानन्द के नाम से विभूषित कर सके। उस समय उनकी दृष्टि एकमात्र शास्त्रीजी पर पड़ी। उन्होंने शास्त्रीजी को पत्र द्वारा यह भार स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और शास्त्रीजी ने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया।

शास्त्रीजी ने डी० ए० वी० कालेज के प्रधानाचार्य का कार्यभार सम्भालकर संस्था के समुन्नयन में अतिशय रुचि ली तथा कतिपय वर्षों में ही यह संस्था हाईस्कूल से डिग्री कालेज में विकसित हुई और आज संस्था में इंटर कक्षाओं में कला, विज्ञान, कृषि एवं व्यापार की शिक्षा दी जाती है तथा उपाधि कक्षाओं में विज्ञान, कला और विधि के संकाय हैं। इस सबका श्रेय शास्त्रीजी को है।

जिन दिनों आदरणीय शास्त्रीजी डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ के विकास एवं उत्थान में दत्तचित्त थे तब मैं प्रारंभिक शाला का विद्यार्थी था। हमारे पिता श्री भृगुदत्तजी तथा पितृव्य श्री चन्द्रदत्तजी उस काल में प्रबन्ध समिति से सम्बद्ध थे, फिर भी सम्पर्कीय ज्ञान और बाद में वयस्क होने पर जो कुछ मैंने जाना उस आधार पर मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि शास्त्रीजी एक कर्मयोगी हैं। उनके सारे कार्य नियमित और समयपरक होते हैं चाहे उनका संबंध वैयक्तिक-निजी जीवन से हो अथवा सार्वजनिक-सामाजिक जीवन से। संतुलित जीवनयापन एक विशेष कला है जो उनमें विद्यमान है। यही वह मुख्य धारा है जो शास्त्रीजी को सदैव कर्मठ तथा कार्यशील रखती है। स्वच्छता एवं समय का नियमित और पूर्णरूपेण पालन भी उनमें है। संबंधित जनों का कहना है कि शास्त्रीजी प्रतिदिन नियत समय पर विद्यालय में पहुँच कर अपना कार्य प्रारंभ करते थे तथा प्रत्येक अध्यापक और विद्यार्थी भी तदनुकूल सुव्यवस्थित रीति से कार्य करता था। अनुशासन एवं उसके पालन में शास्त्रीजी की पूर्ण दृढ़ता थी, जिससे उनके काल में हमारे विद्यालय की महती प्रतिष्ठा थी।

मान्यवर शास्त्रीजी शुद्ध चित्त से आर्य सिद्धांतों में दीक्षित हैं। एक आदर्श आर्यसमाजी कैसा हो सकता है, इसका यदि शास्त्रीजी को हम ज्वलन्त उदाहरण कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। दैनिक संध्या-हवन इत्यादि उनके नियम हैं ही, साथ ही जब तक वे लखनऊ में रहे, प्रत्येक रविवार को बिना किसी अपवाद के आर्यसमाज गणेशगंज में आते तथा सत्संग में रुचि लेते। ओजस्वी वक्ता होने के कारण उनके भाषण प्रभावशाली होते थे तथा कालेज और आर्यसमाज को उसका पूर्ण लाभ प्राप्त होता था। आज जब उनकी आयु अधिक और शरीर में भी दीप्ति नहीं है, फिर भी जबसे मैं आर्य प्रतिनिधि सभा के निकट सम्पर्क में आया, मैंने शास्त्रीजी को सभा के कार्यों में भी पूर्ण रुचि लेते देखा है। आजकल कन्या गुरुकुल, सासनी उनका निवास है,

परन्तु प्रदेश के किसी भी कोने में आर्य प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन हो, शास्त्रीजी वहाँ अवश्य पहुँचते हैं और कार्यवाही में रुचि लेकर सभा को अपने अनुभव और विचारों से प्रेरित करते हैं।

अदम्य उत्साह एवं निष्ठा भी शास्त्रीजी के प्रमुख गुण हैं। कन्या गुरुकुल, सासनी का विकास तथा उसके वर्तमान रूप में शास्त्रीजी की ही निष्ठा और कार्यक्षमता निहित है। यही कारण है कि संस्था लोकप्रिय है और भारत के प्रत्येक प्रदेश से तथा प्रवासी भारतीयों की भी बालिकाएँ वहाँ अध्ययन हेतु आती हैं।

उपर्युक्त उच्चतम मानवीय गुणों के कारण मैंने आदरणीय महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को 'कर्मयोगी' कहकर सम्बोधित किया है। आर्यजगत् शास्त्रीजी को अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करके उनका नहीं, अपितु अपना अभिनंदन कर रहा है। मैं उनके सद्स्वास्थ्य की कामना करता हूँ। प्रभु उन्हें शतायु करें जिससे वे अधिक समय तक हमारा मार्ग-दर्शन करने में समर्थ हों। डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ उनके सम्पर्क से अयस से जो हेमप्रभा मंडित हुआ वह विद्यालय के इतिहास में अमिट रेखा है। ऐसे कर्मयोगी को मेरा शतशः प्रणाम।

मनमोहन तिवारी

संयुक्त मंत्री,
आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

आदर्श शिक्षा-शास्त्री

मुझे आचार्य श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री के सहयोगी-रूप में कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। लखनऊ डी० ए० वी० कालेज में जब शास्त्रीजी प्रधानाचार्य थे, मैं वहाँ प्रवक्ता था। शास्त्रीजी सफल शिक्षक, आचार्य होने के साथ-साथ आदर्श सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में हम सबके हृदयों पर छाये रहते थे।

कालेज की भौतिक उन्नति के साथ-साथ कालेज के नैतिक स्तर को उन्नत बनाये रखने की एक तीव्र उत्कंठा आपके हृदय में समायी रहती थी। यही कारण था कि आप छात्र-अनुशासन और सदाचार-शिष्टाचार आदि पर सदैव विशेष ध्यान देते रहे हैं।

शिक्षकों के हितों को आप अपना हित मानकर उनके लिए सदैव प्रयत्नशील रहते थे। अनेक ऐसे अवसर आये, जब शिक्षकों को समय पर वेतन मिलना संभव न हुआ, ऐसे समय में शास्त्रीजी सबको वेतन दिलाने के बाद ही अपना वेतन लेते थे। इसी प्रकार स्वतंत्रता से पूर्व के वेतनमानों में संशोधन की प्रथम प्रक्रिया आरम्भ कराने में, शिक्षा-मंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्दजी पर प्रभाव डालने में आपने शिक्षकों का मार्ग-दर्शन किया था।

एक शिक्षा-शास्त्री के रूप में शास्त्रीजी ने समाज की, राष्ट्र की जो दीर्घकालीन सेवा की है और आज भी शिक्षा-क्षेत्र में जो रचनात्मक सेवा-कार्य कर रहे हैं उस सबके लिए हम

सब साथियों में उनके लिए महान् श्रद्धा है।

शास्त्रीजी के अभिनंदन कार्यक्रम का मैं हार्दिक स्वागत करता हूँ और शास्त्रीजी के चिरायुष्य के लिए मंगलकामना करता हूँ।

भूतपूर्व एम० एल० सी०
भूतपूर्व अध्यक्ष
अखिल भारतीय माध्यमिक शिक्षक संघ

महेश्वर पांडे

आर्य जगत् के सच्चे सेवक

मैंने श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को बहुत ही निकट से देखा है। वे उन नेताओं में से हैं जिन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के आदर्शों को अपने जीवन का अंग बनाया।

शास्त्रीजी सदैव तड़क-भड़क से दूर सादा जीवन बिताते हैं और सारा समय समाज-सेवा में तथा कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस की उन्नति में लगाते हैं। यही कारण है कि आर्य जगत् में यह गुरुकुल सबसे अधिक उन्नति पर है।

उन्होंने सच्ची लगन से समाज व देश की सेवा की है और इसी को अपने जीवन का ध्येय बनाया है। आर्य जगत् का शायद ही कोई बड़ा उत्सव या आयोजन होगा, जिसमें शास्त्रीजी का सक्रिय योगदान न रहा हो। इतनी आयु हो जाने पर भी वे उसी तत्परता और लगन से जैसी युवावस्था में थी, कार्यरत रहते हैं। जो भी उनके सम्पर्क में आया उनकी मिलनसारी और विनयशीलता का कायल हो गया।

उन्होंने कन्या गुरुकुल महाविद्यालय का तो एक कीर्तिमान स्थापित किया ही, लेकिन नगर आर्यसमाज आगरा, व उनके अंतर्गत शिक्षा-संस्थाओं के चलाने में भी उनका बड़ा योगदान रहा है। इसके लिए आर्य जगत् उनका सदैव ऋणी रहेगा।

मुझे कन्या गुरुकुल महाविद्यालय हाथरस के उत्सवों में व अन्यत्र भी सम्मिलित होने का मौका मिला तो मैंने देखा कि वह उनके सफल बनाने में दिन-रात लगे रहते हैं और बहुत ही अच्छे ढंग से नेतृत्व करते हैं। मुझे उनके विचार सुनने के भी बहुत अवसर मिले हैं और मैं यह कह सकता हूँ कि उन जैसे सद्भावना वाले व्यक्ति अपने जीवन में बहुत कम देखे हैं। उनका अन्त करण बहुत निश्छल है और इसी कारण से नगर आर्यसमाज, आगरा का विवाद ही नहीं, कई समाजों के विवाद भी बड़ी कार्यकुशलता से शांत कराये, यह उनके नैतिक बल का ही परिणाम है।

शास्त्रीजी स्वस्थ रहकर दीर्घजीवी हों, यही मेरे हृदय की कामना है।

फिलिपगंज, आगरा

धर्मपाल विद्यार्थी

आर्य जगत् में अनुपमेय व्यक्तित्व

आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, आर्य जगत् में एक व्यक्तित्व है जो अपनी उपमा आप है। शास्त्रीजी लम्बे समय तक डी० ए० वी० कालेज लखनऊ, एवं बड़ौत कालेज के प्रधानाचार्य रहे। उनकी सूझबूझ, अनुशासन, दृढ़ता, उत्साह एवं प्रबन्ध-शक्ति के सहारे इन विद्यालयों ने जो उन्नति की वह सदा अविस्मरणीय रहेगी। वे सर्वदा ही चरित्र एवं गुणों के पुजारी रहे। आर्यसमाज और महर्षि दयानन्द सरस्वती उनके जीवन के प्रेरणा-स्रोत और प्रकाश-स्तम्भ रहे हैं। किसी व्यक्ति को अपना बना लेने की कला में तो शास्त्रीजी की वाणी एक अद्भुत जादू रखती है। उनकी वाणी में ओज, गाम्भीर्य, स्वभाव में माधुर्य और सरलता, विचारों में दृढ़ निश्चय अनुकरणीय गुण हैं। कन्या गुरुकुल हाथरस उनके संरक्षण में एक सार्वभौम शिक्षा-संस्थान बन रहा है। अन्तेवासिनियों के जीवन-स्तर के विकास में शास्त्रीजी की एक निराली एवं गौरव-भरी भूमिका है।

शास्त्रीजी का अभिनंदन एवं अभिनंदन ग्रंथ समर्पण हमारे लिए ही गौरव प्रदान करता है।

परम पिता प्रभु महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को दीर्घायुष्य एवं उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें। मेरी शुभकामनाएँ सदा उनके साथ हैं।

रामदयालु शास्त्री
तर्क-शिरोमणि, महोपदेशक

३ कृष्णा टोला
अलीगढ़, उ० प्र०

सौम्यता की मूर्ति

आदरणीय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का जीवन आर्य जगत् में प्रेरणा का स्रोत रहा है। उन्होंने अपने जीवन में अनेक बाधाओं को परास्त कर वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार ही अपने जीवन का लक्ष्य बनाया। इसी भावना से उन्होंने शिक्षा-क्षेत्र में रहते हुए सदैव इसी मार्ग पर चलकर अपने प्रिय शिष्यों को भी कर्मठ आर्य बनाया है। तीन विद्यालयों का तो मुझे ज्ञान है—डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में प्रवक्ता एवं आश्रमाध्यक्ष (वार्डन), डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ तथा वैदिक जनता डिग्री कालेज, बड़ौत (मेरठ) में प्रधानाचार्य पद पर रहते हुए उन्होंने छात्रों में वैदिक भावना को कूट-कूटकर भर दिया। जो छात्र उनके सम्पर्क में रहे वे धन्य हैं, जिन्हें ऐसे तपस्वी गुरु मिले और जिनके चरणों में बैठकर वे कुन्दन बन गये। शास्त्रीजी ने सबसे प्रथम छात्रों को चरित्र की शिक्षा दी जिससे उनका भविष्य उत्तम बने। आर्य जगत् में ऐसे महापुरुष विरले ही हैं जिन्होंने अपना सारा जीवन शिक्षा के प्रसार में लगाकर हमारे लिए एक आदर्श

उपस्थित किया है। अब भी शास्त्रीजी के जीवन का लक्ष्य कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस को आदर्श बनाना है। उन्होंने कन्या गुरुकुल में कन्याओं को पूर्णरूपेण योग्य और आदर्श बनाने का यत्न किया है। मैं इस कन्या गुरुकुल को कई बार निकट से देख चुका हूँ। वेदपारायण यज्ञों में भी कन्याओं के मधुर वेदपाठ और कार्यक्रम की हृदय से सराहना किये बिना नहीं रह सकता। शास्त्रीजी से आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश को भी अमूल्य सहयोग मिल रहा है। वे आज तक विद्यार्य सभा के प्रधान हैं और आर्य शिक्षा-संस्थाओं को अपनी उत्तम प्रेरणा हर समय दे रहे हैं।

आर्य जगत् शास्त्रीजी के अनुपम कार्य के लिए यदि उनका अभिनंदन करे तो यह कोई अहसान नहीं, अपितु एक कर्तव्यपालन है। आदरणीय शास्त्रीजी का जीवन ही अभिनंदन योग्य है, क्योंकि आर्यों के लक्षण उनमें प्रत्यक्ष हैं। मैं भी शास्त्रीजी का टूटे-फूटे शब्दों में इस प्रकार अभिनंदन करता हूँ—

पढ़ वेद विभेद मिटाय दिया सब दूर करी तप से भ्रम राका,
मतवाद उलूक उड़े छिन में जब वैदिक तोप छुटीध धड़ाका।
छलिया छलछन्द रचे ने कही समझाय दिया मघ मानवता का,
धन्य केवल देव दयानन्द को फहराय जिन्हीं की पुण्य पताका ।।

मुख्य निरीक्षक
आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश

बलवीरसिंह 'बेधड़क'

शास्त्रीजी : एक पुरुषार्थी व्यक्तितत्व

ओ३म् मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसदृशः ।।

मेरा निकट गमन मधुमय हो, मेरा मधुमय दूर गमन।
वाणी से मैं मधुमय बोलूँ, बन जाऊँ माधुर्य सदन ।।

श्रद्धेय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री से जब मैं प्रथम बार मिला तो उनके मधुर व्यवहार, प्रबन्ध-पटुता, सज्जनता से मैं बहुत प्रभावित हुआ।

मैं कैसे उनके सम्पर्क में आया, इसका भी थोड़ा-सा परिचय दे दूं। मैं मूलतः भारतीय नागरिक हूँ—जीविकोपार्जन हेतु मातृभूमि भारत से दूर विदेश में रह रहा हूँ। इस थाई देश के प्रति अपने कर्तव्यों का ध्यान रखते हुए भी अपनी जन्मभूमि के मोह से ओत-प्रोत हूँ। विदेश में आने पर आर्यसमाज से मेरा सम्पर्क हुआ और भारत से समय-समय पर आने वाले संन्यासियों एवं विद्वानों से मुझे प्रेरणा मिलती रही। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट गुरुकुल शिक्षा प्रणाली से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मन-ही-मन संकल्प किया कि अपने बच्चों को गुरुकुल में ही शिक्षा दिलाऊँगा। ईश्वर की असीम कृपा से जब मैं सन १९७२ में स्वदेश भारत-दर्शन

हेतु लौटा तो लखनऊ में आदरणीय श्री नारायण गोस्वामी (श्री नारायण प्रिय जी) से मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की। इससे पूर्व मैं देहरादून का कन्या गुरुकुल देख चुका था। गोस्वामीजी ने कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस की प्रशंसा की और इस गुरुकुल में कन्याओं को प्रविष्ट कराने के लिए कहा। स्वयं गोस्वामीजी ने जाकर कन्याओं को प्रविष्ट करा दिया, जिसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। तब से गुरुकुल एवं शास्त्रीजी से मेरा सीधा सम्पर्क हो गया। शास्त्रीजी एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री का सभी ब्रह्मचारिणियों के साथ पुत्रीवत् व्यवहार, उनके सुख-दुख का पूरा ध्यान रखना, सुचारु अध्ययन एवं सुव्यवस्था से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूँ और अपनी चारों पुत्रियों को इस गुरुकुल में प्रविष्ट कराकर अत्यन्त सन्तोष का अनुभव करता हूँ।

आदरणीया श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री मुख्याधिष्ठात्री, बहिन कमला स्नातिका तथा सभी गुरुकुलवासी अपने अथक परिश्रम से गुरुकुल की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं, यह प्रशंसनीय है। किन्तु श्रद्धेय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, कुलपति जितनी सूक्ष्मदृष्टि से इसे आगे बढ़ाने में स्वयं को समर्पित किये हुए हैं, वह अपने में अनूठा उदाहरण है। उसकी प्रशंसा करना औपचारिकता होगी, पर सत्य को छिपाया भी नहीं जा सकता। ऐसे पुरुषार्थी समाज-सेवी विद्वान् के प्रति सिर स्वयं श्रद्धा से झुक जाता है।

मैं अपनी ओर से तथा आर्यसमाज, बैंकाक की ओर से इस अभिनंदन समारोह की सफलता के लिए कामना करता हूँ। साथ ही प्रभु से प्रार्थना है कि शास्त्रीजी उत्तम स्वास्थ्य एवं दीर्घायु लाभ करें, जिससे वे दीर्घकाल तक गुरुकुल की उन्नति करते हुए समस्त ब्रह्मचारिणियों के ज्ञान एवं प्रेरणा के स्रोत बने रहे।

रामपलट पाण्डेय

संचालक, आर्यसमाज,
बैंकाक (थाईलैण्ड)

आर्यसमाज के वरद पुत्र

आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का जन्म से ही आर्यसमाज के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। उनके पिता ठा० माधवसिंहजी ने अपने युग में आर्यसमाज की महान् सेवा की और शास्त्रीजी जैसे आदर्श पुत्र को समाज के लिए समर्पित कर दिया। शास्त्रीजी शिक्षा-समाप्ति के उपरान्त कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर शाहपुराधीश के राजकुमारों के शिक्षक एवं अभिभावक, प्रोफेसर, प्राचार्य, निदेशक, विजिटर और कुलपति के रूप में शिक्षा-क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। उनकी यह महान् सेवा उनके हृदय में महर्षि दयानन्द के प्रति अगाध श्रद्धा और आर्य-समाज के कार्यक्रमों की सफलता के लिए अपार लगन का ही परिणाम है। वास्तव में वे आर्य-समाज के वरद पुत्र हैं।

आर्यसमाज के संगठन क्षेत्र में आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली के माध्यम से आपने जो सेवाएँ की हैं आर्यसमाज का इतिहास उनसे सदा प्रकाशित होता रहेगा।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस शास्त्रीजी की सर्वप्रिय संस्था है। नारी शिक्षा के क्षेत्र में कन्या गुरुकुलों का सफल संचालन एक कठिन समस्या है, परन्तु शास्त्रीजी उसमें भी सफल रहे हैं।

ऐसे महान् कर्मठ महामानव का अभिनंदन करना हम सबका विशेष कर्तव्य है। इस शुभावसर पर मेरी हार्दिक मंगलकामनाएँ।

भूतपूर्व प्रधान, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस — **कुशलपालसिंह**
बरौठा — एम० ए०
१०-१२-७८

आर्य जगत् की विभूति

आर्य जगत् की उत्कृष्ट विभूति, शिक्षा-क्षेत्र के महारथी एवं क्रांतिकारी समाज-सुधारक आचार्य महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री का व्यक्तित्व आकर्षक ही नहीं अपितु प्रेरणाप्रद भी है। उनका सौजन्य, विद्वता एवं पाण्डित्य किसी से छिपा नहीं है। ऐसे महान् चिंतक ही समाज को नयी दिशा प्रदान करते हैं।

श्रद्धेय शास्त्रीजी वर्तमान समय में कन्या गुरुकुल, सासनी के कुलपति हैं। कन्या गुरुकुल शास्त्रीजी के त्याग, लगन, सेवा, निष्ठा एवं उनकी अथक साधना का ज्वलंत उदाहरण है। उनके कुशल संरक्षण और निर्देशन में यह संस्था प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

गुरुकुल की कन्याओं को शास्त्रीजी का पितातुल्य संरक्षण एवं आशीर्वाद प्राप्त है। वे ब्रह्मचारिणियों के स्वास्थ्य, अध्ययन व भोजन की व्यवस्था समुचित रूप से करते हैं तथा उनको यह आभास कराते हैं कि वे सब कन्याएँ एक ही परिवार के सम्बद्ध हैं। सारे गुरुकुल पर उनकी महत्ता एवं मधुरता की छाप अंकित है।

आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का जीवन आर्यसमाज तथा शिक्षा जगत् को समर्पित है, यह उन्होंने गुरुकुल की सेवा से पूरी तरह प्रमाणित कर दिया है। एसे महान् मानव ही समाज, देश व संस्कृति के रक्षक माने जाते हैं। शास्त्रीजी एक कर्मशील व्यक्ति हैं तथा जो संकल्प करते हैं उसे सत्य, न्याय व ईमानदारी के साथ पूरा करते हैं। उनकी कथनी व करनी समान है।

उन्होंने अपने विचारों में हमेशा समाज की कुरीतियों, कुसंस्कारों व रूढ़ियों पर आधारित परम्पराओं का विरोध किया है तथा एक नये समाज के निर्माण का सुखद संदेश दिया है। सामाजिक असमानता, अस्पृश्यता, दहेज-प्रथा एवं बाल-विवाह के वे कट्टर विरोधी हैं।

आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके सुखद स्वास्थ्य एवं दीर्घायु की मंगलकामना करता हूँ।

सम्पादक, दैनिक स्वराज्य टाइम्स — **आनन्द शर्मा**
आगरा

हंसाः महीमण्डलमण्डनाय

विचार, व्यवहार और क्रिया में समन्वयात्मक रूप प्राप्त करना प्रायः प्रत्येक मानव के वश की बात नहीं है। हम किसी एक बिन्दु पर शिथिल हो जाते हैं या अपनी आत्म-शक्ति को इतनी बलवती नहीं कर पाते हैं कि हम उपर्युक्त समत्व को प्रतिपादित कर सकें, परन्तु हमारे बीच में कतिपय ऐसी भी पुण्यात्माएँ हैं, जो इस समत्व को प्रतिपादित करती हैं तथा सामान्य जन में श्रद्धा एवं विश्वास का अर्जन करती हैं। यह और बात है कि अपनी दृढ़ता एवं विचार-नैपुण्यता से उनका कोई पदनिक्षेप किसी के प्रतिकूल हो और वह व्यक्तिगत रूप से उस व्यक्ति का आलोचक या निन्दक हो जाये, परन्तु सामान्य रूप से उपर्युक्त समत्व त्रयी के व्यक्ति सबके आदरास्पद ही होते हैं।

पण्डित महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री में कतिपय ऐसे गुण हैं जो उन्हें उपर्युक्त श्रेणी के व्यक्तियों में गणना योग्य बनाते हैं। शास्त्रीजी जीवन में विभिन्न पदों पर रहे तथा विभिन्न स्थानों पर, परन्तु जहाँ से जब वह अन्यत्र जाने लगे उनके साथी विचलित और व्यथित हुए। आर्यसमाज के उपदेशक एवं व्याख्याता के रूप में वह अपने विचारों पर दृढ़ रहे। वैदिक जीवन एवं ऋषि दयानन्द के आदर्शों की छाप जो उन पर लगी तो आज तक अडिग और एक-सी है। हमने देखा है कि कितने गतिशील नेता कितने मंच बदल चुके, परन्तु शास्त्रीजी सदैव आर्य विचारों पर स्थिर रह कर जीवन-नौका अवगाहित करते रहे।

गुरुकुल प्रणाली से शिक्षित होकर, पंजाब विश्वविद्यालयों की उपाधि से वे विभूषित हुए तथा उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध मनोरम स्थान देहरादून के प्रथम श्रेणी के कालेज में प्रवक्ता पद पर कुशलता से कार्य आरम्भ किया। यद्यपि सामाजिक कार्यों में रुचि प्रारम्भ से ही थी परन्तु अब उनका कार्य-क्षेत्र और विकसित हो गया। उन्होंने जात-पाँत तोड़क मण्डल का गठन किया तथा शताब्दियों से आ रही इस रूढ़ि पर प्रहार किया। यहीं हम पाते हैं कि विचार से जात-पाँत पर विश्वास न करने वाले शास्त्रीजी क्रियात्मक क्षेत्र में भी सही निकले। उन्होंने अपने परिवार के सम्बन्ध भी जात-पाँत बन्धन से विमुक्त होकर किये, जब कितने ही नामधारी आर्यसमाज के कार्यकर्ता ऐसे स्थलों एवं अवसरों पर सदैव विफल हुए।

आदरणीय शास्त्रीजी को श्रेय रहा कि वे धन-सम्पन्न परिवारों के सम्पर्क में रहे तथा निर्धन एवं अभावग्रस्त बालकों को सदैव अपने मृदुल करों से सहायता दी। एक ओर

वे राजस्थान के एक राजपरिवार के राजकुमार के अभिभावक एवं अध्यापक होकर यूरोप गये तो दूसरी ओर आज कितने निर्धन छात्र उनका यशोगान कर रहे हैं, इसलिए कि उनकी शिक्षा की सम्पन्नता में शास्त्रीजी का ही वरदहस्त रहा है, नहीं तो अभाव उन्हें न जाने कहाँ ले जाता। यह शास्त्रीजी की समत्व-दृष्टि ही है, जिसने दोनों वर्गों को एक-सा व्यवहार दिया।

शास्त्रीजी के जीवन का विशद गौरवपूर्ण वह भाग है, जब वे डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ के आचार्य पद पर रहे। जब उन्होंने विद्यालय में प्रवेश किया यह हाईस्कूल था। उस समय के दूरदर्शी विद्यालय-प्रबन्धक स्वर्गीय पं० रासबिहारीजी तिवारी ने शास्त्रीजी की प्रतिभा और ओजस्विता को पहचाना तथा आग्रहपूर्वक उनसे विद्यालय को सम्भालने की इच्छा व्यक्त की। विद्यालय शास्त्रीजी के समय में हाईस्कूल से डिग्री कालेज के उच्च स्तर तक ही नहीं पहुँचा अपितु, प्रदेश के विद्यालयों में विशिष्ट स्थान का भागी हो गया तथा विद्यालय की गरिमा बढ़ी। यहाँ का जीवन अनुशासित हुआ; अध्यापक और विद्यार्थी समाज में गौरवास्पद हुए; यह विद्यालय आर्यसमाज की गतिविधियों का और वैदिक जीवन के साक्षात् आदर्शों का जीवन्त केन्द्र हो गया, साथ ही जिस समाज से विद्यालय संचालित हो रहा था वह आर्यसमाज भी ख्याति प्राप्त कर सकी और उसका जीवन भी आलोकमय हो उठा।

शास्त्रीजी कुशल प्रशासक के रूप में प्रसिद्ध हो गये। डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ का प्रशासन आदर्श और मानव सेवा के रूप में उदय हुआ। विद्यालय के वातावरण में सदैव वैदिक-आदर्शों का प्रतीक ओ३म् ध्वज अपनी बासन्ती प्रभा को बिखेरा करता था और सब की प्रेरणा का स्रोत रहता था। शिक्षा के साथ ही राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पर्व विद्यालय में उत्साहपूर्वक मनाये जाते थे और प्रत्येक कार्यक्रम—यज्ञ तथा वेदमन्त्रों के सघोष उच्चारण से आरम्भ होता था। विद्यालय में एक नव-जीवन का प्रवाह था और वैदिक जीवन का जीवन-स्रोत था डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ। शास्त्रीजी व्यवहार और प्रशासनिक कार्यों में कभी-कभी रूखे प्रतीत होते हैं। बाहर से कठोर और खरे, परन्तु यह बात उनके हृदयस्तल को स्पर्श नहीं करती। वह सहृदय और सरल जीवन के व्यक्ति हैं। गिरते हुए को उठाना तथा अपराध स्वीकार करने पर क्षमायाचना के बाद उन्होंने अपने अधीनस्थों के अपराधों को हृदय से क्षमा कर दिया। कोई व्यक्ति उनका कितना ही विरोधी रहा हो परन्तु कभी शास्त्रीजी ने उसे भी नीचे नहीं गिरने दिया। उनके समय में अनुशासन सहयोगियों के श्वास के तारों में समरस हो गया था। इस प्रकार से लखनऊ का कालेज या बड़ौत का महाविद्यालय सभी उनके प्रशासन में गौरवमय हुए।

शास्त्रीजी ने अपने जीवन की विशेषता को एक अन्य रूप में भी प्रदर्शित किया है। निजी और व्यक्तिगत जीवन के अथवा परिवारिक जीवन के अभिशापों को उन्होंने अपने कर्तव्य और प्रशासन के क्षेत्र में कभी प्रतिबिम्बित नहीं होने दिया। उनके पुत्र का बरेली में आपरेशन हुआ। चिन्ता का विषय था। शल्य-क्रिया गम्भीर थी, साथ ही रोग भी दुर्जेय। शास्त्रीजी का पिता का वात्सल्यमय रूप था परन्तु घर की सीमा में। विद्यालय के कार्य में कोई शिथिलता नहीं। समय में कोई अनियमितता नहीं। अन्त में पुत्र-वियोग के दारुण दुख को शास्त्रीजी ने झेला, परन्तु बाह्य जीवन के कर्तव्यों पर उसका कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं हुआ।

शास्त्रीजी व्यक्ति भी हैं और संस्था भी। जैसे कुन्दन अपने स्पर्श से दूसरे को चमका देता है वैसे ही शास्त्रीजी ने जिस संस्था का स्पर्श किया, जिसका प्रबन्ध अपने हाथ में लिया, वह निखर उठी और दमक उठी। जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आया तथा जिसने उनके गुणों का—

मानवीय जीवन की गरिमा और विशेषताओं का—अनुसरण किया वह भी प्रखर हो उठा। दृढ़ता से सत्य के कर्तव्य का आचरण करके उस पर अनुगमन ही उनके जीवन का ध्येय रहा है और रहेगा। वे कभी क्षुद्र विवादों में नहीं पड़े। आर्यसमाज के संगठन में अग्रणी रहे हैं परन्तु दलगत राजनीति के विरोधी हैं। सब के रहे और सर्वहिताय रहे हैं, परन्तु कोई यह नहीं कह सका कि शास्त्रीजी अमुक 'दल' में प्रमुख हैं। समता-सामंजस्य और सरलता को सदैव ऊपर रक्खा। जीवन में विश्राम नहीं, सदैव कर्तव्य-पथ पर आगे। आयु के अनुसार सरकारी आदेश से विद्यालयों के प्रशासनिक पदों से हटे, परन्तु उससे भी बड़ा गुरुतर भार कन्या गुरुकुल, सासनी की देख-रेख का लिया। कभी शिथिल नहीं; कभी उनींदे नहीं; सदैव चैतन्य और सजग शास्त्रीजी का रूप रहा है और प्रभु की कृपा से आगामी अब्दियों में रहेगा। एक बार एक स्थल पर मुझसे कहा कि 'प्रायः पुत्र बुलाते हैं कि उनके पास रहूँ, परन्तु वहाँ क्या करूँगा? पौत्र-पौत्रियों के खिलाने का कार्य। इससे अच्छा यही है कि सार्वजनिक कार्यों में लगा रहता हूँ।' काशी में शास्त्रार्थ शताब्दी समारोह हुआ, मेरठ-कानपुर में आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह हुए, शास्त्रीजी सब में सक्रिय भाग लेते रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के अंतरंग अधिवेशनों में सदैव उनका सक्रिय योगदान रहता है परन्तु सीमित दलबन्दी से अलग, एक निस्पृह योगी की भाँति। जो हितकर है उसका समर्थन और जो अहितकर है उसका बहिष्कार।

वृद्धता और शारीरिक व्याघात शास्त्रीजी को विरत नहीं कर पाते है। वे कर्तव्य पथ के चतुर पथिक हैं। यही विशेषता है जो सफलता ने उनको सदैव वरण किया। इन्हीं मानवीय गुणों के मूर्त रूप होने के कारण उनके सम्बन्ध में मुझे शीर्षक की पंक्ति लिखनी पड़ी है। जहाँ कहीं भी राजहंस जायेंगे वह भूमि मण्डित और गौरवशालिनी होगी। केवल श्रीविहीन उन सरोवरों की शोभा होगी जिसे वह त्याग कर चले जायेंगे। इसी प्रकार से शास्त्रीजी जहाँ रहे जिस स्थान पर और पद पर रहे वह गरिमामयी हुई, जिसे छोड़ गये उसके बाह्य कलेवर पर मुरझाने के लक्षण प्रकट हुए तथा उसके अन्तररूप में एक रिक्तता आयी।

गरिमामय व्यक्तियों का साहचर्य जीवन में भाग्य से मिलता है। मैं अपने को गौरवमय अनुभव करता हूँ जो मुझे शास्त्रीजी के सामीप्य का तथा उनके आशीर्वाद का पात्र होने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने उनसे जीवन में चलना सीखा है परन्तु, खेद है कि चलने में दृढ़ता नहीं आयी। शास्त्रीजी का स्नेह मुझे प्राप्त है, वही सम्बल जिससे मैं जीवन की धाराओं की विषमता को पार कर सकूँ।

महाशक्ति परमेश शास्त्रीजी को अभी बहुत-से भावी बसन्तों की श्री प्रदान करने की कृपा करें, जिससे हमारे जैसे व्यक्ति कुछ सीख सकें, कुछ संस्थाएँ सुदृढ़ हो सकें और कुछ संगठन प्राणवान् हो सकें।

रमेशचन्द्र
एम० ए०, आचार्य
सम्पादक, आर्यमित्र
लखनऊ

अभिनंदनीय शास्त्रीजी

यह प्रसन्नता की बात है कि आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के अभिनंदन का आयोजन किया जा रहा है। आज ऐसे आयोजनों की विशेष आवश्यकता है जिससे राष्ट्रहित में लगे विद्वानों के कार्यों का मूल्यांकन हो सके। शास्त्रीजी ने सम्पूर्ण जीवन वैदिक शिक्षा-पद्धति के प्रचार-प्रसार में लगाया है. आर्यसमाज की अनुपम सेवा की है। आजकल कन्या गुरुकुल, हाथरस में 'कुलपिता' पद को सुशोभित कर रहे हैं। शास्त्रीजी के सम्पर्क में आने का अनेक बार अवसर मिला है। वे मधुर स्मृतियाँ सदैव बनी रहती हैं। उन स्मृतियों के आधार पर मैं कह सकता हूँ कि शास्त्रीजी का हृदय गंगा के समान शीतल-निर्मल है, जो सदैव सभी को आकर्षित करता है। उन्होंने अपने जीवन में जिस मिट्टी को भी छूआ है वह सोना बन गयी है। त्यागी, तपोनिष्ठ, पथ-प्रदर्शक शास्त्रीजी सदैव मानस-पटल पर अपनी छाप छोड़े रहते हैं। प्रभु दिव्यपुरुष शास्त्रीजी को शक्ति, समृद्धि दे, जिससे उनके पथ-प्रदर्शन में आर्यसमाज को नई दिशा मिलने का अवसर मिलता रहे। अधिक क्या—

देशोत्थानप्रयत्नेष्वचरमचरणा आर्यलोकांशुमन्तः
प्राचीनार्वाच्यविद्याविमलसुरधुनी पूतविश्वप्रदेशाः।
शिक्षानीतिप्रसारे प्रमुखपदभृतः श्रीमहेन्द्रप्रतापाः
जीव्यासुः शक्रवृत्ताः कलिमलदलने वत्सराणां सहस्रम् ॥१॥
न्यूने विंशत् शतकशुभदिने येऽपि विद्यानुरक्ताः
संप्राप्ताः शिष्यवर्याः भवदमितगुणाकर्षिताश्चार्यवीराः।
श्रद्धा नम्राः प्रभूतैर्विनयसहकृतैः साधुवादैर्भवन्तम्
दीर्घायुष्यं नीरोगं प्रभुचरणयुगे कर्तुमभ्यर्थयन्ते ॥२॥

सदा देश सेवा धुरीणाग्रगामी,
पवित्रार्य सम्यत्व के शूरगामी।
सदा ही सुखी हों रहें ऊर्ध्वगामी,
सहस्रायु हो शक्ति - सामर्थ्य - स्वामी ॥१॥
सुभग वर्ष अस्सी के शोभन दिवस में,
सभी धर्मप्रेमी मनुष्यों के मन में।
यही कामना ईश के है चरण में,
अतुल शक्ति दें आपके स्वस्थ तन में ॥२॥

विजयपालसिंह विद्यालंकार
एम० ए०, वेदवाचस्पति
आर्य उच्चतर विद्यालय
नरवाना (जींद)

जगमगाता नक्षत्र

मैं श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री जैसे कर्मनिष्ठ विद्वान् के बारे में क्या लिखूँ ? वैसी क्षमता नहीं है, फिर भी एक बड़ा लालच है, जो इस तरह से भी—वहाँ तक पहुँचाकर—मन को फुसला लूँ। अयोग्यता ही सही, पर अभिलाषा पूर्ण होती है भेजने ही के साथ। कुलभूमि हाथरस में कुछ समय की भेंट ही से उनकी सौजन्यता से कृतकृत्य हूँ।

इस समय में श्रद्धेय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री तथा श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री मंडन मिश्र एवं भारती से दिखाई पड़ते हैं, जिनसे जगद्गुरु शंकराचार्यजी ने शास्त्रार्थ किये थे। आदरणीय ठा० माधवसिंहजी, जौहरीजी तथा माता लक्ष्मीदेवी जी धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने यह सम्बन्ध किया था—वैसे तो विधि का विधान सर्वोपरि है, फिर भी शुभ प्रयत्न आनन्द-मंगलमय ही होता है।

आर्य जगत् में शास्त्रीजी के जीवन का पूर्वार्द्ध जितना जगमगाता रहा है उत्तरार्द्ध उससे भी उज्ज्वल हो। परमात्मा उनके शेष जीवन को एक अनिर्वचनीय मिठास और उल्लास से भर दे।

तुम मुबारक रहो बरस हज़ार,
हर बरस के दिन हों पचास हज़ार।

भालचन्द्र सिंह आर्य

बिहार

वात्सल्य और उदारता के प्रतिरूप

वास्तव में वात्सल्य और उदारता की साक्षात् मूर्ति श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के दर्शन करके मैं तो श्रद्धा से ओतप्रोत होकर गद्गद् हो उठती हूँ।

माता-पिता और गुरु की जो भावनाएँ होती हैं कि मेरा पुत्र-पुत्री-शिष्य स्वस्थ, सुच्चरित्रवान् और विद्वान् बनकर जग में अपने यश को फैलाए, इसके लिए वे दत्तचित्त होकर दृढ़ता से प्रयत्नशील और क्रियाशील बने रहते हैं। यह भावना प्रत्यक्ष रूप धारण किये रहती है कि मेरे बच्चे प्रसन्न रहें, किसी प्रकार का कष्ट अनुभव न करें। कुलबालाओं के लिए मनोरंजन के साधन भी जुटाते रहते हैं। खेल-खिलौने व मिष्ठान्न से पुरस्कृत करते रहते हैं। सबसे बड़ी बात कर्तव्यनिष्ठा कमाल की है—चाहे गर्मी हो या सर्दी, स्वास्थ्य ठीक हो या न हो, निरन्तर कर्तव्य-पथ पर अग्रसर रहते हैं। कुलमाता भी अनेक गम्भीर व्याधियाँ होते हुए भी प्रातराश, भोजन के समय जाकर देखना—कहीं कोई कमी तो नहीं, बच्चों के साथ अन्याय तो नहीं हो रहा, यदि कहीं कोई कमी है तो तुरन्त उसे पूरा कराना इत्यादि कार्यों में संलग्न रहती हैं।

करुणा और दयालुता की मूर्ति हैं दोनों। बच्चे निर्भीकता से जाकर अपनी असुविधाओं को कह लेते हैं। माताजी प्रेम से उन्हें सान्त्वना देती हुई हृदय से लगाती हैं। उस समय का दृश्य देखकर मेरे नेत्रों में प्रेमाश्रु उमड़ आते हैं। ऐसी सेवा-वृत्ति वाले त्यागियों द्वारा ही गुरुकुलों में सजीवता आ सकती है।

जैसे समुद्र में मोती बहुत हैं, किन्तु चुनने वाला तो असमर्थ होता है। मैं क्या गुणों को दर्शा पाऊँगी ? बस मेरी प्रभु से हार्दिक प्रार्थना है कि शिव-पार्वती जैसी युगल जोड़ी के नेतृत्व में गुरुकुल पूर्ण सफलता प्राप्त करे।

प्रधान, आर्यसमाज,
गुन्नोर

(श्रीमती) चन्द्रवती

निष्ठावान् आर्य

आदरणीय शास्त्रीजी को जन्म के आरम्भ से ही सहज आर्य संस्कार उपलब्ध हुए। आज से उनासी वर्ष पूर्व 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के प्रतीक दीपावली के महापर्व पर, भारत की वरिष्ठतम स्मरणीय महापुरुषों की श्रद्धा को संजोये श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का जन्म एक ऐसे आर्यपरिवार में हुआ, जहाँ वैदिक आस्था और संस्कारों का अजस्र स्रोत प्रवाहित था। आपके पूज्य पिता स्वर्गीय श्री माधवसिंहजी आर्यसमाज के अनुयायी तथा तदनुकूल वैदिक सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धापूर्वक आस्थावान् थे।

यद्यपि शास्त्रीजी के जीवन का बहुत बड़ा भाग शिक्षा के क्षेत्र में बड़ा ही व्यस्त रहा और अब भी है, परन्तु आरम्भिक मूल संस्कार प्रतिक्षण आर्यसमाज की सेवा के लिए आपको सदैव तत्परता के साथ आस्थावान् बनाये रहे। वही वैदिक श्रद्धा और वही आर्यनिष्ठा, जो जन्म के आरम्भ से आपको उपलब्ध हुई, उसने आज अस्सी वर्ष की इस अवस्था में भी, जबकि यदि आप चाहें तो इस समस्त व्यस्त उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकते हैं, अपने ऋषि-ऋण से उन्मुक्त होने के लिए, यौवन से भी अधिक परिश्रम, चिन्तन तथा तत्परता के साथ, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में आपको कार्यशील बनाये हुए है।

छोटे से रूप में आरम्भ इस गुरुकुल की आज सैकड़ों की संख्या में स्नातकीय शिक्षा से दीक्षित आर्य विदुषियों की उपलब्धि का ऐतिहासिक सौभाग्य तथा देश में प्रख्यात कीर्तिमान का संस्थापकीय श्रेय यदि माता लक्ष्मीदेवीजी को है, तो निश्चय ही आज के इस पल्लवित, पुष्पित, सुरभित, व्यापक रूप का बहुत बड़ा अनुपमेय श्रेय गुरुकुल के अध्येता, आर्य जगत् के मनीषी विद्वान्, देश के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री, कन्या गुरुकुल के कुलपति श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री तथा उनकी सुयोग्य एवं आर्य विदुषी सहधर्मिणी श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री को ही है। आज देश में इस कन्या-प्रतिष्ठान का सम्मान और ख्याति के रूप में जो प्रथम स्थान है, वह आप दोनों के

अथक परिश्रम, व्यस्त चिन्तन तथा जीवन की तन्मयता का शुभ परिणाम है।

इस शुभ अवसर पर मैं गुरुकुल संकाय तथा उसकी प्रवन्धकारिणी सभा के समस्त सदस्यों की ओर से प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि 'भूयश्च शरदः शतात्'—इस आर्य दम्पति को सौ वर्ष से भी अधिक स्वस्थ आयु प्राप्त हो और ये यथावत् अपने समाज और राष्ट्र के लिए मातृत्व के योग्य विदुषियों के समर्पण में अनवरत रूप से सक्षम रहें।

प्रेमचन्द्र शर्मा

प्रधान, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हाथरस

मेरे जीवन के एकमात्र प्रिय बंधु

श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री मेरे जीवन के एकमात्र प्रिय बंधु, प्रिय मित्र हैं। सन् १९१५-१६ में जबकि मैं गुरुकुल वृन्दावन के महाविद्यालय में अध्ययन कर रहा था, उसी समय से महेन्द्रप्रताप जी से मेरा घनिष्ठ परिचय रहा है और आज सन् १९७९ में उनसे घनिष्ठ संबंध के चौंसठ-पैंसठ वर्ष बीत चुके हैं।

सन् १९१८ में गुरुकुल वृन्दावन से स्नातक होने के बाद एक वर्ष तक मैं गुरुकुल का आचार्य रहा और उसके बाद दो-तीन साल तक आगरा में रहकर 'आर्यमित्र' का संपादन किया। आगरा में ही महेन्द्रप्रतापजी का घर था और उन दिनों मैं एक प्रकार से उनके घर के साथ ही जुड़ा रहा। जब मैं श्रीमती ज्योत्स्ना देवी से अपने विवाह-संबंध के लिए गुजरात के सूरत नगर गया था, उस समय मेरे एकमात्र साथी महेन्द्रप्रतापजी ही थे। यह बात ७ अगस्त, १९२४ की है। इससे हम दोनों के घनिष्ठ संबंध की झलक मिलती है। इस प्रकार मुझे उन्हें बहुत समीप से देखने का अवसर मिला। मैं उनकी मस्तिष्क और हृदय की कई विशेषताओं का सदा प्रशंसक रहा हूँ।

मेरे जीवन की एक विशेष साधना श्रीमती अक्षयकुमारीजी का महेन्द्रप्रतापजी से विवाह-संबंध कराना है। इस अंतर्जातीय विवाह-संबंध के विषय में बहुत से लोगों को, जो यद्यपि अपने को आर्यसमाजी कहते थे, बहुत आपत्ति रही। यह दुर्भाग्य की बात है कि आज भी आर्य-समाजी परिवारों में अंतर्जातीय विवाह बहुत कम प्रचलित हुए हैं।

मैंने अपने जीवन की जो बहुत पुरानी सामग्री संचित कर रखी है, उसमें विशेष रूप से महेन्द्रप्रतापजी के चौंसठ-पैंसठ साल पुराने पत्र हैं, जिनसे उस समय की स्मृतियाँ हरी-भरी हो जाती हैं।

शास्त्रीजी एक अनुभवी शिक्षाविद्, उच्चकोटि के प्रशासक एवं कर्मठ कार्यकर्ता हैं। उन्हीं के संरक्षकत्व के कारण आज सभी गुरुकुलसंस्थाओं में कन्या गुरुकुल, हाथरस का बहुत प्रमुख स्थान है, जहाँ पर सैंकड़ों कन्याओं का अध्यापन सच्चे अर्थों में गुरुकुल की प्राचीन प्रणाली के वैज्ञा-

निक रूप में हो रहा है। इससे पूर्व वे जिस भी संस्था में रहे, उसका अप्रत्याशित रूप से विकास हुआ। उनकी कार्यक्षमता से प्रभावित होकर ही मैंने भारतीय विद्या संस्थान, दिल्ली के निदेशक के रूप में और लाजपतराय कालेज, साहिबाबाद के संचालन में उनका सहयोग प्राप्त किया था।

मैंने बहुधा यह भाव आर्य जनता के आगे रखा कि गुरुकुल वृन्दावन के पुनर्जीवन के लिए भी आचार्य महेन्द्रप्रतापजी जैसे व्यक्ति की बड़ी आवश्यकता है, परंतु दुर्भाग्य की बात है कि आर्यसमाजियों में दलबंदी के चक्कर में फँसे रहने के कारण मेरी इस गुरुकुल संबंधी धारणा का कोई फल न निकल सका। यह हर्ष की बात है कि आचार्य महेन्द्रप्रतापजी के गुरुकुल वृन्दावन न जाने से कन्या गुरुकुल, हाथरस की समृद्धि बढ़ गयी है। मेरी आंतरिक इच्छा यही हो रही है कि मैं कन्या गुरुकुल के वातावरण में ही अपने जीवन के अंतिम दिन बिता सकूँ।

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री
भूतपूर्व संस्कृत प्रोफेसर, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
भूतपूर्व डीन, कला संकाय, आगरा विश्वविद्यालय, मेरठ

वात्सल्यपूर्ण हृदय

मुझे अपनी पुत्री को कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में पढ़ाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तभी मुझे पूज्य शास्त्रीजी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। जहाँ मुझे उनके अन्य महनीय गुणों ने प्रभावित किया, वहीं सबसे अधिक प्रभावित किया उनकी पितृवत्सलता ने। नवीन प्रविष्ट बच्चों को (जो अपने माता-पिता से बिछुड़ने के कारण दुखी रहते हैं) प्रेमपूर्ण बातों से, खिलौने, मिठाई, आदि देकर बहलाने का यत्न करना, उनकी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखना आदि में शास्त्रीजी के पितृवत्सल हृदय की झाँकी मिली। शास्त्रीजी की धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री के ब्रह्मचारिणियों के प्रति स्नेहभाव ने भी मुझे बहुत प्रभावित किया। शास्त्रीजी एवं बहिनजी के पितृ-मातृ वात्सल्य के कारण ही आज (गुरुकुल अध्ययन समाप्ति के कई वर्ष उपरान्त) भी मेरी पुत्री उन्हें अपने माता-पिता तुल्य ही मानती है और उसी भावातिरेक से उनसे मिलने जाने को लालायित रहती है, जैसे कोई पुत्री अपने मायके जाकर माता-पिता से मिलने को उत्सुक रहती है।

इस प्रकार न मालूम कितनी पुत्रियां उनके सान्निध्य में ज्ञान-लाभ कर अपना जीवन निर्माण कर रही हैं। प्रभु से प्रार्थना है कि चिरकाल तक वे दोनों इसी प्रकार विद्या-दान द्वारा नारी जाति को समुन्नत कर राष्ट्र सेवा में अग्रणी बने रहें।

भगवतीप्रसाद महेश्वरी
पुरदिलपुर

स्तवन : प्रशंसक सहयोगी

सप्रेम अभिनंदन

श्रीमान् प्रो० महेन्द्रप्रताप शास्त्री को मैं ३०-३५ वर्ष से जानता हूँ। उनका जीवन शिक्षण-संस्थाओं की सेवा में व्यतीत हुआ है। वे अपनी गुणवत्ता और योग्यता से ही प्राध्यापक से प्रिंसिपल पद पर आसीन हुए हैं। उनका अभिनंदन शिक्षाविदों का अभिनंदन है। किं बहुना—

यः शिक्षकाग्रेसरतां दधानः
प्रबंध-संबंधविधौ पटीयान्।
आतिथ्यसौहार्द-कृतौ प्रवीणः
सोऽयं प्रतापस्य महेन्द्रशास्त्री॥

उत्सृज्य तीव्रं स्वसुखाभिलाषं
सन्तोष-पोषं कुशलोऽभजद् यद्।
स्वं सासनी-नाम्नि वर्तमानम्
स्थाने कुलं कान्यभवत्यजस्रम्॥

प्रशस्ति सप्तकम्

शिक्षाजगद्गीत गुणप्रकर्षः
सूनुः शुभो माधवसिंहहर्षः।
शिक्षां सदा भारतवर्षमध्ये
वर्षेत् प्रतापान्त्यमहेन्द्रशास्त्री॥१॥

उदारशीलो ललितः कलाभिः
धुर्याभिरास्ताम् बलितोऽमलाभिः।
विज्ञानविद् विज्ञविनीतभावः
जीव्यात् प्रतापान्त्यमहेन्द्रशास्त्री॥२॥

प्राचार्यतां गुरुकुलेषु बहुत्र कुर्वन्
कालेजमप्यजयद्बुद्धिधनः प्रबध्नन् ।
प्राचार्यतां वृत्तितर्ति वितन्वन्
बंधुर्न कस्य गुरुवर्य महेन्द्रशास्त्री ।।३।।

अध्यापने निपुणकीर्त्तिमसावविन्दत्
संस्थासु सत्कुलपतित्वमहो दधानः ।
श्लाघ्यस्तथैव निजजीवनवार्तवृत्तैः
वाचं विना सदुपदेशमसावदिक्षत् ।।४।।

जीव्यादयं विरतवाग् रुचिरस्वभावः
श्रीमाधवस्य जनकस्य पदानुसारी ।
मानी शुभार्यचरितस्य वदान्यधन्यः
वंद्याभिनंद्य चरितोऽस्ति महेन्द्रशास्त्री ।।५।।

छात्रेष्वमुष्य महती करुणा विभाति
ऐक्षिष्ट यत् स्वतनयानिव ताँश्च ताँश्च ।
वात्सल्यपूर्णहृदयः सदयः क्रियावान्
वन्द्यः प्रतापसहितः स महेन्द्रशास्त्री ।।६।।

छायावृक्षमुपाश्रयन्ति पथिषु श्रांताहि पांथा यथा
कन्यानां कुलमाश्रयन्ति परितः कन्यास्तथा सासनीम्
तास्वेकास्य शुभं शुभेन मनसा हृष्यन्त्यनुध्यायति
काचिन्निश्चिनुते महेन्द्रचरणा धत्तेऽनुगत्वंधिया ।।७।।

हरिदत्त शास्त्री
वेदान्ताचार्य

कुलपति, गुरुकुल महाविद्यालय,
ज्वालापुर

नमस्या दीयते तस्मै महेन्द्राय प्रतापिने

सारस्वतं तपस्तप्त्वा
राष्ट्रोद्धारस्य हेतवे।
निखिलं जीवनं येन
विद्या - दानाय यापितम् ॥
शीलेन प्रज्ञया दीप्तः
शिक्षकाणां धुरि स्थित-।
संस्कृत्याः वाटिकां रम्यां
सिंचन् स्नेहेन वर्धताम् ॥
आर्य - धर्म - प्रबोधाय
शिक्षायां शील - कर्मणा।
सहस्रं बोधिलाश्छात्राः
नमस्तस्मै तपस्विने ॥
सौम्यत्वं सौमनस्यं वै
कल्याणी स्वास्थ्य-संपदा।
दिव्या सारस्वती-सेवा
भूयाद् वै शरदां शतम् ॥
प्रताप-शालिने तस्मै
महेन्द्राय मनीषिणे।
अयं पुष्पाञ्जलिः प्रीत्या
सादरं संप्रदीयते ॥

उपाचार्य, गुरुकुल महिला महाविद्यालय
पोरबन्दर

शंकरदेव विद्यालंकार

श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रिणोऽभिनन्दनम्

गुणान्वितं ज्ञान - विभा-विभान्तं
विकस्वरं वेद - सुधौघ - दीप्त्या ।
स्वकर्मणा दग्धतमस्ततिं तं
महेन्द्रवर्यं गुणिनं गृणामि ॥
सदा प्रवृत्तं जनता-हितेषु
सदा प्रहृष्टं जन - ताप - नाशे ।
मुदा प्रवृत्तं गुणिनां विकासे
महेन्द्रवर्यं नतिमातनोमि ॥

सदार्यधर्म - ध्वज - धारणे यो
धुरीणतामावहदुग्रकीर्त्तिः ।
समाज - सेवा - व्रतमास्थितो यो
गुरोः कुलं संश्रयते वदान्यः ॥
यो बालिकानां हितचिन्तकः सन्
स्वजीवनं यापयते परार्थम् ।
ज्ञानप्रसारार्थमुदात्तकीर्त्तिः
कुलाधिपत्यं श्रयते विपश्चित् ॥

नारायणस्यापि यतेर्निदेशं
निधाय मूर्ध्नि व्रतमास्थितो यः ।
समाजसेवां मनुते स्वलक्ष्यं
दीनार्तलोकोद्धरणं च श्रेष्ठम् ॥
शिक्षा - जगत्यां समवाप्य कीर्त्तिं
पदं च प्राचार्यवरस्य प्राप्य ।
स्वज्ञान - ज्योतिः प्रसरेण नित्यं
हरत्ययं पापततिं निगूढाम् ॥

आचारशिक्षां वितनोत्यजस्रं
श्रमस्य सिद्धिं गुणगौरवं च।
लक्ष्यस्य प्राप्त्यै निजदेहदानं
गुणग्रहे चाभिरुचिं प्ररूढाम्॥
सदोच्चभावाश्रयणं सुखाय
दुःखालयं कृत्रिमजीवनं तत्।
अध्यात्मशुद्धिः चरितं पवित्रं
यस्यास्ति शिक्षा स बुधोऽस्ति धन्यः॥

येनार्पितं लोकहिताय सर्वं
मुदा प्रदत्तं निजवैभवं च।
कुलाधिपत्ये रुचिमादधानः
प्रतिक्षणं राष्ट्रहिते प्रवृत्तः॥
'महेन्द्र'-वद् यो गरिमाणमाप्तः
'प्रताप'-राशिः सुगुणैक - कोशः।
'शास्त्री' सदा शास्त्रविचक्षणो ऽसौ
श्रियं च कीर्तिं लभतामजस्रम्॥

प्रधानाचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
गोपेश्वर (चमोली)

कपिलदेव द्विवेदी
एम० ए०, डी० फिल्०, पी० ई० एस०

कीर्त्तिकलिताष्टकम

शिक्षाशास्त्रिवरार्यनेतृप्रमुखो धीमान् यशस्वी विदाम्,
मूर्धन्यः श्रुतिधर्ममर्मकथने सन्दीक्षितो दक्षिणः।
श्रौताचारपरम्परा प्रसरणे यत् संप्रयासो महान्,
दीव्येद् वै शरदः शतं खलु महान् इन्द्रप्रतापो भुवि॥१॥

आर्याणां शुचिसंस्कृतेश्च सकले लोके प्रसाराय यः,
चिन्तायां नितरां सुधीरमनसां विद्यार्थिनां प्रीतये।
प्राचार्यत्वमलञ्चकार सुचिरं चोपाधि विद्यालये,
नो कस्याऽस्ति सचेतसस्तु हृदये यः श्रद्धया प्रार्चितः ॥२॥

शास्त्रेष्वस्य गतिर्यथाऽप्रतिहता बुद्धेः प्रबुद्धस्य तु,
वागीशस्य तथा गतिः प्रवितता सम्भाषणे लेखने।
एका विस्मयकारिणी कलकला दाक्षिण्यसीमामिता,
यत् संस्थासुप्रबन्धने कुशलधीः नो साम्यमागाहते ॥३॥

श्रद्धेयाऽद्भुतब्रह्मचर्यतपसा संवीत देहस्थितिः,
प्राणायामपरायणो निजमनो योगाऽग्निनाऽऽशोधयत्।
ब्रह्मध्याननिरस्तसर्वकलुषो यस्तस्य पूतात्मनः,
आनन्दस्य दयाऽनुपूर्वविदितो यः ख्यातभक्तोऽस्त्ययम् ॥४॥

कन्याऽध्यापनसासनीगुरुकुले चाऽध्यक्षतां सम्भजन्,
वार्धक्येऽविरतं रतस्तु तनया जीवोद्धृतौ सुव्रती।
यत्पत्नीत्वमुपागताऽक्षयकुमारी कीर्तिगाथेव सा,
जीव्याद् वर्षशतं तपोवरधनश्चेन्द्रप्रतापो महान् ॥५॥

अन्ये चाऽपि मदीय दृष्टिनिहिता सन्त्येव लोकाः भुवि,
प्राचार्यत्वमुपागता नरवराः किन्त्वेष चित्रः परः।
स्ववर्णाणी समुपासकः समुदितः प्राच्यां यथा भास्करः,
अज्ञानस्य तमस्तति व्यपनुदन्निन्द्रप्रतापो महान् ॥६॥

लक्ष्मीर्यस्य सरस्वती च कमला गायन्ति कीर्त्ति कलाम्,
यस्याक्षय्ययशो मुदार्य्यजनता भूयस्तरां गायति।
सन्निष्णातशिरोमणिर्गुरुमतिर्गायत्युमेशो गुणान्,
श्रीधर्मेन्द्रसुधीः सुधीरविजयेन्द्रः सञ्जगौ गौरवम् ॥७॥

तस्याऽहं ह्यभिनन्दनस्तुतिमिमां प्रस्तौमि सुप्रीतिभाक्,
श्रद्धासंवृतमानसः सुमनसां सुप्रीतये साम्प्रतम्।
पत्नी निर्मलमानसा मम सदा यत् कीर्त्तिमागायति,
जीवेद् वै शरदः शतं बुधवरो भूयश्च शरदः शतात् ॥८॥

आनन्दमन्दिरम्
बदायूं

विशुद्धानन्द मिश्र शास्त्री

कलकीर्त्तिषट्पदी

महेन्द्रप्रतापः सुधीः संविदानः,
शुभं सासनीस्थं कुलं रक्षमाणः।
समस्तार्यमर्यादरक्षां दधानः,
इरां स्वीकरोतु स्तुतिं सम्मुदा नः ॥१॥

सदा संस्कृतेः संस्कृतस्याप्यनूनाम्,
व्यधादुन्नतिं, सम्मतां यो मनूनाम्।
व्यवस्थां विधातुं गुरूणां कुलस्य,
सदा संरतः श्रीमहेन्द्रप्रतापः ॥२॥

सुधासारगीर्वाणवाणीचणस्य,
महेन्द्रप्रतापस्य कलकीर्त्तिगाथाम्।
कुलस्याऽभवत् योग्यनिष्णातकाः याः,
प्रगास्यन्ति नित्यं गृहाणां कुलेषु ॥३॥

श्रुतीनां समुद्धारणाय व्रती यः,
दयानन्दसन्देशमासाद्य सद्यः।
समुत्सृज्य सर्वं सुखं यश्च बव्रे,
व्रतं कन्यकाऽध्यापनायैव नूनम् ॥४॥

विदग्धैः मिलिन्दैः जनैः सम्वृतोऽयम्,
सदाचारपुष्पैर्यशः सत्परागैः।
सुगन्धैः सदा सत्यनिष्ठारसाढ्यः,
शुभाशाफलः कोऽपि मन्दारवृक्षः ॥५॥

सुलक्ष्यस्य पन्थानमालोकयत् वै,
जगत्सागरेऽस्मिन् भ्रमत्पोतकानाम्।
जनानाम् घनान्धन्तमः सम्भ्रमाणाम्,
महेन्द्रप्रतापः प्रकाशप्रदीपः ॥६॥

(श्रीमती) निर्मला मिश्रा
प्रधानाचार्या, पार्वती आर्य कन्या संस्कृत इंटर कालेज
बदायूं

शत-शत प्रणाम

लक्ष-लक्ष जीवन की आशा,
कोटि-कोटि आर्यों की भाषा।
मानवता की नव परिभाषा,
तुमसे ही शोभित धराधाम।
स्वीकार करो हे पूर्ण काम,
शत-शत प्रणाम ।।

जन जीवन के प्रेरक स्रोत,
शुभ दिव्य भाव से ओतप्रोत।
तुम मुक्त धाम के पुण्य पोत,
भारत जननी के सुत ललाम।
स्वीकार करो श्रद्धा सुनाम,
शत-शत प्रणाम ।।

ज्ञान दिया तुमने धरणी को,
पार किया खुद वैतरणी को।
तार दिया हर संतरणी को,
तुम धर्मधनी तुम धर्मधाम।
स्वीकार करो हे सत्यकाम,
शत-शत प्रणाम ।।

अमित ज्ञान अतुलित सुखदाता,
नूतन ज्ञान सृष्टि - निर्माता।
कर्म-मर्म सद्धर्म विधाता,
हित-चिन्तन में रत अष्टयाम।
स्वीकार करो वन्दन अकाम,
शत-शत प्रणाम ।।

हे वीतराग मानव महान्,
तुम पूर्णकाम करुणा-वितान।
बुद्धत्वपूर्ण दिव्यावदान,
हे ज्ञानधनी हे पुण्य ग्राम !
स्वीकार करो हे धर्मधाम,
शत-शत प्रणाम ।।

प्रोफेसर, बी० एस० ए० कालेज
मथुरा

जयकुमार मुद्गल

श्री महेन्द्र-स्तवन

पंकिल पथ से दूर सुपथ श्रुति शुचि अनुगामी,
डिगे नहीं कर्तव्य-क्षेत्र में श्रम के हामी।
तत्त्व ज्ञाता, वेद मनीषी, विमल विचारक,
श्रीधर शान्त स्वभाव, सत्व गुण गरिमा-धारक ।।१।।
महिमाशाली शील, मनुजता के प्रिय त्राता,
हानि-लाभ में साम्य स्वरों के हे उद्गाता।
इंगित माँ लक्ष्मी[1] के व्रत के पालनकर्त्ता,
द्रवित दीन कुल कानन जन के दुखदल हर्त्ता ।।२।।
प्रखर पश्चिमी पूर्व सुधा शिक्षा संयोजक,
तारतम्य त्रुटिरहित, आर्य-ध्वज के उत्तोलक।
पद-पद पर ले रहीं परीक्षा अगणित बाधा,
जीवन का शुचि लक्ष्य किन्तु है, तुमने साधा ।।३।।
शास्त्रीय सङ्गम की धारा के हे स्नातक,
कार्य-कुशलता से कहलाये नरवर नायक।
अक्षय[2] कीर्ति-कला ने सचमुच वरण किया है,
भिन्न नहीं, गुण गणित योग संचरण किया है ।।४।।
नंदन कन्या गुरुकुल के हे पावन माली,
दयानन्द-थाती के पालक पौरुषशाली।
नतमस्तक हो आर्य जगत् करता अभिनन्दन,
अनुपम यह स्वीकार करो साहित्यिक चन्दन ।।५।।
क्षमता, ऋजुता, सौम्य सजगता, सदा बनी हो,
यम नियमों की समर भूमि में अमर अनी हो।
मंच महत्ता, प्रभुता के तुम अतुल धनी हो,
गरिमा महिमा आर्यकुलों की हीर-कनी हो ।।६।।
ललित कमल[3] सद्भाव सुमन सब पर बरसाओ,
मति मतावर सुमति सुधा से सर सरसाओ।
यज्वन्! प्रवचन यज्ञ किरण से भागे राका,
होवे उन्नत नव प्रकाशमय 'प्रणव' पताका ।।७।।

आर्यनगर, फिरोजाबाद

'प्रणव' शास्त्री, एम० ए०

१. श्वश्रू २. धर्मपत्नी ३. कमला स्नातिका

प्रतिभावान् कुलपति

शान्ति में भी क्रान्ति जिनके हृदय में रहती समाई।
आर्य जनता के हृदय में धाक गुणगण से जमाई।।

जन्म से ही प्राप्त शुचिता साधुता ने जो सँवारे।
श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री धन्य वे कुलपति हमारे।।

बुद्धिवैभव कीर्तिमय पुरुषार्थमय जीवन बनाया।
एक छोटी-सी कुटी को विश्व कन्याकुल बनाया।।

व्याप्त है जिस देह में अनुपम छटा नव तरुण जैसी।
दीप्ति कुल की कीर्ति-सी जो भानु की शुभभा सरीखी।।

दे रहे निज साधना से, प्रेरणा के केन्द्र सबके।
हैं पिताजी एक ही वे चार सौ कन्या जनों के।।

देखकर कहते जिन्हें हम वे पिताजी आ रहे हैं।
पूछकर सबसे कुशल जो नित्य अति प्रमुदित रहे हैं।।

सुभग अभिनन्दन सुअवसर पर उन्हें अतिशय बधाई।
आज दीक्षा, मान ने व्यक्तित्व पर है विजय पाई।।

नित्य गुरुकुल की समुन्नति मन्त्र निज मन में विचारें।
श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री धन्यतम कुलपति हमारे।।

हों शतायु, शती मनाकर हम सभी शुभतम बनेंगे।
स्नातिका, संरक्षिका, कुलकन्यका हर्षित रहेंगे।।

है यही शुभकामना कुलवासियों के वन्द्य प्यारे।
श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री, भव्य शुभ कुलपति हमारे।।

संस्कृत-विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हाथरस

रमेश वाचस्पति

शुभकामना

शिक्षा - शास्त्री मनीषी सुवक्ता सुविज्ञवर,
आर्य संस्कृति के शुचि परम पुजारी हैं।
देश और विदेश वेद धर्म का सन्देश दिया,
दृढ़प्रतिज्ञ वेद धर्म ध्रुव धारी हैं॥
कुशल प्रबन्धक सरल औ सरस स्नेही,
पावन 'पीयूष' प्रभु प्रेम के पुजारी हैं।
अक्षयकुमारी साथ महेन्द्रप्रताप आप,
जियें युग-युग शुभकामना हमारी है॥

अजमेर **पन्नालाल 'पीयूष'**

गुरुकुल का हितैषी

वह कौन है ? वह कौन है ? गुरुकुल का हितैषी।
जिसने बनाई बालिकाएँ, वेद - मनीषी॥
स्नातिका बन बालिका जब कुल से निकलतीं।
वह दृश्य मनोहर छटा, विद्युत्-सी चमकतीं॥
जग में प्रकाश करतीं जन साधुवाद देते।
उपकारी शास्त्री को सब धन्यवाद देते॥
माँ शारदा के आप उपासक रहे सदा।
आचार्य कुल के होकर सेवक रहे सदा॥
"माँ लक्ष्मी" की वाटिका "अक्षय" सहित सींची।
सरकार और जनता की प्रेम डोर है खींची॥
पाये अस्सी वर्ष किये कार्य शुभ बड़े।
है प्रार्थना भगवान् से शत वर्ष जियें वे॥
वे हैं महेन्द्र शास्त्री प्रताप "सु—दर्शन"।
'कृष्णा' है अभिनंदन उन्हीं को ग्रन्थ-समर्पण॥

वरोठा **(श्रीमती) कृष्णाकुमारी चौहान**

नमन: शिष्यगण एवं अन्य

एक आदर्श प्रधानाचार्य

पूजनीय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के श्री चरणों में बैठकर मुझे संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे उच्चकोटि के विद्वान् हैं तथा छात्रों के प्रति उनका व्यवहार सदैव सहानुभूतिपूर्ण रहा है। वे एक सफल अध्यापक एवं आदर्श प्रधानाचार्य रहे हैं। वर्तमान युग में वे छात्रों एवं अध्यापकों के लिए आदर्श हैं। मेरी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वे चिरायु हों और सर्वथा सुखी रहें।

महन्त, दरबार श्री गुरु रामरायजी महाराज
देहरादून

इन्दिरेश चरणदास
सज्जादेनशीन

विनोदप्रिय शास्त्रीजी

एक युग बीत गया। सन् १९३७ की बात है जब मैंने हाई स्कूल परीक्षा पास की व उसके पश्चात् कालेज में प्रवेश लेने के लिए यह निश्चय करना था कि कहाँ प्रवेश लूं? श्री गंगाप्रसादजी, रिटायर्ड जज, से मेरे बड़े भाई का संपर्क था जिनके माध्यम से यह निश्चय किया जा सका कि डी० ए० वी० इंटर कालेज, देहरादून में प्रवेश लिया जाये। श्री गंगाप्रसादजी का बड़ा घनिष्ठ संपर्क श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री से था। अतः उन्होंने मेरे प्रवेश हेतु शास्त्रीजी को पत्र लिखा। मैं अपने बड़े भाई के साथ डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में प्रवेश लेने हेतु गर्मी की चिलचलाती धूप में नैनीताल से चल पड़ा। जीवन में दूसरी बार यह रेल-यात्रा मैंने की। इससे पहले मैं जब हाईस्कूल में पढ़ता था, स्काउट-कैम्प में भाग लेने हेतु चन्दौसी (जिला मुरादाबाद) गया था। मन में एक आकांक्षा लिये देहरादून की यह यात्रा मैंने की जो मेरे लिए बिल्कुल नयी थी। दूसरे दिन सवेरे देहरादून पहुँचे। मैं व मेरे बड़े भाई सीधे डी० ए० वी० कालेज गये। श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री हॉस्टल के वार्डन थे। मुझे हॉस्टल में भी प्रवेश लेना था। देहरादून मेरे लिए सर्वथा नया शहर था जहाँ मेरा किसी से भी परिचय न था। मेरे बड़े भाई साहब ने

शास्त्रीजी को श्री गंगाप्रसादजी का पत्र दिया। मैंने श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया व उनके व्यक्तित्व की छाप तभी मेरे मन में पड़ी। धोती-कुर्ते में उनका व्यक्तित्व, बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें जो बरबस प्रभावित करती हैं, मुझ पर छाप छोड़ गयीं। उनकी कृपा से मेरा प्रवेश हॉस्टल में तो हुआ ही, कालेज में भी हो गया और मैं इंटरमीडिएट प्रथम वर्ष में प्रविष्ट हो गया। बात-चीत से मैं प्रभावित हो ही चुका था, अतः शास्त्रीजी का स्थानीय संरक्षक भी बनने हेतु अनुमोदन प्राप्त कर लिया। दूसरे दिन मेरे बड़े भाई मुझे वहाँ छोड़कर वापस नैनीताल लौट गये। ४२ वर्ष पुरानी बात है। मैं प्रथम वर्ष में ही 'आर्यकुमार सभा' का मंत्री चुन लिया गया। शास्त्रीजी ने उक्त सभा का पूरा कार्य मुझ पर छोड़ दिया। नित्यप्रति संध्या-हवन होता था और सभी छात्र भाग लेते थे। शास्त्रीजी तो रहते ही थे। सभी छात्रों को संध्या एवं नित्य हवन के मंत्र कंठस्थ हो गये थे। इसका हम लोगों के जीवन पर बड़ा असर पड़ा। धार्मिक शिक्षा मिली, नैतिक बल मिला जिसका आज की शिक्षा-पद्धति में नितांत अभाव हो गया है।

मैं कह सकता हूँ कि शास्त्रीजी द्वारा मुझे पितृतुल्य स्नेह प्राप्त हुआ। उनके माध्यम से उनके पारिवारिक जनों से परिचय हुआ तथा मैं सब का स्नेहभाजन बन गया। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी, जिन्हें मैं आज भी माताजी कहकर सम्बोधित करता हूँ, ने मुझे सदैव माता का स्नेह दिया व पुत्रवत् मुझे माना। हॉस्टल में रहते हुए भी मैं उनके घर के सदस्य के समान था। शास्त्रीजी के मार्गदर्शन से मैंने बहुत कुछ सीखा है। शास्त्रीजी केवल विद्वान् ही नहीं, वरन् एक दबंग एवं कुशल प्रशासक व योग्य शिक्षक रहे हैं। उनका दबदबा इतना अधिक था कि जहा वे निकल जाते वहीं शांति कायम हो जाती। शास्त्रीजी बड़े विनोदप्रिय भी हैं। छोटे बच्चे को छेड़ने में उन्हें बहुत मजा आता है। बच्चों से उन्हें स्नेह भी बहुत है। इस कालेज में लड़कों की शैतानी उनकी तीव्र दृष्टि से बच नहीं सकती थी, किंतु छात्रों को उत्साहित करने में उनका पूरा सहयोग रहता था। वे विनोदप्रिय तो इतने हैं कि देखकर आश्चर्य होता है कि इतने गंभीर होते हुए भी उनमें विनोदप्रियता कम नहीं। मुझे याद पड़ता है कि एक बार कोई अँग्रेजी का बैले ट्रुप देहरादून पहुँचा तथा किसी संस्था में उस ट्रुप ने अपना कार्यक्रम किया। छात्रों में इस प्रकार के कार्य देखने की इच्छा तो होती ही है। अतः अपने कुछ साथियों के साथ मैं भी चला गया। रात्रि में भोजन के पश्चात् हम उनसे आज्ञा लिये बिना ही चुपचाप चल दिये, क्योंकि शास्त्रीजी से आज्ञा मिलने की आशा ही न थी। शास्त्रीजी हॉस्टल में कभी-कभी अचानक निरी-क्षण हेतु आ जाते थे। दुर्भाग्यवश उसी दिन शास्त्रीजी ने रात्रि में राउंड लिया और मुझे व साथियों को अनुपस्थित पाया। जब हम लोग लौटकर आये तो मुझे ऐसा आभास हुआ कि मेरी चारपाई पर कोई सो रहा हो। मैं आश्चर्य में पड़ गया। जब रजाई उठाकर देखा तो हँसी रोकना असंभव हो गया। लकड़ी की कुर्सी कुछ इस प्रकार से लगाकर रजाई से ढक दी गयी थी कि कोई लड़का सो रहा है। तभी मन में यह दहशत हुई कि पकड़े गये, अब अवश्य सजा मिलेगी। खैर, कुर्सी हटाकर बिस्तर पर सो गया परंतु घबराहट से बहुत देर तक नींद न आयी। सुबह पेशी हुई व बैले देखने की बात कबूल करनी पड़ी और अनुमति न लेने के लिए क्षमा याचना भी करनी पड़ी, किंतु अनुशासन-प्रिय होने के नाते उन्होंने आठ आना जुर्माना लिया व भविष्य के लिए सचेत किया। इस प्रकार शास्त्रीजी का अनुशासन व विनोदप्रियता का उदाहरण इस एक घटना से प्राप्त हो जाता है।

जिस संस्था में शास्त्रीजी पहुँचे उसे उन्होंने उन्नति के शिखर पर पहुँचाया है। डी० ए०

वी० कालेज, लखनऊ में प्रधानाचार्य के पद पर रहते हुए उन्होंने न केवल उसकी नींव मजबूत की वरन् उसे ऊँचा उठाया और अपने कार्यकाल में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी।

शास्त्रीजी एक समाजसुधारक भी हैं। आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनन्य भक्त होते हुए उनके सिद्धांतों पर चलने का पूरा प्रयास वे करते रहे हैं। निजी स्वार्थ उनमें छू तक नहीं गया। सच्ची बात कहने में हिचकते नहीं—निर्भीक हैं।

शास्त्रीजी कट्टर आर्यसमाजी व आर्यसमाज के सिद्धांतों के कठोर अनुयायी भी हैं। अपने जीवन में उन्होंने जो आदर्श—गुरु, शिक्षक, पिता, मित्र के रखे हैं, उनसे उनके व्यक्तित्व में निखार आता रहा है और वे किसी भी व्यक्ति के लिए आदर्श बन सकते हैं। मेरे तो वे स्थानीय संरक्षक रहे हैं। अतः समय-समय पर उनके द्वारा दी गयी शिक्षाओं का मुझ पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। मुझ पर उनका आज भी वही स्नेह है जो वर्षों पहले रहा और यह सदा रहेगा, यह मेरा विश्वास है।

इस शुभ अवसर पर मैं उनके दीर्घजीवी होने की अंतःकरण से कामना करता हूँ।

सदस्य, लोकसेवा आयोग
उत्तर प्रदेश

दुर्गाप्रसाद आर्य

एक अनुभवी शिक्षा-शास्त्री

जुलाई १९३३ की बात है, जब मैं डी० ए० वी० हाईस्कूल, मुजफ्फरनगर से हाई स्कूल परीक्षा उत्तीर्ण करके उच्च शिक्षा की दृष्टि से डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में प्रवेश लेने के लिए पहली बार देहरादून आया था। उन दिनों मुजफ्फरनगर में हाई स्कूल से आगे शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। सबसे निकट मेरठ कालेज था परन्तु मैंने आर्यसमाजी संस्था के आकर्षण से डी० ए० वी० कालेज देहरादून को ही पसन्द किया था। वहाँ विद्यार्थियों से सुना कि हॉस्टल के वार्डन एक इंग्लैंड-रिटर्न्ड व्यक्ति हैं। उन दिनों जो व्यक्ति विदेश हो आता था, विशेषकर अपने शासकों के देश इंग्लैंड—उसकी अपनी ही एक विशेष योग्यता समझी जाती थी। वार्डन साहब का इंग्लैंड-रिटर्न्ड होना सुनकर मुझे कुछ निराशा हुई और मन में शंका उठी कि यह मेरे स्वप्नों की आर्यसमाजी संस्था नहीं होगी, पर सोचा कि जब यहाँ आ ही गया हूँ तो क्यों न यहाँ के रंग-ढंग ठीक से देख लूँ। अतः चिक उठाकर वार्डन साहब के कार्यालय में प्रवेश किया तो देखा कि खादी के चमकीले सफेद कुरते-धोती में गौरवर्ण के एक नवयुवक प्रोफेसर साहब बैठे थे। उनके दर्शन मात्र से ही मेरी अधिकांश शंकाएँ निर्मूल हो गयीं। जब उन्होंने छात्रावास का कार्यक्रम बताया कि प्रातः-सायं दोनों समय संध्या और यज्ञ होता है जिसमें सभी छात्रों की उपस्थिति अनिवार्य है; रविवार को सब छात्रों को पंक्तिबद्ध होकर आर्यसमाज मन्दिर जाना होता है, छात्रावास में बड़े छात्रों के लिए 'आर्य कुमार सभा' तथा

छोटे छात्रों के लिए 'आर्यबाल सभा' की सदस्यता अनिवार्य है; छात्रावास के भोजनालय में प्याज, मिर्च तथा खटाई का आना निषिद्ध है; छात्र अपने निजी व्यय के लिए भी पैसे अपने पास नहीं रख सकते; उनकी सब आवश्यकताएँ भोजन, दूध, फल, पुस्तक, कापी, नाई, धोबी आदि सब छात्रावास के कार्यालय से ही पूरी कर दी जाती हैं। यह सब जानकारी प्राप्त करके मुझे हार्दिक संतोष हुआ और मैंने डी० ए० वी० कालेज देहरादून, के 'दयानन्दाश्रम' नामक छात्रावास में, जिसके वार्डन थे—श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री—तुरन्त प्रवेश ले लिया। उन दिनों शास्त्रीजी की छात्रावास के प्रबन्ध और छात्रों के चरित्र-निर्माण की ऐसी ख्याति थी कि यद्यपि यह इंटर कालेज ही था, पर भारतवर्ष के सभी प्रांतों से ही नहीं, अपितु नेपाल तथा फीजी आदि के भी छात्र यहाँ पढ़ने आते थे। हैदराबाद सिंध, हैदराबाद दक्षिण, बिहार, पंजाब, महाराष्ट्र तथा मद्रास तक से छात्र 'दयानन्दाश्रम' में रहते थे और यह सब शास्त्रीजी के सुप्रबन्ध तथा छात्रों में व्यक्तिगत रुचि के कारण ही था। शास्त्रीजी १९२८ से १९४२ तक डी० ए० वी० कालेज देहरादून में संस्कृत के विभागाध्यक्ष रहे और 'दयानन्दाश्रम' छात्रावास के वार्डन भी। १९४२ में स्वर्गीय रासबिहारीजी तिवारी के आग्रह पर वे डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ के प्रिंसिपल होकर चले गये थे और उनके वहाँ से जाते ही 'दयानन्दाश्रम' छात्रावास का पतन भी प्रारम्भ हो गया था। अब छात्रावास वही है पर न वह दैनिक यज्ञ है, न आर्यकुमार सभा है, न वह रहन-सहन का ढँग है।

शास्त्रीजी का यह स्वभाव था कि जो माता-पिता अपने बच्चे की शिकायत करते कि वह उनके कहने में नहीं रहता और उद्दंडता करता है तो शास्त्रीजी उसे 'दयानन्दाश्रम' में भरती करने की सलाह दे देते थे और फिर उस छात्र की गतिविधियों का स्वयं हर समय ध्यान रखते थे। ऐसा ही एक छात्र एक बार बुलंदशहर से उसके पिता ने शास्त्रीजी के पास भेज दिया। वह बालक बड़ा ही नटखट और शैतान था। जिस कमरे में उसे रखते थोड़े ही दिनों में लड़के उससे तंग आ जाते और वार्डन साहब से प्रार्थना करते कि उसे उनके कमरे से बदल दिया जाये। जब कई कमरों से उसकी ऐसी ही अदला-बदली हो चुकी तो शास्त्रीजी ने मुझे बुलाकर कहा कि इसे हम तुम्हारे कमरे में भेज रहे हैं। मैंने प्रार्थना की कि मेरा ऐसा कौन-सा अपराध है, जो इसे मेरे साथ रखा जा रहा है, तो शास्त्रीजी ने कहा कि देखो, यदि तुम्हारे सम्पर्क में रहकर इस विद्यार्थी का जीवन सही रास्ते पर लग जाये तो तुम्हें कितना श्रेय मिलेगा। बस यह बात मेरे मन में बैठ गयी और मैंने उसे अपने कमरे में ले लिया। फिर जब तक वह छात्रावास में रहा उसकी कभी कोई शिकायत नहीं आयी और अब वह उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग में एक उच्च-अधिकारी के रूप में कार्य कर रहा है। शास्त्रीजी कहा करते थे कि यदि हमारे थोड़े-से प्रयत्न से किसी बच्चे का जीवन सुधर जाये तो कितनी बड़ी बात है। इसी उद्देश्य से वे नटखट-शैतान छात्रों में अधिक रुचि लेते थे और उनके साथ तरह-तरह के प्रयोग करते रहते थे।

उन दिनों डी० ए० वी० कालेज, देहरादून के प्रिंसिपल थे स्वर्गीय श्री लक्ष्मणप्रसादजी। लक्ष्मणप्रसादजी अपने समय के उत्तर प्रदेश के शिक्षा-शास्त्रियों में एक विशेष स्थान रखते थे। वे शास्त्रीजी के पूज्य पिता स्वर्गीय ठाकुर माधवसिंहजी के सहपाठी भी रहे थे। इस कारण शास्त्रीजी उनका विशेष सम्मान करते थे। लक्ष्मणप्रसादजी वर्षों से आर्यसमाज देहरादून के प्रधान चले आ रहे थे। उनका सिद्धांत था कि मनुष्य का पहला कर्तव्य तो है उसके प्रति जहाँ से वह जीविका कमाता है, फिर दूसरा कर्तव्य है अपने परिवार के प्रति और इन दो से जो समय

बचे उसमें कर्तव्य है समाज-सेवा का, परंतु शास्त्रीजी का मत था कि इस क्रम में समाज-सेवा को अपने परिवार से प्राथमिकता देनी चाहिए और इसी कारण कालेज से जो भी समय बचता था वे समाज-सेवा में लगाते थे। आर्यसमाज के हित को दृष्टि में रखते हुए ही शास्त्रीजी आर्यसमाज, देहरादून के १९३४ के वार्षिक निर्वाचन में प्रधान-पद पर निर्वाचित हुए। उनके प्रधानत्व में आर्यसमाज, देहरादून ने सर्वांगीण उन्नति की। उसी काल में उत्तरी भारत की प्रसिद्ध संस्था श्री श्रद्धानन्द अनाथ वनिताश्रम की स्थापना राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी के कर-कमलों द्वारा आर्यसमाज, देहरादून के तत्वाधान में हुई तथा १९३९ में आर्यसमाज द्वारा किये गये हैदराबाद सत्याग्रह में धन-जन से भारी मात्रा में सहायता आर्यसमाज, देहरादून से भेजी गयी। १९३४ के बिहार भूकम्प में शास्त्रीजी ने देहरादून से भारी मात्रा में धन तथा वस्त्र एकत्र करके राजेन्द्र बाबू को भेजे थे। हरिजन सेवक संघ की पश्चिम शाखा के शास्त्रीजी मंत्री रहे तथा देहरादून नगर के रिस्पना मुहल्ले में आग लग जाने से जो हरिजन बस्ती जलकर राख का ढेर हो गयी थी, शास्त्रीजी के ही अथक परिश्रम तथा स्वर्गीय चौधरी बिहारीलालजी के सहयोग से टीन की छत के पक्के मकान बनाकर उन्हें आबाद किया गया था। जितने दिन शास्त्रीजी देहरादून में रहे, उन दिनों का कोई ऐसा सामाजिक एवं शैक्षिक कार्यक्रम नहीं था, जिसमें शास्त्रीजी अग्रणी न रहे हों।

उस समय की देहरादून जिले की सभी शिक्षा-संस्थाओं की प्रबन्ध समितियों में शास्त्रीजी प्रधान या मंत्री पद पर निर्वाचित किये जाते थे। महादेवी कन्या पाठशाला कालेज, नारी शिल्प मन्दिर इंटर कालेज, आशाराम ऐंग्लो वैदिक इंटर कालेज, विकासनगर (जिला देहरादून) रमादेवी महिला इंटर कालेज मसूरी तथा रामप्यारी आर्य कन्या पाठशाला, देहरादून आदि सभी संस्थाओं के उत्थान में शास्त्रीजी का प्रधान अथवा मंत्री रूप में सक्रिय सहयोग रहा है।

'दयानन्दाश्रम' छात्रावास के तो सभी छात्र उनके परिवार के सदस्य थे। जब कोई छात्र बीमार हो जाता तो श्रद्धेय शास्त्रीजी घंटों उसके पास बैठे रहते और स्वयं अपने हाथ से उसे दवाई पिलाते। मैं स्वयं जब इंटर द्वितीय वर्ष कक्षा में था तो मियादी ज्वर से लगातार सात सप्ताह तक पीड़ित रहा। मुझे याद है कि शास्त्रीजी ने ही नगर के सुविख्यात डॉक्टर चान्दना को मुझे देखने के लिए बुलाया था। कालेज तथा छात्रावास में रहते हुए ही नहीं, कालेज से चले जाने के पश्चात् भी उनके पुराने छात्र अपने जीवन की समस्याएँ उन्हें लिखते रहते हैं और वे यथाशक्ति सबकी सहानुभूतिपूर्वक सहायता करते रहते हैं। किसी को विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए, किसी को नौकरी अथवा अन्य व्यवसाय में लगने के लिए, किसी को परीक्षक आदि बनने में सहायता करते रहते हैं। जब कभी किसी भी पुराने छात्र ने अपनी कोई समस्या शास्त्रीजी को लिखी, यदि उसकी सहायता नहीं भी बन पड़ी तो सांत्वना का पत्र तो उसे अवश्य ही समय पर पहुँच जाता था।

शास्त्रीजी का स्वभाव है कि वे जो भी कार्य करते हैं, उसे उत्तम ढंग से करते हैं। लिखाई कागज के अनुरूप हो, दोनों ओर ठीक से हाशिया छोड़ा गया हो, लाइनें सब सीधी हों, शब्दों की बनावट शुद्ध एवं एकरूप हो। लिखने के पश्चात् कागज ठीक ढंग से मोड़ा गया हो, लिफाफे के बीच में ठीक से रखा जाये, कार्ड अथवा लिफाफे पर पता सुवाच्य अक्षरों में ठीक मध्य में अंकित हो—ऐसी सब बातों पर शास्त्रीजी पूरा ध्यान रखते हैं। सब वस्तुएँ यथास्थान ठीक ढंग से रखी जावें। बिस्तर भी यदि बिछाना हो तो चादर पलंग के चारों ओर बराबर लटकती रहे, टेढ़ी-मेढ़ी न हो। बिस्तर लपेटना या बाँधना हो तो दोनों सिरे एक-से मोटे-पतले होने चाहिए। कपड़ा

पहनना या ओढ़ना हो तो वह भी ठीक ढँग से होना चाहिए। शास्त्रीजी का अपना लेख हिन्दी एवं अंग्रेजी दोनों ही भाषाओं मे कितना चित्ताकर्षक है। कपड़े भी वे यद्यपि शुद्ध खादी के पहनते हैं परन्तु मजाल है कि जो कहीं कुरते में सलवट या धब्बा दीख जावे। कुर्त्ते के बटन भी सोने की फूलदार घुंडी के सुन्दर बने हुए हैं। उन दिनों के विद्यार्थी तो कहा करते थे कि शास्त्रीजी दिन में दो बार कुरता-धोती बदलते हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि वे प्रत्येक छोटे-से-छोटे काम को सुव्यवस्थित एवं सुन्दर ढँग से करते हैं और दूसरों से ऐसा ही करने की आशा करते हैं।

मैंने 'दयानन्दाश्रम' छात्रावास में दो वर्ष के निवास के दिनों जितना पास से शास्त्रीजी को देखा उतनी ही मेरी श्रद्धा उनके प्रति बढ़ती गयी और मैं उन्हें तभी से आज तक एक आदर्श गुरु मानता आया हूँ। मेरे प्रति उन्हें भी पुत्रवत् स्नेह है। मेरी और मेरे परिवार की उन्नति में सदैव उनका आशीर्वाद और शुभकामनाएँ मेरी सहायक रही हैं।

शास्त्रीजी का जीवन एक कर्मठ जीवन रहा है। खाली बैठना तो उन्हें असह्य है। उनके सब कार्यों की सफलता का यदि पास से विश्लेषण किया जाये तो ज्ञात होगा कि शास्त्रीजी ने अपने जीवन में जो इतनी भारी समाज सेवा की है वह सब आदर्श देवी पूज्या माता अक्षयकुमारीजी शास्त्री के ही अमूल्य सहयोग एवं सेवा का परिणाम है। मुझे यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि पूज्य शास्त्रीजी की धर्म, जाति, समाज तथा शिक्षा-जगत् की सब सेवाओं का श्रेय वास्तविक रूप में पूज्या माता अक्षयकुमारीजी को ही है जिन्होंने श्री शास्त्रीजी की समाज-सेवा को अपनी तथा बच्चों की देखरेख से सदैव प्राथमिकता दी है।

देहरादून

विश्वम्भर सहाय
एडवोकेट

श्रद्धास्पद शास्त्रीजी

मेरे घर के पीछे एक मंदिर है, जिसमें एक पीपल का बड़ा पेड़ है। इस पर प्रायः पक्षी आकर बैठते हैं। पीपल पर बैठने वाले इन विहंगों में से दो ने मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है—एक है कोयल, जो अपनी मीठी कंठ-ध्वनि के कारण सबका ध्यान खींचती है। वह पीपल के नवीन पल्लवों तथा आम के बौर और फलों को देखकर रीझती है, और मस्त हो जाती है। वह कूक-कूक कर सबको अपनी प्रसन्नता बाँटती है। इसकी उपस्थिति से सारा वातावरण आनंद और उत्साह से भर जाता है।

दूसरा पक्षी है—कठफोड़ा, बच्चे इसे खुटखुट-बढैया भी कहते हैं। जिस दिन प्रथम बार ही यह पीपल पर आकर बैठा तो उस प्रथम परिचय की बेला में ही इसने वृक्ष की सब शाखाओं पर अपनी दृष्टि दौड़ायी और फिर अन्त में एक सूखी शाखा पर जाकर बैठ गया। शाखा के एक ठूंठ में उसे घुन लगा दिखलायी दिया। पल्लवों की शोभा से निर्लिप्त, बौर की महक और आम

के रस से अनासक्त, वह उस ठूंठ के घुन का उद्घाटन करने के लिए कठोर परिश्रम करने लगा और तब तक चैन न लिया, जब तक उस घुन को खोज न निकाला।

इस मानव समाज में कुछ लोग कोकिल के समान गुणग्राहक होते हैं और कुछ कठफोड़े के समान दोषदर्शी। शास्त्रीजी कोकिल के समान अपने छात्रों के गुणों का उद्घाटन करते और उत्साहित करके उनके गुणों को विकसित करते रहे हैं। अपने आचार्यत्व के सुदीर्घ काल में अपने अनेक शिष्यों की वाक्-शक्ति, सृजन-शक्ति और काव्य-प्रतिभा को अपनी प्रेरणा से उभारा है। अपने लगाये पौधों को फलते-फूलते देख, रस-सौरभ को बिखरते देखकर किस माली को प्रसन्नता नहीं होती।

राष्ट्र-चेतना का जागरण

मैं जुलाई, १६३४ से अप्रैल, १६४० तक डी० ए० वी० कालेज, देहरादून के छात्रावास में अंतेवासी बन कर रहा। आर्य कुमार सभा और आर्यसमाज, देहरादून के कार्यक्रमों में रुचि पूर्वक भाग लेता रहा। दोनों स्थानों पर ही शास्त्रीजी के भाषण बड़े रोचक और प्रभावी होते थे। अपनी प्राचीन संस्कृति और गौरवमय परम्पराओं के प्रति आस्था उत्पन्न हो जाने से छात्रों के मन में राष्ट्रभाव और स्वतंत्रता का प्रेम जागृत होने लगा।

इसी बीच इंग्लैंड के नये राजा का राज्याभिषेक हुआ। सरकार के आदेशानुसार सरकारी भवनों तथा सभी स्कूलों व कालेजों में दीपमालिका जलायी गयी। मैंने कुछ छात्रों के साथ योजना बनाकर, जले हुए दीपक फेंक दिये और छात्रावास की बिजली, बल्ब में सिक्का लगाकर फ्यूज कर दी। दीपमालिका के स्थान पर डी० ए० वी० कालेज और उसके छात्रावास में घनघोर अंधकार छा गया। उस समय डी० ए० वी० इंटर कालेज, देहरादून के प्रिंसिपल श्री बनर्जीजी थे। उनके पुत्र सरकारी नौकरी में उच्च पदों पर थे और वे राजभक्त प्रिंसिपल थे। अगले दिन मेरी पेशी हुई। पता नहीं कैसे शास्त्रीजी पहले ही प्रिंसिपल के कमरे में जा बैठे और प्रिंसिपल महोदय के डाँट-फटकार कर किंचित शांत होते ही बोले—"जाओ, अब से कोई शैतानी मत करना।" इस प्रकार नीति से आपने अपने शिष्य को संभावित बड़े दंड से बचा लिया।

आप अँग्रेजी शासन में भी निरन्तर खद्दर पहनते रहे और छात्रों में राष्ट्र-चेतना उत्पन्न करने के अक्षय-स्रोत बने रहे।

शुद्ध उच्चारण

डी० ए० वी कालेज, देहरादून में दयानन्द छात्रावास के वार्डन के नाते शास्त्रीजी नित्य ही दोनों समय संध्या-हवन में सम्मिलित होते थे। मेरा प्रयास शास्त्रीजी के निकटतम बैठने का रहता था। मैं उनकी हर मुद्रा और शब्द के उच्चारण को बड़ी गौर से देखता और सुनता था। शास्त्रीजी का मंत्रोच्चारण बहुत शुद्ध और स्पष्ट होता था। इंटरमीडिएट कक्षाओं में मुझे शास्त्रीजी से संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आपके पढ़ने और बोलने में दीर्घ और ह्रस्व मात्राएँ, दन्त्य, मूर्धन्य और तालव्य स, ष, श तथा विसर्ग आदि के उच्चारण इतने स्पष्ट रहते थे कि छात्रों को शुद्ध लिखने में कोई कठिनाई न होती थी। उनके बोले श्रुत लेख में इसी कारण छात्रों की प्रायः त्रुटि नहीं होती थी।

आचार की छाप

आचार्य अपने आचार से किस प्रकार अपने अन्तेवासियों को प्रभावित करता है, शास्त्रीजी का जीवन इसका एक उत्तम उदाहरण है। मेरे जीवन पर शास्त्रीजी की वाक्-शक्ति, उनके सरल और स्पष्ट व्यवहार और सदाचरण का इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि मैं जाने-अनजाने उनकी अनुकृति बनने का प्रयास करता रहा। वैसे तो प्राइमरी कक्षा से लेकर विश्व-विद्यालय स्तर तक मैं शताधिक गुरुओं का शिष्य रहा हूँ और देश के प्रमुख विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की है। एक-से-एक विद्वान गुरुओं के सम्पर्क में आया हूँ, किंतु मेरे जीवन के जो उत्तमोत्तम संस्कार और आचार विषयक उत्तम आदर्श हैं, उन पर शास्त्रीजी के जीवन और चरित्र की छाप सबसे गहरी और प्रबल है।

शालीन व्यक्तित्व

गौर-वर्ण, चौड़ा ललाट, ऊँची नासिका, निश्छल स्नेह-पूरित आँखें, स्पष्ट ओजपूर्ण प्रभावी वाणी, सीधी ग्रीवा और सीधी कमर रखते हुए बैठना और चलना, पैनी तर्क-शक्ति, विचारपूर्वक बोलना, गंभीर मुद्रा, स्वच्छ-श्वेत खद्दर का वेश—सब मिलाकर एक ऐसे शालीन व्यक्तित्व का निर्माण होता है कि छात्रों की श्रद्धा स्वयमेव उमड़ पड़ती है।

श्रद्धा की गुरु-दक्षिणा

छात्र-जीवन में अन्य छात्रों के समान मैं भी शास्त्रीजी को हाथ जोड़कर नमस्ते निवेदन करता था, पर विद्यार्थी-जीवन में शताधिक विद्वानों के पास अध्ययन कर और स्वयं लगभग ३० वर्ष अध्यापन-कार्य करने के बाद मेरा मन अनुभव करता है कि यह नमन अधूरा है और अब शास्त्रीजी को सामने पाकर बिना उनके चरणों का स्पर्श किये मन को संतोष नहीं होता। यह श्रद्धा ही इस अकिंचन की गुरु-दक्षिणा है।

प्रेमस्वरूप गुप्त
प्रधानाचार्य,
एस० एस० वी० स्नातकोत्तर कालेज, हापुड़

सुन्दर शरीर में दिव्य आत्मा

जब कभी मैं अपने जीवन-प्रभात की चंचल छायाओं में विचरण करने लगता हूँ तो उनमें एक अविस्मरणीय मूर्ति श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री की है, जो मेरे जीवन का प्रकाश-स्तम्भ बनकर सदैव मेरा मार्ग-दर्शन करती रही है। सन् १९३६ में माता-पिता के स्नेहांचल से विमुक्त होकर जब मैं देहरादून के डी० ए० वी० कालेज में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रविष्ट हुआ तो

उस समय मेरा मानस क्षितिज अनेक आकांक्षाओं एवं भयों के मेघों से आच्छादित था। मैं किंकर्तव्यविमूढ़ था, परन्तु छात्रावास के अध्यक्ष शास्त्रीजी के व्यक्तित्वरूपी वट-वृक्षछाया में प्रवेश करते ही मेरी मानसिक आशंकाजनित क्लान्ति ही शांत नहीं हो गयी, अपितु मेरे जीवन में नव-स्फूर्ति का संचार भी हुआ।

शास्त्रीजी का विस्तृत, भव्य एवं प्रकाशमान ललाट, स्निग्ध स्नेहिल आँखों के नीचे उन्नत नासिका, स्मितमय ओष्ठ, श्वेत खादी से आच्छादित प्रांशु शरीर आज भी मेरे मानस-पटल पर उसी प्रकार अंकित है जिस प्रकार १९३६ के कौतूहल-प्रधान नवयुवक मानस में था। शास्त्रीजी के मधुर व्यवहार में वह सहज पितृ-स्नेह प्रत्येक छात्रावास के रहने वाले को मिलता था जिसके कारण सुदूर ग्रामीण अंचलों से आने वाला छात्र भी अपने को परिवार से बिछुड़ा हुआ अनुभव करता था। शास्त्रीजी प्रत्येक छात्र की देखरेख स्वसंतानवत् ही करते थे। प्रत्येक छात्र के प्रति उनके हृदय में अथाह वात्सल्य का सागर हिलोरें मारता था। छात्रों का तनिक-सा भी कष्ट उनके हाथों की छाया को निमंत्रण देने के लिए पर्याप्त था।

एक बार देहरादून में रहते हुए मैं लम्बी बीमारी का शिकार हुआ, परंतु मेरे इस शारीरिक कष्ट से शास्त्रीजी के जिस अमूल्य वात्सल्य की उपलब्धि हुई, वह मेरे जीवन की अमूल्य धरोहर है। रुग्णावस्था में मेरे उपचार की सम्पूर्ण व्यवस्था करना, प्रतिदिन कई बार मेरे स्वास्थ्य के विषय में जानकारी करना तथा घंटों मेरी शैया के निकट बैठकर अपने स्नेहस्पर्श से मेरे रोगी शरीर और मानस को सान्त्वना देना उनका दैनिक नियम बन गया था। शास्त्रीजी से ही नहीं, उनकी धर्मपत्नी (जिन्हें हम माताजी के नाम से पुकारते थे) से भी हमें वही वात्सल्य-स्नेह प्राप्त हुआ, जिसकी अमिट छाप आज भी मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है।

शास्त्रीजी के सर्वथा आडंबर-शून्य, सरल आदर्श एवं नियमित जीवन की मेरे जीवन पर अमिट छाप पड़ी है। छात्रावास में नियमित संध्या-हवन होता था, छात्रों के सर्वतोमुखी विकास में शास्त्रीजी की गहरी रुचि थी। छात्रों की प्रत्येक गतिविधि पर उनकी सूक्ष्म दृष्टि रहती थी। उनके संरक्षण में रहते हुए कुपथ का अनुसरण किसी भी छात्र के लिए असंभव था।

उस समय का उनका कठोर नियंत्रण आज जीवन के लिए वरदान सिद्ध हो रहा है। उनके तपःपूत जीवन से उनके सम्पर्क में आने वाला नवजीवन उसी प्रकार पूत हो उठता था जैसे गंगाजल के सम्पर्क से। उनकी प्रेरणा से आर्यसमाज के प्रति मेरे हृदय में गहरी आस्था जागृत हुई और मेरा जीवन अनेक रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का दास बनने से बच गया।

यद्यपि शास्त्रीजी की शिष्य-मंडली बहुत विस्तृत है, परंतु उनकी स्मृति एवं स्नेह उससे भी कहीं अधिक विस्तृत है। छात्र-जीवन के २० वर्ष पश्चात् मुझे उनसे लखनऊ में मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। उस समय वह लखनऊ डी० ए० वी० कालेज के प्राचार्य थे, परंतु मेरे आश्चर्य का कोई पारावार नहीं रहा जब शास्त्रीजी मुझे तुरंत नाम सहित पहचान गये और उनके हृदय में सोया सहज वात्सल्य सन् १९३६ की भाँति उमड़ पड़ा। उन्होंने मेरे समग्र परिवेश की जानकारी के लिए वात्सल्यमयी प्रश्नों की झड़ी लगा दी और मुझे लगा कि मेरा साक्षात्कार एक दिव्य आत्मा से हो रहा है तथा ये प्रश्न नहीं, ये तो शास्त्रीजी के अमृत-स्नेह के सीकर हैं।

शास्त्रीजी के व्यक्तित्व के रूप में हमें शिक्षा-जगत् के लिए एक मूर्तिमान जीता-जागता आदर्श प्राप्त हुआ है। यदि आज का शिक्षक समुदाय उनके आदर्श के अनुरूप अपने को ढाल ले तो हमारा शिक्षा-जगत् धन्य हो जाये और शिक्षा-जगत् की सम्पूर्ण समस्या क्षण-भर में हल हो जाये।

शास्त्रीजी का ही आशीर्वाद है कि मैं अपने जीवन को सफल जीवन की संज्ञा देकर गौरव का अनुभव कर सकता हूँ। आज मैं जनपद सहारनपुर की एक प्रमुख संस्था में प्रधानाचार्य का उत्तरदायित्व संभाले हुए हूँ और पारिवारिक जीवन समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं से परिपूर्ण है।

मैं अन्त में अपने जीवन-मार्ग के प्रकाश-स्तम्भ को प्रणाम करता हूँ और इस अभिनंदन के समय उनके शतायु होने की कामना करता हूँ जिससे कि मानवता और अधिक अलंकृत तथा चमत्कृत हो सके।

प्रेमचन्द्र गोयल

प्रधानाचार्य,
एच० ए० एन० इंटर कालेज, गंगोह (सहारनपुर)
१९-४-१९७६

सच्चा मानव

गुरुवर्य आचार्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री को अभिनंदन ग्रंथ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है, इस सुखद समाचार से मैं अत्यन्त हर्षित हुआ हूँ।

मैं श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री से घनिष्ठ रूप से सम्बधित रहा हूँ। वे मेरे श्रद्धेय-पूज्य गुरु रहे हैं। मैं उनके सान्निध्य में डी०ए०वी० कालेज छात्रावास, देहरादून में रहा हूँ, जहाँ वे छात्रावास के अध्यक्ष थे। देहरादून त्यागने के बाद भी शास्त्रीजी सपत्नीक (माताजी के साथ) जब भी सार्वदेशिक सभा के अधिवेशनों में आते, मेरे यहाँ आने की कृपा करते थे। शास्त्रीजी से मिलने का स्मरण सदा तरोताजा (सद्यः सम्मृत) -सा लगता रहता है। मुझे उनका मार्ग-दर्शन प्राप्त करने की सदा सुविधा रही है। उन्होंने मेरे वकालत के भविष्य पर अधिकाधिक प्रभावशाली छाप डाली है।

शास्त्रीजी एक सच्चे मानव हैं, जो अपने प्रति, ईश्वर के प्रति, अपने सहयोगियों के प्रति एवं मानव-मात्र के प्रति सच्चे रहे हैं। मैं सपत्नीक, सपरिवार अत्यन्त हार्दिक सम्मान से आदरणीय शास्त्रीजी की अशीति वर्ष पर बधाई देता हूँ एवं ईश्वर से उनके दीर्घायुष्य, सुस्वास्थ्य-प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हुआ आशा करता हूँ कि वे अपने सम्पर्क में आने वाले नर-नारियों को अपने आदर्शों तथा आर्यसमाज के आदर्शों से प्रेरणा देते रहेंगे, जिससे सब मनुष्य स्वयं के प्रति तथा ईश्वर के प्रति सच्चे बनें।

अमरनाथ गोयल
एम० ए०, एल-एल० बी

प्राड्विवाक
भारतीय सर्वोच्च न्यायालय
नई दिल्ली।

वरेण्य गुरुवर्य आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री

मथुरा दयानन्द दीक्षा शताब्दी में बैठे कुछ लोगों में बात चल रही थी कि आर्यसमाज में दो शक्तियाँ अपने ढँग की निराली हैं। एक, पं० नरेन्द्र (हैदराबाद), जिनको कितने भी बड़े पैमाने पर सम्मेलनों की व्यवस्था क्यों न करनी पड़े चेहरे पर जरा भी शिकन नहीं आयेगी। दूसरे, प्रि० महेन्द्रप्रताप शास्त्री, जिनको कैसा भी बिगड़ा कालेज दे दिया जाये हिचकते नहीं और बहुत जल्दी अपने कण्ट्रोल में कर लेते हैं। इन दोनों की बातें जरा भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं। दोनों को बहुत समय से मैं जानता हूँ। गुरुवर्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री के विषय में तो बहुत नजदीक से देखा-भाला है, क्योंकि जुलाई सन् ५० से कई वर्षों तक डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ में इनकी छत्रछाया में अध्ययन करने का सौभाग्य मिला है। इनका अनुशासन, सुव्यवस्था, सूझबूझ विद्यालयीय मामलों की समस्याओं के सुलझाने में अद्वितीय सिद्ध होते रहे। अनुशासन के मामले में कहा करते थे कि विद्यालय की ईंट-ईंट टकराते देख सकता हूँ पर अनुशासनहीनता नहीं बरदाश्त कर सकता। समयपालन, सुव्यवस्था, वस्तुओं का यथास्थान रख-रखाव, व्यस्तता, अनुशासन आदि के विषय में क्रिश्चियन स्कूलों की बड़ी सराहना की जाती है, लेकिन उपर्युक्त विषय में प्रिंसिपल साहब को क्रिश्चियन कालेजों की व्यवस्था से अधिक कुशल पाया है क्योंकि मुझे क्रिश्चियन स्कूल में भी पढ़ने का अवसर मिला है। क्या मजाल थी कि उनके राउण्ड में एक कागज का टुकड़ा पड़ा दिखायी दे जाये। छात्र ने सिर पर बाल रखे हैं लेकिन उड़ते-उड़ते बिना तेल के; उस छात्र को प्रताड़ना के शब्द सुनने को मिलते थे—या तो बाल रखो न, यदि रखते हो तो उसे व्यवस्थित रखो। ऐसे छात्र को रहने नहीं देते थे।

प्रधानाचार्य को एक-दो पीरियड पढ़ाना अनिवार्य होता है। आप हमें इंटर में संस्कृत पढ़ाते थे। इनकी आदत थी कि पिछले पढ़ाये अंश से प्रश्न पूछकर आगे बढ़ते थे। इससे छात्र को नित्य पढ़ाये अंश को पढ़कर आना जरूरी होता था। मैं इसका अपवाद था। मैं घर से पढ़कर न आता था, जिससे बता नहीं पाता था। नित्य मुझसे ही पूछते थे, मैं उत्तर नहीं दे पाता था। एक दिन मुझे बहुत ही फटकारा—तुम कुछ नहीं लिखते-पढ़ते, दरिद्र हो, समय गँवाते हो, मैं तो तुम्हें होनहार समझता था आदि कितनी ही बातें कहते हुए आगे पढ़ाने लगे। मार से भी अधिक चोट मुझे उनके शब्दों की लगी; मैं कक्षा में खड़ा-खड़ा ही रोने लगा। कक्षा के सभी छात्र मेरे प्रति दयार्द्र हो गये, कुछ साथी बैठने के लिए संकेत देने लगे। फिर पता नहीं क्या हुआ कि बोले, 'बैठ जाओ।' इस बैठ जाओ के शब्द में बड़ी ही आत्मीयता थी लेकिन बैठने पर भी मैं पूरे घंटे रोता रहा। उस दिन के बाद मुझसे उन्होंने कभी नहीं पूछा, बल्कि बहुत मानने लगे। जब कभी कोई बात मेरे सम्बन्ध में आती थी तो यही कहकर आगे बढ़ जाते थे कि इन्हें तो मुझे कुछ कहना नहीं है, ये स्वयं समझ लें। मैं विद्यालय के विविध आयोजनों में सम्मिलित होने लगा। नित्य के प्रार्थना-समय में अथवा विशेष अवसरों में सम्पन्न होने वाले यज्ञों में आगे रखा जाता था। मैंने अनुभव किया है कि **'वज्रादपि कठोराणि-मृदूनि कुसुमादपि'** की उक्ति इनके विषय में पूर्ण सार्थक होती है, क्योंकि देखने में जहाँ कठोर लगते हैं वहीं अंतर से अत्यन्त ही नम्र हैं। बाद के समय में भी समय-समय पर मिलने का अवसर मिलता रहा है। मुझे गर्व है कि आज भी उनका मेरे ऊपर पूर्ण आत्मीयता का व्यवहार है।

प्रधानाचार्य के पद पर कार्य करते हुए कुछ कटु अनुभव हुए; निराश हो गुरुवर्य के पास एक पत्र लिखा। उनका उत्तर आया जिसमें अन्य बातों के साथ लिखा था कि 'निराश क्यों हो, यह क्यों नहीं सोचते हो कि जो दूसरे कर सकते हैं उसे मैं भी कर सकता हूँ...।' मुझे इनके वाक्यों से बड़ा बल मिला और अपने कार्य में संलग्न हो पद की गरिमा के अनुरूप चलने लगा।

एक बार हम १२वीं कक्षा के छात्र साधारण विषय को लेकर हड़ताल कर बैठे। हड़ताल विचित्र ढँग की; सभी विद्यालय आकर कक्षा में नहीं जाते थे, बल्कि बाग में शान्त बैठते थे। एक प्रकार से असहयोग का रूप था। तीन दिन के बाद कक्षा के चार प्रतिनिधि प्रिंसिपल साहब के पास अपनी समस्या लेकर पहुँचे। थोड़ी देर के बाद वे लौटकर बोले कि हम लोग हड़ताल पर नहीं रहेंगे, यह कहते हुए कक्षा में जाने लगे। इनके कारण हम सबको कक्षा में जाना पड़ा। इन प्रतिनिधियों से बाद में मालूम हुआ कि इनको इतनी आत्मीयता से बात करके समझाया कि वे अपनी माँग ही भूल बैठे और कक्षा में जाने को विवश हो गये। यह थी गुरुवर्य की अपनी अनोखी सूझ-बूझ। बाहरी कठोरता भी गजब की रही है। अपने को आवारा-से-आवारा सिद्ध करने वाले छात्र इनकी पिटाई को भूलेंगे नहीं, पर परिणाम यह होता था कि कई वर्षों से फेल होने वाले छात्र इस विद्यालय में आकर नाम लिखवाते थे और उत्तीर्ण होकर जाते थे। इन छात्रों के कारण कभी अनुशासनहीनता की समस्या नहीं आयी। मैंने देखा कि जो आवारागर्दी के रास्ते पर थे वे आज भी बड़े सम्मान से प्रिंसिपल साहब का नाम लेते हैं।

विद्यालय में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य थी। आर्य पर्वों को धूमधाम से मनाया जाता था। समय-समय पर बाहर से आये विद्वानों का भाषण आचार्य जी अवश्य कराते थे। इससे किताबी ज्ञान के अतिरिक्त बाहरी अनुभवी ज्ञान भी होता रहता था। परीक्षाफल में विद्यालय आगे रहता था, यहाँ तक कि बोर्ड की सूची में प्रथम स्थान पाने वाले छात्र भी रहे हैं। इसी कारण नगर के कालेजों में हमारा कालेज सर्वोत्तम माना जाता था। छात्रों के चतुर्दिक विकास एवं उन्हें सफल नागरिक बनाने के लिए 'विद्यालय सप्ताह' का आयोजन होता था जिसमें खेल-कूद, नाटक, वादविवाद, व्याख्यान, कविता, सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन होते थे, जिससे हम सबको विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ने का सुअवसर मिल जाता था। गुरुवर्य जब तक लखनऊ में रहे विद्यालय अबाध गति से आगे बढ़ता रहा, पर उनके हटते ही विकास रुक गया, बल्कि यों कहें दशा दयनीय हो गयी।

'आर्यमित्र' में गुरुवर्य के भाषण का एक अंश पढ़ा जिसमें समय का सदुपयोग करने एवं अध्यापकों को अपने गरिमा के अनुरूप कार्य करने की प्रेरणा थी। उसमें एक वाक्य मेरी ईर्ष्या का कारण बना हुआ है। अपने सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि "मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने अपने समय का कौन-सा क्षण बेकार जाने दिया है।" मैं परेशान हूँ कि क्या ऐसे लोग भी हैं जो जीवन के अमूल्य समय को देखकर कार्य करते रहे हैं और एक क्षण भी बेकार नहीं जाने देते ? सचमुच आज के हम नवयुवक समय के मूल्य को पहचान लें तो राष्ट्रीय समस्या अपने-आप हल हो जाये।

समय-समय पर आचार्यजी से मूक प्रेरणा लेता रहता हूँ। ऐसा भी समय आया है जिसमें सोचा है कि ऐसा समय उनके पास आया होता तो वे क्या करते? परिणाम यह होता रहा है कि हल निकल आता रहा है। मुझे अपने जीवन का सबसे गर्वीला क्षण यही मालूम होता है कि मैं प्रिंसिपल साहब का छात्र रहा हूँ। अपने गुरु पर मुझे बड़ा नाज़ है।

गुरुवर्य छात्र यूनियनों के प्रबल विरोधी रहे हैं। जब तक विद्यालय में रहे छात्र यूनियन नहीं बनने पायी। उनका कहना था कि यूनियनें छात्रों के लिए नहीं, ये तो व्यापारियों एवं व्यावसायिक लोगों की हो सकती हैं। यूनियन की विद्यालयों में जरूरत नहीं। हाँ, जरूरत हो तो विषयों के परिषद् बना लिये जायें। आज यूनियनों का क्या कुपरिणाम पूरे राष्ट्र पर पड़ रहा है, सबको पता है। इस प्रकार की कितनी बातें गुरुवर्य के सम्बन्ध में स्मृतिपथ पर हैं। वे आज भी तत्परता एवं कर्मठता से कन्या गुरुकुल के संचालन में संलग्न हैं। उनकी कर्तव्यनिष्ठा से हम पर्याप्त समय तक लाभान्वित होते रहें, यही हार्दिक कामना है।

प्रधानाचार्य जेतवन उ० मा० विद्यालय
श्रावस्ती (बहराइच) उ० प्र०

विद्यानन्द शास्त्री
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी, समाज-शास्त्र)

एक दीप-स्तम्भ

महापुरुष राष्ट्र की अक्षय सम्पत्ति होते हैं। महापुरुषों की जीवनी ही देश के लिए सच्चा दीप-स्तम्भ अर्थात् लाइट-हाउस होता है। शास्त्रीजी इसी उक्ति के प्रतीक हैं।

मुझे उनके वात्सल्य-स्नेह को प्राप्त करने का समय-समय पर सौभाग्य प्राप्त होता रहता था। इसीलिए उनके प्रति मेरे अनुभव बड़े ही सुखद तथा मीठे हैं। यदि मैं कहूँ कि शास्त्रीजी तथा माता अक्षयकुमारीजी दोनों प्राणी फीजी के विद्यार्थियों के जीवन-प्राण थे तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी।

डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में फीजी के अनेक विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। यहाँ शास्त्रीजी इस संस्था के वार्डन थे। एक ममतामयी माँ की तरह सुदूर देश के बच्चों की देखभाल किया करते थे। उनसे प्रेम से बातचीत कर, उनके दुख-सुख को सुन उनकी सहायता तथा उनकी कठिनाइयों को दूर करते थे। प्रत्येक त्योहारों पर 'सम्पूर्ण छात्रालय के बच्चों को वे खिलाते-पिलाते तो थे ही, परन्तु फीजी के विद्यार्थियों के लिए वे विशेष भोज का प्रबन्ध करते थे। तरह-तरह के पकवान तथा मिष्ठान्न बनवाकर शाम को सब सुदूर देश के बच्चों को अपने घर पर बुला बड़े प्रेम से खिलाते-पिलाते थे। श्रीमान् तथा श्रीमती शास्त्रीजी का व्यवहार इतना मधुर तथा वात्सल्यपूर्ण होता था कि विद्यार्थी भूल जाते थे कि वे अपनी जन्मभूमि से हजारों मील की दूरी पर बैठे हुए हैं।

फीजी के विद्यार्थियों के पारिवारिक जन भी यदा-कदा पहुँच जाते थे, उनके रहने, खाने-पीने का सब प्रबन्ध भी शास्त्रीजी स्वयं ही करते थे।

शास्त्रीजी ने अपने जीवन में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' उक्ति को पूर्णरूप से चरितार्थ किया है। अपने जीवन में शास्त्रीजी ने मानव धर्म का पूर्णरूपेण पालन किया है। कबीर ने सभी बाह्य

आडम्बरों का विरोध करते हुए मनुज प्रेम को ही मुक्ति का सच्चा मार्ग बताया है। कबीर का कहना है—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित हुआ न कोय।
ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पण्डित होय॥

शास्त्रीजी ने कभी कुछ आशा करके किसी से प्रेम नहीं किया, बल्कि दूसरों की सहायता, सेवा तथा दूसरों के साथ प्रेमभाव निष्काम भाव से किया है। उनका जीवन त्याग तथा धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत रहता है। दम्पती का सामीप्य हम सबों को आह्लादित कर देता था। शास्त्रीजी के सुन्दर, भव्य, आकर्षक, दीप्तिमान् तथा सहानुभूतिपूर्ण चेहरे को देखते ही व्यक्ति अपनी व्यथाओं को भूल अनुपम आनन्द का अनुभव करने लगता है।

इन दोनों प्राणियों के अन्दर जो ममत्व का हमने अनुभव किया है, वह आजीवन हम भूल नहीं सकते। इसके लिए हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। हम चाहें जहाँ भी रहें इन दोनों का विशुद्ध स्नेह शरत्कालीन शशि-किरणों की भाँति हमारे हृदयों को अनुरंजित करता रहेगा। काश एक बार पुनः उन दोनों की छत्रछाया तथा प्यार हमें प्राप्त हो सकता !

मैं अत्यन्त श्रद्धा के साथ उनकी शतायु की कामना करती हूँ।

फीजी द्वीप **(श्रीमती) सरस्वती देवी स्नातिका**

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि

परम हर्ष और सौभाग्य की बात है कि शिक्षाविद् और विद्वद् प्रवर, आचार्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री ८० वर्ष पूरे कर रहे हैं और उन्हें अभिनंदन ग्रंथ भेंट किया जा रहा है। पूज्य शास्त्रीजी मेरे लिए पिता-तुल्य और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी शास्त्री माता-तुल्य हैं। उन्हें इस अवसर पर बधाई देना मेरे लिए छोटे मुँह बड़ी बात होगी। अतः परमपिता परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि दोनों को स्वस्थ और सक्रिय रख उन्हें दीर्घायु प्रदान करे ताकि हम बच्चों पर उनका साया बना रहे और वे अपने सद् आचार-विचार एवं कर्मठता से शिक्षा, समाज-सेवा आदि क्षेत्रों में दीर्घ काल तक नई पीढ़ियों का मार्ग-दर्शन करते रहें।

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री और उनके परिवार के सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे सन् ४७-४८ में प्राप्त हुआ। इसका श्रेय उनके ज्येष्ठ पुत्र और मेरे परम प्रिय मित्र, स्वर्गीय रवीन्द्र प्रताप को है। हुआ यों कि मेरी भाँति रवि भी उस समय लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ रहे थे। उस समय बड़ी संख्या में युवक सोशलिस्ट पार्टी की ओर आकर्षित हो रहे थे, जिसे आचार्य नरेन्द्र देव, श्री जयप्रकाशजी जैसे महारथियों का नेतृत्व प्राप्त था। सोशलिस्ट पार्टी और छात्र कांग्रेस हम युवकों के दो मुख्य कार्य-मंच बन गये थे जिनका लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति और

समाजवाद की स्थापना था। कालान्तर में रवि भी दोनों के सदस्य बन गये। यहीं से हम दोनों में संपर्क आरम्भ हुआ जो धीरे-धीरे प्रगाढ़ होता गया और हम दोनों राजनीति में सहभागी और साथी होने के साथ-साथ वैयक्तिक मित्र भी बन गये। मेरे घर रवि का और उनके घर मेरा आना-जाना शुरू हो गया। आत्मीयता धीरे-धीरे बढ़ती गयी और दो-तीन वर्षों के भीतर ही मैं और मेरी पत्नी श्रीमती सरोज, इस परिवार के अंग बन गये।

पिताजी अर्थात् शास्त्रीजी से मैं पहले काफी डरता था। कारण यह था कि एक तो पिताजी, दूसरे कालेज के प्रिंसिपल और उस पर गुरु गंभीर स्वभाव, परन्तु ज्यों-ज्यों उनके निकट होता गया और परिवार में अधिकाधिक घुलता-मिलता गया मुझे मालूम हुआ कि वे बड़े सरल, सहृदय, करुणापूर्ण, विनोदी, विद्याव्यसनी, कर्मठ और स्वाभिमानी इंसान हैं। यह भी पता चला कि महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के ही नहीं, राष्ट्रीयता और देशभक्ति की विचार-धारा से भी ओत-प्रोत हैं। उस समय लखनऊ में वे अपने डी० ए० वी० कालेज के पास मोतीनगर मुहल्ले में रहते थे। जब पहली बार मुझे उनके घर में दो दिन रुकने का संयोग हुआ तो नजदीक से उनकी दिनचर्या को देखने का अवसर मिला। उनकी दिनचर्या बड़ी नियमित थी। ब्राह्म मुहूर्त्त में उठना, निश्चित समय से पूर्व विद्यालय पहुँचना, वहाँ से सायं साढ़े छह अथवा सात बजे पैदल ही घर लौट आते थे। यदि गर्मियाँ हुईं तो खादी का सफ़ेद जाँघिया और बनियान पहने छोटे से लॉन में गमलों और पौधों को सींचने के काम में जुट जाते थे। उस पोशाक, और कार्य में उन्हें यह चिन्ता कभी नहीं रहती थी कि उन्हें पहचानने वाले सड़क से गुजरते समय उनके बारे में क्या सोचेंगे। रात में साढ़े आठ बजे के करीब वे भोजन करने के उपरांत फिर गंभीर अध्ययन या लेखन में जुट जाते थे। शास्त्रीजी आमों के भी बड़े शौकीन हैं। जब तक उनका मौसम रहता था तथा बाजार में आम उपलब्ध होता था, शाम को नियमित रूप से उन्हें खाते थे और बीच-बीच में हम लोगों को यह कहते हुए चिढ़ाते थे तथा खूब मजा लेते थे कि मेरा भाग्य ही बड़ा अच्छा है, एक-से-एक बेहतरीन आम टोकरी में से मेरे हाथ में आते जा रहे हैं। रात में भी वे दूध पीने के शौकीन थे और साढ़े दस अथवा पौने ग्यारह बजे एक गिलास दूध पीकर सो जाते थे। शास्त्रीजी कार्य-दिवसों में रविवार की बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा किया करते थे। खुद कहा करते थे, "मैं गिना करता हूँ कि रविवार आने में कितने दिन शेष हैं? उस दिन मुझे दोपहर में सोने में बड़ा मज़ा आता है।" गर्मियों और बरसात में रविवार को वे दोपहर में जल्दी खाना खाकर बहुधा ड्राइंग-रूम में ही चारपाई डलवा लेते थे और उस पर मात्र दरी बिछाकर दो-ढाई घंटे सोते थे।

आदरणीय शास्त्रीजी को रात में सबके साथ बैठकर खाना खाने में सदैव बड़ा आनन्द आता रहा है। उस समय वे मनोरंजन और विनोद की दृष्टि से छेड़छाड़ भी करते थे। माताजी को भी चिढ़ाने से बाज नहीं आते थे। मैं, रवि, सुवीरा दीदी, उनके पति डॉक्टर तेजपालसिंह तेवतिया, रवि की पत्नी ऊषा, और रवि के छोटे भाई यतीन्द्रप्रताप तथा विजयप्रताप यानी हम सब बड़ा आनन्द लेते थे। शास्त्रीजी मीठी वस्तुओं में खीर के सदैव बड़े प्रशंसक हैं जबकि मैं और माताजी सेमई के। जब भी मैं शाम को वहाँ खाना खाता था तो माताजी सेमई अवश्य बनवा लेती थीं। जब पिताजी सेमई खा चुके होते थे तो माताजी मुस्कराते हुए चुटकी लेती थीं—तारीफ तो खीर की करते हैं लेकिन इनकी कटोरी में सेमई का कुछ अंश भी नहीं बचता। पिताजी भी मुसकराकर चिढ़ाने को कहते थे कि खीर तो चावल की ही होती है, सेमई खीर नहीं होती।

इस सबके साथ शास्त्रीजी सदैव कठोर अनुशासन के व्यक्ति रहे हैं। स्वयं अनुशासन में बँधे रहते हैं और दूसरों को भी इसके लिए प्रेरित करते हैं। नियमों का सदैव दृढ़ता से पालन तथा सदाचरण और एकाग्रचित्त होकर गहन अध्ययन करने पर ज़ोर देते रहे हैं। लखनऊ में दस बजने में दस मिनट पहले ही कालेज में अपने ऑफिस में जाकर विराजमान हो जाते थे। स्वाभाविक था कि उनके सहयोगी अध्यापक भी समय से पहुँचते थे। शास्त्रीजी कहा करते थे, 'यदि मैं ही देर में कालेज पहुँचूंगा तो अपने अध्यापकों से समय पालन की आशा कैसे कर सकता हूँ?' विद्यालय के कई अध्यापक मेरे परिचित तथा मित्र थे जो शास्त्रीजी के इस गुण की प्रशंसा करते थे। उनमें एक और बड़ा गुण यह है कि कर्तव्य-पालन के मामले में उनके आँख-कान इतने सजग रहते हैं कि उन्हें कोई चकमा नहीं दे सकता था। पक्षपात और चाटुकारिता से उन्हें सदैव चिढ़ रही, जिसका फल यह रहा कि उनके कार्यकाल में न केवल लखनऊ का डी० ए० वी० कालेज बल्कि वे विद्यालय भी जहाँ उन्होंने बाद में कार्य किया, नाना प्रकार की गुटबंदियों तथा व्याधियों से मुक्त रहे जिनसे आज के अधिकांश विद्यालय त्रस्त हैं। अध्यापक स्वयं कहते थे कि कोई भी अध्यापक शास्त्रीजी से अपने सहयोगी अध्यापक की आलोचना करने या अकारण शिकायत करने की हिम्मत नहीं कर सकता। शास्त्रीजी स्वयं कहा करते थे—'मेरे सभी सहयोगी अध्यापक मेरे विश्वासपात्र हैं।' छात्रगण उनकी शक्ल तो दूर, नाम से ही भयभीत रहते थे, परन्तु अध्यापकों और छात्रों को यह भी ज्ञात था कि वे अन्दर से बड़े कोमल हैं, यदि किसी को कोई कठिनाई या कष्ट है तो उसे दूर करने में न केवल प्रिंसिपल की हैसियत से बल्कि व्यक्तिगत रूप से भी पूरी सहायता करते हैं। निर्धनों और आर्थिक दृष्टि में कमजोर वर्गों से उन्हें सदैव मानवीय सहानुभूति रही है और उनके बच्चों का शुल्क माफ करने की भरसक कोशिश की है। मुझे याद है कि अनेक बार मैंने उनके विद्यालय में पढ़ने वाले कुछ निर्धन बच्चों को आर्थिक सहायता देने की उनसे प्रार्थना की जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया।

पूज्य शास्त्रीजी को बच्चों से बेहद प्यार है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि छोटे बच्चों के बीच वे स्वयं भी बच्चा बन जाते हैं। उनके साथ खेलने में उन्हें आनन्द आता है। लखनऊ में अपने मकान के बरामदे अथवा आँगन में फर्श पर घोड़ा बनकर, बच्चों को अपनी पीठ पर चढ़ाकर इधर-उधर घुमाने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। यों कहा जाये कि वे बड़ी जल्दी बच्चों को अपना विश्वासपात्र बना लेते हैं और बच्चे उन्हें विश्वासपात्र समझते हैं।

शास्त्रीजी को घर पर मौजूद प्रत्येक व्यक्ति के खाने-पीने, सुख-सुविधा आदि की बड़ी चिन्ता रहती है। भाई यती के विवाह की घटना है। मैं भी सपरिवार बड़ौत (मेरठ) गया हुआ था जहाँ शास्त्रीजी आर्य पोस्ट ग्रेजुएट कालेज के प्रिंसिपल थे। हम सब लोग रात में बँगले के सामने लॉन में सोये थे। रोज की तरह शास्त्रीजी प्रातः बिस्तर से उठ बैठे। उन्होंने देखा कि कई लोग सर्दी के कारण सिकुड़े पड़े थे। संयोगवश मेरी भी आंख खुल गयी थी परन्तु सदैव की भाँति मैं लेटा ही रहा। मैंने देखा—पिताजी ऐसे कि उन सबको चादर ओढ़ा रहे थे जो सिकुड़े पड़े थे।

आदरणीय शास्त्रीजी निश्छल और साफ दिल के व्यक्ति हैं। दूसरों में भी वे यही गुण देखना चाहते हैं और ऐसे स्वभाव के लोगों का बड़ा आदर करते हैं। इस संबंध में मुझे एक घटना याद हो आयी है। सन् १९५३ में राज्य विधान परिषद् के स्नातक निर्वाचन-क्षेत्र से लखनऊ से चुनाव होने वाला था। शास्त्रीजी निर्दलीय रूप से चुनाव लड़ने पर विचार कर रहे

थे। एक दिन उन्होंने मुझसे कहा, "बोलो रजनी ! यदि मैं चुनाव लड़ूँ तो तुम मेरी क्या मदद करोगे ?' मैंने आदरपूर्वक उत्तर दिया, "यदि मेरी पार्टी (सोशलिस्ट) इस चुनाव के संबंध में कोई निर्देश देगी तब तो उसका पालन करूँगा अन्यथा आप जो भी काम मुझे सौंपेंगे मैं उसे पूरी तरह से अंजाम दूँगा।" शास्त्रीजी उत्तर से बुरा मानने के बजाय, जैसा कि आम तौर पर लोग करते हैं, बड़े प्रसन्न हुए और कहा कि आदमी में ऐसी ही स्पष्टवादिता होनी चाहिए। अच्छे चरित्र का यह भी एक अंग है।

इस प्रकार शास्त्रीजी ऊपर से कठोर दिखने वाले, पर हृदय के अत्यन्त उदार महापुरुष हैं। वे मेरे प्रेरणा-स्रोत हैं।

सहायक सम्पादक
स्वतंत्र भारत (दैनिक)
लखनऊ

रजनीकान्त मिश्र

अभिनंदनीय आदर्श दम्पति

पूज्य श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री आर्य जगत् के शीर्षस्थ नेताओं में से एक हैं। उनकी शिक्षा, योग्यता, अनुभव, विद्वता, प्रवरवाग्मिता, अद्भुत सूझबूझ इतनी गहरी है कि यदि आर्यसमाज से तनिक भी इधर-उधर होकर के राजनीति में उतरे होते तो वे आज केन्द्रीय मंत्री-स्तर पर पहुँच चुके होते। वे हरिजन नेता विहारीलालजी, श्री नरदेव शास्त्रीजी, श्री हुलास वर्मा, श्री खुर्शीदलालजी, श्री महावीर त्यागीजी की परम्परा के व्यक्ति हैं जिनको देहरादून नगर ने अपने उत्थान की प्रत्येक गतिविधि में अग्रणी पाया है। डी० ए० वी० कालेज के वार्डन पद पर रहते हुए उनकी सामाजिक सेवाएँ अनुपम थीं, अनुकरणीय थीं। छात्रावास में रहने वाले उस समय के छात्र आज ऊँचे पदों पर रहते हुए भी पूज्य रूप में श्री शास्त्रीजी का शुभ स्मरण करते हैं। शास्त्रीजी की व्यक्तिगत विशेषताएँ इतनी महान् हैं कि उनका वर्णन संक्षिप्त रूप में हो नहीं सकता।

इस लेख में मैं शास्त्रीजी के जीवन के केवल एक पक्ष की ओर पाठकों के ध्यान को लेकर चलूँगा। वेद के शब्दों में—

> या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावत।
> देवासो नित्यया शिरा॥

उस दम्पती को देवजन नित्य सिर झुकाते हैं जो अच्छे एकाग्र मन से किसी भी कार्य के लिए गतिशील होते हैं—इस आदर्श गृहस्थ जीवन का यदि कहीं आदर्श रूप में उदाहरण प्राप्त है तो माननीय शास्त्रीजी के यहाँ। मेरे परमपूज्य पिता श्री कर्मवीर ठाकुर संसारसिंहजी को माननीय

शास्त्रीजी के श्रद्धेय पिता ठा० माधवसिंहजी महामंत्री, अखिल भारतीय शुद्धि महासभा ने सार्वजनिक जीवन की दीक्षा दी थी। इसी घनिष्ठता के आधार पर मुझे भी गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर की शिक्षा के पश्चात् १९३३ ई० में शास्त्रीजी के ही श्रीचरणों में समर्पित कर दिया गया था। डी० ए० वी० कालेज, देहरादून के उस पवित्र वातावरण के निर्माता रूप में प्रिंसिपल लक्ष्मणप्रसादजी, हेडमास्टर बद्रीनाथ छिब्बर भी जिस व्यक्ति-विशेष को इसका सम्पूर्ण श्रेय देते थे वह थे श्री शास्त्रीजी। तब मुझे उनके घर का सदस्य जैसा बनकर रहने का सुयोग प्राप्त हुआ। वहाँ रहकर पूज्या माता श्रीमती अक्षयकुमारीजी के श्रीचरणों में बैठकर उनके द्वारा मुझे साहित्य एवं व्याकरण के दुरूह ग्रंथों को पढ़ने का सुयोग प्राप्त हुआ। उनके सभी बच्चों के साथ खेलने का सुअवसर मिला। तब से आज तक उनकी प्रत्येक स्थितियों और प्रगतियों से पूर्णतया अवगत रहने के आधार पर मैं यह शब्द लिखने को उत्सुक हूँ कि शास्त्रीजी के जीवन-विकास में बहुत बड़ा योगदान उनकी परम विदुषी साध्वी धर्मपत्नी श्रीमती अक्षयकुमारीजी का रहा है। बहुत थोड़े जनों को यह जानकारी होगी कि विवाह के थोड़े ही समय पश्चात् शास्त्रीजी फुफ्फुस-व्याधि से पीड़ित हो गये थे, शरीर सर्वथा क्षीण हो गया था। ऐसी स्थिति में जो सेवाएँ-सावधानियाँ व्यवहार में लायी गयीं उन्हीं के बल पर शास्त्रीजी का स्वास्थ्य एवं व्यक्तित्व आकर्षक बन सका। बच्चों पर प्रायः सार्वजनिक जीवन के व्यक्ति ध्यान नहीं दे पाते, किंतु शास्त्रीजी के आदर्श पुत्र-पुत्री कहाँ, किसके साथ, कितनी देर और किस प्रकार के खेल व किस प्रकार के खिलौनों से खेलते हैं; उनकी पारस्परिक बोलचाल, शिष्टाचार एवं आगन्तुकों से व्यवहार कैसा होना चाहिए—इसका आदर्श शास्त्रीजी की गृहदेवी की कृपा से दर्शनीय रहा है। सीमित आय में भी ऊँचा रहन-सहन और श्रेष्ठतम भोजन व्यवस्था कैसे चलायी जा सकती है, यह हमारी पूज्या माँजी से सीखने योग्य कला है। अतिथि को अपने से उत्तम और पहले खिलाकर खाना और उसे सुमन से सत्कार देना, याज्ञिकता से दिन का प्रारम्भ और सुनियोजित दिनचर्या का निबाहना और घर के वातावरण को उल्लासमय रखना उस परम पूज्या सुमंगली, सुदर्शना माता अक्षयकुमारीजी की ही विलक्षण प्रतिभा का चमत्कार है। देहरादून और लखनऊ की जनता कहती सुनी गयी कि शास्त्रीजी बहुत अच्छा बोलते हैं, बड़े आकर्षक व्यक्तित्व के धनी हैं—किंतु कितनों को पता है कि शास्त्रीजी किस समय, किस सभा में, कितने बजे क्या बोलेंगे? कैसे कपड़े पहनकर, कैसे जूते धारण कर, जेब में कैसा कलम लगाकर, खुले या बंद गले का कुर्ता या कोट पहन कर जायेंगे? इस तक की व्यवस्था माँजी करती हैं। विवाह के पश्चात् कहा जाता है कि शास्त्रीजी का व्यक्तित्व बना परन्तु बनाया तो उस सहधर्मिणी ने ही, जिसके लिए पृथक अभिनंदन ग्रंथ की रचना नहीं होने वाली है। शास्त्रीजी ने डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ का आचार्य पद सँभाला। वे अत्यन्त सफल हुए। लखनऊ के जनमानस पर डी० ए० वी० कालेज के अनुशासन एवं परीक्षा-परिणाम की धूम रही, क्योंकि हमारी माताजी वहाँ उनके साथ थीं। शास्त्रीजी बड़ौत पधारे, वहाँ के जाट कालेज के हुक्कीवातावरण को आर्यत्व से भरपूर बनाने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई—वह भी इसलिए कि वे सपत्नीक वहाँ रहे, किंतु वहाँ के बाद माँजी ने कन्या गुरुकुल, सासनी का कार्यभार सँभाल लिया। शास्त्रीजी एकाकी रहे—बना दिया आर्यजनों ने उपकुलपति। गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का चार्ज लिया अकेले शास्त्रीजी ने। बहुत जमे—उच्चतम श्रेष्ठतम योजनाएँ थीं—भारी सराहना हुई—उनकी विद्वता, योग्यता, प्रबंधपटुता, शिष्टता और सौजन्यता की आज तक प्रशंसाएँ हैं। सबका कहना है कि शास्त्रीजी

यदि रहते तो गुरुकुल का कायाकल्प हो जाता, परन्तु 'तपसी बाबा' जो साथ में न थे। मैं कहता हूँ कि माँजी साथ रही होतीं तो शास्त्रीजी वहाँ से असमय न चले आते। परन्तु 'जो भवितव्यता होती है वह होकर ही रहती है' के अनुसार शास्त्रीजी के द्वारा कन्या गुरुकुल, सासनी में वहीं रहकर सक्रियता अपनाना अत्यन्त हितावह रहा। संस्था का अतीत उज्ज्वल तो वर्तमान उज्ज्वल और शास्त्री-दम्पती के कारण भविष्य भी उज्ज्वल है।

आर्य जगत् को इस आदर्श दम्पती पर गर्व है। इनके द्वारा शिक्षा-प्राप्त कन्याएँ, देश-भर में वैचारिक एवं सामाजिक क्रांति की संदेशवाहिका बनें, यह आज की बड़ी भारी आवश्यकता है। इसके लिए प्रभु से प्रार्थना है कि वह श्रद्धेय शास्त्रीजी एवं पूज्या माताजी को चिरायुष्य देकर शतायु करें, जिससे इस आदर्श दम्पति के द्वारा देशोद्धार की दिशा में इसी भाँति महान्तम सेवाएँ होती रहें।

मुख्याधिष्ठाता
कन्या गुरुकुल, हरिद्वार

(कविराज) योगेन्द्रपाल शास्त्री

श्री महेन्द्रप्रताप का 'प्रताप'

सामान्य-सी बात है कि जीवन उस व्यक्ति का सार्थक है जो समाज अथवा राष्ट्र-सेवा हेतु अपना सर्वस्व अर्पण कर दे। कौन जानता था कि आगरा शहर के गोकुलपुरा जैसे साधारण मोहल्ले में जन्म लेने वाला बालक इस गौरव का अधिकारी होगा? यही बालक वर्तमान समय में शिक्षाविद् श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री के नाम से जाना जाता है।

श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के पूज्य पिताजी, चौधरी माधवसिंहजी आगरा के आर्य-समाज के अग्रगण्य कार्यकर्ता तथा तन-मन-धन अर्पण करके जनसेवा करने वाले व्यक्ति थे। पुत्र को पिता से ये समस्त गुण विरासत में प्राप्त हुए थे। अपने शिक्षा काल के ये मेधावी छात्र थे, उन्होंने विश्वविद्यालयों से उच्च श्रेणी में उच्चतम उपाधियाँ प्राप्त कीं। शिक्षार्जन के पश्चात् प्राचार्य-पद को प्रतिष्ठित करने के साथ-साथ राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा का भार भी सँभाला। राजकुमारों के अभिभावक और शिक्षक बनकर वे इंग्लैंड व फ्रांस भी गये थे।

प्रगति के सोपान ने उन्हें कुलपति के पद पर पहुँचाया। गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी ने उन्हें उपकुलपति का सम्मान दिया, भारतीय विद्या संस्थान ने उन्हें निदेशक के पद से विभूषित किया। आगरा एवं लखनऊ विश्वविद्यालय की सीनेट ने उन्हें सामान्य सदस्य मनोनीत किया। वे आजीवन अनेक संस्थाओं के प्रधान संयोजक, सम्पादक, मंत्री एवं प्रशासक रहे—अभिप्राय यह है कि जिस क्षेत्र में जो भी कार्य सौंपा गया, उसे सफलतापूर्वक संपन्न करने का श्रेय वे निरन्तर प्राप्त करते रहे। इस सबका एकमात्र रहस्य है—शास्त्रीजी की कर्तव्यनिष्ठा, उदारता और स्वभाव की दृढ़ता। हमें उस माँ के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जिसने उत्तर प्रदेश

तथा भारतवर्ष को इतना महान समाजसेवी तथा निरन्तर लगन से जुटा रहने वाला शिक्षाविद् एवं अधिकाधिक त्याग-भावना रखकर महर्षि दयानन्द के सिद्धांतों एवं आदर्शों को कार्यान्वित करने वाला व्यक्ति देश को दिया।

उच्च आदर्शों से ओत-प्रोत श्रेष्ठ व्यक्ति के जीवन-दर्शन को अभिनंदन ग्रंथ के माध्यम से जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत करना सराहनीय है, आवश्यक है, लाभदायक है। आप लोग वास्तव में बधाई के पात्र हैं, जिन्होंने इस महान् कार्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया है। मेरा विश्वास है कि जनता-जनार्दन इस महापुरुष संबंधी अभिनंदन ग्रंथ से उत्थान एवं प्रगति पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्राप्त करेगा।

लखनऊ **(श्रीमती) राधारानी स्नातिका**

बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी

बात काफी पुरानी है। लगभग आज से ३५-३६ वर्ष पूर्व जब मैं कन्या गुरुकुल, हाथरस में एक ब्रह्मचारिणी के रूप में अध्ययन कर रही थी, तभी से पूज्य शास्त्रीजी से परिचित थी। स्नेहशीला अक्षय बहिनजी, माता लक्ष्मीदेवीजी से मिलने यदा-कदा आया करती थीं। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर प्रायः वह आती थीं और कभी-कभी पूज्य शास्त्रीजी भी उनके साथ आते थे। आर्य सम्मेलन, राष्ट्रभाषा सम्मेलन, शिक्षा सम्मेलन आदि में संयोजक के रूप में तथा एक कुशल वक्ता के रूप में उनकी गुरु-गंभीर गिरा सुनने को मिलती रहती थी। यह परिचय परोक्ष-सा ही था।

सन् १९६०-६१ में जब शास्त्रीजी वैदिक जनता कालेज, बड़ौत में प्राचार्य-पद पर कार्य कर रहे थे तब मेरा पहली बार उनसे विशेष परिचय हुआ। बड़ौत कालेज में पूज्य शास्त्रीजी ने एक वृहद् आर्य सम्मेलन का आयोजन किया था, उसी के महिला सम्मेलन में भाग लेने के लिए मुझे श्रीमती अक्षय बहिनजी ने बुलवाया था। जाड़ों के दिन थे। भाई रवि की बीमारी से शास्त्रीजी व बहिनजी बड़े चिंतित थे। अकस्मात् स्वास्थ्य अधिक गिर जाने से बहिनजी रवि भाई को लेकर अपनी पुत्रवधू के साथ दिल्ली इर्विन चिकित्सालय में आ गयीं, पर दारुण कष्ट की इस वेला में भी शास्त्रीजी सम्मेलन का आयोजन बीच में छोड़कर नहीं गये। भाई रवि उधर जीवन-मरण के बीच संघर्ष कर रहे थे, पर शास्त्रीजी धैर्य और आस्तिक भाव से अपने आरंभ किये हुए यज्ञ में आहुतियाँ डाल रहे थे। चिंता और विवाद को अंतर में समेटे हुए निरन्तर एक मौन साधक की तरह वे आर्य सम्मेलन की व्यवस्था में जुटे रहे और उसकी सफल समाप्ति के पश्चात् ही पुत्र को देखने गये। उनके अद्भुत धैर्य को देखकर मैं स्तब्ध रह गयी।

उनकी विस्मयकारी धीरता मैंने तब भी देखी जब आज से ३-४ वर्ष पूर्व के मोतिया-बिन्द के कष्ट के कारण नेत्रों से देख नहीं पाते थे। एक आँख का मोतिया पक गया और डॉक्टर

ने उसके आपरेशन की सहमति दे दी। शास्त्रीजी के छोटे पुत्र श्री विजयप्रताप तथा पुत्रवधू डॉक्टर हेमलता के पास जयपुर में आपरेशन हुआ। सुयोग्य चिकित्सकों की देख-रेख में सब-कुछ हुआ, पर दुर्भाग्यवश पट्टी खुलने पर पता लगा कि नेत्र-ज्योति समाप्त हो चुकी है। एक आँख चली गयी और दूसरी में मोतियाबिंद पूर्ण रूप से फैल गया, ऐसी विषम परिस्थिति में परिवार के सदस्य तो दुखी थे ही, उनके हितैषी और इष्ट मित्र भी चिंताकुल थे, पर आश्चर्य है कि शास्त्रीजी कष्ट की इस दारुण वेला में भी विचलित और निराश नहीं हुए। धैर्यपूर्वक, अविचल भाव से उन्होंने इस आपदा को सहन किया और आस्तिक भाव से दूसरी आँख के सफल आपरेशन की आशा करते रहे। प्रभु-कृपा से उनका दूसरा आपरेशन अत्यन्त सफल रहा। यह हम सबका सौभाग्य ही था कि वे पूर्ण रूप से स्वस्थ और संतुष्ट होकर चिकित्सालय से विदा हुए। नेत्ररोग चिकित्सा के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त डॉक्टर कुमारी हमीदा (गांधी नेत्र चिकित्सालय, अलीगढ़), जिन्होंने उनका आपरेशन किया, का कहना था कि शास्त्रीजी जैसा मरीज उन्होंने नहीं देखा जो डॉक्टर का अक्षरशः पालन करे, पूरा-पूरा सहयोग दे और धैर्य से परिणाम की प्रतीक्षा करता रहे। दो-ढाई वर्ष की अवधि तक वे अख़बार नहीं पढ़ सके, लिख नहीं सके और चाक्षुष् संबंधों से चारों ओर के परिवेश को भी अच्छी तरह नहीं पहचान सके, पर इस स्थिति का आभास उन्होंने अपनी किसी क्रिया या प्रतिक्रिया द्वारा किसी पर नहीं होने दिया। रेडियो के द्वारा वे समाज और विश्व की गतिविधियों से जुड़े रहे तथा लिपिक के माध्यम से गुरुकुलीय पत्राचार आदि की समस्याओं को सुलझाते रहे। धैर्य का यह अप्रतिम उदाहरण है।

सन् ६० से ६५ तक कन्या गुरुकुल में मुझे अध्यापिका तथा प्रधानाध्यापिका दोनों ही रूपों में शास्त्रीजी के निर्देशन और सान्निध्य में कार्य करने का सुअवसर मिला। मेरे जीवन की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। मुझे ऐसा एक भी दिन स्मरण नहीं आता जब उन्होंने मेरे या मेरी सहयोगिनी स्नातिकाओं अथवा शिक्षिकाओं के साथ अनुचित व असंगत व्यवहार किया हो। जो भी त्रुटियाँ, अपूर्णता उन्हें दिखलायी देतीं वे सुस्पष्ट, सुलझी हुई भाषा में हमें समझाते और हमारी आलोचना करते तथा पूरा-पूरा सहयोग देते कि भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न हो। संवेदनात्मक स्तर पर नैतिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार का सहयोग वे हम सबको देते रहे। इस सहयोग का ही फल है कि साढ़े तीन सौ से भी अधिक कन्याएँ गुरुकुल में आज प्रवेश पा चुकी हैं।

समय-समय पर विनोदवश मान्या अक्षय बहिनजी शास्त्रीजी को 'व्यवस्था' नाम दे देती हैं। वास्तव में शास्त्रीजी का जीवन व्यवस्था का मूर्त्त रूप है। उनके दैनंदिन का कार्यक्रम देखने से ज्ञात होता है कि एक क्षण भी वे अव्यवस्थित रहना पसंद नहीं करते। वस्तुओं को यथास्थान रखना, यथासमय कार्य करना, छोटी-से-छोटी वस्तु की उपयोगिता और महत्ता को समझना, प्रत्येक स्मरणीय तथ्य को डायरी में लिखना, पत्रों को सामने रखकर उनके उत्तर लिखना और दूसरों की बात को ध्यान से अच्छे श्रोता की भाँति सुनना—ये सब उनकी व्यवस्थाप्रियता के जीवन्त सूत्र हैं। अपने व्यवस्थित कार्यक्रम को वे इधर-से-उधर नहीं होने देते। समय के मूल्य को वे इतना समझते हैं कि उत्सव के समय मंडप में कितने ही कम श्रोता क्यों न हो वे निश्चित समय पर कार्यक्रम आरंभ अवश्य करा देते हैं। व्यवस्था की अर्थवत्ता को वे इतना समझते हैं कि दीवार पर टँगी तसवीर का इंच-भर का टेढ़ापन, अलमारी में सजी हुई एक भी वस्तु का

असंतुलन, बिछी हुई दरी का असमान कोना, तार पर सूखने वाले कपड़ों की असंगति तथा ईंटों के ढेर के असामंजस्य तक को भी उनकी अतलस्पर्शी दृष्टि तत्काल भाँप जाती है। उनके साथ काम करने वाले हर समय शंकित रहते हैं कि शास्त्रीजी की व्यवस्था कुछ-न-कुछ रंग अवश्य दिखायेगी। मुझे याद है, एक बार उन्होंने बताया था कि उनके एक विदेशी शिष्य ने श्रद्धापूर्वक उनका होल्डॉल तैयार करके बाँध दिया, पर शास्त्रीजी को चैन नहीं पड़ा क्योंकि चादर-तकिया-कम्बल आदि जो जिस क्रम से बाँधे जाने थे वे वैसे नहीं बँधे थे। इसलिए शिष्य के चले जाने पर उन्होंने खोलकर दुबारा बिस्तर बाँधा और तब संतुष्ट मन से यात्रा की। यदि उनकी चाय का समय नहीं होता तो अपने संबंधियों और परिचितों के साथ वे चाय के समय बैठ भले ही जायें स्वयं चाय नहीं पीते और न इस बात की ही चिंता करते हैं कि उनकी इस बात का कोई बुरा मानेगा। सुनियोजित जीवनपद्धति ने उन्हें अचल आत्मविश्वासी बना दिया है।

वे महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांतों का परिपालन करने वाले सच्चे आर्यसमाजी हैं। कथनी और करनी की एकता उनके जीवन में प्रत्यक्ष है। आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओं, सभाओं तथा समितियों में नाना पदों पर वे आसीन हुए और अब भी हैं पर कभी भी गुटबंदी, झूठे वायदे, मुँहदेखी बातों और चोर दरवाजे वाली व्यक्ति-प्रतिष्ठा के चक्कर में वे नहीं पड़े। देश-विदेश में रहने वाले अनेक शिष्य उनके महान् व्यक्तित्व की सराहना करते पाये जाते है। अपने उत्तरदायित्व को निभाने की उनमें अद्भुत क्षमता है। डी० ए० वी० कालेज, देहरादून, डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ और वैदिक कालेज, बड़ौत व कन्या गुरुकुल, हाथरस की ऐतिहासिकता में शास्त्रीजी का कार्यकाल स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। सच कहा जाये तो वे जन्मजात प्रिंसिपल रहे, पर अहंकार उन्हें छू तक नहीं गया। कर्तव्य-कर्म के प्रति वे सदैव जागरूक रहते हैं। कर्मयोगी के सदृश वे अपना प्रतिपल बिताते हैं। वे जीवन को सचमुच में जीते हैं। उनके उठने, बैठने, पढ़ने, लिखने, बोलने-चालने में पग-पग पर जीवन्तता और कर्मठता के भरपूर दर्शन होते हैं। जितनी देर कोई उनके पास बैठेगा उसे यह अनुभूति अवश्य होगी कि वह एक कर्मण्य, संवेदनशील और गहरी सूझबूझ वाले व्यक्ति के पास बैठा हुआ है।

शास्त्रीजी के ८०वें जन्मदिन के इस मंगलमय अवसर पर मैं मान्या अक्षय बहिनजी के प्रति भी कुछ शब्द लिखना अनिवार्य समझती हूँ क्योंकि वे शास्त्रीजी के व्यक्तित्वसागर के साथ अंतःसलिला स्रोतस्विनी के समान निरंतर प्रभावित होती रही हैं। शास्त्रीजी का वर्तमान स्वरूप उनके सफल दाम्पत्य का ही प्रतिफल है। मैं स्नातिका मंडल की ओर से स्नेहशीला बहिनजी को हार्दिक बधाई देती हूँ। उन्होंने सुयोग्य पत्नी, आदर्श गृहिणी, सफल माता और विशिष्ट समाजसेवी महिला के विभिन्न रूपों में जो सफलता पायी है, उसने शास्त्रीजी की गरिमा पर चार चाँद लगा दिये हैं। उनका और शास्त्रीजी का गृहस्थ मानो सोने में सुगंध है। कन्या गुरुकुल, हाथरस की समस्त स्नातिकाओं की ओर से मेरी मंगल कामनाएँ उन्हें समर्पित हैं। प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि बहिनजी के सहयोग से कर्मपथ पर अग्रसर होते हुए शास्त्रीजी हमें अपनी शताब्दी मनाने का शुभ अवसर प्रदान करें।

प्रवक्ता, टीकाराम गर्ल्स डिग्री कालेज
अलीगढ़

सौभाग्यवती स्नातिका
एम० ए०, पी-एच० डी०

एक प्रेरक व्यक्तित्व

अभिनन्दन की परम्परा जिसने डाली वह निश्चय ही समाज की उन्नति का आकांक्षी व्यक्ति रहा होगा, क्योंकि अभिनन्दन वह स्रोत है, जिससे समाज के उन मूक-सेवियों एवं कर्मठ कार्यकर्ताओं के वे जीवन-प्रसंग उद्धृत होते हैं, जिनसे भावी पीढ़ी प्रेरणा पा सकती है। मात्र बीस वर्ष की आयु में जिस समय "माता लक्ष्मीदेवी अभिनंदन ग्रंथ" के संयोजन में जुटी थी, उस समय उस पुण्यश्लोका देवी की महिमा न तो उतनी समझ ही सकी थी और न अन्तर्मन से स्वीकार ही सकी थी, जितनी आज जीवन के हर मोड़ पर उनकी महानता, उनकी गरिमा, उनका अजेय, दृढ़ और कर्मठ व्यक्तित्व याद आता है। उस माता के जीते-जागते स्मारक कन्या गुरुकुल, हाथरस के सुयोग्य संचालक आदरणीय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के सन् ४२ में अपने गुरुकुल प्रवेश से लेकर सन् ५५ तक के अपने कुल के निवासकाल में मैंने अनेक रूप देखे, उनकी महानता का परिचय अनेक अवसरों पर पाया—पारिवारिक मधुर प्रसंगों से लेकर सामाजिक जीवन के कर्मठ रूप तक, जो आज समाज की सुव्यवस्था के लिए प्रेरणा-प्रद हो सकते हैं।

एक बहुत ही छोटा-सा संस्मरण यहाँ प्रस्तुत है। पूज्यनीया माताजी सुदूर प्रान्तों की जो कन्याएँ प्रतिवर्ष ग्रीष्मावकाश में घर नहीं जा पाती थीं, उन्हें लेकर रामगढ़ (नैनीताल) जाया करती थीं। वहाँ पर पूज्य नारायण स्वामीजी के प्रवचन प्रायः उपनिषदों पर हुआ करते थे। इन प्रवचनों को सुनने प्रसिद्ध विद्वान् पं० कपिलदेवजी शास्त्री, पं० मंगलदेवजी शास्त्री, माता सुलभादेवी जी एवं परम पूज्य महात्मा खुशालचन्दजी, जो कि संन्यास लेने पर महात्मा आनन्द स्वामीजी के नाम से प्रसिद्ध हुए, आया करते थे।

हम ब्रह्मचारिणियों की संख्या प्रायः पचास-साठ तक होती थी, अतः खूब खेल-कूद होता ही रहता था, हमारे व्यायाम शिक्षक स्वर्गीय भाई रणवीर जी खूबानियों, सेव आदि की लूट कराते रहते थे। ऐसे ही एक दिन शाम को हम लोग खेल-कूद रहे थे, इतने में अकस्मात् पूज्य महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री भी वहाँ पधारे। खेल ने एक दूसरा ही मोड़ ले लिया। अन्त्याक्षरी आदि का छोटी कन्याओं से संस्कृत में वार्तालाप शुरू हो गया। संस्कृत में वार्तालाप का उद्देश्य था—उनका भाषा ज्ञान बढ़ाना। बातों-ही-बातों में अचानक शास्त्रीजी ने मुझसे पूछा—अच्छा, कमला, बताओ 'मम' में हलन्त होती है या नहीं? थी तो पाँचवी कक्षा की छात्रा, और चूँकि मेरे पिता भी एक गुरुकुल के आचार्य थे, इसलिए संस्कृत पर अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझती थी, पर बालबुद्धि को यह न मालूम था कि ज्यों-ज्यों ऊँट पहाड़ के नीचे जायेगा, उसे अपना बौनापन भान होता जायेगा। अस्तु, एक बार सोचा हाँ कहूँ, दूसरी बार ना, सभी बड़े लोग मुसकरा रहे थे। अन्त में एक राह निकाली, बोल पड़ी—बोलने में हलन्त कैसे बतायें? उत्तर सुनकर सभी बड़े लोग खिलखिलाकर हँस पड़े।

इस प्रकार बड़े लोगों के छोटे-छोटे खेल भी न जाने कितना कुछ सिखलाने वाले होते हैं। पूज्या माता लक्ष्मीदेवीजी की मृत्यु के पश्चात् ११ मार्च, सन् १६६१ से शास्त्रीजी ने ही गुरुकुल का भार अपनी सुयोग्य सहधर्मिणी श्रीमती अक्षयदेवीजी शास्त्री के साथ सँभाला हुआ है। इन उन्नीस वर्षों में, थाईलैण्ड आसाम, हैदराबाद, अफ्रीका जैसे सुदूर स्थानों से आयी हुई न जाने कितनी कमलाओं ने उनके सतत सान्निध्य से क्या-क्या सीखा होगा। ईश्वर करे हमारी

कुलमाता का यह जीवन संस्मरण संस्था एवं व्यक्ति के रूप में अक्षय एवं उज्ज्वलतम हो, जिससे समाज को अधिकाधिक प्रकाश प्राप्त होता रहे और पूज्य शास्त्रीजी का सतत पथ-प्रदर्शन सदैव हमें मिलता रहे।

होशंगाबाद

कमला स्नातिका

दीपावली का अमरदीप

१९६३ में दीपावली की दीपमालिका से गुरुकुल परिसर जगमगा रहा था। सभी कुल-बालाएँ रोशनी देखने के लिए आश्रम द्वार से निकलकर गुरुकुल के मुख्य द्वार तक आयीं तथा रोशनी देखते हुए विद्यालय से होती हुई आश्रम में पहुँच गयीं। उन्हें कुछ जल्दी भी थी, क्योंकि कुछ ही समय बाद कमरे में सजी झाँकियों का निरीक्षण होना था। एक नवीन उल्लास सबके भीतर था क्योंकि आज कुलमाता के साथ कुलपिता भी कक्षों की सज्जा देखने हेतु प्रथम बार आने वाले थे। मुझे कुछ विलम्ब हो गया था। मैं दो-तीन स्नातिका बहिनों के साथ रोशनी देखने निकली। हजारों की संख्या में जलते दीप मन्त्रमुग्ध कर रहे थे, एक संदेश दे रहे थे—अपने लिए जिये तो क्या जिये, अपने जीवन-दीप से दूसरों का पथ आलोकित करो। मन में विचार जगा—हमारे कुलपिता भी दीपावली की एक दिव्य देन हैं। दीप अपने प्रकाश-दान से अमर है। हमारे कुल-पिता भी ज्ञान-दान से अमर हैं—एक अमर दीप, जिससे अन्य असंख्य दीप प्रज्ज्वलित होते हैं, दिव्य विभूतियों का निर्माण होता है, जनमानस ज्ञानालोक से आलोकित हो उठता है। कुलपिता एवं कुलमाता ने कुलवासियों के साथ कक्षों का अवलोकन किया। कुलपिता के प्रेरणादायक वाक्यों से कन्याओं में एक नवीन उत्साह की लहर दौड़ गयी। उसी समय से निरन्तर उन्हें समीप से देखने का अवसर मिला। देखा, उन्हें सतत दान करते हुए—ज्ञान-दान, अर्थ-दान, दया-दान करते हुए, सम्पर्क में आने वालों में मनुष्यता का आधान करते हुए।

एक बार एक सज्जन अपनी पुत्री को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये। कहने लगे—'आर्थिक स्थिति विषम है। पूरा शुल्क नहीं दे सकता।' वे परेशान थे, कहीं पुत्री वापिस न ले जानी पड़े, पर कुलपिता के चेहरे पर सहज मुसकान आ गयी। उन्होंने उन पर आश्रित पारिवारिक जनों का विवरण पूछा और कहा—'कोई बात नहीं. जितना आप सुविधापूर्वक दे सकें, दें। पुत्री अवश्य पढ़ेगी।' कालांतर में उन सज्जन की स्थिति इतनी बिगड़ी कि वह नियत राशि भी न दे सके। कुलपिता ने उन्हें पत्र लिखे, पर पुत्री को पता न लग जाये इसका ध्यान रखा। पुत्री की स्नातिका तक की शिक्षा बिना कोई शुल्क दिये ही पूरी हो गयी। हजारों रुपया हो गया। पिता आये और कहने लगे—'बहुत आभारी हूँ, पैसा है नहीं। धीरे-धीरे चुका दूंगा।' कुलपिता ने पुत्री को सप्रेम विदा कर दिया। यह है उनकी महानता।

अभी कुछ दिवस पूर्व एक सज्जन का पत्र आया। उन्होंने जुलाई '७९ में ही अपनी पुत्री को

गुरुकुल में प्रविष्ट कराया है। इन लोगों के बाहर होने के कारण पत्र मेरे हाथ में आया। उसमें लिखा था—'पुत्री को आपके चरणों में डालकर निश्चित हो गया हूँ। मुझे विश्वास है कि यदि मैं दुनिया में न भी रहूँ तो मेरी पुत्री ऐसे कुलपिता और कुलमाता की गोद में पहुँच गयी है, जहाँ उसका जीवन बन ही जायेगा, शिक्षा पूरी हो ही जायेगी।' मैं सोचने लगी—कितना गहन विश्वास है कुलपिता और कुलमाता पर ! और वास्तव में यह सही है। मैंने आज तक आर्थिक कठिनाई के कारण पढ़ाने में असमर्थ किसी अभिभावक की पुत्री को न तो प्रवेश के समय और न शिक्षा के बीच में ही वापिस जाते देखा। ब्रह्मचारिणियों को वर्ष-भर में दी जाने वाली छूट की राशि इस समय लगभग बीस हजार रुपये वार्षिक है। कभी-कभी माताजी कहती हैं—'आप छूट देते ही जाते हैं। कैसे खर्च पूरा होगा ?' पिताजी का उत्तर यही होता है, 'देवि, तुम चिन्ता मत करो। सब प्रभु पूरा करेंगे।'

कई बार कई अभिभावक गुरुकुल में अपनी कन्या को इसलिए प्रविष्ट करा जाते हैं कि घर में वह अत्यधिक शरारत करती है, बिगड़ गयी है। मैंने कुलपिता एवं कुलमाता को ऐसी ब्रह्मचारिणियों के साथ निरन्तर विशेष प्रयत्न करते देखा है—उनकी छोटी-से-छोटी बातों का ध्यान रखते हुए, पूरी दिनचर्या की जाँच करते हुए, उनके छोटे-से-छोटे अच्छे कार्यों की प्रशंसा करते हुए, मिष्ठान्नादि देकर उन्हें सुमार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हुए। अनेक बार सफलता मिलती है, कन्या के जीवन में परिवर्तन आता है। जब कभी किसी ब्रह्मचारिणी के साथ निरन्तर प्रयत्न करने पर भी वांछित सफलता नहीं मिलती और माताजी निराश हो जाती हैं तो कुलपिता यही कहते हैं—'देवि, निराश नहीं होना चाहिए, प्रयत्न करते रहना चाहिए। सोचो, हमारे सतत प्रयत्नों से कोई बच्चा सुधर जाये तो उस बच्चे का और समाज का कितना कल्याण होगा।' उनके उन शब्दों से नवीन उत्साह का संचार हो जाता है।

पूज्य पिताजी का हृदय स्फटिक के समान निर्मल है। जितना बाह्य आकर्षक है, उतना ही अन्तर् दिव्य गुणों से विभूषित। वे अन्तर्बाह्य एकमना हैं। दूसरों से भी वे इसी बात की आशा करते हैं। कोई अपनी गलती को छिपाने का यत्न भी करे तो भी वह छिप नहीं सकती। उनकी अन्तर्भेदी सूक्ष्म दृष्टि एवं प्रश्नावली तुरन्त ही सत्य बातों का पता लगा लेती है। कुछ ही क्षणों में बात की तह तक पहुँचने में वे बहुत कुशल हैं, इसका अनेक बार अनुभव किया है।

'कर्तव्य-पालन'—ये दो शब्द उनके जीवन का निचोड़ है। इस सम्बन्ध में वे स्नेही-से-स्नेही व्यक्ति को भी क्षमा नहीं कर सकते। गुरुकुल में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति से वे इसी बात की आशा करते हैं। इसमें कमी होने पर उन्हें मर्मान्तक पीड़ा होती है। इस अवस्था में भी पिताजी अपने कार्यकाल की अपेक्षा प्रतिदिन अधिक समय तक गुरुकुल के लिखा-पढ़ी के कार्यों में लगे रहते हैं। कभी कोई कहता भी है कि आप थकते नहीं, तो पिताजी यही उत्तर देते हैं कि 'कार्य करके मेरी थकान उतर जाती है। एक आत्म-संतोष मिलता है।' इस प्रकार वे वृद्ध होते हुए भी चिर युवा हैं।

गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियों को उनसे पितृतुल्य स्नेह मिलता है। कुल की ब्रह्मचारिणियों की उन्नति का सतत ध्यान रखना, सायं यज्ञोपरान्त उनका कुशलमंगल पूछना, किसी की कठिनाई को सुनकर उसे दूर करने का यत्न करना—कुलपिता एवं कुलमाता की दिनचर्या का प्रमुख अंग है।

गुरुकुल के पशु-पक्षी, पेड़-पौधें भी उनके प्रेम-रस से सिंचित हैं। प्रातः भ्रमण बेला में

दम्पति एक-एक पौधे को बड़े ध्यान से देखते हैं—कब किसमें पत्ते आये, कब कलियाँ आयीं, कब फूल खिले। गुरुकुल में एक पौधा है। जब उसमें फूल खिलते हैं, प्रत्येक फूल बड़ा मनमोहक होता है—एक डाली के प्रत्येक फूल का रंग भिन्न-भिन्न। प्रत्येक फूल के पराग में रंगों का संयोजन भिन्न-भिन्न। दम्पति देखकर आह्लादित हो उठते हैं। कई बार कुलपिता को मैंने कहते सुना है—'क्या प्रभु की कारीगरी है। कितना सुन्दर रंगों का मेल है। इस पर भी मनुष्य कैसे सोचता है कि ईश्वर नहीं है !'

गुरुकुल में एक कमल-सरोवर है। भ्रमण करते हुए वे उसके किनारे खड़े होकर कुछ समय तक कमलों को निर्निमेष निहारते रहते हैं। वास्तव में उनका जीवन ही कमल-पत्रवत् है। उनकी त्याग-तपस्या से गुरुकुल एक तपोवन बन गया है, जहाँ मयूर अपनी नृत्य छटा बिखेरते हैं, हिरण, बत्तख, कुत्ते सब साथ मिलकर विचरण करते हैं।

यह मेरा परम अहोभाग्य है कि श्रद्धेय शास्त्रीजी जैसे महान् व्यक्तित्व के सम्पर्क में रहकर कार्य करने का अवसर मिला है। मुझमें बहुत-सी कमियाँ हैं। वे निरंतर निर्देशन द्वारा उन्हें दूर करने का यत्न करते रहते हैं। आशा है, मेरा जीवन भी उस अमर दीप की कुछ उज्ज्वल किरणों से आलोकित हो उठेगा। प्रयत्नशील हूँ, देखें, कहाँ तक सफलता मिलती है।

प्रभु उन्हें '**भूयश्च शरदः शतात्**' स्वस्थ रखें, जिससे वे अधिकाधिक लोकोपकार कर सकें और यह गुरुकुल भी उनकी छत्रछाया में फलता-फूलता रहे। उस महान् विभूति के चरणों में मेरा श्रद्धायुत नमन।

प्राचार्या, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
हाथरस

कमला स्नातिका

त्यागमूर्ति श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री

हिमालय-सदृश सिद्धांतों पर अडिग, चन्द्रमा के समान शीतल प्रेम पीयूष वर्षा कर्ता, सूर्य-सदृश देदीप्यमान कीर्तिमय मुखमंडल, वाणी में ओज, परिचित या अपरिचित सभी को आकर्षित करने वाला स्वभाव—इन सब गुणों के मंजुल रूप की कल्पना करते ही श्रद्धेय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का दिव्यरूप सहसा प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है। आर्यसमाज एवं शिक्षा-जगत् के आधार-स्तम्भ शास्त्रीजी का जीवन उन आदर्श पुरुषों में से है जो स्वकीय जीवन को भी परकीय बना देते हैं।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि मंत्र ही उनके जीवन का आदर्श है। आर्यसमाज के प्राण, वैदिक पद्धति पर आधारित शिक्षण-संस्थाओं के सच्चे सेवक एवं मार्ग-दर्शक श्रद्धेय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री का जीवन उस बहुमूल्य पुस्तक के समान है जिसके पृष्ठ का एक-एक वाक्य अनमोल है। मैकाले शिक्षा-प्रणाली के विरोध में संचालित शिक्षण-संस्थाओं की सेवा में अपना जीवन अर्पित करते

समय एक ही भावना को सामने रखा कि किसी भी प्रकार दूषित शिक्षा-प्रणाली की जड़ें देश में गहरी न हो जायें। सच्चे आर्यसमाजी परिवार में जन्म लेने के कारण उनमें वैदिक धर्म के प्रचार एवं प्रसार की भावना जन्म से ही कूट-कूट कर भरी हुई थी। तत्कालीन समय में जब व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत होकर सरकारी पद प्राप्त करने में गौरव अनुभव करते थे, तब पद-लिप्सा की प्रवृत्ति को त्यागकर मानव-जाति के कल्याण के लिए अपना जीवन उन्होंने अर्पित कर दिया ! उत्तर प्रदेश की ऐसी कौन-सी आर्य शिक्षण-संस्था है जहाँ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनका सम्बन्ध न रहा हो ? कौन-सा ऐसा पुण्य कार्य है, जिसमें वे सहयोगी न रहे हों ?

जब माता लक्ष्मीदेवीजी ने नारी जाति के मानसिक विकास एवं कुप्रथाओं को दूर करने के लिए परिवार के मोह को त्यागकर अलीगढ़ के निकट कन्या गुरुकुल स्थापना का स्वप्न संजोया था तब किसने यह कल्पना की थी कि इस निर्जन स्थान में जहाँ अनेक बाधाएँ हैं कोई दीपक जलकर सभी को आलोकित कर देगा, परन्तु जिस प्रकार एक ही जलता हुआ दीपक आस-पास के न जलने वाले दीपकों को भी जला देता है उसी प्रकार उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन कन्या गुरुकुल, हाथरस के लिए अर्पित कर दिया।

श्रद्धेय शास्त्रीजी ने विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं में उच्चतम पद पर आसीन रहते हुए आर्यसमाज की जो सेवा की है उसे कदापि न भुलाया जा सकेगा। जीवन के कई पड़ावों को पार करते हुए उनका ध्यान बराबर कन्या गुरुकुल, हाथरस रूपी पौधे की तरफ बना रहा और आज वे उसी पौधे के चहुँमुखी विकास में अपने जीवन को लगाये हुए हैं। उनका कोमल स्वभाव एवं पितृ-वत्सल प्रेम सभी कुल ब्रह्मचारिणियों पर बराबर बना रहता है। इसी कारण कुलपिता को छात्राएँ पिताजी शब्द से सम्बोधित करती हैं। प्रसंगवश एक घटना स्मरण आ रही है जिसका उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। एक आर्यसमाज के उत्सव में गुरुकुल की छात्राओं का दल भाग लेने के लिए गया, पिताजी हमारे साथ ही गये थे। स्टेशन पर लेने के लिए आये हुए सज्जन गुरुकुल की छात्राओं का सामान उठाने लगे तो हमने कहा कि पहले पिताजी से पूछ लो। उसने पूछा—आपके पिताजी कहाँ हैं ? हमने कहा—सफेद धोती, कुरता पहने गौरवर्ण के जो व्यक्ति खड़े हैं वही हमारे पिताजी हैं। वह सज्जन बड़ा आश्चर्यचकित हुआ। पुनः बोला—क्या आप सभी के पिताजी हैं ? तो हमने पुनः वैसा ही कहा। उसे कुछ विश्वास-सा न हुआ। वह पिताजी के पास गया तो हम सब भी पीछे-पीछे चल दीं। उसने जाकर पिताजी से पूछा—क्या आप सभी छात्राओं के पिताजी हैं ? उन्होंने कहा—हाँ। और हम सभी प्रसन्नचित्त थीं। यही था उनका वह पितृ-वत्सल प्रेम जो जीवन-भर भुलाया न जा सकेगा। आज भी उनका वह रूप आँखों के सम्मुख आ जाता है तो सहसा श्रद्धावश अश्रुपात होने लगता है।

आज उनके अभिनंदन समारोह के आयोजन पर हमारा सबसे बड़ा योगदान यही होगा कि उनके कार्यों में सहयोग-भावना से अपना जीवन अर्पित कर दें। परमात्मा उन्हें दीर्घायु प्रदान करें जिससे आर्यसमाज के कार्यों को पूरा करने का उन्हें अवसर मिल सके। स्वार्थ भावना ही कहिये तो भी क्या ? सदा उनका आशीर्वाद मिलता रहे, यही कामना है।

श्रद्धा पुष्प समर्पित तुमको, करते हम तेरा वंदन।
कुल की कन्याएँ करतीं, कुलपिता तुम्हारा अभिनंदन।
सौभाग्य रहा मेरा अनुपम, जो मिला आपका संरक्षण
हे पूजनीय, हे वन्दनीय कुलपिता ! तुम्हें कोटि वंदन॥

नरवाना **सुमन स्नातिका**

कोटिशः अभिनंदन

आदरणीय श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री, कुलपति के अभिनंदन महोत्सव एवं अभिनंदन ग्रंथ प्रकाशन की योजना जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। शास्त्रीजी निश्चय ही अभिनंदन के योग्य हैं, क्योंकि उनका जीवन सदा परोपकार चिन्तन में ही बीता है।

श्रद्धेय शास्त्रीजी का जीवन '**परोपकाराय सतां विभूतयः**' की उक्ति को चरितार्थ कर रहा है। उन्होंने ज्ञान-दान का जो यज्ञ प्रारंभ किया था, वह आज भी जारी है। मनु की परिभाषा में उन्होंने सच्चे आचार्य और कुलपति बनकर गुरुकुलों का संचालन, विकास एवं उत्थान किया है और आज भी कर रहे हैं। गुरुकुल आन्दोलन के लिए समर्पित उनका जीवन नयी पीढ़ी को पुकार-पुकार कर आमंत्रण दे रहा है—गुरुकुल प्रणाली के समर्थको, भक्तो और शुभचिंतको! गुरुकुल प्रणाली ही सफल शिक्षा प्रणाली है। आओ, हम सब मिलकर उसकी सफलता में जुट जायें।

सामाजिक कार्यकर्ता अपने व्यक्तिगत जीवन की उपेक्षा कर देते हैं, परन्तु कुलपिता के रूप में शास्त्रीजी सदैव अपने जीवन से सद्गुणों के पुष्प बिखेरते रहते हैं। समय-पालन, अनुशासनप्रियता, कर्मठता, सामाजिक कार्यकुशलता, बच्चों के प्रति पितृवत् स्नेह, विविध कलाओं में रुचि, धार्मिक भावना, दयालुता, व्यवस्थित जीवन आदि अनेक मानवीय गुण उनके जीवन में से सुगंध प्रसारण कर रहे हैं।

यदि उनका एक भी गुण हम अपने में धारण कर सकें तो हम समाज की सेवा में सफल हो सकते हैं।

८०-वर्षीय तपस्वी जीवन में आज भी उनमें नवयुवकों जैसा उत्साह, जोश और कर्तव्य-प्रेम है, यही उनकी मानवता के प्रति सच्ची निष्ठा है।

ऐसे महान् कुलपिता को सादर प्रणाम! कोटिशः अभिनंदन!

इटावा

रश्मिप्रभा स्नातिका
एम० ए०, आचार्य

अर्चन : पारिवारिक जीवन

प्यारे भाई पर मुझे गर्व है

भाई महेन्द्र के अभिनंदन की योजना जानकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हो रही है। पिताजी ने आर्यसमाज के जो संस्कार हम लोगों को दिये थे उनको जीवन में विकसित करने का हम लोगों ने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। भाई का सार्वजनिक जीवन उन्हीं संस्कारों का विकास है।

बहन-भाई के प्यार का आदर्श हम लोगों के जीवन का आधार रहा और भाई ने अपने कर्तव्य-पालन द्वारा इस दिशा में गौरव प्राप्त किया है।

मेरे जीवन में वैधव्य और सन्तानों के पालन-पोषण की कठिनाइयाँ भाई के सहयोग से बड़ी सरलता से हल हो गयीं।

पति की सम्पत्ति के प्रबन्ध-कार्य और दूसरे प्रान्त (पंजाब) के जीवन की असुविधाओं पर भाई के सहयोग से मैंने विजय प्राप्त कर ली।

सन्तानों की शिक्षा-दीक्षा में भी भाई ने सराहनीय सहयोग दिया और सभी बच्चे अच्छी शिक्षा पा सके और अपने-अपने सांसारिक जीवन को पूर्ण कर रहे हैं। यदि भाई का सहयोग न मिला होता तो मुझे तो कष्ट होते ही, पर बच्चों का भविष्य बिगड़ जाता।

भाई के जीवन पर मुझे सदा गर्व रहा है, एक शिक्षा-शास्त्री के रूप में भाई की ख्याति मेरे लिए प्रसन्नता और सन्तोष का विषय रही है। भाई ने आर्यसमाज की सेवा का जो व्रत पिताजी के सम्मुख लिया था, उसे जीवन में बड़ी लगन और निष्ठा से निभाया है। कन्या गुरुकुल, हाथरस की माता लक्ष्मीदेवी जी के आदेशानुसार जो भी सेवा बन सकी मैंने भी सेवा की। आज भाई और भाभी अक्षय दोनों मिलकर गुरुकुल की सेवा कर रहे हैं, इसे देखकर मेरा हृदय आनन्द-विभोर हो उठता है। प्रभु भाई को दीर्घायु शतायु करें, इसी प्रार्थना के साथ मैं अपने भाई का हार्दिक अभिनंदन करती हूँ।

सुखदादेवी
(शास्त्रीजी की बड़ी बहिन)

पन्त-भवन
मोटिया-पड़ाव, हल्द्वानी
१० जून, १९७८

उदार एवं मूर्धन्य शिक्षा शास्त्री

जहाँ तक मुझे स्मरण है, श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री से सर्वप्रथम मेरा परिचय सन् १९४२ में देहरादून में हुआ था जब कि वे वहाँ पर डी० ए० वी० कालेज के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता थे। उनके सौजन्यपूर्ण वार्तालाप से मैं तुरन्त समझ गया था कि शास्त्रीजी एक आर्य वैदिक विद्वान् हैं। उनका व्यक्तित्व विशाल एवं सुसंस्कृत था। उनसे मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई थी।

लखनऊ में सन् १९५१ में जब कि वे डी० ए० वी० कालेज में आचार्य थे तब भी उनके दर्शन का सौभाग्य मिला। उनके वैदिक आर्यत्व एवं उनकी विद्वत्ता से मैं बड़ा प्रसन्न हुआ।

यदृच्छा वा ईश्वरीय प्रेरणा से कुछ दिन पश्चात् उसी वर्ष उनकी सुपुत्री सुवीरादेवी एम० ए० का विवाह-संस्कार मेरे सुपुत्र डॉक्टर तेजपालसिंह तेवतिया, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (अमरीका) से वैदिक रीत्यानुसार बड़े हर्ष के साथ लखनऊ में सम्पन्न हुआ। तब से तो हम घनिष्ठ सम्बन्धी हो गये हैं।

शास्त्रीजी सन् १९५७ से १९६३ तक जनता वैदिक स्नातकोत्तर कालेज, बड़ौत (मेरठ) में आचार्य-पद पर विराजमान रहे। मेरा ग्राम भूपगढ़ी, बड़ौत से अधिक दूर न होने के कारण मैं प्रायः बड़ौत उक्त कालेज में शास्त्रीजी के पास आता-जाता रहा हूँ। इस प्रकार मैं शास्त्रीजी की शिक्षा-दीक्षा, उनकी शैक्षिक सेवाओं एवं आर्यसमाज की सेवाओं से भली प्रकार परिचित हो गया हूँ। उनके निजी वैदिक पुस्तकालय का मैंने स्वयं अध्ययन किया है, जिससे शास्त्रीजी की वैदिक विद्वता स्पष्ट प्रकट होती है। शास्त्रीजी के विषय में सारांश रूप से मेरा यह निष्कर्ष है कि 'आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री एक उदार हृदय, मूर्धन्य शिक्षा-शास्त्री, यशस्वी एवं तेजस्वी प्रशासक एवं ओजस्वी-वरिष्ठ आर्य नेता हैं।'

रामपालसिंह तेवतिया
(शास्त्रीजी के समधी)

अवकाशप्राप्त प्रधानाचार्य
ग्राम—भूपगढ़ी; डाकघर—जानी
जिला मेरठ (उ० प्र०)

मेरे प्रेरणा स्रोत

मैं अमरीका से अध्ययन करके लौटा था। शादी के योग्य आयु होने के कारण जगह-जगह से प्रस्ताव आ रहे थे—कोई-कोई तो अपनी लड़की के साथ अपार धनराशि भी देने को उत्सुक थे। मुझे अपनाने के लिए उत्सुक धनीमानी व्यक्तियों की कमी न थी कि पूज्य पिताजी भी मेरे पास आये। मैं उनके व्यक्तित्व से इतना अधिक प्रभावित हुआ कि अन्य प्रस्तावों को छोड़कर मैं

उनका दामाद बनने को तत्पर हो गया। उनको देखकर मेरा हृदय अपार श्रद्धा से भर उठा। मैंने यही पाया कि उनके सम्पर्क में आने वाले का हृदय श्रद्धा से भर उठता है और मस्तक आदर से झुक जाता है।

उनकी कार्यकुशलता ने मुझे बहुत प्रभावित किया है। मुझे उनकी कर्मठता देख उनके दिखाये मार्ग पर चलने में आनन्द मिलता है। मेरा भी मन करता है कि उनकी तरह मैं भी कार्य करने में व्यस्त रहूँ। दूसरी चीज जो मैंने उनकी अपनाई है वह है निर्भीकता—मुझे भी अपने नीचे कार्य करने वालों की ओर से तरह-तरह की धमकियाँ दी जाती हैं पर मैं निडर होकर सच्चाई के साथ अपने काम में लगा रहता हूँ और मुझे वह दिन याद आ जाते हैं जब पिताजी गुरुकुल कांगड़ी के उपकुलपति थे और उनको धमकियों से भरे पत्र आते थे। किस साहस और परिश्रम से वह अपने सच्चाई के मार्ग पर डटे रहे और कोई उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका।

एक बार की बात है, मैं उनके पास लखनऊ गया हुआ था। वह उस समय हाईस्कूल परीक्षा बोर्ड के मेम्बर थे। एक सज्जन उनके पास अपनी पुस्तक कोर्स में रखवाने के लिए आये। वह अपने साथ उपहारस्वरूप बहुत कीमती साड़ी और मिठाई आदि लाये। उनका विचार था कि इन वस्तुओं के लोभ में आकर वह उनका काम बना देंगे। हमारे पिताजी ने वह सब देखकर कहा कि आपका काम हो जायेगा, पर आप यह सब क्यों लेकर आये हैं? उन सज्जन ने मिठाई बच्चों में बाँट दी और बोले कि बच्चों के लिए लाये थे। थोड़ी देर बाद साड़ी छोड़कर वह साहब चले गये। पिताजी उस समय तो चुप रहे, पर बाद में उन्होंने वह साड़ी पार्सल से उन सज्जन के पास वापिस भेज दी। ऐसी ही न जाने कितनी घटनाएँ हैं जिनसे पता चलता है कि उनके अन्दर लोभ की जरा भी मात्रा नहीं है।

पूज्य पिताजी हमारे लिए आदर्श हैं। मुझे निरन्तर उनसे प्रेरणा मिलती रहती है। बहुत-सी आदतें तो उन्हीं जैसी बन गयी हैं। अक्सर परिवार के प्राणी कह उठते हैं कि आपकी आदतें पिताजी से इतनी मिलती हैं कि आप दामाद नहीं लगते, वरन् बेटे लगते हैं। बेटा तो मैं उनका बन ही गया हूँ। उनके आदर्श जीवन की छत्रछाया में मेरा जीवन भी कर्तव्य-पथ पर अग्रसर रहे, इन शब्दों के साथ मैं उनकी दीर्घायु की कामना करता हूँ।

निदेशक
भारतीय लाख अनुसंधानशाला, रांची

(डॉ०) तेजपालसिंह तेवतिया
(शास्त्रीजी के जामाता)

हमारे पिताजी

कहावत है, 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'—अर्थात् दूसरों को उपदेश देने वाले बहुत होते हैं पर उन उपदेशों का पालन करने वाले कम होते हैं। बात भी ठीक है, क्योंकि करने और कहने में बड़ा अन्तर है। कहना जितना आसान होता है, करना उतना ही कठिन होता है। कोई-कोई

व्यक्ति ऐसे पाये जाते हैं जो अपनी कही बात पर चलते भी हैं—हमारे पिताजी उन्हीं गिनती के व्यक्तियों में से हैं। उन्होंने जैसा दूसरों से करने को कहा है वैसा पहले स्वयं किया है तब किसी से करने को कहा है। यदि उनकी दृष्टि में प्रातः भ्रमण स्वास्थ्य के लिए उत्तम है और सबको इस ओर ध्यान देना चाहिए तो वह स्वयं भी नित्यप्रति नियमपूर्वक सवेरे उठकर घूमते हैं। किसी भी प्रकार की बाधा उन्हें रोक नहीं पाती है। हाँ, कोई विशेष मजबूरी अवश्य रोक देती है। यदि उनका कहना है कि कुछ भी खाने के बाद चार घंटे तक कुछ नहीं खाना चाहिए तो मुझे नहीं याद कि उन्होंने कभी अपनी बात काटी हो, चाहे हम लोगों ने कितना ही आग्रह किया हो।

मुझे याद है जब मेरा २७ वर्ष का नौजवान भाई कठिन रोग से ग्रस्त था और जीवन-मृत्यु की लड़ाई लड़ रहा था, उस समय बहुत लोगों ने उन्हें समझाया कि मृत्युञ्जय का पाठ करवाइये, पूर्णमासी का दान कीजिये, ज्योतिषी को दिखाइये, वह आपको ग्रह शांत करने के उपाय बतायेगा और आपका पुत्र ठीक हो जायेगा, उस समय हमारे पिताजी अपने विचारों पर दृढ़ रहे। उनका यही कहना था कि "मैं सच्चे मन से उस परमपिता से प्रार्थना करता हूँ, उसकी जैसी इच्छा होगी करेगा—मुझे केवल प्रभु पर विश्वास है, किसी भी पाठ या दान पर नहीं" और उस कठिन परीक्षा के समय वह अडिग रहे, किसी भी प्रकार की भावुकता ने उनको नहीं घेरा और अस्थिर नहीं किया।

पिताजी का हृदय बहुत सरल है। न उन्होंने कभी दिखावा किया है, न उन्हें पसन्द है। माताजी उनसे कभी-कभी कहती हैं कि आपके मन में जो कुछ होता है सबसे कह देते हैं यदि कोई बुरा मान जाये तो ? पर वह इस बात की परवाह नहीं करते हैं क्योंकि अपने जैसा निष्कपट वह सबको सोचते हैं। एक बार वह अपने कुछ मित्रों के साथ भोजन कर रहे थे। माताजी उनके एक मित्र को पूरी देने लगीं—उन सज्जन ने दो पूरी के बाद ही मना करना शुरू कर दिया। माताजी ने बार-बार आग्रह किया पर वह मना ही करते रहे, क्योंकि माताजी जान रही थीं कि दो पूरी से उनका क्या पेट भरा होगा ? पिताजी ने जब यह देखा तो कहने लगे, "क्यों पीछे पड़ी हो उनको लेनी होती तो मना क्यों करते ? नहीं खाना चाहते होंगे।" बेचारी माताजी चुप हो गयीं। हम सबने देखा कि उन सज्जन ने स्वयं पूरी उठाकर अपनी थाली में रख ली। पिताजी देखते रह गये, क्योंकि न वह बनावटी व्यवहार करते हैं, न उसकी उनको आशा ही थी।

'सादा जीवन उच्च विचार' वाली बात उन पर खरी उतरती है। उनके जीवन में सादगी का पूर्ण रूप से समावेश है। सफेद खादी की धोती और कुर्ता उनके व्यक्तित्व को और निखार देता है। पर उस सादगी में भी शालीनता रहती है। प्रतिदिन के प्रयोग में लाने वाली वस्तुएँ भी सीधी-सादी और सुन्दर होती हैं। उनकी वस्तुओं में आधुनिकता और प्राचीनता का समावेश रहता है। अपनी पसन्द की वस्तुएँ लेने में वह मूल्य पर ध्यान नहीं देते हैं, कहते हैं—'कै हंसा मोती चुगे कै लंघन मर जाये।' इससे उनकी दृढ़ता का परिचय मिलता है।

पिताजी को अव्यवस्थित जीवन से बड़ी चिढ़ है। व्यवस्था के वह पुजारी हैं और उनका जीवन भी सुव्यवस्थित है। उनकी सब चीजें व्यवस्था के साथ रखी रहती हैं। बचपन में यदि हम उनकी अनुपस्थिति में उनका संदूक या उनकी अलमारी छू देते थे तो वह जान जाते थे कि उनकी चीजें किसी ने छूई हैं। इसीलिए जब उनकी आँखों का आपरेशन हुआ और दृष्टि क्षीण थी तब भी वह अपनी चीजें स्वयं उठाते-रखते थे। वह अँधेरे में भी अपनी वस्तुएँ उठाने में सफल रहते हैं। वह दूर बैठे भी बता सकते हैं कि उनकी अमुक वस्तु किस हाथ को, किस कोने में या

कहाँ रखी है। उसी व्यवस्था का परिणाम है कि उनका जीवन सवेरे से शाम तक घड़ी की सुई की भाँति चलता है। यही आशा उन्होंने हम सबसे सदा की है। जब हम छोटे थे तो उन्होंने हम सब बच्चों का कार्यक्रम बना रखा था। उसी के अनुसार हमारी दिनचर्या चलती थी—उसमें रात को एक घंटा खूब शोर मचाने और उनके साथ खेलने का रहता था। हम सब बहिन-भाई दिन-भर उस घंटे की प्रतीक्षा करते रहते थे और वह समय आने पर उनके साथ खूब शोर मचा-मचाकर खेलते थे। खूब जोर से हँसने की प्रतियोगिता चलती थी।

पिताजी को सवारी रखने का सदा शौक रहा है। अपनी सामर्थ्य के अनुसार उन्होंने सब सवारियों का शौक पूरा किया है। माताजी ने कभी सवारियों पर होने वाले व्यय की ओर ध्यान दिलाया तो उनका यही कहना रहा है कि "मैं कोई और शौक नहीं करता हूँ, न कोई नशा करता हूँ, बीड़ी सिगरेट एवं पान आदि से भी दूर रहता हूँ केवल यही एक मेरा शौक है। तुम व्यय की परवाह न करो मैं वहन करूँगा, पर मेरी इस इच्छापूर्ति को मत रोको।"

हम सब बहिन-भाइयों का जीवन आदर्श बनाने के लिए उन्होंने हम सब पर अनुशासन रखा, पर कठोरता से कभी भी काम नहीं लिया। उनका जीवन ही हमारे लिए पथ-प्रदर्शक रहा। भाइयों ने उनकी भावनाओं का ख्याल रखा और उन्होंने भाइयों की इच्छाओं की ओर ध्यान दिया। अपने पुत्रों का अंतर्जातीय विवाह करके जात-पाँत का खंडन करने का आदर्श सबके सामने रखा। दान-दहेज में उन्होंने कभी विश्वास नहीं किया—पुत्रों की शादियों में किसी से कुछ नहीं लिया और आदर्श विवाह किये। बड़े पुत्र की मृत्यु के बाद पुत्रवधू का पुनर्विवाह उनके विचारों की उदारता का ही द्योतक है। भला कौन व्यक्ति ऐसा होगा जो पुत्रवधू के पुनर्विवाह पर उसका सारा सामान भी वापस दे दे? पर हमारे पिताजी वहाँ भी अपने आदर्श से नहीं गिरे। उन्होंने उसकी एक-एक वस्तु उसको सौंप दी। साथ ही सदा सुखी रहने का आशीर्वाद दिया।

अपने पिताजी का कहाँ तक कीर्तिगान करूँ—सभी उनके देवत्व को जानते हैं—उनके आदर्शों पर चलना ही उनका गुणगान करना होगा। मैं तो भगवान् से यही प्रार्थना करती हूँ कि प्रभु उनको दीर्घायु करें और हम लोगों को शक्ति दें कि हम लोग उनके दिखाये मार्ग पर चलकर अपना भविष्य उज्ज्वल करें।

यह सब लिखते-लिखते मुझे अपनी माताजी का भी ध्यान आ गया। वह भी एक आदर्श नारी हैं—पिताजी की सच्चे अर्थों में सहधर्मिणी। हर परीक्षा के समय वह भी उनके कंधे से कंधा मिलाकर चली हैं। कहीं भी किसी भी मौके पर उन्होंने किसी प्रकार के हठ या अंधविश्वास का प्रदर्शन नहीं किया। सच्चे अर्थों में तो उनके सहयोग से हमारे पिताजी को भी अपने आदर्शों पर चलने के लिए बल मिलता रहा। दोनों का जीवन हम सबके लिए प्रकाशपुंज है। दोनों ने ही अपने को समाज-सेवा में अर्पित कर दिया है। प्रभु उनको इतनी शक्ति प्रदान करें कि वह चिर-काल तक समाज-सेवा करते हुए समाज का कल्याण करें।

रांची

सुवीरा, एम० ए०
(शास्त्रीजी की सुपुत्री)

अमर ज्योति

मैं अपने जीवन के सौभाग्यों में से एक सौभाग्य यह भी मानता हूँ कि मुझे शास्त्री-परिवार का अंग होने का गौरव प्राप्त है।

पारिवारिक संकटों में माताजी के प्रति सम्वेदना और समस्याओं के समाधान में मामाजी की सक्रियता को मैंने निकट से देखा है और उसी का परिणाम है कि हम लोगों की सब समस्याएँ—शिक्षा, विवाह, भूमि प्रबन्ध आदि आसानी से सुलझ गयीं।

पिताजी के अभाव में मामाजी अपनी बहिन अर्थात् हमारी माताजी के मार्ग-दर्शक के रूप में हम लोगों के सामने आये। पंजाब में अन्तप्रन्तीय और ग्रामीण परिवार होने के कारण माताजी के सम्मुख अनेकों व्यावहारिक कठिनाइयाँ थीं, पर भाई के अपूर्व स्नेह एवं उत्तरदायित्व की भावना ने बहिन को संकटों में से उबार लिया।

हम लोगों की शिक्षा को मामाजी ने प्राथमिकता दी। छोटा भाई अभी अल्पवय था, पर हम तीन भाई-बहिनों की शिक्षा-व्यवस्था का दायित्व आपने सँभाल लिया। हमारी मौसेरी बहिन शान्ति का दायित्व आप पहिले से ही उठा रहे थे। बाद में मेरे छोटे भाई की शिक्षा भी आपके संरक्षण में लखनऊ में हुई। मुझे भी गुरुकुल का स्नातक बनाकर मामाजी ने स्वयं स्नातक न बन पाने की कमी को पूरा कर दिया।

गुरुकुल में अध्ययन को मैं अपने जीवन का सौभाग्य ही मानता रहा हूँ, क्योंकि गुरुकुल में अध्ययन से मेरा सम्पर्क अतीत के गौरवपूर्ण इतिहास एवं संस्कृति से जुड़ गया। सम्भव था कि यदि मैं गुरुकुल न जाता तो एक सामान्य जीवन ही मेरी नियति होती। इस कार्य के लिए मामाजी के साथ-साथ माता लक्ष्मीदेवीजी का प्रोत्साहन और संरक्षण सदैव स्मरणीय रहेगा।

मामाजी का आशीर्वाद और गुरुकुलीय जीवन का ही यह परिणाम है कि आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य कर अपने जीवन को धन्य बना सका हूँ और महर्षि दयानन्द के ऋण से उऋण होने में अपने को जुटा सका हूँ। आर्यसमाज के क्षेत्र में भी मामाजी का जीवन ही मेरे लिए प्रकाश-स्तम्भ रहा है और यही कारण है कि दलबन्दी, पदलोलुपता आदि में न फँसकर सेवा ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। मामाजी की सबसे बड़ी प्रेरणा यही है कि समाज-सेवा को सदा मुख्यता मिलनी चाहिए। इक्कीस वर्ष की युवावस्था से आज अस्सी वर्ष के जीवन तक साठ वर्ष की निरन्तर आर्यसमाज-सेवा नयी पीढ़ी के आर्य बन्धुओं के लिए आश्चर्य का विषय हो सकती है, पर मामाजी के लिए तो यह सब धर्म-कार्य ही रहा है।

एक आदर्श शिक्षा-शास्त्री के रूप में आपने शिक्षा के पवित्र क्षेत्र में चरित्र-निर्माण, नैतिक उत्थान का जो महान् कार्य किया है, उससे आर्य शिक्षा-संस्थाओं को बड़ी शक्ति प्राप्त हुई है। आज उसी बात को उत्तर प्रदेश सरकार का शिक्षा विभाग अपने शिक्षा कार्यक्रम का अंग बना रहा है। धर्मनिरपेक्षता के नाम पर जो शिक्षा में नैतिक सिद्धान्तों को सम्मिलित करने का विरोध करते थे या हिचकिचाते थे, उन्हें शास्त्रीजी के विचारों की सफलता को समझना चाहिए और इस कार्यक्रम का समर्थन करना चाहिए।

गुरुकुल प्रणाली में आस्था को मामाजी ने अपने जीवन द्वारा व्यावहारिक रूप दे डाला है। गुरुकुल आन्दोलन के आरम्भकाल से आज तक की सब गतिविधियों से वे भलीभाँति परि-

चित हैं। उसमें आवश्यक परिवर्तन-परिवर्धन भी करते रहते हैं, किन्तु उसमें गुरुकुल की आत्मा, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, आस्तिकता, आत्मिक उन्नति, सदाचार, राष्ट्रीय भावना आदि अक्षुण्ण रहती है। इस प्रकार गुरुकुल आन्दोलन के आप प्रमुख प्रतीक बने हुए हैं।

गुरुकुल के तपोवन में एक तपस्वी ऋषि की भाँति वे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सभी पारिवारिक और भौतिक सुविधाओं के होते हुए भी उनसे दूर रहकर वे समाज-सेवा में रत हैं और इसी में जीवन की सार्थकता मानते हैं। उन्होंने वानप्रस्थ और संन्यास नहीं लिया है। प्राचीन ऋषि-मुनियों की भाँति वे आश्रमवासी, तपस्वी तो हैं ही, वानप्रस्थ में और क्या होगा? साथ ही संन्यासाश्रम को वह व्यक्तित्व के चरम विकास की अवस्था में ही अधिक उत्तम मानते हैं। श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय की भाँति वे मानते हैं—**न लिङ्गम् धर्म कारणम्।** वैसे उनका जीवन, रहन-सहन इतना सात्विक और पवित्र है कि उसे देखकर उन्हें संन्यासी, ऋषि, मुनि कुछ भी कहा जा सकता है। मामाजी के सम्बन्ध में ये विचार व्यक्ति-पूजा से प्रेरित नहीं हैं, एक सार्थक, सफल जीवन के प्रति श्रद्धा के सुमन हैं।

संस्कृत का एक श्लोक उनके जीवन पर घटित हो रहा है—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा
यत्र स्थितास्तु तरवः तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कंकोलनिम्बकुटजाऽपि चन्दनाः स्युः॥

मामाजी का जीवन मलय के समान शीतल और सुगन्धित है। उनके संपर्क में आने वाले अशिक्षित, अज्ञानी मलय पर्वत के नीम, कुटज आदि की भाँति चन्दन की सुगन्धि से सुगन्धित हो जाते हैं। नयी पीढ़ी को इस अमर ज्योति के स्फुलिंगों से अपनी सामाजिक चेतना को जागृत करना चाहिए।

मामाजी की कृपा हम लोगों पर सदैव बनी रहे और वे हम सबका मार्गदर्शन करते रहें, इसके लिए प्रभु से उनके दीर्घायुष्य की कामना है।

आदर्श मानव, अमर ज्योति को प्रणाम!

उमेशचन्द्र स्नातक
(शास्त्रीजी के भांजे)

पंत भवन, हल्द्वानी

मेरे प्रेरक

मेरे पति पूज्य मामाजी (श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री) के भागिनेय हैं। इस कारण मुझे भी उनके आशीर्वाद का सौभाग्य प्राप्त हुआ। परिवार में आते ही मैंने पाया कि सर्वाधिक चर्चा मामाजी के नाम और काम की रहती थी। थोड़े समय पश्चात् ग्रीष्मकाल में नैनीताल आने पर मुझे उनकी सेवा का अवसर मिला।

सबसे बड़ी बात जो उनके सम्पर्क में आने पर हुई, मेरी उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। मैं अधिक पढ़ी न थी, पर आर्य परिवार से आने के कारण मेरे शिक्षा-सम्बन्धी संस्कार प्रबल थे। परिवार के वातावरण में शिक्षा की ही सुगन्ध व्याप्त थी। मामाजी प्रिंसिपल, स्नातकजी प्रवक्ता, इन दोनों तथा परिवार के अन्य जनों का सहयोग मेरे लिए एक नवीन जीवन था। मध्यप्रदेश के वनवासी क्षेत्र रामगढ़ के अन्दरूनी ग्रामों में पिताजी कार्यरत थे। अत: शिक्षा-क्षेत्र हमसे बहुत दूर था। मैंने परिवार में आते ही शिक्षा के वातावरण का लाभ उठाने का निश्चय-कर लिया।

पारिवारिक जीवन के साथ जब मैंने बी० ए० उत्तीर्ण कर लिया, तब जहाँ मेरी प्रसन्नता स्वाभाविक थी, वहाँ पूज्य मामाजी ने मुझे आशीर्वाद दिया और पारितोषिक भी। मामाजी के स्नेह का सम्बल पाकर मैंने एम० ए० परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। मेरी सास बहुत अधिक पढ़ी-लिखी न थीं, पर दुनिया के अनुभव बहुत थे। उनका भी लाभ मुझको मिला। जब भी मामाजी परिवार में आते मैं देखती, मेरी सास अपने भाई का कैसा सम्मान करती हैं और स्नेहभाव से परिवार का कुशल-मंगल पूछती हैं। उनको सबसे अधिक चिन्ता गुरुकुल की उन्नति की रहती थी और गुरुकुल की इस चर्चा के कारण वे अपने भाई के कुछ दिन के लिए गुरुकुल चलने के निवेदन पर तुरंत तैयार हो जातीं, क्योंकि एक तो उन्हें गुरुकुल-सेवा का मौका मिलता और दूसरे अपने भाई के पास रहने का लाभ भी। दोनों की गुरुकुल के प्रति अगाध निष्ठा रही।

मेरा घर का नाम महेन्द्रकौर था। पति के घर में आते ही मामाजी के साथ नाम-साम्य होने की बात से एक बार तो मुझे गर्व की अनुभूति हुई, पर मैंने यह अनुचित समझा कि परिवार में मेरे कारण पूज्य के नाम को लेकर बार-बार बुलाया जाये। इस कारण मैंने नाम बदलने का प्रस्ताव स्वयं स्वीकार कर लिया। बड़ों के प्रति आदर भाव और नाम न लेने का संकोच-रहस्य तभी मेरी समझ में आया।

अपने बच्चों के नामों के लिए मैंने मामाजी के परिवार की ओर देखा और सभी के नाम श्रेष्ठ और सुसंस्कृत पाये। मैंने भी पुत्री को संस्कृति और पुत्र को आदर्श उत्कर्ष के रूप में विकसित किया। कभी-कभी दोनों पूछते हैं कि हमारे नाम सबसे अलग से क्यों हैं और नाम के आगे जातिसूचक नाम भी क्यों नहीं बोले जाते? तब मैं उन्हें समझाती हूँ कि अपने बाबाजी और चाचा लोगों के नाम देखो कैसे सुन्दर हैं और वे भी जाति का प्रयोग नहीं करते। इसलिए जब उन्हें कोई जरूरत नहीं, तब तुम्हें क्या परेशानी है?

अपने बाबा को दोनों बच्चे बहुत प्यार करते हैं। छोटे की खेलप्रियता से मामाजी बहुत प्रसन्न हैं और मैच के दिनों में उससे रिजल्ट पूछा करते हैं, तब उनकी खेलों में रुचि और उत्साह

देखकर हम सबको आश्चर्य होता है।

मामाजी के जीवन से पग-पग पर शिक्षाएँ मिलती हैं और कभी-कभी तो उनको देखकर ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानो सामने ज्ञान-सूर्य विद्यमान है, जिसके प्रकाश में सभी सामाजिक बुराइयाँ नष्ट हो रही हैं। आर्यसामाजिक परिवार में रूढ़ियों के बन्धन न होने और अन्धविश्वासों के पाखंडों से मुक्त रहने के कारण मुझे जीवन में सरलता और सादगी अनुभव हो रही है। उस सबके पीछे मामाजी का ही दिव्य वरद्हस्त है। मेरे पति के आर्यसामाजिक संस्कारों की सुदृढ़ता के लिए मामाजी ही धन्यवादार्ह हैं।

पूज्य मामाजी का स्नेहाशीर्वाद सदा प्राप्त होता रहे, वे दीर्घकाल तक अपने सद्विचारों से हम सबका मार्गदर्शन करते रहें, यही प्रभु से प्रार्थना है।

हल्द्वानी

(श्रीमती) मंजिता कुमारी
(श्री उमेशचन्द्र स्नातक की पत्नी)

मेरे पिता एवं गुरु

प्रत्येक बच्चे की दृष्टि में उसका पिता सर्वोच्च मानव है। जब बच्चा बड़ा होकर अपने जीवन का मूल्यांकन अपने समीपवर्ती लोगों का परीक्षण करके किया करता है तो वह यह पाता है कि उसके सम्पर्क में आने वालों में सर्वश्रेष्ठ उसके पिता ही हैं। मुझे भी अपने जीवन में ऐसा ही अनुभव हुआ है। अपने पिता को पूर्ण तर्कबुद्धि, हर प्रमाण, नाप एवं सूक्ष्म दृष्टि से देखकर तथा जीवन के ४७ वर्ष बिताकर मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि पिताजी मेरे उन सब मिलने वालों की तुलना में महत्तम व्यक्ति हैं, जो कभी भी मुझे मिले। जो कुछ उनसे मुझे मिला उसे लिखने की इच्छा करते समय मेरे मन में उनके वे आदर्श व स्मृतियाँ उमड़कर आ रही हैं, जिन्हें लेखबद्ध करना कठिन कार्य है। एक ही उपाय है कि जो मैंने उनसे सीखा है, वह लिख डालूँ। मुझे विश्वास है कि मेरे पिता के चारु चरित्र की झाँकी इससे प्रस्तुत हो सकेगी।

वास्तविक गुरु

अपने शैशवोत्तर काल में मैं भाग्यशाली रहा, क्योंकि मेरे पिताजी मेरे लिए सर्व-समय के शिक्षक रहे। जहाँ मैं पढ़ा, वे वहाँ प्रधानाचार्य रहे। इससे यह लाभ हुआ कि घर की शिक्षा तथा कालेज की शिक्षा और आचरण से सम्बन्धित भेद और संभावित दोष दूर रहे, क्योंकि हम सब बच्चों को घर में तथा कालेज में शिक्षानुकूल ही आचरण करने पड़ते थे। जो हम घर में पढ़ते वही कक्षा में। जैसे यदि हमें दो बार सन्ध्या करने को घर में कहा जाता था, वही बात कक्षा में भी बतायी जाती थी। मैं यह पाता हूँ कि मेरे घर दोनों समय सन्ध्या होती है। इसलिए इसमें मेरे लिए कोई आश्चर्य नहीं कि नैतिक शिक्षा में मैं तथा मेरे भाई सदा प्रथम आते थे। मैं

अपने साथियों की अपेक्षा, जिन्हें कालेज में कुछ और घर में कुछ शिक्षा मिलती थी, अधिक सौभाग्यशाली मानता हूँ। इस प्रकार छोटी अवस्था में अनेक दोषों तथा संघर्षों से बचा रहा। यह बात यहीं समाप्त नहीं होती। मैंने अपने माता-पिता को सदैव वह सब घर में पालन करते देखा जो कि उन्होंने मुझे पढ़ाया था। इस प्रकार मैंने पिताजी के वचनों और कार्यों में पूर्ण सामंजस्य पाया। वे मेरे लिए अनुकरणीय बने।

ईश्वर-विश्वास

जब से मैं पिताजी को पहचानने योग्य हुआ हूँ, उन्हें दोनों समय सन्ध्या करते देखता रहा हूँ, चाहे वह घर हो या बाहर। रेलयात्रा तक में भी उन्होंने कभी ऐसा नहीं किया कि बिना सन्ध्या किये कुछ खाया हो। इससे उनकी ईश्वर में स्वाभाविक अपरिहार्य श्रद्धा का पता लगता है। उनके कार्य तथा परिणाम ईश्वरापेक्षी रहते हैं। उनका जीवनादर्श सदा निम्नलिखित श्लोक रहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

मैं उनके जीवन के कुछ उन अति कठिन अवसरों तथा भारी उलझनों के क्षण देख चुका हूँ, जबकि उन्होंने उन सब कष्टों को ईश्वरीय देन मानकर झेला है।

एक त्यागपूर्ण पिता

मैं यह निःसंकोच कह सकता हूँ कि मेरे पिता न धनी थे, न हैं। एक बड़े परिवार की सदा बढ़ती हुई आवश्यकताएँ, आकांक्षाएँ पूर्ण करने योग्य कोष उनके पास नहीं था, फिर भी मैं यह कह सकता हूँ कि पिताजी ने हमारी माताजी तथा हम बच्चों की आकांक्षाएँ अपनी आवश्यकताएँ कम करके, सादा रहन-सहन अपनाकर पूर्ण की हैं। वे अपनी पत्नी तथा बच्चों की समस्याएँ अति सुन्दर ढंग से सदा हल करते रहे हैं।

सुप्रसन्न हँसमुख व्यक्तित्व

एक सूर्य-प्रकाशित आकाश को देखकर प्रसन्न होना सरल है, पर मेघाच्छन्न आकाश के नीचे हास-परिहास का आयोजन करने की शक्ति वाला इंसान ही वास्तविक हँसमुख हो सकता है। हमारे पिताजी हर अवसर पर हँसमुख व्यक्तित्व प्रस्तुत करते रहे हैं। मामूली-सी वस्तुओं के माध्यम से भी उनका स्वस्थ हास्य प्रकट होता है। 'खटमल' उनकी इसी प्रकार की रचना है।

युक्तिवाद का सम्मान

मनुष्य को युक्तियों द्वारा भले या बुरे का निश्चय करके अपना जीवन-पथ चुनना चाहिए। हमारे पिताजी ने हम बच्चों में बचपन से ही अपने इस गुण को अंकुरित किया, जिससे हम कुमार्ग से सुमार्ग की ओर अग्रसर हों। इससे भी अधिक विशिष्टता है कि वे हमारे विचारों तथा कार्यों को उदारता और नरमी के साथ ही देखते रहे। उन्होंने नैतिक आचरण की हमें शिक्षा

दी, साथ ही स्वतंत्र रूप से युक्तिपूर्ण जीवन अपनाना भी सिखाया, जिससे हम स्वावलंबी बनें।

मेरा उत्तरदायित्व

जैसा मैं कह चुका हूँ कि मेरे पिताजी कोई संपत्ति वाले धनी नहीं हैं, पर स्वाभाविक रूप में मुझे उनसे जो मिला वह संपत्ति रूप में भले ही अधिक न हो, पर एक पुत्र अपने पिता से क्या चाहता है? बदलती हुई दुनिया में भी जो अपरिवर्तित रहे, ऐसा धन। वही पवित्र स्थायी धन मुझे अपने पिता से मिला है। मुझे विश्वास है कि मेरे पिताजी से जो भी सज्जन मिले हैं या मिलेंगे, वे उनकी उपयुक्त योग्यताओं का उनमें अनुभव करेंगे। मैं अपना सिर साभिमान ऊँचा कर सकता हूँ कि मेरे पिता का व्यक्तित्व सादर स्मरण किया जाता रहेगा। बुराई को छोड़कर भलाई की ओर बढ़ने का उनका आदर्श धारण करूँगा। उन्होंने जो मुझे दिया है, वही मैं भी अपनी सन्तान को दे सकूँ, यही ज्वलन्त आकांक्षा है। निम्नस्थ स्थिति में अपने पिता व देश को गौरवमय देखना चाहता हूँ—

जहाँ उड़े मानस विहंग बेरोक-टोक हो।
ऊँचा हो मस्तिष्क सदा नहि रोग-शोक हो॥
जहाँ ज्ञान का सूर्य प्रखर सम्पूर्ण उदित हो।
जहाँ तुच्छ बन्धन अवरोधों का न लेश हो॥
जो मन में हो वही वचन में सत्य सत्य हो।
जहाँ परिश्रममयी सफलता का महत्व हो॥
युक्तिवाद हो मुख्य, अंधविश्वास नष्ट हो।
मन मयूर सुविचारपूर्ण आचार चारु हो॥
हे प्रभु! मेरा देश उसी पथ का साधक हो॥

—'गीतांजलि' का रूपांतर

ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय।

(कर्नल) यतीन्द्रप्रताप
(शास्त्रीजी के बड़े सुपुत्र)

५६, हार्डिंग रोड
मथुरा

मेरे पूज्य श्वसुरजी

परम पूज्य पिताजी को जब सर्वप्रथम देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ तो मुझे आभास हुआ कि वे एक अत्यधिक दृढ़ विचारों वाले, कठोर एवं गम्भीर व्यक्ति हैं, किन्तु शीघ्र ही मुझे विश्वास हो गया कि वे अत्यन्त मिलनसार, हँसमुख तथा दयालु हैं। जहाँ भी मैं गयी और अपने विवाहोपरान्त पिताजी के सम्बन्धियों तथा परिचितों से मिली, मुझे पता चला कि वे सामान्य व्यक्तियों की गणना में नहीं आते। धीरे-धीरे जैसे-जैसे मैं उनके समीप आती गयी, मैंने उन्हें उतना ही सरल, सौम्य तथा निर्मल पाया। इस संसार के कष्टों को सहते हुए भी उनका व्यक्तित्व कसौटी पर घिसे हुए खरे सोने की तरह मैंने पाया। उनकी सदा शान्त प्रवृत्ति, प्रसन्नचित्त मुद्रा, दूसरों के दुःखों को समझने की शक्ति और परोपकार में परम आनन्द प्राप्त करने की योग्यता को मैंने दिनोंदिन बढ़ते देखा। वे बच्चों के बीच हों या बड़ों के, उनकी उपस्थिति इस प्रकार का आह्लादपूर्ण वातावरण बना देती है कि कोई बाहर का व्यक्ति भी वहाँ पर हो तो वह उसका भाग बने बिना नहीं रह सकता।

परम पूज्य पिताजी का जीवन हम सबके सामने एक खुली पुस्तक की भाँति है। मैं उनके जीवन की चर्चा वहीं से कर सकती हूँ, जब १९६० ईस्वी में मैं उनके सम्पर्क में आयी। उनके जीवन के हर पहलू के विषय में जितना भी कहा जाये, वह हमें कभी पूर्णतया तृप्त न कर सकेगा और सूर्य को दीपक दिखाने की भाँति होगा।

मैं अपने को भाग्यशाली समझती हूँ कि पुत्रवधू के रूप में मेरा एक ऐसे महापुरुष से सम्पर्क हुआ। मैंने उनसे बहुत-कुछ सीखा। सबसे उल्लेखनीय बात तो यह है कि वे किसी को अपने किसी विशेष पथ पर चलने को बाध्य नहीं करते। वे सदैव निष्काम भावना से तथा प्रसन्नचित रहकर सबके प्रति अपना कर्तव्य निभाते आये हैं। यही उनका स्वार्थ-रहित जीवन है। इस अवस्था में भी अनगिनत लोग उनके सम्पर्क से तथा पथ-प्रदर्शन से अपना जीवन सफल बना रहे हैं। मेरी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि उन्हें दीर्घायु प्रदान करें ताकि इस संसार के अधिक-से-अधिक प्राणियों का उनके द्वारा कल्याण हो सके।

पूज्य पिताजी के इस स्वार्थरहित जीवन को सफल बनाने में परम पूजनीया माताजी का पूर्ण सहयोग सोने में सुहागे की भाँति रहा है। उनका साथ इस महान् व्यक्ति को सदा सहारा देता आया है।

परमात्मा मुझे वरदान दे कि हमारे बच्चे भी पूज्य पिताजी के आदर्शों का पालन करते हुए अपना तथा दूसरों का जीवन सफल बनाएँ।

विहाय कामान् यः सर्वान्पुमाँश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

मथुरा

(श्रीमती) शान्ता प्रताप
(कर्नल यतीन्द्रप्रताप की पत्नी)

मेरे पिताजी

मुझे विश्वास है कि कई ऐसी बातें जो मेरी विशेषता बन चुकी हैं, मैंने पिताजी को देखकर सीखीं। यह मानने में भी मुझे कोई हिचक नहीं कि यह कुछ बातें, यह धारणाएँ और यह आदतें, दुनियादारी के विचार से लाभ पहुँचाने वाली नहीं हैं। जीवन के गिरते मूल्यों के इस युग में कहीं भी प्रचलित मान्यताओं एवं धारणाओं के विपरीत सोचने, समझने और चलने वाला, कम-से-कम नैतिकता के उच्चतर धरातल पर टिका होता है। कदम-कदम पर पिताजी को मैंने जीवन के आधारभूत मूल्यों से गिराने वाली बातों से संघर्षरत पाया।

हमारे, मेरे एवं मेरे बड़े भाई के जीवन के मार्ग चुनने में इन्होंने कभी किसी प्रकार का हस्तक्षेप न कर, केवल सलाह दी। उनकी मान्यता रही है कि जीवन का ढँग, उसके रास्ते किसी पर थोपे नहीं जाने चाहिए। मैं इसे आने वाली पीढ़ी के सही विकास का गुरु-मंत्र मानता हूँ।

बात वर्ष १९६० की गर्मियों की है, सारा परिवार देहरादून में छुट्टियाँ बिता रहा था। मैं अपने ड्राइविंग लाइसेन्स के नवीनीकरण के लिए देहरादून के परिवहन कार्यालय गया था। कागजात खिड़की पर जमा करा कर, सामने लगे एक पेड़ के नीचे जा खड़ा हुआ। कुछ समय बाद एक चपरासी ने लोगों से पूछना शुरू किया—"शास्त्रीजी के पुत्र कौन हैं? परिवहन अधिकारी बुलवा रहे हैं।" मैं गया, आदर-सत्कार मिला और उन्होंने बड़े भाव-भीने स्वर में पिताजी के लिए क्या नहीं पूछा। ऐसा कुछ मेरे साथ एक नहीं, कई बार हुआ है। न केवल उन नगरों में जहाँ पिताजी अपने जीवन का कुछ भाग बिता चुके हैं, अपितु ऐसे नगरों में भी जहाँ वह कभी गये भी नहीं। जब-जब ऐसा हुआ, सच लगा कि मनुष्य की कीर्ति उसके आगे चलती है।

उनके शिष्य भारत के बड़े भाग में फैले हुए हैं। अध्यापक आदर का पात्र होता है, पर सदा आत्मीयता का अधिकारी नहीं। आदर भी हर अध्यापक को एक-सा नहीं मिलता। यहाँ गुरु-शिष्य के बँधे सम्बन्ध ही नहीं, वरन् उनके व्यक्तिगत गुण अधिक काम आते हैं।

उनके व्यक्तित्व में जो चमक प्रारम्भ से बनी हुई है, मैं उसका कारण, उनकी समय के साथ या उससे आगे चलने की प्रवृत्ति को मानता हूँ। हमने उनकी यह प्रवृत्ति उनके हर निर्णय, हर काम में देखी है, चाहे वह कोई बड़ा और आवश्यक निर्णय हो या कोई दिन-प्रतिदिन का काम। आमतौर पर व्यक्ति बढ़ती उम्र के साथ रूढ़िवादी होता जाता है—स्थिर विचारों एवं दृष्टिकोण वाला। जो समय के साथ नहीं, बल्कि उम्र के साथ बदलते हैं, उनसे संसार भरा है। नेतृत्व वह देते हैं जो देश और काल के आधार पर अपने चिन्तन और मूल्यों को दिशा देते हैं। बात मामूली लगे पर काफी कुछ इंगित करती है कि हमने पिताजी को देश-काल के अनुसार अपने कपड़ों का ढँग बदलते देखा है। लगभग ५४ वर्ष की उम्र थी उनकी, जब उन्होंने अपने वस्त्रों की शैली में बदलाव किया था। मुझे याद है, लोगों ने यह बात महसूस की थी और इसकी प्रशंसा की थी। मैंने भी यह जीवन-यंत्र साधने का निश्चय किया था। मैं तब डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ में ग्यारहवीं कक्षा का छात्र था। पिताजी प्रिंसिपल थे। अंतिम परीक्षा-परिणाम सुनाया जाना था। इस समय सब विद्यार्थी धड़कते दिल से मैदान में जमा हुए। उत्तीर्ण विद्यार्थियों के नाम बोले जाने लगे। हमारी कक्षा की सूची पूरी हो गयी, पर यह क्या,

अपना नाम तो नहीं बोला गया। पसीने छूट गये। मन में आया, ये कैसे पिता हैं, कुछ भी न कहा न सुना।

अन्त में कुछ नाम बोले गये, जिनका परीक्षा-परिणाम रोका गया था। अपना नाम उसी सूची में था—केवल रसायन विभाग में कुछ मेरी गलती से टूट जाने और उसके दण्ड-स्वरूप तीन रुपये और कुछ पैसे न जमा कराने के कारण।

मन में प्रश्न उठा था कि क्या जब यह सब सूचियाँ पिताजी के सामने आयी होंगी, उनके मन में, एक कमजोर क्षण को भी क्या यह नहीं आया होगा कि या तो विभागाध्यक्ष से कहकर सब ठीक करा देते, या कम-से-कम उसी समय यह छोटी-सी रकम जमा करा दें? साथियों के व्यंग्य ने आग में घी का काम किया था।

फिर जब शान्त मन से सोचा और पिताजी से बात की तो लगा कि उन्होंने ठीक ही किया था। मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ और उससे जो लाभ हुआ वह अन्यथा न हुआ होता। वास्तव में यह चरित्र-निर्माण का एक पाठ था। किन्हीं अध्यापक को परीक्षाओं से कुछ पहले अचानक लखनऊ से बाहर जाना पड़ा। रात को शायद उन्हें जाना था, सो शाम को अपने छुट्टी के प्रार्थना-पत्र के साथ कोई प्रश्न-पत्र, जो उन्होंने निर्धारित किया था, देने घर आये। पिताजी घर पर नहीं थे, सो वेचारे अध्यापक वह सारे कागज मुझे देकर चले गये। पिताजी के घर लौटने पर मैंने उन्हें सब बताया और कागजात दे दिये, पर यह क्या? उनकी तनी हुई भृकुटि दिखायी दी। लगा, कहीं काफी गड़बड़ हो गयी थी। तत्काल उन अध्यापक को बुलाया गया। पिताजी ने प्रश्न-पत्र लौटाते हुए उनसे कहा, "आपको यह प्रश्न-पत्र इसे नहीं देना था। हालाँकि यह इसकी कक्षा का नहीं, पर फिर भी गोपनीय है। कृपया इसे बदल दें और फिर प्रसन्नता से बाहर जायें।"

ऐसे कितने ही संस्मरण मेरी स्मृति में हैं। मैं उसी विद्यालय में कोई ग्यारह वर्ष पढ़ा, जहाँ वे प्रधानाध्यापक थे, पर एक बार भी ऐसा नहीं हुआ कि मुझे अपने परीक्षा-परिणाम का पूर्वाभास मिला हो। स्मरण नहीं है कि कभी मेरे साथ विद्यालय में पक्षपात हुआ हो। यह सब मैंने सीखा और अपने जीवन में इसे उतारने का प्रयत्न किया।

संस्मरण अनेकों हैं। मैंने कालेज के दादानुमा लड़कों को उनके सामने काँपते देखा है। कालेज के जीव-विभाग के विभागाध्यक्ष को उनसे डर कर जलती सिगरेट जेब में डालते देखा है और देखा है उनकी जेब को जलते हुए। मैंने स्वयं देखा है कि लखनऊ के डी० ए० वी० कालेज के लम्बे बरामदों में जब वह एक कोने से दहाड़ते थे तो उस बड़ी इमारत में एक सहमा-सा वातावरण फैल जाता था। शायद अधिक ही अनुशासनप्रिय थे पिताजी। पर इससे कालेज का नाम था। मुझे याद है, कोई विशिष्ट अतिथि एक दिन आये थे और बताया था कि उन्हें ऐसा लगा था मानो कालेज में छुट्टी थी। वास्तव में सब विद्यार्थी कक्षाओं में थे, पढ़ाई चल रही थी। जैसा भीड़-भरा वातावरण अब पूरे दिन शिक्षा-संस्थाओं में और उनके चारों ओर दिखायी देता है, हमने कभी सोचा भी नहीं था और मुझे याद है, लोग इसका श्रेय पिताजी को देते थे।

अनुशासन से लोग कई वार अर्थ लगाते हैं केवल अध्ययन से। ऐसा नहीं था। पिताजी का ध्यान व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर था। यह इसी से पता लगता है कि शाम को कम-से-कम २ घंटे खेल के मैदान में बिताने होते थे। हमारे लिए यह आवश्यक था। विद्यालय में भी अच्छे खिलाड़ियों को सुविधाएँ मिलती थीं।

पर पिताजी के एक गुण से हम सब परिवार वाले कई बार काफी परेशान हो जाते थे और वह था उनका 'व्यवस्था' के लिए अति झुकाव। जिस वस्तु का जहाँ स्थान नियत है, वह वहीं होनी चाहिए। सब-कुछ अति स्वच्छ, सीधा एवं ढँग से होना चाहिए। घर के मामूली से मामूली काम में व्यवस्था का, और वह भी उनकी सन्तुष्टि तक, होना कठिन था। पर कई काम दो-दो बार, तीन-तीन बार करने होते थे। अभी भी यह उलझन कम नहीं हुई है। उनकी निजी उपयोग की वस्तुएँ रखते एवं छूते हुए हम सब अभी भी झिझकते हैं।

सामाजिक कुरीतियों से लड़ना उन्होंने हमें घुट्टी में पिलाया था। बहुत छोटे थे हम, जब प्रभातफेरियों में जाते थे और सीधे हरिजन बस्ती में हरिजनों के यहाँ अल्पाहार करते थे। जिन कुछ सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने के लिए कानून बनाये गये हैं या अब बनाने के प्रस्ताव हैं उन कुरीतियों को हमें अपने घर और जीवन में कभी देखने का अवसर नहीं मिला।

पिताजी अब अस्सी वर्ष की आयु पा लेंगे, पर अपने नियमित एवं व्यवस्थित जीवन के कारण वे पूर्ण स्वस्थ हैं, क्रियाशील हैं। इस आयु में भी, वे कितनों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं, यह मेरे लिए प्रेरणा का विषय है।

मेरी हार्दिक कामना है कि उनकी यह प्रेरणा मुझे चिरकाल तक मिलती रहे।

विजयप्रताप
(शास्त्रीजी के छोटे सुपुत्र)

अधीक्षक अभियन्ता,
राजस्थान एग्रो-इण्डस्ट्रियल कारपोरेशन,
जयपुर

मेरे श्वसुर : मेरे पिता

राजस्थान सामाजिक चेतना की दृष्टि से पर्याप्त पिछड़ा हुआ प्रदेश रहा है। जोधपुर में (जहाँ मेरा मायका है) अपने बालपन में रूढ़िवादी घुटी-घुटी सामाजिक प्रथाएँ ही देखी थीं। बहुओं को अपने पतिगृह में विचित्र प्रथाएँ निभाते देखा था, जो कष्टदायक तो थी हीं, तर्कयुक्त भी न थीं। मन में भविष्य के वैवाहिक जीवन को लेकर एक असमंजस, एक भय उठता था। सासों का बहुओं के साथ परायापन लिये हुए अपमानजनक व्यवहार देखकर तो वैवाहिक जीवन के लिए वितृष्णा होती थी।

परंतु सारा भय, सारा असमंजस निराधार निकला, सारी भयावह कल्पनाएँ कोरी कल्पनाएँ ही सिद्ध हुईं, जब मैं विवाह के बाद इस घर में आयी। मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं है कि अपने पूज्य सास-ससुर से मुझे सगे माता-पिता का अबाध स्नेह मिला। कोई बंधन, कोई अनचाहा नियम अथवा कोई व्यर्थ की प्रथा घर में न थी। कोई भी पारिवारिक कार्य, घर में धार्मिक उत्सव अथवा अनुष्ठान ऐसा नहीं होता है, जिस पर बुद्धि अविश्वास करे अथवा मन श्रद्धा न लाये। इस सबका श्रेय पूज्य पिताजी तथा माताजी को है।

बुजुर्गों के साथ रहने पर जिस एक घुटन का अनुभव कई लोगों के मुँह से सुना, वैसा कभी स्वयं अनुभव नहीं किया।

जब पिताजी गुरुकुल कांगड़ी के कुलपति पद से मुक्त हुए, हमने उनसे प्रार्थना की कि अब उन्हें और माताजी को सामाजिक कार्यक्षेत्र छोड़कर आराम करना चाहिए और उसके लिए वे जयपुर आकर हमारे साथ ही रहें। मैं चकित रह गयी, जब उन्होंने यह कहा कि वह ऐसा नहीं करेंगे, क्योंकि ऐसा करने से तुम लोगों की स्वतंत्रता एवं रहन-सहन के ढँग पर असर पड़ेगा। उन्होंने तय किया कि जब तक उनके अंग साथ देंगे, वे किसी पर किसी भी प्रकार का भार न बनेंगे। आज भी पिताजी जब अस्सी वर्ष की आयु को छू रहे हैं, सजग और सक्रिय हैं। वे अभी भी दाता हैं।

यह सब देखकर मुझे लगा कि बच्चों को कैसा होना चाहिए। इस पर सब कुछ-न-कुछ कहते हैं, पर वृद्धावस्था में मनुष्य को कैसा होना चाहिए, इस पर चर्चा नहीं होती। मैं समझती हूँ कि पिताजी एक आदर्श वयोवृद्ध हैं। उनकी अभी भी कर्तव्य में निष्ठा एवं सामाजिक उत्तरदायित्व के लिए सजगता हम लोगों के लिए ईर्ष्या का विषय है।

स्वयं एक चिकित्सक होने के नाते, व्यक्ति को परखने का मेरा अपना एक भिन्न दृष्टिकोण बन गया है। कोई नौ वर्ष पूर्व पिताजी की दायीं आँख का आपरेशन जब जयपुर में ही हुआ था, उन्हें एक रोगी के रूप में बहुत निकट से देखने का अवसर मिला। लगा कि वे आवश्यकता से अधिक डॉक्टर का कहना मानते हैं। यदि डॉक्टर कहते हैं कि दो दिन लंघन करें तो वे कम-से-कम तीन दिन उपवास करते। लगता था कि उनका वश चलता तो चार-पाँच दिन तक कुछ न खाते। यहाँ लगा कि चिकित्सक के निर्देशों और पिताजी के संस्कारगत विचारों में तालमेल कठिनाई से ही होता है, पर रोगी का सर्वाधिक विशेष गुण 'सहनशीलता' उनमें कूट-कूटकर भरी हुई है—इसमें किसी भी प्रकार का संदेह नहीं।

पिताजी दवाइयाँ लेने से कतराते हैं। संभव है कि यह भी उनके दीर्घकालीन स्वास्थ्य का एक कारण हो। हाँ, अपने जीवन में स्वयं प्रतिपादित स्वास्थ्य के नियमों का वे यथाशक्ति नियमित रूप से पालन करते हैं।

एक विशेष बात जो हम दोनों ने ही माताजी-पिताजी से सीखी है और जिसे हम सुखी वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन का गुरुमंत्र मानते हैं, वह है—'एक-दूसरे द्वारा एक-दूसरे की मान्यताओं का आदर एवं सामूहिक पारिवारिक निर्णय लेना।' बच्चों से भी ऐसे मामलों में उनकी राय लेना उचित है, जो उनसे संबंधित हों। पिताजी और माताजी इस आयु में एक-दूसरे का कितना ध्यान रखते हैं, देखकर सुख मिलता है। इस आपसी निकटतम सहयोग से वृद्धावस्था भी सुख से निकलती है। यह तब और पता लगता है, जब चिकित्सक के रूप में ऐसे पति या पत्नी की चिकित्सा करती हूँ, जो अन्य प्रकार के होते हैं। कोई केवल कंजूसी के कारण और कोई अपने आराम अथवा अन्य स्वार्थ के कारण अपने पति अथवा पत्नी को आवश्यक चिकित्सा तक नहीं दिलाते। सत्य है कि अपने सुख-दुःख का निर्माण काफी सीमा तक व्यक्ति स्वयं करता है।

पिताजी को मैंने कभी भी हम लोगों पर अथवा बच्चों पर क्रोध करते नहीं पाया। लगता है कि हमारे लिए उनके पास स्नेह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसीलिए तो मैं उन्हें श्वसुर न मानकर पिता मानती हूँ।

एस० ई० आई०, जयपुर

हेमलता प्रताप
(श्री विजयप्रतापजी की पत्नी)

मेरे जीवन-निर्माता

जीवन के प्रभात में जब मैंने आँख खोली, कुछ समझने योग्य हुई, अपने पूज्य मामाजी एवं मामीजी का आदर्श रूप मेरे सामने था। गुरुकुल में शिक्षा के कारण यद्यपि मुझे माता लक्ष्मीदेवीजी के पास रहने का अधिक सौभाग्य मिला, उनका मेरे जीवन पर बहुत प्रभाव भी पड़ा, फिर भी आज मेरा जो भी रूप है, वह मैं अपने पूज्य मामाजी की देन मानती हूँ। गुरुकुल में शिक्षा के समय मेरा आर्थिक भार मामाजी ने ही वहन किया, इसलिए मैं अपने जीवन-निर्माण में उनका अप्रतिम योगदान मानती हूँ।

उनके जीवन ने अन्य भी अनेक रूपों में मुझे प्रभावित किया है। जब भी मैं अवकाश के समय अपने मामा-मामी के पास जाती थी, मैंने पाया कि दुनियावी लोगों से भिन्न उनका दृष्टिकोण बहुत उदार है। जबकि लोग अपने परिवार तक ही सीमित रहना चाहते हैं, दूसरे के दायित्वों से बचना चाहते हैं, मैंने देखा कि ये न केवल हम लोगों के दायित्व को प्रसन्नतापूर्वक, बोझ न मानते हुए वहन करते हैं और अपने बच्चों की तरह पूर्ण अपनत्व देते हैं, बल्कि जो अन्य व्यक्ति (परिवार से भिन्न) भी निकट संपर्क में आते हैं, वे परिवार का ही अंग बन जाते हैं। घर में उनके साथ परिवार के अंग की तरह ही व्यवहार होता है और वे भी परिवार के प्राणी की तरह ही स्वतंत्रतापूर्वक स्वयं लेते-देते, खाते-पीते हैं। जहाँ आजकल परिवार में दो-चार दिन भी मेहमान ठहर जायें तो घर के लोगों को खलने लगता है, वहाँ मैंने उनके परिवार में अन्य व्यक्तियों को, जिनसे कोई पारिवारिक संबंध नहीं, कई-कई महीने रहते देखा और उन पर किया खर्च इन्हें कभी नहीं खला। उसका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श क्रियान्वित रूप में देखा।

दूसरा, जो उनका मुझ पर प्रभाव पड़ा, वह 'सादा जीवन उच्च विचार' की भावना थी। मैंने देखा मेरे मामा-मामी, माताजी सदैव खादी पहनते हैं। स्त्रियों में विशेष रूप से साड़ियों के लिए मोह होता है, पर मामीजी ने हम सबके दायित्वों को पूर्ण करने के लिए, कम आय में सब खर्च चलाने के लिए सदैव सादी, मोटी खादी की धोतियाँ पहनीं। किसी ने टोका भी तो कह दिया--घर में बड़ी लड़कियाँ हैं, मैं यदि पहन भी लूँ तो इनका मन भी चलेगा, फिर मैं कहाँ से इतना पूरा कर पाऊँगी और बच्चों की इच्छा को मारना मैं उचित नहीं समझती। उन्होंने सदैव इस बात का ध्यान रखा। हम सब बच्चों के दायित्व से मुक्त होने पर ही मामाजी-मामीजी खादी के उत्तम वस्त्र पहनने लगे। मेरे जीवन को नया मोड़ मिला, एक नया आदर्श मेरे सामने आया। मैंने भी जीवन में खादी पहनने का व्रत लिया, जो मैं आज तक निभा रही हूँ। विचारों की उच्चता को भी जीवन में अनुस्यूत करने का निरन्तर यत्न करती रहती हूँ।

तीसरी, जो सबसे महत्त्वपूर्ण मुझे प्रेरणा मिली है—वह है समाज-सेवा की। अपने व्यक्तिगत सुखों की परवाह न करते हुए निरन्तर समाज-सेवा में लगे रहने का यत्न करना। यह मैं अपने मामाजी की ही देन मानती हूँ। नरसिंहपुर (मध्य प्रदेश) में समाज-सेवा मैंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया है। मेरे स्वर्गीय पति के राजनैतिक नेता होने के कारण राजनैतिक कार्यों में भी यथासंभव भाग लेती हूँ। यही प्रयत्न है कि जीवन में माता लक्ष्मीदेवीजी, मामाजी,

मामीजी से जो मुझे प्रेरणा मिली, उसे जीवन के अंतिम समय तक निभाती जाऊँ।

प्रभु करे मैं अपने मामाजी के पदचिह्नों पर चलते हुए अपने जीवन को सफल कर सकूं। उनका स्नेहाशीर्वाद मुझे सदैव मिलता रहे, यही हार्दिक कामना है।

चरखा संघ,
नरसिंहपुर (मध्य प्रदेश)

दयावती स्नातिका
(शास्त्रीजी की भांजी)

गर्व की अनुभूति

आदरणीय मामा श्री महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के अभिनंदन पर मेरे परिवार का प्रत्येक सदस्य हर्ष और गर्व अनुभव कर रहा है।

मामाजी ने मेरे जीवन-विकास में जो सहयोग दिया, उसे मैं कभी नहीं भूल सकती हूँ। उनके सम्पर्क में रहकर मैंने जीवन के आदर्शों का जो पाठ पढ़ा, उसी के सम्बल पर मैंने जीवन जिया और सफलता पायी है।

एक आदर्श शिक्षा-शास्त्री और सामाजिक कार्यकर्ता के रूप में मामाजी ने समाज को अज्ञान, अंधविश्वासों, कुप्रथाओं से उबारा है और आज भी समाज-सेवा में समर्पित हैं। ऐसे महान् व्यक्तित्व का अभिनंदन उत्तम कार्य है। जीवन की इस सफलता के लिए मैं अपनी और अपने परिवार की ओर से मामाजी का हार्दिक अभिनंदन करती हूँ।

पंजाबी बाग, नई दिल्ली

(श्रीमती) शकुन्तला
(शास्त्रीजी की बड़ी भांजी)

आदर्श समाजसेवी

आदर के योग्य मामाजी के अभिनंदन का समाचार जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई। बचपन में मामाजी के अधिक सम्पर्क में न आ सका, परन्तु लखनऊ में शिक्षा के समय तथा बाद में उनको निकट से देखने का मुझे अवसर मिला। एक शिक्षा-शास्त्री के साथ-साथ उनका सामाजिक क्षेत्र काफी विस्तृत रहा है। नानाजी की भाँति वे आर्यसमाज के प्रमुख और कर्मठ कार्यकर्ता हैं, आज भी वे कन्या गुरुकुल हाथरस की बहुमूल्य सेवा कर रहे हैं। प्रभु उन्हें सफलता दे। अभिनंदन

के इस सुअवसर पर मैं माजाजी के दीर्घायुष्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करता हूँ।

राजकीय कन्ट्रैक्टर
पी० एण्ड टी०, भारत सरकार
महानगर, लखनऊ

रमेशचन्द्र सिंह
(शास्त्रीजी के छोटे भांजे)

हमारे प्यारे नानाजी

हम लोगों को अपने नानाजी बहुत प्यारे हैं। वैसे तो सबको ही अपने नानाजी प्यारे होते हैं पर हमलोगों को इसलिए और भी अधिक प्यारे हैं क्योंकि वह हमारे साथ बिलकुल बच्चा बन जाते हैं। अब तो हम लोग बड़े हो गये हैं, पर हमको याद है कि जब हम छोटे थे तो वह हमारे साथ खूब खेलते थे। वह हमारे खूब गुदगुदी मचाते थे और मुँह से तरह-तरह की आवाजें करते जाते थे, जैसे 'बिंडोम्मिना, बिंडोम्मिना' या तबला बजाने जैसी आवाज़ करना। हम लोग चिल्लाते थे तब छोड़ते थे। खाना खाने के बाद तकियों की लड़ाई का प्रोग्राम चलता था। तकियों की रुई टूट जाती थी और हम लोग एक-दूसरे को तकिये खींच-खींचकर मारते थे। नानीजी नाराज होती थीं, पर नानाजी किसी ओर ध्यान नहीं देते थे और कह देते थे कि तकिये फिर बन जायेंगे। जब से उनकी आँखों का आपरेशन हुआ है हम बच्चों को इस बात का बड़ा दुःख है, क्योंकि अब डॉक्टर ने उनको यह सब करने को मना कर दिया है और हमारी लड़ाई बंद हो गयी है। हम लोग सोचते हैं कि काश! आज नानाजी की आँखें ठीक होतीं और हम सब उसी तरह उनके साथ खेल पाते। हम लोग उनका वही रूप देखने को तरस गये हैं जब वह दांत किटकिटा कर हमें प्यार से नोंच-नोंच कर प्यार करते थे और उनके दाँत उनके होंठों में गड़कर खून तक निकाल देते थे।

भगवान् हमारे नानाजी को दीर्घायु करें और हम युग-युग तक उनका प्यार पातें रहें, यही हमारी प्रार्थना है।

रांची

पूनम
(शास्त्रीजी की दौहित्री)

मेरे पूज्य बाबाजी

मेरा जन्म अंडमान में हुआ था, तब मेरे पिताजी फौज में कैप्टेन थे। अब तो कर्नल हो गये हैं। सन् ६६ में उनको नौ मास के प्रशिक्षण पर विलिंगडन जाना पड़ा। मेरी माताजी भी उनके साथ गयी थीं। तब मुझे सर्वप्रथम अपने होश में बाबाजी एवं अम्माजी (दादी जी) के पास रहने का अवसर मिला। उस समय मेरी आयु ४ वर्ष की थी।

मेरे बाबाजी व अम्माजी का जीवन बड़ा धार्मिक है। प्रारम्भ से ही मेरे ऊपर इन दोनों के धार्मिक आचार-विचारों का प्रभाव पड़ा। जब प्रातःकाल अम्माजी और बाबाजी हवन करते थे तो मैं भी उनके साथ बैठती थी। हवन करना मुझे बहुत ही अच्छा लगता था। सायंकाल भी सन्ध्या-हवन में बैठती थी। तभी से मुझे सन्ध्या-यज्ञ के सभी मन्त्र कंठस्थ हो गये। आज भी यज्ञ में मेरी बहुत श्रद्धा एवं रुचि है। गुरुकुल में रहकर ईश्वर-भक्ति एवं देशभक्ति के भजन, सांकेतिक गायन भी मैंने सीखे, जो अब भी मुझे ज्यों-के-त्यों स्मरण हैं। उस समय के गुरुकुल-निवास ने मेरे जीवन पर गहरा असर डाला। यद्यपि हम तीनों बहनों की शिक्षा अँग्रेज़ी स्कूल में हो रही है, पर संस्कृत के प्रति हम सबकी बहुत रुचि है। मुझसे छोटी बहन विनीता के तो संस्कृत में पूरी कक्षा में सर्वोत्तम अंक आते हैं। संस्कृत के प्रति इतनी रुचि मैं अपने बाबाजी का ही प्रभाव मानती हूँ।

मेरे पिताजी का जीवन भी बाबाजी से बहुत प्रभावित है। उनकी बहुत-सी आदतें बाबाजी से मिलती हैं। अनुशासन, सुव्यवस्था, कर्तव्य-पालन, समय पालन आदि का वे बाबाजी की तरह ही पूरा ध्यान रखते हैं। घर में भी हम बच्चों का जीवन अनुशासित है। प्रत्येक कार्य के लिए समय निर्धारित है। हमारी माताजी भी इन बातों का बहुत ध्यान रखती हैं। सेना में होने के नाते मेरे पिताजी को अधिकतर दूर-दूर ही रहना पड़ा। अब कुछ समय से मेरठ एवं पुनः मथुरा आने के कारण हम बाबाजी के पास अक्सर जाते रहते हैं। जब पहली बार बाबाजी हम लोगों के बड़े होने पर मिले तो अपने आदर्शों एवं सिद्धांतों के अनुसार हम बच्चों को चलता देखकर बड़े प्रसन्न हुए और अम्माजी से माताजी के बारे में कहा कि शान्ता ने बच्चियों को बहुत अच्छा बनाया है।

हमारे बाबाजी इतने महान् हैं कि उनका अनुकरण करने में हमें गौरव का अनुभव होता है। मुझे गर्व है कि ऐसे आदर्श बाबा की गोद में खेलने का मुझे सौभाग्य मिला। प्रभु करे हम सभी बच्चों को उनका प्यार चिरकाल तक मिलता रहे।

मथुरा **अलका प्रताप**

(कर्नल यतीन्द्रप्रताप की बड़ी सुपुत्री)

स्नेही दादाजी

जिन बच्चों को प्यार करने वाले दादा-दादी और नाना-नानी मिलते हैं, वे बड़े भाग्यशाली होते हैं। हमारे दादाजी और अम्माजी हमें अत्यधिक प्यार करते हैं। पिताजी तो कई बार यह भी कहते हैं कि इतना लाड़ हमको बिगाड़ देगा। वास्तव में बच्चों को माता-पिता का प्यार जितना भी मिले अच्छा है, पर उस लाड़-प्यार का तो मजा ही कुछ और है जो हमें अपने दादा-दादी से मिलता है।

हमें याद नहीं कि हमने कभी भी किसी वस्तु की इच्छा प्रकट की हो और वह दादाजी या अम्माजी ने नहीं लाकर दी हो। माताजी-पिताजी तो कभी-कभी कुछ कारण बताकर कुछ वस्तुओं के लिए मना भी कर देते हैं, पर मजाल है कि हमारी मनपसंद वस्तु हमें उन दिनों न मिले जब या तो दादाजी और अम्माजी हमारे घर आये हों या हम उनके पास हों। बहुत मजा आता है, जब माताजी-पिताजी हमें किसी वस्तु को लेने से रोकना चाह कर भी नहीं रोक पाते हैं।

ऐसे दादाजी और अम्माजी को पाकर हम ऐसे दादा-दादी की कल्पना भी नहीं कर सकते जो अपने नाती-पोतों से मिलने, बिना कुछ लिए जायें। हो सकता है कभी किसी की मजबूरी हो, तो बात दूसरी है।

बड़ी बात तो यह है कि हमें, ताऊजी के बच्चों को और बुआजी के बच्चों को, मतलब अपने सब नाती-पोतियों को दादाजी-अम्माजी बराबर प्यार करते हैं।

दादाजी की एक बड़ी विशेषता है कि उनका पशु-पक्षियों के लिए बहुत स्नेह है। उनका यह शौक देखकर हमने अपने घर में बहुत सारे पशु-पक्षी पाल रखे हैं। उनमें कुत्ते, खरगोश, विलायती चूहे, छोटी चिड़ियाँ कबूतर एवं मछलियाँ हैं। दादाजी उनको देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं और विशेषकर हमारे छोटे कुत्ते से बहुत खेलते हैं एवं तोते से बातें करते हैं।

पशु-पक्षियों से अपने प्रेम के वशीभूत होकर दादाजी ने कन्या गुरुकुल में भी एक छोटा चिड़ियाघर बनवाया है। उसको देखकर वहाँ की छोटी कन्याएँ कितनी खुश होती हैं, इसका अंदाज उनको देखकर ही लगाता जा सकता है। दादाजी पशु-पक्षियों को अपने हाथ से खिलाने में बहुत आनन्दित होते हैं। जब गुरुकुल में मयूर छतों पर नाचते रहते हैं तो दादाजी भ्रमण के जाते समय उनके लिए रोटी ले जाते हैं। मयूर उनसे बहुत कम दूरी पर नृत्य करता रहता है। वे उसे रोटी खिलाते हैं, पर अभी मयूर से उनकी बहुत दोस्ती नहीं हुई है। वे कहते हैं कि जब ये मोर मेरे हाथ से स्वयं लेकर खाने लगेंगे तो मुझे अत्यधिक आनन्द आयेगा।

गुरुकुल में पढ़ने वाली छोटी कन्याओं के साथ दादाजी शाम का काफी समय निकाल देते हैं। उनके साथ खेलते हैं, बातें करते हैं और प्रेम से उनका मनोरंजन करते हैं। वहाँ भी हम दादाजी को ढेर सा प्यार उँडेलते हुए पाते हैं।

कई बार तो माताजी-पिताजी के रोकने पर भी अम्माजी और दादाजी हमें अपने साथ ले जाते हैं। उनके स्नेह के कारण हमें वहाँ माता-पिता की याद भी नहीं आती, और वहाँ से लौटते हुए मन को अच्छा भी नहीं लगता।

हम बच्चे ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि हमें इतना प्यार करने वाले दादाजी और अम्माजी का स्नेह और आशीर्वाद, आने वाले अनेक वर्षों तक मिलता रहे।

जयपुर

मोना प्रताप
(श्री विजयप्रताप की बड़ी सुपुत्री)

मेरे जीवन-साथी

प्रकृति में अनेक स्थानों पर दो-दो के जोड़े हैं, दो में से एक के न होने पर कार्य नहीं चल सकता। दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। एक के न होने पर दूसरा नहीं हो सकता अथवा एक के बिना दूसरा अपूर्ण है। दोनों के मिलने पर ही पूर्णता होती है। दिन और रात मिलकर आठ-याम बनाते हैं। विद्युत की दो धाराएँ धन और ऋण, विद्युत को कार्य करने योग्य बनाती हैं। वृक्षों और पौधों के बीजों में भी यही बात देखने में आती है। पशु-पक्षियों और मनुष्यों में तो यह बात और भी स्पष्ट रूप से सामने आ जाती है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार हम दोनों भी गृहस्थ धर्म का पालन करने के लिए दो से मिलकर एक बने। प्रथम मिलन में ही मैंने यह अनुभव किया कि मेरे जीवन-साथी एक विशिष्ट विचारधारा के व्यक्ति हैं। प्रथम बार ही जो उनका जीवन-उद्देश्य मुझे सुनने को मिला, वह यही था—"मैं विवाह-सूत्र में सांसारिक सुखों को भोगने के लिए नहीं बँधा। शुद्ध रूप से गृहस्थ-धर्म का पालन करते हुए ही हम दोनों को आजीवन अपने कर्तव्य-पालन का ध्यान रखना है। तुमको सदा मेरे माता-पिता, परिवार तथा समाज के प्रति कर्तव्य पूरा करने का ध्यान रखना है।" और आज तक ये स्वयं इसी उद्देश्य की पूर्ति में लगे रहे तथा मुझे भी लगाये रखा। शास्त्रीजी अपने माता-पिता की छोटी-से-छोटी भावना का ध्यान रखते रहे थे। १९२५ में विवाह के चार दिन पश्चात् ही वे राजाराम कॉलेज, कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में अपनी सेवा पर चले गये और दो वर्ष तक वहाँ अकेले ही रहे। मैं अपने सास-श्वसुर की सेवा के लिए आगरा ही रही। एक बार ये जब ग्रीष्मावकाश व्यतीत कर कोल्हापुर वापिस जाने लगे तो मैंने उनसे बम्बई देखने की इच्छा प्रकट की, उन्होंने मुझे समझाया—मेरी माताजी मेरे साथ नहीं चल सकेंगी, क्योंकि उनके चले जाने से पिताजी यहाँ अकेले रह जायेंगे और उनकी उचित देखभाल

के बिना उनको कष्ट होगा। ऐसी स्थिति में माताजी को यहाँ छोड़कर केवल तुमको साथ ले जाना मैं उचित नहीं समझता। मेरी समझ में यह बात आ गयी और मैं अपने परिवार की सेवा में लगी रही।

वैसे तो सौभाग्य से मेरा पालन-पोषण एक ऐसे विशुद्ध आर्य-परिवार में हुआ था, जहाँ रात-दिन वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवनचर्या बिताने का यत्न किया जाता था। प्रातः पाँच बजे उठना, स्नान, सन्ध्या-यज्ञ, वेद-पाठ आदि नियमित नैतिक दिनचर्या गुरुकुलों की भाँति ही थी। इसके साथ ही मेरे घर में गुरुकुल-कांगड़ी के अनेक स्नातक पं० बुद्धदेवजी, पूर्णदेवजी, देवराजजी, विद्याधरजी, विद्यानिधिजी, यज्ञदत्तजी, जयचन्द्रजी आर्य समय-समय पर कई-कई मास रहते रहे। इनसे शुद्ध मंत्रोच्चारण तथा धर्मशिक्षा पढ़ने का सुअवसर मिलता रहा। इसके साथ ही वर्ष में कई बार मूर्धन्य संन्यासी स्वामी श्रद्धानन्दजी, पूज्य महात्मा नारायण स्वामीजी, पूज्य स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज तथा श्री स्वामी केवलानन्दजी आदि आकर ठहरते थे और मुझे उनकी गोद में खेलने का, ज्ञानपूर्ण बातें सुनने का सुअवसर मिलता था। मेरी माता श्रीमती लक्ष्मीदेवीजी भी उच्च आर्य विचारों की आदर्श-महिला थीं। मेरे चाचा डॉ० श्यामस्वरूपजी यू० पी० के प्रसिद्ध आर्यसमाजी तथा स्वामी श्रद्धानन्दजी के अत्यन्त प्रिय एवं विश्वासपात्र थे। ऐसे संस्कारों में पलने के कारण मेरी विचारधारा विशेष प्रकार की बन गयी थी। बड़ी आयु में पहुँचने पर जब कभी मैं अपने विवाह की चर्चा सुनती तो मुझे घबराहट होने लगती थी। और अनेक धनी-मानी, सांसारिकता में फँसे परिवार मुझे याद आ जाते थे। मैं सोचने लगती थी कि यदि मैं ऐसे परिवार में पहुँच गयी तो जीवन कैसे कटेगा? विवाह के पश्चात् जब मैं श्री शास्त्रीजी के घर में पहुँची तो देवतुल्य अपने श्वसुर की विचारधारा तथा परिवार के अन्य जनों में आर्य-विचारधारा और परिवार के शुद्ध वातावरण को देखकर मैं धन्य हो उठी। इसीलिए शास्त्रीजी के उपर्युक्त विचारों को सुनकर मुझे उनके बताये मार्ग पर चलने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई।

शास्त्रीजी के विचार नारी के प्रति, अत्यन्त सम्मानजनक रहे हैं। वे नारी स्वतंत्रता के पूर्ण पक्षपाती हैं। उन्होंने समाज-सेवा के लिए मुझे पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी, तथा समय-समय पर वे मुझे प्रोत्साहित भी करते रहते थे। शादी के कुछ दिनों के पश्चात् ही पिताजी ने मुझे आगरा में एक स्त्री-समाज स्थापित करने की आज्ञा दी, जिसके लिए मुझे अनेक बहिनों के पास प्रयत्न करने जाना पड़ता था। शास्त्रीजी की माताजी भी इतनी उदार विचारों की थीं कि वे बराबर मेरे साथ इस प्रयत्न में लगी रहीं और प्रसन्नता से मुझे इधर-उधर ले जाती रहीं। वहाँ से जो समाज-सेवा का कार्य प्रारम्भ हुआ तो चलता ही रहा। देहरादून निवासकाल में तो यह कार्य काफी बढ़ गया। मुझे कई बार सारा-सारा दिन घर से बाहर व्यतीत करना पड़ा। हैदराबाद सत्याग्रह के दिनों में प्रातः धन-संग्रह के लिए निकलने पर शाम को या रात्रि को मैं घर वापिस जाती तो सोचती थी कि शास्त्रीजी चिन्तित हो रहे होंगे, परन्तु घर आकर पाती कि वे बड़े प्रसन्न हैं और पूछने पर कहते कि मैं तो जानता था कि तुम अच्छे कार्यों में जुटी हो, इसमें बुरा मानने का कोई प्रश्न ही नहीं। उनकी इसी उदार मनोवृत्ति ने मुझे सदा समाज-सेवा में जुटाये रखा।

लखनऊ में समाज-कल्याण का कार्य प्रारम्भ होने पर मुझे दस समाज-कल्याण केन्द्रों का भार संयोजिका के रूप में सौंप दिया गया। मुझे नित्य ही किसी-न-किसी केन्द्र पर जाना

होता था। प्रातः अपने नित्यकर्म यज्ञादि से निवृत्त होकर शास्त्रीजी तथा बच्चों को जलपान करा कर मैं प्रातः आठ बजे जाती थी और उस ग्राम से वापिस आने में प्रायः दो बज जाते थे। घर आकर देखती कि शास्त्रीजी मेरी प्रतीक्षा में बिना भोजन किये बैठे हैं। मेरे बहुत आग्रह करने पर कि 'आप भोजन क्यों नहीं कर लेते ?' वे हँसकर उत्तर दे देते थे कि 'जब तुम अपनी बहिनों के कल्याण के लिए गाँव-गाँव घूमती हो तो मेरा कर्तव्य है कि मैं भी तुम्हारे भोजनादि का ध्यान रखूं।' इन शब्दों को सुनकर मेरा उत्साह और भी बढ़ जाता था। एक बार किसी गाँव में अनेक झंझटों में फँस जाने के कारण मुझे वहाँ से आने में बहुत विलम्ब हो गया। उसी दिन गवर्नमेंट-हाउस में महिला-समिति की बैठक में सम्मिलित होना था। बैठक के पश्चात् तत्कालीन गवर्नर श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की पत्नी श्रीमती लीलावती मुंशी, जो समिति की अध्यक्षा थीं, मुझे अपने साथ एक आवश्यक कार्य से महिला-आश्रम ले गयीं, जहाँ की वे प्रधाना और मैं मंत्रिणी थी। वहाँ के कार्य को निबटाते-निबटाते मुझे रात्रि के आठ बज गये। मैं जब घर पहुँची तो मेरे बच्चे तथा शास्त्रीजी बिना भोजन किये बैठे थे। मेरे बड़े पुत्र ने बड़े दुखी भाव से कहा, "माताजी, आप कहाँ चली जाती हैं? आपके कार्य समाप्त नहीं होते। आपने आने में इतनी देर की। हमको बहुत भूख लग रही है।" शास्त्रीजी ने तुरन्त ही पुत्र को डाँटकर कहा, 'तुमको ऐसा नहीं कहना चाहिए। वे आराम नहीं कर रहीं, दिन-भर की थकी घर आयी है। तुम्हारे ऐसा कहने से उन्हें कष्ट ही होगा।' इस प्रकार मैंने जीवन में उनसे सदा प्रोत्साहन ही पाया।

शास्त्रीजी सागर की भाँति गम्भीर और आपत्ति आने पर पर्वत की भाँति अडिग रहने वाले है। उनके बड़े पुत्र रवीन्द्रप्रताप जब रोगशय्या पर थे, शास्त्रीजी को पता लगा कि बरेली के 'क्लेरास्वैन' मिशन हॉस्पिटल में एक अमेरिकन डॉक्टर आये हुए हैं जो फेफड़ों के ऑपरेशन के विशेषज्ञ हैं। वे पुत्र को लेकर बरेली पहुँचे। वहाँ हॉस्पिटल में उनसे चार बार ऑपरेशन कराये। पहले ऑपरेशन में तीन घंटे का समय लगा, ऑपरेशन के समय अनेक सम्बन्धी और मित्रगण अस्पताल पहुँच गये थे। सभी बहुत चिन्तित थे, हम लोग भी अत्यन्त दुखी मन से भगवान को याद कर रहे थे। पर ऐसे कठिन और कष्ट के समय में भी स्वयं घोड़ा बनकर अपने धेवते राजीव को अपनी पीठ पर बिठाकर खिला रहे थे, तथा **विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः, यशसि चाभिरुचिरव्यसनम् श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदंहिमहात्मनाम्**— इस उक्ति को चरितार्थ कर रहे थे। उनके इस साहस और धैर्य को देखकर लोग आश्चर्यचकित रह गये। एक सज्जन ने तो चित्र भी ले लिया जो अब तक सुरक्षित है। लखनऊ से उसकी दशा जब गम्भीर हो जाती थी और शास्त्रीजी को कॉलेज से बुलाया जाता था तो थोड़ी देर ठहरने के पश्चात् वे यह कहकर कि 'डॉक्टर देख ही रहे हैं, मैं क्या कर सकता हूँ? सब भगवान की कृपा पर निर्भर है। कॉलेज की हानि क्यों की जाये ?' कहकर वापिस चले जाते थे।

पूज्या माता लक्ष्मीदेवीजी की मृत्यु के पश्चात् गुरुकुल की व्यवस्था का प्रश्न उठने पर अनेक संरक्षकों तथा अन्य प्रतिष्ठित जनों ने हम लोगों से गुरुकुल संभालने का आग्रह किया। मेरा हृदय पुत्र की रुग्णावस्था के कारण इस बात को मानने तथा पुत्र से पृथक् होने को तैयार नहीं था, परन्तु शास्त्रीजी के कर्तव्य-पथ पर चलने के प्रेरणापूर्ण आग्रह से मुझे यह भार स्वीकार करना पड़ा। जब कभी मैं घर पहुँचती और रोगी पुत्र को छोड़कर आने के कारण दुखी होती तो वे मुझे समझा-बुझाकर शान्त कर देते थे और गुरुकुल वापिस भेज देते। इसी कर्तव्य-पालन

के कारण पुत्र के अन्तिम समय भी मैं उसके पास नहीं थी, इसका कष्ट मुझे आजीवन सालता रहेगा। १९६३ में अवकाश प्राप्त करने पर शास्त्रीजी भी गुरुकुल की सेवा के लिए यहाँ आकर रहने लगे और हम दोनों ही गुरुकुल की सर्वतोन्मुखी उन्नति करने में लगे हुए हैं। वे तो गुरुकुल में इतने तल्लीन हो गये हैं कि कभी परिवार अथवा बच्चों की चर्चा ही नहीं होती। मेरे याद दिलाने पर भी वे यही कह देते हैं 'कि हम अपना कर्तव्य बच्चों के प्रति पूरा कर चुके हैं। अब गुरुकुल के बच्चों की पूरी-पूरी देखभाल करना ही हमारा कर्तव्य है।' वे सदा से ही इतने अधिक ईमानदार रहे हैं कि छोटी-से-छोटी बातों में भी इसका ध्यान रखते रहे। कॉलेजों के कार्यकाल में कॉलेज में उत्पन्न होने वाली सब्जी आदि कभी घर में मोल भी नहीं आने दी। उनका विचार था जब सभी चीजें बाजार में मिल जाती हैं तो कॉलेज से क्यों ली जाएँ? हो सकता है कि कभी हम लोगों के दिमाग में पैसे न चुकाने की भावना आ जाए। लखनऊ रहने पर हम लागों को शुद्ध दूध मिलने में बड़ी कठिनाई हुई, परन्तु शास्त्रीजी ने कॉलेज की डेरी से घर के लिए कभी दूध नहीं लिया। अन्त में दूध का कष्ट दूर करने के लिए मैंने लखनऊ से बड़ौत तक घर में बराबर एक गाय और एक भैंस पाली, जिससे बच्चों को शुद्ध दूध, घी मिल सके। गुरुकुल में भी ये हर समय इस बात का ध्यान रखते हैं कि गुरुकुलीय धन में एक पैसे की गड़बड़ न होने पाये। कम-से-कम व्यय करके वे गुरुकुलीय कार्यों को पूरा करने की चेष्टा करते रहते हैं।

इनकी धार्मिक-प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी हुई है कि मैंने उनको कभी भी झूठ बोलते नहीं पाया। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से वे सदा बचे रहे और मुझे सतर्क रखा। आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर-प्रदेश में भी अनेक वर्षों तक रहने पर भी मैंने उनमें कभी पद-लिप्सा नहीं देखी। जब कभी मित्र-गण ने किसी पद के लिए प्रयत्न किया, तब भी वे उदासीन रहे। जब कभी कोई व्यक्ति उनसे यह कहता है कि सभा का अधिकारी-वर्ग आपको किसी पद पर लाना नहीं चाहता, तो वे सदा हँसकर यही उत्तर देते कि 'जब हमारा समय था हमने बहुत काम किया। अब दूसरे सज्जनों को करने देना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि हम ही काम करें।' मैंने उनके मुँह से कभी किसी की कटु आलोचना नहीं सुनी। प्रतिनिधि सभा के बृहद् अधिवेशन से वापिस आने पर मेरे बहुत पूछने पर वे सूक्ष्मरूप से वहाँ की कार्यवाही बता देते हैं। सरल भाव से कह देते हैं कि 'मेरी आन्तरिक इच्छा यह नहीं है कि मैं किसी पद पर पहुँचूं। केवल यही इच्छा है कि सभा का कार्य सुचारु रूप से चलता रहे।'

इसी कर्तव्य-पालन की भावना के कारण ही इन्होंने अपने परिवार के प्रत्येक व्यक्ति के प्रति अपने दायित्व का पूर्णरूपेण निर्वाह किया। अपने बहनोई श्री रायसाहब माणिकचन्दजी की मृत्यु के पश्चात् अपनी बहिन और भांजे-भांजियों का लालन-पालन और शिक्षा में पूर्ण रुचि ली और तन-मन-धन से उनकी सहायता की। उनके आपात्कालीन समय को अधिकतर अपने पास रखकर व्यतीत कराया और इसी के फलस्वरूप उनका गृहस्थ-जीवन बहुत ही शान्तिपूर्ण और आनन्दमय व्यतीत हो रहा है। उनके पुत्र-पुत्री सुयोग्य और धार्मिक भावनाओं वाले बने, जिनको प्रभु की कृपा से सभी सुख प्राप्त हैं।

वे अपने माता-पिता के एकमात्र पुत्र हैं, परन्तु उन्होंने अपने कर्तव्यों के द्वारा— **'एकश्चन्द्रस्तमोहन्ति न च तारागणैरपि'** के सिद्धान्त को सार्थक कर दिया।

ऐसे जीवन-साथी को पाकर मेरा जीवन वास्तव में सफलता प्राप्त कर सका। हम दोनों ५४ वर्ष से एक ही पथ पर कन्धे-से-कन्धा मिलाकर और कदम-से-कदम मिलाकर एक साथ चल रहे हैं। मेरी आन्तरिक कामना है कि हम दोनों जब तक संसार में हैं, इसी प्रकार सहगामी बने रहें और फिर एक साथ ही संसार से प्रयाण करके प्रभु की शरण में पहुँच सकें।

मुख्याधिष्ठात्री एवं आचार्या
कन्या गुरुकुल, हाथरस

अक्षयकुमारी शास्त्री
(शास्त्रीजी की धर्मपत्नी)

स्व० माता श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी तथा श्री शास्त्रीजी

जब मेरी छोटी बहन अक्षयकुमारी का विवाह सानन्द तथा निर्विघ्न सम्पन्न हो गया, तब मैंने एक दिन अपनी चाची श्रीमती लक्ष्मीदेवी जी से पूछा—"चाचीजी ! आपने इतने विघ्नों की आशंका होने पर भी अक्षय का विवाह जाति-बन्धन तोड़कर श्री महेन्द्रजी से क्यों किया ?" इसके उत्तर में जो कुछ उन्होंने बातचीत की, वह मुझे आज भी याद है।

उन्होंने बताया—"बेटी अक्षय के विवाह योग्य होने पर मैंने उसके योग्य वर की खोज प्रारम्भ की। इस संबंध में मेरी कुछ निश्चित धारणाएं थीं—

१. वर वैदिक धर्मावलम्बी, शुद्ध आर्य विचारोंवाला तथा आर्यपरिवार का होना चाहिए।
२. उच्च शिक्षा-प्राप्त और अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए।
३. परिवार मांस, मदिरा ही नहीं, धूम्रपान से भी रहित होना चाहिए।
४. जन्म से दूसरी जाति का होना चाहिए, क्योंकि मैं पूज्य स्वामी श्रद्धानन्दजी को ऐसा करने का वचन दे चुकी हूँ।

मेरे द्वारा इधर-उधर पूछताछ और परामर्श में कई प्रस्ताव आये, पर कहीं कोई कमी थी और कहीं कोई। उन्हीं दिनों आगरा के प्रसिद्ध आर्यसमाजी कार्यकर्ता ठाकुर माधवसिंहजी के पुत्र महेन्द्रजी के नाम का प्रस्ताव आया। महेन्द्रजी को मैंने अपनी धारणाओं के अनुकूल पाया तथा उनसे विवाह कर दिया। तुम्हें तो पता ही है कि अन्तर्जातीय विवाह होने के कारण मित्रों, सम्बन्धियों तथा परिचितों ने कितना विरोध किया, परन्तु ताऊजी (राय रोशनलाल जी बैरिस्टर, लाहौर) ने मुझे बहुत ढाढ़स दिया और पूर्ण सहयोग देकर इस कार्य को अत्यन्त समारोह से सम्पन्न कराया। सच तो यह है कि शास्त्रीजी से मिलने के बाद मुझे अन्य कोई भी प्रस्ताव जँचा ही नहीं। उनके कार्यों तथा विचारों से मैं अत्यन्त प्रभावित हूँ।"

श्री शास्त्रीजी वास्तव में एक सदाचारी, कर्तव्य-निष्ठ, सेवाभावना से पूर्ण, उदारहृदय व्यक्ति हैं। चाचीजी उनसे अत्यन्त स्नेह करती थीं तथा प्रत्येक कार्य उनकी सम्मति से करती थीं !

श्री शास्त्रीजी ने भी चाचीजी को प्रत्येक कार्य में तन, मन, धन से सहयोग देकर अपने कर्तव्य का पालन किया। मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि वे आज भी अपने कर्तव्य-पालन के उसी मार्ग पर डटे रहकर चाचीजी के लगाये इस गुरुकुल रूपी पौधे को सींचकर उसकी रक्षा करने में जुटे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरी स्वर्गीया चाचीजी की आत्मा शास्त्रीजी के इस कार्य को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हो रही होगी और शास्त्री-परिवार पर आशीर्वाद की वर्षा कर रही होगी।

धर्मपत्नी स्व० डॉ० जगदम्बाप्रसाद जौहरी
बरेली

मेवा कुमारी
(श्रीमती अक्षयकुमारी जी की बड़ी बहिन)



शास्त्रीजी के कतिपय अनुभव

श्री शास्त्रीजी से हमने प्रार्थना की थी कि उन्होंने सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रों में जो अनुभव प्राप्त किये हों, उनको संक्षिप्त रूप से लिखने की कृपा करें। हमें प्रसन्नता है कि उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार करके अपने कुछ अनुभव लिखे, जिन्हें हम साभार प्रकाशित कर रहे हैं। आशा है पाठकगण इससे लाभ उठायेंगे।

—सम्पादक

आदर्श मनुष्य वही है जिसके आत्मा, मन और शरीर तीनों उन्नत हों। आत्मा पर आध्यात्मिकता की छाप हो, मन शुद्ध हो और शरीर सर्वथा स्वस्थ हो। इस प्रकार के मनुष्य का निर्माण ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

महेन्द्रप्रताप शास्त्री

विचार और अनुभूतियाँ

अध्यापक ही क्यों ?

बाल्यावस्था से ही मेरे मन में अध्यापक बनने की चाह थी। इस व्यवसाय की अच्छाइयों एवं महत्वों का तो उस समय ज्ञान न था, पर न जाने क्यों मेरा मन इस ओर आकर्षित था। मेरे पिताजी की इच्छा थी कि मैं वकील बनूँ, परंतु मुझे वकील बनना रुचिकर न था, यद्यपि उस व्यवसाय के कई आकर्षण थे। यह सोचकर कि संभव है पिताजी की इच्छा प्रबल हो जावे, मैंने बी० ए० उत्तीर्ण करने के पश्चात् एम०ए० तथा एल-एल०बी० दोनों की कक्षाओं में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में यह सोचकर प्रवेश ले लिया कि अंतिम निर्णय दोनों परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के पश्चात् ही लिया जा सकेगा। प्रवेश के एक मास पश्चात् ही मेरे भाई डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने सुझाव दिया कि यदि मैं पंजाब विश्वविद्यालय की एम० ए० (संस्कृत) की कक्षा में प्रवेश ले लूं तो एक सूत्र में ही एम० ए० की उपाधि मिल जायेगी और शास्त्री तथा एम०ए० होने के कारण एम० ओ० एल० (मास्टर ऑफ ओरियन्टल लर्निंग) की उपाधि भी मिल जायेगी। यह एक अच्छा आकर्षण था। इसके साथ ही मेरे मन में यह भी आया कि अपने एक अध्यापक की भाँति, जो एम० ए०, एम० ओ० एल० थे और लाहौर के एक स्नातकोत्तर कालेज में प्रिंसिपल थे, मैं भी एक स्नातकोत्तर कालेज का प्रिंसिपल बनने योग्य हो सकूंगा। इस भावना ने मेरे मन में जड़ पकड़ ली और वह उत्तरोत्तर दृढ़ होती गयी। अन्त में मेरी वह इच्छा पूरी हो गयी। इस घटना से मेरा यह विश्वास पक्का हो गया कि मनुष्य जो भी लक्ष्य निर्धारित कर ले, उसे पूरा कर सकता है, पर आवश्यकता इस बात की है कि भावना दृढ़ हो और अध्यवसाय पूरे मनोयोग से किया जाये। इसके अनेक उदाहरण मेरे मन में आया करते थे। उन्हीं ने मेरी इच्छाशक्ति को उत्तरोत्तर बल दिया और मैं अपने लक्ष्य तक पहुँचने में सफल हुआ।

अध्यापक का व्यवसाय

मैंने अध्यापक के व्यवसाय को सदा ही सबसे अच्छा व्यवसाय माना है। यद्यपि इसमें आर्थिक लाभ कम होता है, आडंबरपूर्ण जीवन बिताने का अवसर भी कम होता है और समाज में अध्यापक की प्रतिष्ठा भी उतनी नहीं होती जितनी होनी चाहिए, फिर भी मैं इसे सर्वोत्तम समझता था और अब भी मानता हूँ। अध्यापक को साधारणतया 'राष्ट्र-निर्माता' कहा जाता है और यह है भी ठीक। क्योंकि पाँच वर्ष की आयु से बीस-बाईस वर्ष की आयु तक के छात्र-छात्राओं को, जो भावी जीवन में देश की उन्नति में सहयोग देने वाले सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक नेता तक बन सकेंगे, अध्यापक जैसा चाहे वैसा बना सकता है। इसीलिए भारतीय विचारकों ने **मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद** कहा है। गर्भावस्था से लेकर शिशु

अवस्था तक बालक पर माता-पिता का अमिट प्रभाव पड़ता है, परंतु उसके बाद उस पर सबसे अधिक प्रभाव अध्यापक का पड़ता है। अध्यापक को 'आचार्य' इसीलिए कहा है कि वह छात्र के आचार का निर्माण करता है—**'आचारं ग्राह्यतीति आचार्यः।'** परंतु इसके लिए सबसे अधिक आवश्यक शर्त यह है कि अध्यापक का स्वयं का आचार ठीक हो। विद्यार्थी अध्यापक की प्रत्येक बात को—उसके चलने, उठने, बैठने, बात करने के ढँग, वेशभूषा, बोलचाल, कर्तव्य-पालन आदि को—जितनी पैनी निगाह से देखता है उतना अन्य कोई नहीं। इसलिए अध्यापक को इन सब दृष्टियों से अधिक-से-अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। यदि अध्यापक में कोई भी कमी हो तो विद्यार्थी के हृदय में उसके लिए प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। ऐसा अध्यापक न तो विद्यार्थी के लिए आदर्श व्यक्ति हो सकता है और न उसे 'राष्ट्र-निर्माता' जैसे महत्वपूर्ण तथा उत्तरदायित्व-पूर्ण पद का पात्र कहा जा सकता है।

यह बड़े दुःख की बात है कि बहुत ही कम अध्यापक अपने पद की गरिमा को समझते हैं। यहाँ पर अध्यापकों की कमियों को गिनाना उचित नहीं, पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अधिकतर अध्यापकों में वे कमियाँ होती हैं, जिनसे वे अपने विद्यार्थियों को बचाना चाहते हैं। जो अध्यापक विद्यार्थियों से धूम्रपान न करने के लिए कहता है, परंतु स्वयं धूम्रपान करता है और कभी-कभी तो अपने ही किसी विद्यार्थी से बीड़ी अथवा सिगरेट मँगाता है, तब उसके उपदेश का विद्यार्थी पर क्या प्रभाव पड़ सकता है?

अध्यापक की इन कमियों के अनेक कारण हैं। मेरी सम्मति में तो प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर अध्यापक अध्यापक के व्यवसाय को आदर्श मानकर नहीं अपनाते। प्रायः ऐसा होता है कि जब एक व्यक्ति को अन्य किसी कार्य को करने का अवसर नहीं मिलता तो वह अध्यापक बन जाता है। आज से चालीस-पचास वर्ष पहले तक यह एक सामान्य बात थी। मैं उन दिनों देखा करता था कि अनेक व्यक्ति बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद एल-एल० बी० की कक्षाओं में प्रवेश करा लेते थे और खाली समय में विद्यालयों में अध्यापन का कार्य ले लेते थे। उनके पैर दो नावों में होते थे, पर अधिकतर अध्यापक बनने की अपेक्षा वकील बनना अधिक अच्छा समझते थे।

एक बार लखनऊ में चार-पाँच इंटर कालेजों के वरिष्ठ प्रिंसिपल जलपान के लिए एकत्रित हुए। बातचीत करते हुए अध्यापक के व्यवसाय पर चर्चा आरंभ हो गयी। उनमें सबसे अधिक समय तक प्रिंसिपल रहने वाले एक सज्जन ने, जो उस समय उत्तर प्रदेश के एक ख्याति-प्राप्त वरिष्ठ प्रिंसिपल माने जाते थे, कहा कि मैंने तो अपने पुत्रों से कह दिया है कि चाहे भीख माँग लेना, पर अध्यापक कभी न बनना। अन्यों ने भी इसी प्रकार के भाव प्रकट किये। मुझसे न रहा गया और मैंने कहा कि आप सबने अपने-आपको जन्म-भर धोखा दिया है तथा अध्यापक के व्यवसाय के प्रति बेईमानी की है। मुझमें ऐसा कहने का साहस इसीलिए था क्योंकि मैंने अध्यापक के व्यवसाय को सर्वोत्तम मानकर अपनाया था।

यह ठीक है कि अध्यापक के व्यवसाय में वे अनेक सांसारिक आकर्षण नहीं हैं जो अन्य कई व्यवसायों में पाये जाते हैं, परंतु इसके अपने आकर्षण हैं। एक आदर्श अध्यापक अपने व्यवसाय में जिस सुख और शांति का अनुभव करता है, उसे दूसरे व्यवसाय वाले नहीं करते। **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** के रहस्य को समझने वाला स्वाध्यायी अध्यापक जितना अधिक ज्ञानोपार्जन कर सकता है, उतना अन्य व्यवसाय वाला नहीं। **स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न**

प्रमदितव्यम्' का अनुयायी अध्यापक जितना अधिक ज्ञान प्रसारण कर सकता है, उतना अन्य व्यवसाय करनेवाला नहीं। नवयुवक और नवयुवतियों के चरित्र का निर्माण जितना अधिक अध्यापक कर सकता है, उतना अन्य व्यवसाय वाला नहीं। अपने विद्यार्थियों के परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने, सार्वजनिक जीवन में उन्नति करने, समाज और राष्ट्र का नेतृत्व करने पर जितना गर्व और हर्ष का अनुभव अध्यापक करता है, उतना अन्य कोई नहीं। जब एक पुराना शिष्य समाज में उच्चतम पद को प्राप्त कर अपने पुराने अध्यापक के मिलने पर उसके पैर छूता है तब उसे जो हार्दिक प्रसन्नता होती है, वह अन्यों के लिए दुर्लभ है। राष्ट्र-निर्माताओं के निर्माण का जितना अधिक अवसर एक अध्यापक को मिलता है, उतना अन्यों को नहीं। संसार में ईर्ष्या एक प्रबल दुर्गुण है, जिसके भयंकर-से-भयंकर परिणाम हो सकते हैं। संसार में प्राय. प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे से ईर्ष्या करता है। इसमें केवल दो अपवाद हैं—माता-पिता अपनी संतान से ईर्ष्या नहीं करते और एक अध्यापक अधिक-से-अधिक उन्नति करने वाले अपने शिष्य से ईर्ष्या नहीं करता। उसे यह सुनने से तनिक भी दु.ख नहीं होता कि 'गुरु गुड़ रह गये और चेला शक्कर बन गया।' उसे तो इससे हार्दिक प्रसन्नता होती है।

सदा बालकों, कुमारों और युवकों की संगति में रहने वाला अध्यापक कभी आयु की क्षीणता का अनुभव नहीं करता। उसे अपने विद्यार्थियों के साथ अधिक-से-अधिक प्रसन्न रहने, मनोरंजन करने और सदा ही नवयुवक बने रहने का स्वर्णिम अवसर मिलता है।

सांसारिक दृष्टि से अध्यापक के व्यवसाय में यह एक कमी है कि आर्थिक दृष्टि से वह औरों से पिछड़ा रहता है, परंतु एक अध्यापक को इनका दुःख न होना चाहिए। आदर्श अध्यापक वही है, जो इसका विचार न करे। मनु ने लिखा है -- 'अध्यापक को इस बात की चिंता न करनी चाहिए कि उसके पास कल के लिए भोजन है या नहीं।' मुझे स्मरण है कि मुझे जब एक सौ पचास रुपये मासिक वेतन मिलता था, तब मैं प्रायः यह कहा करता था कि यदि कोई मुझे एक हजार रुपये मासिक दे और कहे कि कपड़े की दुकान पर बैठा करो, तो यह कभी स्वीकार नहीं करूँगा।

मैंने अध्यापक के व्यवसाय के महत्व को समझा है और ईमानदारी से उसे निभाने का यत्न किया है।

कर्तव्य-पालन

कर्तव्य-पालन एक आवश्यक और महत्वपूर्ण गुण है। इसके बिना न तो वैयक्तिक जीवन में सफलता मिल सकती है और न सार्वजनिक जीवन में। इसलिए इसकी जितनी अधिक आवश्यकता व्यक्तिगत जीवन में है, उतनी ही सार्वजनिक जीवन में। चाहे तो कोई सेवा (नौकरी) करके सार्वजनिक कार्य करता हो और चाहे स्वैच्छिक रीति से (अवैतनिक रूप में)—दोनों के लिए कर्तव्य-पालन की आवश्यकता है।

इस सम्बन्ध में आजकल दो शब्दों की बड़ी चर्चा है—एक तो 'कर्तव्य' और दूसरा 'अधिकार'। यह बड़े दुख की बात है कि आजकल कर्तव्य पर बल न देकर अधिकार पर अत्यधिक बल दिया जा रहा है। एक तरह से वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन में कर्तव्य का लोप-सा हो गया है, और केवल अधिकार रह गया है। यह भावना साम्यवाद के जन्म से और अधिक बढ़ गयी है। जिस भी क्षेत्र में देखा जाये, वहाँ अधिकारों की माँग और उनकी सुरक्षा के

लिए पुकार लगायी जा रही है। प्रायः सभी क्षेत्रों के 'माँग-पत्र' तैयार होते और दिये जाते हैं। श्रमिक वर्ग में तो यह माँग उतनी नहीं खटकती, क्योंकि यह वर्ग लम्बे अतीत काल से भयावह दुर्दशा का पात्र रहा है, पर उनकी देखादेखी अब अन्य वर्ग भी, राजकीय अधिकारी वर्ग और व्यापारी वर्ग भी, अपने अधिकारों की माँग करने लगे हैं। शिक्षक वर्ग भी इस बीमारी का शिकार हो गया है। पिछले दिनों तो एक स्थान पर न्यायाधीशों ने इस ओर अपने पग बढ़ाये थे। वेतन-वृद्धि तथा अन्य सुविधाओं की प्राप्ति के लिए शिक्षक वर्ग ने आन्दोलन के रुख को अपना लिया है, यहाँ तक कि वे श्रमिक वर्ग की तरह हड़ताल करने लग गये हैं। राष्ट्र-निर्माता होने का दावा करने वाले वर्ग की तरफ से ऐसा आन्दोलन करना कम-से-कम मुझे तो बहुत खटकता है। जब अध्यापक इस तरह से हड़ताल करेंगे और अपने कार्य से अनुपस्थित रहेंगे तो वे छात्रों को ऐसा करने से किस प्रकार रोक सकते हैं?

अधिक दुःख इस बात का है कि प्रायः सभी स्थानों पर कर्तव्य पर ध्यान न देकर अधिकार पर ही विशेष बल दिया जा रहा है। मेरा जहाँ तक ज्ञान है प्राचीन भारतीय जीवन में केवल कर्तव्य पर बल दिया गया है, अधिकार पर नहीं। यदि यह कह दिया जाये कि इस प्रकरण में 'अधिकार' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया गया तो कोई अत्युक्ति न होगी। उदाहरण के लिए मनुस्मृति में, जो अपने समय के सामाजिक जीवन की सभ्यता और संस्कृति का दर्पण रूप है, केवल कर्तव्यों का वर्णन है, अधिकार का नहीं। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य, माता, पिता, सन्तान आदि के केवल कर्तव्य बताये गये हैं, अधिकार नहीं। सम्भवतः उस समय सब लोग अपने कर्तव्य-पालन पर ही ध्यान रखते थे, अधिकार पर नहीं।

इस सम्बन्ध में यह कहना अनुचित न होगा कि सबके अपने-अपने कर्तव्यों का पालन करने से सभी के अधिकारों की प्राप्ति और रक्षा हो जाती है। यदि राजा प्रजा के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है, प्रजा को सब प्रकार से सुखी, समृद्ध और प्रसन्न रखता है तो प्रजा द्वारा किसी भी प्रकार के अधिकार के माँगने का अवसर ही नहीं है। अधिकार माँगने की कल्पना तभी की जा सकती है, जब दूसरा व्यक्ति अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता। शिक्षा-क्षेत्र में कार्य करने वाले, विशेषकर अध्यापक वर्ग के लिए कर्तव्य-पालन का बहुत अधिक महत्व है। यदि वे कर्तव्य का पालन नहीं करते तो राष्ट्र की भावी पीढ़ी का उचित रीति से निर्माण नहीं कर सकते। मैंने अपने जीवन में इस ओर विशेष ध्यान दिया है और कर्तव्य-पालन करने में आत्मिक और मानसिक शान्ति का अनुभव किया है। 'वर्क इज़ वर्कशिप'—कर्तव्य-पालन ही ईश्वर की पूजा है, **'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'**—अपने कर्तव्य का पालन करने में नष्ट हो जाना भी कल्याणकारी है, आदि सूक्तियों में मेरा आन्तरिक विश्वास रहा है। जो आदमी अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता, उसकी आत्मा उसको कचोटती रहती है, उसमें आत्मिक बल नहीं रह जाता। न तो वह स्वयं अपने जीवन में सफलता प्राप्त कर सकता है और न दूसरों की सहायता ही कर सकता है। एक अध्यापक में विशेष प्रकार के आत्मिक बल की आवश्यकता है। उसके बिना वह अपने छात्रों के जीवन का निर्माण नहीं कर सकता।

कर्तव्य-पालन के मार्ग में अनेक बार बाधाएँ आ खड़ी होती हैं। उनसे भयभीत होकर, हथियार न डालकर उनका साहस के साथ सामना करना चाहिए। मेरे जीवन में, मुझे स्मरण है, कई बार बाधाओं ने मुझे कर्तव्यच्युत होने का अवसर ला दिया, परन्तु मैंने यह सोचकर कि

कोई-न-कोई तो इन परेशानियों का सामना करेगा, तो मैं ही क्यों न करूँ, साहस बटोरा और बाधाओं का सामना किया। सौभाग्य से सफलता ही मिली।

कर्तव्य-पालन अपने लिए और दूसरों के लिए सुखदायी है और सफलता के मार्ग का महत्वपूर्ण सम्बल है।

अनुशासन

शिक्षा-संस्थाओं के जीवन में जिन बातों का अत्यधिक महत्व है, उनमें एक अनुशासन है। समय पर विद्यालय में पहुँचना और समय पर वहाँ से जाना, समय पर कक्षा में पहुँचना, कक्षा में शिक्षण से असम्बंधित कार्य अथवा बातें न करना, विद्यालय भवन में इधर-उधर न घूमना और शोर न करना, विद्यालय भवन को स्वच्छ रखना आदि बातें अनुशासन के अन्तर्गत हैं। यह अनुशासन जितना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक है, उतना ही अध्यापकों के लिए। प्रायः यह देखा जाता है कि खाली घंटों में विद्यार्थी संस्था के परिसर में इधर-उधर घूमते, खेलते अथवा शोर मचाते रहते हैं। बहुत-से विद्यार्थी तो कक्षा छोड़कर निकल जाते हैं। इसका विद्यालय के जीवन पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति के लिए अनुशासित जीवन अच्छा है, उसी प्रकार एक शिक्षा-संस्था के लिए अनुशासित वातावरण अच्छा है। यह दुःख की बात है कि बहुत कम शिक्षा-संस्थाओं में इस ओर ध्यान दिया जाता है। विद्यार्थी-जीवन में जिस प्रकार के अनुशासन का स्वभाव पड़ जायेगा उसी प्रकार का उसका भावी जीवन बनेगा और उसका सारे राष्ट्र के जीवन पर प्रभाव पड़ेगा। हम देखते हैं और प्रायः सुना करते हैं कि अमुक देश के वासियों का जीवन बड़ा अनुशासनपूर्ण है और अमुक देश के नागरिकों को अनुशासन का ज्ञान नहीं।

मैंने सदा ही अनुशासन पर उचित बल दिया है। अनुशासन भंग करने वाले अध्यापकों अथवा विद्यार्थियों को सदा ही चेतावनी दी है। इसका परिणाम यह हुआ कि जनता ने संस्था को अनुशासन के लिए सदा सराहा। मुझे स्मरण है कि एक दिन डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ में इलाहाबाद के एक बड़े कालेज के, जो प्रदेश के सबसे अधिक विख्यात कालेजों में एक है, उप-प्रधानाचार्य मुझसे मिलने आये। कालेज के परिसर में मेरा कार्यालय मुख्य द्वार से लगभग साठ मीटर पर था, मार्ग के दोनों ओर खेल मैदान थे। मेरे कमरे में आकर उस सज्जन ने पूछा, आज छुट्टी क्यों है? मैंने कहा—छुट्टी नहीं है। उस समय कालेज में छोटे-बड़े कुल मिलाकर लगभग दो हजार विद्यार्थी पढ़ रहे थे। उन्होंने देखा कि कालेज में सन्नाटा था और एक भी विद्यार्थी बरामदों में अथवा मैदानों में नहीं था। उन्हें आश्चर्य हुआ और मुझे हर्ष। प्रायः संस्थाओं में इसके विपरीत दृश्य होते हैं।

अध्यापक और विद्यार्थी को विद्यालय के बाहर, घरों में, मार्गों पर और सभाओं आदि में भी अनुशासन का ध्यान रखना चाहिए। उदाहरण के लिए, मैंने अपने विद्यार्थियों को यह निर्देश दे रखा था कि यदि बाजार में कोई विद्यार्थी साइकिल पर जा रहा हो और सामने से उसका कोई अध्यापक अथवा पूज्य जन आ जाये तो विद्यार्थी को साइकिल पर से उतरकर, खड़े होकर, दोनों हाथ जोड़कर नमस्ते करनी चाहिए। साईकिल पर चढ़े हुए ही एक हाथ उठाकर और चिल्लाकर नमस्ते कर देना उचित नहीं।

मैं तीन स्थानों—देहरादून, लखनऊ और बड़ौत में शिक्षा-संस्थाओं में रहा। देहरादून

की चाय प्रसिद्ध है, लखनऊ के पान प्रसिद्ध हैं और बड़ौत में हुक्का प्रसिद्ध है।

मैं देहरादून में जब तक रहा, चाय से दूर रहा। लखनऊ में रह कर भी पान का शौक नहीं किया और बड़ौत में चौधरियों के हुक्के से तो मेरा कोई सम्बन्ध हो ही कैसे सकता था? तीनों स्थानों पर रह कर तीनों की प्रसिद्ध चीजों से दूर रहना, जहाँ मेरे सात्विक जीवन का कारण था, वहीं एक अध्यापक होने के नाते मैं विद्यार्थियों के सम्मुख एक आदर्श प्रस्तुत करना चाहता था।

शिक्षा-संस्था में धर्म (नैतिक) शिक्षा का महत्व

यह सभी अनुभव करते हैं कि शिक्षा-संस्थाओं में धर्म अथवा नैतिकता की शिक्षा का अवश्य प्रबंध होना चाहिए। मैं अपने विद्यार्थी-जीवन से इस बात को बराबर सुनता और पढ़ता आया हूँ। अनेकों शिक्षा सम्मेलनों, दीक्षान्त समारोहों, आयोगों के वृत्तांतों, संस्थाओं के समारोहों आदि में अनेकों बार इसकी अनिवार्य आवश्यकता के संबंध में सुना, परंतु इस संबंध में अभी तक कुछ नहीं किया गया।

प्रायः संस्थाओं के प्रबंधक और प्रधानाचार्य यह कहा करते हैं कि संस्था के समय-विभाग में धर्मशिक्षा के लिए प्रबंध करना असंभव नहीं तो कष्टसाध्य अवश्य है। कहीं-कहीं कहा जाता है कि धर्मशिक्षा के अध्यापक के लिए सरकार किसी प्रकार का अनुदान नहीं देती। मेरी सम्मति में इन युक्तियों में कोई तत्व नहीं है। मैं कई संस्थाओं को जानता हूँ, जहाँ इन बाधाओं के होते हुए भी धर्मशिक्षा का संतोषप्रद प्रबंध है। मैं भी सदा इसके शिक्षण का प्रबंधकर्ता रहा हूँ। आवश्यकता इस बात की है कि मन से इसकी आवश्यकता और लाभ का अनुभव किया जाये।

एक बार आगरा यूनिवर्सिटी ने यह निर्देश निकाला कि 'उससे संबद्ध स्नातक और स्नातकोत्तर कालेजों में कुछ समय के लिए सामूहिक अध्यात्म चिंतन का प्रबंध होना चाहिए।' मुझे इससे बड़ा सहारा मिला और मैंने बड़ौत के स्नातकोत्तर कालेज में यह कार्य एकदम आरंभ कर दिया और जब तक मैं वहाँ रहा, यह नियमित रूप से चलता रहा।

शिक्षा-संस्था का विकास

संस्था की आत्मा—अध्यापन, अनुशासन आदि—की उन्नति के साथ-साथ उसके शरीर की उन्नति भी आवश्यक है। शरीर से मेरा अभिप्राय विद्यार्थियों की संख्या, भवन-निर्माण आदि से है। मैंने सदा ही इन दोनों बातों की ओर बहुत ध्यान दिया है। छात्रों की संख्या में वृद्धि से संस्था का महत्व बढ़ता है और उसकी आय में भी वृद्धि होती है, जिससे संस्था के विकास में बहुत सहायता मिलती है। सरकार से अनुदान प्राप्त करने वाली स्वैच्छिक संस्थाओं के लिए तो यह बहुत महत्वपूर्ण है। सरकारी संस्थाओं में तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वहाँ तो प्रायः यही सोचा जाता है कि संख्या जितनी कम हो उतना ही अच्छा है, क्योंकि वहाँ आय बढ़ने की चिंता नहीं होती।

डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ में जब मैं पहुँचा तो छात्रों की संख्या लगभग ६०० थी और जब मैंने उसे छोड़ा तब लगभग २५०० थी। बड़ौत में जब मैं पहुँचा, तब कालेज में छात्रों की संख्या २१२ थी और जब मैंने वहाँ से विदा ली तब १०३२ थी। इस संख्या-वृद्धि से संस्थाओं

की आय में वृद्धि हुई, अध्यापकों की संख्या बढ़ी और भवन-निर्माण आदि में वृद्धि हुई। कन्या गुरुकुल, हाथरस में १९६३ में ब्रह्मचारिणियों की संख्या ११६ थी और इस समय ३५० से अधिक है। गुरुकुल का आय-व्ययक उस समय ५३०० रुपये था अब बढ़कर सात-आठ लाख से अधिक हो गया है और गत सोलह वर्षों में लगभग आठ लाख रुपये के भवनों का निर्माण हुआ है। इस विकास ने इस गुरुकुल को भारत के प्रथम श्रेणी के गुरुकुलों की पंक्ति में पहुँचा दिया है।

इस विकास के साथ-साथ इस बात का पूरा ध्यान रखना आवश्यक है कि संस्था के शिक्षण, अनुशासन, प्रयोगशालाओं की साज-सज्जा, क्रीड़ा के स्तर आदि में किंचिन्मात्र भी कमी न आने पाये।

शिक्षा-संस्थाओं द्वारा जन-संपर्क

शिक्षा-संस्थाओं से जनता को अनेक सार्वजनिक लाभ पहुँचाए जा सकते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि शिक्षा-संस्थाएँ अधिक-से-अधिक जन-संपर्क में रहें और ऐसी योजनाएँ बनाती रहें, जिनसे सार्वजनिक जीवन का लाभ हो।

जिस प्रकार एक कृषि विद्यालय के लिए यह आवश्यक है कि कृषि संबंधी लाभदायक बातों की जानकारी कृषकों को देता रहे जिससे कृषि के उत्पादनों में वृद्धि हो सके, उसी प्रकार अन्य विद्यालय भी ऐसे अनेक आयोजन कर सकते हैं जिनसे जनता के दैनिक जीवन को लाभ हो। यदि विद्यार्थी और अध्यापक समय-समय पर नगर में शोभायात्रा निकालकर अथवा अन्य प्रकार से 'अपने मकानों और नगर को स्वच्छ रखिये', 'सड़क पर न तो थूकिये, न कूड़ा डालिये और न फलों के छिलके आदि डालिये', 'सार्वजनिक मार्ग पर खड़े होकर यातायात में गतिरोध उत्पन्न न कीजिये', 'बागों में फूल न तोड़िये', 'सार्वजनिक वितरण के स्थान पर पंक्ति बनाकर (क्यू में) खड़े होइये' आदि नारों से जनता में अभिलषित चेतना उत्पन्न करें तो जनता में जागृति उत्पन्न होती है और संस्था का गौरव भी बढ़ता है।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उन कार्यों में सक्रिय भाग लेना है, जो राष्ट्र की उन्नति के लिए किये जाते हैं। उदाहरणार्थ—हरिजनों अथवा पिछड़े वर्गों के उद्धार के कार्य, प्रौढ़ शिक्षा आदि। मेरा अपना अनुभव है कि ऐसे कार्यों में जितना अधिक सहयोग शिक्षा-संस्थाएँ दे सकती हैं, उतना अन्य वर्ग नहीं। कुछ विश्वविद्यालयों ने इस प्रकार की सामाजिक सेवाओं को करने के लिए 'राष्ट्रीय सेवा योजना शिविर' नाम से कुछ कार्यक्रम निर्धारित किये हैं, यह एक अच्छा कदम है।

छात्र-सभाओं का नाम स्टूडेंट्स यूनियन नहीं

विद्यार्थियों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति, वक्तृत्व शक्ति और संगठन करने की योग्यता आदि के विकास के लिए विद्यालयों में छात्र-सभाएँ होना आवश्यक है, परंतु मेरी यह दृढ़ धारणा रही है कि इन सभाओं का नाम 'स्टूडेंट्स यूनियन' नहीं होना चाहिए। यूनियन के नाम से विद्यार्थियों में अपनी बातों को मनवाने के लिए, जोर देने के लिए, हड़ताल करने, उद्दंडतापूर्ण व्यवहार करने और अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन न करने आदि की उन भावनाओं का उदय होता है, जो श्रमिकों की यूनियनों (लेबर यूनियन्स) में होती हैं। श्रमिक यूनियनों में इन भावनाओं की उत्पत्ति साम्यवाद की उत्पत्ति और प्रचार से हुई। मुझे स्मरण है कि आज से चालीस-पचास

वर्ष पहले श्रमिकों की हड़ताल एक अनसुनी बात थी; 'धरना' का तो नाम भी न था। साम्यवाद के प्रभाव के बढ़ने के साथ-साथ इन भावनाओं की अत्यधिक वृद्धि हो गयी है, जिससे राष्ट्र के उत्पादनों पर अत्यधिक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। मेरे मत में सभा के नाम का विद्यार्थियों की भावनाओं पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसको दृष्टि में रखते हुए मैंने सदा यह प्रयत्न किया कि विद्यार्थियों की सभाओं का नाम कुमार-सभा, छात्र-सभा, विद्यार्थी-सभा, विद्यार्थी-परिषद् जैसा कोई भी रखा जा सकता है, परंतु उसमें 'यूनियन' शब्द नहीं आना चाहिए और मैंने अपने प्रिंसिपल काल में इस बात का ध्यान रखा।

लगभग दस साल पूर्व भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने छात्रों में असंतोष, अनुशासनहीनता, निराशा आदि के कारणों का पता लगाने और उनके उपचारों की संस्तुति करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया था। उस कमीशन की संस्तुति में एक संस्तुति यह थी कि शिक्षा-संस्थाओं में विद्यार्थियों की सभाओं का नाम यूनियन नहीं होना चाहिए, इसे देखकर मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक था।

इसके कुछ वर्ष बाद उत्तर प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री माननीय चौ० चरणसिंहजी ने एक आदेश निकाला था कि शिक्षा-संस्थाओं और विशेषकर विश्वविद्यालयों में छात्र-सभाओं के नाम में 'यूनियन' शब्द नहीं होना चाहिए। इसे देखकर मुझे बहुत हर्ष हुआ था और उनको मैंने बधाई का पत्र लिखा था।

छात्र-सभाओं पर कठोर नियन्त्रण न रखने के कारण शिक्षा-संस्थाओं के जीवन में अन्य बुराइयाँ जन्म ले लेती हैं, जिनका संस्था के अनुशासन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अनेक विद्यार्थी प्रत्याशी अपने-अपने निर्वाचनों में सहस्रों रुपयों का अपव्यय करते हैं, घूस एवं मदिरा-पान आदि का उपयोग किया जाता है। स्पष्ट है कि सफल होने वाले अनेक प्रत्याशी इस व्यय को अनुचित रीति से छात्र-सभाओं के कोष से पूरा करते हैं। अनेक स्थानों पर विरोधियों को भयभीत करने के लिए बाहर के अवांछनीय तत्वों की शरण ली जाती है। नगर-भर के अच्छे भवनों को चुनाव संबंधी नारों से चीत-पोत दिया जाता है। इसलिए छात्र-सभाओं पर नियन्त्रण रखने के साथ-साथ उनके निर्वाचन के समय अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता है। मैंने इस दिशा में बराबर प्रयत्न किया और सफलता भी प्राप्त की।

अन्य संस्थाओं से निकाले गये छात्रों के प्रवेश

मेरी यह मान्यता रही है कि अनुशासनहीनता के कारण किसी संस्था से निकाले गये छात्र का अन्य संस्था में प्रवेशकर उसे सुधारने का यत्न करना चाहिए। यह न समझना चाहिए कि वह छात्र सुधर ही नहीं सकता। बहुत संभव है कि बदली हुई परिस्थितियों में उस छात्र के जीवन में परिवर्तन आ जाये। मैं अपने साथियों से कहा करता था—अच्छे छात्र को अच्छा बनाने में क्या श्रेय है, प्रशंसा तो तब है जब बिगड़े हुए छात्र को सुधारा जाये।

मुझे स्मरण है, मैंने इस प्रकार के कई छात्रों का अपने कालेज में प्रवेश किया था। एक बार तो एक छात्र था, जो अपनी अनुशासनहीनता के लिए अत्यधिक बदनाम था, जिला विद्यालय निरीक्षक और अपने अध्यापकों के मना करने पर भी मैंने अपने कालेज में प्रवेश कर लिया था। इस कार्य में कभी तो मुझे सफलता मिली और कभी असफलता, फिर भी मैंने अपनी इस मान्यता को बदला नहीं।

अध्यापक की आचार-संहिता

मैंने यह सदा अनुभव किया है कि कुछ ऐसी महत्वपूर्ण बातें हैं, जिनका प्रत्येक अध्यापक को पालन करना चाहिए। इन्हीं बातों को अध्यापक की आचार-संहिता नाम दिया जा सकता है।

इसके अन्तर्गत सबसे पहली बात अध्यापक के व्यवसाय में पूरी आस्था होना है। दूसरी बात कर्तव्यपालन की है। इसके अतिरिक्त स्वभाषा, स्वसंस्कृति, स्वसभ्यता, स्ववेश, स्वदेश, स्वधर्म के प्रति आस्था और उनके प्रति कर्तव्यपालन की भावना भी होनी चाहिए।

आचार-संहिता से सम्बन्धित अन्य बातों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) अध्यापन सम्बन्धी।

(२) अनुशासन सम्बन्धी।

अध्यापन सम्बन्धी

(१) कक्षाओं में पढ़ाये जाने वाले पाठों को पहले से पूरी तरह तैयार कर लेना चाहिए, चाहे वे पाठ बहुत ही सरल और छोटी-से-छोटी कक्षाओं में पढ़ाने हों।

(२) पाठ्यक्रम से सम्बन्धित विषयों के गृहकार्यों को पूरी संख्या में और नियमित रूप से कराना चाहिए। साथ ही उनका शोधन कार्य पूरी तरह अत्यधिक सावधानी से करना चाहिए।

(३) अध्यापक को अपने ज्ञानवर्धन के लिए स्वाध्याय की आदत डालनी चाहिए। यह सोचना भूल होगी कि स्नातक अथवा स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद अब और कुछ जानने को नहीं रहा।

(४) कक्षा में यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक विद्यार्थी कक्षा में जागरूक हो और अध्यापन का ठीक प्रकार से अनुसरण कर रहा हो। इसकी जाँच के लिए जब-तब विद्यार्थियों से पूछताछ करनी चाहिए।

(५) मासिक, षटमासिक, वार्षिक परीक्षाओं से प्रश्नपत्रों का निर्माण, उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच, परिणाम-पत्र तैयार करने एवं जाँच करने का कार्य अत्यन्त सावधानी से करना चाहिए।

अनुशासन सम्बन्धी

(१) सबसे प्रथम बात समय पालन की है। विद्यालय में और कक्षा में ठीक समय पर पहुँच जाना और समय पूरा होने से पहले वहाँ से न जाना। इसमें एक पल का भी विलम्ब न होना चाहिए। अध्यापन के अतिरिक्त अन्य जो शिक्षणेतर कार्य करने को कहे जाएँ, उनके सम्बन्ध में भी समय का पालन करना।

(२) रहन-सहन पर पूरा ध्यान रखना। इसमें उठना-बैठना, चलना-फिरना, बात करना आदि बातें सम्मिलित हैं। विद्यालय में और बाहर भी इन सब बातों में पूरा सावधान रहना चाहिए, क्योंकि इनकी अच्छाई और बुराई का विद्यार्थियों पर अनुकूल अथवा प्रतिकूल प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। विद्यार्थी के भावी स्वभाव के निर्माण

में अध्यापक के स्वभाव का बड़ा महत्व है।

अध्यापक को अपनी वेश-भूषा पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिए। वह सीधी-सादी और साफ-सुथरी होनी चाहिए। उसे चटकीली और कृत्रिम वेशभूषा से एकदम बचकर रहना चाहिए। अध्यापक का आदर्श 'सादा जीवन उच्च विचार' होना चाहिए।

अनेक अध्यापकों को धूम्रपान की आदत पड़ जाती है। सबसे अच्छा तो यह है कि इस आदत को एकदम छोड़ दिया जाये। यह सोचना भूल है कि एक बार पड़ी हुई आदत छूट नहीं सकती। इच्छा-शक्ति दृढ़ होने पर कोई भी आदत छोड़ी अथवा डाली जा सकती है। यदि यह बुरी आदत किसी प्रकार भी न छोड़ी जा सके तो कम-से-कम विद्यालय में और सार्वजनिक स्थानों पर भूलकर भी धूम्रपान न करना चाहिए।

(३) शिक्षणेतर कार्यों में पूरी रुचि लेनी चाहिए। वक्तृत्वकला, क्रीड़ा आदि का विद्यार्थी के जीवन में विशेष महत्व है। यदि अध्यापक उनमें पूरी रुचि नहीं लेता तो विद्यार्थी भी उनमें रुचि न लेगा और वह उनसे होने वाले लाभों से वंचित रह जायेगा।

(४) प्रायः देखा जाता है कि अध्यापक अपने से सीधे सम्बन्धित कार्य के अतिरिक्त अन्य बातों पर ध्यान नहीं देते। यदि उसकी कक्षा से भिन्न किसी अन्य कक्षा में शोर हो रहा है तो वह उसकी ओर से एकदम उदासीन रहता है। यदि विद्यालय के प्रांगण में अथवा बाहर कोई विद्यार्थी अनुशासनहीनता का काम कर रहा है तो अध्यापक यह सोचकर कि वह मेरी कक्षा का विद्यार्थी नहीं है, उसको अनदेखा कर देता है। ऐसा करना ठीक नहीं। विद्यालय का अनुशासन बनाये रखने में अध्यापक को पूरा सहयोग देना चाहिए।

विद्यार्थी की आचार-संहिता

प्रत्येक विद्यार्थी को सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि विद्यार्थी-जीवन उसके जीवन-निर्माण का काल है। जब तक विद्यार्थी इसे समझने लायक नहीं होता, उसके अभिभावकों को इसका ध्यान रखना चाहिए।

शिक्षा की एक परिभाषा है—जिससे शिक्षार्थी की आत्मा, मस्तिष्क और शरीर तीनों का विकास हो। 'ब्रह्मचारी' शब्द का भी यही अभिप्राय है। 'ब्रह्म' शब्द के तीन मुख्य अर्थ हैं—ईश्वर, ज्ञान और वीर्य। इन तीनों का सम्बन्ध क्रमशः आत्मा, मस्तिष्क और शरीर से है। इसके अनुसार विद्यार्थी के अभिभावकों, अध्यापकों और विद्यार्थी को इन तीनों के विकास पर पूरा ध्यान रखना चाहिए, ज्ञान में वृद्धि होनी चाहिए और शरीर स्वस्थ होना चाहिए। यह सोचना नितान्त भूल है कि विद्यार्थी-जीवन केवल पढ़ने-लिखने के लिए है।

प्राचीनकाल में भारत में ब्रह्मचर्य आश्रम (विद्यार्थी-जीवन) के बहुत कड़े नियम थे। यह तो सम्भव नहीं कि आजकल के विद्यार्थी उन सब नियमों का पूरी तरह पालन कर सकें, फिर भी उन नियमों का अधिक-से-अधिक पालन करना आवश्यक और सम्भव है, केवल दृढ़ इच्छा-शक्ति की आवश्यकता है।

आत्मिक उन्नति

(१) आत्मिक उन्नति के लिए आस्तिकता—परमात्मा के अस्तित्व में और उसकी शक्ति में विश्वास।

(२) सत्य का मन, वचन और कर्म से पालन।

(३) मन को बाहरी प्रलोभनों से रोकना। विचारों पर बुरा प्रभाव डालने वाली बातों को न तो देखना, न सुनना और न कहना।

(४) जीवन को अधिक-से-अधिक तपोमय, कष्ट सहिष्णु, सीधा-सादा बनाना। वेश-भूषा सीधी-सादी, पर साफ-सुथरी रखनी।

(५) सतोगुणी, सात्विक भोजन करना, न कि चटपटा (रजोगुणी अथवा तमोगुणी)।

मस्तिष्क का विकास अथवा ज्ञान-अर्जन

(१) पाठ्यक्रम में निर्धारित विषयों और पुस्तकों का नियमित रूप से अध्ययन।

(२) स्वाध्याय का स्वभाव डालना अर्थात् ज्ञानवृद्धि के लिए पाठ्येतर अच्छी पुस्तकें, समाचार पत्रादि का नियमित रूप से पठन।

(३) रजोगुण और तमोगुण को बढ़ावा देने वाली कहानियों, उपन्यास आदि को न पढ़ना।

(४) समय-समय पर होने वाले विद्वानों तथा आदर्श पुरुषों के विचारों को सुनना और उनसे प्रेरणा लेना।

(५) गृहकार्यों को नियमपूर्वक पूरी तरह करना।

(६) परीक्षाओं में अनुचित साधनों का उपयोग करने की चेष्टा न करना।

शारीरिक विकास

मनुष्य जीवन में स्वास्थ्य का बड़ा महत्व है। अस्वस्थ व्यक्ति के आत्मा, मन, शरीर सब गिरे रहते हैं। उसे किसी काम के करने में प्रसन्नता नहीं होती। अस्वस्थता से जीवन एक बोझ-सा हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—'**धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्।**' इसलिए विद्यार्थी-जीवन से ही स्वास्थ्य अच्छा रखने का यत्न करना चाहिए। इसके लिए निम्न-लिखित कार्य करने चाहिए :

(१) व्यायाम नियमपूर्वक करना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि व्यायाम अधिक और लम्बे समय तक किया जाये। इसकी अपेक्षा हलका और थोड़े समय तक किया गया व्यायाम अधिक अच्छा रहेगा। सबसे अधिक आवश्यक बात नियमपूर्वक व्यायाम करना है।

विद्यालय में होने वाली क्रीड़ाओं में भी अधिक-से-अधिक रुचि लेनी चाहिए।

(२) अच्छे स्वास्थ्य के लिए दूसरी आवश्यक बात अच्छे भोजन की है। भोजन चटपटा न होकर सीधा-सादा, स्वास्थ्यप्रद होना चाहिए।

(३) दिनचर्या का, विशेषकर प्रातः जल्दी उठने और रात्रि में समय पर सोने का स्वभाव डालना चाहिए। ब्रह्मचारी के लिए '**ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत**' का आदेश है। इस प्रकरण में वेद का यह वाक्य बहुत महत्वपूर्ण है—'**उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे।**' अर्थात्

जिस प्रकार उदय होता हुआ सूर्य उस समय सोने वाले व्यक्तियों के तेज को हर लेता है, उसी प्रकार मैं अपने शत्रु के तेज को हर लूं।

(४) ब्रह्मचर्य का दृढ़ता से पालन।

इनके अतिरिक्त विद्यार्थियों को निम्नस्थ सामान्य बातों का ध्यान रखना चाहिए :

(१) समय-पालन—ठीक समय पर विद्यालय में और कक्षा में पहुँचना, और समय समाप्त होने से एक मिनट पूर्व भी वहाँ से न जाना।

(२) कक्षाओं में नियमित रूप से उपस्थित रहना। कभी-कभी विद्यार्थी कक्षाओं को छोड़कर नगर में चलचित्र आदि देखने के लिए चले जाते हैं। यह अत्यन्त अनुचित है।

(३) विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक विनयशील होना चाहिए। माता-पिता आदि पूज्य जनों और गुरुजनों का उचित रीति से अभिवादन और आदर करना चाहिए।

(४) पूज्य जनों और असहायों की सेवा करने का स्वभाव बनाना चाहिए।

(५) शरीर एवं वस्त्रादि की स्वच्छता पर पूरा ध्यान देना चाहिए। स्वच्छता का मन, बुद्धि, आत्मा और शरीर पर प्रभाव पड़ता है।

(६) विद्यालय के प्रांगण में किसी भी प्रकार की गन्दगी (फटे कागज फेंकने आदि की) न करनी चाहिए। इस बात का घर पर और नगर के मार्ग आदि पर भी ध्यान रखना चाहिए।

(७) विद्यार्थी को सदा अच्छे साथियों की संगति करनी चाहिए। संगति का आचार-विचार, रहन-सहन पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिए इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मित्र बनाने और साथी चुनने में सतर्क रहना चाहिए।

(८) विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक कष्टसहिष्णु होना चाहिए। सुखार्थी विद्यार्थी जीवन के नियमों का पालन नहीं कर सकता—'**सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतः सुखम्**' एक अनुभवपूर्ण सत्य है।

(९) विद्यार्थियों को अपनी असुविधाओं को दूर करने अथवा तथाकथित अधिकारों की प्राप्ति के लिए हड़ताल का सहारा कभी नहीं लेना चाहिए। हड़ताल से विद्यालय के अनुशासन को कभी न सँभलने वाला बड़ा धक्का लगता है।

अभिभावकों का उत्तरदायित्त्व

बालक के निर्माण में माता-पिता का विशेष हाथ होता है। वास्तविकता तो यह है कि बालक के शैशव काल में माता-पिता उसका जैसा स्वास्थ्य बना देते हैं और जिस प्रकार की उसकी आदतें डाल देते हैं, वे प्रायः जन्म-भर उसके साथ रहती हैं। इसीलिए यह कहा गया कि '**मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद।**' परन्तु बहुत कम माता-पिता ऐसे होते हैं जो इस सम्बन्ध में अपने उत्तरदायित्त्व का ध्यान रखते हैं और जब बालक विद्यालय जाने लगता है तब तो माता-पिता उसकी तरफ से प्रायः एकदम उदासीन हो जाते हैं। वे सोचने लगते हैं कि बालक को विद्यालय भेजने के बाद उनके कर्तव्य की इतिश्री हो गयी, परन्तु यह धारणा ठीक नहीं। बालक के विद्यार्थी-जीवन में उसे ठीक रखने के लिए बालक के अभिभावक और उसके गुरु दोनों का मिला-जुला प्रयास होना चाहिए।

अधिकतर अभिभावक ऐसे होते हैं कि वे अपने बालक के विद्यालय में वर्ष में केवल दो बार जाते हैं—एक तो उसके प्रवेश के समय और दूसरे उसकी वार्षिक परीक्षा के परिणाम के समय। ऐसे अभिभावकों की संख्या और भी अधिक है जो इन दोनों अवसरों पर भी विद्यालय नहीं जाते, यह ठीक नहीं। अभिभावक को विद्यालय के प्रधान-अध्यापक और बालक के अध्यापक से बराबर सम्पर्क रखना चाहिए। बालक की अध्ययन सम्बन्धी प्रगति, विद्यालय में नियमित उपस्थिति और चाल-चलन के बारे में उनसे बराबर पूछताछ करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त घर पर भी दिन-रात में कम-से-कम दस-पन्द्रह मिनट बालक की पढ़ाई से सम्बन्धित प्रगति के देखने के लिए निकालने चाहिए। बालक ने विद्यालय में क्या पढ़ा, गृहकार्य ठीक किया अथवा नहीं, विद्यालय में कोई विशेष घटना तो नहीं हुई—इसकी जानकारी कर लेनी चाहिए। इसका बालक के निर्माण में बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। इसलिए ऐसा करना परम आवश्यक है।

बालक के प्रति उदासीन रहने के कारण अधिकतर अभिभावकों को बालकों की बुरी आदतों और भूलों का ज्ञान नहीं होता। उन्हें यह नहीं पता लगता कि उनका बालक धूम्रपान करने लग गया है; बस्ता लेकर घर से चला जाता है, परन्तु विद्यालय न पहुँचकर इधर-उधर घूमता रहता है; शुल्क के लिए प्राप्त धन को विद्यालय में न देकर उसका इधर-उधर अपव्यय कर देता है; झूठा परीक्षा-परिणाम बनाकर माता-पिता को धोखा देता रहता है। इस प्रकार की अनेक बातें जब-तब मेरे अनुभव में आती रही हैं। इसलिए अभिभावक को इस ओर विशेष रूप से सतर्क रहना चाहिए।

अनेक अभिभावक स्वयं अनुचित बातों के शिकार हो जाते हैं, उनकी इन बातों का स्वाभाविक रूप से बालक पर बुरा प्रभाव पड़ता है। धूम्रपान करने वाले अभिभावक का बालक कठिनता से ही धूम्रपान की बुरी आदत से बच सकेगा।

बालक की दृष्टि बड़ी पैनी होती है। एक बार गुरुकुल में एक पाँच-छः वर्ष की कन्या प्रविष्ट हुई। उसने अपने साथ की कन्याओं से कहा कि मुझे मेरे पिताजी ने यहाँ इसलिए भेज दिया है कि जब वे दोनों सिनेमा देखने जाते हैं तो मेरा प्रबन्ध करने में असुविधा होती है। मनुष्य का स्वभाव है कि उसका मन त्रुटियों की ओर विशेष रूप से जाता है और उन्हें करने के लिए आसानी से तैयार हो जाता है। बहुत से बालक अपने अभिभावकों और पड़ोसियों से ही गाली देना, चोरी करना और छिपाकर कोई अनुचित काम करना सीख जाते हैं।

इस सम्बन्ध में मुझे एक घटना याद आ गयी। एक दिन किसी सार्वजनिक स्थान पर एक व्यक्ति ने अपने साथी को बहुत बुरी गाली दी। पास में ऐक अँग्रेज खड़ा हुआ था और उसकी पत्नी तथा उसके बच्चे उसके साथ थे। उस अँग्रेज ने गाली सुनते ही, आगा-पीछा न देखकर, गाली देने वाले के गाल पर थप्पड़ जमा दिया और कहा कि तुम्हारी यह गाली मेरे बच्चों के कानों में पड़ गयी है। यदि इन्होंने इसे सीख लिया तो कितना अनर्थ होगा। बालकों के शुभचिंतकों को इसी प्रकार सतर्क रहने की आवश्यकता है।

सार्वजनिक नेताओं का कर्तव्य

एक और वर्ग है जिसकी गतिविधियों का विद्यार्थियों, विशेषकर महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वह है राजनैतिक कार्यकर्ताओं का वर्ग। अधिकतर राजनैतिक नेता अपनी सफलता के लिए विद्यार्थियों का सहारा लेते हैं, क्योंकि

उन्हें अपनी मनोरथ-सिद्धि के लिए एक अच्छा सहयोगी वर्ग मिल जाता है। वे इस बात की तनिक भी परवाह न करके कि उनके इस कार्य का विद्यार्थी की पढ़ाई, अनुशासन और रहन-सहन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, अनेक राजनैतिक नेताओं ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए स्थान-स्थान पर शिक्षा-संस्थाओं पर अधिकार कर रखा है। वे जब चाहते हैं विद्यार्थियों को बहका कर उत्पात खड़ा कर देते हैं। इस समय अपने देश में यह व्याधि बहुत अधिक बढ़ गयी है। अब तो छात्रों की सभाओं के निर्वाचन भी राजनैतिक दलों के आधार पर होते हैं। हड़ताल करना, घिराव करना और इस प्रकार के अन्य अनुशासन-हीनता के कार्य करना विद्यार्थी इन्हीं राजनैतिक नेताओं से सीखते हैं। स्वार्थ में मदान्ध नेता विद्यार्थी के भावी जीवन का तनिक भी विचार नहीं करते। एक और विडम्बना है—कहते सब यही हैं कि विद्यार्थी को विद्यार्थी-जीवन में केवल पढ़ाई और अपने निर्माण पर ध्यान देना चाहिए, दलों के कीचड़ में नहीं फँसना चाहिए, परन्तु करते इसके विरुद्ध हैं।

शासन का कर्तव्य

देश के शासकों का भी विद्यार्थियों के प्रति बड़ा उत्तरदायित्व है। 'यथा राजा तथा प्रजा'—एक पुरानी और अनुभवपूर्ण कहावत है। शासकों के चरित्र, क्रिया-कलापों, मान्यताओं और नियमों का विद्यार्थी जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह दुःख की बात है कि अन्य वर्गों की तरह यह वर्ग भी विद्यार्थियों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक नहीं रहता। एक उदाहरण हमारे अभिप्राय को स्पष्ट कर देगा। एक बार मैंने एक माननीय शिक्षा-मंत्रीजी से कहा कि विद्यालयों के समय में होने वाले सिनेमाओं के मैटिनी शो बंद हो जाने चाहिए, क्योंकि अनेक विद्यार्थी कक्षाओं को छोड़कर इन फिल्मों को देखने के लिए चले जाते हैं। दूसरे, मैंने उनसे यह भी कहा कि फिल्मों में अश्लीलतापूर्ण दृश्य, गंदे गाने, चोरी और हत्या जैसे विनाशकारी दृश्यों का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। उनका उत्तर था कि यह विषय केन्द्रीय शासन का है, प्रदेशीय शासन का नहीं। मैं अवाक् रह गया।

देश में अशिक्षित नर-नारियों की बड़ी संख्या बताती है कि इस सम्बन्ध में शासक वर्ग ने अपना कर्तव्य पूरा नहीं किया। सब देशवासियों की उचित शिक्षा का प्रबन्ध और विद्यार्थियों के चरित्र का निर्माण शासक के मुख्य कर्तव्यों में से एक है।

स्वास्थ्य संबंधी प्रयोग

विद्यार्थी-काल में मेरा स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था, जिसका प्रमुख कारण स्वास्थ्य संबंधी नियमों का पालन न करना था। एक कारण अम्माजी के वंश की अनुक्रमिक अस्वस्थता भी था, फिर भी मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि मैंने स्वास्थ्य पर ध्यान दिया होता तो उस पर विजय पा लेता। मुझे स्मरण है कि पिताजी प्रातः-सायं भ्रमण करने के लिए कहा करते थे, पर मैं सुनी-अनसुनी कर देता था। अपनी असावधानी के कारण मैं कई बार गम्भीर बीमारियों का शिकार भी रहा। ३१ वर्ष की आयु में मुझे गम्भीर आंतरिक ज्वर हुआ। अच्छा होने पर मेरे मन में नियमित रूप से व्यायाम और प्राणायाम करने की भावना जागृत हुई। फिर तो मुझे व्यायाम में बड़ा आनन्द आने लगा। मैं व्यायाम के समय की उत्सुकता से प्रतीक्षा करता था। रोगी होने के दिनों को छोड़कर मुझे स्मरण नहीं कि मैंने किस दिन व्यायाम नहीं किया था। कभी-कभी तो

सुविधा होने पर मैंने रेल में भी व्यायाम किया।

ब्रह्मचर्य-आश्रम अथवा गृहस्थाश्रम में व्यायाम को साध्य न मानकर साधन मात्र मानना चाहिए, अर्थात् व्यायाम केवल परिमित मात्रा में करना चाहिए। शक्ति से अधिक व्यायाम का मस्तिष्क पर अवांछनीय प्रभाव पड़ सकता है। इस सम्बन्ध में सबसे अधिक आवश्यक बात व्यायाम को नियमित रूप से करने की है। उसके करने में एक दिन का भी व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए।

युवा-अवस्था में घूमना मेरी समझ में व्यायाम का स्थान नहीं ले सकता। वह तो बड़ी उम्र वालों के लिए ही अधिक हितकर है।

अच्छे स्वास्थ्य के लिए दूसरी आवश्यक बात आहार-सम्बन्धी है। आहार कम और नियमित समय पर करना चाहिए। मैंने सदा ही कुछ भी खा लेने के बाद कम-से-कम तीन घंटे तक कुछ भी न खाने के नियम का दृढ़ता से पालन किया है।

भोजन सात्विक और स्वास्थ्यकर होना चाहिए। दूध, दही और फलों का सेवन प्रति-दिन करना चाहिए।

आर्यसमाज का भावी कार्यक्रम

आर्यसमाज के कार्यों में शिथिलता देखकर आर्यसमाज-प्रेमी प्रायः आर्यसमाज के भावी कार्यक्रम की चर्चा करते रहते हैं। अनेक सज्जनों की यह धारणा है कि बदली हुई परिस्थितियों में आर्यसमाज को भी अपने कार्यक्रम में उचित परिवर्तन कर देना चाहिए। परन्तु उन परिवर्तनों की कोई स्पष्ट रूपरेखा अभी तक जनता के सामने नहीं आयी। कुछ का कहना यह है कि आर्य-समाज के प्रचार में उग्रता और अन्य धर्मों की आलोचना कम होनी चाहिए। ऐसी कोई बात नहीं कहनी चाहिए, जिससे किसी की धार्मिक भावना को ठेस पहुँचे। किन्हीं-किन्हीं का तो विचार है कि अब जनता ने आर्यसमाज के सब सुधार के कायक्रमों को अपना लिया है, इसलिए अब उसकी आवश्यकता नहीं रही है।

मैं इन विचारों से सहमत नहीं हूँ। मेरे विचार में तो जनता के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन में वे सब बुराइयाँ अब भी, कहीं-कहीं तो और अधिक उग्र रूप में विद्य-मान हैं, जो आर्यसमाज की स्थापना के समय थीं। उदाहरण के लिए. धर्मान्धता अथवा अंध-विश्वासों में लगाव पूर्वापेक्षा बढ़ता जा रहा है। उच्च शिक्षा-प्राप्त सज्जन भी अब पूर्वापेक्षा अधिक संख्या में इसके शिकार हो रहे हैं। सुधार की बातें केवल कथन और लेखन तक ही सीमित हैं, क्रियाकलाप में नहीं। इसलिए आर्यसमाज को अपने पुराने सुधारवादी कार्यक्रम को दृढ़ता और उग्रता के साथ अपनाना चाहिए। उस कार्यक्रम की कुछ प्रमुख बातें निम्नस्थ हैं—

१. आर्य विद्वानों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति कम होती जा रही है। आर्यसमाज के प्रारंभिक काल में जिस लगन और उत्साह के साथ विभिन्न धर्मों के ग्रंथों और सिद्धांतों का अध्ययन और विवेचन किया जाता था, वैसा अब नहीं होता। विभिन्न धार्मिक सिद्धांतों और क्रिया-कलापों की प्रवचन और शास्त्रार्थों द्वारा सार्वजनिक आलोचना जैसी उस समय की जाती थी, वैसी अब नहीं की जाती। मेरी सम्मति में शास्त्रार्थ प्रणाली को पुनर्जीवित करना चाहिए।

२. योग्य उपदेशकों और पुरोहितों की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध होना चाहिए।

३. सार्वजनिक जीवन में रहन-सहन और विचारधारा में परिवर्तन हो जाने के कारण अब ऐसे व्यक्ति बहुत कम हैं, जिन्हें वेतन न लेकर आर्यसमाज के कार्यों की धुन हो और अपना अधिक-से-अधिक समय उनके लिए लगाते हों। इसलिए अब आर्यसमाजियों को ऐसे योग्य वैतनिक कार्यकर्ता उपलब्ध करने चाहिए जो रात-दिन आर्यसमाज की चिन्ता रखें और कार्य करें। आर्यसमाज के शिखर पर कार्य करने वाले ऐसे अधिकारी प्रायः नहीं हैं, जिनका आर्यसमाज के अतिरिक्त और कोई अन्य कार्यक्रम न हो, जिन्हें रात-दिन आर्यसमाज के प्रचार और विस्तार की ही चिन्ता रहती हो।

४. आर्यसमाजियों को अपने और अपने परिवार के सदस्यों के जीवन को अधिक-से-अधिक आर्यसमाज के सिद्धांतों के अनुरूप बनाना चाहिए। अपने जीवन में कथनी और करनी के अंतर को कम-से-कम कर देना चाहिए।

५. जहाँ तक सिद्धांतों का सम्बन्ध है, किसी के साथ भी वैयक्तिक रूप में अथवा सार्वजनिक रूप में समझौता न करना चाहिए। अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन निर्भीक और निःसंकोच होकर इसका विचार न करते हुए कि कोई बुरा मानेगा या भला, करना चाहिए। हाँ, शालीनता का ध्यान अवश्य रखना चाहिए और सिद्धांतों का प्रतिपादन तर्क एवं पांडित्यपूर्ण होना चाहिए।

६. आर्यसमाज के आर्थिक विभाग में पूर्ण शुचित्व होना चाहिए।

७. आर्यसमाजों को प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं से अनिवार्य रूप से सम्बद्ध होना चाहिए और अपनी सब स्थायी सम्पत्ति-भवन आदि का पंजीकरण आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम कराना चाहिए।

८. यह देखकर दुःख होता है कि कहीं-कहीं आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाएँ और कहीं-कहीं तो आर्यसमाज के भवन तक आर्यसमाजियों के हाथ से निकल गये हैं और उन पर अन्य लोगों ने अधिकार कर लिये हैं। इस ओर पूरी तरह सावधान रहने की आवश्यकता है और जैसे ही इस प्रकार की किसी घटना का पता लगे, उसके सम्बन्ध में उचित कार्य-वाही करनी चाहिए।

जिनका मैं ऋणी हूँ

जिन महानुभावों के जीवन का मुझ पर प्रभाव पड़ा अथवा जिन्होंने मेरे जीवन को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मोड़ दिये, उनमें पहला नाम मेरे पूज्य पिता ठा० माधवसिंहजी का है। जनक होने के नाते उनके रहन-सहन आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, परंतु उनके असाधारण गुणों का मुझ पर विशेष प्रभाव पड़ा। यह उनके लिए प्रशंसा की बात है कि एक ग्रामीण और कट्टर रूढ़िवादी घर में जन्म लेकर भी वे एक क्रांतिकारी विचारों और उनके अनुसार कार्य करने वाले सज्जन बन गये। धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में उन्होंने पुरानी विचारधाराओं को छोड़कर सुधारवादी मार्ग का अवलंबन किया। उनके बारे में मुझे यह कहावत पूर्णतया चरितार्थ होती प्रतीत होती है—

लीक-लीक तीनों चलैं—कायर, कूर, कपूत।
लीक छोड़ तीनों चलैं—शायर, सिंह, सपूत।।

इसके अनुसार वे वास्तव में सपूत थे। उनके जिन गुणों और कार्यों का मुझ पर प्रभाव पड़ा, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. पुराने रूढ़िवादी विचारों को त्याग कर तर्कसंगत, क्रांतिकारी विचारों को अपनाना।

२. कथनी और करनी में कम-से-कम अंतर रखना।

३. सुविधा और आराम का विचार न करके सामाजिक कार्यों के लिए अधिक-से-अधिक शक्ति और समय देना।

४. अधिक-से-अधिक सीधा-सादा जीवन रखना।

५. वैयक्तिक अथवा सार्वजनिक जीवन में अधिक-से-अधिक वैचारिक एवं आर्थिक ईमानदारी रखना।

६. सामाजिक संस्थाओं में पदलिप्सा, अधिकारलिप्सा और लोकैषणा से दूर रहना।

उनके इन गुणों को प्रकट करने वाले अनेक उदाहरण हैं। उन सभी का मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

अपनी माता श्रीमती आनन्दीदेवीजी के प्रभाव को न मानना मेरे लिए कृतघ्नता होगी। वे सर्वथा अशिक्षित ग्रामीण महिला होने पर भी कभी भी पिताजी के क्रांतिकारी, सुधारवादी विचारों व कार्यों में बाधा नहीं बनी। इतना ही नहीं, अपनी सीमित योग्यता के अनुसार उन्होंने उनके सब कार्यों में अपना पूर्ण सहयोग दिया। उन्होंने गृहस्थी के कार्यों को इस प्रकार चलाया कि पिताजी को उधर से पूरी छुट्टी मिल गयी और बिना परेशानी के वे अपने सामाजिक कार्यों को करते रहे। मुझ पर उनके सेवा-कार्य, गृहस्थी चलाने में चतुराई और प्रेमपूर्ण व्यवहार आदि का गहरा प्रभाव पड़ा। मेरे अंदर उनके लिए सदा आदर के भाव बने रहे।

तीसरे महानुभाव जिन्हें मैं अपना आचार्य मानता हूँ और जिनके गुणों के लिए मेरे हृदय में अपार श्रद्धा है, वे आर्यसमाज के अपने समय के मूर्धन्य नेता आदरणीय महात्मा नारायण स्वामीजी हैं। आर्यसमाज के इतिहास में उनके नाम से एक युग है।

उनका जीवन बड़ा नियमित और व्यवस्थित रहता था। यह एक सच्चाई है कि उनके दिनचर्या पालन को देखकर हम लोग कभी-कभी अपनी घड़ियाँ ठीक किया करते थे।

वे एक दृढ़ संकल्प-शक्ति वाले महानुभाव थे। उन्होंने युवावस्था में ही अपने जीवन का कार्यक्रम निर्धारित कर लिया था और उसी के अनुसार अपना जीवनयापन किया।

स्वामीजी एक अप्रतिम स्वाध्यायशील महानुभाव थे। उनका जीवन इस बात का एक जीता-जागता उदाहरण है कि उर्दू और अँग्रेजी की सामान्य शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति किस प्रकार स्वाध्याय और संकल्प-शक्ति के द्वारा एक अच्छा अध्यात्मज्ञाता, वेदादि गूढ़ ग्रंथों का समझने

वाला और प्रवचनकर्ता बन सकता है।

स्वामीजी में प्रबंध, संगठन और सामाजिक कार्यों के संचालन की अप्रतिम योग्यता थी। स्वामीजी ने सार्वदेशकि आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश, भारतीय शुद्धि सभा आदि दर्जनों संस्थाओं का सफलतापूर्वक कार्य संचालन किया। ज्वालापुर आर्य विरक्त आश्रम उनकी एक सजीव स्मृति है। आर्यसमाज का अभूतपूर्व महोत्सव महर्षि दयानन्द की जन्म शताब्दी, जिसके वे संयोजक थे, आर्य जगत् की एक अद्वितीय एवं अविस्मरणीय घटना है।

सीधा-सादा जीवन, मन, वचन, कर्म से सत्य का पालन, कथनी और करनी में अधिक-से-अधिक एकता आदि स्वामीजी के अन्य गुण हैं। इन सबके लिए मेरे हृदय में सदा आदर का भाव रहा और मैंने उनको जीवन में ढालने का यत्न किया।

अपने जीवन-निर्माण में डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के योगदान को भी मैं भुला नहीं सकता। वे गुरुकुल में उत्कृष्ट कोटि के वक्ता थे और एक अप्रतिम प्रतिभासंपन्न विद्यार्थी। अपनी श्रेणी में सदा प्रथम रहना उनके लिए एक साधारण बात थी। उनके इन गुणों ने मुझे उनकी ओर आकृष्ट किया। यद्यपि वे मुझसे चार कक्षा ऊपर थे, फिर भी हम लोगों में घनिष्ठ संबंध हो गया। विद्यार्थी-जीवन में मैंने उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करने का यत्न किया और उन्होंने भी मेरे विद्यार्थी-जीवन को सफल बनाने और बाद के जीवन में भी अनेक सफलताओं के प्राप्त करने में बहुत सहायता की। मैं यह अनुभव करता हूँ कि उनके योगदान के महत्व को न मानना मेरे लिए कृतघ्नता होगी। यह प्रसन्नता की बात है कि हम दोनों के संबंध लगभग चौंसठ साल की काल-कसौटी पर खरे उतरे हैं।

अंतिम, परंतु महत्व में किसी से कम नहीं, योगदान जीवन-संगिनी अक्षयकुमारीजी का रहा है। हम दोनों के परिवार आर्यसमाजी वातावरण से परिपूर्ण होने के कारण एक-सी भावनाओं से ओत-प्रोत थे। इसके कारण भिन्न-भिन्न रहन-सहन और परंपराओं वाली अनेक बातों में, एक-दूसरे से प्रतिकूल स्वभाव वाली जन्मजात जातियों से आने पर भी किसी प्रकार के पारस्परिक संघर्ष की संभावना नहीं रही। स्वाभाविकतया हम दोनों के स्वभाव में भिन्नताएँ थीं, पर हम दोनों ने अपने जीवन में संघर्ष पैदा करने वाली परिस्थिति नहीं होने दी। जब-तब किन्हीं बातों पर मतभेद होना स्वाभाविक था, परंतु उसके कारण कटुता कभी उत्पन्न नहीं हुई। दोनों ने सदा ही एक-दूसरे को समझने और एक-दूसरे की बात को उचित आदर देने का यत्न किया।

मुझे यह स्वीकार कर लेने तक में भी संकोच नहीं कि मुझ पर उनका अधिक प्रभाव पड़ा है। मेरे रहन-सहन में उचित सुधार करने और परिवार को आदर्श रूप में चलाने में उन्होंने अद्वितीय क्षमता दिखायी है।

महत्वपूर्ण सामाजिक कार्यों में संलग्न रहने और उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए भी उन्होंने गृहस्थी के कार्यों में सदा ही पूरी रुचि ली है। कभी-कभी तो आश्चर्य होता था कि एक महिला इतने उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक किस प्रकार निभाती है। परमात्मा की कृपा और अक्षयजी की अद्वितीय योग्यता एवं अनुपम सूझ-बूझ के कारण हमारा परिवार (बड़े संकोच के साथ लिख रहा हूँ) अनेक साथियों की दृष्टि में अनेक दृष्टियों से आदर्श रहा। इसके लिए हम उचित गर्व कर सकते हैं। परमात्मा की परिवार पर पूरी कृपा रही और ज्येष्ठ पुत्र

की मृत्यु के अतिरिक्त अन्य किसी विपत्ति का सामना न करना पड़ा।

पारिवारिक जीवन को नियमपूर्वक सुचारु रूप से चलाने, संतानों की शिक्षा-दीक्षा में उचित रुचि लेने आदि एवं व्याधि के समय पूर्ण रूप से कर्तव्य पालन करने में उन्होंने कभी कमी नहीं दिखायी। सभी संबंधियों के प्रति उचित नियन्त्रण के साथ-साथ उनका व्यवहार सदा ही स्नेहपूर्ण रहा है, उन्होंने सदा ही सबके मनोभावों का आदर किया है।

इन्हीं विशेषताओं के कारण अनेक शारीरिक तथा अन्य प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों में रहने पर भी वे जिस कुशलता के साथ गत १८ वर्ष से कन्या गुरुकुल का संचालन कर रही हैं, यह प्रशंसा की बात है। इन वर्षों में कन्या गुरुकुल का जो अभूतपूर्व विकास हुआ है, उसका श्रेय उन्हीं को है। यद्यपि उसके शारीरिक विकास में अन्यों ने भी सहयोग दिया है, पर उसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखने में उनके आत्मिक बल, सच्चरित्रता और कर्तव्यपरायणता ने बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है।

कतिपय हँसी की स्मृतियाँ

१

३६-३७ वर्ष की आयु में दूर से देखने में कठिनाई का अनुभव होने लगा। कई बार ऐसा हुआ कि मुझसे आयु में बड़े और प्रतिष्ठित सामने से आते हुए सज्जनों ने पहले मुझे नमस्ते की। जब वे पास आ गये और पहचान में आ गये तब मैंने नमस्ते की। इससे हृदय में कुछ पीड़ा हुई कि जिन्हें पहले मुझे नमस्ते करनी थी, उन्होंने पहले कर ली। मैंने निश्चय किया कि सावधानी के लिए पहले ही से नमस्ते कर लिया करूँगा और ऐसा करना आरंभ कर दिया।

एक बार एक साफा बाँधे हुए सज्जन साइकिल पर आ रहे थे। मैंने सोचा कि कालेज के वे अमुक अध्यापक हैं और मैंने नमस्ते कर ली। जब वे सज्जन पास में आये तो मैंने पहचाना कि वह व्यक्ति किसी का खानसामा था।

२

डी० ए० वी० कालेज, देहरादून में संस्कृत का प्रोफेसर होने के अतिरिक्त मैं आश्रम का अध्यक्ष भी था। एक दिन कालेज से आकर मैंने देखा कि आश्रम के सामने एक भाग में कुछ पत्तों आदि का कूड़ा पड़ा हुआ है। जमादार को बुलवाकर मैंने कूड़ा हटवा दिया। दूसरे दिन फिर उसी प्रकार का कूड़ा देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि कोई चाट बेचने वाला वहाँ आने लगा है और खायी हुई चाट के पत्ते आदि वहीं पड़े ही छोड़कर चला जाता है। मुझे क्रोध आना स्वाभाविक था। मैंने सेवक को बुलाकर कहा कि कल जब चाट बेचने वाला आये, तब मुझे कालेज में से बुला लाना। उसने ऐसा ही किया। मैं क्रोध में भरा हुआ सोचता आ रहा था कि चाट बेचने वाले को ठीक करूँगा, परंतु जब मैंने दूर से देखा कि वह दोनों हाथों में दोना पकड़-

कर उसमें हिला-हिलाकर चाट बना रहा था तो दूर से ही मेरे मुँह में पानी आ गया और मैंने अनुभव किया कि मैं उसको डाँट न पाऊँगा। मैं चुपचाप वापस चला गया और सेवक से कह दिया कि उसे कल से न आने के लिए कह दे।

३

एक बार माननीय श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, जो उस समय उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे, अपनी पत्नी श्रीमती लीलावतीजी के साथ किसी कार्यक्रम के सिलसिले में कालेज में पधारे। वे एक तरफ खड़े हुए कुछ सज्जनों से बातें कर रहे थे। दूसरी ओर मैं कालेज के अध्यापकों का श्रीमती मुंशी से परिचय कराने लगा। जब सबका परिचय करा चुका, तब मैंने कहा कि मैं मिस्टर अक्षयकुमारी शास्त्री हूँ। वे और सब जोर से हँस पड़े। वे मुझे न जानती थीं, लेकिन मेरी पत्नी श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री से सामाजिक कार्यों में सहयोगिनी होने के नाते परिचित थीं।

४

एक बार एक सज्जन ने अपने पुत्र के हाईस्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण होने के नाते जलपान का आयोजन किया। मुझे भी आमंत्रित किया और कुछ बोलने के लिए आग्रह किया। मैंने अपना कथन आरंभ करते हुए कहा कि कन्या के वर के चयन के संबंध में एक नीतिकार ने कहा है—

'कन्या वरयते रूपं माता वित्तम् पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति मिष्टान्नमितरे जनाः ॥'

सब उपस्थित सज्जन आश्चर्यचकित हो मेरी तरफ देखने लगे। पास में बैठे मेरे गुरुवर स्वर्गीय महात्मा नारायण स्वामी के चेहरे पर भी विस्मयदर्शिनी मुद्रा थी। सब सोच रहे थे कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उपलक्ष्य में हर्ष प्रकट करने और आशीर्वाद देने के स्थान पर कन्या के विवाह की बात कितनी अप्रासंगिक है, किंतु जब मैंने कहा कि विद्यार्थी के माता-पिता तो उसके भावी जीवन की रूपरेखा तैयार करने में लगे होंगे और वह स्वयं भी भविष्य के कार्यक्रम के संबंध में विचार कर रहा होगा, तब हम सब तो मिष्ठान्न पाने पर प्रसन्न हो रहे हैं। यह सुन सब जोर से हँस पड़े।

५

एक बार एक प्रत्याशी को एक अध्यापक के पद के लिए चुना गया। उनकी वेशभूषा से पता लगता था कि उनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत सामान्य थी। उनके चश्मे में एक तरफ की

कमानी के स्थान पर धागा बँधा हुआ था, जिसे उन्होंने कान में अच्छी तरह बाँध रखा था। यह देखकर मैंने उनसे कहा—मास्टरजी, आप कल कालेज में आने से पहले अपने चश्मे की कमानी लगवा लें। कक्षा में कमानी के स्थान पर बँधे इस धागे के साथ न जायें। यदि धनाभाव हो तो मुझसे अग्रिम धन ले लें, परंतु उन्होंने मेरी बात अनसुनी कर दी। परिणाम यह हुआ कि एक-दो दिन बाद जब मैं कक्षाओं का निरीक्षण कर रहा था, तब मैंने देखा कि एक कक्षा के श्याम-पट (ब्लैक बोर्ड) पर उन अध्यापक का चेहरा बना हुआ है और उसमें कमानी के स्थान पर धागा बनाया हुआ है। यह देखकर मैंने उनसे कहा—मास्टरजी, मैंने इसी से बचाने के लिए आपको चश्मे के फ्रेम में कमानी लगवाने के लिए कहा था, अब ये, जब तक आप कालेज में रहेंगे, आपका पीछा न छोड़ेंगे।

६

एक बार छात्रावास में एक विद्यार्थी की एलार्म की घड़ी चोरी चली गयी। जब पूछताछ करने पर वह नहीं मिली तो निश्चय किया गया सबका सामान देखा जाये। जब एक विद्यार्थी के कमरे में गये और उससे पूछा कि उसने तो घड़ी नहीं ली, तो उसने बलपूर्वक मना किया। इसी बीच जब सामान देखना आरंभ किया तो उसके बक्स में घड़ी का एलार्म बोल पड़ा।

७

एक बार एक नवयुवक नौकरी की तलाश में मेरे पास आया तो मैंने उससे कह दिया कि एक सप्ताह बाद प्रार्थना-पत्र लिखकर लाना। जब वह चला गया, तब मैंने देखा कि मेरी कलाई की घड़ी, जो मेज पर रखी थी, वहाँ नहीं थी। बहुत ढूँढा पर कहीं न मिली। पूछताछ करने पर पता चला कि जब मैं उस व्यक्ति से बात करते-करते किसी कार्य के लिए उठकर गया, तब वह व्यक्ति उसी कमरे में था। इस आशंका से कि संभवतः वही व्यक्ति घड़ी गया है, मैंने उसे बुला भेजा। वह अपने गाँव से एक लगभग समवयस्क साथी के साथ साइकिल पर आया। जब वह मेरे कमरे में आया तो मैंने उससे कहा कि तुमको नौकरी तो बाद में मिलेगी, पहले मेरी घड़ी दे दो, जिसे तुम उस दिन उठा ले गये थे। उसने घड़ी ले जाने से साफ-साफ मना किया। जब वह किसी प्रकार भी न माना तो मैंने कहा कि अच्छा मैं तुम्हारी हृदय की धड़कन देखूँगा। मैंने उसके हृदय पर हाथ रखकर देखा तो धड़कन तेज और तीव्र थी। अपने विश्वास को पूरा करने के लिए मैंने उसके साथी की हृदयगति को परखा। वह उससे सर्वथा भिन्न, शांत, स्थिर गति से चल रही थी। यह कहने पर कि तुम्हारे हृदय की धड़कन बता रही है कि तुम चोर हो। वह बोल पड़ा कि मैं कई मील से तेज साइकिल चलाकर आ रहा हूँ। मैंने कहा तुम्हारा साथी भी जो तुम्हारा समवयस्क है और तुम्हारे जैसे ही स्वास्थ्य वाला है उतनी ही दूर से तुम्हारे साथ साइकिल पर आ रहा है। मैंने कुछ समय थकावट दूर करने के लिए उसे देकर फिर कहा—मैं एक बार फिर तुम्हारे हृदय की धड़कन देखूँगा। वह नवयुवक कुर्सी पर बैठा हुआ था।

जब मैं उठकर उसके पास जा उसके हृदय पर हाथ रखने के लिए झुका तो मैंने देखा कि उसकी कमीज की छाती पर जेब में मेरी घड़ी रखी हुई है। वह पानी-पानी हो गया और क्षमा माँगने लगा।

८

कभी-कभी जब कोई मित्र मुझसे पूछते हैं कि आपके कितने पोते और पोतियाँ हैं तो मैं कहा करता हूँ कि हमारे बड़े पुत्र के छः सालियाँ हैं और साला कोई नहीं और उनके अपनी तीन कन्याएँ हैं। छोटे पुत्र के एक साली है, साला कोई नहीं और उनके दो कन्याएँ हैं और हम लोग कन्या गुरुकुल में रहते हैं।

● ● ●

मेरी कतिपय प्रिय सूक्तियाँ, जिन्हें मैंने अपने जीवन का आदर्श बनाने का यत्न किया है—

"सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ।"

"सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥"

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा. ।"

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।"

"Work is Worship."

"चरैवेति चरैवेति ।"

"पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् ।"

"इयं ते यज्ञिया तनूः ।"

"An honest man is God's best creation."

"Service is its own reward."

"उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे"

द्वितीय खण्ड

वैदिक शिक्षा-दर्शन

सिद्धान्त
- वैदिक वाङ्मय
- आप्तोपदेश
- आर्ष पद्धति

स्वरूप
- आचार प्रधानता
- संस्कार एवं आश्रम
- आत्म निरीक्षण

उपलब्धि
- सर्वांगीण विकास
- विश्वबन्धुत्व
- पुरुषार्थ चतुष्टय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

शिक्षा

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ।।

अथर्ववेद ७-१०५-१ ।

पौरुषेय विचार तज नर ! दिव्य वाणी कर वरण ।
सब सखाओं सहित कर तू दिव्य कृति पर आचरण ।।
दिव्य वाणी की सुशिक्षा पर यथोचित ध्यान दे ।
वर्त्त दैवी नीतियों को, दिव्य-पथ को मान दे ।।
वेद-वाणी दिव्य कल्याणी सुपथ दिखलायेगी ।
यह तुझे धर्मार्थ कामद, मुक्ति तक पहुँचायेगी ।।

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार

महर्षि का शिक्षा दर्शन

संतानों को उत्तम विद्या, शिक्षा, गुण, कर्म और स्वभावरूप आभूषणों का धारण कराना माता, पिता, आचार्य और सम्बन्धियों का मुख्य कर्म है। सोने, चाँदी, माणिक, मोती, मूंगा आदि रत्नों से युक्त आभूषणों के धारण करने से केवल देहाभिमान, विषयासक्ति और चोर आदि का भय तथा मृत्यु का होना भी सम्भव है। संसार में देखने में आता है कि आभूषणों के योग से बालकादिकों की मृत्यु दुष्टों के हाथ से होती है।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये, धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

जिन पुरुषों का मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, सुन्दर शीलस्वभावयुक्त सत्य-भाषणादि नियमपालनयुक्त और जो अभिमान, अपवित्रता से रहित अन्य की मलिनता के नाशक, सत्योपदेश, विद्यादान से संसारी जनों के दुःखों को दूर करने से सुभूषित वेद-विहित कर्मों से पराये उपकार करने में रहते हैं वे नर और नारी धन्य हैं। इसलिए आठ वर्ष के हों तभी लड़कों को लड़कों की और लड़कियों को लड़कियों की शाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष वा स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। द्विज अपने घर में लड़कों का यज्ञोपवीत और कन्याओं का भी यथायोग्य संस्कार करके यथोक्त आचार्यकुल अर्थात् अपनी-अपनी पाठशाला में भेज दें।

सह-शिक्षा निषेध

विद्या पढ़ने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और वे लड़के और लड़कियों की पाठशाला दो कोस एक-दूसरे से दूर होनी चाहिए। जो वहाँ अध्यापिका और अध्यापक, पुरुष वा भृत्य, अनुचर हों, वे कन्याओं की पाठशाला में सब स्त्री और पुरुषों की पाठशाला में पुरुष रहें। स्त्रियों की पाठशाला में पाँच वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में पाँच वर्ष की लड़की भी न जाने पावे अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी व ब्रह्मचारिणी रहें तब तक स्त्री वा पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें और अध्यापक लोग उनको इन बातों से बचावें जिससे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त होके आनन्द को नित्य बढ़ा सकें।

समान व्यवहार

पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम वा नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खानपान, आसन दिये जायँ चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की संतान हों, सबको तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से वा सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्र-व्यवहार एक-दूसरे से कर सकें, जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रक्खें। जब भ्रमण करने को जायँ तब उनके साथ अध्यापक रहें जिससे किसी प्रकार की कुचेष्टा न कर सकें और न आलस्य प्रमाद करें।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।।

(मनु०, ७।१५२।।)

इसका अभिप्राय यह है कि इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो। पिता-माता व अध्यापक अपने लड़कों-लड़कियों को अर्थसहित गायत्री-मन्त्र का उपदेश कर दें। भोजन, छादन, बैठने-उठने, बोलने-चालने, बड़े-छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करें।

शिक्षा-काल

षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्य्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम् ।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा ।।

आठवें वर्ष से आगे छत्तीसवें वर्ष पर्यन्त अर्थात् एक-एक वेद के साङ्गोपाङ्ग पढ़ने में बारह-बारह वर्ष मिलके छत्तीस और आठ मिलके चवालीस अथवा अठारह वर्षों का ब्रह्मचर्य और आठ वर्ष मिलके छब्बीस वा नौ वर्ष तथा जब तक विद्या पूरी ग्रहण न कर लेवे तब तक ब्रह्मचर्य रक्खे।

पढ़ने-पढ़ाने वालों के नियम

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रञ्च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च।

(तैत्तिरीयोपनिषद्, वल्ली ७ अनु० ९)

(ऋतं०) यथार्थ आचरण से पढ़ें और पढ़ावें, (सत्यं०) सत्याचार से सत्य विद्याओं को पढ़ें वा पढ़ावें, (तपः०) तपस्वी अर्थात् धर्मानुष्ठान करते हुए वेदादि शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें, (दमः०) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक के पढ़ें और पढ़ाते जायँ, (शमः०) मन की वृत्ति

को सब प्रकार के दोषों से हटाके पढ़ते-पढ़ाते जायँ, (अग्नयः०) आह्वनीयादि अग्नि और विद्युत् आदि को जानके पढ़ते-पढ़ाते जायँ और (अग्निहोत्रं०) अग्निहोत्र करते हुए पठन और पाठन करें-करावें, (अतिथयः०) अतिथियों की सेवा करते हुए पढ़ें और पढ़ावें, (मानुषं०) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य (करते हुए) पढ़ते-पढ़ाते रहें, (प्रजा०) सन्तान और राज्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायँ, (प्रजन०) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायँ, (प्रजाति०) अपनी सन्तान और शिष्य का पालन करते हुए पढ़ते-पढ़ाते जायँ।

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनु०, ४।२०४।।)

यम पाँच प्रकार के होते हैं—

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः॥

(योग० सू० सा० ३०।।)

अर्थात् (अहिंसा) वैरत्याग, (सत्य) सत्य मानना, सत्य बोलना और सत्य ही करना (अस्तेय) अर्थात् मन,वचन, कर्म से चोरी त्याग, (ब्रह्मचर्य) उपस्थेन्द्रिय का संयम, (अपरिग्रह) अत्यन्त लोलुपता, स्वत्वाभिमान रहित होना। इन पाँच यमों का सेवन सदा करें।

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥

(योग० सू० सा० ३२।।)

(शौच) अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, (सन्तोष) सम्यक् प्रसन्न होकर निरुद्यम रहना सन्तोष नहीं, किन्तु पुरुषार्थ जितना हो सके उतना करना, हानि-लाभ में हर्ष वा शोक न करना, (तप) अर्थात् कष्ट सेवन से धर्मयुक्त कर्मों का अनुष्ठान, (स्वाध्याय) पढ़ना-पढ़ाना, (ईश्वर-प्रणिधान) ईश्वर की भक्ति विशेष से आत्मा को अर्पित रखना—ये पाँच नियम कहाते हैं। यमों के विना केवल इन नियमों का सेवन न करे किन्तु इन दोनों का सेवन किया करे, जो यमों का सेवन छोड़के केवल नियमों का सेवन करता है वह उन्नति को नहीं प्राप्त होता, किन्तु अधोगति अर्थात् संसार में गिरा रहता है।

शिष्य को उपदेश

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाँसो ब्राह्मणास्तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता

अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युर्यथा ते तत्र वर्त्तेरन् तथा तत्र वर्त्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषद् एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्।

आचार्य अन्तेवासी अर्थात् अपने शिष्य और शिष्याओं को इस प्रकार उपदेश करे—तू सदा सत्य बोल, धर्माचरण कर, प्रमादरहित होके पढ़-पढ़ा, पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं को ग्रहण कर और आचार्य के लिए प्रिय धन देकर विवाह करके सन्तानोत्पत्ति कर, प्रमाद से सत्य को कभी मत छोड़, प्रमाद से धर्म का त्याग मत कर, प्रमाद से आरोग्य और चतुराई को मत छोड़, प्रमाद से उत्तम ऐश्वर्य की वृद्धि को मत छोड़, प्रमाद से पढ़ने और पढ़ाने को कभी मत छोड़। देव-विद्वान् और माता-पितादि की सेवा में प्रमाद मत कर। जैसे विद्वान् का सत्कार करे उसी प्रकार माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा सदा किया कर। जो अनिन्दित धर्म-युक्त कर्म हैं उन सत्य भाषणादि को किया कर, उनसे भिन्न मिथ्याभाषणादि कभी मत कर। जो हमारे सुचरित्र अर्थात् धर्मयुक्त कर्म हों उनका ग्रहण कर और जो हमारे पापाचरण हों उनको कभी मत कर, जो कोई हमारे मध्य में उत्तम विद्वान् धर्मात्मा ब्राह्मण हैं, उन्हीं के समीप बैठ और उन्हीं का विश्वास किया कर। श्रद्धा से देना, अश्रद्धा से देना, शोभा से देना, लज्जा से देना, भय से देना और प्रतिज्ञा से भी देना चाहिए। जब कभी तुझको कर्म व शील तथा उपासना-ज्ञान में किसी प्रकार का संशय उत्पन्न हो तो जो सहनशील, पक्षपातरहित, योगी, अयोगी, आर्द्रचित्त, धर्म की कामना करने वाले धर्मात्मा जन हों जैसे वे धर्ममार्ग में वर्त्तें वैसे तू भी वर्त्ता कर। यही आदेश, आज्ञा, यही उपदेश, यही वेद की और उपनिषद् की यही शिक्षा है। इसी प्रकार वर्त्तना और अपना चाल-चलन सुधारना चाहिए।

विद्या का अधिकार सबको

इस प्रकार आचार्य अपने शिष्य को उपदेश करे और विशेषकर राजा इतर क्षत्रिय, वैश्य और उत्तम शूद्रजनों को भी विद्या का अभ्यास अवश्य करावें क्योंकि जो ब्राह्मण हैं वे ही केवल विद्याभ्यास करें और क्षत्रियादि न करें तो विद्या, धर्म राज्य और धनादि की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्राह्मण तो केवल पढ़ने-पढ़ाने और क्षत्रियादि से जीविका को प्राप्त होके जीवन धारण कर सकते हैं। जीविका के आधीन और क्षत्रियादि के आज्ञादाता और यथावत् परीक्षक दण्डदाता न होने से ब्राह्मण आदि सब वर्ण पाखण्ड ही में फँस जाते हैं और जब क्षत्रि-यादि विद्वान् होते हैं तब ब्राह्मण भी अधिक विद्याभ्यास और धर्मपथ में चलते हैं और उन क्षत्रियादि विद्वानों के सामने पाखण्ड, झूठा व्यवहार भी नहीं कर सकते और जब क्षत्रियादि अविद्वान् होते हैं तो वे जैसा अपने मन में आता है वैसा ही करते-कराते हैं। इसलिए ब्राह्मण भी अपना कल्याण चाहें तो क्षत्रियादि को वेदादि सत्यशास्त्र का अभ्यास अधिक प्रयत्न से करावें, क्योंकि क्षत्रियादि ही विद्या, धर्म, राज्य और लक्ष्मी की वृद्धि करनेहारे हैं। वे कभी भिक्षावृत्ति नहीं करते इसलिए वे विद्याव्यवहार में पक्षपाती भी नहीं हो सकते और जब सब वर्णों में विद्या, सुशिक्षा होती है तब कोई भी पाखण्ड अधर्मयुक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता। इससे क्या सिद्ध हुआ कि क्षत्रियादि को नियम में चलाने वाले ब्राह्मण और संन्यासी तथा ब्राह्मण और संन्यासी को सुनियम में चलाने वाले क्षत्रियादि होते हैं। इसलिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार अवश्य होना चाहिए।

पाँच परीक्षाएँ

अब जो-जो पढ़ना-पढ़ाना हो वह-वह अच्छे प्रकार परीक्षा करके होना योग्य है। परीक्षा पाँच प्रकार से होती है : एक—जो-जो ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव और वेदों से अनुकूल हों वह-वह सत्य और उससे विरुद्ध असत्य है। दूसरी—जो-जो सृष्टिक्रम से अनुकूल हो वह-वह सत्य और जो-जो सृष्टिक्रम से विरुद्ध है, वह सब असत्य है। जैसे, कोई कहे बिना माता-पिता के योग से लड़का उत्पन्न हुआ, ऐसा कथन सृष्टिक्रम से विरुद्ध होने से सर्वथा असत्य है। तीसरी—'आप्त' अर्थात् जो धार्मिक विद्वान्, सत्यवादी, निष्कपटियों का संग उपदेश के अनुकूल है, वह-वह ग्राह्य और जो-जो विरुद्ध वह-वह अग्राह्य है। चौथी—अपने आत्मा की पवित्रता, विद्या के अनुकूल अर्थात् जैसा अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है वैसे ही सर्वत्र समझ लेना कि मैं भी किसी को दुःख व सुख दूँगा तो वह भी अप्रसन्न और प्रसन्न होगा। और पाँचवी—आठों प्रमाण अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, एतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव।

पठन-पाठन विधि

अब पढ़ने-पढ़ाने का प्रकार लिखते हैं—जो बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि के चाहने वाले नित्य पढ़े-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी और डेढ़ वर्ष में महाभाष्य पढ़के तीन वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कराकर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं।

किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में करना नहीं पड़ता और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्षों में होता है उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता। क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा इन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है? महर्षि लोगों का आशय, जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें। जैसे—पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसे एक गोता लगाना, बहुमूल्य मोतियों का पाना।

व्याकरण को पढ़के यास्क मुनिकृत निघण्टु और निरुक्त छह वा आठ महीने में सार्थक पढ़े और पढ़ावें। अन्य नास्तिककृत अमरकोशादि में अनेक वर्ष व्यर्थ न खोवें। तदनन्तर पिंगलाचार्यकृत छन्दोग्रंथ जिससे वैदिक लौकिक छन्दों का परिज्ञान, नवीन रचना और श्लोक बनाने की रीति भी यथावत् सीखें। इस ग्रंथ और श्लोकों की रचना तथा प्रस्तार को चार महीने में सीख पढ़-पढ़ा सकते हैं। वृत्तरत्नाकार आदि अल्पबुद्धिप्रकल्पित ग्रंथों में अनेक वर्ष न खोवें। तत्पश्चात् मनुस्मृति, वाल्मीकीय रामायण और महाभारत के उद्योगपर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि अच्छे-अच्छे प्रकरण जिनसे दुष्ट व्यसन दूर हों और उत्तमता, सभ्यता प्राप्त हो वैसे को काव्यरीति से अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, अन्वय, विशेष्य विशेषण और भावार्थ को अध्यापक लोग जनावें और विद्यार्थी लोग जानते जायँ। इनको वर्ष के भीतर पढ़ लें।

तदनन्तर पूर्वमीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदान्त अर्थात् जहाँ तक बन

सके वहाँ तक ऋषिकृत व्याख्या सहित अथवा उत्तम विद्वानों की सरल व्याख्यायुक्त छः शास्त्रों को पढ़ें और पढ़ावें, परन्तु वेदान्त सूत्रों के पढ़ने के पूर्व ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक इन दश उपनिषदों को पढ़के छः शास्त्रों के भाष्य वृत्ति-सहित सूत्रों को दो वर्ष के भीतर पढ़ावें और पढ़ लेवें। पश्चात् छः वर्षों के भीतर चारों ब्राह्मण अर्थात् ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ ब्राह्मणों के सहित चारों वेदों के स्वर, शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा क्रिया सहित पढ़ना योग्य है।

इस प्रकार सब वेदों को पढ़के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनि प्रणीत वैद्यकशास्त्र हैं उसको अर्थ, क्रिया, शस्त्र, छेदन, भेदन, लेप, चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक ४ (चार) वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें। तदनन्तर धनुर्वेद अर्थात् जो राज सम्बन्धी काम करना है इसके दो भेद, एक निज राजपुरुष सम्बन्धी और दूसरा प्रजा सम्बन्धी होता है। राजकार्य में सभा सेना के अध्यक्ष, शस्त्रास्त्र विद्या, नाना प्रकार के व्यूहों का अभ्यास अर्थात् जिसको आजकल 'कवायद' कहते हैं जो कि शत्रुओं से लड़ाई के समय में क्रिया करनी होती है उसको यथावत् सीखें और जो-जो प्रजा के पालन और वृद्धि करने का प्रकार है, उनको सीखके न्यायपूर्वक सब प्रजा को प्रसन्न रक्खें, दुष्टों को यथायोग्य दण्ड, श्रेष्ठों के पालन का प्रकार सब प्रकार सीख लें।

इस राजविद्या को दो वर्ष में सीखकर गान्धर्ववेद कि जिसको गानविद्या कहते हैं उसमें स्वर, राग, रागिणी, समय, ताल, ग्राम, तान, वादित्र, नृत्य, गीत आदि को यथावत् सीखें परन्तु मुख्य करके सामवेद का गान वादित्रवादनपूर्वक सीखें और नारदसंहिता आदि जो-जो आर्षग्रंथ हैं, उनको पढ़ें, परन्तु भड़वे, वेश्याओं के विषयासक्तिकारक और वैरागियों के गर्दभशब्दवत् व्यर्थ आलाप कभी न करें।

अर्थवेद कि जिसको शिल्पविद्या कहते हैं उसको पदार्थ, गुण, विज्ञान, क्रियाकौशल, नानाविध पदार्थों का निर्माण, पृथ्वी से लेके आकाश पर्यन्त की विद्या को यथावत् सीखके अर्थ अर्थात् जो ऐश्वर्य को बढ़ाने वाला है उस विद्या को सीखके दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है, इसको यथावत् सीखें। तत्पश्चात् सब प्रकार की हस्तक्रिया यंत्रकला आदि को सीखें, परन्तु जितने ग्रह, नक्षत्र, जन्मपत्र, राशि, मुहूर्त आदि के फल के विधायक ग्रंथ हैं उनको झूठा समझके कभी न पढ़ें और पढ़ावें। ऐसा प्रयत्न पढ़ने और पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस व इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या, उत्तमशिक्षा प्राप्त होके मनुष्य लोग कृतकृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से बीस या इक्कीस वर्षों में हो सकती है, उतनी अन्य प्रकार से शतवर्ष में भी नहीं हो सकती।

आर्षग्रंथ ही क्यों ?

ऋषिप्रणीत ग्रंथों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान्, सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनकी आत्मा पक्षपातसहित है उनके बनाये हुए ग्रंथ भी वैसे ही हैं।

पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनिकृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतम मुनिकृत, न्यायसूत्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य, पतञ्जलिमुनिकृत योग सूत्र पर व्यासमुनिकृत भाष्य, कपिलमुनिकृत

सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनिकृत भाष्य वृत्ति सहित पढ़ें-पढ़ावें इत्यादि सूत्रों को कल्प अंग में भी गिनना चाहिए। जैसे ऋग्यजु, साम और अथर्व चारों वेद ईश्वरकृत हैं वैसे ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ चारों ब्राह्मण, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त और निघण्टु, छन्द, ज्योतिष छः वेदों के अंग, मीमांसादि छः शास्त्र, वेदों के उपांग, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थवेद ये चार वेदों के उपवेद सब ऋषिमुनि के किये ग्रंथ हैं, इनमें जो-जो वेद विरुद्ध प्रतीत हों उस उसको छोड़ देना क्योंकि वेद ईश्वरकृत होने से निर्भ्रान्ति, स्वतः प्रमाण अर्थात् वेद का प्रमाण वेद से ही होता है। ब्राह्मणादि सब ग्रंथ परतःप्रमाण अर्थात् इनका प्रमाण वेदाधीन है।

त्यागने योग्य ग्रंथ

अब जो परित्याग के योग्य ग्रंथ हैं उनका परिगणन संक्षेप में किया जाता है अर्थात् जो-जो नीचे ग्रंथ लिखेंगे वह-वह जालग्रंथ समझना चाहिए। व्याकरण में कातन्त्र, सारस्वत, चन्द्रिका, मुग्धबोध, कौमुदी, शेखर, मनोरमा आदि। कोश में अमरकोशादि। छन्दग्रंथ में वृत्तरत्नाकरादि। शिक्षा में 'अथ शिक्षां प्रवक्ष्यामि पाणिनीयं मतं यथा' इत्यादि। ज्योतिष में शीघ्रबोध, मुहूर्तचिन्तामणि आदि। काव्य में नायिका भेद, कुवलयानन्द, रघुवंश, माघ, किरातार्जुनीयादि। मीमांसा में धर्मसिन्धु, व्रतार्कादि। वैशेषिक में तर्कसंग्रहादि। न्याय में जगदीशी आदि। योग में हठयोग प्रदीपिकादि। सांख्य में सांख्यतत्त्वकौमुद्यादि। वेदान्त में योगवासिष्ठ, पञ्चदश्यादि। वैद्यक में शाङ्र्गधरादि, स्मृतियों में मनुस्मृति के प्रक्षिप्त श्लोक और अन्य सब स्मृति, सब तंत्र ग्रंथ, सब पुराण, सब उपपुराण, तुलसीदासकृत भाषा रामायण, रुक्मिणी मंगलादि और सर्वभाषाग्रंथ—ये सब कपोलकल्पित मिथ्या ग्रंथ हैं।

पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न

जो विद्या पढ़ने-पढ़ाने के विघ्न हैं उनको छोड़ देवें, जैसा कुसंग अर्थात् दुष्ट विषयीजनों का संग, दुष्ट व्यसन जैसा मद्यादि सेवन, वेश्यागमनादि, बाल्यावस्था में विवाह अर्थात् पच्चीसवें वर्ष से पूर्व पुरुष और सोलहवें वर्ष से पूर्व स्त्री का विवाह हो जाना, पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना, राजा, माता, पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना, अतिभोजन, अतिजागरण करना, पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने वा देने में आलस्य वा कपट करना, सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना, ब्रह्मचर्य से बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना, ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि जड़ मूर्ति के दर्शन, पूजन में व्यर्थ काल खोना, माता, पिता, अतिथि और आचार्य, विद्वान् इनको सत्यमूर्ति मानकर सेवा-सत्संग न करना, वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र, तिलक, कण्ठी, मालाधारण, एकादशी, त्रयोदशी आदि का व्रत करना, काश्यादि तीर्थं और राम, कृष्ण, नारायण, शिव, भगवती, गणेशादि के नाम स्मरण से पाप दूर होने का विश्वास, पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना, विद्या, धर्म, योग, परमेश्वर की उपासना के बिना मिथ्या पुराणनामक भागवतादि की कथादि से मुक्ति का मानना, लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना, इधर-उधर व्यर्थ घूमते रहना इत्यादि मिथ्या व्यवहारों में फँसके ब्रह्मचर्य और विद्या के लाभ से रहित होकर रोगी और मूर्ख बने रहते हैं।

मानवमात्र को वेद पढ़ने का अधिकार

प्रश्न—क्या स्त्री और शूद्र भी वेद पढ़ें ? जो ये पढ़ेंगे तो हम फिर क्या करेंगे और इसके पढ़ने में प्रमाण भी नहीं है जैसा यह निषेध है—

स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः ॥ स्त्री और शूद्र न पढ़ें, यह श्रुति है।

उत्तर—सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्यमात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुआँ में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है, किसी प्रामाणिक ग्रंथ की नहीं और सब मनुष्यों के वेदादि शास्त्र पढ़ने-सुनने के अधिकार का प्रमाण यजुर्वेद के छब्बीसवें अध्याय में दूसरा मंत्र है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ॥

परमेश्वर कहता है कि (यथा) जैसे मैं (जनेभ्यः) सब मनुष्यों के लिए (इमाम्) इस (कल्याणीम्) कल्याण अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी (वाचम्) ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी का (आ, वदानि) उपदेश करता हूँ वैसे तुम भी किया करो।

यहाँ कोई ऐसा प्रश्न करे कि जन शब्द से द्विजों का ग्रहण करना चाहिए क्योंकि स्मृत्यादि ग्रंथों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ही के वेदों के पढ़ने का अधिकार लिखा है स्त्री और शूद्रादि का नहीं।

उत्तर—(ब्रह्मराजन्याभ्याम्) इत्यादि। देखो परमेश्वर स्वयं कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, (अर्य्याय) वैश्य (शूद्राय) शूद्र और (स्वाय) अपने भृत्य वा स्त्रियादि, (अरणाय) और अतिशूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुनाकर विज्ञान को बढ़ाके अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों। कहिये अब तुम्हारी बात मानें या परमेश्वर की ? परमेश्वर की बात अवश्य माननीय है। इतने पर भी जो कोई इसको न मानेगा वह नास्तिक कहावेगा, क्योंकि **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** वेदों का निन्दक और न मानने वाला नास्तिक कहाता है। क्या परमेश्वर शूद्रों का भला करना नहीं चाहता ? क्या ईश्वर पक्षपाती है कि वेदों के पढ़ने-सुनने का शूद्रों के लिए निषेध और द्विजों के लिए विधि करे ? जो परमेश्वर का अभिप्राय शूद्र आदि के पढ़ाने-सुनाने का न होता तो इनके शरीर में वाक् और श्रोत्र इन्द्रिय क्यों रचता ? जैसे परमात्मा ने पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य और अन्नादि पदार्थ सबके लिए बनाये हैं, वैसे ही वेद भी सबके लिए प्रकाशित किये हैं और जहाँ कहीं निषेध किया है उसका यह अभिप्राय है कि जिसको पढ़ने-पढ़ाने से कुछ भी न आवे वह निर्बुद्धि और मूर्ख होने से शूद्र कहाता है। उसका पढ़ना-पढ़ाना व्यर्थ है और जो स्त्रियों के पढ़ने का निषेध करते हो, वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता और निर्बुद्धिता का प्रभाव है। देखो वेद में कन्याओं के पढ़ने का प्रमाण—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ॥
(अथर्व०, का० ११।प्र० २४। अनु० ३। मं० १८॥)

जैसे लड़के ब्रह्मचर्य-सेवन से पूर्ण विद्या और सुशिक्षा को प्राप्त होके युवती, विदुषी,

अपने अनुकूल प्रिय, सदृश स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं, वैसे (कन्या) कुमारी (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़, पूर्ण विद्या और उत्तम शिक्षा को प्राप्त युवती होके पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश प्रिय विद्वान् (युवानम्) पूर्ण युवावस्थायुक्त पुरुष को (विन्दते) प्राप्त होवे। इसलिए स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य और विद्या का ग्रहण अवश्य करना चाहिए।

प्रश्न—क्या स्त्री लोग भी वेदों को पढ़ें ?

उत्तर—अवश्य। देखो श्रौतसूत्रादि में—**इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्।**

अर्थात् स्त्री यज्ञ में इस मंत्र को पढ़े। जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वर-सहित मंत्रों का उच्चारण और संस्कृतभाषण कैसे कर सके ? भारतवर्ष की स्त्रियों में भूषणरूप गार्गी आदि वेदादि शास्त्रों को पढ़के पूर्ण विदुषी हुई थीं, यह शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है। भला जो पुरुष विद्वान् और स्त्री अविदुषी और स्त्री विदुषी और पुरुष अविद्वान् हों तो नित्य-प्रति देवासुर संग्राम घर में मचा रहे फिर सुख कहाँ ? इसलिए जो स्त्री न पढ़ें तो कन्याओं की पाठशाला में अध्यापिका क्योंकर हो सकें तथा राजकार्य, न्यायाधीशत्वादि, गृहाश्रम का कार्य जो पति को स्त्री और स्त्री को पति प्रसन्न रखना, घर के सब काम स्त्री के अधीन रहना इत्यादि काम विना विद्या के अच्छे प्रकार कभी ठीक नहीं हो सकते।

देखो ! आर्यावर्त्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्धविद्या भी अच्छे प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं और युद्ध कर सकतीं। इसलिए ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार-विद्या और शूद्रा को पाकादि सेवा की विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। जैसे पुरुषों को व्याकरण, धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून-से-न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए क्योंकि इनके सीखे बिना सत्यासत्य का निर्णय, पति आदि से अनुकूल वर्तमान, यथायोग्य सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, वर्द्धन और सुशिक्षा करना, घर के सब कार्यों को जैसा चाहिए वैसा करना, कराना, वैद्यक विद्या से औषधवत् अन्नपान बनाना और बनवाना नहीं कर सकतीं, जिससे घर में रोग कभी न आवे और सब लोग सदा आनन्दित रहें। शिल्पविद्या के जाने बिना घर का बनवाना, वस्त्र-आभूषण आदि का बनाना और बनवाना, गणित विद्या के बिना सबका हिसाब समझना-समझाना, वेदादिशास्त्र विद्या के बिना ईश्वर और धर्म को न जानके अधर्म से कभी नहीं बच सके। इसलिए वे ही धन्यवादार्ह और कृतकृत्य हैं कि जो अपनी संतानों को ब्रह्मचर्य, उत्तमशिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें, जिससे वे सन्तान, मातृ, पितृ, पति, सास, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्टमित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्तें। यही कोश अक्षय है। इसको जितना व्यय करें उतना ही बढ़ता जाये, अन्य सब कोश व्यय करने से घट जाते हैं और दायभागी भी निज भाग लेते हैं और विद्या कोश का चोर व दायभागी कोई भी नहीं हो सकता। इस कोश की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है।

कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्॥

(मनु०, ७।१५२॥)

राजा को योग्य है कि सब कन्या और लड़कों को उक्त समय से उक्त समय तक ब्रह्मचर्य में रखके विद्वान् कराना। जो कोई इस आज्ञा को न माने तो उसके माता-पिता को दण्ड देना

अर्थात् राजा की आज्ञा से आठ वर्ष के पश्चात् लड़का व लड़की किसी के घर में न रहने पावें किन्तु आचार्यकुल में रहें। जब तक समावर्त्तन का समय न आवे तब तक विवाह न होने पावे।

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते ।
वार्यन्नगोमहीवासस्तिलकाञ्चनसर्पिषाम् ।।

(मनु०, ४।२३३।।)

संसार में जितने दान हैं अर्थात् जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण और घृतादि इन सब दानों से वेदविद्या का दान अतिश्रेष्ठ है। इसलिए जितना बन सके उतना प्रयत्न तन, मन, धन से विद्या की वृद्धि में किया करें। जिस देश में यथायोग्य ब्रह्मचर्य, विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार होता है वही देश सौभाग्यवान् होता है।

यह ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा संक्षेप में लिखी गयी है।

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास से)

यदि मेरे हाथों में तानाशाही सत्ता हो, तो मैं आज से ही विदेशी माध्यम के जरिए दी जाने वाली हमारे लड़कों और लड़कियों की शिक्षा बन्द कर दूँ और सारे शिक्षकों और प्रोफेसरों से यह माध्यम तुरन्त बदलवा दूँ या उन्हें बर्खास्त करा दूँ। मैं पाठ्यपुस्तकों की तैयारी का इंतजार नहीं करूँगा; वे तो माध्यम के परिवर्तन के पीछे-पीछे अपने-आप चली आयेंगी। यह एक ऐसी बुराई है, जिसका तुरन्त इलाज होना चाहिए।

—महात्मा गांधी

आदर्श शिक्षा

डॉ० सूर्यदेव शास्त्री
साहित्यालंकार, एम० ए०, डी० लिट्०, अजमेर

ओ३म् सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।।

काव्यमय भावार्थ

[१]

प्राचीन भारत में सुदृढ़, गुरु शिष्य का सम्बन्ध था।
सत्प्रेम था, सद्भाव था, सहयोग था, सत्सन्ध था ।।
प्रतिदिवस शिक्षारम्भ में, उद्देश्य दुहराते रहे।
जिससे कि जीवन में सदा शिक्षा सुफल पाते रहे ।।

[२]

'सहनाववतु' हम साथ मिलकर, परस्पर रक्षा करें।
निज देशहित, निज धर्महित, निज राष्ट्रहित जीवें-मरें ।।
गुरु-शिष्य दोनों हों सबल, निज जाति का संकट हरें।
अरिदल न आँख उठा सके, वह शक्ति जीवन में भरें ।।

[३]

'सह नौ भुनक्तु' सदा रहें, मिल बाँटकर सुख भोगते ।
कोई न दीन रहे कभी, पूँजी न कोई बटोर ले ।।
यह देश अपना सब तरह धन-धान्य से भरपूर हो।
हो अर्थकरि विद्या हमारी, दीनता दुःख दूर हो ।।

[४]

'सहवीर्यं' हम मिल वीरता के कार्य ही करते रहें।
सत्साहसी बन राष्ट्र के संकट सदा हरते रहें।।
यदि विपद् वज्र गिरे कभी, ध्रुव धैर्य से उसको सहें।
गौरव बढ़ावें राष्ट्र का, 'जय मातृ भू' की ही कहें।।

[५]

'तेजस्वि नौ' हम तेजधारी, हों यशस्वी सर्वदा।
नहिं हम पराजय को लहें, नहिं दासता हो दुःखदा।।
कोई कभी ना हर सके, हमसे सुभग सुख सम्पदा।
हम दीन-हीन न हों कभी, आयें अनेकों आपदा।।

[६]

'मा विद्विषा' हममें परस्पर, कुछ न कोई द्वेष हो।
सब प्रेम से मिलकर रहें, कोई न कटुता क्लेश हो।।
हम 'सूर्य' सम तेजस्विवर, भारत हमारा देश हो।
हम हों जगद्गुरु, वेद का पावन अमर सन्देश हो।।

—सूर्य

•

तिस्रो यदग्ने शरदस्त्वामिच्छुचिं घृतेन शुचयः सपर्यान्।
नामानि चिद्दधिरे यज्ञियान्यसूदयन्त तन्वः सुजाताः॥

(ऋग्वेद ॥१।७२।३॥)

कोई भी मनुष्य वेद विद्या के बिना पढ़े विद्वान् नहीं हो सकता और विद्याओं के बिना निश्चय करके मनुष्य जन्म की सफलता तथा पवित्रता नहीं होती। इसलिए सब मनुष्यों को उचित है कि इस धर्म का सेवन करें।

वैदिक शिक्षा-सिद्धान्त की रूपरेखा

वेदमार्तण्ड आचार्य श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति
भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

भारतीय आर्य परम्परा में वेद को ईश्वर की वाणी माना जाता है। सृष्टि के आरम्भ में हमारे चर्म-चक्षुओं को सहायता देने के लिए प्रभु ने जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश दे दिया था उसी प्रकार हमारी मन और बुद्धि की आँखों को सहायता देने के लिए वेद-रूपी सूर्य के ज्ञान का प्रकाश भी दे दिया था। आर्यों के प्रायः सभी विचारक, आचार्य और ऋषि-मुनि वेद को मानव-मात्र के कल्याण के लिए सृष्टि के आरम्भ में दिया गया ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। प्रभु ने मनुष्य-जीवन के लिए उपयोगी सब प्रकार का आवश्यक ज्ञान वेद के रूप में सर्गारम्भ में ही दे दिया था। इसीलिए वेद को स्वतः प्रमाण माना जाता है। अन्य शास्त्र परतः प्रमाण हैं। वेद में जीवनोपयोगी सभी विद्या-विज्ञानों का मूल रूप में उपदेश कर दिया गया है। भारतीय आर्यों के आयुर्वेद, राजनीति, अर्थशास्त्र, संगीत और नाट्य विषयक सभी शास्त्र वेद से ही अपना उद्गम मानते हैं। आर्यों के स्मृति-ग्रंथ, धर्मसूत्र और गृह्यसूत्र आदि धर्मशास्त्र भी वेद को ही अपना उद्गम-स्थान स्वीकार करते हैं। जगत् के मौलिक तत्वों के सम्बन्ध में चिन्तन और विवेचना करने वाले उनके दर्शन-शास्त्र भी वेद को ही अपना आधार बताते हैं। अध्यात्म विद्या के रहस्यों का उद्घाटन करने वाले उपनिषद् ग्रंथ तो जिनकी गूढ़, सरल और सरस चिन्तन शैली प्रत्येक स्तर के पाठक को मुग्ध कर लेती है, वेद पर आधारित हैं ही। एक शब्द में, आर्यों की चिन्तना के सारे ही ग्रंथ और शास्त्र वेद को ही अपना उद्गम-स्रोत मानते हैं और कहते हैं कि वे वेद में उपदिष्ट बातों का ही अपने ढंग से विस्तृत व्याख्यान करते हैं। वेद आर्यों के दैनिक जीवन में भी गहरे रूप में ओत-प्रोत हैं। उनके जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कार, उनके सभी यज्ञ और अन्य धार्मिक तथा मांगलिक कार्य वेद मंत्रों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। इतना अधिक सम्मान, महत्व और गौरव आर्यों के मन में वेद का है। भारतीय इतिहास के एक लम्बे अन्धकारमय काल में वेद के पठन-पाठन की सही परिपाटी विलुप्त हो गयी थी। वेदों के अध्ययन की विलुप्त परम्परा के महान् पुनरुद्धारक और वेद के अद्वितीय ज्ञाता महर्षि दयानन्द ने फिर से उस परिपाटी को हमारे सम्मुख रखा है। जब ऋषि दयानन्द द्वारा प्रदर्शित सही परिपाटी से वेद का अध्ययन किया जाता है तो वेद हमें उसी प्रकार के सर्वविध ज्ञान के महान् स्रोत प्रतीत होने लगते हैं जैसा कि प्राचीन आर्य विचारक, आचार्य और ऋषि-मुनि उन्हें मानते आये हैं।

वेद में शिक्षा-विज्ञान

जहाँ अन्यान्य विद्या-विज्ञानों के सम्बन्ध में वेद में यथेष्ट वर्णन पाया जाता है वहाँ शिक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में भी बड़े महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। आज के बालक ही आगे चलकर मानव-समाज के कर्णधार बनेंगे। बालकों को जैसी शिक्षा दी जायेगी उसके अनुसार ही भविष्य में मानव-समाज का निर्माण होगा। किसी समाज के व्यक्ति कैसे हैं, उसके कुटुम्ब, उसके विभिन्न प्रकार के संगठन कैसे हैं, उसका राज्य संगठन कैसा है और उसकी अन्य सभी व्यवस्थाएँ किस प्रकार की हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके बालकों को शिक्षा कैसी दी जाती है? मानव-समाज की सर्वतोमुखी उन्नति और सुख-समृद्धि, उसके सर्व-विध कल्याण, उसके अभ्युदय और निःश्रेयस, उसके ऐहलौकिक और पारलौकिक सुख, शांति तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए यह देखना आवश्यक है कि उसके बालकों को सही प्रकार की शिक्षा दी जाये। वेद ने मानव-समाज के इस चहुँमुखी हित और मंगल को ध्यान में रखकर बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है वह बड़ा मार्मिक और ऊँची कोटि का है और उसमें शिक्षा-शास्त्र के सभी मौलिक सिद्धान्तों का समावेश हो गया है।

शिक्षा के सम्बन्ध में विचार करते समय सबसे पहले जिस बात की ओर ध्यान जाता है वह यह है कि शिक्षणालयों का परिवेश कैसा हो, बालकों को पढ़ाया क्या-कुछ जाये और गुरु-शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार का हो? इन तीनों के सम्बन्ध में वेद में बड़े स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं।

शिक्षणालयों का परिवेश

पहले शिक्षाणलयों के परिवेश को लीजिये। इस सम्बन्ध में यजुर्वेद में उल्लेख आता है कि "**उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत**" (यजु०, २६।१५)। एक हलके शाब्दिक परिवर्तन के साथ ऋग्० ८।६।२८ में भी यही मंत्र आता है। इसमें कहा गया है कि "पर्वतों के निकट और नदियों के संगम-स्थल पर गुरुओं की प्रज्ञा और क्रिया-कुशलता द्वारा प्रज्ञा और क्रिया-कुशलता से युक्त मेधावी विद्वान् तैयार होते हैं।" यहाँ वेद ने स्पष्ट निर्देश दिया है कि शिक्षणालयों की स्थापना के लिए आदर्श स्थान सुन्दर और रमणीक पर्वतीय प्रदेश तथा नदियों के संगम स्थलों के प्रदेश हैं। इसी प्रसंग में वेद में अन्यत्र कहा गया है कि "**एष वनेषु विनीयते**"(ऋग्०, ९।२६।३), "**सीदन् वनस्य जठरे**"(ऋग्०, ९।९५।१), "**धीभिर्हिन्वन्ति वाजिनं वने क्रीडन्तम्**" (ऋग्०, ९।१०६।११)। इन मन्त्र-खंडों का क्रम से शब्दार्थ इस प्रकार है—"यह सोम वनों में शिक्षित किया जाता है", "यह सोम शिक्षाकाल में वनों के मध्य में रहता है", "वनों में खेलते हुए इस बलशाली सोम को गुरु लोग अपनी बुद्धियों और क्रिया-कुशलता से बुद्धि और क्रिया-कुशलता प्रदान करके बढ़ाते हैं।" 'सोम' के अन्यान्य अनेक अर्थों के साथ वेद में उसका एक अर्थ गुरुकुल से शिक्षा-प्राप्त सौम्यत्वादि गुणों से युक्त स्नातक भी होता है। इस विषय में वेद के अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस लघु निबंध में स्थानाभाव के कारण वैसा करने का अवसर नहीं है। ऋग्वेद के इन तीनों मंत्रों के वर्णन से यह निर्देश मिलता है कि शिक्षा-संस्थाएँ सुन्दर वन-प्रदेशों में खोली जानी चाहिए। स्वच्छ जलवायु और रमणीय प्राकृतिक शोभा से युक्त पर्वत-प्रदेशों, नदियों के तटों तथा वनों में स्थापित संस्थाओं में रहकर शिक्षा

प्राप्त करने वाले छात्र-छात्राओं का शारीरिक स्वास्थ्य तो उत्तम रहेगा ही, उनका मानसिक स्वास्थ्य भी ऊँची कोटि का रहेगा। प्राकृतिक शोभाशाली प्रदेशों में मानव के मन को पवित्र और उदात्त भावनाओं से भरने की अद्भुत क्षमता होती है। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रदेशों में बनी संस्थाओं में रहने वाले छात्रों में साहसिकता और ऐडवेन्चर (adventure) की भावनाएँ प्रभूत मात्रा में प्रादुर्भूत होंगी, जीवन में प्रगति करने के लिए जिनकी नितान्तावश्यकता होती है। शिक्षा-संस्थाओं के स्थान-विषयक ये निर्देश एक आदर्श के रूप में हैं। ये संस्थाएँ जितना इस आदर्श के निकट जा सकेंगी उतना ही छात्रों और समाज के अधिक हित में होगा। उसका परिवेश अधिक-से-अधिक प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त हो ऐसा प्रयत्न तो प्रत्येक शिक्षा-संस्था को करना ही चाहिए। वेद के इन निर्देशों की यह अर्थापत्ति तो स्पष्ट ही है कि शिक्षा-संस्थाएँ दूषित वातावरण से भरे हुए नगरों के गलीकूचों और बाजारों में न बनायी जाकर नगरों से बाहर, उनसे पर्याप्त दूर बनायी जानी चाहिए। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द को गुरुकुल को नगरों से दूर, हिमालय पर्वत की उपत्यका में, गंगा के किनारे, रमणीय वन प्रदेश में स्थापित करने की प्रेरणा ऊपर उद्धृत यजु० २६।१५ मंत्र के ऋषि दयानन्द कृत भाष्य को पढ़कर ही हुई थी।

शिक्षणालयों में क्या-कुछ पढ़ाया जाये ?

शिक्षणालयों में पढ़ाया क्या-कुछ जाये, इस सम्बन्ध में भी वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में और अन्य अनेक स्थलों पर बड़े स्पष्ट निर्देश मिलते हैं। ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है कि "आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गुरुकुल रूपी पेट में तीन रात तक धारण करता है," **"तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति,"** (अथर्व० ११।५।३)। यहाँ रात्रि शब्द अज्ञानान्धकार का सूचक है। जब तक तीन प्रकार का उसका अज्ञान दूर न हो जाये तब तक आचार्य शिष्य को गुरुकुल में रखता है। जगत् में प्रकृति, जीव और ईश्वर—ये तीन तत्त्व हैं। इन तीनों विषयक अज्ञान को दूर करके जब तक शिष्य के मन को इन विषयक ज्ञान के प्रकाश से न भर दिया जाये तब तक आचार्य को चाहिए कि वह शिष्य को गुरुकुल में रखकर शिक्षा देता रहे। इस प्रकार वेद निर्देश देता है कि शिक्षा-संस्थाओं में प्रकृति, जीव और ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाले सभी प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक विद्या-विज्ञानों को पढ़ाने की व्यवस्था होनी चाहिए। पुनः वहीं कहा है कि "ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह पृथिवी-लोक, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक को अपनी ज्ञान-संग्रह की इच्छा रूप अग्नि की समिधा बनाता रहे," **"इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति"** (अथर्व०, ११।५।४)। यहाँ वेद स्पष्ट निर्देश देता है कि पृथ्वी पर, अन्तरिक्ष में और द्युलोक में जितने पदार्थ हैं, तृण से लेकर सूर्य और नक्षत्रों तक विश्व-ब्रह्माण्ड में जितने असंख्य पदार्थ हैं उनसे सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न विद्या-विज्ञानों की शिक्षा का प्रबन्ध शिक्षणालयों में किया जाना चाहिए। अथर्ववेद का प्रथम सूक्त भी शिक्षा-विषयक ही है। इस सूक्त के प्रथम मंत्र में अध्येता शिष्य अपने आचार्य और परमात्मा से प्रार्थना करता है कि "संसार के सभी रूपों को धारण करते हुए जो त्रिषप्त तत्व सब ओर परिभ्रमण कर रहे हैं, उनके स्वरूप के ज्ञान से प्राप्त होने वाले बलों, सामर्थ्य और शक्तियों को वाचस्पति अर्थात् आचार्य और परमात्मा मुझमें धारण करें," **"ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वारूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बलातेषां तन्वो अद्य दधातु मे॥"** (अथर्व०, १।१।१)। मन्त्र के "त्रिषप्ताः" पद की भाष्यकारों ने विभिन्न निरुक्तियाँ, विग्रह

और अर्थ किये हैं। इन अर्थों में विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में पाये जाने वाले सभी पदार्थों के घटक विभिन्न तत्वों का समावेश हो जाता है। इस प्रकार वेद के इस मंत्र से भी यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि शिक्षणालयों में छात्रों को विश्व के सभी प्रकार के पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले विद्या-विज्ञानों का शिक्षण दिया जाना चाहिए। एक शब्द में, भौतिक और आध्यात्मिक सभी विद्याओं का शिक्षण शिक्षा-संस्थाओं में दिया जाये, वेद का यह स्पष्ट संकेत है।

आज के विश्व में शिक्षा के क्षेत्र में आध्यात्मिक विद्याओं के शिक्षण की ओर ध्यान न देकर भौतिक विद्या-विज्ञानों की शिक्षा पर ही जो बल दिया जाता है उसके परिणामस्वरूप विश्व में जो राग-द्वेष, कलह, लड़ाई-झगड़े, युद्ध और अशांति का भयंकर वातावरण बना हुआ है, वह सभी को भलीभाँति विदित है। इसीलिए ब्रह्मा से लेकर महर्षि दयानन्द तक वेद के अनुयायी भारतीय विचारकों, आचार्यों और ऋषि-मुनियों की परम्परा निरंतर बालकों की शिक्षा में भौतिक विद्या-विज्ञानों के शिक्षण के साथ-साथ आध्यात्मिक विद्याओं के शिक्षण पर भी उतना ही बल देती रही है। स्वयं वेद भी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विद्या-विज्ञानों का ग्रंथ है और वेदानुमोदित शिक्षा-प्रणाली में वेद के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था एक आवश्यक अंग होगी। शिक्षा का इतना ऊँचा स्तर एक आदर्श है। शिक्षा-संस्थाओं में इस आदर्श के यथा-संभव अधिक-से-अधिक निकट पहुँचने का प्रयत्न होना चाहिए। परिस्थिति के अनुसार पाठ्य-क्रम कितना ही कम या अधिक हो, उसमें आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था अवश्य रहनी चाहिए।

गुरु और शिष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध

वैदिक गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर भी दृष्टि डालिये। वेद में दोनों के सम्बन्ध को बड़ा घनिष्ठ बताया गया है। वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है कि "आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन करके उसे गुरुकुल में प्रविष्ट करके मानो अपने गर्भ में रख लेता है," **"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"** (अथर्व०, ११।५।३)। वेद की यह उपमा गुरु और शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है। (१) जब तक बच्चा माँ के गर्भ में रहता है तब तक बाहर का कोई प्रभाव उस पर सीधा नहीं पड़ सकता, (२) जब तक बच्चा माँ के गर्भ में रहता है तब तक माँ का और उसका जीवन एक रूप रहता है, वे दो होते हुए भी वस्तुतः एक ही होते हैं, और (३) जब तक बच्चा माँ के गर्भ में रहता है तब तक माँ को अपने गर्भस्थ बच्चे की सर्वांगीण पुष्टि, वृद्धि और उन्नति की ही चिंता रहती हैं, उस अवस्था में वह जो कुछ भी करती है गर्भस्थ शिशु की भलाई को ध्यान में रखकर ही करती है। ऐसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध गुरु और शिष्य का होना चाहिए। अपने शिक्षाकाल में शिष्य गुरु के गर्भ-रूप शिक्षणालय में गुरुओं के निकट ही निवास करे, बाहर नगरों में निवास न करे, उस पर बाहर के लोगों का अवांछनीय प्रभाव न पड़ने पाये, गुरु लोग अपने साथ उसे जहाँ ले जाना चाहें वहीं वह जा पाये, जिन लोगों से उसे मिलाना चाहें उन्हीं से वह मिल सके और जो दृश्य या खेल-तमाशे वे उसे दिखाना चाहें उन्हीं को वह देख सके। जैसे माँ और गर्भस्थ बच्चे का जीवन एक रूप होता है और दोनों का खान-पान आदि सब कुछ एक होता है, वैसे ही गुरुओं और शिष्यों का जीवन भी एकरूप होना चाहिए, उनका खान-पान आदि सब कुछ इकट्ठा और एक-जैसा होना चाहिए और जैसे माँ को अपने गर्भस्थ बच्चे की भलाई और उन्नति का ही एकमात्र ध्यान रहता

है वैसे ही गुरुओं को भी एकमात्र अपने शिष्यों की भलाई और उन्नति का ही ध्यान रहना चाहिए। संसार की किसी और बात की ओर उनका ध्यान नहीं जाना चाहिए। उन्हें अपने छात्रों के साथ एकरूप हो जाना चाहिए। उनके साथ एकरूप होकर उनका सर्वांग परिपूर्ण निर्माण करना ही गुरुओं के जीवन का एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। गुरु और शिष्य में माता और पुत्र तथा पिता और पुत्र का प्रेममय गहरा सम्बन्ध रहना चाहिए। जिन शिक्षा-संस्थाओं में गुरु और शिष्य का इतना मधुर और अंतरंग सम्बन्ध रहेगा वहाँ छात्रों की ओर से कभी गुरुओं की अवज्ञा और अनुशासन भंग की समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती।

छात्रों का जीवन संयम, सादगी और तपस्या का रहना चाहिए

वेद की परिभाषा में विद्यार्थी को ब्रह्मचारी कहा जाता है तथा उसके नियमों और कर्तव्यों को ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य वेद के ऐसे व्यापक अर्थ देने वाले शब्द हैं, जिनका संसार की किसी भाषा में एक शब्द में अनुवाद नहीं हो सकता। ब्रह्म का एक अर्थ होता है—जगत् का विधाता सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर। जो ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान अर्जित करके उसी में विचरण और रमण करते रहने का जीवन व्यतीत करे वह ब्रह्मचारी है। ब्रह्म का अर्थ वेद भी होता है। ब्रह्म अर्थात् परमेश्वर का ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हो सकता जब तक ब्रह्म अर्थात् वेद और तदनुकूल शास्त्रों का अध्ययन न किया जाये। इसलिए ब्रह्मचारी का यह अर्थ भी हुआ कि जो वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करे। वेदादि शास्त्रों का अध्ययन और ईश्वर का ज्ञान संभव नहीं है जब तक व्यक्ति का अपनी इन्द्रियों पर वशित्व होकर उसमें पूर्ण संयम न हो। इसलिए ब्रह्मचारी का एक अर्थ हो जाता है पूर्ण संयम का जीवन बिताने वाला। इन्द्रियों में जननेन्द्रिय को वश में करना सबसे अधिक दुष्कर होता है। इसलिए ब्रह्मचारी का एक मोटा अर्थ हो जाता है अपनी जननेन्द्रिय को वश में रखकर अपने वीर्य को नष्ट न करने वाला व्यक्ति। ब्रह्म शब्द के और भी अनेक अर्थ होते हैं, उस सबके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है। वेद के अनुसार शिक्षाकाल में छात्रों के लिए ऐसा इन्द्रियजयी, संयमी ब्रह्मचारी होकर रहना नितान्त आवश्यक है। ब्रह्मचारी रहने के लिए आवश्यक यम-नियम आदि साधनों का सेवन छात्रों के लिए परमावश्यक है। इस सम्बन्ध में आर्यों के धर्मशास्त्रों में असीम बल दिया गया है। ब्रह्मचारी रहने के लिए अर्थात् इन्द्रियजयित्व का संयमी जीवन बिताने के लिए छात्रों का जीवन तपस्वी होना चाहिए। तप का अर्थ होता है शान-शौकत, तड़क-भड़क, ऐशो-इशरत और विलासिता का जीवन न बिताकर पूर्ण सादगी और स्वेच्छापूर्वक कष्ट-सहिष्णुता का जीवन बिताना और इस प्रकार कर्तव्य-पालन के समय गर्मी-सर्दी, वर्षा-आतप, भूख-प्यास, सुख-दुःख और मान-अपमान आदि द्वन्द्वों को सहने के लिए उद्यत रहना। वेद के ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व०, ११।५) में नौ बार ब्रह्मचारी के लिए तपस्वी होने का उल्लेख किया गया है।

गुरु लोग भी संयमी, सादे और तपस्वी रहें

शिष्य लोग जो कुछ सीखते हैं अपने गुरुओं के जीवन से सीखते हैं। अपने गुरुओं की विद्वत्ता को देखकर छात्रों में उन जैसा विद्वान् बनने की इच्छा होती है और उनके चारित्रिक गुणों को देखकर उनमें उन जैसा चरित्रवान् बनने की इच्छा होती है। यदि गुरुओं ने अपने छात्रों को ब्रह्मचारी बनाना है, उन्हें वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता, ब्रह्म-विद्या में निष्णात, भौतिक

और आध्यात्मिक सभी प्रकार के विद्या-विज्ञानों में पारंगत पंडित बनाना है तथा उन्हें इन्द्रिय-जयी, संयमी, तपस्वी और सादगी का जीवन व्यतीत करने वाला बनाना है, तो गुरुओं को भी अपने शिष्यों के साथ रहते हुए उसी प्रकार का व्यापक अर्थों वाला ब्रह्मचर्य का जीवन बिताना होगा। गुरुओं का जीवन जैसा होगा वैसा ही जीवन छात्रों का भी बनेगा। इसी अभिप्राय से वेद में कहा गया है कि "आचार्य को भी ब्रह्मचारी होना चाहिए"—"**आचार्यो ब्रह्मचारी**" (अथर्व०, ११।५।१६)। पुनः इसी सम्बन्ध में कहा है कि "आचार्य ब्रह्मचारी रहकर ही शिष्य को ब्रह्मचारी बनाना चाहता है"—"**आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते**" (अथर्व०, ११।५।१७)।

छात्रों को अर्थकरी विद्याओं की शिक्षा भी दी जाये

अथर्ववेद के १।१ सूक्त में आचार्य को 'वाचस्पति' और 'वसोष्पति'—इन दो नामों से सम्बोधित किया गया है। वाचस्पति शब्द से आचार्य की वाणी से उपलक्षित होने वाले वाङ्मय और उसमें निहित विभिन्न विद्या-विज्ञानों पर आधिपत्य की सूचना मिलती है। आचार्य के इस नाम से यह ध्वनित होता है कि गुरुजनों का कर्तव्य है कि वे अपने छात्रों को सभी प्रकार के विद्या-विज्ञानों का सैद्धान्तिक या थियोरैटिकल (theoretical) ज्ञान दें। आचार्य का 'वसोष्पति' नाम यह सूचित करता है कि वह अपने विभिन्न विषयों के सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यावहारिक प्रयोग में लाकर उससे जीवनोपयोगी 'वसु' अर्थात् धन-सम्पत्ति कमा सकता है। आचार्य के इस नाम की व्यंजना यह है कि गुरु लोग छात्रों को पढ़ाये जाने वाले विद्या-विज्ञानों के व्यावहारिक प्रयोग की भी शिक्षा दें जिससे छात्रगण आगे चलकर उसके द्वारा आजीविका कमा सकें। इस प्रकार आचार्य के इस 'वसोष्पति' नाम से वेद ने यह निर्देश भी दे दिया है कि छात्रों को उनकी आजीविका में सहायता देने के लिए अर्थकरी विद्याएँ भी सिखायी जानी चाहिए।

जो कुछ पढ़ाया जाये उसे रोचक बनाकर पढ़ाया जाये

अथर्ववेद के १।१, २-४ मंत्रों में शिष्य अपने आचार्य से कह रहा है कि "हे वाचस्पति आचार्य! ऐसी व्यवस्था कीजिये कि आपसे सुनकर आया हुआ ज्ञान मुझमें ही रहे, मैं उसे भूल न जाऊँ"—"**मय्ये वास्तु मयि श्रुतम्**" (अथर्व०, १।१।२-३)। "हे वाचस्पति आचार्य! ऐसा उपाय कीजिये कि मैं आपसे सीखे हुए ज्ञान से वियुक्त न हो जाऊँ"—"**मा श्रुतेन विराधिषि**" (अथर्व०, १।१।४)। सीखा हुआ ज्ञान छात्रों को विस्मरण न हो पावे, यह बड़े महत्व का प्रश्न है। शिष्य गुरु से यह प्रार्थना करता हुआ कि पठित पाठ मुझे विस्मृत न हो ऐसा उपाय कीजिये, गुरु से कहता है कि 'निरमय' (अथर्व०, १।१।२) अर्थात् "हे गुरुजी! आप मुझे जो पढ़ायें उसे रमणीय बनाकर, रोचक बनाकर पढ़ायें।" वेद ने शिष्य के मुख से यह कहलवाकर अपनी कवितामय शैली में यह सुझा दिया है कि जो कुछ पढ़ाया जाये उसे बड़ा रमणीय, बड़ा रोचक, बनाकर पढ़ाया जाये। ऐसा करने से छात्रगण पाठ को रुचि के साथ ध्यान से सुनेंगे और इस प्रकार रुचि और ध्यान से सुनी हुई बात उनके मन में गहरे रूप में अंकित हो जायेगी और वे फिर उसे भूलेंगे नहीं। पाठ को रोचक बनाकर पढ़ाने का सिद्धान्त शिक्षा-शास्त्र का एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धांत है।

छात्र नियमपूर्वक, परिश्रम और मनोयोग से पढ़ें

पढ़ा हुआ पाठ विस्मृत न हो जाये ऐसी प्रार्थना करते हुए (अथर्व०, १।१।३) मंत्र में शिष्य आचार्य से यह भी कह रहा है कि "**वाचस्पतिर्नियच्छतु**" अर्थात् "वाचस्पति आचार्य मेरे पठनपाठन को नियमित करके रखे, नियम में बाँधकर रखे।" वेद के इस कथन से यह निर्देश मिलता है कि शिक्षणालय में पठनपाठन का कार्य नियमित रूप से चलना चाहिए, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि या ढील नहीं होनी चाहिए। नियमित रूप से छात्रों को पढ़ाया जाये और नियमित रूप से उनसे पढ़ा हुआ पाठ सुना जाये। ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व०, ११।५) में छात्रों को अपना अध्ययन किस प्रकार करना चाहिए, इस सम्बन्ध में दो-तीन बड़े महत्वपूर्ण निर्देश दिये गये हैं। अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५ का चतुर्थ मन्त्र है :

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षम् समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्ति॥

इसमें कहा गया है कि विद्यार्थी को सदा ज्ञान संग्रह करने की तीव्र इच्छा रूपी अग्नि अपने भीतर प्रज्ज्वलित किए रखनी चाहिए और उस अग्नि में विभिन्न पदार्थों के ज्ञान की आहुतियाँ डालते रहना चाहिए—'समिधा'। ज्ञान-प्राप्ति की तीव्र इच्छा वाला छात्र ही ज्ञान का संग्रह कर सकता है और उसमें प्रवीण हो सकता है। फिर वहाँ कहा गया है कि छात्र को मेखलाधारी होना चाहिए—'मेखलया'। अथर्ववेद के मेखला सूक्त (अथर्व०, ६।१३३) में भी ब्रह्मचारियों द्वारा मेखला धारण करने का विधान है। मेखला धारण करना कटिबद्धता, जागरूकता, चौकन्नेपन और प्रमादरहितता की मनोवृत्ति का सूचक चिह्न है। इस वृत्ति वाले व्यक्ति में आलस्य, सुस्ती और ढीलेपन की भावना घर नहीं कर सकती। छात्रों को आलस्य, प्रमाद को त्यागकर सदा चौकन्ना और जागरूक रहकर पूरे मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए। ऐसा करने पर ही वे ज्ञान का संग्रह कर सकेंगे और उसमें कौशल प्राप्त कर सकेंगे। पुनः वहाँ कहा है कि छात्र को परिश्रमी होना चाहिए—'श्रमेण'। जो छात्र अध्ययन में परिश्रम करेगा वही ज्ञान का यथेष्ट संग्रह कर सकेगा और उसमें निपुण हो सकेगा। बुद्धि अच्छी होने के साथ-साथ छात्र को परिश्रमशील भी होना चाहिए। जिस छात्र की बुद्धि और परिश्रम का योग दूसरे छात्रों से जितना अधिक होगा वह उतना ही अधिक दूसरे छात्रों से आगे निकल जायेगा। गुरुजनों को सदा इस बात का प्रयत्न करते रहना चाहिए कि उनके छात्रों में अध्ययन की तीव्र लालसा जागती रहे, वे आलसी और प्रमादी न हों और वे अध्ययन में खूब परिश्रम करने वाले हों। 'छात्र श्रमशील हों'—वेद के इस वाक्य से यह ध्वनि भी निकलती है कि छात्रों को प्रतिदिन शारीरिक श्रम अर्थात् व्यायाम भी नियमित रूप से करना चाहिए। व्यायाम से छात्रों का शरीर स्वस्थ और नीरोग रहता है जिसके कारण उनकी बुद्धि की भी वृद्धि होती है। व्यायाम से ब्रह्मचारी रहने में भी सहायता मिलती है।

छात्रों की अन्तर्निहित विशिष्ट शक्तियों को विकसित किया जाये

ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है कि "आचार्य शिष्य के साथ मिलकर उसके सहयोग से सुख-

मंगल को बढ़ाने वाले विभिन्न विद्या-विज्ञानों के ज्ञान रूप तेज को शिष्य में उत्पन्न करता है, शिष्य की योग्यता और शक्तियों का चुनाव करने वाला आचार्य भविष्य में प्रजापति अर्थात् गृहस्थ बनने वाले शिष्य में जिस-जिस शक्ति को चाहता है आचार्य से स्नेह करने वाला ब्रह्म-चारी शिष्य उस-उस शक्ति को अपने में से निकालकर आचार्य को दे देता है"—"**अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ, तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान्मित्रो अध्यात्मनः**" (अथर्व०, ११।५।१५)। प्रत्येक छात्र में अनेक प्रकार की योग्यताएँ और शक्तियाँ छिपी पड़ी होती हैं। उसमें कुछ विशिष्ट योग्यताएँ और शक्तियाँ छिपी होती हैं। आचार्य उसकी इन छिपी हुई विशिष्ट शक्तियों को भाँप लेता है और उन्हें विशेष रूप से विकसित करने का प्रयत्न करता है और छात्र आचार्य के इस प्रयत्न में पूरा सहयोग देता है तथा साधना और तैयारी करके अपनी उसी विशिष्ट शक्ति को विकसित करके अपने आचार्य के आगे रख देता है। शिक्षा का उद्देश्य छात्रों की अन्तर्निहित विशिष्ट शक्तियों को विकसित करना ही होता है। शिक्षाशास्त्र के इस महत्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर वेद के इस मंत्र में बड़े काव्यमय ढंग से निर्देश किया गया है।

बालकों की भाँति कन्याओं को भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जाये

ऊपर 'शिक्षणालयों में क्या-कुछ पढ़ाया जाये' शीर्षक खंड में हमने देखा है कि वेद की अभिमत शिक्षा-पद्धति में सभी प्रकार के भौतिक और आध्यात्मिक विद्या-विज्ञानों की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा देने की व्यवस्था रहेगी। वह ऊँची शिक्षा केवल बालकों को ही दी जाये, वेद ऐसा नहीं मानता है। वेद की सम्मति में बालकों की भाँति कन्याओं को भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जानी चाहिए। ब्रह्मचर्य सूक्त में कहा गया है कि "कन्या ब्रह्मचर्य के पालन के द्वारा युवा पति को प्राप्त करती है"—"**ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**"(अथर्व०, ११।५।१८)। ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है ब्रह्मचारी अर्थात् विद्यार्थी के व्रतों, नियमों और कर्तव्य-कर्मों का पालन करना। विद्यार्थी के कर्तव्य-कर्मों में एक कर्तव्य वेदादि शास्त्रों और अन्य शास्त्रों की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करना भी है। कन्या भी ब्रह्मचारिणी रहकर ब्रह्मचारी के अन्य कर्तव्यों की भाँति इस कर्तव्य का भी पालन करेगी। वेद के इस मंत्र से स्पष्ट निर्देश मिलता है कि कन्याओं को भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा दी जाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

राष्ट्र के प्रत्येक बालक को युद्ध-कला की शिक्षा भी दी जाये

ऋग्वेद १०।८४ और अथर्ववेद ४।३१ सूक्तों में युद्ध-विषयक प्रकरण हैं। इन सूक्तों में यह उल्लेख आता है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को युद्ध की शिक्षा दी जानी चाहिए। ऋग्वेद के इस सूक्त के चौथे मंत्र का सम्बद्ध वाक्य इस प्रकार है—"**विशं विशं युधये सं शिक्षाधि,**" तथा अथर्ववेद के इस सूक्त के चौथे मंत्र का सम्बद्ध वाक्य इस प्रकार है—"**विशं विशं युद्धाय सं शिक्षाधि**"। इन दोनों वाक्यों का शब्दार्थ एक ही है कि "प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को युद्ध-विषयक सब प्रकार की शिक्षा दी जानी चाहिए।" उसे सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की भी शिक्षा दी जाये। उनके सुधारने और ठीक करने की भी शिक्षा दी जाये तथा युद्ध के व्यूहों और प्रकारों की भी शिक्षा दी जाये। यह शिक्षा व्यक्ति में अनुशासन को पैदा करेगी, मिलकर काम करने की भावना को पैदा करेगी, उनके शरीर को स्वस्थ और सबल बनायेगी और उनके मन में

निर्भयता उत्पन्न करेगी। इस प्रकार युद्ध-कला में प्रवीण प्रजाजनों के राष्ट्र की स्वतंत्रता को कोई हड़प नहीं सकेगा, उसे कोई अपमानित नहीं कर सकेगा और उसके अधिकारों को कोई दबा नहीं सकेगा। शिक्षणालयों में युद्ध-कला की शिक्षा देने की व्यवस्था भी यथोचित रूप में रहनी चाहिए।

शिक्षा सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए

युद्ध-कला की शिक्षा सबको अनिवार्य रूप से दिये जाने के सम्बन्ध में वेद के ऊपर के इस निर्देश की स्पष्ट रूप से यह ध्वनि भी निकलती है कि सामान्य शिक्षा भी सबके लिए अनिवार्य होनी चाहिए। एक निश्चित स्तर की सामान्य शिक्षा प्राप्त करने के अनन्तर ही किसी व्यक्ति के लिए युद्ध-कला की ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सकना सम्भव हो सकता है। इस प्रकार वेद राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य शिक्षा का पक्षपाती है। इसीलिए वेद के अद्वितीय वेत्ता महर्षि दयानन्द ने लिखा है कि राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि बालक और बालिकाओं को पढ़ने योग्य आयु होते ही उनकी पाठशालाओं में पढ़ने के लिए भेज दिया जाये, कोई भी अपने बालकों को घर में न रख सके, जो माता-पिता ऐसा न करें वे दण्डित किये जायें।

सह-शिक्षा नहीं होनी चाहिए

वेद शिक्षाकाल में ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त पर अत्यधिक बल देता है। वेद का ब्रह्मचर्य सूक्त (अथर्व०, ११।५) इसका अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण है। ब्रह्मचर्य के सिद्धान्त की अति स्पष्ट अर्थापत्ति यह है कि बालक और बालिकाओं की शिक्षा एक साथ नहीं होनी चाहिए, उनकी पाठशालाएँ अलग-अलग होनी चाहिए। बालकों की पाठशालाओं में शिक्षक और कर्मचारी सब पुरुष होने चाहिए और बालिकाओं की पाठशालाओं में शिक्षक और कर्मचारी सब महिलाएँ होनी चाहिए। इसीलिए भारतीय आर्य-परम्परा में सह-शिक्षा के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया है। सह-शिक्षा किसी स्तर पर भी नहीं होनी चाहिए। विशेषकर यौवन काल में तो होनी ही नहीं चाहिए।

छात्रों को चिकित्सा और भोजन-वस्त्रादि सब कुछ शिक्षणालय की ओर से निःशुल्क मिलने चाहिए

ब्रह्मचर्य सूक्त में काव्यमयी भाषा में रूपक से आचार्य के लिए कहा गया है कि वह शिष्य के लिए औषधि भी है, पय भी है—**आचार्यः...औषधयः पयः** (अथर्व०, ११।५।१४)। तात्पर्य यह है कि आचार्य शिष्य को औषधियाँ भी देता है और पय भी देता है। औषधि का अर्थ रोगनिवारक औषधियाँ भी होता है और भाँति-भाँति के अनाज भी होता है। पय का अर्थ दूध होता है। यह शब्द दूध से बनने वाले दही आदि तथा अन्य रसीले पदार्थों का उपलक्षक भी है। आचार्य के इस वर्णन से यह संकेत मिलता है कि रोगी हो जाने पर सब प्रकार की चिकित्सा तथा खाने-पीने के लिए सब प्रकार के भोजन और दूध आदि पदार्थ छात्रों को आचार्य के द्वारा शिक्षणालय की ओर से मिलने चाहिए। ऊपर 'गुरु और शिष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध' शीर्षक खंड में हमने देखा है कि वेद के अनुसार गुरु और शिष्यों को नगरों से बाहर शिक्षणालयों

में दिन-रात एक साथ निवास करना चाहिए। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि आचार्य को ही छात्रों की चिकित्सा और भोजनादि का सब प्रबंध करना होगा। उपर्युक्त रूपक में वेद ने ऐसा करना आचार्य का आवश्यक कर्तव्य ही बता दिया है। मंत्र के औषधि और पय शब्द वस्त्रादि सभी प्रकार की सामग्री के उपलक्षक हैं। इस कार्य के लिए शिक्षणालयों को राष्ट्र की ओर से पुष्कल आर्थिक सहायता दी जायेगी। धनाभाव या गरीबी के कारण राष्ट्र की कोई भी बालिका या कोई भी बालक शिक्षा से वंचित नहीं रहने दिया जाना चाहिए। वेद के इसी संकेत के आधार पर ऋषि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में लिखा है कि छात्रों को भोजन, वस्त्र आदि सब कुछ शिक्षणालय की ओर से मिलना चाहिए।

सब छात्रों के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिए

ऊपर 'गुरु और शिष्य का घनिष्ठ सम्बन्ध' शीर्षक खंड में हमने देखा है कि वेद के अनुसार गुरु शिष्य को शिक्षणालय में प्रवेश करके उसे एक प्रकार से अपने गर्भ में धारण कर लेता है, उसके साथ इतना घनिष्ठ और आत्मीय सम्बन्ध बना लेता है जितना किसी माँ का अपने गर्भस्थ बच्चे के साथ होता है। इस प्रकार आचार्य जितने भी बालकों को अपने शिक्षणालय में प्रविष्ट करेगा, उन सभी के साथ उसका यही माँ और गर्भस्थ बच्चे वाला घनिष्ठता का तथा आत्मीय सम्बन्ध होगा। सब छात्रों के साथ आचार्य के इस आत्मीय सम्बन्ध का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि उसका सभी छात्रों के साथ बर्ताव एक समान होगा जैसा कि माँ का अपने सभी बच्चों के साथ एक समान बर्ताव होता है। हमने अभी ऊपर की पंक्तियों में देखा है कि छात्रों को चिकित्सा और भोजन-वस्त्रादि सब कुछ शिक्षणालय की ओर से निःशुल्क मिलना चाहिए, वेद की ऐसी मान्यता है। आचार्य द्वारा शिक्षणालय की ओर से मिलने वाली सभी प्रकार की सामग्री और सुविधाएँ सभी छात्रों को एक समान मिलेंगी। छात्रों के साथ किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जायेगा, चाहे कोई छात्र किसी निर्धन मजदूर का बालक हो चाहे किसी प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति का बालक हो। वेद में अन्यत्र मानवमात्र को उपदेश दिया गया है कि सबको परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिए और सबको अपना खानपान समान रखना चाहिए—**"समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः"** (अथर्व०, ३।२३।६)। अपने नागरिक जीवन में किसी राष्ट्र के लोग समानता के इस ऊँचे आदर्श का पालन तभी भलीभाँति कर सकेंगे जबकि शिक्षा-काल में उनके गुरुओं ने अपने शिक्षणालयों में उनसे इस ऊँचे आदर्श का पालन करवा रखा होगा। वेद के इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर परम वेदज्ञ महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए लिखा है कि गुरुकुल में सब बालकों को तुल्य वस्त्र, खानपान और आसन दिये जायें चाहे कोई राजकुमार या राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र के सन्तान हों। इस प्रकार वेद द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-पद्धति पराकाष्ठा की साम्यवादी है।

शिक्षणालयों में सदाचार की शिक्षा भी दी जाये

वेद मानव-मात्र के कल्याण के लिए उपदेश देने वाला ग्रन्थ है। वेद मनुष्य के चरित्र को ऊँचा बनाने वाले उपदेशों से भरा पड़ा है। प्रत्येक व्यक्ति को अपना शरीर, वस्त्र, वर्तन और घर आदि साफ-सुथरे और स्वच्छ रखने चाहिए। उसे अपना मन भी पवित्र रखना

चाहिए। सादा और तपस्वी जीवन बिताना चाहिए। पूरा परिश्रम करने के पश्चात् जो कुछ भी धन-सम्पत्ति आदि प्राप्त हो उसी पर संतोष करने का स्वभाव बनाना चाहिए। उसे स्वाध्याय-शील रहना चाहिए। उसे ईश्वर-विश्वासी होना चाहिए और ईश्वर की भक्ति-उपासना में ईश्वर के गुणों का चिंतन करके उसके पवित्र गुण अपने भीतर धारण करने चाहिए। उसे सदा सत्य का व्यवहार करना चाहिए। सबके साथ उपकार और दया का आचरण करना चाहिए। किसी प्रकार की चोरी नहीं करनी चाहिए, अपनी कमाई पर ही निर्भर करना चाहिए। इन्द्रिय-जयी होकर संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए। लोभ-लालच से परे रहना चाहिए और धन-दौलत के संग्रह के लिए पागल होकर नहीं दौड़ने लगना चाहिए। प्राणिमात्र के प्रति मित्रता की भावना रखनी चाहिए। इस प्रकार की ऊँची चारित्रिक शिक्षा देने वाले स्थल वेद में भरे पड़े हैं। वेद का स्वाध्याय करने वाला हरएक व्यक्ति इस बात को भलीभाँति जानता है। इसलिए इस लघु निबंध में इस विषयक प्रमाणों को वेद से उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। किसी राष्ट्र के नागरिकों में चरित्र के ये ऊँचे गुण तभी घर कर सकेंगे और विकसित हो सकेंगे जबकि बचपन से उन्हें इनका अभ्यास कराया जायेगा। इसी दृष्टि से वेदानुयायी आचार्यों और ऋषि-मुनियों ने अपनी शिक्षा-पद्धतियों में छात्रों द्वारा इन गुणों के अभ्यास पर अत्यधिक बल दिया है। प्रत्येक छात्र के लिए और-और बातों के साथ शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—इन पाँच नियमों तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच यमों का पालन वैदिक ऋषि-मुनियों ने शिक्षा-पद्धति का एक आवश्यक अंग रखा है। इन दस यम-नियमों में वेद में वर्णित चरित्र के सभी ऊँचे गुणों का समावेश हो जाता है। चरित्र के सभी ऊँचे गुण इन दस यम-नियमों की व्याख्या मात्र हैं। जब तक चरित्र के इन उदात्त गुणों की शिक्षा भी छात्रों को नहीं दी जायेगी और उनसे इसका अभ्यास नहीं कराया जायेगा तब तक शिक्षा अधूरी रहेगी। और एक दृष्टि से देखा जाये तो हानिकारक भी होगी।

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेद में शिक्षा-विज्ञान के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसमें शिक्षा-शास्त्र के सभी मौलिक सिद्धान्त समाविष्ट हो जाते हैं। मनु आदि प्राचीन धर्म-शास्त्रकार अपने ग्रंथों में बालकों की शिक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखते रहे हैं वे प्रायः वेद के शिक्षा-विषयक मन्तव्यों को ही अपनी भाषा में लिखते रहे हैं। शिक्षा-विज्ञान पर विचार करने वाले देश-विदेश के आधुनिक विद्वानों ने भी अपने ग्रन्थों में जो कुछ लिखा है उसमें भी, बारीकी से देखने पर, वेद के ही शिक्षा-विषयक अनेक मन्तव्यों का समावेश मिलेगा। इस प्रकार वेद को शिक्षा-शास्त्र का मूलाधार कहा जा सकता है।

वैदिक शिक्षा

•

डॉ० रामजी उपाध्याय
पी-एच० डी०
अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

ज्ञान अपनी आधिभौतिक उपयोगिता के बल पर तो विश्व में सदैव प्रतिष्ठित रहा है, और रहेगा। प्राचीन भारत में इसके अतिरिक्त ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिए कुछ विशेष कारण थे। वेदकालीन धारणा के अनुसार ज्ञान के द्वारा मानव का व्यक्तित्व दिव्य हो जाता है। वह ज्ञान से सम्पन्न होने पर देवता बन जाता है। ऐसे विद्वान को समाज में सर्वोच्च आदर प्राप्त होता है।[1] मानव के जन्मजात तीन ऋणों में से ऋषि-ऋण से मुक्ति विद्या प्राप्त करने के द्वारा ही सम्भव मानी जाती थी।[2]

शतपथ ब्राह्मण में ज्ञान की प्रतिष्ठा को प्रमाणित करते हुए कहा गया है—स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र हो जाता है। वह स्वतन्त्र बन जाता है, नित्य उसे धन प्राप्त होता है, वह सुख से सोता है, अपना परम चिकित्सक है, उसे इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है। उसे यश मिलता है, वह लोक को अभ्युदय की ओर लगा देता है। वह ज्ञान के द्वारा ब्राह्मण का समाज के प्रति जो उत्तरदायित्व है, उसे पूरा करता है। समाज अपनी आदर-भावना से, दान से तथा सुरक्षा से उसे सन्तुष्ट करता है। विविध विषयों का अध्ययन करने वाले लोग देवताओं को सन्तुष्ट करते हैं। और प्रसन्न होकर देवता उनको अपनी शक्तियाँ प्रदान कर देते हैं।[3]

उपनिषद्-काल में ब्रह्मज्ञान का सर्वाधिक महत्त्व था, ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना अपने कुल की ब्रह्मज्ञता की प्रतिष्ठा करना, शोक को पार करना, पाप-रहित होना, अमरता और गुण-

---

१. ऋग्वेद १.१६४.१६ के अनुसार दार्शनिक रहस्यों को जानने वाले पिता के भी पिता हैं—'यस्ता विजानात्स पितुष्पिता सत् ।' शतपथ ब्राह्मण २.२.२.६ के अनुसार वेद के आचार्य मनुष्यों में देव हैं। उनको दक्षिणा देने मात्र से अभ्युदय की सम्भावना मानी जाती थी। अथर्ववेद ११.५ २६ के अनुसार स्नातक पृथिवी पर अतिशय शोभा पाता है—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ।।

२. तै० सं ६.३.१०.५

३. शतपथ ११.५.७.१-५

ग्रन्थि से मुक्ति पाना सम्भव माना जाता था।[१] अध्ययन और नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को धर्म का प्रमुख अङ्ग माना गया।[२] विद्या से अमरता पाने की सम्भावना बतायी गयी।[३] इस युग में ब्रह्मचर्य-जीवन को न अपनाने वाला व्यक्ति ब्रह्मबन्धु अर्थात् नाममात्र का ब्राह्मण कहा जाता था।[४] इसके विपरीत अविद्वान् नरक के अँधेरे में जा गिरता है।[५] अर्थशास्त्र में पूज्य लोगों में सर्वोच्च स्थान विद्या और बुद्धि से सुशोभित लोगों के लिए नियत किया गया।[६]

वैदिक काल में सूक्तों को कंठाग्र करने की रीति थी। आज तक साधारणतः किसी भी संस्कृत के धार्मिक ग्रन्थ को और विशेषतः वेदों और वेदाङ्गों को कण्ठस्थ करने का प्रचलन मिलता है। यज्ञों और उत्सवों के अवसर पर वैदिक सूक्तों का सस्वर गायन होता था। ऐसे पाठ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं होनी चाहिए थी। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित की अभिव्यक्ति वाणी के साथ ही हाथ की गति से की जाती थी। लोगों की भावना थी कि मंत्रों का अशुद्ध पाठ करने से पाप लगता है और कभी-कभी तो स्वरों का हेर-फेर हो जाने से अर्थ का अनर्थ हो सकता था।[७] ऐसी स्थिति में पाठ की शुद्धि के लिए आचार्य और विद्यार्थी बहुत सतर्क रहते थे। इस प्रकार की शिक्षा में आचार्य का आदर्श रूप में स्वयं पाठ समुपस्थित करना और फिर विद्यार्थियों को उसे दुहराना तथा साथ ही आचार्य के द्वारा अशुद्धियों की ओर विद्यार्थी का ध्यान आकर्षित करना स्वाभाविक विधि थी। ऋग्वेद के **"अनुब्रुवाणो अध्येति न स्वपन्"** में इसी विधि का निर्देश किया गया है।[८]

ऋग्वेद के अनुसार दार्शनिक शिक्षण की एक पद्धति है—विद्वानों की परिषद् में जिज्ञासुओं का प्रश्न पूछना। जिज्ञासु विनय-पूर्वक जिज्ञासा प्रकट करते है। वह कहते हैं—मैं पाक (न जानने वाला) हूँ। इस विषय में कुछ न जानते हुए मैं पूछ रहा हूँ। इस विषय को जो जानता हो, वह उत्तर दे —

को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति।
भूम्या असुरसृगात्मा क्व स्वित्को विद्वांसमुपगात्प्रष्टुमेतत्॥
पाकः पृच्छामि मनसा विजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वितत्निरे कवय ओतवा उ॥
अचिकित्वाञ्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥
इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रत गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः॥

(ऋग्वेद, १.१६४.४-७)

---

१. मुण्डक उप० ३.२.९
२. छान्दोग्य १,२३.१—'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।
३. ईश० ११ तथा केन उप० ४.९, बृ० आ०—१.५.१६
४. छान्दोग्य ६ १.१
५. बृहदारण्यक उप० ४.४.११
६. अर्थशास्त्र ३.२०
७. पाणिनि-शिक्षा के अनुसार वृत्र ने इन्द्र को मारने के लिए जो यज्ञ किया था, उसमें स्वर के अशुद्ध उच्चारण से फल ठीक उलटा मिला।
८. ऋग्वेद ७.१०.३५; ५ ४४.१

ब्राह्मणकालीन शिक्षण-पद्धति की कल्पना उपनयन के अवसर पर आचार्य के द्वारा विद्यार्थी को गायत्री सिखाने की विधि से हो सकती है। आचार्य पहले गायत्री का पाठ पादशः करता था, फिर आधे का और अन्त में पूरे का। शिष्य दुहराता जाता था।[१] इस युग की शिक्षण-विधि में प्रश्नोत्तर का विशेष महत्त्व था। प्रश्नों की रूप-रेखा इस प्रकार थी—अग्निहोत्री क्या जानकर प्रवास करता है? वह कैसे इस ज्ञान को प्राप्त करता है? अग्नियों के द्वारा कैसे उसकी सतत प्रतिष्ठा होती है? कैसे वह कह सकता है कि उसका घर से प्रवास नहीं हुआ? उत्तर इस प्रकार दिये जाते थे—जो सबसे अधिक प्रगतिशील है, वही प्रवास करता हुआ देखा जाता है, इस प्रकार उसकी बुद्धि प्रकट होती है, और उसकी अग्नियाँ उसकी प्रतिष्ठा करती हैं। अपनी मानसिक वृत्तियों के कारण वह प्रोषित नहीं होता।[२]

यज्ञ-विद्या सम्बन्धी जो व्याख्यान ब्राह्मण-साहित्य में मिलते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि आचार्यों के व्याख्यानों में प्रक्रिया सम्बन्धी विस्तार होते थे, और उन प्रक्रियाओं के रहस्यों और प्रभावों का सोदाहरण विवेचन किया जाता था।[३]

शनैः-शनैः ज्ञान की गरिमा बढ़ी। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार वैदिक विषयों का अध्ययन गाँव में मन-ही-मन मौखिक उच्चारण किये बिना ही करने का विधान बना। गाँव से बाहर अरण्यों में उन विषयों का अध्ययन वाचा अर्थात् वाणी से बोलकर करने की पद्धति चली।[४] सम्भवतः पाठकों को ध्यान रहता था कि उनके पाठों को अयोग्य व्यक्ति न सुन सकें।

अपने ज्ञान की परिपक्वता और पूर्णता की प्रतिष्ठा करने की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी भ्रमण करते हुए विभिन्न प्रान्तों के विद्वानों से विवाद करते थे। विवाद में परास्त होने पर वे कभी-कभी स्वयं विजयी विद्वान् के शिष्य बनकर उनसे विद्या सीखते थे। ऐसे विवाद वैदिक काल से ही प्रायः सदा होते आये हैं। विवादों में आजकल के शास्त्रार्थ की भाँति हठधर्मिता नहीं होती थी। विवादों के द्वारा सत्य का अनुसन्धान कर लेना तथा उसके आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास करना प्रधान उद्देश्य होता था।[५]

ब्राह्मण साहित्य की भाँति उपनिषद्-साहित्य भी प्रायः आचार्य-महर्षियों के द्वारा शिष्यों के समक्ष दिये हुए व्याख्यानों का संग्रह है। ईशोपनिषद् में इस प्रकार की व्याख्यान-शैली का उल्लेख नीचे लिखे श्लोक में किया गया है:—

अन्यदेवाहुर्विद्यया अन्यदाहुर विद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नः तद्विचक्षिरे॥

---

१. शतपथ ११·५.४·१५
२. शतपथ ११.३·१ ५-६
३. शतपथ ११.४.१.१०-१२
४. तै० आ० २.१.१२-१५
५. शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक तथा स्वैदायन के लिए देखिए ११.४.१.१-६। बृहदारण्यक उप० ३.१ के अनुसार याज्ञवल्क्य का कुरुपांचालों के साथ विवाद हुआ था। छान्दोग्य १.८ में शिलक, चैकितायन तथा प्रवाहण के शास्त्रार्थ का उल्लेख है। वैदिक, जैन, बौद्ध, आदि संस्कृतियों के आचार्यों में परस्पर शास्त्रार्थ होते थे। ह्वेनसाङ्ग ने ऐसे अनेक शास्त्रार्थों का उल्लेख किया है। शंकर दिग्विजय में शंकर का मण्डन मिश्र से से जो विवाद हुआ था, वह सुप्रसिद्ध है। कथा सरित्सागर १.८.२४ के अनुसार व्याकरण सम्बन्धी शास्त्रार्थ ८ दिन तक चलते रहते थे।

प्राय: ऐसे व्याख्यान प्रश्नोत्तर के रूप में हैं। विद्यार्थी के मन में शङ्का होती थी। वह अपनी शङ्काओं को समाधान करने के लिए महर्षि के समक्ष प्रस्तुत करता था। महर्षि उसके प्रश्नों का उत्तर देते थे। केनोपनिषद् में आरम्भ में ही विद्यार्थी आचार्य से पूछता है—मन, प्राण, वाणी, नेत्र और श्रोत्र किसकी प्रेरणा से अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होते हैं? इसके उत्तर में आचार्य ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी व्याख्यान देते हैं। इस प्रश्नोत्तर में सम्भवत: आचार्य के एक शिष्य की ही कल्पना है। उसी को बारंबार सम्बोधित करते हुए सारा भाषण दिया गया है। आचार्य के प्रति किसी शिष्य की उपनिषद्-सम्बन्धी जिज्ञासा इस प्रकार उपनिबद्ध की गई है—**उपनिषदं भो ब्रूहीति।**[1] उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन के अन्त में आचार्य कहता था—**उक्ता त उपनिषद ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति।**[2] उपनिषद् के प्रवचन में तत्सम्बन्धी उपयोगिता का दिग्दर्शन भी कराया जाता था। इसके द्वारा व्याख्यान के विषय में विद्यार्थी की अभिरुचि जाग्रत की जाती थी। केनोपनिषद् में आचार्य ने अपने भाषण के अन्त में ब्रह्मज्ञान के सम्बन्ध में कहा है— इसको जानने वाला लोक में प्रतिष्ठित होता है। कठोपनिषद् में आचार्य यम ने 'ओ३म्' की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि ओ३म् का बोध जिसको हो जाता है, उसकी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। 'ओ३म्' श्रेष्ठ आलम्बन है, इसको जानकर विद्वान् ब्रह्मलोक में पूज्य होता है।[3]

आचार्य और शिष्य में प्रवचन या व्याख्या का सम्बन्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार आचार्य और अन्तेवासी के बीच प्रवचन सन्धान है। इसी से विद्या-सन्धि की उत्पत्ति होती है।[4]

तत्कालीन आचार्य ब्रह्मज्ञान के गूढ़ रहस्यों को उपमा द्वारा सुबोध बनाते थे। आत्मा, शरीर, बुद्धि और मन के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आत्मा रथी है, शरीर रथ है, बुद्धि सारथी है, और मन पगहा है।[5] कभी-कभी आचार्य आध्यात्मिक रहस्यों का बोध कराने के लिए चाक्षुष कल्पना का अवलम्बन लेते थे। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि ने श्वेतकेतु की आत्मा के सम्बन्ध में प्रवचन देते समय जब देखा कि शिष्य की समझ में आध्यात्मिक रहस्य नहीं आ रहा है तो चाक्षुष कल्पना कराने के लिए उन्होंने वट के फल को टुकड़े-टुकड़े करवा कर समझाया। आचार्य और शिष्य का इस प्रसङ्ग में वार्तालाप इस प्रकार हुआ था—

श्वेतकेतु—मुझे आप फिर समझाएँ।
आचार्य—ठीक है, तुम वट का एक फल लाओ।
श्वेतकेतु—यह है, भगवन्!
आचार्य—इसको फोड़ो।

---

१. महाशय, आप उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन दें।

२. उपनिषद् सम्बन्धी प्रवचन समाप्त हुआ, मैंने ब्रह्म-विषयक उपनिषद् पर व्याख्यान दे दिया।
—केन उप० ४.७

३. कठोपनिषद् १.२.१६.१७। इस उपनिषद् में विद्यार्थी नचिकेता और आचार्य यम के प्रश्नोत्तर संगृहीत हैं।

४. तै० उ० ३.३

५. "आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥

श्वेतकेतु—यह फोड़ा, भगवन् !

आचार्य—इसमें क्या देख रहे हो ?

श्वेतकेतु—नन्हें बीज, भगवन् !

आचार्य—इसमें से किसी एक को फोड़ो।

श्वेतकेतु—यह फोड़ा।

आचार्य—इसमें क्या देख रहे हो ?

श्वेतकेतु—भगवन्, कुछ भी नहीं।

आचार्य—जिस अणिमा को तुम नहीं देख रहे हो, उसी अणिमा का बना हुआ यह महान् वट वृक्ष है। सोम्य, श्रद्धा करो। आत्मा भी उसी प्रकार वह अणिमा है, जिससे यह सारा विश्व है। श्वेतकेतु, तुम भी वही हो।

श्वेतकेतु—भगवन्, आप मुझे फिर समझाएँ।[1]

श्वेतकेतु की समझ में न आने पर अनेक उदाहरणों के द्वारा आचार्य ने उपर्युक्त विषय को दस बार समझाया।

ऊपर के इस व्याख्यान से प्रकट होता है कि आचार्य की वाणी मधुर होती थी। वह शिष्य का सम्बोधन करते हुए उसे 'सोम्य' कहता था और शिष्य आचार्य को 'भगवन्' कहता था। उपनिषदों में अन्यत्र भी आचार्य के शिक्षण में शिष्यों के उत्साह-संवर्धन का सफल प्रयास मिलता है। कठोपनिषद् में आचार्य ने शिष्य से कहा है—उठो, जागो, श्रेष्ठ आचार्यों को पाकर बोध प्राप्त करो।[2] प्रवचन के आरम्भ में आचार्य कभी-कभी ऐसे वाक्य भी कहता था—**सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।**[3] **ओ३म् सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।**[4]

अर्थात् हम दोनों को यश, ब्रह्मवर्चस साथ प्राप्त हों। हमारी साथ ही रक्षा करो, हम साथ पोषण प्राप्त करें, साथ ही बलशाली बनें, हमारा अध्ययन तेजस्वी हो, हम परस्पर विद्वेष न करें।

इस प्रकार की आचार्य और शिष्य की परस्पर भावनाओं और विचारों से अध्ययन करने के लिए उदात्त वातावरण बन जाता था।

आध्यात्मिक रहस्यों का चाक्षुष ज्ञान कराने के लिए शिष्य को उपवास तक करना पड़ता था। १५ दिन का उपवास करने पर श्वेतकेतु जब वेद-मन्त्रों को विस्मृत कर बैठा, तो आचार्य ने उसे समझाया—मन अन्नमय है।[5] भृगु ने बारंबार तपस्या करके अन्त में ब्रह्म के स्वरूप को जाना। इस प्रकार शिक्षण-विधि में तप का महत्त्व था।[6]

आचार्य कभी-कभी विद्यार्थियों से प्रश्न पूछ कर उनकी शङ्काओं का समाधान करते थे।

---

१. छान्दोग्य० ६.१२। बृहदारण्यक उपनिषद् में राजा अजातशत्रु ने गार्ग्य को ब्रह्मविषयक ज्ञान देने के लिए किसी सोये हुए मनुष्य के पास उसे ले जाकर जगाया, और फिर गार्ग्य से पूछा—यह विज्ञानमय पुरुष कहाँ था, जब यह व्यक्ति सोया हुआ था ? इस प्रकार प्रश्नोत्तर द्वारा शिक्षा दी गयी। बृ० उ० २.१.१६

२. क० उ० ३.१४

३. तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली ३.१

४. तै० उ० ब्रह्मानन्दवल्ली का आरम्भ

५. छान्दोग्य ६.७

६. तैत्तिरीयोपनिषद् भृगुवल्ली

अश्वपति ने अपने छह शिष्यों में से प्रत्येक से पूछा—तुम किस को आत्मा समझकर उपासना करते हो ? प्रत्येक के उत्तर सुनकर उनका विवेचन करके त्रुटियाँ बतला दीं।[1] अन्त में व्याख्यान दिया।

उपनिषद्-युग में आचार्य का शिक्षण में विशेष महत्त्व था। अपने आप सीखी हुई विद्या कच्ची ही समझी जाती थी।[2] फिर भी तत्कालीन शिक्षण को गौरवान्वित करने में जिज्ञासु विद्यार्थियों की ज्ञान-परायणता को ही प्रथम कारण कहा जा सकता है। आचार्य से जो कुछ श्रवण किया, उसे मनन और निदिध्यासन के द्वारा संवर्द्धित करके तदनुकूल व्यक्तित्व का विकास करने वाले ब्रह्मचारी महान् थे।

उपनिषद् का ज्ञान प्रारम्भ में वैयक्तिक निधि के रूप में विकसित हुआ। उस समय विभिन्न आचार्यों से शिक्षा पाने के लिए उत्सुक विद्यार्थी सदैव तत्पर रहते थे। जहाँ-कहीं ज्ञात हुआ, कि कोई विद्वान् दर्शन के उच्च तत्त्वों का ज्ञान रखता है, झट विद्यार्थी उसके पास पहुँचकर उस नयी वस्तु को सीख लेते थे। इस प्रकार उपनिषद् ज्ञान का शिक्षण प्रायः यथावसर ही प्राप्त किया जा सकता था। जनक पहले से ही उपनिषद् के विद्वान् थे। स्वयं गृहस्थाश्रम का जीवन बिताते थे। उपनिषद् के आचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य के आने पर उनके अभिनव ज्ञान का परिचय पाकर वे कहने लगे—नमस्कार ! हे याज्ञवल्क्य, मुझे शिक्षा दीजिये। यह कहकर वे आसन से उठ पड़े।[3]

वैदिक संहिताओं के अध्ययन-अध्यापन की शैली प्रायः पूर्ववत् रही। आचार्य दो पद या अधिक पदों का उच्चारण करता था। पहला शिष्य उनमें से पहले पद की आवृत्ति करता था। यदि सामासिक पद होते थे, तो आचार्य केवल एक पद बोलता था। यदि आवश्यकता हुई, तो फिर आचार्य उच्चारण-विधि का भी निदर्शन करता था। इस प्रकार पूरा प्रश्न समाप्त हो जाता था। फिर सभी शिष्य उसको दुहराते थे।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक शिक्षा में भारतीय संस्कृति के सर्वोच्च आध्यात्मिक और वैज्ञानिक तत्त्व महर्षियों के द्वारा प्रतिष्ठापित हैं। अतः वैदिक शिक्षा-पद्धति मनोवैज्ञानिक एवं क्रियात्मक शिक्षा-पद्धति के रूप में आज भी उपादेय है।

•

१. छान्दोग्य० ५.११-१८। बृहदारण्यक उ० ४·२.१ में याज्ञवल्क्य ने जनक से प्रश्न पूछा था, और उनके उत्तर न देने पर प्रवचन आरम्भ कर दिया था।

२. "आचार्याद्ध्येव विद्या विदिता साधिष्ठ प्रापति।"—छा० उ० ४.९·३। आचार्य का महत्त्व प्रायः सदा ही रहा है। एकलव्य ने द्रोणाचार्य का आचार्यत्व न पाकर उनकी मूर्ति ही बनाकर अपना काम चलाया। महाभारत आदि० १३१·३३-४। नारद के अनुसार तो—

"पुस्तकप्रत्ययाधीतं गुरुसंनिधौ।
भ्राजते न सभामध्ये जारगर्भ इव स्त्रियः॥
—पराशर माधवीय भाग १, पृष्ठ १४४

३. बृहदारण्यक उपनिषद् ४·२.१

४. ऋक् प्रातिशाख्य पटल १५

वैदिक शिक्षा-दृष्टि

•

श्री उमेशचन्द्र स्नातक
शिरोमणि, एम० ए०, सम्पादक 'आर्यमित्र'

महर्षि दयानन्द ने अपने महत्वपूर्ण ज्ञान एवं कार्यों से संसार को यह समझाने का प्रयास किया था कि शिक्षा का वास्तविक स्वरूप क्या है और क्या होना चाहिए।

वैदिक साहित्य के पद-पद में हमें ज्ञान के द्वार के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋचाएँ विश्व-विद्यालय के रहस्यों का उद्घाटन करती हुई मानवमात्र को प्रेरणा दे रही हैं। व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन का विकास किन आदर्शों और उपायों द्वारा सम्भव है, यह वैदिक ऋचाओं में सर्वत्र संव्याप्त है।

मानव की शक्तियों का विकास प्रत्येक मानव की मूलशक्तियों के आधार पर ही सम्भव है। अतः वेद आरम्भ में ही शक्तियों का विभाजन कर लक्ष्य निर्धारित कर देता है—

ब्रह्मणे ब्राह्मणं। क्षत्राय राजन्यं।
मरुद्भ्यो वैश्यं। तपसे शूद्रम्।। (यजु०, ३०।५)

अर्थात् इस जगत् में वेद और ईश्वर के ज्ञान के प्रचार के अर्थ ब्राह्मण को, राज्य की रक्षा के लिए क्षत्रिय को, पशु आदि प्रजा के लिए प्रजाओं में प्रसिद्ध जन वैश्य को और दुःख से उत्पन्न होने वाले सेवन के अर्थ प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करनेहारे शूद्र को सब ओर से उत्पन्न कीजिये।

शिक्षा जगत् में प्रवेश करते ही आचार्य अपने शिष्य की प्रवृत्तियों का निरीक्षण आरम्भ कर देता है। बालक में ब्राह्म (ज्ञानात्मक), क्षात्र (बल सम्बन्धी), संग्रह (उत्पादन और वितरण सम्बन्धी), तप (श्रम द्वारा निर्माण सम्बन्धी) जैसी शक्तियाँ संस्कारगत और वातावरणोत्पन्न होती हैं। उन्हीं को ध्यान में रखकर बालक के विकास की ओर ध्यान दिया जाता है।

इन मौलिक शक्तियों के विकास को दृष्टि में रखते हुए भा प्रत्येक आचार्य अपने शिष्य की ब्राह्म शक्ति (ज्ञान-ग्रहण शक्ति) और क्षात्र शक्ति (शारीरिक बल एवं सुरक्षा भावना) की ओर विशेष ध्यान देता है और शिष्य को वेद के शब्दों में निम्नलिखित प्रार्थना सिखाता है—

इदं मे ब्रह्म क्षत्रं चोभोश्रियमश्नुतां, मयि देवादधतु श्रियम्।

प्रभु से प्रार्थना है कि मेरे जीवन में ज्ञान और बल दोनों शक्तियों का समन्वित विकास हो और इन शक्तियों के कारण संसार में मेरी ख्याति हो, विद्वान् लोग मेरे जीवन में इन दोनों शक्तियों का विकास करें। व्यक्तिगत जीवन की यही प्रार्थना प्रत्येक समाज और राष्ट्र के लिए भी आवश्यक होती है।

मस्तिष्क और शरीर सम्बन्धी विकास के साथ-साथ प्रत्येक शिष्य को स्नातक बनाने से पूर्व आत्मिक दृष्टि से उन्नत बनाना भी प्रत्येक आचार्य का कर्त्तव्य होना चाहिए, क्योंकि—

अमृताः ऋतज्ञा देवाः।

देव (विद्वान् स्नातक) सब प्रकार की शारीरिक व्याधियों से मुक्त, उत्तम ज्ञान-विज्ञान से युक्त और आत्मिक दृष्टि से उन्नत होना चाहिए, क्योंकि देव अमृतज्ञ और ऋतज्ञ होते हैं।

मानव का उपर्युक्त सर्वाङ्गीण विकास एक दिन में सम्भव नहीं। उसके लिए चिरन्तन साधना की आवश्यकता होती है। दीर्घकाल तक आचार्य के समीप निवास करते हुए, उसके कठोर नियन्त्रण और अनुशासन का पालन करते हुए शिष्य अपना निर्माण कर सकता है। आचार्य भी नियन्त्रण के साथ-साथ उसके समुचित शारीरिक, आत्मिक, मानसिक—सभी प्रकार के विकास के लिए साधन और वातावरण प्रस्तुत करने में और शिष्य के जीवन में आने वाली चारित्रिक पतन की स्थितियों में उसकी सुरक्षा करने में उसी प्रकार संलग्न और दत्तचित्त रहता है, जिस प्रकार माता अपने गर्भस्थ बालक के स्वास्थ्य और सुरक्षा के लिए चिन्तित और सक्रिय रहती है। आचार्य का यह कार्य उसी दिन से आरम्भ हो जाता है जब से बालक का उपनयन होता है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति। तं जातं दृष्टुं अभिसंयन्ति देवाः॥

आचार्य शिष्य का निर्माण कैसे करेगा? सबसे पहले उसके पास ऐसा वातावरण होना चाहिए जहाँ वह अपना प्रयोग आरम्भ कर सके और सांसारिक अशान्ति से सुरक्षित हो। वेद ने कहा—

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनां, धिया विप्रो अजायत। (यजु०, २७।१५)

उत्तम आदर्शों, उत्तम शिक्षकों और अनुकरणीय अनुकूल वातावरणों में शिक्षा का आरम्भ और विकास सम्भव हो सकता है। पर्वतों की घाटियों एवं नदियों के संगम-स्थलों में उपस्थित विद्वानों में ही बुद्धि का उद्रेक होता है। इस कारण विद्वान् आचार्य अपने शिष्यों को ऐसे वातावरण में रखने का यत्न करे, जहाँ बालक अपनी आँखें खोलकर प्रकृति के वैचित्र्य और सौन्दर्य को निहार सके। इसके साथ ही प्रकृति की व्यापकता की भाँति अपनी दृष्टि को भी व्यापक बना सके। यही नहीं, प्रकृति की शक्तियों—अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्य, चन्द्र, अन्तरिक्ष सभी को जान उनके गुणों को आत्मसात् करने का प्रयत्न करता रहे। यह सब एक दिन में नहीं हो सकता। इसके लिए निरन्तर अभ्यास की जरूरत होगी। इसीलिए आचार्य शिष्य को बतलाता है—

कस्य ब्रह्मचार्य्यसि! तव। अग्ने ब्रह्मचार्य्यसि। वायो ब्रह्मचार्य्यसि। इन्द्रस्य ब्रह्म-

चार्य्यसि। सूर्यस्य ब्रह्मचार्य्यसि। प्रजापते ब्रह्मचार्य्यसि। बृहस्पते ब्रह्मचार्य्यसि। ते आचार्यस्तव। अहं आचार्यस्तव।

जीवन में स्वास्थ्य का सर्वाधिक महत्व है और स्वास्थ्य के लिए एकमात्र शक्ति अग्नि है। शरीर के तापमान में समाश्रयता रहे, व्याधियाँ न आ सकें, इसके लिए व्यायाम एवं प्राणायाम आदि उपायों द्वारा निरन्तर शरीर को स्वस्थ रखने की आवश्यकता है। यह सब आग्नेय शक्ति से सम्बन्ध रखता है। अग्नि शक्ति के महत्व और उपयोग को बताने के लिए प्रतिदिन यज्ञ का विधान है और अग्नि के गुणों का स्मरण कराया जाता है। ब्रह्मचारी आहुतियाँ देता है—

तनूपाग्ने असि तन्वं मे पाहि। आयुर्दा अग्ने असि आयुर्मे देहि। वर्चोदा अग्ने असि वर्चो मे देहि। अग्ने यन्म तन्वा ऊनं तन्म आपृण। (यजु०, ३।३७)

भौतिक अग्नि तो जीवन के लिए आवश्यक है ही, ज्ञानाग्नि द्वारा आध्यात्मिक वर्चस्व की वृद्धि भी सम्भव है। यही इस ऋचा का सन्देश है।

स्वस्थ मन और मस्तिष्क के लिए स्वस्थ शरीर भी आवश्यक होता है। इसलिए शिक्षा देने से पूर्व शिष्य की शारीरिक परीक्षा और न्यूनता निवारण भी अत्यन्त आवश्यक होना चाहिए। वाणी, दृष्टि, श्रवण आदि शक्तियों के बिना ज्ञान-ग्रहण कैसे सम्भव हो सकेगा? इसीलिए आचार्य शिष्य से कहता है—

वाचं ते शुन्धामि। प्राणं ते शुन्धामि। चक्षुस्ते शुन्धामि। श्रोत्रं ते शुन्धामि। नाभिं ते शुन्धामि। मेढ्ं ते शुन्धामि। पायुं ते शुन्धामि। चरित्राँस्ते शुन्धामि।

अज्ञानी और स्वार्थी लोगों ने इस शोधन प्रकरण को शिष्य के बदले यज्ञीय पशु की हिंसा में लगा दिया। वास्तव में गुरु द्वारा शिष्य की इन्द्रियों और उनकी शक्तियों को शुद्ध करने के संकल्प को ही पशु यज्ञ के रूप में ग्रहण किया जाना उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि पशु संज्ञा केवल चतुष्पदों की ही नहीं है, प्रत्युत '**पश्यतीति पशुः**' के आधार पर जीव मात्र पशु है। इसी अर्थ को लेकर महादेव को पशुपतिनाथ की संज्ञा दी गयी होगी।

इन्द्रियों की शुद्धता एवं बलिष्ठता के लिए न केवल आचार्य ही प्रयत्न करते हैं अपितु शिष्य को भी प्रतिदिन यज्ञ के समय निम्नस्थ पाठ करने का आदेश है—

वाङ् मे आस्ये अस्तु। नसोर्मे प्राणोऽस्तु। अक्ष्णोर्मे चक्षुरस्तु। कर्णयोर्मे श्रोत्रमस्तु। बाह्वोर्मे बलमस्तु। ऊर्वोर्मे ओजोऽस्तु। अरिष्टानि मेऽङ्गानि तनूस्तन्वा मे सहसन्तु।

मुंह में वाणी, नासिका में प्राण, आँखों में दृष्टि, कानों में श्रवणशक्ति, भुजाओं में बल, जंघाओं में ओज तथा अन्य सभी अंगों में यथायोग्य शक्तियों के साथ शरीर सदैव स्वस्थ रहे। शिष्य की यह प्रार्थना शिक्षाकाल में तो उपयोगी है ही। जीवनपर्यंत प्रत्येक मानव यही चाहता और प्रार्थना करता है।

प्रार्थना तो प्रार्थना ही है, उसके लिए प्रयत्न और अभ्यास भी अपेक्षित है। इस पवित्र प्रार्थना के लिए आचार्य मार्गदर्शन करते हैं तथा गुरुकुल के परिसर में एवं शिक्षोपदेशों में समझाते हैं कि उपर्युक्त प्रार्थित शक्तियाँ कैसे आ सकती हैं? गुरुकुल में ऐसा वातावरण उत्पन्न

किया जाता है; ऐसे साधन जुटाये जाते हैं, जहाँ शिष्यगण अपनी वाणी और दृष्टि का विकास कर सकें। दौड़ना, कूदना (ऊँचा, लम्बा), तीव्रगति, भारवृद्धि, भ्रमण, निरीक्षण आदि नियमित दिनचर्या और अभ्यास के अंग होने चाहिए। साथ ही ये सब कार्य व्यक्तिगत न होकर सामूहिक भी होने चाहिए, जिससे सब एक-दूसरे की शक्तियों को जान सकें और अपनी त्रुटियों का संशोधन कर सकें। आज की शिक्षा में खेल और व्यायाम को महत्वपूर्ण स्थान देने की बात स्वीकार की जाती है। वेद उसी को इन शब्दों में स्मरण करने का आदेश देते हैं--

यते स्वाहा। धावते स्वाहा। उद्द्रावाय स्वाहा। उद्द्रुताय स्वाहा। जयाय स्वाहा। जवाय स्वाहा। बलाय स्वाहा। विवर्तमानाय स्वाहा। विवृत्ताय स्वाहा। विधून्वानाय स्वाहा। विधूताय स्वाहा। शुश्रूषमाणाय स्वाहा। शृण्वते स्वाहा। ईक्षमाणाय स्वाहा। ईक्षिताय स्वाहा। वीक्षिताय स्वाहा। (यजुर्वेद)

शारीरिक उन्नति के लिए प्रतिदिन प्रातः और सायं नियमित रूप से कुछ समय देने के साथ-साथ शिक्षा सम्बन्धी ज्ञानार्जन के लिए समय देना परमावश्यक है। प्रातःकाल, मध्याह्न, एवं पूर्वरात्रि का अधिकांश समय विद्याभ्यास में ही लगाया जाना चाहिए। आज की भाँति केवल दस से चार तक का समय गुरुकुल पद्धति में नहीं होता था। गुरुकुल की आश्रम पद्धति का यही लाभ था कि गुरु और शिष्य चौबीसों घण्टे साथ-साथ रहते थे और उन्हें अपनी शिक्षा-व्यवस्था और पद्धति में पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

शिक्षा का उद्देश्य आत्मिक शक्तियों का विकास है। इसके लिए अध्ययन और मनन आवश्यक है। विश्व जीवन सम्बन्धी ज्ञानार्जन और आदर्शों के निर्माण के लिए आवश्यक है कि आचार्य अपने शिष्यों को भौतिक जीवन से आध्यात्मिकता की शिक्षा प्रदान करे। इसीलिए प्रतिदिन दोनों समय आचार्य ज्ञानाग्नि की प्रदीप्ति के लिए यज्ञवेदी में भौतिक अग्नि को प्रदीप्त करना सिखाते हैं। इस यज्ञाग्नि के पीछे शिक्षा का जो रहस्य है वेद के शब्दों में सुस्पष्ट है—

(१) **अग्नेसमिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। समे श्रद्धां मेधां च जातवेदाः प्रयच्छतु इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि। तथा त्वमस्मान् वर्धय प्रजया धनेन च। यदग्ने यानि कानिचिदादारुषि दध्मसि। सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिध्वः समिधूभव। आयुरस्मासु धेहि। अमृतत्वमाचार्याय।**

(२) **यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते तया मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु।**

(यजु०, ३२।१४)

दैनिक यज्ञ पद्धति से उत्पन्न विचारधारा के परिप्रेक्ष्य में निरन्तर अध्ययन आदि से मानव के मस्तिष्क में बौद्धिक विचारों और नैतिक मान्यताओं का संग्रह होता जाता है और शिष्य प्रकृति एवं आत्मा के रहस्यों को समझकर उनको जीवन में अपनाने लगता है। भविष्य में शिष्य जब जीवन-क्षेत्र में अवतरित होकर धन और यश प्राप्त करता है, तब श्रद्धावनत हो अपने परम आचार्य को स्मरण करता हुआ आगे बढ़ता है कि उनकी शिक्षा से ही मुझे सफलता मिली है।

मानव की जिन बौद्धिक शक्तियों के विकास का प्रयास शिक्षाकाल में होना चाहिए उनका व्यापक वर्णन हमें वैदिक ऋचाओं में मिलता है। उन शक्तियों का विवेचन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) सावित्री—क्रियात्मक शक्ति।
(२) ब्रह्मा—ज्ञान (सूचनाओं) का संग्रह, सिद्धान्त तथ्य, घटनाएँ।
(३) श्रद्धा—तर्क और अनुभव के आधार पर निष्ठा।
(४) मेधा—शुद्ध बौद्धिकता (मौलिकता) एवं प्रेरणा।
(५) प्रज्ञा—समझने की शक्ति और स्वरूप ग्रहण की क्षमता।
(६) धारणा—प्राप्त ज्ञान को स्मरण रखने की शक्ति।
(७) सदसस्पति—समूह पर नियन्त्रण और सभा संचालन।
(८) अनुमति—दूसरों के विचारों को जानना, सहमत होना और समझौता करना।

मानव-मस्तिष्क की ये कुछ शक्तियाँ हैं जिनका विकास बालक के शिक्षणालय में प्रवेश से आरम्भ होना चाहिए। और उसे दैनिक जीवन में इनकी उन्नति के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। वर्ष में सत्रारम्भ के दिन नवीन प्रविष्ट बालकों के साथ प्राचीन बालकों को भी इन शक्तियों का स्मरण आचार्य को कराना चाहिए। इसी दृष्टि से श्रावणमास की पूर्णिमा के दिन उपाकर्म पद्धति का विकास किया गया था। आज तो प्रवेश का न कोई नियम है और न स्वरूप। शिक्षाशास्त्रियों को प्रवेश की एकरूपता पर गम्भीर विचार करना चाहिए।

वेद मन्त्र में ब्रह्मचारी बालक प्रार्थना करता है—

आ न एतु पुनर्मनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ज्योक्ते सूर्यंदृशे ।। (यजु०, ३।५४)

हे परमात्मा, मेरे मस्तिष्क में ऐसी शक्तियों की वृद्धि कीजिये जिससे मैं ज्ञान के प्रकाश, अन्तः-बाह्य निरीक्षण, दीर्घ जीवन, आदर्श चरित्र आदि को प्राप्त हो सकूँ।

इसी प्रकार एक दूसरी प्रार्थना में ब्रह्मचारी कहता है—

आकूत्यै प्रयुजे अग्नये स्वाहा। मेधायै मनसे अग्नये स्वाहा। दीक्षायै तपसे अग्नये स्वाहा। सरस्वत्यै पूष्णे अग्नये स्वाहा। एता सर्वा हविषा विधेम ।। (यजु०, ४।७)

इस प्रार्थना में बालक ने अपनी शारीरिक और बौद्धिक शक्तियों के विकास की कामना की है। बालक प्रार्थना कर रहा है कि उसमें आदर्श शिक्षाओं के प्रति रुचि उत्पन्न हो और वह उन्हें ग्रहण कर सके, कार्य करने की प्रेरणा और क्षमता बढ़े, विचारों को समझने और ग्रहण करने में वह समर्थ हो, निश्चय करने की शक्ति बढ़े, अपने विचारों की अभिव्यक्ति (भाषणकला) में वह समर्थ और सफल हो, इन सबके साथ शरीर भी उत्तम आहार-विहार के द्वारा स्वस्थ और सुन्दर बने।

शिक्षा में आचार्य और शिष्य दोनों का सम्मिलित प्रयास आवश्यक है। इसलिए ब्रह्मचारी की उपर्युक्त प्रार्थना के साथ-साथ आचार्य की प्रेरणा और निरीक्षण भी निरन्तर जारी रहना चाहिए। इसी के सम्बन्ध में आचार्य द्वारा शिष्य की परीक्षा करते हुए कहा गया है—

मनस्ते आप्यायताम्। वाक्त आप्यायताम्। प्राणस्त आप्यायताम्। चक्षुस्त आप्यायताम्। श्रोतं त आप्यायताम्। यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्तै आप्यायताम्। निष्ठ्याय-

ताम् । तत्ते शुद्धयतु शमहोभ्यः । ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैन ᳪ हि ᳪ सीः ।
(यजु०, ६।१५)

यदि आचार्य अनुभव करे कि शिष्य के मस्तिष्क, वाणी, प्राण, दृष्टि, श्रवण तथा अन्य प्रकार की शक्तियों में किसी प्रकार की कमी है तो आचार्य चिकित्सक द्वारा उन शक्तियों को उचित स्वरूप प्रदान कराने का प्रयास करता है। इसके लिए विशेष निरीक्षण-व्यवस्था में शैक्षिक एवं शारीरिक अभ्यास की व्यवस्था की जाती है।

वेद असमर्थ, कमजोर, असहाय बालकों को निम्नलिखित प्रार्थना का आदेश देते हैं—

प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
उदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
क्रतूदक्षाभ्याम् मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
चक्षुर्भ्याम् मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
ओजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
आयुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व।
विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्। (यजु०, ७।२८)

केवल प्रार्थना मात्र से ये शक्तियाँ नहीं बढ़ सकती हैं, इनके लिए निरन्तर अभ्यास और निरीक्षण की आवश्यकता है। इसी अभ्यास पद्धति को क्रतु और निरीक्षण कार्य को दक्ष शब्दों से दोहराया जाता है। यहीं से प्राणायाम् और योगाभ्यास द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य संरचना आरम्भ होती है जो जीवन के लिए स्थायी लाभ दे।

शारीरिक शक्तियों के शुद्धिकरण, उच्चीकरण के साथ-साथ आवश्यक है कि शिष्य की ये शक्तियाँ सांस्कृतिक अर्थात् आत्मिक गुणों से समृद्ध हों। इसके लिए आचार्य उसे मन्त्र देता है कि सदैव भद्र सुनो, भद्र देखो और इस प्रकार सुदृढ़ शरीर वाले होकर शतायुष्य को प्राप्त करने में समर्थ हो—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ᳪ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

यही भद्र श्रवण और भद्र दृष्टि की भावना ही भद्र समाज के निर्माण का आधार होती है। आज की युवा पीढ़ी में जो उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता और स्वार्थपरता बढ़ रही है, उसका कारण भद्र भावना का अभाव ही है। आज की शिक्षा में इस तत्व की उपेक्षा है और इसी कारण शिष्य समाज नैतिक मूल्यों के महत्व को नहीं समझ पा रहा है।

स्वस्थ शरीर, स्वस्थ मस्तिष्क और पवित्र आत्मा का निर्माण (स्वरूप विकसित करना) ही वैदिक शिक्षा-पद्धति का सारांश है। इन शक्तियों का विकास ब्रह्मचर्यपूर्ण नियन्त्रित जीवन

पद्धति से ही सम्भव है। ब्रह्मचर्य का अर्थ इच्छाओं का दमन करने की शक्ति से है और इसके लिए सही तरीकों से भावनाओं, इच्छाओं के शुद्धिकरण का प्रयास किया जाना चाहिए। शिष्य को ज्ञान होना चाहिए कि किन भावनाओं और इच्छाओं का उसे दमन, शमन करना है और क्यों? आचार्य को अधिकार है कि वह निरन्तर जाँच करे कि शिष्य के चरित्र में नियन्त्रण की कितनी शक्ति है और अभी क्या कमी है? आचार्य चाहता है कि शिष्य अपने अन्दर आत्मिक शक्ति के माधुर्य को विकसित करने में संलग्न रहे। अतः शिष्य को ऐसी प्रार्थना करने का आदेश है—

मधुमतीर्न इषस्कृधि।

संस्कृति के शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक आदर्शों का विकास आकस्मिक नहीं हो सकता। इसके लिए सही मार्ग-दर्शन, उच्च सिद्धांत और निरन्तर अभ्यास का होना आवश्यक है। शुद्ध आचरण पद्धति का निरन्तर अभ्यास ही मानव के स्वभाव का निर्माण करता है। जैसे एक सैनिक अपने शस्त्र-संचालन को निरन्तर अभ्यास से परिमार्जित कर दक्षता प्राप्त करता है, उसी प्रकार शिष्य भी अपने भावी जीवन-संग्राम के लिए अपनी इच्छा-शक्ति के दमन, उदात्त भावनाओं के विकास का निरन्तर अभ्यास करके ही अपने आदर्श स्वरूप का विकास करने में समर्थ हो पाता है। शिष्य की अभ्यास-क्षमता आदि की वृद्धि, शक्तियों के उचित उपयोग, समीकरण आदि के लिए यज्ञ की पद्धति का विधान वैदिक शिक्षा-पद्धति की अपनी विशिष्ट कल्पना है। विचारों में गम्भीरता, स्थिरता और अच्छाई के लिए संघर्ष, क्षमता, वस्तु की परख, दूसरों के विचारों का श्रवण और उन पर विचार की क्षमता, क्रियाशीलता, प्रकृति-निरीक्षण और उसमें रुचि, अनुभूति-क्षमता, गम्भीर विषयों पर मनन, श्रवण और भाषण की शक्ति, बलिष्ठ शरीर तथा इसी प्रकार की अन्य शक्तियों का विकास बड़ी सावधानी और निरन्तर अभ्यास से ही संभव है।

इनकी प्राप्ति उत्तम शिक्षा-पद्धति से ही संभव है। इस दिशा में विश्वविद्यालय का शिक्षाक्रम केवल भाषा, गणित और इतिहास, भूगोल तक ही सीमित नहीं रहना चाहिए। छान्दोग्योपनिषद् और यजुर्वेद के १८वें अध्याय में मानवीय शक्तियों के विकास के लिए ब्रह्मचारी प्रार्थना करता है—

वाजश्चमे, प्रसवश्चमे, प्रयतिश्चमे, प्रसितिश्चमे, धीतिश्चमे, क्रतुश्चमे, स्वरश्चमे, श्लोकश्चमे, श्रवश्चमे, श्रुतिश्चमे, ज्योतिश्चमे, स्वश्चमे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

प्राणश्चमे, अपानश्चमे, व्यानश्चमे, असुश्चमे, चित्तंचमे, आधीतञ्चमे, वाक्चमे, मनश्चमे, चक्षुश्चमे, श्रोत्रञ्चमे, दक्षश्चमे, बलञ्चमे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

ओजश्चमे, सहश्चमे, आत्माचमे, तनूश्चमे, शर्मचमे वर्मचमे, अङ्गानिचमेऽस्थीनिचमे परूँषिचमे शरीराणि च मे, आयुश्चमे, जराचमे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

सत्यं चमे, श्रद्धा च मे, जगच्चमे, धनं चमे, विश्वं चमे, महश्चमे, क्रीडाचमे, मोदश्चमे, जातं चमे, जनिष्यमाणं चमे, सूक्तं चमे, सुकृतं चमे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

ऋतं चमेऽमृतं चमेऽयक्ष्मं चमेऽनामयच्चमे जीवातुश्चमे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्र च मेऽभयं चमे, सुखं चमे, शयनं चमे, सूषाश्चमे, सुदिनं चमे, यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

(यजु०, १८।१, २, ३, ५, ६)

इन प्रार्थना-मन्त्रों में जीवन के लिए आवश्यक सभी पदार्थों और शक्तियों की अनुकूलता की प्रार्थनाएँ की गयी हैं। भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान तथा अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के साथ-साथ समाज के लिए आवश्यक प्रबन्ध, सुरक्षा, राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, भौतिक शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, शरीर विज्ञान, जंतुशास्त्र, भूगर्भ विज्ञान, धातु खनन, धातु निर्माण, विद्युत-शास्त्र, नक्षत्र विज्ञान, दुग्ध उत्पादन, पशुचिकित्सा, चिकित्साशास्त्र, स्वास्थ्य-संवर्द्धन एवं सुरक्षा इत्यादि जीवनोपयोगी विज्ञानों का सैद्धान्तिक और क्रियात्मक ज्ञान शिक्षाकाल में ब्रह्मचारी प्राप्त करते थे और अपने को पूर्ण बनाते थे।

यही नहीं, उन्हें न्याय और विधि क्षेत्रों में भी पारंगत होने की प्रेरणा दी जाती थी।—

आशिक्षायै प्रश्निनं उपशिक्षायै अभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम्। (यजु०, ३०।१०)

सामाजिक जीवन से सम्बन्धित न्याय, सुरक्षा और अनुसंधान आदि पद्धतियों में सुयोग्य, बने व्यक्ति ही समाज की मर्यादाओं का पालन कर सकते हैं, करा सकते हैं। इसी प्रकार जीवन में काम आने वाली सभी कलाओं—संगीत, नृत्य, काव्य, स्वर्ण निर्माण, लोहार कार्य, संग्रह-करण एवं वितरण, वन-विज्ञानी, यानसंचालक, चर्मवस्तु-निर्माता, अभिभाषक (वकील), पशुपालक आदि सभी के योग्य बनने का प्रयत्न शिक्षाकाल में ही किया जाता था। उस समय की शिक्षा केवल पुस्तकीय ही नहीं थी, उसे जीवन से सम्बद्ध और क्रियात्मक बनाया गया था। शिक्षाकाल पूर्ण होने पर दीक्षान्त और समावर्त्तन की पद्धति का प्राचीन साहित्य में विस्तृत वर्णन है। उस काल के उपदेशों से स्पष्ट होता है कि आचार्य अपने शिष्य को तैयार करके भेज रहा है और उससे आशा करता है कि वह प्राप्त शिक्षा की गरिमा को जीवन में स्थापित करेगा और समाज का पथ-प्रदर्शन करेगा। ऐसी शिक्षा-व्यवस्था के लिए समाज के बुद्धिजीवियों और राज्य की ओर से पूर्ण प्रोत्साहन मिलना चाहिए। उपर्युक्त मार्गदर्शन से युक्त स्नातकों का समाज मानव-जाति में धन के सदुपयोग और वितरण की समस्या को सरलता से हल कर सकेगा—

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः सवितारम् नृचक्षसम्। (यजु०, ३०।४)

उपर्युक्त शिक्षा-विवेचन से ऐसा नहीं समझा जाना चाहिए कि वैदिक शिक्षा-दीक्षा में नारी के पक्ष की ओर ध्यान नहीं रखा गया है। वास्तव में नारी-शिक्षा के बिना वैदिक समाज का ढाँचा ही अपूर्ण हो जायेगा। इसलिए कन्या-शिक्षा पर वेद और ऋषिगण बराबर जोर देते रहे हैं।

गृह-प्रबन्ध, पशुपालन, कृषि-उत्पादन में सहयोग आदि ऐसे कार्य हैं जो शिक्षित-दीक्षित और सर्वाङ्गीण विकास वाली स्त्रियाँ ही कर सकती हैं और करती थीं। वैदिक पद्धति नारी को गृहस्थ जीवन का केन्द्र मानकर उसका अधिकतम दायित्व उसी पर रखने में समाज का हित मानती हैं और उसे अपने गृह-राज्य की साम्राज्ञी मानती हैं। नर के सम्मुख राष्ट्र में सुप्रबन्ध और शत्रुओं से सुरक्षा का विशेष दायित्व माना गया है। नारी भी इनमें सहायक सिद्ध हो, इसमें किसी को आपत्ति नहीं परन्तु नारी का दायित्व गृहप्रबन्ध में अधिक है। अतः नारी की शिक्षा गृहनिर्माण की दिशा में जितनी अधिक केन्द्रित होगी समाज उतना ही अधिक उन्नत और सुखी होगा। वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना में नारी को **'पुरंधिर्योषा'** कहा गया है अर्थात् समाज का

गृहप्रबन्ध दक्ष नारियों के हाथ में रहना चाहिए। वे ही नगर के गौरव की रक्षा कर सकती हैं।

नारी के सामाजिक महत्व को इस मन्त्र में और भी अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है—

मूर्धाऽसि राट् ध्रुवसि धरुणाऽसि धरणी। आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा यन्त्री राट्। यन्त्री असि यमनी ध्रुवाऽसि धरित्री इषे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा स्योना भव द्विपदे शं चतुष्पदे अपतिघ्नी स्याः ।।

मन्त्र के अन्दर प्रतिपादित योग्यताओं की प्राप्ति सुशिक्षा द्वारा ही सम्भव हो सकती है। प्राचीन गुरुकुलों में इस दिशा में अथक प्रयास किये गये और नारी समाज का निर्माण हुआ, तभी वह नागरिक जीवन में, गृहस्थ में आदर्श नारी बन सकी।

नारी समुदाय की शिक्षा के उपर्युक्त दृष्टिकोण के रहते हुए भी विशिष्ट नारियाँ दर्शन-शास्त्र और युद्धशास्त्र आदि में प्रवीणता प्राप्त करती रही हैं। उससे राष्ट्र को लाभ भी पहुँचा है परन्तु इस दिशा को समुदाय की शिक्षा का आधार नहीं बनाया जा सकता।

आधुनिक विश्व में शिक्षण-पद्धति का विकास हो रहा है। यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में शिक्षा सम्बन्धी विविध विषयों, कलाओं और पद्धतियों पर कार्य हो रहा है, परन्तु प्राचीन शास्त्रों, वेदों, उपनिषदों तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित कलाओं की सूची के ऐसे बहुत-से विषय हैं जिन पर अभी कोई कार्य नहीं हो सका है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने अपने ज्ञान-विज्ञान द्वारा अपने भौतिक और आध्यात्मिक सभी विषयों को शिक्षा का केन्द्रबिन्दु बनाया था। भौतिकता के मुकाबले उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक अधिक था। आज की पाश्चात्य शिक्षा में अध्यात्म चिन्तन कम है, यही मानव-जाति के विनाश का कारण है। आणविक शक्तियों के विकास में सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति संचित हो रही है और न्यूट्रान बम का भयावह आविष्कार हो चुका है। विश्व भय और आतंक से संत्रस्त है। ऐसी अवस्था में शिक्षा में आध्यात्मिक दृष्टि-कोण की सर्वाधिक आवश्यकता है।

प्राचीन शिक्षा में सृष्टि के निरीक्षण और उपयोग पर पूरा ध्यान दिया गया है। आज के शिक्षाशास्त्री भी इस पर विशेष बल देते हैं। प्राचीन शिक्षा तो प्रकृति से अविच्छिन्न थी। शिक्षा-केन्द्र की स्थापना—"उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनां धिया विप्रो अजायत" के आधार पर पर्वतों और नदी-तटों पर ही की जाती थी।

परिद्यावा पृथ्वी सद्य इत्वा परिलोकान् परिदिशः परिस्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्। (यजु० ३२/१२)

मेधां मे वरुणो दधातु मेधां अग्निः प्रजापतिः मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता दधातु मे। (यजु०, ३२।१५)

इस प्रकार प्रकृति से घिरा हुआ ब्रह्मचारी प्रकृति की शक्तियों को जानता-पहचानता और उसके उपयोग को सीखता हुआ वरुण, अग्नि, इन्द्र, वायु, प्रजापति—सबसे बौद्धिक विकास में सहयोग देने की प्रार्थना करता हुआ सम्पूर्ण पृथ्वी, सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर, सम्पूर्ण सृष्टि विज्ञान एवं उसके विस्तार को जानकर उसके नियन्ता परमात्मा को जानने का सतत प्रयास करता हुआ 'स्व' को परमात्मा तक पहुँचा लेता और मोक्ष सुख भोगता है। इसी भावना को

दृष्टि में रखकर कहा गया—"**ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः**" और "**नान्यः पन्थाविद्यतेऽयनाय।**"

इस प्रकार वैदिक शिक्षा का चरम लक्ष्य पुरुषार्थ की सिद्धि है। जो शिक्षा जीवन को पुरुषार्थ चतुष्ट्य के मार्ग पर चलने के योग्य बनाती है वही उत्तम और सफल शिक्षा है। इस दृष्टि से वैदिक शिक्षा-पद्धति की श्रेष्ठता सुस्पष्ट है।

आज शिक्षा-क्षेत्र में जो अशान्ति और अव्यवस्था संव्याप्त है, उसका निराकरण शिक्षा के वैदिक दृष्टिकोण से ही सम्भव हो सकेगा। आज शिक्षा को व्यापार बना दिया गया है; शिक्षा का अर्थकारी होना ही शिक्षा की सार्थकता मानी जाती है, परन्तु यह दृष्टिकोण दूरदर्शी नहीं है। जब तक शिक्षा को ज्ञान-दान और सेवा-भावना से सम्पृक्त नहीं किया जायेगा; जब तक शिक्षा को विचार स्वातन्त्र्य नहीं मिलेगा; जब तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन की प्रणाली का विकास नहीं होगा तब तक शिक्षा के लिए बड़े-बड़े विशाल भवन भले ही बनते रहें, शिक्षा शिक्षा न बन सकेगी। शिक्षा का जीवन और चरित्र से अभिन्न सम्बन्ध होना चाहिए। प्रत्येक जीवन का दर्शन होता है और प्रत्येक व्यक्ति उसी दर्शन के आधार पर अपने चरित्र का निर्माण एवं विकास करता है। आज जीवन का दर्शन अर्थ और काम है। सारा चक्र इसी आधार पर घूम रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि धर्म और मोक्ष के अन्तर्गत अर्थ और काम को सीमित रखा जाये।

वैदिक शिक्षा ने अर्थ और काम की उपेक्षा नहीं की। आचार्य अपने नव स्नातक को उपदेश में कहता है—"**आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी।**" आचार्य के लिए (शिक्षा कार्य को उन्नत बनाने में सहयोग देने की भावना से) गुरुदक्षिणा-धन प्रदान कर गृहस्थ जीवन धारण कर। शिक्षा काल में अर्थ और काम दोनों से ब्रह्मचारी असम्पृक्त था। उसकी शिक्षा के आधार धर्म और मोक्ष थे। कितनी उपयुक्त और सही दृष्टि है! इस वैदिक दृष्टि का शिक्षा में समावेश ही आज की शिक्षा-समस्या का समाधान है और मानव-जीवन के लिए भय और आतंक से संत्रस्त मानव-जाति के लिए विनाश से बचने का आदर्श सुपथ है।

●

आचार्य उसको कहते हैं जो अत्याचार को छुड़ाके सत्याचार का,
अनर्थों को छुड़ाके अर्थों का ग्रहण कराके ज्ञान को बढ़ा देता है।

—महर्षि दयानन्द

प्राचीन भारत में ब्रह्मचारी की आचार-संहिता

•

श्री शंकरदेव विद्यालंकार
एम० ए०
उपाचार्य, गुरुकुल महाविद्यालय, पोरबंदर (गुजरात)

सह नौ यशः।
सह नौ ब्रह्मवर्चसम् ॥

उपनिषद् अर्थात् आर्यजाति की ज्ञान-वाटिका के दिव्य प्रसून, फल और दिव्य ओषधियाँ। मनुष्य के आत्मिक और लौकिक जीवन के प्रकर्ष के लिए उपनिषदों में उत्तम प्रकार का ज्ञानभोज प्रस्तुत किया गया है। ईशोपनिषद् गाती है—

विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेद् उभयं सह।
अविद्या मृत्युं 'तीर्त्वा, विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥

जो मनुष्य अविद्या अर्थात् लौकिक ज्ञान और विद्या अर्थात् आत्मिक ज्ञान, दोनों की उपासना करता है, वह लौकिक ज्ञान द्वारा मृत्यु अर्थात् सांसारिक कष्टों को पार करके अध्यात्म-ज्ञान से अमृतत्व—परम आनंद को प्राप्त करता है।

उपनिषद् का अभिप्राय है, ज्ञानोपासना के लिए गुरु के समीप श्रद्धापूर्वक बैठना। गुरु-गृह में उसके सान्निध्य में रहकर ब्रह्मचर्य-पूर्वक ज्ञान-साधना करना। इस समस्त प्रक्रिया में प्राचीन आर्यों की शिक्षण-पद्धति का स्वरूप निखर आता है।

ऐसे आश्रम जीवन के शांत एकांत वातावरण में अध्यात्म-जीवन की प्रेरणा प्रबुद्ध होती है, आत्मिक जीवन विकसित होता है और समृद्ध बनता है।

आचार्यप्रवर सर्वपल्ली राधाकृष्णन्जी कहते हैं कि उन आश्रमों में ऐसा वातावरण सुलभ था, क्योंकि गुरुकुलाश्रमों में एक ही स्थान पर घर, विद्यालय और मंदिर का प्रेममय और पवित्र वायुमंडल उपस्थित था। वहाँ के शिक्षक जन अहर्निश आध्यात्मिक जागरण के लिए, चारित्रिक प्रबोध के लिए तथा उस प्रबोध के अनुसार अपना जीवन जीने के लिए संकलपशील थे।

ये गुरुकुल-आश्रम, तपस्वी ऋषि-मुनियों के निवास-स्थान थे। ये आश्रम आत्मिक जीवन, सदाचार और शील-प्राप्ति के केन्द्रस्थान थे। साथ ही इन आश्रमों में विविध विद्याओं

के अध्ययन की व्यवस्था थी। समाज और राष्ट्र के बालकों को छोटी उमर में ही इन आश्रमों में भेज दिया जाता था। वहाँ गुरुजन उनको अपने निजी बालकों की तरह स्नेह-पूर्वक रखते थे। शिक्षण काल के समय में वे बालक 'ब्रह्मचारी' कहे जाते थे। वे गुरुजी और उनके परिवार की सेवा करते थे। गुरु के आश्रम की वाटिकाओं, खेतों और गायों की व्यवस्था करते थे। गुरु के लिए वनों में से यज्ञ की समिधाएँ और कंद-मूल-फल-शाक आदि लाते थे। समीप की बस्तियों से वे भिक्षा भी ले आते थे।

कई आश्रम बहुत बड़े होते थे। वहाँ सहस्रों की संख्या में ब्रह्मचारी, मुनि और शिक्षक-जन निवास करते थे। उन सबसे अध्ययन अध्यापन, योग-क्षेम और यज्ञादि के अनुष्ठानों की व्यवस्था आश्रम के प्रधान आचार्य करते थे। उनको कुलपति कहा जाता था। कुलपति की परिभाषा इस प्रकार की गयी है—

मुनीनां दशसाहस्रं
योऽन्नदानादि पोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः
असौ कुलपतिः स्मृतः॥

अर्थात्—जो ब्राह्मण आचार्य दस सहस्र तपस्वी व्रती ब्रह्मचारियों के भोजन-वस्त्र आदि की व्यवस्था को चलाते हुए अध्यापन कार्य करता है, वह कुलपति कहाता है। शकुन्तला के पालक धर्म-पिता कण्व ऋषि भी कुलपति थे। इससे ज्ञात होता है कि कम-से-कम गुप्तकाल तक तो कुलपति की परम्परा चलती आ रही होगी। महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में इन आश्रमों का बड़ा गौरव-गान किया है।

गुरुकुलाश्रमों में रहने वाले बालक बहुत सादा, सरल और तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। इस सारी ब्राह्मजीवन की प्रक्रिया के लिए वेद में एक अन्यत्र अर्थवाहक सुन्दर शब्द को प्रयुक्त किया गया है—ब्रह्मचर्य।

ब्रह्मचारी अर्थात् व्रती, वर्णी, ज्ञानार्थी-अन्तेवासी, बटु, शिष्य। ब्रह्मचारी शब्द की व्युत्पत्ति बहुत अर्थवाहक और बोधप्रद है। ब्रह्म कहते हैं, भगवान् को और ब्रह्म कहते हैं, ज्ञान को। "ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी"—(१) अर्थात् जो बालक भगवान् में विचरण करते हुए भागवत्-प्रेम की अनुभूति के लिए पुरुषार्थ करे, तपस्या करे, वह ब्रह्मचारी। अथवा (२) ब्रह्म अर्थात् ज्ञान, जो बालक विविध शास्त्रों के शिक्षण के लिए गुरुकुलवास द्वारा तपस्या करे वह ब्रह्मचारी। आचार्य क्षीर स्वामी, ब्रह्मचारी की व्युत्पत्ति करते हुए लिखते हैं—"ब्रह्म वेदा, ब्रह्म तपो, ब्रह्म ज्ञानं च शाश्वतम्, तत् चरति अर्जयति अवश्यं ब्रह्मचारी वर्णी।"

कठश्रुत्युपनिषद् में ब्रह्मचारी का लक्षण इस प्रकार मिलता है—"ब्रह्मचारी वेदं अधीत्य वेदौ वेदान् वा चरेत् ब्रह्मचर्यम्।"

इस ब्रह्मचर्य शब्द में, विद्यार्थी अवस्था में पालने योग्य सभी इन्द्रियों के संयमों, व्रतों, सदाचरणों और कर्तव्यों का समावेश हो जाता है। इसीलिए ब्रह्मचर्य को परम तप कहा है— "ब्रह्मचर्यं परं तप।" महाभारत में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य से ब्रह्मचारी मोक्ष को प्राप्त करता है—

यदिदं ब्रह्मणो रूपम्
ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम् ।
परं तत् सर्व-धर्मेभ्यः
तेन याति परां गतिम् ।।

छान्दोग्य उपनिषद् ब्रह्मचारी के गौरव का वर्णन इस प्रकार करता है—"ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी, अत्यन्तं आत्मानं आचार्य कुले अवसादयत् ।" अर्थात्, ब्रह्मचारी गुरुकुल में रहकर अपने आपको आचार्य के प्रति सर्व-भाव से अर्पित कर देता है। ऐसी तपस्या से उस बालक में ज्ञान की शक्ति और तेजस्विता प्रकट होती है और वह ब्रह्मज्ञानी बनता है। आगे उसी उपनिषद् में कहा है—

यदा वै बली भवति, अथ
उत्थाता भवति, उत्तिष्ठन्
परिचरिता भवति, पस्विरन्
उपसत्ता भवति, उपसीदन्
द्रष्टा भवति, श्रोता भवति
मन्ता भवति, बोद्धा भवति,
कर्त्ता भवति, विज्ञाता भवति ।।

अर्थात्—ब्रह्मचर्य के तप से बालक बलवान् होकर उठकर खड़ा होता है, फिर वह गुरु की परिचर्या करता है। गुरु के समीप जाकर बैठता है। वह गुरु के जीवन को ध्यानपूर्वक देखता है। उसके उपदेश का स्मरण करता है। उसका मनन करता है, उसको समझता है, उसके अनुसार आचरण करता है। इस प्रकार अन्त में उसको विज्ञान (अपरोक्ष की अनुभूति) होता है, वह ब्रह्मविद् बनता है।

उपनिषद् की भावना के अनुसार ब्रह्मविद् होना, मानवीय जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति।" अर्थात्—ब्रह्मविद् पुरुष भगवान् में विचरण करता है, परम आनंद को प्राप्त करता है।

यहाँ ब्रह्मचारी के आचार की एक महत्वपूर्ण वस्तु शुश्रूषा का विशेष भाव जानना जरूरी है। लोक प्रचलित अर्थग्रहण की दृष्टि से शुश्रूषा का अर्थ सेवा होता है। परन्तु इसका मूल धात्वर्थ "श्रोतुं इच्छा शुश्रूषा"—अर्थात् श्रवण करने की इच्छा, इस प्रकार होता है। व्रती बालक गुरु के उपदेश श्रवण की इच्छा का अधिकारी तभी बन सकता है, जब वह अहर्निश श्रद्धापूर्वक गुरुसेवा में तत्पर रहे। ऐसा श्रद्धामय और तपस्यापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति के गौरव का वर्णन मुण्डक-उपनिषद् इस प्रकार करती है—

तपः श्रद्धे ये हि उपवसन्ति अरण्ये
शाला विद्वान्सो भैक्षचर्या चरन्त : ।
सूर्य-द्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्राऽमृतः पुरुषो हि अव्ययात्मा ।।

अर्थात्—जो ज्ञानी लोग शान्त और समाहित-चित्त होकर तप और श्रद्धापूर्वक अरण्य में सादा सरल जीवन व्यतीत करते हैं, वे रजोगुण-रहित होकर अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार के तपोनिष्ठ और संयमी जीवन के लिए, ब्रह्मचारी की आचार-संहिता बहुत महत्व की है। ब्रह्मचर्य-काल का मतलब है, तन और मन की समस्त शक्तियों का संग्रहकाल। इसमें आलस्य, शिथिलता, अनियमितता, विलास और आराम को स्थान नहीं होता। महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यासजी कहते हैं—

आलस्यं मदमोहौ च
चापल्यं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं
तथाऽत्यागित्व येव च।
एते वै सप्त दोषा स्युः
सदा विद्यार्थिनां मताः॥

सुखार्थिनां कुतो विद्या
कुतो विद्यार्थिनां सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेत् विद्यां
विद्यार्थी वा त्यजेत् सुखम्॥

(महाभारत)

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मचारी के आदर्श को इस प्रकार निरूपित किया है—

युवा स्यात् साधु अध्यापकः
आशिष्ठः द्रढिष्ठः बलिष्ठः-
तस्य एव सर्वा पृथिवी वित्तपूर्णाः स्यात्॥

अर्थात्—(१) तरुण ब्रह्मचारी को विद्याध्ययन में खूब ध्यान देते हुए समाज का आदर्श शिक्षक बनने की तैयारी करनी चाहिए।
(२) उसे अनुशासनप्रिय, आज्ञानुवर्ती होना चाहिए।
(३) उसे दृढ़निश्चयी अर्थात् दृढ़-संकल्प होना चाहिए।
(४) उसे शारीरिक दृष्टि से दृढ़, पुष्ट, बलिष्ठ होना चाहिए।

ऐसे तपस्वी ब्रह्मचारी को पृथिवी की समस्त संपदाएँ प्राप्त होती हैं—

चिरायुषः सुसंस्थानाः
दृढसंहनना नराः
तेजस्विनो महावीर्याः
भवेयुः ब्रह्मचर्यतः॥

ऐसा तपोदीप्त विद्यावान् ब्रह्मचारी अपना गुरुकुल-निवास समाप्त करके, स्नातक बनकर जब संसार में लौटता है, तब देश के विद्वान् और मान्य पुरुष उसका अभिनंदन करते हैं,

स्वागत करते हैं कि आज हमारे राष्ट्र का एक तपःपूत ज्ञानी ब्रह्मचारी हमारे बीच में आ रहा है। अथर्ववेद कहता है—

आचार्यः उपनयमानो
ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्रः उदरे विभर्ति
तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः॥

जब बालक का वेदारंभ-संस्कार (गुरुकुल-प्रवेश-कर्म) किया जाता है, तब उसके अभिभावकों (माता-पिता आदि) की ओर से ब्रह्मचारी की आचार-संहिता के रूप में यह उपदेश और आदेश किये जाते हैं—

१. आज से तू ब्रह्मचर्य व्रत में दीक्षित हो रहा है।
२. तुझे संध्योपासना और भोजन के प्रारंभ में शुद्ध जल का आचमन करना चाहिए—

भोजनात् पूर्वमाचामेत्
गंडूषं तु ततः परम्।
नित्यं कर्म यथाकुर्याद्
ब्रह्मचारी दिने-दिने॥

३. खाली नहीं बैठना। सदा कर्मपरायण रहना।
४. दिन में सोना नहीं।
५. आचार्य के समीप वेदविद्या और अन्य शास्त्रों का अध्ययन करना।
६. बारह वर्ष तक वेदशास्त्र की एक-एक शाखा के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।
७. क्रोध और असत्य भाषण नहीं करना।
८. दुराचार से दूर रहना।
९. कोमल शय्या (पलँग) आदि पर नहीं सोना। तेरे लिए भूमि-शय्या ही ठीक है।
१०. गान-तान और मौज-विलास के जलसों से बचना।
११. सुगंध और अंजन आदि का सेवन नहीं करना।
१२. अतिस्नान, अतिभोजन, अतिनिद्रा, अति जागरण, निन्दा, लोभ, मोह, भय, शोक आदि नहीं करना—

अनारोग्यं अनायुष्यं
अस्वर्ग्यं चाति भोजनम्।
अपुण्यं लोक विद्विष्टं
तस्मात् तत् परिवर्जयेत्॥

अत्यम्बुपानान्न विपच्यतेऽन्नम्
निरम्बु पानाच्च स एव दोषः।
तस्मान्नरो वह्नि विवर्धनार्थम्
मुहुर्मुहुर्वारि पिवेदभूरि॥

१३. नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर, शौच, दंत-धावन, आसन, स्नान आदि नित्यकर्मों में प्रमाद नहीं करना—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत
धर्मार्थौ चानु चिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्
वेद-तत्वार्थमेव च॥
उत्थायावश्यकं क्लत्वा-
क्लत-शौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपॅस्तिष्ठेत्
स्वकाले चापरां चिरम्॥
ऋषयो दीर्घ संध्यत्वात्
दीर्घमायुरवाप्नुयुः न
प्रज्ञां यशः कीर्तिं च
ब्रह्मवर्चसमेव च॥ (मनुस्मृतिः)

१४. क्षौर कर्म नहीं कराना—

क्षुरकृत्यं वर्जय।

१५. बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी, हाथी, ऊँट आदि की सवारी नहीं करना। मतलब तुम्हारे लिए पदयात्रा ही ठीक है।

१६. मांसाहार, रुक्ष भोजन, मद्य सेवन तथा विलासपूर्ण भोज्य-गोष्ठियाँ नहीं करनी, क्योंकि कहा गया है—

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः
सत्व शुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।
स्मृति लंभे सर्व वस्तूनां
विप्रमोक्षः प्रजायते॥

मद्य सेवन भी यहाँ बड़े व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। बुद्धि को तामसिक बनाने वाली प्रत्येक वस्तु मद्य शब्द में शामिल है—

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं
मदकारी तदुच्यते॥

१७. नगर-निवास और छत्र धारण नहीं करना। जूते का व्यवहार भी तुम्हारे लिए वर्जित है।

१८. अपने शरीर और मन को सर्व प्रकार से पवित्र रखते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे
सम्यग् गुप्ते च सर्वदा ।
स वै सर्वमवाप्नोति
वेदान्तोपगतं फलम् ।।

१६. सदा संयमपूर्वक आहार-विहार करते हुए विद्या की उपासना करना—

मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यः
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सन्
तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः ।। (महाभारत)

नित्यं हिताहार-विहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेस्वसक्तः ।
दाता समः सत्यपरः क्षमावान्
आप्तोपसेवी च भवत्यरोगः ।। (चरकसंहिता)

हिताशी स्यात् मिताशी स्यात्
कालभोजी जितेन्द्रियः ।
पश्यन् रोगान् बहून् कष्टान्
बुद्धिमान् विषमाशनात् ।। (चरक संहिता)

हितपरिमिभोजी नित्यमेकान्तसेवी
सकृदुचित हितोक्तिः स्वल्प निद्रा-विहारः ।
अनुनियमनशीलो यो भवत्युक्तकाले
सलभत इह शीघ्रं साधुचित्तप्रसादम् ।। (शंकराचार्य)

२०. सद्व्यवहार, अल्पभाषण, संस्कार-ग्राहिता के लिए प्रयत्न करना—

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्
वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं
मनः पूतं समाचरेत् ।। (मनुस्मृति)

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यञ्च दमः श्रुतञ्च ।
पराक्रमश्चा बहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ।। (महाभारत)

२१. माता, पिता, आचार्य और अतिथि को देवता-समान मानना।
२२. मेखला अर्थात् कौपीन धारण करना।
२३. गुरुजी के होम-कर्म के लिए समिधाएँ लाना तथा अन्य प्रिय कर्म करना—

अमानित्वं अदंभित्वं
अहिंसा क्षांति रार्जवम्।
आचार्योपासनं शौछं
स्थैर्यमात्म विनिग्रहः॥ (महाभारत)

२४. आचार्य के अधर्माचरण का अनुकरण नहीं करना।

तैत्तिरीय उपनिषद् में स्वाध्याय और प्रवचन पर खूब भार दिया गया है—"स्वाध्याय प्रवचनाद्यां न प्रमदितव्यम्"—अर्थात् स्वयं ज्ञानवान् बनकर लोगों में ज्ञान के विस्तार और प्रचार के लिए प्रगतिशील रहना चाहिए। साथ ही ऋत, सत्य, तप, दम, शम, अग्निहोत्र और मानव सेवा आदि के लिए उपदेश किया गया है—

ऋतं च स्वाध्याय-प्रवचने च।
सत्यं च स्वाध्याय-प्रवचने च।
तपश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।
दमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।
शमश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।
अग्निश्च स्वाध्याय-प्रवचने च।
मानुषं च स्वाध्याय-प्रवचने च॥

दम का अभिप्राय है, ब्राह्यइन्द्रियों को अपकृत्यों से रोकना। शंकराचार्यजी दम का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—"निग्रहो बाह्य-वृत्तीनां, दम इत्यभिधीयते॥" महर्षि वेद-व्यासजी भी कहते हैं—"मनसो दमनं दमः।" शम अर्थात् अन्तःकरण की वृत्तियों का शमन—"शमः चित्तप्रशान्तता:"

स्मृतिकार मनु महाराज भी उपनिषद् की आचारसंहिता का समर्थन करते हैं—

वर्जयेन्मधु मांसं च
गन्धं माल्यं रसाःस्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि
प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यंगं अंजनं चाक्ष्णोः
उपानच्छत्र - धारणम्।
कामं क्रोधं च मोहं च
नर्तनं गीत वादनम्॥

द्यूते च जनवादं च
परिवारं तथाऽनृतम् ।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भं
उपघातं परस्य च ।।

इस प्रकार की तपस्याओं से ब्रह्मचारी ज्ञान और बल के तेज से प्रकाशित हो जाता है। अपनी प्रज्ञा, शील, चारित्र्य और तप के द्वारा वह सारे राष्ट्र के लिए अभिमान का विषय बनता है।

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः-।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं
वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ।। (अथर्ववेद)

ब्रह्मचारी अपने भ्राजत् ब्रह्म (ज्ञान) के साथ चमकता है और सूर्य की तरह उसकी किरणें सब जगह जीवन, जागृति, दिव्यता, तेज, प्रकाश, ज्ञान, भक्ति, शक्ति, बुद्धि, चेतना आदि सब दिव्य वस्तुओं को प्रादुर्भूत करती हैं।

गुरुवर सांदीपनि के आश्रम में विद्या-प्राप्त सुदामाजी जब अपने सहपाठी द्वारकाधीश श्रीकृष्णजी के समीप गये थे, तब श्रीकृष्ण ने उनसे विशेष रूप से पूछा था—हे मित्रवर, हम साथ-साथ गुरुकुल में पढ़ा करते थे। गुरुकुल-निवास के वे दिवस क्या तुमको याद हैं? वह गुरुकुल, जहाँ ज्ञान-साधना करके द्विज अंधकार को पार करता है। श्रीमद्भागवतकार इस मनोरम प्रसंग का सुंदर वर्णन करते हैं—

कच्चिद् गुरुकुले वासं
ब्रह्मन् स्मरसि नौ यतः।
द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं
तमसः पारमश्नुते ।।

इस प्रकार सभी प्राचीन भारतीय शास्त्र आचार्य और ब्रह्मचारी की मधुर संस्कृति के परिमल से महक रहे हैं।

आयुः तेजो बलं वीर्यम्
प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं सुप्रीतिमत्वं च
प्राप्यते ब्रह्मचर्यया ।।

वैदिक आचार्य

श्री श्रीप्रकाश
महोपाध्याय, दयानन्द महाविद्यालय, कानपुर

शिक्षा का मुख्य आधार है गुरु-शिष्य का सम्बन्ध। गुरु शिक्षा प्रदान करता है और शिष्य शिक्षा ग्रहण करता है। यदि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध मधुर हो तो गुरु, जो कुछ ज्ञान उसने अर्जित किया है, वह सहर्ष अपने शिष्य को दे देने के लिए लालायित रहता है। शिष्य के लिए यह मान्यता है, वह जितना चाहे अपने गुरु से खींच ले।

बालक के विकास के लिए तीन शक्तियाँ काम करती हैं—माता, पिता और आचार्य।

मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।

महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय समुल्लास में स्पष्ट रूप से इंगित किया है कि "जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।"

पाँच वर्ष की आयु तक माँ, आठ वर्ष की आयु तक पिता और फिर आचार्य बालक के जीवन का मार्ग-दर्शन करते हैं। 'मनुस्मृति' में आचार्य, पिता तथा माता की श्रेष्ठता की तुलना निम्नलिखित शब्दों में की गयी है—

उपाध्यायान्दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितृन्माता गौरवेणातिरिच्यते॥

(मनु० : अध्याय २/१४५)

दस उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता और सहस्त्र पिताओं की अपेक्षा माता गौरव में अधिक है, तथापि बालक के विकास में आचार्य का अपना विशिष्ट स्थान है और यहाँ तक मान्यता है कि आचार्य के अभाव में विद्या ग्रहण ही नहीं की जा सकती। महाभारत के एकलव्य के उदाहरण से इस तथ्य की पुष्टि होती है। जब गुरु द्रोणाचार्य ने भक्त एकलव्य को शिष्य बनाना अस्वीकार कर दिया तो एकलव्य ने गुरु द्रोणाचार्य की मूर्ति बनायी और उसे ही आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किया और उस मूर्तिरूपी आचार्य से ही मार्ग-निर्देशन प्राप्त करने की चेष्टा की।

वस्तुतः आचार्य ही शिक्षा के केन्द्रबिन्दु हैं, जिनके चारों ओर शिक्षा नाचती है। आचार्य की अपनी विशेषताओं पर ही शिक्षण का भविष्य आधारित रहता है। आचार्य की अपनी प्रकृति, अपनी प्रवृत्ति, अपनी विद्वत्ता तथा अभिव्यक्त करने की क्षमता पर ही शिक्षा और शिक्षण का यश-अपयश आधारित है।

महर्षि दयानन्द ने आचार्य की परिभाषा देते हुए स्पष्ट लिखा है—"उस व्यक्ति को जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से, धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे उसको ही 'आचार्य' कहते हैं।"

मनु ने आचार्य के लक्षण को शब्द-बद्ध किया है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

(मनु० : अध्याय २/१४०)

जो ब्राह्मण शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे कल्प अर्थात् यज्ञ-विद्या तथा रहस्यों अर्थात् उपनिषदों के सहित वेद पढ़ावे, उसे 'आचार्य' कहते हैं।

मनु के समय में शिक्षण का कार्य केवल ब्राह्मण करते थे। इसलिए मनु ने ब्राह्मण को शिक्षण से सम्बन्धित किया था। मनु के समय में वेद और वैदिक साहित्य ही उपलब्ध था और मनुष्य इस साहित्य से ही ज्ञान अर्जित करता था, इसलिए यहाँ पर वेदों और उपनिषदों की चर्चा है। आधुनिक परिवेश में तो इसका व्यापक रूप लिया जा सकता है। आज तो जो सत्य तथा तर्क पर आधारित ग्रन्थ हैं, उन सबका समावेश हम इस साहित्य में कर सकते हैं।

आचार्य कौन ?

प्रश्न है कि आयु में कम होने पर भी क्या व्यक्ति आचार्य हो सकता है ? मनु ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि आयु किसी भी व्यक्ति के आचार्य बन सकने पर प्रतिबन्ध नहीं लगा सकती। वय का प्रश्न अधिक महत्व का नहीं है।

ब्राह्मस्य जन्मनः कर्ता स्वधर्मस्य च शासिता।
बालोऽपि विप्रो वृद्धस्य पिता भवति धर्मतः॥

(मनु० : अध्याय २/१५०)

अर्थात् वेद श्रवण के योग्य जन्म (यज्ञोपवीत संस्कार) करने वाला और अपने धर्म का उपदेश देने वाला बालक भी ब्राह्मण धर्मानुसार वृद्ध का पिता-आचार्य होता है। मनु ने अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि अंगिरस के दृष्टान्त से की है। अंगिरस के विद्वान् पुत्र ने अपने चाचा तथा (अवस्था में) बड़े भाइयों को पढ़ाया, इसलिए उनको पुत्र शब्द से सम्बोधित किया था। मनु ने इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर दिया था। मनु लिखते हैं—

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम्॥

(मनु० : अध्याय २/१५३)

अज्ञानी ही 'बालक' कहलाता है और वेद मन्त्रों को पढ़ाने वाले को ही 'पिता' की संज्ञा दी जाती है।

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः सनो महान्॥

(मनु० : अध्याय २/१५४)

अधिक वर्षों की आयु होने से, पके हुए बालों से, धन से, अधिक बान्धवों से कोई बड़ा नहीं होता, किन्तु जो साङ्गवेदों का ज्ञाता है, वही बड़ा है।

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥

(मनु० : अध्याय २/१५६)

बाल पक जाने मात्र से कोई बड़ा नहीं हो जाता; किन्तु युवा पुरुष भी यदि विद्वान् हो, तो उसे ही देवता लोग वृद्ध कहते हैं।

आचार्य की विशेषता

महर्षि दयानन्द ने अपनी पुस्तक 'व्यवहारभानुः' में आचार्य की निम्न विशेषताओं की चर्चा की है—

"जो निरन्तर सत्य में रमण, जितेन्द्रिय, शान्तात्मा, उत्कृष्ट, शुभ-गुण-स्वभावयुक्त और रोगरहित, पराक्रम-सहित ब्रह्मचर्य अर्थात् वेदादि सत्यशास्त्र और परमात्मा की उपासना का अभ्यास कर्मादि करते हैं, उनके वे सब उत्तम गुण, बुरे कर्म और दुःखों को नष्ट कर सर्वोत्तम धर्मयुक्त कर्म और सब गुणों की प्राप्ति करनेहारे होते हैं और इन्हीं के सेवन से मनुष्य उत्तम अध्यापक और उत्तम विद्यार्थी हो सकते हैं।"

मनु ने भी आचार्य की विशेषताओं की चर्चा करते हुए स्पष्ट लिखा है—

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छुता॥

(मनु० : अध्याय २/१५९)

धर्माभिलाषी पुरुष (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्यों की अहिंसा के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिए तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिए।

उपरिलिखित से आचार्य की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) विद्यार्थी को आचार्य पुत्रवत् समझे। आचार्य के हृदय में विद्यार्थी के प्रति असीम प्रेम हो और उसके प्रति उसका व्यवहार सहानुभूतिपूर्ण हो।

(२) विद्यार्थी अशिक्षित होने के कारण गलती कर सकता है। आचार्य को चाहिए कि विद्यार्थी की नासमझी को क्षमा करके, उसके दोषों को ओट करके, उसकी दुर्बलताओं पर परदा डाल करके असीम धैर्य का प्रदर्शन करके अपने विद्यार्थी के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करे।

(३) आचार्य अपने विद्यार्थी से यहाँ तक प्रेम करे कि उनके लिए आवश्यकता पड़ने पर

तन, मन और धन का भी न्यौछावर कर दे।

(४) आचार्य जो शिक्षा और विद्या प्रदान करें, वह शिक्षा धर्मयुक्त व्यवहार लिये हुए हो। यह तभी सम्भव है—

(क) जब आचार्य विद्वान् हो और अपने विषय में पारंगत हो।

(ख) जब आचार्य धार्मिक प्रवृत्ति और प्रकृति का हो, सत्य पर जिसे निष्ठा हो और न्याय पर जिसे आस्था हो।

(ग) जब आचार्य आस्तिक हो, ईश्वर पर उसकी भक्ति हो और ईश्वर से डरता भी हो।

(५) आचार्य का एकमात्र लक्ष्य हो—अपने विद्यार्थी में समस्त मानवीय गुणों का संचार करना। आचार्य को इसी लक्ष्य की पूर्ति में संलग्न रहना चाहिए।

(६) आचार्य सभ्य और सुसंस्कृत हो। वह मिष्ट-भाषी और मृदु-भाषी बने।

दोष

महर्षि दयानन्द ने 'व्यवहारभानुः' में उन दोषों की भी चर्चा की है जो एक आचार्य में नहीं होने चाहिए। महर्षि लिखते हैं कि आचार्य में निम्नलिखित दोष नहीं होने चाहिए—

"आलस्य, अभिमान, नशा करना, मूढ़ता, चपलता, व्यर्थ इधर-उधर की अण्ड-बण्ड बातें करना, जड़ता, कभी पढ़ाना कभी न पढ़ाना, अभिमान और लोभ-लालच।"

एक अन्य स्थान पर महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट कर दिया है कि—

"जो अपने सामने यथा-तथा बकने, निर्लज्ज होने, व्यर्थ चेष्टा करने आदि बुरे कर्मों से हटाकर विद्या आदि शुभ गुणों के लिए उपदेश नहीं करते, न तन, मन, धन लगाके उत्तम विद्या-व्यवहार का सेवन कराकर अपने सन्तानों को सदा श्रेष्ठ न करते जाते हैं, वे माता-पिता और आचार्य कहा कर धन्यवाद के पात्र कभी नहीं हो सकते हैं।"

आचार्य क्या-क्या शिक्षा दें ?

महर्षि दयानन्द ने इस प्रश्न का उत्तर निम्नांकित शब्दों में दिया है—

"ये अपने विद्यार्थियों को अच्छी भाषा बोलने, खाने-पीने, बैठने, उठने, वस्त्र धारण करने, माता-पिता आदि के मान्य करने, उनके सामने यथेष्टाचारी न होने, विरुद्ध चेष्टा न करने आदि के लिए प्रयत्न में नित्य प्रति उपदेश किया करें और जैसा-जैसा उनका सामर्थ्य बढ़ता जाय, वैसी-वैसी उत्तम बातें सिखलाते जावें।"

एक अन्य स्थल पर महर्षि निर्देश देते हैं कि—

"जो-जो हमारे उत्तम चरित्र हैं, सो-सो करो और जो कभी हम भी बुरे काम करें उनको कभी मत करो, इत्यादि उत्तम उपदेश और कर्म करने और करानेहारे माता-पिता और आचार्य श्रेष्ठ होते हैं।"

पढ़ाने से लाभ

महर्षि दयानन्द की मान्यता थी, पढ़ाने से लाभ ही लाभ है। उन्होंने लिखा है—"पढ़ने से पढ़ाने में विद्या की वृद्धि अधिक होती है। पढ़के आप अकेला विद्वान् रहता और पढ़ाने से दूसरा

भी (विद्वान्) हो जाता है।"

आचार्य और ताड़ना

'मनुस्मृति' से उपरिउद्धृत श्लोक (अध्याय २/१५९) में स्पष्ट आदेश है कि आचार्य शिष्यों के साथ मधुर भाषण करे—वह कभी कटु न हो। पर महर्षि दयानन्द की आस्था थी कि "उन्हीं के सन्तान विद्वान्, सभ्य और सुशिक्षित होते हैं जो पढ़ाने में सन्तानों का लाड़न कभी नहीं करते, किन्तु ताड़ना ही करते रहते हैं।"

महर्षि के विचार तो इस विषय पर स्पष्ट ही थे—"आचार्य लोग अपने विद्यार्थियों को विद्या और सुशिक्षा होने के लिए प्रेमभाव में अपने हाथों से ताड़न करते हैं क्योंकि सन्तान और विद्यार्थियों का जितना लाड़न करना है, उतना ही उनके लिए बिगाड़ और जितनी ताड़ना करनी है उतना ही उनके लिए सुधार है।"

महर्षि दयानन्द ने आचार्य को सुझाव भी दिया था कि वे "ईर्ष्या-द्वेष में ताड़न न करें, किन्तु ऊपर से भय प्रदान और भीतर से कृपा-दृष्टि रखें।" उनका यह भी सुझाव था कि ताड़ना में अति न की जाये और "आचार्य ऐसी ताड़ना न करें कि जिससे अंग-भंग व मर्म में लगने से विद्यार्थी या लड़के-लड़की लोग व्यथा को प्राप्त हो जायें।"

महर्षि दयानन्द अँग्रेजी के मुहावरे—"Spare the rod and spoil the child" में विश्वास रखते थे। सम्भवतः यह विचार हमारे सभी आर्ष मनीषियों द्वारा पुष्ट होता है।

विद्या पढ़ने-पढ़ाने में विघ्न और आचार्य का कर्तव्य

महर्षि दयानन्द के अनुसार आचार्य का कर्तव्य है कि उन विघ्न-बाधाओं को दूर करने का प्रयास करें जो विद्या-प्राप्ति के मार्ग में आती हैं। महर्षि दयानन्द के अनुसार विद्या की प्राप्ति में निम्नस्थ विघ्न खड़े हो सकते हैं—

(१) कुसंग, अर्थात् दुष्ट विषयी जनों का संग।
(२) दुष्ट व्यसन-जैसे मद्यादि सेवन और वेश्यागमनादि।
(३) बाल्यावस्था में विवाह।
(४) पूर्ण ब्रह्मचर्य न होना।
(५) राजा, माता-पिता और विद्वानों का प्रेम वेदादि शास्त्रों के प्रचार में न होना।
(६) अति-भोजन।
(७) अति-जागरण।
(८) पढ़ने-पढ़ाने, परीक्षा लेने व देने में कपट करना।
(९) सर्वोपरि विद्या का लाभ न समझना।
(१०) ब्रह्मचर्य से वीर्य, बल, बुद्धि, पराक्रम, आरोग्य, राज्य, धन की वृद्धि न मानना।
(११) ईश्वर का ध्यान छोड़ अन्य पाषाणादि, जड़ मूर्ति के दर्शन-पूजन में व्यर्थ समय खोना।
(१२) माता-पिता, अतिथि और आचार्य विद्वान्—इनको सत्यमूर्ति मानकर सेवा-सत्संग न करना।
(१३) वर्णाश्रम के धर्म को छोड़ उर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड, तिलक, कंठी, मालाधारण, एका-

दशी, त्रयोदशी आदि का व्रत करना।

(१४) काशी आदि तीर्थ में निष्ठा रखना और राम, कृष्ण, नारायण आदि को भगवान् मानकर पूजा करना।

(१५) पाखण्डियों के उपदेश से विद्या पढ़ने में अश्रद्धा का होना।

(१६) लोभ से धनादि में प्रवृत्त होकर विद्या में प्रीति न रखना।

आचार्य पद के अयोग्य व्यक्ति

महर्षि दयानन्द ने निम्नलिखित लक्षण के व्यक्ति को आचार्य-पद के अयोग्य माना है—

"जो किसी विद्या को न पढ़ा और किसी विद्वान् का उपदेश न सुनकर बड़ा घमण्डी, दरिद्र होकर धन सम्बन्धी बड़े-बड़े कामनाओं की इच्छा वाला और बिना कर्म किये बड़े-बड़े फलों की इच्छा करनेहारा है, उसे पढ़ाने का अधिकार नहीं है।"

भारत में आज शिक्षा-व्यवस्था जिन हाथों में है उनका एक प्रतिशत भी आचार्य-पद के गौरव का अधिकारी नहीं है। शिक्षा को आज व्यापार का रूप मिला हुआ है। शिक्षा-संस्थाएँ कारखाने बनी हुई हैं, जहाँ बेरोजगार युवक तैयार होते हैं। देश की उन्नति और मानव के आदर्श विकास के लिए देशवासियों को प्राचीन भारत के शिक्षा-आदर्शों को स्वीकार करना चाहिए। जितना शीघ्र देश यह करेगा, देश की शिक्षा-पद्धति उत्तम और सार्थक बन सकेगी।

•

जिससे पदार्थ का स्वरूप यथावत् जानकर उससे उपकार लेके अपने और दूसरों के लिए सुखों को सिद्ध कर सकें वह विद्या, और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उलटा जानकर अपना और पराया अनुपकार कर लेवें वह अविद्या कहाती है।

—महर्षि दयानन्द

वैदिक शिक्षा-प्रणाली

•

श्रीमती सावित्रीदेवी शर्मा
आचार्य, एम० ए०, बरेली

'विद्ययाऽमृतमश्नुते।' परम पद मोक्ष की प्राप्ति के लिए विद्या की साधना अनिवार्य है। मानव के नवजात शिशु को विद्या-विनय-सम्पन्न बनाने के लिए उसी क्षण से शुभ संस्कार आरम्भ कर दिये जाते हैं। इसी को जातकर्म संस्कार कहते हैं। इतना ही नहीं, मानव-शिशु की शिक्षा माता के गर्भ से ही प्रारम्भ हो जाती है। मुझे विश्वास है कि बालक का ७५% मौलिक निर्माण जननी के गर्भ में हो जाता है। शेष २५% निर्माण और विकास गुरु-चरणों में तथा सामाजिक वातावरण पर निर्भर है। प्रशस्ता धार्मिकी माता ही वस्तुतः सन्तति की निर्मात्री है। मानवेतर योनियों में किसी प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं। सभी सहज प्रवृत्तियाँ स्वभावतः विकसित होती हैं। आहार-विहारादि सभी जीवनोपयोगी क्रियाएँ वह स्वयं सीख लेते हैं। अतः विद्याध्ययन एवं धर्म शिक्षा मानव-योनि में ही सुलभ है। **'विद्याविहीनः पशुः।'** विद्यारहित मनुष्य का जीवन पशु-तुल्य है। इसी योनि में विशेष ज्ञान लाभ द्वारा मानव अपना मुख्य उद्देश्य पूरा कर सकता है।

हमारी संस्कृत में बालक के तीन गुरु बताये गये हैं—**"मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषोवेद।"** अर्थात् माता, पिता और आचार्य के चरणों में रहकर उत्तम सदाचारमय जीवन की शिक्षा से अलंकृत होकर पुरुष इस लोक-परलोक में प्रतिष्ठित होता है। बालक प्रथम शिक्षा मातृमंदिर में ही पाँच वर्ष तक अतिशय वात्सल्यपूर्ण वातावरण के बीच बाललीलाओं के साथ अनायास प्राप्त कर लेता है। स्नेहमयी माता के लालन-पालन में ही पिता का गम्भीर अनुशासन उसे सभ्य, सुसंस्कृत बनाने में सहयोग देता है, पर इतना ही पर्याप्त नहीं। बालक के पूर्ण विकास के लिए एक अपरिचित आचारवान् व्यक्ति की आवश्यकता होती है, जिसे आचार्य कहते हैं। पुस्तकीय शिक्षा तो दुराचारी भी दे सकता है, पर आचार्य तो **"आचारम् ग्राह्यतीति आचार्यः"** के अनुसार सदाचारों का दैनिक जीवन में अभ्यास कराता है। विद्याध्ययन में एकाग्रता बिना धर्माचरण के नहीं आती। विद्यार्थी के उपनयन के समय आचार्य सकल ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों के शोधन का भार अपने कन्धों पर लेता है—

वाचं ते शुन्धामि। श्रोत्रं ते शुन्धामि।

आचार्य अपने प्रिय शिष्य को सामाजिक वातावरण से दूर रख अपने गर्भ में अर्थात्

'अतिसन्निकट' ही रखना चाहता है। इसीलिए विद्यार्थी को आचार्य का अंतेवासी कहा गया है। आचार्य के पावन चरित्रों की पूर्ण छाप शिष्य के चरित्र पर पड़े, यही गुरुकुलीय प्रणाली का रहस्य है। हमारी शिक्षा-प्रणाली के मौलिक तत्त्व गम्भीर दृष्टि से विश्व के शिक्षाविदों के समक्ष विचारणीय हैं। संक्षेप में वही विचार-सूत्र यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं।

हमारी शिक्षा का उद्देश्य

तत्त्ववेत्ता ऋषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति ही शिक्षा का उद्देश्य बताया है। धर्म-पूर्वक अर्थ, काम को लोक-यात्रा के निमित्त प्राप्त कर अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष पद—को पाना ही मानव को अभीप्सित है। हमारी समस्त शिक्षा, दीक्षा, तपश्चर्या इसी परमोद्देश्य के लिए साधन मात्र है। यह पावन उद्देश्य ही विद्या-प्राप्ति के साधनों को भी पवित्र बनाता है। लक्ष्य के अनुसार साधन हुआ करते हैं। आधुनिक राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने बड़े कष्ट के साथ पाश्चात्य शिक्षा का उद्देश्य अर्थोपार्जन मात्र बताते हुए कितनी मार्मिक पंक्ति लिखी है—

"शिक्षे ! तुम्हारा नाश हो, तुम नौकरी के हित बनीं।"

जिस शिक्षा का लक्ष्य केवल अर्थ हो वह कितनी अनर्थकारिणी होगी, यह आज का युग बता रहा है। आज कोई भी विद्यार्थी नहीं है, अपितु सभी धनार्थी हैं। इसलिए थोथी उपाधियों का बण्डल लिये हुए द्वार-द्वार नौकरी के लिए भटक रहे हैं, फिर भी उन्हें दासता तक सुलभ नहीं। अर्थ को लक्ष्य मानकर कभी भी व्यक्ति और समाज का चरित्र पवित्र नहीं रह सकता। मोक्ष को साध्य मानकर धर्ममय साधना अनिवार्यतः करनी होगी। लक्ष्य की पवित्रता के कारण ही हमारे आचार्य और शिष्य—सभी के लिए मंगलमयी शुभ-साधना पाठ-विधि के साथ ही निर्धारित की गयी है। इस लक्ष्य-भेद के कारण ही पौर्वात्य तथा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में आकाश-पाताल का अन्तर है। हमारे धर्मशास्त्रों में स्थान-स्थान पर शिक्षा के उद्देश्य विषय पर स्पष्ट आदेश है—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

विद्या वही है जो मानव जीवन को त्रिविध दुःखों से मुक्त कराने वाली हो।

आचार्य

'आचार्य' शब्द ही इस बात का सूचक है कि केवल पुस्तकीय ज्ञान रखने वाला ही शिक्षक बनने योग्य नहीं, अपितु ज्ञान के साथ सच्चरित्रता अत्यावश्यक है। पुस्तकीय ज्ञान मात्र से न व्यक्ति का कल्याण होगा, न समाज का। सदाचारमय सद्व्यवहार से ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति कर सकता है। इसीलिए आचारसम्पन्न, जितेन्द्रिय गुरुजनों के सत्संग में विद्यार्थी सच्चरित्र बनता है। उनकी पवित्र दिनचर्या शिष्यों का जीवन निर्माण करती है, पुस्तकीय पाठ मात्र नहीं। आचार्य जितना अधिक तपस्वी और निस्पृह होगा, शिष्य भी उस तपोभूमि में रहकर तप्त कञ्चन के समान अवश्य चमक उठेगा। शास्त्रज्ञान के अनुकूल आचरण करने वाला आचार्य ही शिष्य के लिए श्रद्धेय, सेव्य तथा उपास्य है। पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति ने आचार पक्ष की सर्वथा उपेक्षा की। विषयों के ज्ञाता, पुस्तकीय ज्ञान मात्र देने वाले टीचर,

वेतनभोगी ट्यूटर तो उत्पन्न किये पर निःशुल्क, अमूल्य विद्यादान करने वाले, प्रिय शिष्य के शुभाकांक्षी, चरित्र-निर्माता आचार्य नहीं। एक सामान्य बात कही जाने लगी है—

'हमें किसी के व्यक्तिगत जीवन से कोई प्रयोजन नहीं, केवल पाठ्य विषय पर अधिकार रखने वाले टीचर चाहिए।' परिणाम स्पष्ट है— धर्मव्यवहार-शून्य कोरी पुस्तकीय शिक्षा से कोई भी विद्यार्थी पितृभक्त, गुरुभक्त, निष्काम समाजसेवी न बन सका, केवल अर्थ-कामासक्त, स्वार्थी नरपिशाच-सा इस धरती पर भार बना हुआ है।

ब्रह्मचारी

हमारी संस्कृति का प्रत्येक शब्द कितना महत्वपूर्ण है! ब्रह्मचारी ही विद्यार्थी हो सकता था, प्रत्येक को विद्याध्ययन का अधिकार नहीं था। जो ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का पालन करता हुआ पूर्ण अनुशासित तपस्वी जीवन व्यतीत करता था, जिसका लक्ष्य था ब्रह्म अर्थात् वेद, ईश्वर तथा ज्ञान में विचरण करना वही 'ब्रह्मचारी' गुरुकुल में रहकर विद्या की सतत साधना करता था। बाह्य आडम्बरों से रहित गुरु की सेवा में अहर्निशि जागरूक रहने वाला आज्ञाकारी, सात्विक, आहार-विहारयुक्त विद्यार्थी ही ब्रह्मचर्य पालन करने में सक्षम था। कितनी मनोवैज्ञानिक प्रणाली है! विद्या-प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य की साधना और ब्रह्मचर्य पालन के लिए सतोगुण-प्रधान दिनचर्या अनिवार्य है। इसीलिए हमारा ब्रह्मचारी आधुनिक धनार्थी छात्रों (students) से पूर्णतया भिन्न है। ब्रह्मचारी का तपस्वी जीवन वेद, ब्रह्म और ज्ञान-प्राप्ति के लिए अर्पित है। अतः सात्विक जीवनयापन करना ही होगा। आज के छात्रों का लक्ष्य है, येन-केन-प्रकारेण उपाधियाँ प्राप्त कर आजीविका कमाना मात्र। तदर्थ वे विलासमय भौतिक उपकरणों को बाधक नहीं समझते।

ब्रह्मचर्य पालन के लाभ

१. जितेन्द्रियता-संयम की सिद्धि।

२. स्वल्प साधनों से चरम लक्ष्य की प्राप्ति।

३. भोजन वस्त्रादि की सात्विक तथा न्यूनतम आवश्यकताओं के कारण माता-पिता तथा समाज पर भारभूत न होना।

४. बाह्य आकर्षणों से दूर रहकर एकाग्रचित्त हो समस्त विद्याओं में पारंगत होना।

५. अनन्य गुरुभक्ति से आचार्य जनों की शुभकामनाओं का सम्बल पाकर भावी जीवन-पथ प्रशस्त करना।

६. गुरुकुल के तपोमय जीवन को बिताकर निकले हुए ब्रह्मचारियों से आदर्श समाज-निर्माण में सहयोग।

७. विविध विद्याओं में निष्णात ब्रह्मचारियों का स्वतः ही समाज में विशेष सम्मान होता था। पढ़ने के पश्चात् उसे नौकरियों के लिए नहीं भटकना पड़ता था। वे सुयोग्य आचार्य बनकर अनेक विद्यार्थियों के निर्माण में लग जाते थे। बेरोजगारी की समस्या का स्वयं समाधान हो जाता था।

इसके विपरीत आज का छात्र-जीवन कितना विलासपूर्ण है! अत्यधिक अपव्ययी युवक अपने परिवार तथा समाज पर भारभूत है। कालेज तथा यूनिवर्सिटियों में लगभग १८-

२० वर्ष व्यतीत कर 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया' वाली लोकोक्ति के अनुसार उन्हें कुछ भी उपलब्धि नहीं होती। गुरु-शिष्य के आदर्श सम्बन्धों की समाप्ति से विद्याओं में प्रवीणता तो दूर, विषय का सामान्य ज्ञान भी नहीं हो पाता। ऐसे अयोग्य, अनधिकारी युवक फिर उपाधियों का भार वहन करते हुए कहीं भी किसी भी मूल्य पर नौकरियाँ खोजते फिरते हैं और समाज के लिए घोर अभिशाप बने हुए भ्रष्टाचार को जन्म देते हैं।

गुरुकुलीय वातावरण

विद्याध्ययन के लिए उपयुक्त स्थान का वर्णन करते हुए वेद में लिखा है—

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्
धियो विप्रो अजायतः।

विद्यार्थी के लिए आरोग्यवर्धक, चित्त की एकाग्रता में सहायक, प्रतिभाओं का प्रकाशक वह दृश्य कितना नयनाभिराम होगा, जहाँ रमणीय पर्वतमालाओं के मध्य कल-कल निनादिनी सरिताओं के सुन्दर सङ्गम पर ब्रह्मचारियों की स्वरचित पर्णशालाएँ होंगी। सूर्य-चन्द्र-तारों से निर्बाध मिलन, अनुरागवती सन्ध्या में अनन्त क्षितिज के विराट दर्शन, ब्राह्ममुहूर्त में वैदिक सूक्तियों के मधुर गुंजान के साथ उषा की अरुणिमा का प्राची में नित नूतन विलास सचमुच सरल विद्यार्थी के अन्तस्तल को अलौकिक प्रभापुञ्ज से आलोकित किये बिना न रह सकेगा। ऐसे स्थान पर विद्यार्थी की नियमित तपश्चर्या, शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक बल को बढ़ाने वाली होगी। '**सत्वादुत्पद्यते ज्ञानम्**' के अनुसार ज्ञान की प्राप्ति सात्विक वातावरण में ही सम्भव है। अतः ऋषियों ने विद्यार्थी के पवित्र आहार-विहार, सात्विक वेशभूषा के साथ ही आस-पास के वातावरण की पवित्रता भी उतनी ही आवश्यक मानी है। नगर से दूर, प्रकृति की वात्सल्यपूर्ण सुकुमार गोद में ही ब्रह्मचारी का आवास बनाया जो विमल जीवन की प्रेरणा प्रदान कर सके।

प्रत्यक्ष है, प्रकृति माता से दूर नगर के मध्य ईंट-पत्थर के बने आधुनिक विद्यालयों के परिवेश में रहकर विद्यार्थी का सुकोमल हृदय पाषाण ही हो गया। निदाग ताप में निरन्तर चलने वाले विद्युत् व्यजनों ने उसके मानस का संताप ही बढ़ाया है। चकाचौंध में डालने वाले विद्युत् दीपों ने छात्र को निर्मल ज्ञानलोक से वंचित ही किया है। देव बनने की आशा में मातृ-मंदिर छोड़ विद्यामंदिर में प्रवेश किया, किन्तु खेद है कि इन पाषाणमय भवनों में रहकर वह मनुजत्व भी खो बैठा, घातक पशु बनकर ही निकला। पशुता से देवत्व की ओर ले जाने वाली गुरुकुलीय जीवन की आधारशिला कितनी वैज्ञानिक है—यह विश्व के मनीषी विद्वान् विचार करें।

पाठ्यक्रम

गुरुकुलीय पावन वातावरण में जीवनयापन करते हुए विद्यार्थी का पाठ्यक्रम क्या हो? यह भी विचारणीय विषय है। ईश्वरीय ज्ञान वेद को सत्य विद्याओं का मूल मानने वाले ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय तथा आर्षग्रंथों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन ही प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्यतः पाठ्य-विषय निर्धारित किया, क्योंकि वेदानुकूल आर्षग्रंथों के पठन-पाठन से ही विद्या का

समुचित लाभ उठाया जा सकता है।

आर्षग्रंथों के अध्ययन से लाभ

१. गागर में सागर की भाँति थोड़े श्रम में अधिक लाभ।

२. ऋषियों के ग्रंथों की उपदेश प्रणाली सरल, सुबोध, सारगर्भित है।

३. यह ऊहा, तर्कशक्ति तथा मेधा बुद्धि प्रदान करने वाली है।

४. मस्तिष्कीय ज्ञान-तन्तुओं में पौष्टिक आहार के समान सात्विक स्फूर्ति की प्रेरणा देती है।

५. प्रथम इस आर्ष पद्धति से पढ़ने के पश्चात् फिर आर्षग्रंथों का पल्लवग्राही सार-ग्रहण बुद्धि को मलिन नहीं बनाता।

६. सकल विद्याओं तथा कलाओं का अभ्यास वैदिक साहित्य के अनुशीलन में ही पूर्णतया सम्भव है, अन्यत्र नहीं।

क्षुद्राशय मनुष्यों द्वारा लिखित अनार्षग्रंथों के अध्ययन को प्राथमिकता देने से आज शिक्षा का पाठ्यक्रम अत्यन्त दोषपूर्ण है।

अनार्षग्रंथों के आधार पर अध्ययन में दोष

१. लेखकों के अर्थोपार्जन का व्यावसायिक दृष्टिकोण होने से पाठ्यक्रम के ग्रंथ सत्य सिद्धान्तपूर्ण नहीं हैं।

२. सत्यासत्य का मिश्रण होने से विद्यार्थी की बुद्धि निर्भ्रान्त एवं नीर-क्षीर-विवेककारिणी नहीं बन पाती।

३. प्रतिवर्ष नये-नये लेखकों की पुस्तकें बढ़ जाने से पाठ्यक्रम बदलता रहता है। बहुमूल्य स्थूल कलेवर ग्रंथों के पढ़ने से सार-ग्रहण तो असम्भव है ही, साथ ही उत्तरोत्तर मस्तिष्कीय शक्ति क्षीण होती जाती है। अधिक व्यय करने पर भी दीन-हीन छात्र अपनी विचार-वाटिका में विद्या-सुमनों का सञ्चय नहीं कर पाता, इससे बढ़कर उसका दुर्भाग्य और क्या होगा !

४. शासन द्वारा निर्धारित पाठ्य-ग्रंथों के चयन में आचार्य स्वतंत्र नहीं है। अतः वह केवल दूसरे के मस्तिष्क का भार उतारकर अपने प्रिय शिष्य के सुकोमल उत्तमाङ्ग पर रखकर अपना कर्तव्य पूरा कर देता है। शिष्य के साथ मौलिक चिन्तन, विचारों के आदान-प्रदान का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

५. प्रायः सभी विषयों की पाठ्यपुस्तकों में अनेक स्थानों पर मिथ्या-भ्रान्तिपूर्ण विचार दिये गये हैं। अध्यापक उनको असत्य मानता हुआ भी छात्र को परीक्षा में उत्तीर्ण करने की दृष्टि से ज्यों-का-त्यों पढ़ाने को विवश है। वह उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। अतः गुरु का लक्ष्य सत्योपदेश नहीं, अपितु कोर्स की पुस्तकें रटाना मात्र है। असत्य का शोधन न होने से यह पुस्तकीय झूठ गुरु-शिष्य परम्परा से ऐसे ही चला आता है, जिससे किसी भी विषय का तात्विक ज्ञान विद्यार्थी को नहीं हो पाता। दर्शन-विज्ञान के विविध विषय—इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञानादि सभी की यही दुर्दशा है। सत्य ज्ञान के बिना देश के विद्यार्थी आदर्श सदाचारी बनकर समाज-कल्याण नहीं कर सकते। इस प्रकार सारी शिक्षा

निरर्थक ही सिद्ध होती है। किसी उर्दू के कवि ने इस दूषित शिक्षा के परिणामों को देख व्यथित होकर कहा था—

हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले जब्ती समझते हैं।
जिन्हें पढ़कर के बेटे बाप को खब्ती समझते हैं।।

गुरुकुल की आर्थिक समस्या का समाधान

कुलवासी आचार्य तथा ब्रह्मचारी विद्यार्थियों की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे हो ? इस प्रश्न का समाधान कितने सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया ! गुरु-शिष्यों के सात्विक-पौष्टिक आहार का प्रबन्ध कुछ तो आश्रम के आस-पास लगे सघन छाया वाले, मधुर फलयुक्त वृक्षों के द्वारा ही हो जाता था, साथ ही कामधेनुओं की सेवा भी शिष्यों को अनिवार्य थी। अमृततुल्य गो-दुग्ध स्वयं पूर्ण भोजन है। कन्दमूल-फलाहार एवं दुग्धपान के साथ अन्न की आवश्यकता बहुत कम रह जाती है, उसके लिए समाज के गृहस्थों पर उनकी श्रद्धापूर्वक सेवा का दायित्व सौंपा गया था। किसी भी प्रकार का मासिक व्यय शुल्क निर्धारित नहीं किया गया था। सब यथा-शक्ति स्वेच्छा से ही उनकी आवश्यकताओं का ध्यान रखना अपना धर्म समझते थे। प्रत्येक परिवार की ओर से इन ब्रह्मचारियों के लिए भिक्षा के रूप में दान दिया जाता था। राज्य की ओर से भी विद्यालयों को पूर्ण सहायता दी जाती थी। धार्मिक राजा स्वयं आश्रमों में जाकर गुरुकुलीय व्यवस्था को देखते थे। कृषि हेतु भूमि, जलाशय प्रबन्ध, आहार, वस्त्रादि अन्य अपेक्षित वस्तुओं का प्रदान वे स्वयं करते थे। अनेक संस्कृत काव्यों में आश्रमों का वर्णन है। 'स्वप्नवासव-दत्तम्' नामक नाटक में राजकुमारी पद्मावती आश्रमवासियों को आवश्यक वस्तुएँ सादर प्रदान कर अनुगृहीत होना चाहती हैं।

आर्थिक व्यवस्था का कितना सरल रूप है ! प्रथम तो आचार्य तथा शिष्यों की आव-श्यकताएँ ही बहुत कम हैं। जो कुछ हैं भी, उनकी पूर्ति के लिए (१) आश्रमों का उत्पादन फल-दुग्ध-अन्नादि, (२) सामाजिक गृहस्थों का श्रद्धापूर्वक सहयोग, (३) शासन के द्वारा इन शिक्षा विभागों की सावधानतया सुरक्षा की व्यवस्था इत्यादि—इन तीन साधनों को माध्यम बनाया गया जिससे किसी पर भार भी नहीं पड़ा और आश्रम की आर्थिक ससस्या का समाधान भी हो गया।

निःशुल्क शिक्षा-प्रणाली

भारतीय शिक्षा-प्रणाली की विशेषता है निःशुल्क शिक्षा। गुरुकुल में पढ़ने वाले शिक्षार्थी—राजपुत्र हों या निर्धन—सभी निःशुल्क शिक्षा पाते थे। आहार-विहार-वस्त्रधारणादि सभी कार्यों में एकरूपता रखी जाती थी। विद्याध्ययन काल में सभी विद्यार्थी शिष्य समान होते थे।

इस प्रणाली के लाभ

१. किसी भी विद्यार्थी या उसके अभिभावक को शिक्षा के लिए आर्थिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती है।

२. समान व्यवहार से राजपुत्र के मन में अभिमान तथा निर्धन छात्र के हृदय में दैन्य

भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

३. किसी भी विद्यार्थी के लिए शिक्षा निःशुल्क कराने के लिए संस्थागत अधिकारियों के पास जा-जाकर दीन भाव से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।

४. आहार-वस्त्रादि में समभाव रखने से शिष्यों का फैशन की अनुचित स्पर्धा में मानसिक तनाव दूर होता है। विलासिता नहीं पनपती। सात्विक जीवन से चित्त की एकाग्रता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

५. ऊँच-नीच की भावना से दूर शिष्ट साम्यवादी समाज का निर्माण हो जाता है।

उपसंहार

वस्तुतः इसी वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम प्रणाली से शिक्षा के मौलिक उद्देश्य प्राप्त किये जा सकते हैं, यह ध्रुव सत्य है। इसी दृष्टि से पौर्वात्य तथा पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। मनीषी सुधीजन स्वतः इन सार्वभौम तथ्यों पर विचार करेंगे।

•

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिश्रस्वजे।
एवा परिष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथाः मन्नापगा असः॥
(अथर्ववेद ।।६।८।१।।)

जैसे बढ़ाने वाले आश्रय के साथ उत्पन्न होने वाली बेल वृक्ष को सब ओर से लिपट जाती है वैसे ही हे विद्या, मुझसे तू लिपट जा जिससे तू मेरी कामना करने वाली होवे और जिससे तू मुझसे बिछुड़ने वाली न होवे।

उपनिषदों की शिक्षण-पद्धति

•

डा० रामनाथ वेदालङ्कार
पी-एच० डी०, आचार्य
अध्यक्ष, महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

उपनिषदें भारतीय संस्कृत-साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनमें जिस आकर्षक, सरल पद्धति से गहन-से-गहन विषयों का ज्ञान दिया गया है उसके कारण ये देश-विदेश में सर्वत्र लोकप्रिय सिद्ध हुई हैं। अध्यात्म विद्या के उच्च ग्रन्थों के रूप में तो ये प्रख्यात हैं ही, पर पाठक इनमें शिक्षा-पद्धति के अनेक मनोवैज्ञानिक तत्वों की भी उपलब्धि कर सकते हैं।

रोचक शैली

सर्वप्रथम जिस ओर हमारा ध्यान जाता है वह है इनकी रोचक शैली। उपनिषत्कार बताना चाहता है कि जगत् में प्रत्येक क्रिया ब्रह्म के द्वारा हो रही है, तो वह हमें दर्शनशास्त्र की की गहन गुत्थियों में न डालकर हमारे सामने एक कहानी प्रस्तुत कर देता है—"एक बार ब्रह्म ने विजय प्राप्त की। उसकी विजय से सब देवों की महिमा बढ़ गयी। इससे देवों को अभिमान हो गया। वे समझने लगे, यह हमारी ही विजय है। ब्रह्म ने सोचा, इनका अभिमान दूर करना चाहिए। वह यक्ष के रूप में उनके सामने प्रकट हुआ, पर देव नहीं जान सके कि यह यक्ष कौन है? उन्होंने अग्नि से कहा—जाओ पता लगाकर आओ। अग्नि दौड़कर उसके पास गया। ब्रह्म ने पूछा—तुम कौन हो? अग्नि ने गर्व से कहा—मेरा नाम 'अग्नि' है, मेरा नाम 'जातवेदस्' है। ब्रह्म ने पूछा—तुममें क्या शक्ति है? अग्नि बोला—पृथ्वी पर जो कुछ है उसे मैं जला सकता हूँ। ब्रह्म ने उसके आगे एक तिनका रखा और कहा—इसे जलाकर दिखाओ। अग्नि ने पूरी शक्ति लगा ली, पर उसे न जला सका। वह लौट आया और देवों से बोला—मैं नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है। तब देवों ने वायु को भेजा। वायु के आगे भी उसने तिनका रख दिया और कहा—इसे उड़ाकर दिखाओ। पर वायु उसे न उड़ा सका और लौट आया। फिर देवों ने राजा इन्द्र को भेजा, पर इन्द्र के सामने वह यक्ष अन्तर्धान हो गया। इन्द्र उसे आकाश में खोजता फिरा, अन्त में उसे 'उमा' के दर्शन हुए, जिसने इन्द्र को बताया कि यह 'ब्रह्म' है। इसी की विजय से तुम महिमाशाली हुए हो, तुममें जो भी महिमा है वह तुम्हारी अपनी नहीं, अपितु इस ब्रह्म की ही दी हुई है (केन उप०, ३य खण्ड)।" इस कथानक द्वारा कैसी रोचक शैली से उपनिषद् के ऋषि ने यह तथ्य समझाया है कि प्रकृति में अग्नि, वायु, सूर्य आदि देव तथा शरीर में वाणी,

प्राण, चक्षु आदि देव—सब ब्रह्म से शक्ति पाकर कार्य कर रहे हैं।

उपनिषत्कार यह स्पष्ट करना चाहता है कि शरीर में वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि में कौन सबसे बड़ा है तो उसकी लेखनी निम्नस्थ कथा सृजन कर देती है—"शरीर की चक्षु, श्रोत्र आदि शक्तियाँ परस्पर विवाद करने लगीं। सब कहने लगीं—मैं बड़ी हूँ, मैं बड़ी हूँ। वे निर्णय के लिए पिता प्रजापति के पास पहुँचीं और कहने लगीं—भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है? प्रजापति ने कहा—तुममें से प्रत्येक बारी-बारी से शरीर से बाहर निकले। जिसके बाहर निकलने से शरीर पापिष्टतर हो जाये वही सबसे बड़ा है। पहले वाणी निकली, वह एक वर्ष बाहर रहकर लौटी और पूछने लगी—मेरे बिना तुम सब कैसे जीवित रहे? सबने उत्तर दिया—गूँगे भी तो संसार में जीते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे। फिर चक्षु बाहर निकली, वह भी एक वर्ष बाहर रहकर लौटी और उसने आश्चर्य से देखा कि शरीर तो वैसा ही जीवित है। मेरे बिना तुम कैसे जीवित रहे—उसने पूछा। उत्तर मिला—जैसे नेत्रहीन लोग जीवित रहते हैं। फिर श्रोत्र-शक्ति बाहर निकली। वह भी एक वर्ष बाहर रही। लौटने पर उसे भी उत्तर मिला—जैसे बधिर मनुष्य जीते हैं, वैसे ही तुम्हारे बिना हम जीवित रहे। फिर मन बाहर निकला। वह भी वर्ष-भर बाद लौटकर आया। परन्तु देखता क्या है कि शरीर तो पूर्ववत् जीवित है। उसे भी उत्तर मिला—जैसे बालक बिना मनोव्यापार किये जीते हैं, वैसे ही हम जीवित रहे। अन्त में प्राण बाहर निकलने लगा। पर उसके बाहर निकलते ही वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि सब उसके साथ-साथ घिसटने लगे। इससे सबने समझ लिया कि प्राण ही हममें श्रेष्ठ है।" (छान्दोग्य०, प्रपा०, खण्ड १)।

उपनिषद् का ऋषि यह बताना चाहता है कि मरणोत्तर मनुष्य की क्या गति होती है, तो वह यम और नचिकेता की रोचक कहानी रच देता है, जिसमें कहानी की कला पूर्णरूप में निखर उठी है और जो आज भी पाठकों के लिए वैसी ही नयी है जैसी कई शताब्दी पूर्व थी, कथा के सूत्र में पिरोये हुए गम्भीर रहस्यों के मोती जिसमें अपनी अनुपम आभा प्रदर्शित कर रहे हैं। छान्दोग्य उपनिषद् की सत्यकाम जाबाल की रहस्यमयी कथा किसे आकृष्ट नहीं करती, जिसमें ऋषभ, अग्नि, हंस और मद्गु द्वारा क्रमशः ब्रह्म के एक-एक पाद का ज्ञान दिया गया है। उपकोसल की कथा भी कितनी रोचक है, जिसमें अग्नियों ने उसे आत्मज्ञान दिया है। श्वेतकेतु का वह आख्यान कितना रमणीय है जिसमें उसे उसके पिता द्वारा उस तत्व का उपदेश दिया गया है जिस एक के जान लेने से अश्रुत श्रुत हो जाता है, अविचारित विचारित हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है। इसी प्रसंग में मधुमक्षिका, नदी, वृक्षशाखा, न्यग्रोधफल, लवण, आँखों पर पट्टी बाँधे पुरुष, मरणासन्न पुरुष, तथा चोर के दृष्टांत से श्वेतकेतु को जो 'तत् त्वमसि' का उपदेश दिया गया है, वह भी उपनिषत्कारों की रोचक शैली का परिचायक है। बृहदारण्यक उपनिषद् का याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद अपनी रोचकता के कारण प्रख्यात है। **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"**, यह परिणाम पुत्र, वित्त आदि के दृष्टान्तों से कैसे स्वाभाविक रूप से निकाला गया है और फिर दुन्दुभि, शङ्ख तथा वीणा के दृष्टान्त से इस निष्कर्ष पर पहुँचाया गया है कि मूल को पकड़े बिना इधर-उधर हाथ मारने से सफलता अधिगत नहीं हो सकती। इस प्रकार जितना ही अधिक हम उपनिषदों को देखते हैं उतना ही अधिक उनकी रोचक शैली से प्रभावित होते हैं। आज का शिक्षा-मनोविज्ञान भी शिक्षण में शैली की रोचकता को बहुत महत्व देता है। उपनिषदों से हम यह कला सीख सकते हैं।

स्थूल से सूक्ष्म की ओर

उपनिषदों की शिक्षण-पद्धति की दूसरी विशेषता है—शनैः-शनैः स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाना। जनक याज्ञवल्क्य से पूछते हैं—"**किंज्योतिरयं पुरुषः**"—पुरुष के पास ज्योति कौन-सी है ? याज्ञवल्क्य कहते हैं—"**आदित्यज्योतिः सम्राडिति**", राजन्, सूर्य ही वह ज्योति है। पर सूर्य तो सदा नहीं रहता, सूर्य अस्त हो जाने पर कौन-सी ज्योति होती है ? तब चन्द्रमा ज्योति का कार्य करता है। पर चन्द्रमा भी तो सदा उदित नहीं रहता। सूर्य भी न हो, चन्द्रमा भी न हो, तब कौन-सी ज्योति होती है ? तब अग्नि ज्योति का कार्य करती है। पर अग्नि भी बुझ जाये तब ? तब वाणी ज्योति का कार्य करती है। पर गुरु की वाणी भी उपलब्ध न हो तब ? तब आत्मा ही ज्योति होती है। वस्तुतः ऋषि यहाँ आत्मा को ही सच्ची ज्योति बताना चाहता है। परन्तु प्रारम्भ में ही वह आत्मा का नाम नहीं लेता। शनैः-शनैः एक-एक पग बढ़ाकर आत्मा तक पहुँचाता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि स्थूल हैं, वाणी उससे सूक्ष्म है और आत्मा सबसे सूक्ष्म है। आत्मा तक पहुँचाकर उपनिषत्कार फिर यह आत्मा क्या वस्तु है, यह विचार प्रारम्भ कर देते हैं। पाठक देखें, इस शैली में कितनी सरसता, सरलता और स्वाभाविकता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि और वाणी के ज्योति होने की बात समझ लेने के उपरान्त आत्मा का ज्योति होना कितनी सुगमता से समझ में आ जाता है।

प्रजापति उपदेश दे रहे हैं, "जो आत्मा पापरहित है, अजर है, अमर है, शोकरहित है, भूख-प्यास से रहित है, सत्यकाम है, सत्य-संकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसे जानना चाहिए। जो उसे जान लेता है वह सब लोकों को प्राप्त कर लेता है, उसके सब मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।" देव और असुर दोनों इस उपदेश को सुनते हैं और उनकी इच्छा होती है कि हम भी इस आत्मा को जानें। देवों की ओर से इन्द्र और असुरों की ओर से विरोचन प्रजापति के पास पहुँचते हैं। प्रजापति कहते हैं—एक-दूसरे की आँख में देखो, यह जो आँख की पुतली में पुरुष दिखायी देता है यही आत्मा है, अर्थात् प्रतिबिम्ब या शरीर ही आत्मा है। विरोचन असुरों के पास पहुँच जाता है और असुरों को यह आत्मविद्या बतला देता है। वे इस शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं और इसी की सज-धज में लग जाते हैं। पर इन्द्र को मार्ग में ही शंका होती है और वह प्रजापति के पास लौट आता है। उसकी शंका सुन प्रजापति कहते हैं—अच्छा, यह जो स्वप्न में महिमा अनुभव करता है, यह आत्मा है, अर्थात् मन ही आत्मा है। वह पुनः देवों की ओर चल पड़ता है। पर मार्ग में ही उसे फिर शंका होती है और प्रजापति के पास आकर उनके समक्ष शंका प्रस्तुत करता है। अबकी बार प्रजापति कहते हैं—यह जो सुषुप्तिकाल में स्वप्न नहीं देखता यह आत्मा है। इन्द्र फिर संतुष्ट हो लौट पड़ता है। पर मार्ग में ही उसे फिर शंका होती है और प्रजपति के पास लौट आता है। अब प्रजापति उसे वास्तविक आत्मा का उपदेश देते हैं। (छान्दोग्य०, प्रपा० ८)। यहाँ भी उपनिषत्कार क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले गये हैं।

एक और प्रसङ्ग देखें। नारद सनत्कुमार के पास पहुँच निवेदन करते हैं—भगवन्, मुझे ब्रह्मविद्या पढ़ाइये। सनत्कुमार कहते हैं—पहले तुमने जो कुछ पढ़ा हो वह बताओ। नारद ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि सब अधीत विद्याएँ गिना जाते हैं। सनत्कुमार कहते हैं—यह सब 'नाम' कहलाता है। 'नाम' का जो फल होता है वह उसे मिल जाता है, जो इस 'नाम' की ब्रह्मरूप में उपासना करता है। इस पर नारद पूछते हैं—भगवन्, क्या 'नाम' से भी बढ़कर कुछ है ?

सनत्कुमार कहते हैं—हाँ, वाणी 'नाम' से भी बढ़कर है। इसी प्रकार शनैः-शनैः वाणी से मन, मन से संकल्प, संकल्प से चित्त, चित्त से ध्यान, ध्यान से विज्ञान, विज्ञान से बल, बल से अन्न, अन्न से जल, जल से तेज, तेज से आकाश, आकाश से स्मर, स्मर से आशा और आशा से प्राण तक पहुँचकर अन्त में 'भूमा' या आत्मा पर परिसमाप्ति करते हैं। (छान्दोग्य०, प्रपा० ७)। यहाँ इन सब वर्णनों की व्याख्या का अवकाश नहीं, क्योंकि स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की उपनिषत्कार की शैली दर्शाना ही प्रयोजन है। छात्र के सम्मुख एकदम सूक्ष्म और गंभीर बात रख देने से उसे उसके लिए हृदयङ्गम करना कठिन हो जाता है। अतः शिक्षाशास्त्र में हम उपनिषदों से स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की कला भी सीख सकते हैं।

जिज्ञासा उत्पन्न करना

शिक्षक स्वयं किसी विषय पर सब पहलू अपनी ओर से ही कल्पित कर शिष्य के सम्मुख रखता चले, इसकी अपेक्षा शिक्षा-शास्त्र में यह अधिक अच्छा समझा जाता है कि शिष्य के अन्दर जिज्ञासा के जाग्रत होने का अवसर दिया जाये और वह स्वयं शंका उठाये। अभी हमने ऊपर स्थूल से सूक्ष्म की ओर ले जाने की पुष्टि के लिए जो उदाहरण दिये हैं, उनमें यह जिज्ञासा उत्पन्न कराने की शैली भी आ जाती है। याज्ञवल्क्य जनक से कहते हैं कि सूर्य ही मनुष्य की ज्योति है, पर आगे स्वयं यह नहीं कहते कि सूर्य भी सदा ज्योति का काम नहीं कर सकता। यह जिज्ञासा जनक के मन में स्वयं उत्पन्न हो, इसका उसे अवसर देते हैं। इसी प्रकार प्रजापति आत्मा के स्वरूप के विषय में इन्द्र के मन में ही शंका उत्पन्न हो और वह प्रश्न करे, ऐसा अवसर उपस्थित करते हैं। नारद-सनत्कुमार के संवाद में भी यही शैली देखने को मिलती है। शिक्षक यह शैली अपनाएँ तो छात्रों की बुद्धि का विकास होता है और स्वयं सूक्ष्म चिन्तन करने की क्षमता उनमें उत्पन्न होती है। उपनिषदों से हम यह शैली भी सीख सकते हैं।

प्रश्नोत्तर शैली

प्रश्नोत्तर शैली भी उपनिषदों की एक प्रिय शैली है। एक उपनिषद् का नाम ही प्रश्नोपनिषद् है, जो एक प्रश्न से ही प्रारम्भ होती है। इसमें कबन्धी, कात्यायन, भार्गव वैदर्भि, कौसल्य आश्वलायन, सौर्यायणी गार्ग्य, शैब्य, सत्यकाम और सुकेशा भारद्वाज क्रमशः महर्षि पिप्पलाद से एक-एक प्रश्न पूछते हैं और महर्षि उनके प्रश्नों का उत्तर देते हैं। प्रश्नों में भी एक विशेष सामंजस्य और क्रम है जो उपनिषत्कार की दक्षता का द्योतक है। मुण्डक उपनिषद् में भी शौनक विनीत भाव से विधिवत् महर्षि अंगिरा के उपसन्न हो प्रश्न करता है—भगवन्, ऐसी वस्तु कौन-सी है, जिस एक के जान लेने से सब-कुछ विज्ञात हो जाता है? शेष उपनिषद् में अंगिरा शौनक के इस प्रश्न का ही उत्तर देते हैं।

प्रश्नोत्तर शैली के बृहदारण्यक उपनिषद् में और भी चमत्कारी रूप में दर्शन होते हैं। राजा जनक एक यज्ञ रचाते हैं जिसमें कुरु और पंचाल देश के अनेक विद्वान् ब्राह्मण सम्मिलित होते हैं। जनक को यह जिज्ञासा होती है कि इन ब्राह्मणों में सबसे अधिक ब्रह्मज्ञानी कौन है? वह एक सहस्र गौएँ मँगवाते हैं और उनके सींगों पर दस-दस स्वर्ण-मुद्राएँ बँधवाकर कहते हैं—हे ब्राह्मणो, तुममें जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह इन गौओं को ले जाये। यह सुनकर याज्ञवल्क्य अपने छात्र सामश्रवा को गौएँ ले चलने का आदेश दे देता है। इस पर अन्य क्रुद्ध हो उठते हैं—अरे, यह हम

सबमें अपने को ब्रह्मनिष्ठ समझता है। याज्ञवल्क्य को परास्त करने के लिए उपस्थित ब्राह्मण प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं। अश्वल पूछता है—यह सारा दृश्यमान जगत् मृत्यु से ग्रस्त है, वह उपाय बताइये जिससे यजमान मृत्यु से छूट सके? इस प्रथम प्रश्न का ठीक उत्तर मिलने के पश्चात् वह अन्य भी कई प्रश्न पूछता है और सबका सही उत्तर प्राप्त करता है। जारत्कारव आर्तभाग प्रश्न करता है—बताइये ग्रह कितने हैं, अतिग्रह कितने हैं और वे कौन-कौन से हैं? इस प्रश्न का उत्तर पाकर वह चार और प्रश्न भी करता है। उषस्त चाक्रायण और कहोल कौषीतकेय पूछते हैं— जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है और जो आत्मा सर्वान्तर्यामी है उसकी व्याख्या कीजिये। गार्गी वाचक्नवी पूछती है—सुनते हैं सब वस्तुएँ जल में ओत-प्रोत हैं तो बताइये जल किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते चलते हैं, और गार्गी प्रश्न-पर-प्रश्न उठाती चलती है, जिसकी परिसमाप्ति होती है ब्रह्मलोक पर पहुँचकर। उद्दालक आरुणि प्रश्न करता है—वह सूत्र कौन-सा है जिसमें यह लोक, परलोक और समस्त भूत ग्रथित हैं और वह अन्तर्यामी कौन है जो इस लोक में, परलोक में और सब भूतों में रहता हुआ उनका नियमन करता है? याज्ञवल्क्य अधिदैवत, अधिभूत और अध्यात्म तीनों दृष्टियों से इसका सुन्दर उत्तर देकर आरुणि को चुप करा देते हैं। गार्गी वाचक्नवी एक बार फिर प्रश्न करने का साहस करती है और वह याज्ञवल्क्य को कहती है—मैं दो प्रश्न लेकर आपके सामने खड़ी हूँ, इन मेरे दो प्रश्नों को आप दो बाण समझिये, जिनसे आप विद्ध हो जायेंगे। याज्ञवल्क्य कहते हैं—सहर्ष पूछिये। वह पूछती है—मेरा पहला प्रश्न है कि जो द्युलोक से ऊपर है, पृथिवी से नीचे है, द्यावापृथिवी के मध्य में है, जो भूत है, वर्तमान है, भविष्यन् है, वह सब किसमें ओत-प्रोत है? जब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं कि आकाश में सब ओत-प्रोत हैं, तब दूसरा प्रश्न वह यह पूछती है कि यह आकाश भी किसमें ओत-प्रोत है? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं—वह आकाश ओत-प्रोत है अक्षर ब्रह्म में। गार्गी समझ जाती है कि इस ब्राह्मण को जीतना कठिन है और ब्राह्मणों को परामर्श देती है कि कल्याण इसी में है कि तुम लोग और प्रश्न न पूछो तथा नमस्कार करके ही अपना पीछा छुड़ा लो। पर ब्राह्मणों में से एक विदग्ध शाकल्य हार नहीं मानता और वह भी पूछ बैठता है—बताइये, देव कितने हैं? अन्त में याज्ञवल्क्य ही विजयी होते हैं। इस प्रश्नोत्तर शैली का आज भी शिक्षण में पर्याप्त प्रयोग किया जा रहा है।

आत्मनिरीक्षण का अवसर देना

शिक्षक शिष्य को जहाँ शास्त्रज्ञान देता है वहाँ साथ ही उसके चारित्रिक विकास का उत्तरदायित्व भी उस पर होता है। इस चारित्रिक विकास के लिए शिष्य के अन्दर आत्म-निरीक्षण की प्रवृत्ति को जगाना होता है। शिक्षक के लम्बे-लम्बे उपदेशों से उतनी सफलता नहीं मिल पाती, जितनी शिष्य द्वारा आत्मनिरीक्षण कर स्वयं अपनी त्रुटि को देखकर उसे दूर करने के प्रयत्न से मिलती है। इस प्रसंग में बृहदारण्यक उपनिषद् का एक छोटा-सा कथानक स्मरण आता है। "प्रजापति के तीन पुत्र थे—देव, मनुष्य और असुर। ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास कर शिष्य-भाव से देव प्रजापति से बोले—भगवन्, हमें उपदेश कीजिये। प्रजापति ने केवल 'द' कहा और चुप हो गये। फिर पूछा—क्या तुम समझे? देवों ने थोड़ी देर आत्मनिरीक्षण किया और बोले—समझ गये भगवन्, आपने कहा है 'दाम्यत'; इन्द्रियों का दमन करो। मनुष्यों ने कहा—भगवन्, हमें भी उपदेश दीजिये। प्रजापति बोले 'द'। मनुष्य आत्मनिरीक्षण कर इस परिणाम पर पहुँचे

कि प्रजापति ने हमें उपदेश दिया है 'दत्त', दान करो। अब असुरों की बारी आयी। उन्हें भी प्रजापति ने केवल 'द' ही कहा। उन्होंने भी आत्मनिरीक्षण किया और समझे कि प्रजापति ने हमें कहा है 'दयध्वम्', दया करो। प्रजापति बोले—"ठीक है, तुम तीनों ने मेरा अभिप्राय ठीक समझा। आत्मनिरीक्षण कर तुममें से जिसमें जिस गुण की कमी थी, वही गुण उसने ग्रहण कर लिया। मेरे द्वारा 'द' संकेत के बिना भी तुम चाहो तो प्रकृति से ही संदेश ले सकते हो। यह विद्युत् गरजती है 'द-द-द', इससे भी तुम दमन, दान और दया की प्रेरणा ले सकते हो।" सूक्ष्म रूप में दिये हुए प्रजापति के इस उपदेश ने वह कार्य कर दिखाया जो दो घंटे का भाषण नहीं कर सकता था। इस प्रकार आवश्यक संकेत देकर अपनी त्रुटियों को स्वयं देखने की प्रवृत्ति छात्रों में उत्पन्न कर शिक्षक उन्हें गुणवान् बनाने में विशेष सहायक हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों की शिक्षा-पद्धति व्यावहारिक पद्धति थी। उसे आज भी शिक्षा-क्षेत्र में अपनाया जाना चाहिए।

०

सूयवसाद्भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥

(ऋग्वेद ॥१।१६४।४०॥)

जब तक माताजन वेदवित् न हों तब तक उनके संतान भी विद्यावान् नहीं होते हैं। जो विदुषी हो स्वयंवर विवाह कर, सन्तानों को उत्पन्न कर और उनको अच्छी शिक्षा देकर उन्हें विद्वान् करती हैं, वे गौओं के समान समस्त जगत् को आनन्दित करती हैं।

'मनुस्मृति' में गुरु-शिष्य

•

श्री रमेशचन्द्र
आचार्य
सिरसागंज, (मैनपुरी)

'गुरु' शब्द के अलौकिक एवं लौकिक अर्थ

वेदों में तथा वेदानुकूल शास्त्रों, सूत्रग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि में मनुष्य जीवन की उन्नति के लिए सर्वत्र विचार किया गया है। उन सभी विविध उपायों में एक अत्यन्त हितकारी महत्वपूर्ण उपाय (निमित्त, साधन) गुरु को माना गया है। यह गुरु शब्द अलौकिक एवं लौकिक अर्थों में पाया जाता है।

सृष्टि की प्रारम्भिक दशा में गुरु शब्द ईश्वर के लिए शास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। इसमें प्रमाण है—'अगली पंक्ति में 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।' (योग दर्शन, समाधिपाद, सूत्र २६)। इस सूत्र में (पूर्व में वर्तमान) 'क्लेश कर्मवियाकाशयैर परामृष्ट; पुरुष-विशेष ईश्वरः' (यो० द०, समाधिपाद, सूत्र २४) इससे ईश्वर पद की अनुवृत्ति आती है जो 'स' पद से गृहीत होता है। अर्थ इस प्रकार हुआ—'वह पूर्वोक्त ईश्वर पूर्वजों का भी गुरु है, काल से उसका बाध न होने के कारण।' सूत्र में पूर्वज शब्द से अभिप्राय अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा महर्षियों का है, सृष्टि के आदि में जिनके हृदयों में ईश्वर वेदों का प्रकाश करता है।

लौकिक अर्थ में गुरु शब्द का प्रयोग (व्यवहार) मनुष्यों के लिए होता है। यथा—'गुरोः सदारस्य निपीड्य पादौ।' (रघुवंश महाकाव्यम्, द्वितीय सर्ग)। यहाँ महाराज दिलीप और रानी सुदक्षिणा का गुरु वशिष्ठ के आश्रम में सन्तान-प्राप्ति की कामना से पहुँचना तथा प्रतिदिन सेवा करते हुए गुरु और गुरुपत्नी अरुन्धती के चरण दबाने के प्रसङ्ग में कवि ने उपरिलिखित श्लोक की रचना की है। यह प्राचीन भारतीय संस्कृति में गुरु की सेवा का सर्वत्र प्रसिद्ध ऐतिहासिक उदाहरण है। इसी प्रकार के सैकड़ों-हजारों उदाहरण प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में गुरु-परम्परा के जाने जाते हैं। राम-लक्ष्मण का गुरु विश्वामित्र से अस्त्र-शस्त्र की विद्या का सीखना, अर्जुनादि पाण्डवों का गुरु द्रोणाचार्य से युद्ध सम्बन्धी कलाओं का जानना, योगिराज श्री कृष्ण का आचार्य सन्दीपन के आश्रम में रहकर अस्त्रशास्त्रीय निपुणता के साथ यौगिक साधना की सिद्धि में सफलता पाना तथा निर्धन ब्राह्मण सुदामा को ऐहलौकिक व पारलौकिक कामनाओं से विरक्ति में असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि में पहुँच जाना। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द सरस्वती का गुरु विरजानन्द से वेद-वेदाङ्गादि ग्रन्थों का अध्ययन एवं अनार्ष ग्रन्थों का परित्याग करना और

एकेश्वरवाद की स्थापना आदि बहुत-से प्राचीन एवं आधुनिक उदाहरण पाये जाते हैं, जिनमें गुरु की महिमा लौकिक अर्थ में आदर्श रूप से प्रकट होती है।

'मनुस्मृति' में गुरु शब्द का लक्षण

निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते॥ अ० २।१४२॥

जो शास्त्रोक्त कर्मकाण्ड कराता है और जो अन्न से पोषण करता है उस ब्राह्मण को गुरु कहते हैं।

स्वामी दयानन्द के अनुसार गुरु शब्द की व्युत्पत्ति

'गृणात्युपदिशति वेदशास्त्रविद्यामाचारञ्च स गुरुः, सर्वेषां गुरुत्वादीश्वर आचार्यः पिता वा' (उणादिकोष, प्रथम पाद, २४ सूत्र)। अर्थात् जो वेदशास्त्रों की विद्या और आचार का उपदेश करता है वह गुरु है। ईश्वर, आचार्य व पिता—इनमें भी गुरुत्व होने से ये भी गुरु कहलाते हैं। स्वामी दयानन्दजी ने गुरु व आचार्य के कर्तव्यों में कुछ भी भेद नहीं माना है, किन्तु वेदमन्त्रों में आये 'आचार्य' शब्द को उन्होंने संस्कार-विधि के अन्तर्गत उपनयन व वेदारम्भ एवं समावर्तन संस्कारों में सर्वत्र विधि का ज्ञान कराने वाला मन्त्रों का अर्थ करते हुए, ग्रहण किया है, गुरु पद का नहीं। इससे सन्देह हो सकता है कि क्या 'आचार्य' शब्द से 'गुरु' का अभिप्राय लेना चाहिए? तो लेना ही उचित है क्योंकि गुरुकुल में वास करते हुए बालक का उपनयन व वेदारम्भ संस्कार विहित है। दूसरे स्वामीजी ने 'गुरु' शब्द की व्युत्पत्ति में गुरु का अर्थ आचार्य भी किया है। परन्तु मनुस्मृति में 'गुरु' के लक्षण से भिन्न 'आचार्य' शब्द का लक्षण पाया जाता है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥ अ० २।१४०॥

अर्थ—जो द्विज शिष्य का उपनयन करके कल्प और रहस्य के साथ वेद पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं। कल्प को यज्ञ विधि तथा रहस्य को उपनिषद् कहते हैं।

यद्यपि ('आचार्य' शब्द का भिन्न लक्षण करते हुए भी) आगे के श्लोकों में आचार्य शब्द से गुरु का ही अभिप्राय सर्वत्र लिया गया है, अर्थों में कोई भेद प्रकट नहीं होता, फिर भी गुरु एवं आचार्य दो शब्द भिन्न-भिन्न हैं। अतः स्वल्पांशों में अर्थों की भिन्नता से उनकी व्युत्पत्ति व लक्षण कुछ भिन्न होना अनिवार्य है।

गुरु-शिष्य का आदर्श रूप

यद्यपि मनुस्मृति से अतिरिक्त ग्रन्थों में भी गुरु और शिष्य के परस्पर कर्तव्यों का वर्णन मिलता है, तथापि जितना उत्तम रीति से सविस्तार वर्णन मनुस्मृति के अन्तर्गत है उतना कहीं नहीं। अतः मनुस्मृति में आये गुरु-शिष्य के आदर्श रूप का संक्षेपतः वर्णन यहाँ करते हैं।

मनु महाराज ने मनुष्य समाज के कल्याणार्थ वेदमन्त्रों की व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए कहा—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यञ्च सन्ध्योपासनमेव च॥ अ० २।६९॥

गुरु-शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार कर उसे शौच (पवित्रता इन्द्रियों की मिट्टी पानी द्वारा), आचार-स्नान क्रिया आदि, अग्निकार्य (समिधा को लाना तथा प्रातः-सायंकाल हवन करना) और सन्ध्योपासन कर्म को सिखलावे।

तदनन्तर शिष्य के कर्तव्य का वर्णन किया गया है—

अध्येष्यमाण स्त्वाचान्तो यथाशास्त्र मुदङ् मुखः।
ब्रह्माञ्जलिकृतोऽध्याप्यः लघुवासा जितेन्द्रियः॥ अ० २।७०॥

अध्ययन करने वाला शिष्य, शास्त्रोक्त विधि से आचमन किया हुआ ब्रह्माञ्जलि बाँध-कर हलके (कौपीन आदि लघु) वस्त्र को पहने हुए, जितेन्द्रिय होकर रहे तब वह शिष्य पढ़ाने योग्य है। श्लोक में आये ब्रह्माञ्जलि शब्द का अभिप्राय अगले श्लोक में स्पष्ट किया है—

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहृत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥ अ० २।७१॥

वेदाध्ययन से पहले और बाद में गुरु के दोनों चरणों को स्पर्श करना और हाथ जोड़कर पढ़ना, ब्रह्माञ्जलि कहलाता है, परन्तु गुरु चरणों का स्पर्श किस रीति से करे—उसको भी बताया कि हाथों को हेर-फेर कर गुरु के दाहिने चरण का अपने दाहिने हाथ से व गुरु के बायें चरण का अपने बायें हाथ से स्पर्श करे।

पुनः गुरु के धर्माचरण का शिष्य के प्रति कथन

अध्येष्यमाणं तु गुरुर्नित्यकालमतन्द्रितः।
अधीष्व भोः इति ब्रूयाद् विरामोऽ स्त्विति चारमेत्॥ अ० २।७३॥

अध्ययन करने वाले शिष्य से आलस्यहीन गुरु सर्वदा (प्रतिदिन अध्ययन करने से पहले) ('भोः अधीष्व') 'हे शिष्य! पढ़ो' ऐसा कहकर अध्ययन प्रारम्भ करावे तथा अन्त में 'विरामोऽस्तु' अर्थात् 'अब पढ़ना समाप्त करो' ऐसा कहकर समाप्त करे।

पश्चात् शिष्य का कर्तव्य

ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
स्रवत्यनोङ्कृतं पूर्वं पुरस्ताच्च विशीर्यति॥ अ० २।७४॥

शिष्य को वेदाध्ययन से पूर्व और अन्त में (प्रतिदिन) ओ३म् शब्द का उच्चारण करना चाहिए क्योंकि वह पहले ओ३म् शब्द का उच्चारण नहीं करता है तो अध्ययन धीरे-धीरे नष्ट हो जाता है तथा अन्त में न करने से अध्ययन में स्थिरता नहीं आती। परन्तु ओ३म् शब्द के उच्चारण से पहले क्या करे?

प्राक्कूलान् पर्युपासीनः पवित्रैश्चैव पावितः।
प्राणायामैस्त्रिभिः पूतस्तत ओङ्कारमर्हति॥ अ० २।७५॥

कुशासन पर बैठा हुआ द्विज शिष्य दोनों हाथों में ग्रहण किये हुए (कुशनिर्मित) पवित्रों

से शुद्ध हो तथा तीन प्राणायामों से (अकारादि लघु मात्रा वाले १५ अक्षरों के उच्चारण काल के बराबर प्राणायाम काल जानना चाहिए, गौतम के अनुसार) शुद्ध होकर बाद में ओ३म् शब्द के उच्चारण के योग्य होता है।

सन्ध्योवासन के विषय में कहते हैं—

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्विष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम् ॥ अ० २।१०२ ॥

प्रातःकाल की सन्ध्या में (एकासन) बैठकर जप करता हुआ शिष्य (मनुष्य) रात्रि में किये हुए पापों को नष्ट करता है तथा सायंकालीन सन्ध्या में बैठकर जप करता हुआ दिन में किये हुए पापों को नष्ट करता है।

शिष्य का गुरु के प्रति धर्माचरण

अग्नीन्धनं भैक्षचर्यामधः शय्यां गुरोर्हितम्।
आसमावर्तनात्कुर्यात् कृतोपनयनो द्विजः ॥ अ० २।१०८ ॥

जिसका यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, ऐसा द्विज समावर्तनकाल (वेदाध्ययन समाप्त कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से पूर्वकाल) तक प्रातःकाल तथा सायंकाल समिधा का अग्नि में त्याग अर्थात् हवन, भिक्षावृत्ति, पृथ्वी पर शयन, (खाट व चारपाई पर सोने व चढ़ने तक का सर्वथा निषेध है) और गुरुहित कार्य (गुरु के लिए जल, घृत, दुग्ध, पुष्प आदि लाकर हिताचरण) को करे।

गुरु अन्याय से व बिना पूछे न बोले

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ अ० २।११० ॥

वेदतत्त्व को जानता हुआ भी विद्वान् बिना पूछे किसी से (तत्वज्ञान को) न कहे। अशुद्धोच्चारण करने पर भी किसी को न टोके किन्तु यदि शिष्य अशुद्धोच्चारण करे तो उसे अवश्य ही टोके (कूल्लूकभट्ट के अनुसार) और ठीक-ठीक बतलावे। अन्याय से (भक्ति श्रद्धा आदि का त्याग कर) पूछने पर भी (तत्वज्ञान को) न कहे किन्तु जड़ के समान आचरण करे।

किस प्रकार के शिष्य को विद्या न पढ़ाई जाये, इसके लिए लिखा—

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥ अ० २।११२ ॥

जिस शिष्य में धर्म तथा अर्थ न हो अथवा शिक्षानुरूप सेवावृत्ति न हो, ऊसर में उत्तम बीज के समान उस शिष्य में विद्यादान न करे। कुपात्र को विद्या न पढ़ावे चाहे मर भले ही जावे—

विद्ययैव समं कामं मर्तव्यं ब्रह्मवादिना।
आपद्यपि हि घोरायां न त्वेनामिरिणे वपेत् ॥ अ० २।११३ ॥

वेदज्ञ विद्वान् विद्या के साथ में (बिना किसी को पढ़ाये) ही भले मर जाये, किन्तु घोर आपत्ति में भी अपात्र शिष्य को न पढ़ावे। इसलिए विद्या ने वेदज्ञ विद्वान् ब्राह्मण से प्रार्थना की—

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्।
असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ अ० २।११४॥

विद्या (विद्यारूपा अधिष्ठात्री देवी) ने ब्राह्मण के पास आकर कहा—मैं तुम्हारा (कोष) खजाना हूँ, मेरी रक्षा करो, मेरी निन्दा करने वाले के लिए मुझे मत दो, इससे मैं अत्यन्त वीर्यवती होऊँगी। और भी आगे कहा—

यमेव तु शुचिं विद्यान्नियत ब्रह्मचारिणम्।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपाया प्रमादिने॥ अ० २।११५॥

जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो, विद्या-रूपी कोष की रक्षा करने वाले अप्रमादी उस ब्राह्मण के लिए मुझे कहो।

शिष्य ऊँचे आसन पर न बैठे

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत्।
शय्यासनस्थश्चैवेनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत्॥ अ० २।११६॥

बड़ों (गुरु, माता, पिता, पूज्यजनों) की शय्या (खाट, पलङ्ग) और आसन (चटाई, चौकी) आदि पर स्वयं न बैठे तथा स्वयं आसन पर बैठा हो तो (गुरुजनों के) आने पर उठकर उन्हें प्रणाम करे। क्योंकि—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ अ० २।१२०॥

युवा मनुष्यों के प्राण वृद्ध लोगों के आने पर ऊपर चढ़ते हैं और अभ्युत्थान तथा प्रणाम करने से वह युवा पुरुष उन्हें पुनः प्राप्त कर लेता है।

अभिवादन का फल

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥ अ० २।१२१॥

उठकर सदा वृद्धजनों को प्रणाम तथा उनकी सेवा करने वाले शिष्य की आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं।

अभिवादनकर्त्ता को गुरु द्वारा आशीर्वाद

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ।। अ० २।१२५ ।।

अभिवादन करने पर गुरु शिष्य से 'हे सौम्य ! आयुष्मान् होवो' (आयुष्मान् भव सौम्य) ऐसा कहे तथा अभिवादनकर्त्ता के नाम के अन्तिम अक्षर के पूर्व वाले अकार (आदि) स्वर को प्लुतोच्चारण करे । (यथा—आयुष्मान्भव सौम्य देवदत्त इ...)

गुरु अहिंसापूर्वक वेदाध्ययन करावे

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक्चैव मधुराश्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ।। अ० २।१५९ ।।

धर्माभिलाषी पुरुष (आचार्य, गुरु आदि) को शिष्यों की अहिंसा (अल्पतम ताडनादि) के द्वारा ही कल्याणार्थ उपदेश (अध्यापनादि) करना चाहिए तथा मीठा और मधुर वचन बोलना चाहिए।

शिष्य के आवश्यक कर्त्तव्य

कृतोपयनयस्यास्य व्रतादेशनमिष्यते ।
ब्रह्मणो ग्रहणं चैव क्रमेण विधिपूर्वकम् ।। अ० २।१७३ ।।

यज्ञोपवीत संस्कार होने पर व्रतों (हवन के लिए समिधा का लाना, दिन में सोने का निषेध) का पालन, वेद का उपदेश तथा ग्रहण (अध्ययन) क्रमशः विधिपूर्वक इष्ट है ।

ब्रह्मचारी किस-किस विषय का सेवन न करे ?

मधु (शहद), मांस, सुगन्धि (कपूर, कस्तूरी आदि) पदार्थ, फूलों की माला, रस (गन्ना, जामुन, सिरका आदि), स्त्री, अचार आदि और जीवों की हिंसा को छोड़ दे (२।१७७)। ब्रह्मचारी सिर से पैर तक तेल की मालिश, या उबटन लगाना, आँखों में अञ्जन लगाना, जूता और छाता धारण करना, काम, क्रोध, लोभ, नाचना, गाना, बजाना छोड़ दे (२।१७८)। ब्रह्मचारी जुआ, लोगों के साथ निरर्थक बकवाद, दूसरों की निन्दा, असत्य अनुराग से स्त्रियों को देखना तथा उनका आलिङ्गन करना और दूसरों को हानि पहुँचाना छोड़ दे (२।१७९)।

ब्रह्मचारी सर्वत्र अकेला ही शयन करे, कभी वीर्यपात न करे, क्योंकि इच्छापूर्वक वीर्यपात करता हुआ (ब्रह्मचारी) अपने व्रत से भ्रष्ट हो जाता है (२।१८०)। (ब्रह्मचारी) बिना इच्छा के स्वप्न में वीर्यपात हो जाने पर स्नान तथा सूर्य की उपासना कर तीन बार "पुनर्मा मैत्विन्द्रियम्" मन्त्र का जप करे (२।१८१)। पानी का घड़ा, फूल, गोबर, मिट्टी और कुशों को आचार्य (गुरु) की आवश्यकतानुसार ही लावे (अर्थात् संचय न करे और प्रतिदिन भिक्षा लावे (२।१८२)। वेदाध्ययन तथा पंचमहायज्ञों से अहीन (इनको नित्य करने वाले) और अपने कर्म में श्रेष्ठ लोगों के घरों से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी प्रतिदिन भिक्षा लावे (२।१८३)। सर्वदा गुरु की

अपेक्षा अन्न, वस्त्र तथा वेष को हीन रखे और गुरु के सोकर उठने के पहले उठे तथा सोने के बाद सोवे (२।१९४)। जहाँ गुरु की बुराई व निन्दा होती हो, वहाँ ब्रह्मचारी कान बन्द कर ले या वहाँ से अन्यत्र चला जाये (२।२००)। ब्रह्मचारी मुण्डन करावे, व जटायुक्त रहे व केवल शिखामात्र रखे और ब्रह्मचारी को किसी स्थान में सोते रहने पर न तो सूर्योदय हो और न सूर्यास्त हो। (सूर्योदय-सूर्यास्त के पहले वह ग्राम के बाहर जाकर अपना सन्ध्योपासन तथा अग्निहोत्रादि नित्य किया करे) (२।१०८)। धर्मज्ञ (ब्रह्मचारी) पहले (अध्ययन काल) में गुरु का कोई उपकार (गो, वस्त्र, धनादि को देकर) न करे (स्वयं प्राप्त होने पर तो देवे ही)। व्रत-पूर्तिकाल में (समावर्त-संस्कार निमित्तक) स्नान करने के पहले गुरु से आज्ञा पाया हुआ ब्रह्मचारी (गुरु के लिए किसी धनिक व्यक्ति से याचना कर) यथाशक्ति गुरुदक्षिणा दे (२।२४५)। उक्त (व्रत समाप्यि का स्नान कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का इच्छुक) ब्रह्मचारी भूमि, सुवर्ण, गौ, घोड़ा, छाता, जूता, आसन, शाक और कपड़ों को देकर गुरु की प्रसन्नता को प्राप्त करे (२।२४६)। आचार्य के मरने पर गुणयुक्त गुरुपुत्र में, गुरुपुत्री में और गुरु के सपिण्ड (सात पीढ़ी तक के परिवार) में गुरु के समान व्यवहार करे (२।२४७)। (आचार्य के मरने पर भी) गुरुपुत्रादि से लेकर अग्नि तक की शुश्रूषा करने वाला अखण्डित व्रत वाला जो शिष्य (ब्राह्मण) नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का आचरण करता है, वह उत्तम (गति मोक्ष, परमानन्द) को प्राप्त होता है।

इस प्रकार 'मनुस्मृति' में गुरु-शिष्य के आदर्शरूप को उपस्थित किया गया है।

हे मनुष्यो! जो अशुद्ध आहार और विहार करने वाले, लम्पट चुगल और कुसंगी हैं उनको विद्या कभी नहीं प्राप्त होती है और जो पवित्र आहार और विहार करने वाले जितेन्द्रिय यथार्थ वक्ता, सत्संगी पुरुषार्थी हैं उनको विद्या प्राप्त होती है, ऐसा जानिये।

—महर्षि दयानन्द

'याज्ञवल्क्य-स्मृति' में शिक्षण का दर्शन

डा० ओम्प्रकाश वेदालंकार
पी-एच० डी०
संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, भरतपुर (राजस्थान)

योगीश्वर मुनि याज्ञवल्क्य द्वारा प्रणीत 'याज्ञवल्क्य-स्मृति' का स्मृति ग्रन्थों में 'मनस्मृति' के पश्चात् सर्वाधिक महत्व है। दायभाग आदि कुछ विषयों में तो यह प्राचीन सामाजिक व्यवस्था बोध के लिए एक सन्दर्भ ग्रन्थ ही बन गयी है। सामाजिक विषयों से सम्बद्ध जहाँ इसमें अन्यान्य विषयों का समावेश है, वहीं ग्रन्थ के ब्रह्मचारिप्रकरण नामक द्वितीय अध्याय में शिक्षण के सुन्दर तर्कपूर्ण एवं समयोचित आधार उपस्थित किये गये हैं।

शिक्षण-संस्था गुरुकुल में प्रवेश करने से पूर्व ब्रह्मचारी में कतिपय योग्यताओं और शक्तियों के विकास की अत्यन्त आवश्यकता होती है। मानव में सहज-सुलभ इन शक्तियों का विकास एवं परिमार्जन जिन विशिष्ट कार्यों द्वारा होता है उन्हें प्राचीन ऋषि एक शब्द में 'संस्कार' नाम देते हैं। इन्हीं १६ संस्कारों में एक संस्कार वह है जिसके द्वारा ब्रह्मचारी गुरु या आचार्य के कुल में प्रवेश कर, उसकी अत्यन्त निकटता-लाभ करता है। उसकी विचार-दृष्टि इस समय अपनी स्वतन्त्र नहीं रहती, अपितु गुरु के ज्ञान-चक्षु से ही वह सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान की वास्तविकता को हृदयङ्गम करना चाहता है। इसी कारण विद्या के इस प्रारम्भ को 'उपनयन' अथवा 'वेदारम्भ' संस्कार नाम दिया गया है। शिक्षण के इस आरम्भ की समाप्ति 'समावर्तन' संस्कार में होती है, जब वह अन्तेवासी गुरुदक्षिणा दानपूर्वक स्नान कर स्नातक पदवी की प्राप्ति करता है और लोक-कल्याण के लिए ज्ञान-विज्ञान के प्रसार का संकल्प लेकर गुरुकुल से विदा होता है।

शिक्षण के इस क्रम में वर्ण-व्यवस्था भी समान महत्वपूर्ण है। 'वर्ण' स्वयं अपनी इच्छा से स्वीकार किये गये जीवन के व्रत या संकल्प का नाम है। वरणीय होने से वह वर्ण है। अज्ञान, अन्याय और अभाव—मानव के तीन बड़े शत्रु हैं। इन तीनों को मिटाने का संकल्प जो व्यक्ति जीवन के प्रारम्भ में ही ग्रहण करते हैं, वे क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं। जो इस प्रकार का विशिष्ट व्रत न धारण कर सामान्य सेवा कार्य करे वह शूद्र है। इन सभी वर्णों में यह निश्चित है कि शिक्षार्थी की योग्यताएँ व आवश्यकताएँ एक समान नहीं होंगी। अतः याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी उनमें पृथक् भाग रखा गया है। प्रथम तीन वर्ण सामूहिक रूप से 'द्विज' हैं, क्योंकि इन तीन का ही 'मौञ्जिबन्धन' (उपनयन) द्वारा दूसरा जन्म होता है। उपनयन से पूर्व प्रत्येक

'सम्भाव्य द्विज' के अन्य संस्कार भी अपेक्षित हैं क्योंकि महर्षि याज्ञवल्क्य के शब्दों में—

एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्भवम्।

इन संस्कारों द्वारा ही जन्मकृत अमंगल (पाप) दूर होते हैं।

शिक्षण-गृह में प्रवेश कर शिक्षा का प्रारम्भ अत्यन्त विचारपूर्वक व बालक के आचार-विचार को ध्यान में रखकर निश्चित किया गया है। आचार्य याज्ञवल्क्य का कथन है कि—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्।।

(या० स्मृ०, २.१५)

उपनयन के बाद गुरु का कर्तव्य है कि 'भूरादि' महाव्याहृतिपूर्वक वेद तथा शौचाचार (पवित्र आचरण) की शिक्षा शिष्य को प्रदान करे। इसके अनन्तर सदाचार के उन नियमों, कर्तव्यों व आचरणों का विस्तार है, जिनके पालन से कोई भी प्रशिक्षणार्थी सदाचारी व स्वाध्यायी बन सकता है। शास्त्र के साथ सदाचार का यह प्रशिक्षण याज्ञवल्क्य-शिक्षण की एक प्रमुख विशेषता है जो आधुनिक शिक्षा के सन्दर्भ में विशेष अनुकरणीय है।

स्वास्थ्य(मानसिक व शारीरिक)प्राप्ति के लिए स्वच्छता, आचमन, स्नान, मार्जन, प्राणायाम, सूर्योपस्थान, व्याहृतिपूर्वक तथा प्रणव सहित गायत्रीजप, सायं तारकोदयपर्यन्त तथा प्रातः सूर्यदर्शनयावत् संध्याअनुष्ठान तथा दोनों समयों में अग्निहोत्रादि कार्य प्रमुख रूप से बताये गये हैं। किसी भी विद्यार्थी के लिए शिक्षा-प्राप्ति में ये सभी कार्य कितने आवश्यक व अपरिहार्य हैं, यह केवल अनुभवगम्य ही है। सम्भवतः इसी कारण आधुनिक शिक्षाशास्त्री पाठ्यक्रमों में प्राणायाम तथा योग-शिक्षा को अनिवार्य बनाने के पक्ष में हैं। शिष्य को अभिवादन तथा आचरण-प्रकार की ओर भी विशेष रूप से सावधान किया गया है। वृद्धों (बड़ों) के अभिवादन में स्वपरिचयपूर्वक उनका विनम्र अभिवादन करना चाहिए। गुरु के प्रति अतिशय विनम्रता तो उसका धर्म है। एकाग्र मन से वह स्वाध्याय के लिए गुरु-सामीप्य लाभ करे, वे जब विद्या-दान के लिए उत्सुक हों तभी उनसे विद्या ग्रहण करे। भिक्षादि में जो कुछ प्राप्त हो वह गुरु के लिए निवेदन करे तथा मन-वचन-कर्म से गुरु की सेवा-सुश्रूषा करे। गुरु के लिए आवश्यक है कि वह शिष्य की योग्यता की भलीभाँति परीक्षा करने के पश्चात् ही उसे अध्याप्य (अध्यापन योग्य) स्वीकार करे।

कृतज्ञाद्रोहिमेधावि शुचि कल्पाऽनसूयकाः।
अध्याप्या धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदा।।

(या० स्मृ०, २.२८)

कृतज्ञता शिष्य का प्रधान गुण है, दया आभूषण है। मेधा शृंगार है, अन्तर्बाह्य पवित्रता कर्तव्य है, आधि-व्याधिविहीनता धर्म है, ईर्ष्याविहीनता विशेषता है, सदाचार अनुकरणीय है, सेवा-शक्ति वर्धनीय है, बन्धुता आदर्श है, विद्या-विस्तार प्रयोज्य है, बिना किसी पगबन्ध (पूर्व निश्चय) के गुरु के लिए अर्थ-दान विधेय है। उसे चाहिए कि वह सदा दण्ड, मृग चर्म, यज्ञोपवीत व मेखला धारण कर कटिबद्ध व जागरूक रहे, भिक्षा में संकोच न करे, किन्तु भिक्षा आत्म-वृत्ति के लिए ही होनी चाहिए और ऐसे व्यक्तियों से ग्रहणीय है जो स्वकर्तव्यनिरत रहें। भिक्षा-

प्राप्त अन्न गुरु के लिए निवेदन कर उसकी आज्ञा से ही स्वीकारे, अग्नि-देव को समर्पित कर आचमनपूर्वक मौन रहकर ग्रहण करे, कभी अन्न की निन्दा न करे, ब्रह्मचर्य व्रत में दृढ़ रहे। यदि विवशताहीन हो तो किसी एक स्थान से ही भिक्षान्न ग्रहण न करे। यहीं पर मद्य-मांसादि उच्छिष्ट भोजन, उदयास्त सूर्यावलोकन, अनाचार व परिवाद का त्याग भी आवश्यक बताया गया है।

शिष्य के साथ-साथ गुरु की व्याख्या भी आचार्य याज्ञवल्क्य ने अत्यन्त स्पष्टता तथा मुखरता से दी है। गुरु वह है जो बालक के सभी संस्कारों को पूर्ण कर उसे साङ्गोपांग वेद-शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त करता है। स्पष्ट है कि बालक की यह शास्त्र-प्रवृत्ति करने वालों में उसका पिता उसका प्रथम व प्रमुख गुरु है। उपनयन संस्कार कर वेद का अध्यापयिता आचार्य कहा जाता है। वेद-शास्त्रों के किसी एक अंग में निष्णात कराने वाला 'उपाध्याय' तथा यज्ञादिक क्रियाशील व्यक्ति 'ऋत्विक्' कहा जाता है। ये सभी शिष्य के लिए मान्य हैं, किन्तु ऋत्विक् की अपेक्षा उपाध्याय, उपाध्याय की तुलना में आचार्य और आचार्य की तुलना में गुरु अधिक पूज्य-तम है। इन सबमें भी जो सबसे अधिक गरीयसी व आदरणीया है वह माता है। माता का यह उच्च स्थान वास्तव में न केवल ऋषि याज्ञवल्क्य, अपितु भारतीय शिक्षा का उच्च आदर्श है— 'माता निर्माता भवति' कहकर महर्षि यास्क, महर्षि दयानन्द एवं अन्य ऋषि-महर्षियों ने उसके महत्व को प्रतिपादित किया है।

शिक्षण की अवधि कितनी रहे—इस पर भी याज्ञवल्क्य ने विचार किया है। मोटे तौर पर प्रत्येक साङ्गोपाङ्ग वेद के अध्यापन के लिए १२ अथवा ५ वर्ष का ब्रह्मचर्य आवश्यक है। शास्त्रों में यज्ञ, तप तथा अन्य शुभ कर्मों की विशेष महिमा वर्णित है किन्तु द्विजों के लिए शास्त्रा-ध्ययन ही परम श्रेयस्कर है—

"वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयस्करः परः।"

याज्ञवल्क्य के इस वचन में शिक्षण का महत्व सर्वोपरि आंका गया है। आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी तो सदा ज्ञानपिपासु रहकर गुरु-सान्निध्य कभी नहीं त्यागता। आचार्य के अभाव में आचार्यपुत्र, आचार्यपत्नी तथा इनके अभाव में ब्रह्मचर्याग्नि के साहचर्य का कभी त्याग न करे। ऐसा व्यक्ति निश्चयपूर्वक ब्रह्मलोक का अधिकारी होता है।

इस प्रकार आचार्य याज्ञवल्क्य ने शिक्षण के जो आदर्श उपस्थित किये हैं वे आज भी विचारणीय व अनुकरणीय हैं।

•

पावका नः सरस्वती। (सामवेद पू० २।१०।५)

हमारी विद्या पवित्र विचारों को फैलाने वाली हो।

आचार्य पाणिनि तथा पतञ्जलि कालीन शिक्षा का स्वरूप एवं आदर्श

•

श्री नरेन्द्रदेव
आचार्य, एम० ए०
अध्यक्ष, संस्कृत-हिन्दी विभाग, बी० बी० आर० कालेज, सिधरावली, गुड़गांवा

आचार्य पाणिनि रचित 'अष्टाध्यायी' तथा मुनि पतञ्जलि विरचित 'महाभाष्य' के पर्यालोचन से ज्ञात होता है कि उस काल में शिक्षा का क्या स्वरूप था ? शिक्षण-संस्थाएँ, आचार्य, छात्र -शिक्षण -प्रणाली तथा अध्ययन की सामग्री किस प्रकार की थी ? महर्षि पाणिनि एवं पतञ्जलि का समय भारतीय शिक्षा के चरमोत्कर्ष का काल था, जिसमें अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य जैसे ग्रंथों का प्रणयन हुआ, जो कि अद्यावधि अद्वितीय हैं। उस समय जो शिक्षा-प्रणाली विद्यमान थी, वह सर्वोत्कृष्ट थी। आचार्य पाणिनि तथा पतञ्जलि उसी शिक्षा-पद्धति के आदर्श स्वरूप की देन हैं। उनका तपस्वी जीवन, विषय के अनुशीलन में सूक्ष्म दृष्टि, भाषा पर असामान्य अधिकार, ग्रंथ प्रणयन में प्रतिभा तथा महान् अध्यवसाय—ये गुण भारतीय साहित्य पर ही नहीं, अपितु विश्व के साहित्य पर भी अपने अमिट चिह्न अंकित कर गये हैं। अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के अनुशीलन के आधार पर जो तत्कालीन शिक्षा का स्वरूप एवं आदर्श हमारे समक्ष उपस्थित होता है, वह निम्नस्थ प्रकार है।

छात्र का स्वरूप

आचार्य पाणिनि के समय में शिक्षा का मूल आधार 'ब्रह्मचर्य-प्रणाली' थी। **तदस्य ब्रह्मचर्यं** (५।१।५४) सूत्र द्वारा यही अभिप्राय स्पष्ट होता है। इस प्रणाली में न केवल शिक्षा, अपितु ज्ञान संयम की चर्या अथवा आन्तरिक जीवन के निर्माण के लिए अत्यधिक प्रयास किया जाता है। **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्योवुञ्** (४।३।७७) सूत्र द्वारा प्रतीत होता है कि उस समय गुरु-शिष्य का पारस्परिक सम्बन्ध योनि सम्बन्ध के समान ही पवित्र एवं महत्वपूर्ण था। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्यालय में अन्य सहपाठियों के साथ अध्ययन करते थे। आचार्य की विद्वत्ता एवं जीवन-शक्ति उनके द्वारा संस्थापित चरणों के द्वारा ही प्रतीत होती थी। **वर्णाद् ब्रह्मचारिणि** (५।२।१३४) सूत्र द्वारा यह विदित होता है कि उस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—इन तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे। सामान्यतः गुरु से अध्ययन करने वालों के लिए छात्र शब्द

का प्रयोग होता था। **"छत्रादिभ्योणः"**(४।४।६२) सूत्र द्वारा प्रकट होता है कि छात्र आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था। पतञ्जलि ने भी प्रस्तुत सूत्र का भाष्य करते हुए स्पष्ट किया है कि **"गुरुणा शिष्यश्छत्रवच्छाद्यः"**, **"शिष्येण च गुरुश्छत्रवत्परिपाल्यः"**—अर्थात् गुरु शिष्य के अज्ञान को दूर करे तथा शिष्य गुरु की शिक्षा का पालन करें। गुरु के प्रति शिष्य का एक आध्यात्मिक भाव था, जिसके कारण शिष्य आचार्य के प्रति सतर्कतापूर्वक अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था। तत्कालीन छात्र समुदाय दो भागों में विभक्त था—१. दण्डमाणव, २. अन्तेवासी। **"दण्डमाणवान्तेवासिषु"** (४।३।१३०)। दण्डमाणव निम्न कक्षा का शिष्य होता था तथा अन्तेवासी उच्च कक्षा का छात्र होता था। जब वेद का अध्ययन प्रारम्भ होता था, तब माणव का उपनयन संस्कार आचार्य करता था। इस विशेष कार्य को आचार्यकरण कहते थे—**"आचार्यकरणमाचार्यक्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यो कुर्वन्माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः"** (काशिका, १।३।३६)। मनसा-वाचा-कर्मणा गुरु के समीप पहुँचा विद्यार्थी अन्तेवासी संज्ञा को धारण करता था। भाष्य में उल्लेख है कि उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। एक चरण में अध्ययन करने वाले सभी छात्र अन्तेवासी परस्पर 'सब्रह्मचारी' कहे जाते थे। **"चरणाद् ब्रह्मचारिणि"** (६।२।८६)।

गुरु का स्वरूप

आचार्य पाणिनि ने 'अष्टाध्यायी' में चार प्रकार के शिक्षकों का उल्लेख किया है—१. आचार्य, २. प्रवक्ता, ३. श्रोत्रिय, ४. अध्यापक—**"पोटयुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः"** (२।१।६४)। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोच्च था, वही उपनयन का अधिकारी था—**"आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः"**(अथर्ववेद, ११।५।३) अर्थात्, आचार्य उपनयन संस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने गर्भ के अन्दर प्रविष्ट कराता है। इसी उच्च भावना के कारण ब्रह्मचारी को अन्तेवासी कहा जाता था। **"आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी"** (६।२।१३६) सूत्र द्वारा प्रतीत होता है कि आचार्य के नाम से अन्तेवासी का नाम पड़ जाता था, यथा—तित्तिर आचार्य के शिष्य तैत्तिरीय, पाणिनि के पाणिनीय कहलाते थे। सरहस्य वेदज्ञाता को आचार्य कहते थे।

२. प्रवक्ता—आचार्य पाणिनि ने जिसे 'प्रोक्त साहित्य' कहा है यथा—शाखा ग्रंथ, ब्राह्मण, श्रौतसूत्र आदि, उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य को प्रवक्ता कहा जाता था। वेद और वेदांगों का अर्थसहित अध्यापन यही कराते थे। अष्टाध्यायी के सूत्र २।१।६४ में प्रवक्ता श्रोत्रिय और अध्यापक—इन तीनों का उल्लेख क्रमशः महत्व के अनुसार है।

३. श्रोत्रिय—जो विद्वान् छात्रों को वेद की शाखाओं को कण्ठस्थ कराते थे, उन्हें श्रोत्रिय कहा जाता था। इस प्रकार का निर्देश **"श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते"** (५।२।८४) सूत्र द्वारा प्राप्त होता है। इनके निर्देशन में रहकर विद्यार्थी संहिता, पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन आदि पाठों के अनुसार शाखा ग्रंथ एवं उनके ब्राह्मण ग्रंथों को कण्ठस्थ करते थे।

४. अध्यापक—**"कृते ग्रंथे"** और **"अधिकृत्य कृते ग्रन्थे"** सूत्रों के अनुसार पाणिनि द्वारा निर्दिष्ट साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरु अध्यापक श्रेणी में आते थे। इस प्रकार का साहित्य लौकिक होता था, वैज्ञानिक होता था। माणवक स्तर की कक्षाओं को भी यह लोग

पढ़ाते थे। पतञ्जलि-काल में इनका नाम उपाध्याय पड़ गया। अतएव महाभाष्य में 'काण्डिकोपाध्याय' उल्लेख मिलता है।

विषय-विभाग एवं पाठ्यक्रम

पाणिनीय युग में 'चरण' नाम से अभिहित शिक्षण-संस्थाओं के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा ग्रंथ पढ़ाये जाते थे। उनके अध्येता छात्रों का नाम उन छन्द ग्रन्थों के नाम से रखा जाता था, यथा—तित्तिरिआचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुतः स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण ग्रंथ इन दोनों का कोई स्वतन्त्र नाम नहीं था, अपितु उनके पढ़ने वाले छात्र और पढ़ाने वाले गुरुओं के नाम से ही ग्रंथों का नाम लोक में प्रचलित था। इसी अभिप्राय का प्रतिपादन प्रस्तुत सूत्र द्वारा होता है: **"छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि"** (४।२।६६)। इस सूत्र द्वारा तद्विषयता का विवेचन पाणिनी ने अष्टाध्यायी में किया है। शाखा का मूल प्रवर्तक प्रत्यक्षकारी ही चरण का संस्थापक आचार्य होता था। उसकी शाखा का अध्ययन उस चरण के छात्र करते थे। इसका निर्देश **"तेन प्रोक्तम्"** (४।३।१०१) सूत्र में किया है। पुनः इस प्रोक्त शाखा को पढ़ने-पढ़ाने वाले को अभिहित करने के लिए **"तदधीते तद्वेद"** (४।२।५९) द्वारा विहित प्रत्यय का **"प्रोक्ताल्लुक्"**(४।२।६४) से लोप हो जाता है। अभिप्राय यह है कि छन्द और ब्राह्मण के नाम का जो रूप प्रोक्त प्रत्यय लगाने से बनता था उसका अर्थ **"तदधीते तद्वेद"** के अनुसार उस शाखा और ब्राह्मण ग्रंथों के पढ़ने-पढ़ाने वालों के लिए किया जाता था। जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त कठ शाखा का अध्ययन एवं अध्यापन करने वालों का नाम 'कठाः' होता था। 'कठ' जो सामान्यतः कठ प्रोक्ता पुस्तक का नाम होना चाहिए था, वह उन सभी छात्र और गुरुजनों का परिचायक बन गया, जो उसको पढ़ते और पढ़ाते थे। यही तद्विषयता का नियम था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह या उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नवीन व्याख्या-ग्रंथों की रचना भी करते थे। इसी प्रकार उनकी शिष्य परम्परा में आगे आने वाले अन्य लोग भी उन व्याख्यानों में अपना अंश जोड़ते रहते थे, परन्तु उनका नामकरण स्वतन्त्र न होकर 'चरण' नाम से ही किया जाता था। जैसे तित्तरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण में तैत्तिरीय शाखा, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषद्, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त साहित्य तैत्तिरीय चरण नाम से ही प्रसिद्ध हुआ। जब तक वैदिक चरणों का संगठन दृढ़ रहा, नामकरण की यही पद्धति चालू रही। आगे चलकर वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्पसाहित्य की भी रचना हुई, जिसमें श्रौत सूत्र थे, **"पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मणग्रंथेषु"**(४।३।१०५)। कुछ चरणों में धर्मसूत्रों की भी रचना हुई, **"चरणेभ्यो धर्मवत्"**(४।२।४६)। कुछ छात्रों का नवीन समुदाय इस प्रकार का भी था, जो चरण या वैदिक शिक्षालयों से स्वतंत्र रहकर चरणों की सीमा से पृथक् रचित ग्रंथों का अध्ययन करता था। यही युग महान् आचार्यों का युग था। आचार्य पाणिनि भी इसी युग के प्रतिनिधि थे। इसी युग में भारद्वाज शाकटायन, स्फोटायन आदि आचार्यों ने व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र में नवीन रचनाएँ की थीं। वैदिक चरणों का क्षेत्र इनकी अपेक्षा व्यापक था, परन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतंत्र आचार्य और उनके शास्त्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। आचार्य पाणिनि ने ऐसे 'उपज्ञाता' (४।३।१०५) और उनके द्वारा नवीनतम विषय विवेचन को 'आचिख्यासा' कहा है—**"उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्"** (२।४।२१)।

आचार्य पाणिनि एवं पतञ्जलि द्वारा निर्दिष्ट प्रमाणों से प्रतीत होता है कि उस समय शिक्षण-संस्थाओं में विभिन्न कक्षाओं का, पाठ्य विषयों का एक क्रम निर्धारित किया जाता था। माणव, अन्तेवासी, चरक—ये तीन शब्द छात्रों की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक थे। एक ही चरण में पढ़ने वाले छात्र परस्पर 'सब्रह्मचारी' कहे जाते थे—"**चरणे ब्रह्मचारिणि**"(६।३।८६)। एक ही गुरु के पास पढ़ने वाले छात्रों को 'सतीर्थ्य' कहा जाता था—'**समानतीर्थेवासी**' (४।४।१०७)।

"**अध्ययनतोऽविप्रकृष्यख्यानम्**"(२।४।५) तथा "**क्रमादिभ्यो वुन्**"(४।२।६१) सूत्रोल्लेख द्वारा प्रकट होता है कि उस समय पाठ्यक्रम का पौर्वापर्य की दृष्टि से वर्गीकरण किया जाता था। उस समय पदपाठ का अध्ययन पहले तथा क्रमपाठ का अध्ययन तुरन्त बाद में किया जाता था। क्रमपाठ के पश्चात् वृत्तिपाठ का अध्ययन किया जाता था। अभिप्राय यह है कि पदपाठ और क्रमपाठ का ज्ञान छात्रों को पहले करा दिया जाता था, उसके पश्चात् व्याकरण की पढ़ाई प्रारम्भ होती थी। ठीक यही बात महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कही है—"**पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयन्ते। तेभ्यस्तत्र स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दाः उपदिश्यन्ते, तदद्यत्वं न तथा वेदमधीत्य त्वरितावक्तारो भवन्ति**"(महा०, पस्पशाह्निक)। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में संभवत सूत्र युग में ऐसी प्रथा थी कि छात्रों की शिक्षा व्याकरण से प्रारम्भ होती थी, तत्पश्चात् उन्हें वेद का पारायण कण्ठ कराया जाता था, परन्तु पतञ्जलि के समय तक यह परिपाटी बदल चुकी थी। उस समय शिक्षा का स्तर कुछ नीचे आ गया था। छात्रों का अध्ययन वेद कण्ठस्थ करने से ही प्रारम्भ होता था तथा कुछ दिन बाद ये लोग अध्ययन त्यागकर अन्य कार्यों में लग जाते थे। उनका तर्क था कि वेद कण्ठस्थ करने से वैदिक ज्ञान आ गया, अब लोक-व्यवहार से लोक का ज्ञान हो जायेगा, फिर व्याकरण के पचड़े में कौन पड़े?

उस समय वर्ष-भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओं के अनुसार कर लिया जाता था। यथा—"**वसन्तादिभ्यःठक्**"(४।२।६३), वासन्तिक, शारदिक, हैमन्तिक और शैशरिक। अध्ययन की समाप्ति 'समापन' कहलाती थी—"**समापनात् सपूर्वपदात्**" (५।१।११२)। छन्दों को कण्ठस्थ करना उस समय की शिक्षा-प्रणाली का प्रमुख अंग था। पतञ्जलि का कथन है कि पढ़ाई का आरम्भ ही वेद कण्ठस्थ करने से होना चाहिए। वेदों का पारायण करने वाले ब्रह्मचारी और श्रोत्रिय स्थण्डिल पर शयन करते थे, अतएव उन्हें स्थाण्डिल कहते थे—"**स्थाण्डिलाच्छयतारिव्रते**" (४।२।१५)।

उपर्युक्त प्रकार से कण्ठस्थ करना शिक्षा-प्रणाली का केवल एक अंग था। यास्काचार्य और पतञ्जलि ने इस पद्धति को विशेष लाभदायक नहीं बताया है। "**यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैन्धो न तज्ज्वलति कर्हिचित्**"। अर्थात्, बिना समझे कण्ठस्थ करना ऐसा पस्पशाह्निक है, जैसे अग्नि के बिना सूखे कंडों का ढेर, जो कभी नहीं जलता है। अभिप्राय यह है कि सूत्र युग में ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगों का सविशेष ध्यान था। स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी शब्दों के संग्रह और विश्लेषण में किये गये प्रचुर परिश्रम का फल थी। इस प्रकार मौलिक चिन्तन और सामग्री के संकलन एवं विश्लेषण से जिन नये शास्त्रों की उद्भावना की जाती थी, उन्हें पाणिनि ने 'उपज्ञात' कहा है—"**उपज्ञाते**" (४।३।११५)। प्राचीन ग्रंथों के 'व्याख्यान' से 'उपज्ञात' साहित्य भिन्न प्रकार का था।

पाणिनि से लेकर पतञ्जलि तक सम्पूर्ण वदिक वाङ्मय का अध्ययन 'चरण' नामक वैदिक विद्यापीठों में होता था। पाणिनि तक आते-आते चरण साहित्य में, जिसमें शाखा ग्रंथ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् का समावेश होता था, श्रौतसूत्र या कल्पसूत्र तथा धर्मसूत्रों की रचना होने लगी। "**चरणेभ्यो धर्मवत्**" (४।२।४६) तथा वार्तिक "**चरणाद् धर्माम्नाययोः**" इसी अभिप्राय का प्रतिपादन कर रहे हैं। इसी युग में कितने ही नवीन विषयों का अध्ययन चरणों से पृथक भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा-पद्धति सरल थी। यास्क कृत 'निरुक्त' एवं पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' इसी प्रकार के स्वतन्त्र शास्त्र एवं ग्रंथ थे, जिन पर किसी एक चरण का सर्वाधिकार न था तथा जिनका निर्माण और अध्ययन चरण विद्यापीठों के बाहर हुआ था। महाभाष्यकार ने 'अष्टाध्यायी' के विषय में यह महत्वपूर्ण संकेत किया है कि उसका सम्बन्ध किसी एक चरण से न था अपितु सभी चरणों की परिषदें उन्हें स्वीकार कर रही थीं—"**सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**" (महाभाष्य, २।१।५८, ६।३।१४)।

नारी शिक्षा का स्वरूप

आचार्य पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'चरण' नामक वैदिक विद्यापीठों में अध्ययन करने वाली छात्राओं का भी उल्लेख किया है--"**जातेरस्त्रीविषयाद्योपधात्**"(४।१।६३)। इस सूत्र में जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्र और चरण दोनों का ग्रहण किया है—"**गोत्रं च चरणानि च।**" इस प्रकार कठ चरण में अध्ययन करने वाली छात्रा कठी कहलाती थी। छात्रों के नामकरण के जो नियम थे, वही छात्राओं पर भी लागू होते थे, यथा—आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली स्त्री 'आपिशला' ब्राह्मणी कही जाती थी। "**पूर्वसूत्र निर्देशो वाऽऽपिशलमधीत इति**"(४।१।१४)—वार्तिक ३ में कात्यायन ने पूर्व वैयाकरण आपिशल के सूत्र का उल्लेख किया है। महाभाष्य के उल्लेख से ज्ञात होता है कि मीमांसा जैसे क्लिष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियों के लिए विहित नहीं था। जैसे काशकृत्स्नि आचार्य के मीमांसा शास्त्र का अध्ययन करने वाली छात्रा 'काशकृत्स्ना' कही जाती थी—"**एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमांसा काशकृत्स्नी काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी**"(महाभाष्य, ४।१।१४)। पतञ्जलि ने नियमित अध्ययन करने वाली छात्राओं को 'अध्येत्री' कहा है। 'महाभाष्य' में स्त्री छात्राओं के नामकरण का जो प्रकरण है, उसकी पृष्ठभूमि ऐसी है मानो स्त्रियों की उच्च शिक्षा समाज की एक सामान्य प्रथा हो। पाणिनीय सूत्र "**छात्र्यादयः शालायाम्**"(६।२।८६) के निर्देश से स्पष्ट होता है कि नियमित अध्ययन करने वाली छात्राओं के निमित्त छात्रिशालाओं की व्यवस्था थी। आचार्य की स्त्री 'आचार्यानी' कही जाती थी, परन्तु जो स्वयं आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र में ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य करती थीं तथा छात्राओं के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थीं, उन्हें 'आचार्या' कहते थे। पतञ्जलि ने तो एक उदाहरण में यहाँ तक स्पष्ट किया है कि इन आचार्याओं से पुरुष छात्र भी पढ़ते थे, जैसे—औदमेघ्या आचार्या से पढ़ने वाले छात्र आचार्या के नाम से 'औदमेघ' कहलाते थे—"**औदमेघ्यायाश्छात्रा औदमेघाः**" (४।१।७८, वा० भाष्य)। षष्टिपथ और शतपथ का अध्ययन करने वाली स्त्रियाँ 'षष्टिपथिकी' और 'शतपथिकी' कहलाती थीं—"**शतषष्टेः षिकन्पथः**" (भाष्य, ४।२।६०)।

शिक्षा की प्रवृत्ति एवं आदर्श

आचार्य पाणिनि से पतञ्जलि पर्यन्त युग में शिक्षा की प्रवृत्तियाँ, माध्यम और साधन इस प्रकार थे—१. आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, उपाध्याय; २. नियमित ब्रह्मचर्य प्रणाली द्वारा अध्येता छात्र; ३. चरक संज्ञक विचरण करने वाले विद्वान्; ४. चरण आदि शिक्षा-संस्थाएँ; ५. परिषद् और विद्वत्सभा; ६. विवाद, व्याख्यान, शास्त्रार्थ आदि विषयानुसन्धान के विविध रूप; ७. अनेक प्रकार से ग्रंथ लेखन; ८. वाङ्मय। इस प्रकार सभी उपायों द्वारा इस सूत्र युग में शिक्षा का देशव्यापी प्रचार हुआ था। शिक्षा का आदर्श बहुत उच्च था।

पाणिनि सूत्र "**जानपदकुण्डगोणस्थल**" (४।१।४२) में उद्धृत 'जानपद' शब्द द्वारा ज्ञात होता है कि पेशेवर लोगों की शिल्प-शिक्षा को 'जानपदी' कहा जाता था, जिसे सूत्र में वृत्ति के अर्थ में सिद्ध किया है। दूसरी शिक्षा, चरण परम्परा में प्राप्त साहित्य-शिक्षा थी। वास्तुविद्या, धनुर्विद्या, नृत्य-संगीतविद्या को भी वैशिष्ट्य प्रदान किया जाता था। इसी प्रकार चरण संस्थाओं में जो बौद्धिक साधना की जाती थी, उसका अत्यधिक महत्व था। प्राचीन और नवीन साहित्य के वेत्ता को 'पारोवर्यवित्' कहा जाता था। इन पारोवर्यविद् विद्वानों में जो श्रेष्ठ होते थे, वे 'भूयोविद्य' होते थे, वही प्रशस्य और श्रेष्ठ सम्मान के पात्र समझे जाते थे। यास्क ने यही प्रतिपादित किया है—"**जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति**" (निरुक्त, १।१।१६)। अभिप्राय यह है कि भूयोविद्य संकेत उन विद्वानों की ओर है जो वाङ्मय की अधिक-से-अधिक विद्याओं में पारंगत होते थे। भूयोविद्य से उच्चतर कोटि 'सर्वविद्य ब्रह्मा' की थी—"**ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति**" (निरुक्त, १।१।३)। इसको ही पाणिनि ने महाब्रह्मा कहा है। वेद के रहस्यमय ज्ञान के लिए 'आचार्य', छन्दों के अध्ययन के लिए 'श्रोत्रिय', प्रोक्त साहित्य का प्रवचन करने के लिए 'प्रवक्ता', धार्मिक साहित्य के लिए 'आख्याता', वेदाङ्गों के लिए 'अनूचान' तथा साधारण लौकिक ग्रंथ के पढ़ाने के लिए 'अध्यापक' होते थे।

आचार्य पाणिनि और पतञ्जलि-कालीन शिक्षा का स्वरूप और आदर्श भारतीय संस्कृति के गौरव के अनुकूल था। तत्कालीन शिक्षा का पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में महत्वपूर्ण योगदान था। उस काल में मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित विषयों से युक्त ग्रंथों की रचना हुई तथा सूत्र साहित्य का पल्लवन विशेष रूपेण सम्पन्न हुआ।

आज की शिक्षा-व्यवस्था के लिए पाणिनि सूत्र और महाभाष्य व्यापक मार्ग-दर्शन कर सकते हैं।

•

आचार्य का स्नातकोपदेश

•

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।

सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव।

यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नो इतराणि। यान्यस्माकँ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्।

श्रद्धया देयम् अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः संदर्शिनो युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।

एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमुचैतदुपास्यम्॥

(तैत्तिरीयोपनिषद्, १।११)

प्रिय स्नातक वर्ग ! विद्या-समाप्ति के अनन्तर आप एक नवीन जीवन में प्रवेश कर रहे हैं। उस जीवन की यात्रा में आप जहाँ भी रहें, इस उपदेश को स्मरण रखिये—

सत्य बोलिये। अपने कर्तव्य का पालन कीजिये। स्वाध्याय से मुँह न मोड़िये। अपने विद्या-मन्दिर की उन्नति के लिए यथाशक्ति सहायता करते हुए अपने गृहस्थ धर्म का पालन कीजिये।

सत्य, धर्म, आत्मकल्याण तथा समृद्धि के मार्ग से विचलित न होइये, उसमें प्रमाद न

कीजिये। स्वाध्याय और प्रवचन द्वारा अपने ज्ञान की वृद्धि करते रहिये और विद्या-प्रचार में तत्पर रहिये। देवों और पितरों के प्रति अपने कर्तव्य का सदा ध्यान रखिये।

माता, पिता, गुरु तथा अतिथि में पूज्य बुद्धि रखिये। जो श्रेष्ठ कर्म हैं उन्हीं का अनुसरण करिये। हमारे जो अच्छे आचरण हैं उन्हीं का अनुकरण कीजिये, अन्यों का नहीं। जो विद्वान् हमारे भी मान्य हैं उनका उचित सम्मान कीजिये।

दूसरों की आर्थिक सहायता करना आपका प्रथम कर्तव्य है। श्रद्धा से दान करना चाहिए। अश्रद्धा से दान करना चाहिए। प्रसन्नता से देना चाहिए। लज्जा से देना चाहिए। भय से देना चाहिए। प्रेमभाव से देना चाहिए।

यदि कभी आपको अपने कर्तव्याकर्तव्य या सदाचार के सम्बन्ध में संदेह उपस्थित हो तो जो विचारशील, तपस्वी, कर्तव्यपरायण, शांतस्वभाव, धर्मातमा विद्वान् हों, उनकी सेवा में उपस्थित होकर अपना समाधान करिये और उनके आचरण तथा उपदेश का अनुसरण कीजिये।

यही हमारा आपके प्रति अन्तिम आदेश है, यही उपदेश है, यही वेद का रहस्य है, यही शिक्षा है। इसी आदर्श को अपने भविष्य जीवन में सर्वदा-सर्वथा अपने सम्मुख रखिये।

पवमानस्य विश्ववित् व्रते सर्गा असृक्षत। सूर्यस्येव न रश्मयः॥

(सामवेद ॥९५८॥)

जैसे सूर्य की किरणें उदय होकर मनुष्य आदि प्राणियों की आँखों में सहायता देती हैं, वैसे ही परमात्मा से वेद प्रकट होकर मनुष्यों की बुद्धियों को सन्मार्ग में प्रवृत्त करते हैं।

शिक्षा वेदांग की परिकल्पना

•

डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश'
एम० ए०, डी० लिट्०
हिन्दी-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वेद के अध्ययन के लिए निरुक्त, छन्द आदि के समान शिक्षा का अनिवार्य महत्व स्वीकार किया गया है। पाणिनीय शिक्षा में **'शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्'** कहकर शिक्षा को वेदपुरुष की नासिका बताया गया है। नासिका कहने का तात्पर्य प्राणशक्ति से शिक्षा का अपरिहार्य सम्बन्ध बताना है। इतना ही नहीं, वाग्देवता के अंग-प्रत्यंग वर्णमय हैं, इसीलिए वह 'वर्णतनु' कहलाता है। आगमवादी समस्त सृष्टि को शिव-शक्ति का परिणाम मानते हैं। इसीलिए समस्त शब्दराशि की विमर्शिनी मातृका भी इसी का परिणाम कही गयी है। मातृका शिवशक्तिमयी है। 'श्रीतंत्र सद्भाव' में कहा गया है—

सर्वे वर्णात्मका मंत्राः ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका।
या सा तु मातृका देवी परतेजः समन्विता।
तया व्याप्तमिदं विश्वं स ब्रह्म भुवनान्तकम्॥

मातृका शक्ति के विचारकों ने नासिका के दक्ष भाग को ऋ का प्रसार तथा वामभाग को ॠ का प्रसार बताया है। 'प्रपंच सार तन्त्र' के तृतीय पटल में ऋ को शिव वर्ग में तथा ॠ को शक्ति वर्ग में रखा गया है।[1] अर्थात् ह्रस्व 'ऋ' तथा दीर्घ 'ॠ' को छोड़कर अन्य वर्ण शिव-शक्ति रूप होकर एक ही स्थान पर नहीं रहते। अ यदि ललाट में रहता है तो आ मुख में। अं जिह्वा में रहता है तो अः ग्रीवा में, पर नासिका में ऋ, ॠ साथ रहते हैं अतः शिव-शक्ति के सामरस्य का एक स्थान पर सूचन नासिका से होता है। अतः वहिमार्तृ का न्यास में नासिका का महत्वपूर्ण स्थान है। ऋ को पंच प्राणयुक्त और त्रिशक्तियुक्त कामधेनु तंत्र में भी बताया गया है।

---

१. आद्यन्तस्वरषट्कस्य मध्यमं यच्चतुष्टयम्।
वर्णनामागमधनैस्तन्नपुंसकमीरितम्॥

ऋकारं परमेशानि कुंडली मूर्त्तिमान् स्वयम्।
अत्र ब्रह्मा च विष्णुश्च रुद्रश्चैव वरानने।
सदा शिवयुतं वर्णं सदा ईश्वरसंयुतम्।
चतुर्ज्ञानमयं वर्णं पञ्चप्राणयुतं सदा।
त्रिशक्ति सहितं वर्णं प्रणमामि सदा प्रिये।।

इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में छन्द को वेदपुरुष का पाद, कल्पशास्त्र को हाथ, ज्योतिष को नेत्र, निरुक्त को कान, व्याकरण को मुख तथा शिक्षा को नासिका कहा गया है। प्राणशक्ति का प्रतीक नासिका है और प्राणशक्ति के सम्यक् योग से वर्णों का सही उच्चारण होता है। अतः नासिका का स्थान शिक्षा वेदांग को प्रदान किया गया। प्राणरहित देह की कल्पना जैसे असंभव है वैसे ही शिक्षा के अभाव में वेदार्थ की कल्पना भी अधूरी है।

वेदांगों का उल्लेख ब्राह्मण और उपनिषद् गन्थों में मिलता है। अभिलेख प्रमाणयुक्त ऐतिहासिक दृष्टि से गोविन्दपुर से प्राप्त ताम्रपत्र में वेदांग के छः विषयों के अध्ययन का चलन मध्ययुग में भी देखने को मिलता है—

सत्कल्पप्रवणाः श्रुति प्रणयिनः शिक्षाभिरुद्‌भासिताः,
सज्ज्योतिषर्गतियो निरुक्तविशदाश्छन्दौ विधौ साधवः।
ख्याता व्याकरणक्रमेण विदुषामत्युच्यधिशीलना-
द्वेदांगप्रतिभाः षडेव भुवने ते बिभ्रति भ्रातरः।

गोपथ ब्राह्मण में 'ओंकारं पृच्छायः किं स्थानानुप्रदानकरणं शिक्षुकाः किमुच्चायन्ति' कहकर वेदांगवेत्ता को शिक्षक बताया गया है। मुंडकोपनिषद् में 'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति' वाक्य से शिक्षा आदि छः वेदांगों का कथन हुआ है। तैत्तिरीयोपनिषद् के प्रथम अध्याय का नाम ही 'शीक्षाध्याय' है। शिक्षा से तात्पर्य यहाँ वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और संतान से है—

'वर्णः स्वरः मात्रा बलं सामसंतान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।' यहाँ पहली बार वर्ण, वर्ण का उच्चारण स्थान, प्रयत्न तथा दोषरहित उच्चारण (बल और साम) तथा सधि के ज्ञान (संतान) को शिक्षा के तत्त्वों के रूप में उल्लिखित किया गया है। बृहदारण्यक के रचयिता ने तो याज्ञवल्क्य शिक्षाग्रन्थ ही लिख दिया है। विद्वानों ने अब तक ३५ शिक्षाग्रन्थों का उल्लेख किया है। इनमें पाणिनि, याज्ञवल्क्य, नारद, चन्द्रगोमि, भारद्वाज तथा वर्णरत्न प्रदीपिका विशेष उल्लेखनीय हैं। काशी से प्रकाशित 'शिक्षा संग्रह' में माध्यन्दिन शिक्षा आदि ग्रन्थ संकलित हैं। पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास' में इन शिक्षाग्रन्थों का पांडित्यपूर्ण परिचय दिया है। इन शिक्षाग्रन्थों में वर्णों के स्थान, स्वरूप, करण, प्रयत्न, वायु-पीड़न, यमत्व प्रतिपादन आदि विषयों पर ध्वनि, स्वर, उच्चारण तथा पद-विधान के भेदोंप-भेदों की दृष्टि से अच्छा विचार किया गया है। नारदीय शिक्षा में गान के भेद, स्वरभेद आदि का भाषाशास्त्र तथा संगीतशास्त्र की दृष्टि से निरूपण है। माण्डूकी शिक्षा में उच्चारण शुद्धि के लिए औषध-प्रयोग का संकेत भी दिया गया है। स्वरभंग आदि के प्रकरण में हीनांग का उल्लेख आचार्यों की शरीरशास्त्रीय दृष्टि का परिचायक है। स्वस्थ व्यक्तित्व और स्वस्थ

मस्तिष्क को शिक्षा के लिए सर्वथा उपयुक्त माना गया है। याज्ञवल्क्य शिक्षा में विद्या ग्रहण में असमर्थ व्यक्ति के दोषों का परिगणन इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है—

पंच विद्यां न ग्रह्णन्ति चंडास्तब्धाश्च ये नराः।
अलसा रोगिणश्चैव येषां च विस्मृतं मनः ॥९९॥

इन शिक्षाग्रन्थों में स्वाध्याय और शिक्षार्थी की दैनिक चर्या पर भी विचार किया गया है। स्वस्थ विद्यार्थी को अपने भोजन में एक भाग अन्न, एक भाग व्यंजन अर्थात् शाक और एक भाग जल का रखना चाहिए। इस अनुपात से उसका पाचन ठीक होगा और वायु-दोष उसके अभ्यास में बाधा नहीं डालेगा—

अन्नव्यंजनयोर्भागो तृतीयमुदकस्य च।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमुपकल्पयेत् ॥१०९॥

विद्यार्थी को ज्ञानार्जन में तर्क और युक्ति का सहारा लेना चाहिए। वह अपने मस्तिष्क को खुला रखे और विवेक की खुली खिड़की से ज्ञान-विज्ञान और विचारधाराओं की हवा ग्रहण करे। गुरु के गौरवमात्र से गुरु-वचन को ग्रहण न करे। ज्ञानार्जन में अंध गुरुभक्ति बाधक होती है। याज्ञवल्क्य का यह कथन गुरुडम पर प्रहार करता है—

युक्तियुक्त वचो ग्राह्यं न ग्राह्यं गुरु गौरवात्।
सर्व शास्त्र रहस्यं तद् याज्ञवल्क्येन भाषितम् ॥११६॥

कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं होता, अतः जाति, धर्म, देश और छोटे-बड़े का भेद किये बिना ज्ञानार्जन करना चाहिए। विद्वान् को भी बिना भेद-भाव के शिक्षार्थी को विद्याओं का रहस्य स्पष्ट कर देना चाहिए। पाराशरी शिक्षा में आया है—

एकः सर्वं न जानाति सर्वः एकं न विन्दति।
एवं मन्त्रान्न गुह्यन्ति पण्डिताः शुद्धभाविनः ॥१२१॥

जिह्वा और स्वरतन्त्रियों को स्वस्थ और गान योग्य बनाने के लिए शिक्षाग्रन्थों में खैर, कदम्ब की दन्त धावन तथा प्रातः-सायं लवणसहित त्रिफला के सेवन का अनिवार्य विधान है। नारदीय शिक्षा में यह उल्लेख इस प्रकार है—

खदिरश्च कदम्वश्च करवीरकरंजयोः।
सर्वे कंटकिनः पुण्याः क्षीरिणश्च यशस्विनः ॥२।७।४॥
त्रिफलां लवणाख्येन भक्षयेच्छिष्यकः सदा।
अग्निमेधाजनन्येषा स्वरवर्णकरी तथा ॥२।७।६॥

आंगिक विकृति वाला छात्र तथा अध्यापक दोनों ही प्रभाव जनन की दृष्टि से हीन होते हैं। अतः आकर्षक व्यक्तित्व के अभाव में विद्या ग्रहण करके भी ऐसे लोग सम्मान नहीं पाते—

न करालो न लम्बोष्ठो न च सर्वानुनासिकः।
गद्गदो बद्धजिह्वश्च प्रयोगान् वक्तुमर्हति ॥२।७।१४॥

जुआ तथा शर्त लगाने वाले, पुस्तक पीट-पीटकर शोर मचाने वाले, नाटकों के शौकीन, स्त्री-प्रेमी, आलसी और अधिक निद्राप्रिय व्यक्ति भी विद्या ग्रहण नहीं कर सकते—

द्यूतं पुस्तकवाद्यं च नाटकेषु च सक्तिका।
स्त्रियस्तन्द्रा च निद्रा च विद्या विघ्नकराणि षट् ॥२।७।२८॥

शिक्षावेदांग के प्रशिक्षण के लिए अध्यापन-केन्द्रों का उल्लेख मिलता है। बृहस्पति के शिक्षा-केन्द्र में इन्द्र ने विद्या ग्रहण की, ऋक्तन्त्र इसका साक्षी है। छान्दोग्य के अनुसार इन्द्र ने प्रजापति का शिष्यत्व ग्रहण किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार इन्द्र के यहाँ भरद्वाज ने शिक्षा ग्रहण की। बृहदारण्यक के अनुसार याज्ञवल्क्य ने उषस्ति चाक्रायण को शिक्षा दी। धन्वन्तरि के केन्द्र में गालव ने शिक्षा पायी। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण आचार्य गालव को धन्वन्तरि का शिष्य मानते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व के ३४२वें अध्याय में गालव को वेदांग का प्रवक्ता माना गया है। प्रश्नोपनिषद् में आश्वलायन-कात्यायन आदि को पिप्पलाद ने अपने यहाँ आया देखकर उपदेश दिया। मध्यकाल में शिक्षा अंग गौण हो गया तथा व्याकरण, ज्योतिष, आयुर्वेद तथा मीमांसा की चर्चा अधिक होने लगी। इस प्रकार शिक्षा का केन्द्र, शिक्षा का विषय, शिक्षक और शिक्षार्थी की विशेषता तथा शिक्षा के लक्ष्य का निरूपण सर्वप्रथम शिक्षा वेदांग के आचार्यों ने किया।

कालान्तर में आगमशास्त्र के प्रभाव से शिक्षाग्रन्थों में वर्ण-स्थान, वर्ण-रंग तथा वर्ण-देवताओं का निरूपण होने लगा। व्याकरण ग्रन्थों में यह प्रवृत्ति वैसी नहीं आयी। भाषाशास्त्र के रहस्यात्मक रूप का आख्यान आगमग्रन्थों की मूल प्रवृत्ति है। याज्ञवल्क्य शिक्षा तथा वर्ण-रत्न प्रदीपिका शिक्षा में, वर्णस्थान तथा वर्णदेवता का उल्लेख आगम प्रभाव की देन है। कण्ठ्य के देवता अग्नि, तालव्य के सोम, मूर्धन्य के वायु, दन्त्य के रुद्र, ओष्ठ्य के अश्विनी, कण्ठतालव्य के अग्निसोम, कण्ठ्य-ओष्ठ्य के अग्नि-अश्विनी तथा शेष वर्णों के देवता विश्वेदेवाः माने गये हैं। सौभाग्य भास्कर, तात्पर्यदीपिका, प्रपंचसार, कामधेनुतन्त्र, मालिनी विजयोत्तर, वाम-केश्वरी, कामकला विलास, शारदा तिलकतंत्र, त्रिशिरो भैरवशास्त्र तथा मातृकाविलास में वर्णों की मूर्ति, बीजयोनि मूलक वर्णभेद, वर्णक्रम, वर्णमातृका न्यास, कला, देवता, ऋषि, शक्ति और छन्द का सविस्तार उल्लेख मिलता है। वर्णोत्पत्ति पर परिणाम, विवर्त्त तथा प्रतिबिम्बवाद की दृष्टि से विचार किया गया है। यहाँ व्याकरणशास्त्र का प्रस्थान अलग हो जाता है। वरिवस्या रहस्य, तंत्रालोक तथा कामकला विलास में भाषाशास्त्र का यही रहस्यात्मक रूप मिलता है। वर्णों का अग्निषोमात्मक विधान शिक्षाग्रन्थों में भी निविष्ट है। शिक्षाशास्त्र के संदर्भ में इन प्रभावों के आकलन-अनुसंधान का कार्य होना चाहिए। वर्णोदय और प्राणाचार का सम्बन्ध स्वच्छन्द तंत्र के ७वें पटल में मिलता है। तन्त्रराज तन्त्र की टीका प्रमाणमंजरी में तो पौराणिक फलित ज्योतिष के प्रभाव के फलस्वरूप वर्णों का राशियों के साथ मेल भी दिखाया है जैसे अ, आ, इ, ई की मेष राशि। तात्पर्य यह कि वर्ण-शिक्षा में व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष—सभी शास्त्रों का सन्निवेश कालान्तर में हो गया। अब शिक्षा वेदांग का विराट् रूप सामने आया।

प्राणसंख्या के अनुसार जप हो तभी मंत्रोदय संभव है। अतः वर्णशिक्षा का सम्बन्ध प्राण से और प्राण का प्रतीक नासिका को माना गया। पाणिनीय शिक्षा में शिक्षा वेदांग को नासिका कहने का तात्पर्य यही है।

शिक्षा वेदांग के परिकल्पक आचार्यों ने प्रकृति के साहचर्य से स्वरसंधान की योजना को स्वाभाविक बताया। नारदीय शिक्षा में कहा गया है—

षड्जं वदति मयूरो गावो रंभन्ति चर्षभम्।
अजाविके तु गान्धारं क्रौंचो वदति मध्यमम्।
पुष्पसाधारणे काले कोकिला वक्ति पंचमम्।
अश्वस्तु धैवतं व्यक्ति निषादं व्यक्ति कुंजराः ।।१।५।३-४।।

तंत्र ग्रन्थों के अनुरूप ही यहाँ स्वरों के ऋषि और देवता का उल्लेख मिलता है। षड्ज का ऋषि अग्नि और देवता ब्रह्मा है। ऋषभ का ऋषि ब्रह्मा और देवता अग्नि है। गांधार का ऋषि सोम और देवता गो है। पंचम के ऋषि नारद और देवता ब्रह्मराट् सोम है। धैवत का ऋषि तुम्बरु तथा देवता सोम है। निषाद का ऋषि तुम्बरु तथा देवता आदित्य है। वस्तुतः मीमांसक वर्णों तक ही सीमित रहे। इसलिए वर्णोच्चारण मात्रा पर प्रारम्भ के शिक्षाग्रन्थों में अधिक बल रहा, किन्तु आगमवादी वर्णों और सम्पूर्ण आहत नादों का विचार करके चला। अतः बाद के शिक्षाग्रन्थों में वर्णतत्त्व चिन्तन आगमवादियों के प्रभाव का फल सिद्ध हुआ। याज्ञवल्क्य शिक्षा में नकार और मकारोत्पत्ति में रंग का उल्लेख तथा पाणिनीय शिक्षा में द्विमात्रिक रंग का उल्लेख भी आगम प्रभाव ही है। शेष विषय पद, स्वरविधान, अवग्रह विधान, विवृति, स्वर सन्धि, व्यंजन सन्धि, विसर्ग सन्धि आदि हैं, जो शिक्षाग्रन्थों में वैदिक व्याकरण की रूपरेखा परिकल्पित करने में सहायक हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि शिक्षा वेदांग श्रुति की व्याख्या के लिए अंगभूत रूप में विकसित हुआ और कालान्तर में आगमवादियों की रहस्यप्रधान वर्ण विचारपद्धति से प्रभावित होकर उसमें भी वर्णों के रूप, ऋषि और देवताओं की परिकल्पना हुई। शिक्षा वेदांग मात्र व्याकरणिक रूप-रचना की सूचना नहीं देता, वह शिक्षक और शिक्षार्थी के स्वास्थ्य, आरोग्य, लक्ष्य और सामाजिक उपादेयता पर भी प्रकाश डालता है। आयुर्वेद, ज्योतिष, संगीत के साथ उसका गहरा सम्बन्ध है। प्राणवायु के संतुलन और संयुजन के साथ वह दीर्घजीवन प्रदान करने की कुंजी भी देता है। इससे उसकी अनिवार्य उपयोगिता सिद्ध होती है। अतः भारतीय शिक्षा के दृष्टिकोण को समझने के लिए इनकी महत्ता असंदिग्ध है।

•

शिक्षाशास्त्र में अक्षर विज्ञान

श्री रत्नाकर शास्त्री
कविराज, आयुर्वेद शिरोमणि, एम० ए०; इटावा
भूतपूर्व आचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन (मथुरा)

भारतीय वाङ्मय में वैदिक साहित्य सबसे महान् है। उसमें विज्ञान, दर्शन, कला और संस्कृति सभी कुछ गम्भीरता से समाहित है। इतना सुन्दर विवेचनात्मक साहित्य विश्व में अन्यत्र नहीं है। विद्वान् राजशेखर ने कहा था कि आदिकाल से लेकर आज तक के विद्वान् इस वाङ्मय को कामधेनु की भाँति दुहते रहे हैं, किन्तु फिर भी दुही न जा सकी। नया दूध निकलता ही जाता है—**"या दुग्धापि न दुग्धेव सूक्ति धेनु सरस्वती।"**

इस विशाल वाङ्मय को मोटे-मोटे छः भागों में विद्वानों ने विभाजित कर दिया है, ताकि मनन करने में सुविधा हो—(१) शिक्षा, (२) कल्प, (३) व्याकरण, (४) छन्द, (५) निरुक्त, (६) ज्योतिष। वैदिक वाङ्मय के यहाँ छः अंग हैं। सभी का बड़ा विस्तार है। जिसे भी गहराई से देखिये तो पता लगेगा कि उसे सम्पूर्ण पढ़ने के लिए एक जीवन भी थोड़ा है। मैं यहाँ शिक्षा-शास्त्र पर ही चर्चा करूँगा, और वह भी अक्षर विज्ञान के प्रसंग पर। पूरे विषय को लिख सकना कहाँ संभव है?

मैंने यह विषय इसलिए चुना कि मनुष्य जन्म से लेकर अन्त तक इसी के माहौल में रहता है, परन्तु फिर भी उसके सौन्दर्य से अपरिचित है। हम प्रतिक्षण जिसे अपने साथ लिये फिरते हैं, उसी से अपरिचित रहकर चले जाते हैं। एक मशीन की भाँति हम प्रतिक्षण निर्माण कर रहे हैं, और हमें यही पता नहीं कि हम क्या निर्माण कर रहे हैं? इस विश्व की मधुरता और व्यावहारिकता में हमारा क्या योग है? इसका हमें ही ज्ञान नहीं हो पाता। इस ब्रह्माण्ड का एक-एक तत्व हमसे ही प्रभावित हो रहा है, हमें इस बात का पता ही नहीं है।

शिक्षाशास्त्र क्या है? यह भी जान लीजिये। वह स्कूली-तालीम अथवा गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली जैसी व्यवस्था का विषय नहीं है। शिक्षा का अर्थ है ज्ञान देना या ज्ञान लेना। उसमें किसी व्यक्तित्व की सूचना है—स्वीकृति है। इसलिए 'शिक्षा' शब्द कर्तृवाच्य भी है और कर्म-वाच्य भी। अक्षर, स्वर, मात्रा, विराम, ध्वनि-विस्तार—यही शिक्षाशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। मधुर, वैज्ञानिक और आध्यात्मिक। बच्चा पैदा होता है, अभी किसी स्कूल में नहीं गया, कोई बोली नहीं सीखी, तो भी गर्भाशय से बाहर आते ही कुछ कहता चला आता है। आप कहते

हैं वह रो रहा है, परन्तु रोना भी भाषा का ध्वनि विस्तार है और उसका भी अर्थ है। क्या कभी सोचा—गर्भाशय से बाहर आते ही शिशु क्या कह रहा है?

कहने के स्वर क्या हैं? जिसे आप रोना कहते हो वह विषाद की घोषणा है। बच्चा कहता है—"मैं बहुत आराम की जगह छोड़कर यहाँ आ गया हूँ। तुम्हारे लिए न जाने क्या-क्या ऐश छोड़कर आया हूँ। इस अपरिचित दुनिया में मेरे पास कपड़े नहीं, दौलत नहीं, भोजन नहीं, घर नहीं, क्या मुझे अपनाओगे?" ध्वनि बहुत अर्थवान् होती है। रोने की ध्वनि का एक अर्थ है, हँसने की ध्वनि का दूसरा अर्थ। कोइल की ध्वनि का भी अर्थ होता है। बन्दूक और तोप की ध्वनि का भी एक अर्थ। महर्षि पतंजलि ने उसका वैज्ञानिक विश्लेषण किया। ध्वनि मूल तत्व है, जब वह अर्थबोधक बनती है तब उसे 'शब्द' कहते हैं[1]। जिस ध्वनि का आपने कोई अर्थ नहीं पकड़ पाया वह ध्वनि रह गयी। अर्थ पकड़ लिया तो उसे शब्द कहने लगे। मैंने ऊपर दोनों प्रकार की ध्वनियों की चर्चा की है, चेतन की ध्वनि और अचेतन की ध्वनि, परन्तु दोनों में एक भेद है, चेतन की ध्वनि अन्तर्नाद और अचेतन की ध्वनि बहिर्नाद। नाद कोई हो, अर्थ सबका है। हाँ, प्रक्रिया में अन्तर है। हम अपने अन्दर के भावों की अभिव्यक्ति शब्द द्वारा करते हैं और सृष्टि में उत्पन्न होने वाली ध्वनियाँ भी उसके भीतर छिपे चेतन की अभिव्यक्ति देती हैं।

हम रोते हैं, गाते हैं, हँसते और गुनगुनाते हैं। उन सबका अर्थ है। उसी प्रकार प्रकृति में भी बादल गरजते हैं, समुद्र गरजता है, नदियाँ कल-कल करती हैं, पहाड़ टूटते हैं। उनका भी अर्थ होता है। वे ध्वनियाँ भी सृष्टि में छिपे किसी सर्वशक्तिमान की भावनात्मक सूचना देती हैं। शब्द हुआ कि अर्थ प्रकाश में आया, इसलिए यह भी स्पष्ट है कि शब्द स्वयं प्रकाशित होने वाला तत्त्व है। अँधेरे कमरे में पुस्तक लेने जाइये, दीपक चाहिए, परन्तु अँधेरे कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति शब्द बोल दे तो बिना ही दीपक ज्ञान होता है। यह ज्ञान शब्द या ध्वनि के प्रकाश में ही होता है। इसलिए भारतीय वैज्ञानिकों का यह निर्णय है कि शब्द स्वयं-प्रकाश तत्त्व है। शब्दोच्चारण होते ही अर्थ प्रतीत होता है, यह हम देखते हैं। किसी को अपशब्द कहकर चाहो कि उसे बुरा न लगे, संभव नहीं। किसी की प्रशंसा करो, वह प्रसन्न होगा ही। शब्द और अर्थ नित्य सम्बद्ध हैं।

कालिदास के युग में शैव धर्म प्रचलित था। उन्होंने भवानी और शंकर की वन्दना लिखी तो यही लिखा कि भवानी और शंकर, ब्रह्म और माया, स्त्री और पुरुष, रयि और प्राण ऐसे ही अभिन्न हैं जैसे वाणी और अर्थ अभिन्न हैं।[2] भर्तृहरि ने भी यही लिखा था कि शब्द प्रत्येक अर्थ से सम्बद्ध है। शब्द के प्रकाश में ही अर्थ प्रतीत होता है[3] जिसे हम ब्रह्म कहते हैं, शब्द उसी का एक अंश है। प्राचीन शब्दवैज्ञानिकों की मान्यता यही रही है। ब्रह्म को दो रूप में समझिये, शब्द ब्रह्म और परब्रह्म। परब्रह्म से शब्द-ब्रह्म कुछ स्थूल है, किन्तु जो व्यक्ति शब्द-ब्रह्म को हृदयङ्गम

---

१. प्रतीतपदार्थको ध्वनिर्लोके शब्द इत्युच्यते। (महाभाष्य)

२. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (कालिदास)

३. न सोऽस्ति प्रत्ययोलोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ (वाक्यपदीय)

कर लेता है, परब्रह्म का ज्ञान उसके लिए बहुत आसान है।[1] योगशास्त्र में पतंजलि ने लिखा है कि सविकल्प समाधि में साधक का अवलम्ब केवल शब्द ही रहता है।[2] निर्विकल्प समाधि में ही शब्द पीछे होता है, अर्थ आगे।

शब्द इतना तरल है कि उसमें भाव घुल जाते हैं। रोने में करुणा घुली होती है, हँसने में आल्हाद। गुर्राने में क्रोध और पुचकारने में प्यार की प्रतीति केवल ध्वनि से ही होती है। बन्दूक की आवाज होते ही भय फैलता है। वहाँ तो बन्दूक चलाने वाले के मन का रोष बन्दूक की आवाज से प्रतीत होता है। चलाने वाले के मन का भाव बन्दूक में प्रवाहित होकर ध्वनि से आता है। रेडियो पर दिल्ली में वक्ता बोल रहा है, हजारों मील दूर बैठे सुनने वाले कहते हैं—'मधुर बोला, कटु बोला, क्रोधपूर्ण बोला, प्रेमपूर्ण बोला।' एक व्यक्ति जो भी बोलता है, उसका भाव विश्व के सम्पूर्ण वातावरण में फैलता है। जाने-अनजाने में सारे व्यक्ति प्रभावित होते हैं। इसलिए शब्द बहुत बड़ी शक्ति है।

वर्तमान वैज्ञानिक विकास के आधार पर ग्रामोफोन और रेडियो में ध्वनि को आबद्ध किया गया। वक्ता की अनुपस्थिति में भी टेप का रिकार्डिंग उसकी ध्वनि प्रस्तुत करता है और उसके भावों को भी। ध्वनि को अक्षरों में निबद्ध करने वाले भारतीय वैज्ञानिकों ने जो वर्णमाला बनायी थी वह भी गहरी शरीर रचना, तथा शरीर-क्रियाविज्ञान की विशेषताओं से सम्पन्न थी। हमने शरीर के अवयवों से अक्षरों को पकड़ा और वर्तमान विज्ञान ने उन्हें भौतिक बाह्य साधनों से। यह शब्द या ध्वनि की स्वाभाविक विशेषता है कि उसमें जो भाव एक बार घुल गया, वह निहित (preserve) हो जाता है, कभी सड़ता-गलता नहीं। हजारों वर्ष पूर्व जो लेखक ग्रन्थों में अपने भाव शब्दों-अक्षरों में निबद्ध कर गये थे, वे अक्षरों के ही माध्यम से आज भी हृदयङ्गम किये जाते हैं। गहराई तक उनकी प्रतीति का स्वाद उनमें उतना ही ताजा आज तक है जितना लेखक के जीवन में था।

वेद के मन्त्रों में काव्य के नवों रस हैं। कालिदास और भवभूति के काव्य, दण्डि और बाण के गद्यों का माधुर्य उतना ही आज तक बना हुआ है, जितना उन्होंने लिखते समय उनमें भर दिया था। आज के विज्ञान ने ध्वनि को जिस ढंग से पकड़ा वह उतना चिरस्थायी नहीं है, जितना भारतीय वैज्ञानिकों का। भारतीयों ने मनुष्य के उच्चारण में वह ध्वनि ऐसे ढंग से सन्निहित कर दी कि अमर हो गयी। ध्वनि तो अमर है ही, उसका सन्निधान भी अमर हो गया।

भारतीयों की राष्ट्रीयता के सूत्र बड़े सूक्ष्म रूप से ओत-प्रोत हैं। उन्होंने ध्वनि से जो वर्णमाला बनायी वह इतनी वैज्ञानिक और आध्यात्मिक बनायी कि उसकी शिक्षा-दीक्षा लेकर कोई व्यक्ति मानवता की उस गहराई तक पहुँच सकता है जहाँ से मनुष्य का विकास हुआ है। इसीलिए उन्होंने कहा था कि शब्द-ब्रह्म का साक्षात्कार जिसे हो गया, परब्रह्म उससे दूर नहीं है। इसलिए यह शिक्षाशास्त्र न केवल सारे वाङ्मय का ही मूल है, प्रत्युत सम्पूर्ण मानवता का मूल भी है। वेद के छः अङ्ग अलग-अलग हैं अवश्य, किन्तु उस सम्पूर्ण वाङ्मय का मूल शिक्षाशास्त्र ही है। संस्कृत साहित्य में शिक्षाशास्त्र पर पचास-साठ प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, उनमें कुछ अन्तर

---

१. द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दे ब्रह्मणिनिष्णातो परंब्रह्माधिगच्छति॥

२. शब्दार्थज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (योग, समा०१४)

भी है, परन्तु सबका वैज्ञानिक आधार एक है।

ईसा से प्रायः ८०० वर्ष पूर्व पाणिनि ने शिक्षाशास्त्र पर पचपन कारिकाएँ लिखी थी। उन पचपन कारिकाओं में इतना महान् ध्वनि-विज्ञान भर दिया कि प्रत्येक कारिका स्वयं में एक ग्रन्थ है। परन्तु पाणिनि ने लिखा कि शिक्षाशास्त्र पर उनसे पहले भी ग्रन्थ मौजूद थे। यास्क, वार्ष्यायणि, उपमन्यु, व्याडि, औदुम्बरायण, शाकटायन, तथा गार्ग्य आदि विद्वानों ने पाणिनि से बहुत पूर्व इस शास्त्र पर वैज्ञानिक एवं दार्शनिक विचार लिखे थे।[1] उनमें अब केवल यास्काचार्य का निरुक्त ही प्राप्त है, अन्य लुप्त हो गये। अपने उत्तरदायित्व की अवहेलना करके कर्तव्य-च्युत होने वाले व्यक्तियों को संस्कृत में 'व्रात्य' कहा जाता है। वे व्रात्य यहाँ भी पैदा हो गये थे। पतंजलि ने लिखा था कि जो ब्राह्मण रहना चाहे उसे बिना किसी स्वार्थ के, धर्म समझकर वेद और उसके छहों अङ्ग पढ़ने चाहिए। अस्तु।

यहाँ ध्वनि का वैज्ञानिक विवेचन करना अभीष्ट है। ध्वनि बहुत बड़ा तत्त्व है, अनादि और अनन्त, किन्तु वह इस पुरुष के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। ऋग्वेद में एक वृषभ के रूपक से उसका वर्णन करते हुए लिखा है कि वह महान् शक्ति इस पुरुष में समाई हुई है।[2] आश्चर्य है कि जो तत्त्व हमी में समाया है, हम उससे कितना कम परिचित हैं! यह मनुष्य अँधेरे में मर जाता, यदि यह ध्वनि का प्रकाश उसे प्रकाशित न करता। यह ध्वनि ही एक पुरुष का दूसरे से परिचय देता है।

ध्वनि-विज्ञानवेत्ताओं ने इस देह में हृदय, कण्ठ और शिर में उसे केन्द्रित किया है, क्योंकि इन्हीं केन्द्रों पर उसकी अनुभूति होती है। प्रत्येक अनुभूति एक-दूसरे से विलक्षण होती है। मूल रूप में ध्वनि इस ब्रह्माण्ड में समुद्र की भाँति भरी हुई है। आप कहीं जायें, ध्वनि मिलेगी। वह हमारे अन्दर भी है। वह हमें प्रकाशित करती है और हम उसे।

इस शरीर में जिस प्रकार रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र के प्रवाहक स्रोत हैं, उसी प्रकार इसमें मनोमय क्रियाकलाप के प्रवाहक स्रोत भी काम करते हैं। आज का प्राणिविज्ञान (Biology) अभी रस, रक्त आदि के प्रवाही स्रोतों से आगे नहीं पहुँचा। उस मनोमय परिवेश में ही भाव और ध्वनि संचरित होते हैं। जिस प्रकार दैहिक परिवेश में रस, रक्त, मांस आदि सात धातु हैं, उसी प्रकार मनोमय परिवेश में सात प्रवाही केन्द्र हैं—

१. मूलाधार चक्र	गुदा के साथ सम्बद्ध।
२. स्वाधिष्ठान चक्र	शिश्न के पीछे सम्बद्ध।
३. मणिपूर चक्र	नाभि के साथ सम्बद्ध।
४. अनहित चक्र	हृदय के साथ सम्बद्ध।
५. विशुद्धि चक्र	कण्ठ के साथ सम्बद्ध।
६. आज्ञा चक्र	भ्रू मध्य से सम्बद्ध।
७. सहस्रार चक्र	मस्तिष्क से सम्बद्ध।

इन सातों चक्रों में ध्वनि और भावनाओं का प्रवाह चलता है। संचालन का मार्ग इडा और पिंगला दो धाराओं द्वारा रीढ़ के भीतर चलता है। तभी पतंजलि ने योगशास्त्र में लिखा है कि सविकल्पक समाधि में जब मनोगत व्यापार इन्द्रियों में नहीं होता, तब इन्हीं केन्द्रों में ध्वनि

१. निरुक्त, नैघण्टुक०, अ० १ पा० १।
२. चत्वारिशृंगात्रयोऽस्यपादाः...महोदेवो मर्त्यां आविवेश। (ऋग्वेद)

की तरलता में वह होता रहता है। ध्वनि तत्त्व, प्रकाश रूप है। इसलिए मनोमय परिवेश में जब हम सविकल्प समाधि लगाये बैठे होते हैं, तब आँख मींचे रहने पर भी भीतर उज्ज्वल प्रकाश की अनुभूति रहती है। 'मैं अँधेरे में बैठा हूँ,' ऐसा अनुभव नहीं, प्रत्युत एक जगमगाहट होती है। स्वप्न में जो प्रकाश होता है, वह उसी का अनुभव है।

अनुभूति-क्रम में ध्वनि को चार भागों में विभाजित किया जाता है—१. पराध्वनि, २. पश्यन्ती ध्वनि, ३. मध्यमा ध्वनि, ४. वैखरी ध्वनि। मूलाधार चक्र से हृदय तक आने वाली ध्वनि पराध्वनि है। पराध्वनि में कोई भाव, अक्षर या विकार नहीं होता। जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में व्यासक्त है, उसे पराध्वनि (अनाहत नाद) का ज्ञान भी नहीं होता, किन्तु वह प्रकाश रूप होती है। इतनी बलवती कि बिना बोले भी दूसरे को प्रकाशित कर दे। महापुरुषों को देखते ही बहुत से लोग कुछ के कुछ बन गये।

वही ध्वनि हृदय के अनाहत चक्र पर आकर हृदय के भावों से रँग जाती है। प्रेम, वैर, भक्ति, वैराग्य, जो भी वहाँ है, उसमें घुल जाता है। हृदय से ऊपर उठकर जब वह मस्तिष्क में पहुँची तो भाषा का आकार उसमें बन जाता है। मस्तिष्क उसे भाषाकार बनाकर मुख में ढकेल देता है। हम जो कुछ बोल रहे हैं वह वैखरी है। मस्तिष्क में वह मध्यमा थी। मुख में वैखरी हो गयी, आदान-प्रदान की बोली।[1] ध्वनि या नाद एक ही है, उसी से अक्षर बनते हैं। स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान—इन पाँच व्यापारों से अक्षरों के भेद बनते हैं। पीछे सात चक्रों का उल्लेख है, प्रत्येक चक्र भिन्न-भिन्न अक्षरों को जन्म देता है। तन्त्र शास्त्रों में उन-उन अक्षरों के चक्रों का भेद भी वर्णित है।

मन को इन्द्रियों से व्यावृत्त कर लेने के बाद उसका व्यापार इन्हीं अक्षरों से लेकर सूक्ष्म अनाहत नाद के साथ रह जाता है। वह योग मार्ग का प्रसंग है। यहाँ उसे लिखना प्रासंगिक नहीं है। शिक्षाशास्त्र में वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम (अनुप्रदान) ही आते हैं। हाँ, ध्वनि से अक्षरों की उत्पत्ति वैसी ही है, जैसे आटे से रोटी, पूड़ी, कचौड़ी, पकौड़ी, बिस्कुट भिन्न-भिन्न वस्तुएँ बन जाती हैं। मिट्टी से घड़ा, हाँडी, शकोरे, कुल्हड़, तश्तरी आदि न जाने कितनी वस्तुएँ बन जाती हैं। वैसे ही ध्वनि या नाद से अक्षर बन जाते हैं। सारे अक्षर अपना काम पूरा करके फिर उसी नाद में घुलकर एक होते हैं। इसीलिए व्याकरण में कोई अक्षर लोप होने पर यह नहीं मानते कि वह नष्ट हो गया। लोप का अर्थ है--अदर्शन, दृष्टि से ओझल कर लेना। इत्संज्ञा का यही अर्थ है—इतः=गतः, न दृष्टिपथे स्थितः। एक तरफ सरका दिया, रास्ते से हट गया। प्राचीन शब्द-शास्त्रियों ने कहा था समस्त आदेश या आगम, व्यवहार के लिए ही भिन्न-भिन्न हैं, तत्व में सब आदेश ही हैं। आगम कोई नहीं। आगम मित्रवत् अक्षर है, आदेश शत्रुवत्। इसका यह अर्थ नहीं है कि एक आदेश होते ही स्थानी अक्षर मर गया। वह रहेगा, किन्तु अब ओझल कर दिया।

---

१. आत्माबुद्धया समेत्यर्थान् मनोयुक्ते विवक्षया।
स च कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्यमारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा मतः॥
स्वरतः कालतः स्थानात्प्रयत्नानुप्रदानतः।
इतिवर्णविदः प्राहुर्निपुणं तं निबोधय॥ (पाणिनि शि०)

ब्रह्माण्ड में वायु के साथ और भी सूक्ष्म अणुशक्ति भरी हुई है। वह विद्युत कहिये या अणुशक्ति या इन्द्र[1] शक्ति, बात एक ही है। शब्द उसमें घुल जाता है। रेडियोलोजी का विकास होने पर यह सिद्ध हो गया है कि शब्द बोल देने के बाद अनेक वर्षों तक इस अणुशक्ति (महत्तत्व) में सुरक्षित रहता है। ब्रह्माण्ड के सुदूर प्रदेश में बहने वाली अणुशक्ति की तरंगों में हजारों वर्ष पुरानी शब्दावलियाँ अभी तैर रही हैं। इन्द्रियाँ उतने सूक्ष्म तत्त्व को नहीं पकड़ पातीं। मनोमय परिवेश में मणिपूर चक्र या अनाहत चक्र में उनका भान होता है, परन्तु जो वहाँ नहीं पहुँचे हैं, उनके लिए वर्तमान विज्ञान ने अणुशक्ति से काम करने वाले रेडियो और वायरलेस जैसे यन्त्र बना दिये हैं। हम आजकल अपने घरों में बैठे विश्व-भर के संवाद रेडियो द्वारा सुनते रहते हैं। योगशास्त्र में लिखा है कि जो मनोमय परिवेश में मणिपूर और अनाहत चक्र में ध्यानावस्थित हैं उन्हें महत्तत्व (परमाणु तरंग) पर वशीकार होता है और विश्व-भर के वाङ्मय पर अधिकार हो जाता है, जो चाहें सुने।[2]

अच्छा, आइये, ध्वनिविज्ञान की ही ओर चलें। ध्वनि हमारे शरीर यन्त्र के साँचे में ढलकर अक्षर बनती है। शरीर ध्वनि की ढलाई का कारखाना (foundery) है। वह ढलाई कैसे होती है, यह देखिये।

पीछे कह चुके हैं (१) स्वर (२) काल (३) स्थान (४) प्रयत्न (५) अनुप्रदान कि—इन पांच शैलियों (processes) में ध्वनि अक्षरों में ढलती है। अब इनकी गहराई में चलिये—

(१) स्वर

उदात्त, अनुदात्त, स्वरित स्वर हैं। प्राचीन स्वर-शास्त्रियों ने इनके बोधन के लिए प्रतीक बना दिये हैं—

उदात्त का प्रतीक—केवल अक्षर उदात्त है।
जैसे—अ
अनुदात्त—अक्षर के नीचे रेखा
जैसे—अ॒
स्वरित—अक्षर के ऊपर रेखा
जैसे—अ॑

स्वर ध्वनि को संगीत में ढालता है। अक्षर न भी हों तो भी ध्वनि संगीत बन सकती है, केवल नाद या बिन्दु चाहिए। स्वरों को वैज्ञानिक रूप से सात रूपों में खोजा गया—(१) षड्ज, (२) ऋषभ, (३) गन्धार, (४) मध्यम, (५) पञ्चम, (६) धैवत, (७) निषाद। इनके ही सूक्ष्म प्रतीक—स॑, रे॒, गा, म॑, प॑, ध॒, नि, स॑, बने हैं।

---

१. इन्द्रो विश्वस्य राजति, शन्नोऽस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे। (ऋग्वेद)
२. (क) परमाणु महत्वान्तोऽस्यवशीकारः। (योगदर्शन, १।४०)
(ख) प्रवृत्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट ज्ञानम्। (योग, ३।२५)

(२) काल

ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत—यह काल के आधार पर अक्षर का प्रस्तुतीकरण है। ह्रस्व एक मात्रा है। दीर्घ दो मात्राएँ। प्लुत तीन मात्राएँ। स्वाभाविक पलक झपकने में जो समय लगता है वह एक मात्रा है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत के भी तीन चिह्न हैं—

ह्रस्व = ㄱ

दीर्घ = ㄱㄱ

प्लुत = ㄱ^3 अथवा ㄱ$_3$,

इस ध्वनि के कालकृत भेद के आधार पर सम्पूर्ण छन्दशास्त्र की रचना हुई है। मात्रिक, वर्णिक तथा वृत्त छन्द इसी आधार पर बनते हैं।

(३) स्थान

अक्षरों की अभिव्यक्ति के आठ स्थान हैं। वे शरीर के ही आठ स्थान हैं जिनके द्वारा ध्वनि अक्षरों के रूप में व्यक्त होती है। वे आठ स्थान निम्नांकित हैं—

(१) छाती, (२) कण्ठ, (३) मूर्धा, (४) जिह्वामूल, (५) दाँत, (६) नाक, (७) ओंठ, और (८) तालु।

१. **छाती**—छाती वायु का कोष है। वायु के झटके से जिन अक्षरों का स्वरूप बनता है, उन्हें ऊष्माण कहते है। ऊष्मा आठ प्रकार की होती है। उससे आठ प्रकार की ध्वनियाँ व्यक्त होती हैं—ओ, औ विवृत। श, ष, स, र जिह्वामूलीय। पक्थ, सक्तु, आदि में तथा बाख़्त्री आदि में 'क' तथा 'ख' का उच्चारण जिह्वामूलीय है। अरब और ईरानी लोग इस ध्वनि को बोलते है। क, ख, से पहले ᳵक, ᳵख इस प्रकार चिह्न देकर लिखने की शैली प्राचीन विद्वानों की रही है। तथा ᳶप ᳶफ इस प्रकार 'प' एवं 'फ' का उच्चारण उपध्यानीय कहा जाता है। तात्पर्य यह कि ये उच्चारण छाती से वायु का झटका देकर ही बोले जाते हैं।

२. **कण्ठ**—अकार, क, ख, ग, घ, ङ, तथा ह का एवं विसर्ग का उच्चारण।

३. **मूर्धा**—ऋ, ट, ठ, ड, ढ, ण, र, थ का उच्चारण।

४. **जिह्वामूल**—ᳵक, ᳵख जैसा उर्दू में क के नीचे नुक़्ता लगाकर बोलते हैं। जीभ की जड़ से बोला जाता है।

५. **दाँत**—दाँत का अर्थ है दाँत और दाँतों का जवड़ा। लृ, त, थ, द, ध, न, ल, स—यह ध्वनियाँ दन्त्य हैं।

६. **नाक**—अनुस्वार का उच्चारण नासिका द्वारा व्यक्त होता है। 'गंभीर' में 'गं' का उच्चारण करते समय अक्षर को 'अम्' जैसी ध्वनि के साथ बोलते हैं।

७. **ओंठ**—उ, प, फ, ब, भ, म तथा ᳶप, ᳶफ—इनका उच्चारण ओठों से व्यक्त होता है।

८. **तालु**—इ, च, छ, ज, झ, श्र, ल, य, श ध्वनियाँ तालु से व्यक्त होती हैं।

संयुक्त ध्वनियाँ जैसे ङ, ञ, ण, न, म की अभिव्यक्ति वर्ग के स्थान के साथ नासिका

सहित होती है। जैसे 'ङ' बोलने के लिए क वर्ग कण्ठ से व्यक्त होता है। यह पाँचवाँ ङ कण्ठ और नाक से व्यक्त होगा। कुछ अन्य ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण स्थान इस प्रकार है—

(अ) ए, ऐ कण्ठ तथा तालू से व्यक्त होगा।

(आ) ओ, औ कण्ठ तथा ओठों से व्यक्त होगा।

(इ) व दाँतों तथा ओठों से व्यक्त होगा।

(ई) जिह्वामूलीय जिह्वा के मूल से व्यक्त होगा। 'सख़ुन' में 'ख़' जिह्वामूलीय है।

(उ) अनुस्वार नाक से व्यक्त होगा।

(४) प्रयत्न

अब प्रयत्न पर भी विचार करें। ऊपर स्थानों का विवेचन हुआ है। उन-उन स्थानों पर प्राणशक्ति को ढकेलने के लिए वक्ता को प्रयत्न भी करना पड़ता है, अन्यथा वायु भिन्न-भिन्न स्थानों पर कैसे जाये? ये हमारी चेतना का प्रयास है, जिसे प्रयत्न कहते हैं। सारे स्थान ज्यों-के-त्यों रहें, यदि शरीर में चेतना काम करना बन्द कर दे तो स्थानों से ध्वनि व्यक्त नहीं होगी। इसलिए प्रयत्न पर भी विचार आवश्यक है।

प्रयत्न का अर्थ कर्त्तृत्व नहीं है, प्रत्युत इच्छानुकूल व्यापार है। यह अक्षरों का देशकृत और कालकृत वह सूक्ष्म भेद बताता है जो अक्षर की सवर्णता और असवर्णता का भेद प्रस्तुत करने का मूल आधार है। यह प्रयत्न दो प्रकार का है—(१) आभ्यन्तर, तथा (२) बाह्य। आभ्यन्तर प्रयत्न वर्ण की अभिव्यक्ति से पूर्व होते हैं, बाह्य प्रयत्न वर्ण की अभिव्यक्ति के बाद।

आभ्यन्तर प्रयत्न चार हैं—स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत तथा संवृत। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

१. **स्पृष्ट प्रयत्न**—स्पर्शाक्षरों का होता है। क से लेकर म तक पच्चीस अक्षर स्पर्श कहलाते हैं, क्योंकि इसमें जीभ नीचे हनुभाग या ऊपर के तालुभाग को स्पर्श करे तभी ये अक्षर व्यक्त होंगे।

२. **ईषत्स्पृष्ट**—य, व, र, ल अक्षर अन्तःस्थ कहलाते हैं। अन्तःस्थ इसलिए कि गले के अन्दर ही इनकी स्थिति बन जाती है। जीभ को तालु बहुत कम (ईषत्) छूना पड़ता है।

३. **विवृत**—ऊष्म तथा स्वर विवृत हैं। पीछे कह आये हैं कि छाती की धौंक से जो अक्षर अभिव्यक्त हो वे ऊष्म है। यह ऊष्मा (भाप) आठ प्रकार से गति करती है। किसी ध्वनि को विवृत (गले का छेद फैला रखकर) बोलना हो तो विवृत ध्वनि होगी। ऊष्माण और स्वर विवृत ही होते हैं।

४. **संवृत**—ह्रस्व अकार बोलते समय ध्वनि संवृत होती है। संवृत में गले का छेद संकुचित होता है। संवृत ध्वनि संकुचित ही होती है, जैसे—'अ' की ध्वनि।

अब बाह्य प्रयत्न लीजिये। वह ग्यारह प्रकार से होता है—विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, अदात्त, अनुदात्त, स्वरित।

(१) ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स—ये १३ अक्षर विवार, श्वास तथा अघोष हैं। विवार विवृत है।

(२) ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ़, ध, ज, ब, ग, ड, द—ये २० अक्षर संवार, नाद तथा घोष हैं। संवार संवृत है।

(३) क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, व, र, ल—ये अल्पप्राण ध्वनियाँ हैं।

(४) ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह—ये महाप्राण ध्वनियाँ हैं।

(५) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित ध्वनि के साथ ही आते हैं।

वर्णों का विवेचन करते हुए सबसे पहले स्वर के आधार पर ही ध्वनि का वर्गीकरण हुआ है। स्वर-भेद प्राणवायु के स्थान-भेद से ऊर्ध्व, अधः, मध्य ध्वनि से होता है। स्वर सात हैं—षड्ज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद। इनमें निषाद और गन्धार उदात्त हैं। ऋषभ और धैवत अनुदात्त हैं। षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरित होते हैं। यह भेद चूंकि बाह्य प्रयत्न के अन्तर्गत आता है, इसलिए यहाँ फिर कह दिया। प्रत्येक स्वर अपने आगे के पाँचवें स्वर का अनुगामी रहता है। इसलिए जिस राग का वादी स्वर षड्ज है उसका संवादी पंचम होगा।

आभ्यन्तर और बाह्य प्रयत्नों में आभ्यन्तर प्रयत्न अधिक अन्तरङ्ग (mechanical) हैं। बाह्य प्रयत्न प्रायः औरस्य हैं तो भी कुछ गले के द्वारा, कुछ मूर्धा द्वारा उच्चरित होने से, विवृत संवृत होने से घोष ध्वनियुक्त होते हैं। ये ध्वनियाँ संगीत में तान, गुमक, दुगुन, पल्टो में बहुत काम आती हैं। यह आवश्यक नहीं कि एक अक्षर घोष ही हो, या संवृत ही हो, वह अघोष और विवृत भी हो सकता है। गायक या वक्ता की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह क्या बोलेगा।

(५) अनुप्रदान

अब अनुप्रदान की बात लीजिये। बाह्य प्रयत्नों को ही अनुप्रदान कहते हैं, क्योंकि ध्वनि को दूसरे के लिए प्रस्तुत करना ही अनुप्रदान है। बाह्य प्रयत्न व्याकरण में बहुत महत्त्व नहीं रखते, क्योंकि मुख में स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न जिन अक्षरों के तुल्य हैं वे ही सवर्ण होते हैं। आचार्य पाणिनि ने 'तुल्यास्य प्रयत्न सवर्णम्' इसीलिए लिखा। आभ्यन्तर प्रयत्न वैज्ञानिक विवशता है, बाह्य प्रयत्न वक्ता के आधीन। जो सवर्ण नहीं, उन अक्षरों की सन्धि नहीं होती।

ऊपर ध्वनि का अक्षरों में विकास कैसे होता है, यह वर्णन किया गया। प्रश्न यह है कि ध्वनि से अक्षर का ज्ञान होता है, या अक्षर से ध्वनि का? ध्वनि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भरी हुई है, परन्तु उसका ज्ञान बिना मिथुन के नहीं होता। दो वस्तुओं में संयोग या वियोग हो तभी ध्वनि का ज्ञान होता है। एक अवयव दूसरे से मिले या विभाजित हो, ध्वनि प्रकट होगी, इस बात को जानकर ही विद्वानों ने शरीर के अवयवों से संयोग, विभाग प्रस्तुत किये। जो ध्वनियाँ अभिव्यक्त हुईं, उनके प्रतीक बनाये और अ, इ, उ, नाम रख दिये। वस्तुतः ध्वनि नाम की जो शक्ति (energy) है उसे ध्वनि नाम क्यों दिया गया, यह भी जानने योग्य है।

हम पहले कह चुके हैं—ध्वनि में भाव घुल जाते हैं। ध्वनि में अपनी भावनाओं का घोल दूसरों को देने का नाम ही 'बातचीत' है। हम दूसरे से दस गज दूर बैठे हैं। अक्षरों के शब्द बनाकर ध्वनि में अपने भाव घोल-घोलकर दूसरे के पास भेज रहे हैं। प्रेम के भाव भेज रहे हैं, दूसरे में भी प्रेम भर जायेगा। द्वेष के भाव भेज रहे हैं, दूसरे में भी द्वेष भर जायेगा। यह सब अक्षरों और शब्दों के द्वारा हो रहा है। वे अक्षर जिह्वा, तालु, ओठ, कण्ठ तथा मूर्धा में वायु के संयोग विभाग से उत्पन्न हुए हैं, परन्तु तत्त्व में ध्वनि ही हैं। इसीलिए अक्षर हैं, क्योंकि ध्वनि अविनाशी

(अक्षर) है। इसलिए अक्षर भी अविनाशी हैं। हमें ध्वनि कहीं भी अक्षरों के बिना दिखायी नहीं देती, क्योंकि वह तत्त्व अरूप है, परन्तु उसका नाम ध्वनि क्यों रक्खा ? यह विचारणीय है।

अक्षर क्या है ? एक ध्वनि का प्रतीक। 'अ' से एक खास ध्वनि का ज्ञान होता है, परन्तु वह ज्ञान ध्वनि क्यों कहा जाता है ?

अक्षर की चमक का नाम 'ध्वनि' है। ध्वनि की कोई सीमा नहीं है। उसमें वक्ता का सम्पूर्ण भाव ही घुला रहता है। इसलिए इस चमक में वक्ता के अन्तःकरण का विशाल भाव-चित्र उभर उठता है। 'अ' कहने से भी जिस तत्त्व का ज्ञान होता है, उस का नाम 'ध्वनि' इसी से रक्खा गया, क्योंकि वह उस शक्ति (energy) का बोधक है जिसमें भाव घुले हैं। यह अभिधा-मूला ध्वनि है, जो प्रत्येक अक्षर से प्रतीत होती है। वह अक्षरों से वाच्य नहीं, ध्वनित होती है, इसलिए ध्वनि है। इसलिए प्रत्येक अक्षर सार्थक है। परन्तु क्या प्रत्येक अक्षर एक ही अर्थबोध कराता है ? ऐसा नहीं है। शरीर के एक ही केन्द्र से प्रत्येक अक्षर नहीं उभरता। पीछे कहे गये स्थान, प्रयत्न, स्वर आदि बहुत बाद की बातें हैं। पीछे कह आये हैं कि ध्वनि की चार स्थितियाँ है—१. परा, २. पश्यन्ती, ३. मध्यमा, ४. वैखरी। प्रत्येक अक्षर भिन्न-भिन्न केन्द्रों से उठता है। इसलिए जिस चक्र से जो अक्षर व्यक्त होता है, उसकी क्षमता उस अक्षर में रहती है।

प्रकृति के दो प्रकार हैं—वर्णाध्वा और भुवनाध्वा। इन्हीं दोनों प्रवाहों से सामग्री संचित होकर मनुष्य का निर्माण होता है। परा शक्ति परब्रह्म है। उससे नाद या अनाहत नाद का प्रादुर्भाव होता है। नाद ही कुछ स्थूल होकर बिन्दु बनता है। 'अ' प्रथम अक्षर है। उसका मूल बिन्दु ही है। इसी को कूट मंत्र के रूप से 'ओम्' बनाया गया। यह 'म्' बिन्दु ही है। 'अ' आविर्भाव है, 'म्' विलय। ध्वनि के समानान्तर भुवनाध्वा है। वह पंचभूतात्मक संगठन है। शब्द-शास्त्रियों की खोज है कि विश्व ध्वनि के बिना या शब्द तत्त्व के बिना उत्पन्न ही नहीं होता।[1] इसीलिए उनका कहना है कि शब्द तत्व का साक्षात्कार होने पर परब्रह्म का साक्षात्कार सुकर है।

पराध्वनि से ही सारी वर्णमाला उत्पन्न हुई है। विश्व की सम्पूर्ण भाषाएँ वहीं से उत्पन्न हैं। किसी ने उसे वैज्ञानिक आकार दिया, किसी ने काल्पनिक या अवैज्ञानिक। भारत के शब्द-शास्त्रियों ने अक्षरों की वैज्ञानिकता पर बहुत ध्यान दिया। प्रत्येक अक्षर जिस चक्र से उपजा है उसकी उत्पत्ति में जो अवयवकृति बनती है, वही अक्षर की आकृति है। अकार की ध्वनि मूल ध्वनि है। कोई अक्षर अकार के बिना बोलना सम्भव नहीं है। 'अ' को ही निम्नगामी बनाकर 'इ' बना है। वायु का उरस में अधोगामी प्रवाह 'अ' को 'इ' बनाता है और ऊर्ध्वगामी प्रवाह 'उ' को जन्म देता है तो भी उनमें कुछ मौलिकता है। इस प्रकार अ, इ, उ, ऋ—यह चार स्वर ही स्वर हैं। शेष यौगिक या व्यंजन हैं। ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः—ये सारे संयुक्त अक्षर हैं, मौलिक नहीं। स्वरों के बाद पच्चीस अक्षर वर्गाक्षर हैं। य, र, ल, व अन्तस्थ, श, ष, स, ह ऊष्माण। ये सारे तेंतीस अक्षर 'अ' के बिना बोले नहीं जा सकते। इसलिए 'अ' ही उपजीव्य है।

इस प्रकार 'अ' सम्राट् है। प्राचीन साहित्य में 'अ' का अर्थ प्रकाश, विश्व का विकास, अग्नि, प्रारम्भ तथा विराट् आदि होते हैं। क्योंकि 'अ' ध्वनि के विकास का प्रारम्भ है, सारी वर्णमाला की रचना वहीं से प्रारम्भ है। कुछ शब्द उसी भाव से बने हैं। 'अथ' में अ का अर्थ

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते। (भर्तृहरिः)

प्रारम्भ है, 'थ' का अर्थ स्थान। ओम् में 'अ' प्रारम्भ है 'उ' उत्थान, 'म्' बिन्दु या शून्य या विलय होता है। ओम् में प्रारम्भ, उत्थान, और विलय तीनों हैं।

अक्षरों के संयोग से पद बनते हैं, क्योंकि अक्षर सम्पूर्ण भाव को प्रस्तुत नहीं कर पाते। इसीलिए भावनाओं का अथाह समुद्र पार करने के लिए वर्णों से पद बने। एक या अनेक अनन्वित अक्षरों से मिल कर पद बने, जो एकार्थवाची हो गये। उनका वाच्यवाचक भाव लोकव्यवहार से स्थिर होता गया। पतंजलि के समय तक वैदिक और लौकिक शब्दों की दो अलग-अलग परम्पराएँ थीं, परन्तु धीरे-धीरे उनका अस्तित्व मन्द पड़ गया। वैदिक शब्दों को यास्काचार्य ने प्रायः यौगिक स्वीकार किया है। वैसी ही उनकी निरुक्ति भी दी है, तो भी उस युग तक व्युत्पत्ति-निमित्तक तथा प्रवृत्ति-निमित्तक शब्द बन गये थे। गौ का व्युत्पत्ति-निमित्त अर्थ छिपने लगा था, प्रवृत्ति-निमित्त ही व्यवहार में चल रहा था। यज्ञ, मण्डप, कुशल, उदार आदि शब्द भी ऐसे ही थे, जिनका व्युत्पत्ति-निमित्त खो गया था और प्रवृत्ति-निमित्त ही रह गया था।

इस आधार पर शब्दों में रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ शब्दों का कोष एकत्रित हो गया। प्रवृत्ति-निमित्त अर्थ रूढ़ अर्थ हैं। 'कमल' कहते समय कोई नहीं विचारता कि यह पानी का उत्पादन है प्रत्युत तालाब के एक फूल को ही कमल कहते हैं। यों तो पानी के उत्पादन तो सिंघाड़े, काई, और सेवाल भी हैं पर तो भी कमल एक फूल रह गया। परन्तु 'दिनकर' यौगिक अभी तक सूर्य का ही अर्थ देता है। उसका कोई भिन्न प्रवृत्ति-निमित्त नहीं बना। वह योग रूढ़ हो गया है। प्रभंजन, हिमांशु, सफल, विद्वान् आदि शब्द यौगिक ही हैं।

एक अक्षर का भी पद हो सकता है, अनेक का भी। कः, न, सः आदि एकाक्षर पद हैं। अनेकाक्षर तो असंख्य पद हैं ही। अक्षरों में उसके अवयवों का कोई पृथक् अर्थ नहीं होता। उसी प्रकार पदों में अक्षरों का अलग-अलग अर्थ नहीं है। उदाहरणार्थ 'प्रबल' शब्द लीजिये। एक अक्षर बदलकर नया शब्द और नया अर्थ होता है। धवल, सबल, अबल, शबल में एक अक्षर बदलने से अर्थ भिन्न हो गया है। इसलिए वही एक अक्षर अर्थवान् है, ऐसा नहीं है। पूरा पद एक है। अवयव अर्थवान् नहीं है, उनका योग अर्थवान् होता है। एक पद पूरा एक पुर्जा है।[1]

इसी प्रकार वाक्य भी पूरा अर्थवान् होता है। जब क्रिया सहित हो, वाक्य पूर्ण तभी होगा। सारे पदार्थ क्रिया से अन्वित होते हैं। चेतना के तीन गुण हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। वाक्य तीनों को व्यक्त करता है। पदों में परस्पर मिलने की योग्यता, आकांक्षा और समीपता होनी चाहिए। वाक्य में तीन अंश होते हैं—१. कर्ता, २. कर्म, ३. क्रिया। जिस प्रकार क्रिया न हो तो शरीर निरर्थक है, उसी प्रकार क्रिया न हो तो वाक्य निरर्थक है। क्रिया चेतना का प्रतीक है। इसीलिए क्रिया को 'भाव' भी कहते हैं, क्योंकि क्रिया सत्तात्मक चेतना को प्रस्तुत करती है। जब तक क्रिया नहीं जुड़ती, वाक्य कभी पूरा नहीं होता। इसलिए कर्ता, कर्म दोनों क्रिया-साकांक्ष होते हैं।

अक्षरों की विशेषता उनका शुद्ध उच्चारण ही है। क्योंकि शब्द आत्मा की इच्छा को प्रकाशित करता है। उच्चारण-दोष इच्छा के विरुद्ध अर्थ प्रस्तुत करके अनर्थ कर सकता है। देखिये, भूल कहाँ होती है—

---

१. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा इव।
वर्णात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न विद्यते। (वाक्यपदीय)

१. सबल—को शबल बोले। दन्त्य सकार को तालु से बोलकर तालव्य शकार जोड़ दिया। 'सबल' का अर्थ था 'बलवान्'। 'शबल' का अर्थ हो गया गन्दा या मैला।

२. 'अश्व' में तालव्य हटाकर दन्त्य कर दीजिये तो 'अश्व' का अर्थ 'घोड़ा' था। 'अस्व' का अर्थ 'गरीब' होगा।

३. 'सकृत्' को 'शकृत्' बोलेंगे तो 'सकृत्' का अर्थ 'एकबार' होता है, 'शकृत्' का अर्थ पुरीष या पाखाना हो जायेगा।

४. 'गृह' के ऋ को र बोलने से गृह के 'ऋ' का अर्थ है रक्षा-स्थान। ग्रह का अर्थ है नाश।

इसलिए पदों की अर्थबोधकता उच्चारण पर निर्भर है। इसीलिए विद्वानों ने कहा है कि दूषित उच्चारण वज्र के समान घातक है। शुद्ध उच्चारण का बड़ा महत्त्व है।

यद्यपि अर्थबोधन के लिए शब्द के अतिरिक्त आकार, इङ्गित, चाल, चेष्टा, नेत्र, मुख आदि का हावभाव भी काम देता है, परन्तु शब्द जितना व्यापक प्रकाश उनसे सम्भव नहीं है। शब्द हजारों वर्षों के प्राचीन भावों को ग्रन्थों में आज तक समेटे हुए हैं। वह किसी दूसरे साधन से सम्भव नहीं है। आकार इङ्गित आदि को देखने के लिए सूर्य का, अग्नि का प्रकाश चाहिए। शब्द स्वयं प्रकाशित होता है। आकार इङ्गित दूसरे लोग भी देख सकते हैं। शब्द का सन्देश एक रहस्य है। हम जिसे चाहें वही जानेगा।

मनुष्य का भावात्मक जीवन, शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत, तथा शान्त रस में विकसित होता है। शब्द ही उन्हें व्यक्त कर सकते हैं। जिस समाज का भावात्मक जीवन अधिक विकसित नहीं है, उनकी भाषा में उतने अक्षर या उतने शब्द नहीं हैं जितने विकसित समाज की भाषा में।

आत्म-चेतना को व्यक्त करने में शब्द इतना सबल है जितना सूर्य का प्रकाश भी नहीं। यदि वक्ता के मन में विधि है तो निषेधात्मक शब्द भी विधि का ही ज्ञान देते हैं और विधेयक शब्द निषेधपरक ज्ञान देने लगते हैं। देखिये—

सखि ! सोहत सौदामिनी, घन सों लिपटि सप्रीत।
साजन की सुधि का सखी ? ना, पावस की रीत।।

इस उक्ति-प्रत्युक्ति में, मिलन की अभिलाषा का जितना ही प्रबल निषेध है, उतनी ही प्रबल स्वीकृति प्रतीत होती है, क्यों ? क्योंकि शब्द चेतन आत्मा का प्रकाश है। हमारे अन्तस्तल के स्वरूप को बाह्य जीवन में प्रकाशित करने वाला तत्त्व शब्द ही है। वेद में यही लिखा है—

"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।"

मनुष्य की वाणी में ही जीवन की सम्पूर्ण ज्योति मुसकराती है। उस सौन्दर्य को पहचानो।

पाणिनीयं महत् सुविहितम्

•

डा० प्रज्ञादेवी
व्याकरणाचार्या, पी-एच० डी०
आचार्या, जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

शब्दशास्त्र के अगाध वेत्ता महावैयाकरण पाणिनि का नाम संस्कृत व्याकरण के जन्मदाता के रूप में लोकप्रसिद्ध है। संस्कृत भाषा के जितने अन्य प्राचीन आर्ष व्याकरण बने उनमें एकमात्र पाणिनीय-व्याकरण ही इस समय सांगोपांग रूप में उपलब्ध होता है, यह उसकी सबसे बड़ी ख्याति एवं पूर्णता का ही परिचायक कहा जा सकता है। पाणिनि का व्याकरण (अष्टाध्यायी) आर्ष वाङ्मय की अनुपम निधि है। उनके सूत्रों का रचना-कौशल जहाँ विद्वानों को चकित कर देने वाला है, वहीं उससे भी अधिक इस महावैयाकरण की महती सूक्ष्मबुद्धि को प्रकट करने वाला सूत्रों का अत्यन्त सुसम्बद्ध सुवैज्ञानिक क्रम है। पाणिनि मुनि ने सूत्रों में लाघव करने की दृष्टि से अधिकार अनुवृत्ति की जो विशेष प्रक्रिया रखी और उसके लिए जो क्रमानुसार सूत्रों की लड़ी बाँधी उसको देखकर संसार का प्रत्येक वैयाकरण आश्चर्यान्वित है। अष्टाध्यायी-क्रम से तीन-चार दिन भी जो व्यक्ति व्याकरण का अध्ययन कर लेता है वह पाणिनि के इस सुवैज्ञानिक क्रम पर सदैव-सदैव के लिए मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।

'नवं व्याकरणं स्मृतम्' के अनुसार पाणिनि से पूर्व एक-दो नहीं, ९ व्याकरण थे, पर वे सब शब्दसिद्धि की दृष्टि से अपनी अपूर्णता एवं क्रमबद्धता आदि गुणों में पाणिनीय व्याकरण के सामने पासंग भी न होने के कारण काल के गाल में समा गये। पाणिनि के सूक्ष्म-चिन्तन, सुपरिपक्व ज्ञान एवं विलक्षण प्रतिभा का निदर्शन करने वाले इस पाणिनीय व्याकरण से देववाणी परम गौरवान्वित है। विश्व में किसी भी भाषा का ऐसा परिष्कृत अनूठा व्याकरण नहीं बना, यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है।

केवल लौकिक शब्दों के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण वैदिक शब्दों एवं स्वर-ज्ञान के लिए भी पाणिनि के व्याकरण की परिपूर्णता सुविज्ञात है। इसके अतिरिक्त उनका शब्दशास्त्र न केवल व्याकरण का ही प्रतिपादन करता है, अपितु भूगोल-इतिहास-मुद्राशास्त्र आदि विषयों के ज्ञान के लिए भी उनके शास्त्र की महती उपयोगिता है, ऐसा सभी विद्वान् अनुभव करते हैं। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में सामाजिक जीवन, विभिन्न परम्पराएँ, मनुष्यों एवं स्थानों के नाम, मनुष्य के गोत्रादि, व्यापार-व्यवसाय-वाणिज्य, नगर, ग्राम तथा जंगली बस्तियों के नाम, पशुओं के

नस्लों के नाम आदि व्यापक विषयों का वर्णन आया है, जिसका सूक्ष्म अध्ययन तत्कालीन समाज के ज्ञान एवं संस्कृत वाङ्मय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस विशाल शब्दसागर को व्याकरण के कुछ सूत्रों द्वारा नियम में आबद्ध कर देना पाणिनि के ही बस का काम था। व्याकरण-शास्त्र के प्रमाणसिद्ध आचार्य पाणिनि, पवित्रासन पर विराजमान हो पूर्व दिशा की ओर मुख करके प्रयासपूर्वक सूत्रों की रचना करते थे। एक वर्णमात्र का भी व्यर्थ अनर्थक प्रयोग उन्होंने नहीं किया। किसी सूत्र के अनर्थक होने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। उन्होंने उत्सर्ग तथा अपवाद के नियम बनाते हुए इस कार्य को सरलता से किया।

अष्टाध्यायी की मूर्धन्य वृत्ति 'काशिका' के रचयिता जयादित्य ने **'उदक् च विपाशः'**[1] सूत्र पर उनके सूक्ष्म स्वर विषयक ज्ञान को देखकर लिखा है—**'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्त्तते सूत्रकारस्य'**, अर्थात् सूत्रकार की सूक्ष्म पकड़ इतनी पैनी है कि वह साधारण से स्वर की भी उपेक्षा नहीं करता। पाणिनि के व्याकरण में शब्द और अक्षर की तो बात ही क्या, मात्रा एवं अनुस्वार तक के लाघव पर भी अति सूक्ष्म ध्यान दिया गया है। शब्दशास्त्र के उद्भट विद्वान् महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने इस महान् वैयाकरण के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—

'प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण।'[2]

इसी प्रकार छठे अध्याय के महाभाष्य में पुनः पतंजलि मुनि इस सम्बन्ध में लिखते हैं—**'सामर्थ्ययोगात् न हि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।'**[3]

विदेशी विद्वान् मोनियर विलियम ने पाणिनीय व्याकरण के सम्बन्ध में कहा है—"संस्कृत का व्याकरण (अष्टाध्यायी ग्रन्थ) मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया।"

श्री हण्टर ने भी लिखा—"मानव मस्तिष्क का अतीव महत्वपूर्ण आविष्कार यह अष्टाध्यायी है।"

लेनिनग्राद के प्रोफेसर टी० वात्सकी कहते हैं—"मानव मस्तिष्क की यह अष्टाध्यायी सर्वश्रेष्ठ रचना है।"

यह एक तथ्य है कि पाणिनीय व्याकरण की सुवैज्ञानिकता एवं सारल्य का अनुभव वही व्यक्ति कर सकता है जिसने अष्टाध्यायी-क्रम से अध्ययन किया हो। सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों के द्वारा जिनमें अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रम भंग करके वृत्तियाँ लिखी गयी हैं, पढ़ने-पढ़ाने से अधिकार एवं अनुवृत्ति का क्रम भंग हो जाने के कारण ही जीवन-भर उसकी सरलता का बोध नहीं कर सकता। इन प्रक्रिया ग्रन्थों का सबसे बड़ा दोष यही है कि उन्होंने अष्टाध्यायी की सुवैज्ञानिकता को नष्ट कर दिया। अष्टाध्यायी के सूत्रों का क्रम भंग कर देने पर **'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'**[4], **'असिद्धवदत्राभात्'**[5], **'पूर्वत्रासिद्धम्'**[6], जैसे सूत्रों की उपयोगिता का

---

१. अष्टा० ४।२।७३
२. महाभा० १।१।१
३. महाभा० ६।१।७७
४. अष्टा० १।४।२
५. अष्टा० १।४।२२
६. अष्टा० ८।२।१

समझ पाना तीन काल में भी सम्भव नहीं। अष्टाध्यायी के क्रम से जिसे सूत्र याद नहीं वह 'सपादसप्ताध्यायी के बाध्य-बाधक भाव को', 'आभीय कार्यों की असिद्धता' को अथवा 'तुल्य बल विरोध होने पर, पर वाला सूत्र कार्य करे' इसको कैसे जान सकता है ? इसी प्रकार क्रम भंग करके पढ़ने पर विधि एवं निषेध के सूत्रों का भी सामान्य ज्ञान उसको नहीं हो सकता। वह नहीं जान सकता कि 'हलन्त्यम्'[1] सूत्र की उपस्थिति में भ्याम् को मकार एवं भ्यस् के सकार का लोप क्यों नहीं होता ? क्योंकि **'न विभक्तौ तुस्माः'**[2] निषेध सूत्र जो अष्टाध्यायी में **'हलन्त्यम्'** के साथ ही पढ़ा था उसे इन प्रक्रिया ग्रन्थों में क्रम भंग करके साधनिका के क्रम पर कहीं और डाल दिया; अतः विधि एवं निषेध का पारस्परिक सम्बन्ध विद्यार्थी के मस्तिष्क में स्थिर नहीं रह सका।

इस प्रकार पाणिनीय व्याकरण का विशेष महत्व उसी आर्ष प्रक्रिया से अध्ययन करने में ही है, अन्यथा लाघव एवं सूक्ष्म अर्थ बोध कराने में पाणिनीय सूत्रों की अपूर्व क्षमता होने पर भी विद्यार्थी के लिए वे केवल 'कोरा घोटा' मात्र रह जाते हैं।

शब्दशास्त्र सम्बन्धी अष्टाध्यायी प्रणयन के इस अपूर्व कार्य को देखकर पाणिनि का यश तत्कालीन समाज में वैयाकरण समुदाय के बच्चे-बच्चे में फैल चुका था। यह स्वयं **'आङ् मर्यादाभिविध्योः'**[3] सूत्र के काशिका वृत्ति में उल्लिखित **'आ कुमारं यशः पाणिनेः'** उदाहरण से स्पष्ट होता है।

यह एक दुर्भाग्य का ही विषय है कि इस महावैयाकरण का जीवनवृत्त संस्कृत-समाज में लगभग अज्ञात है। उन्होंने अपने शास्त्र में अपना ज़रा भी परिचय नहीं दिया पर उनके नाम से यह प्रतीत होता है कि उनके दादा का अथवा वंश चलाने वाले पूर्वपुरुष का नाम पणिन् था। पणिन् के युवापत्य का नाम पाणिनि[4] होता है। बौधायन श्रौत सूत्र के महाप्रवर काण्ड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओं के अन्तर्गत एक अवान्तर गोत्र का नाम था। इनकी माता का नाम दाक्षी था, यह महाभाष्य में वर्णित एक श्लोक[5] से प्रकट होता है।

पाणिनि का जन्म 'शलातुर' नामक स्थान में बताया जाता है। चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने सप्तम शताब्दी के आरम्भ में अपने भ्रमण के पश्चात् अपनी यात्रा का विवरण दिया है। उसने बताया है कि "शलातुर ही वह स्थान है जहाँ पाणिनि का जन्म हुआ तथा जिन्होंने शब्द-विद्या की रचना की थी।" इस शलातुर की पहचान 'लहुर' नामक गाँव से की गयी है जो कि उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त में काबुल और सिन्धु के संगम से कुछ दूर पर अवस्थित है। यह स्थान देखने में बहुत ऐतिहासिक प्रतीत होता है।

पाणिनि की शिक्षा तक्षशिला में स्थित विश्वविद्यालय में हुई थी। उस समय यह विश्वविद्यालय अत्यन्त प्रसिद्ध था। वहाँ से बहुत-से लोग अनेक विषयों में पारंगत होकर निकले, जिन्होंने सम्पूर्ण भूभाग में अपने वैदुष्य की धूम मचायी। वहाँ पर सभी विषयों की शिक्षा बड़ी

---

१. अष्टा० १।३।३

२. अष्टा० १।३।४

३. अष्टा० २।१।१२

४. पाणिनो ऽपत्यं पाणिनः, तस्यापत्यं युवा पाणिनिः।

५. सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।

—महाभा० सू० दाधाघ्वदाप् १।१।१९

गहराई से दी जाती थी तथा छात्र को योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता था। ऐसे स्थान से पाणिनि शिक्षा प्राप्त करके निकले हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

इस महावैयाकरण का इतिवृत्त अज्ञात होने के कारण इनका काल भी बहुत विवेच्य है। पाणिनि का काल यथासम्भव ब्राह्मण, आरण्यक ग्रन्थों के पश्चात् तथा उपनिषदों एवं बुद्ध से पूर्व रखना समीचीन होगा।

महर्षि पाणिनि के व्याकरण की अद्वितीय विशेषताएँ हैं। इस व्याकरण की सफलता का इससे बड़ा क्या प्रमाण होगा कि उनके बाद के सभी आचार्य एक स्वर से उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करते रहे हैं ? यह निर्विवाद सत्य है कि इनका व्याकरण वैदिक तथा लौकिक संस्कृत भाषा के विशाल शब्द-भण्डार का अद्वितीय विश्वकोश है।

पाणिनि के बाद के आचार्य अलग व्याकरण बनाने का साहस न कर सके, जिन्होंने साहस करके 'कातन्त्र' आदि व्याकरण बनाये वे प्रसिद्धि प्राप्त न कर सके। इस प्रकार सहस्रों वर्षों की अवधि में पाणिनि के इस महनीय ग्रन्थ की टीका-व्याख्या इत्यादि ही होती रही। अब तक इस ग्रन्थ की सैंकड़ों टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं तथा लाखों पृष्ठ प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी अभी यह क्रम समाप्त नहीं हुआ है। इस व्याकरण की उपादेयता का महत्वपूर्ण प्रमाण यह भी है कि लगभग ३ हजार वर्ष के पश्चात् आज भी किसी शब्द के प्रामाणिक रूप को जानने के लिए पाणिनीय व्याकरण की व्यवस्था को ही प्रतिमान स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार इसकी सफलता असंदिग्ध है।

गुरुवर स्वामी विरजानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी में पाणिनि के महत्व की पुनः स्थापना के लिए स्वयं 'अष्टाध्यायी' पर भाष्य लिखा, व्याकरण के लिए अष्टाध्यायी को ही आर्ष ग्रन्थ घोषित किया एवं अपनी पाठशाला में ऋषि दयानन्द जैसे शिष्यों को अष्टाध्यायी द्वारा ही संस्कृत व्याकरण की शिक्षा दी। उसी शिक्षा के आधार पर महर्षि दयानन्द ने वेद-भाष्य का कार्य किया और व्याकरण-शास्त्र को सर्वजन सुलभ बनाने हेतु वेदाङ्ग और प्रकाश लिखकर 'अष्टाध्यायी' को जनसामान्य तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उसी परम्परा में पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु और उनकी शिष्य परम्परा का योगदान भी स्मरणीय है। पाणिनि का व्याकरण अनुपम, अप्रतिम एवं अद्वितीय है। आर्यसमाज को उसके गौरव की रक्षा करनी चाहिए।

•

जिससे ईश्वर से लेके पृथिवी पर्यन्त पदार्थों का सत्यज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है उसका नाम विद्या है।

—महर्षि दयानन्द

निरुक्त वेदाङ्ग की महत्ता

•

सुश्री कमला स्नातिका
प्रधानाध्यापिका, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

वेदाध्ययन में निरुक्त वेदाङ्ग का अपना विशेष स्थान है। **'निरुक्तं श्रोतमुच्यते'**—वेद शरीर में निरुक्त का स्थान कर्ण के समान है। जैसे किसी भी कार्य के उचित सम्पादन के लिए बात को अच्छी प्रकार सुनना आवश्यक है, उसी प्रकार वेदार्थ के लिए प्रत्येक शब्द की निरुक्ति और विवेचना आवश्यक होती है। अर्थ गाम्भीर्य को समझने में निरुक्त से बहुत सहायता मिलती है।

साधारणतः निरुक्त को एक ग्रन्थ के रूप में माना जाता है परन्तु निरुक्त वेदाङ्ग एक शास्त्र है, एक पद्धति है, कोई ग्रन्थ विशेष नहीं, निरुक्त की पद्धति से वेदार्थ को समझने का प्रयत्न किया जाता है।

निरुक्त का उद्देश्य

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥

अर्थात् निरुक्त के ये पाँच कार्य हैं—

(१) वर्णागम, (२) वर्ण विपर्यय, (३) वर्ण विकार, (४) वर्णनाश, (५) धात्वर्थ सम्बन्ध। ये पाँचों बातें व्याकरण वेदाङ्ग में भी होती हैं। अतः कुछ विचारकों की सम्मति में निरुक्त को भी व्याकरण के अन्तर्गत मानना चाहिए, परन्तु हम देखते हैं कि व्याकरण का उपयोग भाषा-नियमों तक ही सीमित है जबकि निरुक्त में अर्थ पर विशेष बल दिया जाता है। इसलिए निरुक्त का व्याकरण से पृथक् अपना विशेष महत्व है।

कुछ विद्वानों का मत है कि प्रातिशाख्यों में वैदिक व्याकरण की जो त्रुटियाँ रह गयी थीं उन्हें दूर करने के लिए निरुक्त-शास्त्र की रचना की गयी, परन्तु ऐसा मानने से निरुक्त वेदाङ्ग की प्राचीनता और महत्ता कम हो जायेगी। वास्तव में वेदाङ्ग के रूप में निरुक्त की अपनी सत्ता है और उसका कार्यक्षेत्र महत्वपूर्ण है। निरुक्त का अर्थ लिखते हुए एक विद्वान् ने लिखा है—**'निश्चित कथन जिसमें है वह निरुक्त है।'** यह शब्द का वाच्यार्थ है। वास्तव में

निरुक्त शब्द का प्रयोग उस वेदाङ्ग के लिए किया जाता है जिसमें वेदों के दुरूह शब्दों की व्याख्या की जाती है और व्याख्या के नियम, पद्धति आदि का विश्लेषण किया जाता है। इसी अर्थ को आधार मानकर विद्वानों ने निरुक्त शास्त्र पर ग्रन्थों की रचनाएँ कीं। अतः यह स्पष्ट है कि निरुक्त का अर्थ रूढ़ बन गया है और उसे उसी रूप में लिया जाना चाहिए।

वेद पदार्थ की उत्पत्ति, स्थिति और संहार का निर्वचन करना ही निरुक्त है। पदार्थ की निरुक्ति भी शब्द ब्रह्म और अर्थ ब्रह्म के भेद से दो प्रकार की होती है।

वाक् की उन्मुग्ध अवस्था अनिरुक्त रहती है और उसी वाक् की उद्‌बुद्ध अवस्था निरुक्त कही जायेगी। यही स्थिति पद के साथ भी होती है, अर्थात् पद भी उन्मुग्धावस्था में अनिरुक्त और उद्‌बुद्ध अवस्था में निरुक्त कहाता है।

भाषा के वास्तविक स्वरूप और अर्थ को समझने की पद्धति को निर्धारित करने की व्यवस्था को ही वास्तव में निरुक्त कहा जाना चाहिए। निरुक्त की सम्पूर्ण शक्ति निर्वचन में सन्निहित रहती है। इसीलिए एक ही शब्द और पद प्रकरण-प्रसंग और धात्वर्थ आदि के आधार पर कई अर्थ स्पष्ट करते हैं। पद की सिद्धि के नियम बताना उसका निर्वचन कहाता है।

इस आधार पर निरुक्त को वेदार्थ स्पष्ट करने में सहायक वेदाङ्ग समझना चाहिए और इसलिए निरुक्त का अध्ययन आवश्यक एवं अनिवार्य होना चाहिए। आज प्रत्येक भाषा के विकास के लिए भाषा-विज्ञान का अध्ययन किया जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि निरुक्त की भावना का ही अंग है।

निर्वचन शक्ति

निर्वचन शक्ति के चार भेद हैं—

(१) पदार्थ निरुक्ति, (२) वाक्यार्थ निरुक्ति, (३) प्रमाण निरुक्ति, (४) तत्व निरुक्ति।

(१) **पदार्थ निरुक्ति** के लिए ही विशेष रूप से निरुक्त शब्द का प्रयोग किया जाता है। निरुक्ति के लिए इसको (१) निघण्टु (२) निगम (३) दैवत—तीन भागों में विभक्त किया जाता है।

(२) **वाक्यार्थ निरुक्ति** को कर्ममीमांसा कह जाता है। कर्ममीमांसा को भी तीन प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है—(१) धर्म मीमांसा (२) भक्ति मीमांसा (३) ब्रह्म मीमांसा।

(३) **प्रमाण निरुक्ति** के लिए व्युत्पत्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके भी तीन भेद हैं—(१) शाब्दिकी व्युत्पत्ति (२) मीमांसकी व्युत्पत्ति (३) तार्किकी व्युत्पत्ति।

(४) **तत्व निरुक्ति** के लिए दर्शन शब्द का प्रयोग किया जाता है और इसके भी तीन भेद हैं—(१) अणुवाद (२) प्रधानवाद (३) चिदवाद।

अर्थात् निर्वचन में निरुक्त, कर्ममीमांसा, व्युत्पत्ति और दर्शन—चारों का समन्वय होना चाहिए, तभी पदार्थ का रहस्य स्पष्ट हो सकेगा। निर्वचन के लिए पदार्थ निरुक्ति पर विशेष बल दिया जाता है; अतः शब्दों व पदों का संग्रह कर उनका प्रकरणगत विवेचन, निर्वचन करने के लिए पृथक्-पृथक् सूचियाँ बनायी जाती हैं। इस शब्द-संग्रह और सूची-निर्माण प्रक्रिया को निघण्टु कहते हैं। वास्तव में निघण्टु में वेदों के कठिन शब्दों का क्रमबद्ध संग्रह मिलता है और निरुक्त में उन शब्दों की व्युत्पत्तियाँ स्पष्ट की जाती हैं। शब्दों की व्युत्पत्तियों को देखने से निरुक्त शास्त्र का महत्व सुस्पष्ट है और वह स्थायी महत्व रखता है।

निघण्टु में शब्दों की पाँच प्रकार की सूचियाँ मिलती हैं—

प्रथम भाग (नैघण्टुक काण्ड)—इस काण्ड में तीन सूचियाँ आती हैं जिनमें वैदिक शब्दों का समावेश एक निश्चित दृष्टिकोण और एक निश्चित विचार से किया गया है।

द्वितीय भाग (नैगम काण्ड)—इस काण्ड में वेद में प्राप्त होने वाले सदिग्ध अर्थ वाले शब्दों की तथा कठिन शब्दों की तालिकाएँ हैं।

तृतीय भाग (नैयस काण्ड)—इस काण्ड में पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग के देवताओं का वर्गीकरण किया गया है और उनकी शक्तियों का उपयोगितापरक विवेचन किया गया है। निरुक्त में देवता का अर्थ किया गया है—'**देवोदानाव्दाद्योतनाव्दा।**'

निघण्टु तथा निरुक्त का अविनाभाव सम्बन्ध समझना चाहिए। निरुक्त के बिना अकेले निघण्टु की तथा निघण्टु के बिना अकेले निरुक्त की उपयोगिता में बहुत कमी आ जाती है। निरुक्त के बिना निघण्टु केवल एक कोशमात्र बना रहेगा। यही कारण है कि जिसने भी निघण्टु का उल्लेख किया, निरुक्त के साथ ही किया है।

सिद्धान्ततः निरुक्त को वेदाङ्ग मानने के बाद हमें यह भी मानना चाहिए कि आचार्य यास्क के वर्तमान निरुक्त ग्रन्थ से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने निरुक्त शास्त्र पर कार्य किया था और निरुक्तशास्त्री के रूप में उनकी ख्याति थी।

यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में (१) औदुम्बरायण, (२) औपमन्यव, (३) और्णवाम, (४) कात्थक्य, (५) कौत्स, (६) क्रौष्टुकि, (७) वार्ष्यायणि, (८) शाकटायन, (९) शाकपूणि, (१०) शाकल्य, (११) स्थौलाष्ठीवि आदि अनेकों निरुक्ताचार्यों का उल्लेख कहीं अपने मत की भिन्नता में और कहीं अपने मत के समर्थन में किया है। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तशास्त्र एक स्वतन्त्र वेदान्त के रूप में विकसित था, परन्तु जैसे व्याकरणशास्त्र बृहस्पति और इन्द्र आचार्यों से आते-आते पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में समाहित हो गया, उसी प्रकार निरुक्तशास्त्र भी पूर्वाचार्यों की व्याख्याओं के रूप में विकसित होता रहा, पर यास्काचार्य ने अपने ग्रन्थ द्वारा उन सबको समाहित कर स्वयं को ही निरुक्तशास्त्र का पर्याय बना दिया।

निरुक्त का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यास्काचार्य ने अपने ग्रन्थ की रचना पाणिनि के पश्चात् की। इससे उनका समय पाणिनि के बाद का स्वयंसिद्ध है।

यास्क ने निरुक्त में पाणिनि का एक सूत्र "**परः सन्निकर्षः संहिता**" और आचार्य शौनक का एक सूत्र "**पदप्रकृतिःसंहिता**" उद्धृत किये हैं।

दूसरा सूत्र किसी प्रातिशाख्य का है। भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' के टीकाकार पुष्पराज ने दो बार इस सूत्र को उद्धृत किया है—

(१) इह च पदप्रकृतिःसंहिता इति प्रातिशाख्यम्।
(२) तथा तत्कथं पदप्रकृतिः इति प्रातिशाख्यम्।

आचार्य यास्क ने निरुक्त वेदाङ्ग पर तो कार्य किया ही, कल्प और छन्द वेदाङ्गों पर भी कार्य किया था।

'हारलता' नामक ग्रन्थ में यास्क प्रणीत कल्प का उल्लेख मिलता है।

'ऋक्प्रातिशाख्य' के टीकाकार उव्वट ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

'**तथासर्वछन्दोविचित्यादिभिः पिङ्गलयास्कसैतवप्रभृतिभिर्यत्सामान्येनोक्तं लक्षणम्।**'

इससे स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार पिङ्गल का 'छन्दोविचिति' ग्रन्थ है वैसे ही यास्क और सैतव के भी छन्दशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ थे।

आचार्य यास्क की छन्दशास्त्रीय योग्यता के सम्बन्ध में स्वयं पिङ्गलाचार्य ने लिखा है— **'उरोबृहती यास्कस्य'**, अर्थात् न्यकुसारिणी को यास्क उरोवृहती मानता है। आचार्य पिङ्गल द्वारा यह उल्लेख यास्काचार्य के किसी छन्दशास्त्रीय ग्रन्थ का अवलोकन करने पर ही सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार निरुक्त के विद्वान् आचार्य यास्क वैदिक वाङ्मय के प्रमुख व्याख्याकार सिद्ध होते हैं। आपने निरुक्त को विशेष महत्व दिया। इस कारण भावी पीढ़ी ने निरुक्त और यास्क को अभिन्न मान लिया। इस महत्ता के कारण इससे कभी-कभी निरुक्त का अध्ययन करने वाले यास्क से बाहर नहीं जाना चाहते परन्तु उसमें यास्काचार्य का कोई दोष नहीं है। यास्काचार्य ने स्वयं पूर्व आचार्यों का उल्लेख किया है। अतः निरुक्त में रुचि रखनेवालों को यास्क की प्रवृत्ति का अनुसरण करना चाहिए, स्वयं निरुक्त की प्रवृत्ति को बढ़ाना चाहिए, यही निरुक्त वेदाङ्ग का सन्देश है।

आज की पीढ़ी ने वेदार्थ में निरुक्त की उपयोगिता को छोड़ दिया है, पर इसके अभाव में वेदार्थ का जो अनर्थ हो रहा है वह चिन्ता का विषय है।

यास्काचार्य के निरुक्त को समझने और उसकी उपयोगिता को समझाने के लिए दुर्गाचार्य और स्कन्दस्वामी ने उत्तम टीकाएँ लिखी हैं जिनके नाम हैं (१) दुर्गाचार्यवृत्ति, (२) निरुक्त टीका।

दुर्गाचार्य ने अपनी वृत्ति में अपने पूर्वकालिक टीकाकारों और वृत्तिकारों के उल्लेख किये हैं। इससे स्पष्ट है कि दुर्ग और स्कन्द से पूर्व भी यास्क के निरुक्त पर टीकाएँ की गयी थीं।

आधुनिक युग में महर्षि दयानन्द ने निरुक्त के पठन-पाठन पर विशेष बल दिया और आर्यसमाज द्वारा संस्कृत की पाठ-विधि में निरुक्त को विशेष स्थान दिया गया।

श्री सत्यव्रत सामश्रमी का 'निरुक्तालोचन', श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार का 'वेदार्थ-दीपिका', स्वामी ब्रह्ममुनिजी का 'निरुक्त हिन्दी-भाष्य' आदि निरुक्त की आधुनिक टीकाएँ हैं। इन टीकाओं से निरुक्त वेदाङ्ग के अध्ययन-अध्यायन में विशेष सहायता मिली है। निरुक्त वेदाङ्ग में रुचि उत्पन्न करने के लिए अभी और अधिक प्रयत्न किये जाने की आवश्यकता है।

वेदार्थ के लिए निरुक्त वेदाङ्ग के महत्व को दृष्टि में रखते हुए वैदिक अनुसंधान के क्षेत्र में विशेष कार्य होना चाहिए। वैदिक शब्दों की दुरूहता का निरुक्त-पद्धति से ही भेदन किया जा सकता है। इस दिशा में आर्य शिक्षा-संस्थाओं का, विशेषकर गुरुकुल शिक्षा-संस्थाओं का विशेष दायित्व है। आर्यसमाज की नयी पीढ़ी को निरुक्त के विद्वानों की अत्यन्त आवश्यकता है। आर्यसमाज के वेद-प्रचार की आधार-शिला निरुक्त वेदाङ्ग ही सिद्ध होगा।

निरुक्त का विद्यागीत

•

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूयकायानृजवे ऽयताय
न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥

विद्या विद्वान् के पास आयी और कहने लगी—तुम मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। निन्दक, कुटिल और असंयत के लिए मुझे न दो, तभी मैं शक्ति और सामर्थ्य से युक्त रह सकती हूँ।

य आतृणत्यवितथेन कर्णा-
वदुखं कुर्वन्नमृतं सं प्रयच्छन्।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत्कतमच्चनाह॥

जो बिना पीड़ा देते हुए और मानो अमृत का सेवन करते हुए सत्यरूप ज्ञान से कानों को खोल देता है, शिष्य का कर्तव्य है कि वह उसको पिता और माता के समान आदरणीय समझे और उससे कभी भी द्रोह न करे।

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते
विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीया
तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्॥

जो पढ़ाये गये शिष्य मन-वचन-कर्म से गुरु का आदर नहीं करते हैं, न तो वे गुरु के स्नेह और कृपा के पात्र होते हैं और न उनका विद्याध्ययन ही सफल होता है।

यमेव विद्याच्छुचिमप्रमत्तम्
मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
यस्ते न द्रुह्येत्कतमच्चन नाह
तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन् ॥ (२।४)

हे विद्वन् ! जिसको तुम पवित्राचरण वाला अप्रमत्त, मेधावी और ब्रह्मचर्य से युक्त समझो, जो तुमसे किंचिन्मात्र द्रोह न करे उसी के लिए तुम मुझे दो ।

•

विद्या के बिना इन सांसारिक पदार्थों से सुख नहीं होता, इससे सबको चाहिए कि ईश्वर की उपासना और विद्वानों के संग लोक सम्बन्धी विद्या को पाकर सदा सुखी होवें।

—महर्षि दयानन्द

वेद और छन्दःशास्त्र

श्री सच्चिदानन्द शास्त्री
एम० ए०, विद्या भास्कर
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषं तथा ।
छन्दसा लक्षणं चेति षडंगानि विदुर्बुधाः ॥

वेद के छः अंगों में शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द नाम के वेदांगों में से छन्दःशास्त्र के विषय में कहा गया है कि—

'छन्दः पादौ तु वेदस्य ।'

अर्थात् वेद को एक पुरुष में कल्पित किया जाये तो वेद के छन्द वेद के पैरों के समान हैं अर्थात् जिस प्रकार पादहीन लँगड़ा व्यक्ति चल नहीं सकता या लड़खड़ाकर चलता है ऐसे ही छन्द को गलत ढंग से कर देने पर वह रचना लड़खड़ाने लगती है। इसको हम एक लौकिक उदाहरण देकर समझाते हैं। शिखरिणी छन्द में १७ अक्षर होते हैं। वहाँ ६ अक्षर अलग करके बोले जाते हैं। ६ अक्षर तक बोलकर कुछ विरामपूर्वक लम्बा उच्चारण करो, फिर शेष छन्द बोलो तो बड़ा अच्छा लगेगा। इसके विपरीत बोलकर देख लो, छन्द रचना लँगड़ी लगेगी। उदाहरणार्थ—

'दयानन्दं वन्दे, भुवि सकलपाखण्डदलनम् ।'

ये छन्द दो प्रकार में विभक्त हैं—

(१) लौकिक छन्द, (२) वैदिक छन्द। लौकिक छन्द मात्रा, छन्द आदि भेद से नाना प्रकार के हैं। उनमें से कुछ छन्द प्रचलित हैं और उनके नाम भी रख दिये गये हैं। शेष और छन्द बनाये जा सकते हैं और उनके नाम भी रखे जा सकते हैं पर वे सब मर्यादा में ही हैं। उनकी मात्रा या गुरु-लघु स्थिति निश्चित है। जैसे तीन अक्षर वाले छन्द सात ही बन सकते हैं, इसको प्रस्तार से बनाया जाता है। इन लौकिक छन्दों के ग्रंथ वृत्तरत्नाकर, छन्दोमंजरी, आदि हैं। वे छन्द हमारे प्रस्तुत लेख का विषय नहीं हैं। वैदिक ग्रंथों के विषय में यहाँ लिखना है।

कुछ छन्द-ग्रंथ केवल लौकिक छन्दों का ही वर्णन करते हैं जिनका हमने ऊपर नाम लिखा है। कुछ ग्रंथ वैदिक छन्दों का ही वर्णन करते हैं, जैसे—ऋग्वेद प्रातिशाख्य आदि। पर जयदेव की 'छन्दोविचिति' और 'पिंगल छन्दसूत्र' लौकिक, वैदिक दोनों छन्दों को बताते हैं। पठन-पाठन विधि में महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी ने पिंगल कृत 'छन्दसूत्र' को पाठ्य ग्रंथों में रखा है।

वैदिक छन्दों के ग्रंथ

(१) पिंगल छन्दःसूत्र, और (२) जयदेवकृत 'छन्दःसूत्र' में वैदिक, लौकिक दोनों छन्दों का वर्णन है। इनके अतिरिक्त अनेक ग्रंथ ऐसे हैं जो केवल छन्द-ग्रंथ नहीं हैं, प्रत्युत उन ग्रंथों में और विषयों के साथ वैदिक छन्दों पर भी कुछ पृष्ठ लिखे हैं। पिंगल और जयदेव के ग्रंथ तो केवल छन्द-ग्रंथ ही हैं। जो और ग्रंथ हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—

(३) ऋक्प्रातिशाख्य—कर्त्ता शौनक, (४) ऋक्सर्वानुक्रमणी—कर्त्ता कात्यायन, (५) निदानसूत्र—कर्त्ता पतंजलि, (६) उपनिदानसूत्र—कर्त्ता गार्ग्य, (७) शांखायान श्रौत—कर्त्ता शांखायन, (८) अपने ऋग्वेद भाष्य के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में वेंकट माधव ने कुछ श्लोक लिखे हैं। उसमें एक छदोनुक्रमणी भी लिखी है।

इन उपर्युक्त ग्रंथों में वैदिक ग्रंथों का पूरा वर्णन है।

प्राचीन छन्दःशास्त्र प्रवक्ता

इतिहास के पृष्ठों में अनेक छन्दःशास्त्र निर्माता आचार्यों का पता चलता है जिनके संभाव्य नाम हम नीचे देते हैं—

१. नन्दी। २. गुह। ३. सनत्कुमार। ४. बृहस्पति। ५. इन्द्र। ६. शुक्र। ७. कपिल। ८. माण्डव्य। ९. वशिष्ठ। १०. सैतव। ११. भरत। १२. कोहल। १३. यास्क। १४. रात। १५. कौष्टुकि। १६. कौण्डिन्य। १७. ताण्डी। १८. अश्वतर। १९. कम्बल। २०. काश्यप। २१. पांचाल। २२. शौनक। २३. गरुड़। २४. गार्ग्य। २५. देवनंदी। २६. गणस्वामी। २७. पल्पकीर्ति। २८. दमसागर आदि आचार्य भी छन्दःशास्त्र के प्रवक्ता हुए हैं।

वैदिक छन्दःशास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय

कुछ छन्द लौकिक ही हैं, कुछ छन्द वैदिक ही हैं, पर कुछ छन्द लौकिक-वैदिक साधारण हैं। हम यहाँ केवल वैदिक छन्दों का वर्णन करेंगे। छन्द दो प्रकार के होते हैं—मात्रिक छन्द और अक्षर छन्द। उनके भेद अक्षर-संज्ञा सहित लिखे जाते हैं।

छन्दों के भेद

प्रथम सप्तक

(१) गायत्री २४ अक्षर, (२) उष्णिक् २८ अक्षर, (३) अनुष्टुप ३२ अक्षर, (४) बृहती ३६ अक्षर, (५) पंक्ति ४० अक्षर, (६) त्रिष्टुप् ४४ अक्षर, (७) जगती ४८ अक्षर।

द्वितीय सप्तक

(१) अतिजगती ५२ अक्षर, (२) शक्वरी ५६ अक्षर, (३) अतिशक्वरी ६० अक्षर, (४) अष्टि ६४ अक्षर, (५) अत्यष्टि ६८ अक्षर, (६) धृति ७२ अक्षर, (७) अतिधृति ७६ अक्षर।

तृतीय सप्तक

(१) कृति ८ अक्षर, (२) प्रकृति ८४ अक्षर, (३) आकृति ८८ अक्षर, (४) विकृति ९२ अक्षर, (५) संस्कृति ९६ अक्षर, (६) आमकृति १०० अक्षर, (७) उत्कृति १०४ अक्षर—इत्यादि अनेक भेद छन्दों के हैं।

षड्ज आदि स्वर

स्वर सात होते हैं—

१. षड्ज, २. ऋषभ, ३. गान्धार, ४. मध्यम, ५. पंचम, ६. धैवत, ७. निषाद।

ये जो हमने ऊपर तीन सप्तक छन्दों के लिखे हैं उनमें प्रत्येक सप्तक में ये सात स्वर क्रम से समझें जैसे—गायत्री का षड्ज स्वर, उष्णिक् का ऋषभ स्वर, अनुष्टुप का गान्धार स्वर, बृहती का मध्यम स्वर, पंक्ति का पंचम स्वर, त्रिष्टुप् का धैवत स्वर और जगती का निषाद स्वर है। इसी प्रकार अगले सप्तकों में षड्ज आदि स्वर समझ लें। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने वेदभाष्य में हर मंत्र के साथ उसका छन्द और यह स्वर दिखाया है। वहाँ ध्यान से देख लें। वैदिक यंत्रालय अजमेर के छपे मूल वेदों में भी ये स्वर सब मंत्रों के छपे हुए हैं।

छन्दों में अक्षर न्यूनता या अधिकता

जो ऊपर हमने अक्षर-संख्या प्रत्येक छन्द की दिखायी है, यदि उसमें एक अक्षर कम हो तो उसको निचृत् कहते हैं और यदि दो अक्षर किसी छन्द में कम हों तो उसको विराट् कहते हैं। इसी प्रकार एक अक्षर किसी छन्द में नियत संख्या से अधिक हो तो उसको भुरिक् कहते हैं और दो अक्षर अधिक हों तो उसको स्वराट् कहते हैं। जैसे—गायत्री में २४ अक्षर होते हैं। यदि एक अक्षर कम हो तो उसको निचृद् गायत्री कहते हैं, दो अक्षर कम हों तो उस गायत्री को विराट् गायत्री कहते हैं। इसी प्रकार एक अक्षर अधिक हो तो उसको भूरिक् गायत्री कहते हैं और दो अक्षर अधिक हों तो उसको स्वराट् गायत्री कहते हैं। इसी प्रकार सब छन्दों में समझें।

छन्दोज्ञान से वेदार्थ में सहायता

जिस प्रकार व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगों के ज्ञान से वेदार्थ में सहायता मिलती है, इसी प्रकार छन्द के ज्ञान से भी मंत्र के अर्थ करने में कोई सहायता मिलती है या नहीं, इस विषय में दो मत हैं। स्कन्द आदि वेद-भाष्यकार कहते हैं कि छन्द वेदार्थ में उपयोगी नहीं है। स्कन्द कहता है—

तत्रार्षदेवतयोरर्थावबोधते उपयुज्यमानत्वात् ते
दर्शयिष्येते। न छन्दः, अनुपयुज्यमानत्वात्॥

अर्थात्—अर्थज्ञान के लिए ऋषि देवता तो उपयोगी हैं, उनको तो दिखाया जायेगा, पर

क्योंकि छन्द का अर्थ-ज्ञान में कोई उपयोग नहीं है, अतः वेद भाष्य में छन्दों को दिखाने की आवश्यकता नहीं है।

परन्तु सायण, जयतीर्थ आदि भाष्यकार छन्दोज्ञान को भी वेदार्थ में उपयोगी सिद्धान्त रूप से मानते हैं, पर उसको सिद्ध नहीं कर सके। पं० युधिष्ठरजी मीमांसक ने एक ग्रंथ 'वैदिक छन्दोमीमांसा' लिखा है। उसमें उन्होंने छन्दोज्ञान को वेदार्थ में अत्यन्त उपयोगी माना है।

महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के ग्रंथों के भाष्यकार वेदाचार्य श्री आचार्य विश्वश्रवाः जी ने, स्वामीजी के ऋग्वेद भाष्य की व्याख्या करते हुए जो ऋग्वेद महाभाष्य लिखा है, उसमें उन्होंने न केवल छन्दों को वेदार्थ में सहायक बताया प्रत्युत यह भी बताया कि एकाक्षर न्यूनतादि के कारण जो निचृत् आदि भेद हैं, वे भी मन्त्रार्थ में सहायक हैं। आचार्य विश्वश्रवाः जी के ऋग्वेद महाभाष्य से हम एक उदाहरण देते हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

इस मंत्र में त्रिष्टुप् छन्द है। त्रिष्टुप् छन्द के प्रत्येक पद में ग्यारह अक्षर होते हैं। एक अक्षर कम होने से यह छन्द निचृत् है। वह एक अक्षर तब पूरा होता जब कि सन्धि को पृथक् करके इस प्रकार किया जाये—

'बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।'

अतः 'बहुधा वदन्ति' अलग वाक्य है और आगे दूसरा वाक्य है तथा दोनों के पृथक्-पृथक् विषय हैं। इस प्रकार नाना प्रकार से छन्दों के ज्ञान से वेदार्थ में सहायता मिलती है। पाद की समाप्ति पर प्रत्येक बार अर्थ समाप्ति मानना और फिर दूसरे पाद के शब्द की अनुवृत्ति मानना कोई विशेषता नहीं है। प्रत्येक अवस्था में छन्द वेदार्थ में सहायक अवश्य है।

पिंगल रचित छन्दसूत्रों की रचना आरम्भ से इस प्रकार की है कि उसमें कुछ उपदेश भी हैं, जैसे—

'धी श्री स्त्री'—अर्थात् जब बुद्धि होगी तब सम्पत्ति होगी, जब सम्पत्ति होगी, तभी गृहस्थ जीवन सम्भव है, इत्यादि विशेषता छन्दोज्ञान के साथ-साथ सूत्रों में है। ऋषियों की प्रत्येक रचना मनुष्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट होती ही है।

वेदार्थ के लिए छन्दःशास्त्र का ज्ञान अत्यधिक आवश्यक उपयोगी और अनिवार्य है। आर्यसमाज के विदन्मण्डल को छन्दःशास्त्र की शिक्षा को व्यावहारिक बनाने का प्रयास करना चाहिए।

वेदांग ज्योतिष की उपयोगिता

श्रीमती सुधा स्नातिका

वेदार्थ के लिए ज्योतिष वेदांग के महत्व को स्वीकार किया जाता है।

वेदांगों का महत्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है—

शब्दशास्त्रं मुखं ज्योतिषं चक्षुषी श्रोतमुक्तं निरुक्तं च कल्पः करौ।
या तु शिक्षास्य वेदस्य सा नासिका पादपद्मद्वयं छन्द आद्यैर्बुधैः॥

प्राचीन विद्वानों ने बताया है कि वेदरूपी शरीर के लिए व्याकरण मुख के, ज्योतिष नेत्रों के और निरुक्त श्रोत्रों के तुल्य है, कल्प हाथों के समान है और शिक्षा नासिका सदृश है, तथा छन्द वेद के पैर तुल्य हैं।

इसी प्रसंग में ज्योतिष के महत्व की चर्चा इन शब्दों में की गयी है—

वेद चक्षुः किलेदंस्मृतं ज्योतिषं मुख्यता चांगमध्येऽस्य तेनोच्यते,
संयुक्तोऽपीतरैः कर्णनासादिभिश्चक्षुषांगेन हीनो न किंचित्करः॥

ज्योतिषशास्त्र वेद शरीर का चक्षु है, अतः वेदांगों में इसको मुख्यता दी जाती है। जिस प्रकार कोई कान, नाक आदि अंगों से युक्त होते हुए भी नेत्रहीन होने के कारण अकिंचित्कर ही बना रहता है, उसी प्रकार अन्य वेदांगों का ज्ञाता होने पर भी ज्योतिष न जानने वाला विद्वान् वेदार्थ में पूर्ण सफल नहीं हो सकता।

यदि ज्योतिष वेदांग को प्रधानांग न मानकर अन्य अंगों के समान ही समझा जाये तब भी ज्योतिष का अपना महत्व बना ही रहेगा। वेदार्थ के लिए ज्योतिषशास्त्र का अध्ययन करना ही चाहिए।

ज्योतिष का अर्थ—द्युत दीप्तौ धातु से "द्युतेरिसिन्नादेश्च जः"। इस सूत्र से ज्योतिष शब्द सिद्ध होता है। जो विद्या ज्योतियों का विवरण प्रस्तुत करे, वह ज्योतिषशास्त्र है। इस आधार पर ज्योतिषशास्त्र की विषयवस्तु है—सृष्टि-विज्ञान।

सृष्टि के आरम्भ में परमाणुओं में गति, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि का निर्माण, सूर्य, पृथ्वी आदि का आकार तथा गतियाँ, आकर्षण शक्ति, दिवस-रात्रि, ऋतुएँ, सर्वत्र एक समान ऋतुओं का अभाव क्यों? समुद्र क्या है? समुद्र में ज्वार-भाटा क्यों? अन्य तूफान आदि क्यों?

चन्द्रमा-उदय, वृद्धि, क्षय, पुच्छल तारे, उल्कापात, अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन), वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प, महाकल्प, प्रलय, महाप्रलय, आकाशगंगा, नक्षत्र आदि का परिज्ञान ज्योतिष-शास्त्र का विषय है।

प्रकाश क्या है? ज्योति का स्वरूप, प्रकाश की गति, प्रकाश की सीमा, विद्युत् शक्ति, आकाश आदि वैज्ञानिक बातों का सम्यक्ज्ञान ज्योतिष के अन्तर्गत है।

ज्योतिष शास्त्र के इस महत्व को दृष्टि में रखते हुए महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखा है—

"दो वर्ष में ज्योतिषशास्त्र, सूर्यसिद्धान्तादि जिसमें बीजगणित, अंकगणित, अंक, भूगोल, खगोल और भूगर्भ विद्या है इसको यथावत् सीखें।" (तृतीय समुल्लास)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि ज्योतिषशास्त्र का व्यापक क्षेत्र है और वैदिक विज्ञान के समझने और वेदार्थ के अनुसार क्रियात्म कर्मकण्ड में ज्योतिष का अपना विशेष महत्व है। परन्तु खेद है कि जैसे वेदों की उपेक्षा हुई वैसे ही वेदांगों की भी उपेक्षा हो गयी। संस्कृत भाषा का वैदुष्य केवल व्याकरण और दर्शन तक ही सीमित रह गया और उसमें भी अनार्ष पद्धति ने आर्ष साहित्य को उपेक्षित बना दिया।

अन्य वेदांगों की भाँति ज्योतिष के अध्ययन की भी उपेक्षा हुई। यही नहीं, ज्योतिष को केवल भविष्यज्ञान का शास्त्र मानकर उससे समाज में अन्ध-विश्वासों का प्रसार किया जाने लगा। भविष्यज्ञान की मिथ्याकल्पना ने मानव-जाति के मानसिक पतन का कार्य किया है और अधिकांश शिक्षित समाज भी अशिक्षितों की भाँति—हस्तरेखा, अंग लक्षण, तिल, जन्मपत्रिका, मुहूर्त, तिथि, ग्रह, नक्षत्र, राशि, शकुन, प्रश्न, स्वप्न आदि के भ्रमजाल में भटक रहा है। वास्तव में ज्योतिष का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है। हम जीवन के प्रत्येक कार्य का समय निर्धारण करते हैं, प्रत्येक नैत्यिक, नैमित्तिक कार्य के साथ समय का सम्बन्ध सुस्पष्ट है और समय का सम्बन्ध ज्योतिष से है। अतः ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। इस व्यावहारिक उपयोगिता के साथ-साथ वैदिक ज्ञान-विज्ञान में ज्योतिष ज्ञान की आवश्यकता सुस्पष्ट है, इसी कारण ज्योतिष को वेद का नेत्र बताया गया है।

आर्यसमाज ने महर्षि दयानन्द की भावना के अनुसार फलित ज्योतिष के अन्ध-विश्वास को दूर करने का व्यापक प्रचार किया परन्तु साथ ही इस बात का खेद भी है कि ज्योतिषशास्त्र के अध्ययन की व्यापक उपेक्षा हुई है।

श्री गंगाप्रसाद एम० ए०, रिटायर्ड चीफ जज ने 'सूर्य सप्ताश्व रश्मि' और 'ज्योतिष-चन्द्रिका' आदि कुछ पुस्तकें लिखीं। श्री वेदव्रत मीमांसक का 'ज्योतिष-विवेक' ग्रन्थ भी उत्तम ग्रन्थ है। परन्तु इतने से ही ज्योतिष वेदांग के अध्ययन का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। इस दिशा में व्यापक चिन्तन और संयोजन की आवश्यकता है।

गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की पाठ-विधि में एक बार जब श्री आचार्य विश्व-श्रवाजी प्रस्तोता थे, अधिकारी परीक्षा के विषयों में ज्योतिष को सम्मिलित किया गया, परन्तु बाद में उसमें भी परिवर्तन कर दिया गया। सम्भवतः इस समय किसी भी आर्य शिक्षा-संस्था में ज्योतिष वेदांग के अध्ययन और अध्यापन की व्यवस्था नहीं है। इस विषय में गम्भीर विचार और योजना की आवश्यकता है।

ज्योतिष के नाम पर आज जो व्यापक अन्ध-विश्वास है, उनका खण्डन करने के लिए

हमें वास्तविक ज्योतिष के प्रचारक विद्वान् तैयार करने चाहिए ।

ज्योतिष वेदांग विज्ञान के प्रयोजन

ज्योतिष वेदांग के क्या प्रयोजन हैं ? इसके अध्ययन से हम क्या लाभ उठा सकते हैं ? इस प्रकार गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए हमें महर्षि दयानन्द की निम्न पंक्तियाँ ध्यान में आ रही हैं—

"अनेकानेक करोड़ों भूगोल, सूर्य, चन्द्रादि लोक निर्माण-धारण, भ्रामण, नियम में रखना आदि परमेश्वर के बिना कोई भी नहीं कर सकता।"

(सत्यार्थप्रकाश, समुल्लास ८)

"जो विद्यादि उत्तम गुणों का देने वाला परमेश्वर है उसी के जानने के लिए सब जगत् दृष्टान्त है।"

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, पृथिकाकर्षण भ्रमण विषय)

इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि ज्योतिष द्वारा सृष्टि विज्ञान मानव-हृदय में आस्तिकता की भावनाओं को सुदृढ़ करता है।

ज्योतिष के प्रयोजनों की चर्चा करते हुए 'ज्योतिष-विवेक' नामक ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रयोजन दिये गये हैं—

(१) सृष्टिविज्ञान, (२) आस्तिक्य भावना, (३) तत्वज्ञान, (४) अघमर्षण, (५) वेदार्थज्ञान, (६) वैदिक लौकिक शब्दज्ञान, (७) वेदनित्यत्वज्ञान, (८) वेदरक्षा, (९) ऊह, (१०) आगम, (११) लघ्वर्थम्, (१२) असन्देहार्थम्, (१३) दिग्विज्ञान, (१४) देश-ज्ञान, (१५) काल-ज्ञान, (१६) गणित ज्ञान, (१७) देशभक्ति (ज्योतिषशास्त्र के उच्चकोटि के राष्ट्रीय विद्वानों आर्यभट्ट, यास्कराचार्य आदि पर गर्व तथा राष्ट्र गौरव की अनुभूति), (१८) फलित का अन्धकार निवारण (फलित ज्योतिष के नाम पर ग्रहण आदि के अन्धविश्वासों का निराकरण), (१९) शिल्पविज्ञान (ज्योतिष सिद्धान्तों के क्रियात्मक ज्ञान-विज्ञान के लिए यन्त्रों का निर्माण करने के लिए उच्चकोटि का शिल्पविज्ञान विकसित करना पड़ता है), (२०) लोक-लोकान्तर गमन (आधुनिक वैज्ञानिक चन्द्रलोक यात्रा कर चुके हैं; मंगल, बृहस्पति, शुक्र आदि की यात्रा के लिए मानव प्रयत्नशील है), (२१) अन्तरिक्ष में उपग्रह संचार व्यवस्था, (२२) इतिहास कालनिर्णय—गणित ज्योतिष द्वारा वर्णित तिथि, मास, नक्षत्रादि के समय का ज्ञान करके इतिहास की घटनाओं का निर्णय।

इस प्रकार ज्योतिष के वास्तविक अर्थों और प्रयोजनों का ज्ञान सर्वसाधारण को कराना शिक्षा-शास्त्रियों का कार्य है। आधुनिक समय में ज्योतिष-विज्ञान की बहुत सी बातें विज्ञान विषय के अध्ययन-अध्यापन में बतायी जाती हैं, परन्तु प्राचीन भारतीय भी इन वैज्ञानिक तथ्यों को जानते थे, इस बात की घोर उपेक्षा की जाती है।

पृथ्वी की आकर्षण शक्ति, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र की गतियाँ—इन तथा ऐसे ही अन्य आवश्यक विषयों पर पहले बहुत व्यापक चिन्तन और कार्य हुआ है। इस सबका परिज्ञान ज्योतिषशास्त्र के इतिहास रूप में प्रत्येक भारतीय को कराया जाना चाहिए। विशेषकर आर्य शिक्षासंस्थाओं में प्राचीन भारत की गौरवगाथा को महत्व मिलना चाहिए। आर्यसमाज के प्रार-

म्भिक युग में शिक्षा-संचालकों ने इस भावना को ध्यान में रखा और बढ़ाया, परन्तु आज इसकी उपेक्षा हो रही है। संचालकों में परिषद्, विश्वविद्यालयों के निर्धारित पाठ्यक्रमों से बाहर जाकर अपना दृष्टिकोण छात्रों तक पहुँचाने का उत्साह शिथिल हो चुका है। आर्यसमाज के, वैदिक शिक्षा के, भारतीय शिक्षा के गौरव की स्थापना के लिए आवश्यक है कि ज्योतिष विज्ञान के रहस्यों और उनके प्राचीन अनुसंधानों का परिचय हम नयी पीढ़ी को करायें।

ज्योतिष के नेत्र से वेदार्थ तो प्रकाशित होगा ही, भारत का गौरव भी प्रकाशित होगा तथा समाज में संव्याप्त फलित ज्योतिष की मिथ्या-भावना भी समाप्त हो सकेगी।

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥
(अथर्ववेद ॥१८।१।४१॥)

विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदरपूर्वक वेद विद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं।

वैदिक धर्म और वेद की महिमा

श्री सुरेशचन्द्र वेदालंकार
एम० ए०
गोरखपुर

'वैदिक धर्म' शब्द वैदिक और धर्म शब्दों से मिलकर बना है। वैदिक शब्द का भाव है वेदोक्त या वेद प्रतिपादित विचार। वेद प्रतिपादित विचार ही मनुष्य के लिए आवश्यक कर्तव्य हैं। इसलिए वेदोक्त कर्तव्यों को हम वैदिक धर्म कह सकते हैं। इन दोनों शब्दों को समझने के बाद हमें वैदिक धर्म क्या है, यह विषय स्पष्ट हो जायेगा। वेदोक्त कर्तव्य ही मानव को मानव और महान् बना सकते हैं। यही कारण है कि स्वामी दयानन्दजी ने आर्यसमाज के जो १० नियम बनाये उनमें 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।' माना है। 'धर्म' शब्द संस्कृत भाषा का है। 'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूपों में की गयी है—

(१) **धरति बिश्वं यः स धर्मः**=जो विश्व को धारण करे वह धर्म है।
(२) **ध्रियतेऽधः पतन पुरुषोऽनेनेति धर्मः**=जो नीचे गिरने वाले पुरुष की रक्षा करे, वह धर्म है।
(३) **ध्रियते जनैरिति धर्मः**=जो मनुष्यों के द्वारा धारण किया जाता है, वह धर्म है।
(४) **धरति लोकानिति धर्मः**=जो लोकों को धारण को वह धर्म है।
(५) **धरतीति धर्मः**=जो धारण करे वह धर्म है।

धर्म की परिभाषाएँ भी अनेक की गयी हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

(क) **श्रुति स्मृतिर्विहितो धर्मः** (वा० ध०)—श्रुति और स्मृति में जो विधान किया गया है, वह धर्म कहलाता है।

(ख) **चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः** (पूर्व मीमांसा १/१/२) वेद में विधिवाक्य के द्वारा जो बतलाया गया है, वह धर्म है। इसको स्पष्ट रूप में इस प्रकार कह सकते हैं कि जैसे वेद ने या आचार्य ने आज्ञा दी कि यह कार्य करो, हम करने लगते हैं। वेद ने कहा 'यज्ञ करो, सत्य बोलो' यजमान यज्ञ करने लगा, हम सत्य बोलने लगे, यह वैदिक धर्म है।

(ग) **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वैशेषिक दर्शन १/२)—अर्थात् जिससे इस लोक में अभ्युदय और परलोक में मोक्ष की प्राप्ति हो, वह धर्म है।

(घ) **वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद् विपर्ययः** (श्रीमद्भागवत्, ६/१/४०)—अर्थात् वेद ने जिन कर्मों का विधान किया है, वे धर्म और उनके विपरीत अधर्म हैं।

(ङ) **श्रुतिस्मृतिविहितः श्रेय सम्पादको धर्मः**—वेद और स्मृति से विहित, मोक्ष को देने वाला धर्म कहलाता है।

(च) **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।**
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणाम्॥

(मनु०, २/१२)

वेद, स्मृति (धर्मशास्त्र), सदाचार और अपनी आत्मा को प्रिय लगने वाला कार्य करना—यह चार प्रकार का धर्म का साक्षात् लक्षण कहा गया है।

(छ) **धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।**
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत, कर्ण पर्व, ६९-५८)

सृष्टि को धारण करने से धर्म कहा जाता है। धर्म प्रजा को धारण करता है। जो धारण के साथ रहे वह धर्म है, यह निश्चय है।

(ज) महाभारत में व्यास जी ने धर्म का सार बतलाया है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

अर्थात्—धर्म का सर्वस्व सुनो और सुनकर उसको धारण करो। वह तत्व है कि जो व्यवहार हमें अपने प्रति अच्छा नहीं लगता वह हम दूसरों से न करें।

(झ) **धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।**
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

धृति, क्षमा, दम (अपने मन को वश में रखना), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाह्य और आभ्यन्तर की पवित्रता), इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों को वश में रखना), धी (बुद्धि), विद्या, सत्य और अक्रोध—ये १० धर्म के लक्षण हैं।

(ञ) याज्ञवल्क्य स्मृति में आचार अध्याय १२२ में कहा गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, दान, दया, दम और क्षान्ति (अपनी हानि होने पर भी क्रोध न करना)—ये सभी के लिए धर्म कहे गये हैं।

धर्म के ये सभी लक्षण वेदोक्त हैं। इसीलिए महाभारत (वन पर्व २०७/८३) में कहा गया है—"**वेदोक्तः परमो धर्मः**"—वेदोक्त धर्म श्रेष्ठ धर्म है। यही वैदिक धर्म है जो जीवन के लिए आवश्यक है। अतः वेद सार्वकालिक, सार्वभौम है और वह मानव मात्र का कल्याण करने वाला है। वेदों का अध्ययन करने वाले, उसका मनन करने वाले, उसका निदिध्यासन करने वाले चिन्तक कहते हैं—"वैदिक धर्म को बतलाने वाला वेद आर्य सभ्यता एवं वैदिक संस्कृति का मूल आधार है। वेद सार्वभौम एवं शाश्वत ज्ञान-विज्ञान का उज्ज्वल धाम है। वेद सम्पूर्ण आर्य वाङ्मय का प्राण है। वह भक्तिरस की मन्दाकिनी और उच्च गंभीर विचारों का सुखद आवास है। वेद में ओज, तेज और वर्चस्व की राशि है। वेद ब्राह्मणों का गान और रणाङ्गण का विहाग

है। वेद में दिग्-दिगन्त को पावन करने वाले उदात्त उपदेश हैं। वेद में मानवता के विद्रोहियों में हड़कम्प मचाने वाले आदेश हैं। वेद अत्याचारियों और अनाचारियों को ध्वस्त करने वाला मानवों का ब्रह्मास्त्र है। वेद मानव के समस्त उच्च गुणों की क्रीड़ा-स्थली है। वेद में आधिभौतिक उन्नति की चरम सीमा है, आधिदैविक अभ्युदय की पराकाष्ठा है और आध्यात्मिक उन्नयन का चूड़ान्त रूप है।"

वेद सभी धर्मों का मूलाधार है। संसार के सभी सत्कर्मों का आधार है। वेदों द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म मानवता का उपदेष्टा है। वैदिक धर्म सम्प्रदाय नहीं, वह समाज में विभेद और विषमता का विरोधी है। उसी वैदिक धर्म का अनुकरण करते हुए वैदिक धर्म के वास्तविक स्वरूप पर स्वामी दयानन्द ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के ग्यारहवें समुल्लास में प्रश्नोत्तर रूप में प्रकाश डाला है और कहा है—सुनो लोगो ! सत्य भाषण में धर्म है या मिथ्या में ? सब लोग एक स्वर से बोले—सत्य भाषण में धर्म और असत्य भाषण में अधर्म है। वैसे ही विद्या पढ़ने, ब्रह्मचर्य करने, पूर्ण युवावस्था में विवाह, सत्संग, पुरुषार्थ, सत्य व्यवहार आदि में धर्म और अविद्या ग्रहण, ब्रह्मचर्य न करने, व्यभिचार करने, कुसंग, आलस्य, असत्य व्यवहार, छल, कपट, हिंसा, पर-हानि करने आदि कर्मों में ? सबने एक मत होके कहा कि विद्यादि के ग्रहण में धर्म और अविद्या आदि के ग्रहण में अधर्म। स्वामी दयानन्द ने कहा, "तुम इसी प्रकार सब जने एक मत सत्यधर्म (वैदिक धर्म = वेदोक्त) की उन्नति और मिथ्या मार्ग की हानि क्यों नहीं करते हो ?"

इसलिए वैदिक धर्म का वास्तविक स्वरूप यही है। गीता, उपनिषदें, स्मृतियाँ आदि तो वैदिक धर्म की व्याख्याएँ हैं। वेद के मंत्रों की विस्तृत व्याख्याएँ हैं। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय है। उसके—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः माभृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथे तोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

गीता—जिसके सैकड़ों संस्करण हो चुके हैं, जिसकी प्रशंसा संसार के उद्भट विद्वान् करते हैं, जिसका सांस्कृतिक प्रभाव विश्व की अनेक भाषाओं और देशों में पड़ा है और जिसने लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी के समान महापुरुषों के जीवन आदर्श बनाये हैं—सम्पूर्णानन्दजी के शब्दों में, उपरिलिखित दो मंत्रों की व्याख्या मात्र है।

साधारणतः लोग यह समझते हैं कि संसार को छोड़कर, जंगल में बैठकर 'ओ३म्'-'ओ३म्' जपना ही धर्म है और वैदिक धर्म या वेद इसी का प्रतिपादन करते हैं, पर यह ठीक नहीं। वेद आधिभौतिक उन्नति की प्रेरणा देता है। आधिभौतिक सुखों के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। ऋगवेद (१।११।८ मंत्र) में कहा है—

इन्द्रमीशानभोजसाभि स्तोमा अनूषत।
सहस्त्रं यस्य रातय उत वा सन्ति भूयसीः॥

हे मनुष्यो ! हम-तुम सब मिलकर उस परमात्मा का यशोगान करें जो इस जगत् का ईश है और जिसके दान हम लोगों को सुख पहुँचाने के लिए अनन्त हैं। देखो, इस पृथ्वी पर

कितने प्रकार के अन्न, फल, कन्द, मूल, वृक्ष, लता औषधियाँ विद्यमान हैं। कितने दूध देने वाले पशु, इनके अतिरिक्त नदी, समुद्र, पर्वत इत्यादि तथा आकाश में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, मेघ इत्यादि शतशः पदार्थ हमें सुख दे रहे हैं।

अथर्ववेद (१६/६/१) में कहा गया है—

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्।

अर्थात्, आज हमने जीत लिया है। आज हमने धन प्राप्त कर लिया है। आज हम पाप-रहित हो गये हैं।

अथर्ववेद (१६/४/१) में आया है—

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्।

अर्थात—हमारे चारों ओर धनधान्य हो और समान विचार वाले लोग भी चारों ओर रहें और मैं उनका केन्द्र बनकर रहूँ।

वेद में आधिभौतिक उन्नति के लिए विमानों आदि का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के १/११२/२ मंत्र में 'अश्वरहित रथ' का वर्णन है। ४/३६/१ मंत्र में आकाशचारी रथ का उल्लेख है। इसी प्रकार जल-जहाज आदि भौतिक उन्नति का उल्लेख भी वेदों में है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए मंत्र आते हैं। यजुर्वेद के २२-२२ मंत्र में "**आ राष्ट्रे राजन्यो शूर इषव्योऽति व्याधि महारथो जायताम्**" मंत्र में कहा गया है हमारे राष्ट्र में क्षत्रिय वीर, धनुर्धर और लक्ष्य-भेदी हों। ऋग्वेद के छठे मंडल के ७५वें सूक्त के १६ मंत्रों में रणाङ्गण और शास्त्रास्त्रों का बड़ा साहसिक और मार्मिक वर्णन है। वेद ने विज्ञान को भी धर्म में माना। परन्तु धर्म क्या है? धर्म क्या हिन्दू, मुसलमान और ईसाई है? नहीं, वेद सार्वभौम और सार्वकालिक सत्य और ऋत आदि के पालन पर जोर देता है। इस प्रकार वेद और वैदिक धर्म की महत्ता का निस्सन्देह प्रमुख क्षेत्र है, आधिभौतिक और आधिदैविक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति। इतना ही नहीं, वेदों का एक उच्चतम राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी है, जिसे न श्रद्धा के अवलंब की अपेक्षा है, न वैदिक याज्ञिक निष्ठा की। वैदिक मंत्रों, वैदिक ऋषियों और वैदिक मनीषियों की वाणी में हमें धर्म की मूल प्रेरणाओं का स्फुरण मिलता है—धर्म का वह रूप जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक नैतिकता के कारण अनुभूत और ग्राह्य है। धर्म की व्यापकता के विषय में कहा गया है—

ध्रुवां भूमि पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां, स्तोनामनुचरेम विश्व हा॥

(अथर्ववेद, १२/१)

अर्थात्, यह ध्रुव और अचल भूमि, यह पृथ्वी जो धर्म द्वारा धारण की गयी है, हम उस शिव सुखदायिनी भूमि पर विश्वात्मना विचरण करें। वैदिक ऋषियों ने धर्म को जीवन-यात्रा के लिए उपयोगी बताया है। **'सुगा ऋतस्य पन्था'** (ऋ० ८-३-१३)—धर्म का मार्ग सुख से गमन करने के योग्य है। **'सत्यस्य नावः सुकृतमपीपरन्'** (ऋ० ६-७३-१)—सत्य की नाव ही धर्मात्मा को पार लगाती है। **'मा जीवेभ्यः प्रमदः'** (अथर्व० ८-१-७)—जीवों के प्रति प्रमादी मत बनो।

अर्थात् अहिंसा का पालन करो। **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'** (यजु० ४०/१)—लालच मत करो; धन किसका है ? **'यतेमहि स्वराज्ये'**(ऋ० ५-६६-६)—हम स्वराज्य (आत्मा के राज्य) के लिए सदा प्रयत्नशील रहें। **'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इति स तस्य'**—जो स्वार्थी है उसका अन्न उपजाना व्यर्थ है। इस प्रकार का स्वार्थपूर्ण उत्पादन ही उसका संहार करता है। **'नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋ० १०-११७-६) —जो धन को न धर्म में लगाता है, न अपने मित्र को देता है जो केवलादी=अपना ही पेट पालने वाला है, वह 'केवलाध' साक्षात् पापमय है। **'शतहस्त्र समाहर सहस्त्र हस्य संकिरः** (अ० ३-२४-५)—सैकड़ों हाथों से इकट्ठा करो और हजारों से बाँट दो। **'समानी प्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि'** (अ० ५-१९-६) — तुम लोगों का पानी समान हो, तुम्हारा अन्न समान हो, तुम सबको समान बन्धन में बाँधता हूँ, तुम एक-दूसरे के साथ संबंधित रहो। **'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्नया'**—आप सबके बीच से विद्वेष को हटाकर मैं सहृदयता सामनस्य को प्रदान करता हूँ। आप सब एक-दूसरे से इस प्रकार प्रेम करें जैसे गौ-बछड़े से प्रेम करती है। **'न ऋते श्रान्तस्य साख्याय देवाः'** (ऋ० ४-३३-११)—बिना पुरुषार्थ के देवों की मैत्री प्राप्त नहीं होती है। **'कृते मे दक्षिणे हस्ते जयोमे सव्य आहितः'** (अ० ७-५२-८)—पुरुषार्थ मेरे दाहिने हाथ में और जय बायें हाथ में है।

यह वैदिक धर्म का स्वरूप है। यह उसकी वेदोक्त महिमा है। क्या इससे बढ़कर कोई मानव धर्म है ? क्या कोई राजनैतिक सिद्धांत है ? क्या गांधीवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद या अन्य कोई वाद मानवता को इससे बढ़कर सन्देश दे सकता है ?

एक विद्वान् का विचार है—

"सचमुच वैदिक धर्म का स्वरूप स्पष्ट करने वाला वेद ईश्वर की विमल वाणी है और मानव तथा विश्व के उद्धार के लिए ही उसका अवतरण हुआ है। वेद की वाणी पारिजात से भी अधिक सुगन्धमय और स्फुटिक मणि से भी अधिक शुभ्र है। वेद के किसी मंत्र में कुरुक्षेत्र का भैरव रव है, किसी में वीरों की भयंकर हुंकार है, किसी में रणचंडी का प्रचण्ड अट्टहास है, किसी में समरभूमि का विकट चमत्कार है, किसी में दिव्य शक्ति है और किसी में ब्रह्म-तत्व का ललित विलास है।"

वैदिक धर्म का मूल वेद है। वेद ईश्वरीय वाणी है। वैदिक धर्म का आधार सत्य है। वैदिक धर्म का आधार अहिंसा है। वैदिक धर्म का अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। वैदिक धर्म यम-नियमों का उपदेष्टा है। वैदिक धर्म **मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे'** के उदात्त आदर्श का प्रतिपादक है। आइये, इस धर्म के पालन का व्रत लें।

●

यजुर्वेद में पुरुषार्थ चतुष्ट्य

•

श्री रमेश वाचस्पति
व्याकरण एवं साहित्याचार्य
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस

"यजुर्वेद—माध्यन्दिनी संहिता एक विशाल विटप के समान है। जिसके ४० अध्याय शाखा स्वरूप हैं। एक सौ प्रशाखाएँ, १९७५ मन्त्र मधुप, जिनके १२३१ ग्वंकार गुञ्जार कर रहे हैं। जिसमें चार फल-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। ९०९२५ वर्णाक्षर हैं। इस वेद का सृष्टि-भर में जयघोष हो, जिससे प्राणी मात्र के कल्याण की कामना आविर्भूत हो रही है।" 'बोधायन श्रौतसूत्र' के इस उद्धरण में तथा 'चरणव्यूह' में यजुर्वेद की गौरव गरिमा स्पष्ट की गयी है। जैसे कि निम्न पद्य कह रहा है—

सद्वेदो यजुराख्यवेदविटपी—
जीयात् स माध्यन्दिनिः।
शाखा यत्र युगेन्दुकाण्ड सहिता।
धर्मार्थकामाः फलम्॥
मोक्षश्चापि विभाव्यतेऽत्रशरशै—
लाङ्क्रेन्दुभिर्ऋग्दलैः।
पञ्चद्वीषनभोङ्कवर्णमधुपैः
खाग्न्यर्कगुङ्गुञ्जितैः॥

वेद मानवता के मूल की आधारभूमि है। यजुर्वेद की तुलना विषयों के बाहुल्य के कारण, सागर से भी की गयी है। ऋषियों ने इसका मन्थन कर १४ यज्ञरूपी रत्न निकाले हैं।

यजुः समुद्रे मथिते पुरः सुरैः
पुरातनैस्तैः सनकादिसाधकैः।
चतुर्दशैर्वेष्टिसुयज्ञपञ्चकै
महानयं रत्नचयः स्थिरीकृतः॥

चरण व्यूह व्याख्या के अनुसार ये १४ यज्ञ-रत्न इस प्रकार हैं—

५ महायज्ञ पक्षेष्टियाँ, २ ऋत्विष्टियाँ, २ विश्वजित्, अश्वमेध-उपसत्-गोमेध-

वाजपेय—५ यज्ञ=१४। इसे अध्वर्युवेद भी कहते हैं। इन रत्नों की शोभा का विवरण इनके नामों से ही सिद्ध है। वस्तुतः यज्ञ का महत्व घी, सामग्री की अधिकता पर उतना अवलम्बित नहीं है जितना कि उसकी विधि-संपन्न उपयोगिता पर होता है। पाँच महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, अतिथियज्ञ, पितृयज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ आते हैं। इनका महत्व तो अश्वमेधादि यज्ञों से भी अधिक है। इसीलिए इन्हें महा के विशेषण से विशिष्ट करके महायज्ञ शब्द से सम्बोधित किया जाता है।

एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद् विधिपूर्वकम्। (मनु०)

अश्वमेधादि तो नैमित्तिक यज्ञ हैं। उनका विधान भी नैमित्तिक है। नित्य के पुरोगम का महत्व स्वतः अधिक होता है। एक व्यक्ति नित्य स्नान, दन्त धावन करके मोती से चमकते दाँतों के मुखमण्डल से शोभा पा सकता है। नित्य दाँत साफ करने में उसे दो मिनट प्रतिदिन लगते हैं। यदि वह कई महीनों-वर्षों में पीले-बुरे मैले दाँतों को चाक़ू की नोक से खुरचकर श्वेत करना चाहे तो उसे पर्याप्त समय लगाना होगा। पर्याप्त श्रम के बाद दाँतों को श्वेत कर पायेगा। अतः नित्य कार्य की महत्ता अपरिहार्य सत्य है।

यजुर्वेद के यज्ञ 'इष्टियाँ' तथा 'महायज्ञ' विश्व-भर के प्राणिमात्र के कल्याणार्थ हैं। यह प्राणि वर्ग दो प्रकार का है—

१. द्विपात् २. चतुष्पाद्—२ पैर वाले तथा चार पैर वाले जीव। यहाँ कोई तर्क कर सकता है कि वेद में स्थान-स्थान पर यह उल्लेख है कि "ईश्वर द्विपद तथा चतुष्पदी पर शासन करता है"—**"य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः"**, **"शं नो अस्तु द्विपदे—शं चतुष्पदे"** तो ६ पैर वाले षट्पद (भौंरा), शतपदी (कांतर), गिजाई पादि एवं अष्टपदी (मकड़ी) क्या उसके शासन के बाहर हैं? क्या ईश्वर की कृपा से ये रहित हैं? यह प्रश्न पर्याप्त सुसंगत प्रश्न है। इसका सदुत्तर स्वयं ही वेद देता है क्योंकि **'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे'**—वैशेषिक वेद का प्रत्येक वाक्य बुद्धिपूर्वक निर्मित है। अतः 'पद' शब्द के वाच्यार्थ पर ध्यान देने से हमें इसका उत्तर मिल जाता है।

पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्याङ्घ्रि वस्तुषु मेदिनी-
पद्यते गम्यते, आश्रीयतेऽनेनेति पदम्।
(निरुक्त निघण्टु)

पद का अर्थ है आधार, आश्रय, पैर, खण्ड इत्यादि। जिनके आधार पर प्राणी संसार में आता है, जिन पर अवलम्बित हो अपने जीवन के दिन काटता है, वह आधार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मात्र चार हैं। पर इनके अधिकारी-भेद से केवल दो भेद बनते हैं। पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, सरीसृप, जलचर, नभश्चर, भूधर, वृक्ष, लता, तृण, वीरुध, शाखप, पादप—केवल अर्थ, काम, इन दो आधारभूत पदों पर निर्भर हैं। चाहे स्थूल पैर १०० भी हों, कांतर गिजाई जैसी शतपदी, भ्रमर तथा मकड़ी अर्थ व काम में ही लिप्त मिलेंगे। अतः मानव ही एकमात्र चतुष्पद प्राणी है जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का आधार लेकर संसार में आता है। शतायु दीर्घजीवन पा सकता है। संसार का सदुपयोग या दुरुपयोग अपनी बुद्धि से करने में समर्थ है। अतः कहा भी गया है—

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव, तस्य जन्मनिरर्थकम् ।।

इससे यह स्पष्ट है कि मानव चतुष्पद है। शेष प्राणधारी द्विपद हैं। अतः यह कल्याण प्रार्थनाएँ—द्विपदे चतुष्पदे—के लिए की जाती हैं। धर्म की परिभाषा मीमांसा दर्शन में की गयी है—

चोदना लक्षणो ऽर्थो धर्मः। (मीमांसा १-१)
यतोऽभ्युदय निःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः।

अर्थात् जिससे प्रेरणा अर्थात् आगे बढ़ने का उत्साह मिलता है वह धर्म है। मानव धर्मशास्त्र में धर्म के अंतरंग लक्षण ४ तथा बाह्य लक्षण १० बताये गये हैं। 'धर्म प्राणियों की तथा संसार की प्रतिष्ठा है। इसी कारण दोषी तथा अपराधी एव जिज्ञासु लोग धर्मिष्ठ के पास जाते हैं।' धर्म से पाप नष्ट होता है, इसी से धर्म को सर्वतोभद्र पुरुषार्थ माना गया है—

धर्मो हि भूतस्य जगतः प्रतिष्ठा तस्माद्धर्मिष्ठं प्रजाः उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। तस्माद्धर्मंपरमं वदन्ति। (ऐतरेय ब्राह्मण, प्रथम कण्डिका)

प्रथम पुरुषार्थ—धर्म

उपनिषद् में इस धर्म के तीन स्कन्ध या बड़े-बड़े डाल बताये गये हैं—'**त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।**' सबसे पहला स्कन्ध यज्ञ है। यह संसार यज्ञ का विशाल स्वरूप है। प्राणिमात्र का पालन, जगत् का परिचालन, व्यवहार कार्यभार का चलन, स्थापन तथा परिष्करण, अन्नों-फलों का उत्पादन गोमेध यज्ञ है। शतपथ ब्राह्मण कहता है, '**अन्नं हिगौः।**' जिस कर्म में देवपूजा, संगतिकरण पाया जाये वह सब यज्ञ है। धर्मशाला, कूप, तड़ाग, औषधालय, प्याऊ, अन्नक्षेत्र लगाना, गोचर भूमि की स्थापना, पाठशाला, गुरुकुल, स्कूल, कालेज खुलवाना तथा उनके द्वारा सद्विद्या, सद्गुणों का प्रचार करना यज्ञ का विशाल तथा बहुरंगी स्वरूप है। यजुर्वेद कहता है: '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।**' देवताओं ने यह यज्ञरूप संसार यज्ञाचरण से प्रतिष्ठित किया है।

भास्कर भगवान् अपनी अनन्त किरणों से समुद्रीय जल को ऊपर खींचकर उसे मेघों को देते हैं। मेघ पानी बरसाकर हिमालय जैसे पर्वतों पर करोड़ों टन बर्फ गिराकर, सरिताएँ नदियाँ बहा-बहाकर, नदियों के किनारों पर स्थित वन, वृक्षों, उपवनों, उद्यानों को हरा-भरा करती हुई नदियाँ समुद्र की ओर दौड़ती चली जा रही हैं। सागर इन सबके जलों से कभी भरने में नहीं आता। भरे भी कैसे, जब सूर्य अपनी असंख्य किरणों से उसे सोखने में लगा रहता है। वही पम्परा प्रतिक्षण चलती रहती है। सूर्य की किरणों से आकृष्ट जल से मेघ, मेघों से वर्षा, वर्षा से नदियाँ, नहरें समस्त भूमण्डल को हरा-भरा सस्य फल संपन्न करने में लगी हैं। नदियाँ तथा वृक्ष, गायें, जल, फल, फूल स्वयं नहीं लेतीं। यह सब हरियाली, धन-धान्य, फल-फूल प्राणिमात्र के जीवन के साधन हैं। ये सब यज्ञ के साधक अग हैं। जैसाकि कहा भी गया है—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षा ।
नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

यह यज्ञ का एक अंशमात्र है। सृष्टि स्वयं ईश्वर की सिसृक्षा की एक क्रिया है। प्रलय उसकी संजिहीर्षा की प्रतिक्रिया है। ये सब श्रेष्ठतर यज्ञ हैं। यजुर्वेद जिस श्रेष्ठतम यज्ञ का वर्णन करता है वह एक अद्‌भुत यज्ञ है। वह संसार की नाभि है, जिस नाभि में प्रत्येक अंग के तार जकड़े हुए हैं—"**अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्य देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमायकर्मणे ।**" (यजु०, अ० १, मन्त्र १)

यह यज्ञ अग्निहोत्र या हवन, 'इष्टि', 'याग' आदि शब्दों से सम्बोधित होता है। यह श्रेष्ठतम केवल इसलिए है क्योंकि उपर्युक्त धर्मशाला कूप, प्याऊ का उपकार केवल उन्हीं को होगा, जो उन तक पहुँच सकते हैं। जो वहाँ नहीं पहुँच सकते उन्हें उनका लाभ प्राप्त नहीं हो सकता है। जो यज्ञ आहुतियों से यज्ञवेदिका पर होता है, वह बिना वहाँ पर पहुँचे भी दूर-दूर तक प्रभावी होता है। उसकी सुगंधि तथा शुद्ध हवा दूरगामी प्रभाव रखती है—

एहि एहीति तमाहुतयः सुवर्चसो रश्मिभिर्भानोर्यजमानं हरन्ति । (शतपथ)
अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

इस प्रकार यह यज्ञशाला में यज्ञवेदी में किया जाने वाला हवन श्रेष्ठतम कर्म है। यज्ञवेदी पर ही पूर्णमास्येष्टि तथा दर्शेष्टि, नवान्नेष्टि, ऋतुयज्ञ, संस्कार यज्ञ होते हैं। कुछ यज्ञों की सार्वजनिक स्थिति है। ये यज्ञशाला के यज्ञ नहीं हैं। ये देश, काल के अनुसार संपन्न होते हैं।

उत्तरत उपचारो हि यज्ञः । (शतपथ, ८।६।१।१६)
एतद् वै देवानामपराजितमायतनं यद् यज्ञः । (तैत्ति०, ब्रा० ३।३।७।७)

उपसद नामक एक लघुयज्ञ का वर्णन, तैत्तिरीय ब्राह्मण में आता है। इस पर एक कथा है। देवताओं से शत्रुता रखने वाले असुरों ने अपनी रक्षा के तीन दुर्ग बनाये। एक दुर्ग पृथ्वी पर, दूसरा अन्तरिक्ष में, तीसरा द्युलोक में था। जो पृथ्वी पर था उसका आकार लोहे का था। दूसरे का परकोटा रजत (चाँदी) का था। तीसरे का सोने का था।

देवताओं ने उपसद यज्ञ से असुरों को जीता। उपसद यज्ञ शिक्षित तथा अशिक्षित, मूर्ख व पण्डित—सभी कर सकते हैं। उपसद यज्ञ में शत्रु को चारों ओर से घेरकर उसके यातायात एवं उसके स्थान पर पहुँचने वाली खाद्य सामग्री को रोक देते हैं—

शत्रुमुपसद्य परित अवरुध्य निषीदनमुपसद् ।

शत्रु के चारों ओर घेराव या धरना देकर उसके निर्वाह साधन का अवरोध करने के लिए सैकड़ों, सहस्रों व्यक्ति जब तैयार हो जाते हैं तब शत्रु व्याकुल हो उठता है। इन उपसदों को ही सत्याग्रह, घेराव, धरना जैसा नाम दिया गया है। इन उपसदों की सीमा निश्चित की गयी है :

ऋतवः उपसदः । (शतपथ, १०।२।५।७)

मासा उपसदः । (शतपथ, १०।२।५।६)

अर्धमासा उपसदः । (शतपथ, १०।२।५।४)

अहोरात्राणि वा उपसदः । (शतपथ, १०।२।५।३)

अर्थात्—अपनी समस्या हल करवाने के लिए एक या कई ऋतुओं तक, एक मास तक, अर्द्धमास या एक अहोरात्र तक उपसद होते हैं।

वज्रा वा उपसद । (शतपथ, १०।२।५।२)

ग्रीवा उपसद । (शतपथ, १०।२।५।२५)

अर्थात्—उपसद की रक्षा अपनी ग्रीवा के समान करनी चाहिए। शत्रु के लिए उपसद वज्र-प्रहार के समान है।

उपसद में सदस्य कितने होने चाहिए, इसका भी शतपथ में उल्लेख है—

शतोन्मानो यज्ञः । (शतपथ, १२।७।२।१३)

इसी प्रकार अश्वमेधादि यज्ञ संघीय तथा आत्मीय यज्ञ हैं। **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः'**। राष्ट्र निर्माण कार्य अश्वमेध है। इन्द्रिय रूपी अश्वों की वृत्तियों का नियन्त्रण जितेन्द्रियता आत्मीय यज्ञ है। अनेक प्रकार के ये यज्ञ गीता में भी उल्लिखित हैं—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे । (गीता)

अध्ययन—धर्म का दूसरा स्कन्ध है, अध्ययन। अध्ययन का प्रयोजन ज्ञानोपार्जन है। संसार एक समस्या के समान है। हम क्या हैं? क्यों आये हैं? कौन इसका कारण है? उपनिषदों में इसका अच्छा निरूपण है। वर्णोच्चारण शिक्षा से लेकर जीवन-निर्वाह की शिक्षा तक चौदह प्रकार की विद्याएँ मानवता की रक्षार्थ वेदों में सूत्र रूप से तथा ब्राह्मण ग्रंथों में विस्तार से वर्णित हैं। इन चौदह विद्याओं के १४ आधार तथा १४ ही उद्देश्य एकमात्र यज्ञ से सिद्ध होने वाले बताये गये हैं। मूल उद्देश्य मोक्ष है। प्रासंगिक उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम हैं—जो इन्हीं १४ से प्राप्य हैं।

आयुर्यज्ञेन कल्पताम् स्वाहा। प्राणो यज्ञेन कल्पतां स्वाहायानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। व्यानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहोदानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। समानो यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। मनोयज्ञेन कल्पतां स्वाहात्मा यज्ञेन कल्पतां स्वाहा। (यजु०, २२।३)

उपर्युक्त मंत्र में १२ बार यज्ञ शब्द तृतीयैकवचन में प्रयुक्त हुआ है। यज्ञ शब्द शुभकर्म, सद्व्यवहार, कल्याणव्रत का वाचक है। समस्त विद्याओं का अध्ययन गुरु या आचार्य द्वारा संपन्न होता है। शब्द विद्या पुस्तकों तथा गुरु की सहायता से प्राप्त होती है। आत्मविद्या स्वाध्याय से मिलती है।

स्वाध्याय अर्थात् आत्मोद्धार सम्बन्धी अध्ययन ही स्वाध्याय है—

स्वस्यात्मन अध्ययनं स्वाध्यायः ।
स्वाध्यायादिष्टदेवता संप्रयोगः । (योगदर्शन)

यज्ञ क्या है ? इस विषय में राजर्षि जनक तथा महर्षि याज्ञवल्क्य का सम्वाद बृहदारण्यक उपनिषद् में निम्न प्रकार है—

वेत्थ ह अग्निहोत्रं याज्ञवल्क्य इति । पय ऐवति सहोवाच । यदि पयो न स्यात् केन जुहुया इति । औषधिभ्य इति । यदि औषधयोन स्यु: केन जुहुया इति । या आरण्या औषधयस्ताभ्य इति । यद्यारण्या औषधयोन स्यः केन जुहुया इति । अद्भिरिति यद्यापो न स्यु: केन जुहुया इति । यदि सौम्य नास्त्येवकिञ्चित्तदा हूयत एव सत्यं श्रद्धायाम् । वेत्थ ह इति तमुवाच वैदेहः । (बृहदारण्यक)

हे याज्ञवल्क्य !तुम जानते हो अग्निहोत्र क्या है ?याज्ञवल्क्य ने कहा—दूध ही अग्निहोत्र की मुख्य वस्तु है । जनक—यदि दूध न हो तो कैसे हवन करे ? याज्ञवल्क्य—औषधियों से करे । जनक—यदि औषधि न हो तो कैसे हवन करे ? याज्ञवल्क्य—जंगली औषधियों से । जनक—यदि जंगली औषधियाँ भी दुष्प्राप्य हों तो कैसे हवन हो ? याज्ञवल्क्य—जल से यज्ञ करे (प्याऊ लगावे । प्यासों को जल पिलावे) । जनक—यदि पानी भी न हो तो कैसे यज्ञ करे ? याज्ञवल्क्य ने कहा कि सौम्य ! जब कुछ न हो तो सत्य का श्रद्धा में हवन करे ।

इस संवाद से यज्ञ की विश्वरूपता का पता चलता है । अतः संसार स्वयं यज्ञ है । इसकी सृष्टि-स्थिति-प्रलय भी एक यज्ञ के भाग है—'**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन ।**' पुरुष सूक्त एक विशाल विराट यज्ञ का संकेत देता है।

द्वितीय पुरुषार्थ—अर्थ

धर्म के बाद अर्थ का क्रम है। धर्मपूर्वक अर्थ की प्राप्ति मानव-जीवन का द्वितीय उद्देश्य है।

अर्थ से आशय उपयोगी साक्षाद्वस्त से है। सोना, चाँदी, गेहूँ, गौधन, गजधन, वाजिधन, रत्न, मणि-माणिक्य तथा कागज़ी मुद्रा, महार्घ्य वस्तुएँ, भूमि, जल, वायु, पास, टिकट, सिक्के, मुद्रा—सभी वस्तुएँ अवसर-अवसर पर अर्थ हैं। इसी अर्थ की चोरियाँ-डकैतियाँ होती हैं। इसी के पीछे भाई-भाई, पिता-पुत्र, स्त्री-पति संघर्ष करते हैं। कचहरी, 'कोर्ट, सरकारी अधिकरणों में इसी की रिश्वत ऋषिवत् मानी जाती है। यह सब अनर्थ का मूल भी है—

अर्थमनर्थं भावय नित्यम् ।

यजुर्वेद अर्थ-प्राप्ति के लिए सावधान करता है : '**वयं स्याम पतयोरयीणाम्**'—हम धनों के स्वामी बनें। वस्तुतः धन गुणों का प्रकाशक है : '**आदित्य इव भूतानां श्रीर्गुणानां प्रकाशिनी ।**' अर्थशास्त्र के नाम से जो ग्रंथ आज विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जा रहे हैं, उनमें आवश्यकताओं की वृद्धि में धन की वृद्धि का उल्लेख है। प्राच्य अर्थशास्त्र में आवश्यकताओं के नियन्त्रण से धन की वृद्धि मानी गयी है। कौटिल्य ने सुख की प्राप्ति के लिए जो सूत्र अपने कौटिल्य अर्थशास्त्र में दिये हैं, वे महत्वपूर्ण हैं—

सुखस्य मूलं धर्मः । धर्मस्य मूलमर्थः । अर्थस्य कारणं राज्यम् । राजस्य कारणम् विनयः। विनस्य कारणमिन्द्रियजयः । इन्द्रियजस्यकारणम् वृद्धोपसेवा ।

महर्षि व्यास ने लिखा है : '**धर्मादर्थश्चकामश्च स धर्मः किं न सेव्यते ।**' अर्थ-व्यवस्था से ही शांति होती है। मनुष्य के समस्त गुण अर्थहीनता के कारण दब जाते हैं। परन्तु धन एक साधन रूप में ही शोभा पाता है। धन जिनके जीवन का साध्य बन जाता है, वे धन होने पर भी

निर्धन के समान समय यापन करते हैं। वह धन अर्थ है जो केवल जमा रहता है। धन के उचित उपयोग तीन हैं—

'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।'

इसी से कहा गया है कि मनुष्य के हाथ की शोभा **'दानेन पाणिर्नतु कंकणेन।'** **'धनाद्धर्मं ततः सुखम्।'**

धन की तृष्णा तथा लोभ की कोई सीमा नहीं है। भीष्मपितामह धन के विषय में कहते हैं—

'अर्थस्य पुरुषो दासः
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके,, यस्यार्थाः स हि पण्डितः॥

परन्तु धन का दास न बनकर हमें धन को अपना दास बनाना चाहिए। वेद कहता है : **'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्यआहितः।'** पुरुषार्थी अपनी विद्या तथा बुद्धि से धन पाता है। सुखी रहता है। धनपति लोग धन की रक्षा करते रहते हैं। यशस्वी वही बनता है जो धन का त्याग करता है :

त्यागेनैके अमृतत्त्वमानुशुः। (यजुर्वेद, १९।७६)

तृतीय पुरुषार्थ—काम

'कं सुखं अमयति प्रापयति इति कामः।' काम मनुष्य का मित्र है परन्तु तृतीय मित्र है। प्रथम मित्र धर्म है, द्वितीय अर्थ है। धर्मार्थ के बाद काम का क्रम है। परन्तु यह काम शत्रुवर्ग में सबसे बड़ा शत्रु भी है। काम-क्रोध-लोभ-मोह में इसका प्रथम स्थान है। सात्त्विक काम, सन्तान उत्पत्ति में सहायक है। इसी से संसार बनता है। स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध काम का ही विस्तार है। विवाह में कन्यादान होता है—

'कोऽदात्, कस्मै प्रदात्। कामोऽदात्, कामायादात्, कामोदाता कामः प्रतिगृहीता।' यह मंत्र यजुर्वेद तथा अथर्व वेद एवं ऋग्वेद में भी है।

किसने दिया? किसके लिए कन्यादान किया? उत्तर—काम ने दिया। काम से प्रेरित होकर लिया।

काम ही देने वाला है। काम ही ग्रहण करने वाला है। काम कितना प्रबल है, कितना दुरासद है, इसका अनुमान करते हुए महाराज भर्तृहरि ने लिखा है—मस्त हाथी को पछाड़ने वाले वीर बहादुर पृथ्वी पर सुगमता से मिल सकते हैं। कुछ लोग मृगराज सिंह को मारने में दक्ष मिल सकते हैं, परन्तु सब बलवानों को घोषणापूर्वक बताता हूँ कि कामदेव को पछाड़ने वाले मनुष्य विरले ही कहीं मिलेंगे—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्तथात्र मृगराजवधेऽपिदक्षाः।
एतद्ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य-
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

गीता में इसका उग्र रूप दिखाकर उसे नीचा दिखाने के लिए सम्मति दी गयी है—

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्। (भगवद्गीता, प० ८)

जितेन्द्रिय वही है जिसे स्त्रियों के हास-विलास आकृष्ट नहीं कर सकते, जिसके चित्त क्रोधाग्नि जलाने में समर्थ नहीं है, ऐसा महापुरुष त्रिलोकों को जीत सकता है--

कान्ता कटाक्षविशिखा न दहन्ति यस्य-
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः॥
(भर्तृहरि शतक, ९८)

न्याय दर्शन दोषों के त्रैराश्य में राग-द्वेष-मोह, इन तीनों को रखकर कहता है—

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः।
(न्याय, ४-१-६)

अर्थात्, समस्त दोषों में मोह सबसे प्रधान दोष है। जो अमूढ़ है उसे कोई दोष नहीं सता सकता है।

तन्निमित्तं तु रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः।

मोहवश मनुष्य रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादि के संकल्प में फँसकर कामी या क्रोधी बनता है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधो विजायते।
क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृति भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अतः काम को विघ्न समझकर विवेकपूर्वक जो वश में करते हैं उनके लिए यह एक मित्र है, अन्यथा घोर शत्रु है।

चतुर्थ पुरुषार्थ—मोक्ष

धर्म-अर्थ-काम रूपी साथियों की सहायता पाकर मानव मानवता की जिस श्रेष्ठतम मंजिल पर पहुँचता है, उसका नाम है **मोक्ष**। मोक्ष का अर्थ है जन्म-मरण के चक्र से छूटना। जब तक जीवन है, सब कुछ करना है। मृत्यु के बाद कर्मफल भोग पुनर्जन्म होता है, परन्तु मुक्ति तभी मिलती है जब निष्काम या बिना आसक्ति के कर्म किया जाये। जिस प्रकार भुने हुए चने को बोने से चना उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार जिनकी वासना दग्ध हो जाती है वह दग्ध बीज के समान उत्पादक कर्म से रहित होते हैं। यजुर्वेद में **'उर्वारुक'** के

उदाहरण से मोक्ष की प्रार्थना है। उर्वारुक—खरबूजा जब परिपक्व हो जाता है अपनी बेल से छूट जाता है। उसी प्रकार मनुष्य भवबन्धन से छूटने की प्रार्थना करता है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥

धर्म का वर्णन यजुर्वेद के ४० अध्यायों में से १० अध्यायों में हैं। आगे के १० अध्यायों में अर्थ सम्बन्धी प्रार्थनाएँ तथा साधन वर्णित हैं। धर्मार्थ के बाद ३०वें अध्याय तक काम सम्बन्धी ज्ञान तथा शेष १० अध्यायों में भवबन्धन से मोक्ष कैसे हो। इस पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष का महत्व सर्वातिशायी है।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्ति—
विरोधाच्च सर्वमेव दुःखं विवेकिनाम्।" (योग)

अर्थात्, नाना प्रकार के परिणाम तथा ताप एवं दुःखों के कारण समस्त संसार दुःखमय है। यह समझकर ज्ञान द्वारा विवेक प्राप्ति तथा—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति—
न चेदहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः।
प्रेत्यास्मोल्लोकादमृता भवन्ति।

यदि इस मानव शरीर को पाकर उसे जान लिया तब तो सत्य मार्ग ही प्राप्त हो गया समझना चाहिए। यदि उस महान् महत्तम ईश्वर को नहीं जाना तो महान् विनाश है। इसी प्रकार दूसरे यंत्र के द्वारा मुक्ति के एक मात्र मार्ग का दिग्दर्शन है—

वेदहिमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः
परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति-
नान्यः पन्था: विद्यतेऽयनाय। (यजुर्वेद)

न्याय में सर्वदुखात्यन्ता-भाव का नाम ही मोक्ष है।

तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः। (न्याय, १-३५)
विवेकान्निः शेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यतानेतरात् नेतरात्। (सांख्य)

इस विवेक-ज्ञान परम्परा के सोपान स्वरूप वैशेषिक दर्शन में भी दृष्ट स्वरूप वाले यज्ञीय कर्मकाण्डों को अभ्युदय का साधन माना है—'**दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युप्रदयायअभिषेचनोपवास ब्रह्मचर्य्य गुरुकुलवास वानप्रस्थादिकार्याणि चाभ्युदयाय।**' इसी अभ्युदय का यजुर्वेद के ३० अध्यायों में तथा निःश्रेयस मोक्ष का १० अध्यायों में—पूरे ४० अध्यायों में चारों पुरुषार्थ वर्णित हैं।

यही कारण है कि प्राचीन शिक्षा में पुरुषार्थ पर विशेष बल है और इस प्रकार वैदिक शिक्षा-पद्धति का केन्द्र-विन्दु पुरुषार्थ चतुष्ट्य है—यह स्पष्ट हो जाता है।

याज्ञिक आचार संहिता

•

श्री पं० वीरसेन वेदश्रमी
शिरोमणि, वेद विज्ञानाचार्य
वेद सदन, महारानी पथ, इन्दौर

समिधा

यज्ञ कार्य के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने एवं प्रज्वलित रखने के लिए जो काष्ठ ईंधन के रूप में उपयोग में लाया जाता है उसकी संज्ञा समिधा एवं इध्म है। उनको सामान्य लकड़ी के नाम से व्यवहृत नहीं करना चाहिए। समिधा एवं इध्म शब्द से यज्ञ कार्य में व्यवहृत ईंधन को ही ग्रहण करना चाहिए। ये समिधा एवं इध्म विशेष-विशेष नियत वृक्षों से विशेष-विशेष आकार एवं परिमाण की ही ग्राह्य की जाती हैं, न कि सर्व प्रकार का कोई भी काष्ठ या ईंधन।

समिधा के वृक्ष

'आन्हिक सूत्रावली' में समिधा के वृक्षों के बारे में निम्न श्लोक है :

**पलाशफल्गुन्यग्रोधप्लक्षाश्वत्थ विकंकताः।
उदुम्बरस्तथा बिल्वश्चन्दनौ यज्ञियाश्चये॥
सरलो देवदारुश्च शलश्य खदिरस्तथा।
समिदर्थेप्रशस्ताः स्युरेते वृक्षविशेषतः॥**

अर्थात् पलाश (ढाक, खांकरा), फल्गु, वट, पीपल, विकंकत (वंज), गूलर, चन्दन, सरल, देवदारु, साल, खैर तथा अन्य यज्ञिक वृक्ष—ये समिधा के प्रयोजन के लिए विशेष उपयोगी हैं। महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने समिधा के लिए 'संस्कार विधि' में लिखा है कि—ये चन्दन की अथवा पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि वृक्ष की होनी चाहिए, परन्तु कीड़ा लगी हुई, मलिन देशोत्पन्न और अपवित्र पदार्थ आदि से दूषित न हों—अच्छे प्रकार देख लेवें।

समिधा के प्रकार

समिधाएँ तीन प्रकार की होती हैं : (१) सामिधेनी समित्, (२) इध्म, और (३) परिधि। इनमें से सामिधेनी समित् ३ होती हैं, इध्म १८ होती हैं और परिधि ३ होती हैं।

सामधेनी समित्

आठ-आठ अंगुल प्रमाण की लम्बी और अंगुष्ठ प्रमाण मोटी होती हैं। अग्न्याधान के पश्चात् घृत में डुबोकर मन्त्रपूर्वक इन्हीं तीन समिधाओं का प्रयोग होता है। ये प्रमुख रूप से चन्दन की होनी चाहिए। चन्दन के अभाव या असमर्थता में पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा का प्रयोग करना चाहिए। परन्तु ये अत्यन्त शुद्ध हों तथा कीड़ा आदि लगी भी नहीं हों। समिधाओं पर बहुत ध्यान रखना चाहिए। उनको धोकर यज्ञ कार्य के उपयोग में लेना चाहिए जिससे उनकी बाह्य अपवित्रता भी नष्ट हो जावे। धोकर के सुखा भी लेना चाहिए। मलिन देशोत्पन्न का भी ध्यान रखना चाहिए।

समिधा छाल सहित हों

समिधा के बारे में पूर्वकालीन ग्रन्थों में जो उल्लेख आता है वह भी विशेष ध्यान देने योग्य है। उस दृष्टि से समिधा त्वचायुक्त ही होनी चाहिए। क्योंकि शतपथ में कहा है कि **'तेजोहरा एतद्वनस्पतीनां यद् बाह्यशकलः'**—अर्थात् वृक्ष की त्वचा ही उसका तेज है। समिधा विशेष का गुण उसकी त्वचा में ही प्रधान रूप से होता है। इसीलिए आन्हिक सूत्रावली में **'न विनिर्मुक्त त्वचा चैन'**—बिना त्वचा की समिधा का निषेध किया है। आयुर्वेदशास्त्र में औषधि कार्य के लिए प्रधान रूप से वृक्ष की त्वचा का ही उपयोग किया जाता है। अतः त्वाचायुक्त समिधाओं में गुणों की प्रधानता होने से यज्ञ में उन्हीं का उपयोग लेने से विशेष लाभ होता है। परन्तु चन्दन की समिधा त्वचारहित, मध्य भाग जिसमें तेल का अंश है वह लेनी चाहिए। उसका गुण तेलयुक्त मध्य भाग में ही है।

फाड़ी हुई एवं त्वचारहित समिधा हानिकारक है

समिधा का प्रमाण तर्जनी अंगुली या अंगुष्ठ तुल्य मोटी बताया है। अतः फटी हुई समिधाओं का निषेध इसलिए हो जाता है क्योंकि वे फाड़ने योग्य नहीं होतीं हैं। आन्हिक सूत्रावली में इसलिए **'न पटिता'**—फाड़ी गई समिधा न हो यह आदेश दिया है। त्वचासहित तर्जनी या अंगुष्ठ प्रमाण मोटी समिधा जो स्वभावतः वृक्ष की होती है उसको ग्रहण करना चाहिए, न कि फाड़कर बनाई हुई को। लोगों को समिधा के बारे में पूर्वापर का ज्ञान न होने से मशीन, कुल्हाड़ी, बसूला आदि से मोटे लक्कड़ों से काट या फाड़कर उसको नियत मोटाई का अर्थात् तर्जनी अंगुल या अंगुष्ठ प्रमाण मोटी बनाने लगे, परन्तु बिना त्वचा की समिधा तेजहीन एवं प्रभावहीन होती है। अतः वे अग्राह्य हैं। इसलिए त्वचारहित समिधा के प्रयोग न करने के लिए **'प्राणघ्नो निस्त्वचः स्मृतः'**—प्राणोंकी वृद्धि न करके, प्राणों की हानि करने वाली ही बतायी है। समिधा के त्वचा भाग में प्राण तत्व, जीवनदाता शक्ति रहती है। उसको त्वचारहित कर देने से उसमें केवल प्राणघातक तत्व कार्बनडाइ-आक्साइड ही रह जाता है जो उसको जलाने से उपलब्ध होता है।

कदाचित् फटी हुई समिधा के एक ओर त्वचा रह भी जाये तो उसका आधा भाग त्वचा-रहित रहेगा और लक्कड़ भाग अत्यधिक रहेगा, जिससे अधिकांश भाग प्राणघ्न और कुछ भाग गुणहीनता ही प्रधान रूप से शेष रह जाती है। अतः फटी हुई समिधा का निषेध उचित ही है।

प्राणप्रद होने से उसकी अनुपयोगिता और फटी हुई समिधा के दोषयुक्त होने के बारे में कहा है : '**द्विदला व्याधि सम्भव**'—अर्थात्, दो भाग में फाड़ी हुई समिधा रोगों को उत्पन्न करती है।

समिधाएँ गीली हों

तात्पर्य यह है कि समिधाएँ पूर्ण रूप से त्वचा चढ़ी हुई होनी चाहिए। यदि वे तीन समिधाएँ गीली हों तो और भी श्रेष्ठ मान्य की जाती हैं। 'प्राणतोषिणी' में इसके बारे में निम्न प्रमाण उद्धृत किया है—

आर्द्रत्वचां समच्छदां तर्जन्यंगुलि वर्त्तुलाम् ।
ईदृशी होमयेत्प्राज्ञः प्राप्नोति विपुलां श्रियम् ॥

अर्थात्—गीली त्वचा से अच्छी प्रकार आवृत्त और तर्जनी अंगुली के समान गोल समिधा होम में प्रयुक्त करने से अत्यधिक श्री को यजमान प्राप्त करता है। शतपथ में परिधि समिधाओं के बारे में लिखा है : '**ते वा आर्द्रास्युः**' (शत०, १।३।१।१)—वे गीली हों। अतः यज्ञ में गीली समिधाओं का प्रयोग किया जाता है।

घृत में डुबोई समिधा भी आर्द्र है

सब प्रकार की समिधाएँ गीली नहीं होनी चाहिए। केवल ३ सामिधेनी समित् और ३ परिधि समिधा ही गीली हों शेष इध्म तो सूखी ही होनी चाहिए। कई प्रकार के क्षीरी वृक्ष गीली अवस्था में अच्छे प्रकार जलते हैं। तथापि सूखी समिधाओं को यदि घृत में डुबोकर प्रयोग किया जावे तो वह आर्द्र के सदृश ही नहीं अपितु उससे भी अधिक उपयोगी हो जाती हैं। महर्षि दयानन्दजी ने सामिधेनी समिधाओं को घृत में डुबोकर अग्नि में प्रयुक्त करने का उल्लेख 'संस्कार विधि' में किया है। अतः समिधाओं को पूर्ण रूप से घृत में इतने समय तक डुबोये रखें कि जिससे उनके ऊपर की त्वचा घृत से पूर्ण रूप से सिक्त हो जावे।

समिधा का प्रमाण

संस्कार विधि में समिधा के प्रमाण के बारे में लिखा है : '**सामिधेनी समित् प्रादेश-मात्र**'—प्रादेश अंगुष्ठ से तर्जनी अंगुली तक के फैले हुए मात्र प्रमाण को कहते हैं। इसी प्रकार "आठ-आठ अंगुल" की समिधा के लिए भी 'संस्कार विधि में लिखा है। प्रादेश अष्टांगुल प्रमाण है। इसी स्थिति को 'आन्हिक सूत्रावली' में '**प्रादेशान्नो धकानोनां**' अर्थात् एक प्रादेश (आठ अंगुल) प्रमाण की लम्बी समिधाएँ होनी चाहिए। न इससे अधिक लम्बी और न इससे छोटी होनी चाहिए।

आठ अंगुल से बड़ी और छोटी समिधाओं से हानियाँ

यदि आठ अंगुल से अधिक लम्बी होगी तो—'**दोषं प्रकुर्वते दीर्घा**'—दोषों को उत्पन्न करने वाली होगी। यदि प्रमाण से न्यून अर्थात् छोटी होगी तो—'**ह्रस्वायां व्याधिमाप्नोति**'—रोगों को उत्पन्न करने वाली होगी। अतः दोष एवं रोगादि से बचने के लिए प्रादेश मात्र अर्थात् अष्टांगुल प्रमाण की ही समिधा होनी चाहिए।

प्रमाण से अधिक मोटी और पतली भी समिधा न होवे

समिधा की मोटाई के बारे में अंगुष्ठ प्रमाण और तर्जनी के समान मोटी दोनों ही बताये गये हैं। इनमें मोटाई की न्यूनतम एवं अधिकतम प्रमाण का भाव है। जैसा कि 'आन्हिक सूत्रावली' में उल्लेख है—

नांगुष्ठादधिका ग्राह्या समित्स्थूलतया क्वचित् ।

अर्थात्, अंगुष्ठ प्रमाण से अधिक मोटी समिधा प्रयोग न करे। 'प्राणतोषिणी' में प्रमाण से अधिक मोटी या कृश के दोषों को निम्न प्रमाण से दर्शाया गया है—

स्थूलामिर्हरते लक्ष्मीं कृशायां याजकक्षयः ।
न क्षीणा नाधिका न्यूना समिधः सर्वकामदः ॥

अर्थात्, प्रमाण से मोटी समिधा का होम में प्रयोग करने से लक्ष्मी का नाश होता है और प्रमाण से कृश या क्षीण समिधा का प्रयोग करने से यजमान की हानि होती है। अतः यथाप्रमाण समिधाओं का ही होम में प्रयोग करना चाहिए। उसी से सब कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करने में सफलता प्राप्त होती है।

समिधाओं का अपने जीवन-यज्ञ से सम्बन्ध

समिधा की लम्बाई-चौड़ाई आदि के बारे में इतना अधिक विवेचन अपने जीवन के हानि-लाभ के सम्बन्ध में विचार करता है कि यज्ञ का अपने जीवन से कितना घनिष्ठ एवं दृढ़ सम्बन्ध है। अग्नि का जीवन, समिधाओं से ही है। समिधा ही अग्नि की आत्मा है। वही उसका प्राण भी है। इसी प्रकार शरीररूपी यज्ञ में जीवन-ज्योति के लिए प्राणरूपी समिधा है। ३ समिधा होम के अनुरूप ही ३ प्राणों की समिधा का होम अध्यात्म यज्ञ-संध्या में, ३ प्राणायाम की क्रिया है। इसके ही द्वारा प्राणों की अपान में आहुति या अपान की प्राण में आहुति दी जाती है। उसी से हमारा प्राण भी बलिष्ठ होता है और दीर्घ जीवन होता है। शतपथ(१।४।५।१) में **'स वै समिधो यजति। प्राण वै समिधः'** कहा है। अर्थात्, वह यजमान जो समिधा की यज्ञ में आहुति देता है वह निश्चय प्राणरूपी समिधा का ही होम करता है, क्योंकि प्राण निश्चय से समिधा ही है।

प्राणरूपी समिधा की विविध लम्बाइयाँ

प्राण की गति शरीर के बाहर ४ अंगुल, ८ अंगुल, १२ अंगुल और १६ अंगुल की, तत्वों के आधार पर चलती हैं। अग्नितत्व जब हमारे में प्रवाहित होता एवं प्रधान होता है तो ४ अंगुल प्रमाण बाहर गति प्राण की होती है। जब वायुतत्व उदय होता है तो ८ अंगुल प्रमाण में हमारे प्राण की बाहर गति होती है। जब १२ अंगुल प्रमाण में हमारे प्राण की गति बाहर होती है तब हमारे में पृथ्वीतत्व उदय होता है और जब जलतत्व का उदय होता है तब १६ अंगुल प्रमाण में हमारे प्राण की गति होती है।

अष्टांगुल प्रमाण की ही प्राण की समिधा हो

यदि हमारी प्राणरूपी समिधा अष्टांगुल प्रमाण से बाह्य रूप में अवस्थित होकर गति करती है तो उससे जीवनतत्व का पोषण होता है, क्योंकि प्राण का वायुतत्व से प्रधान रूप से सम्बन्ध है। इस अष्टांगुल प्रमाण से प्राण की न्यूनाधिक गति हो तो वह प्राणपोषक स्थिति नहीं होकर प्राणघातक स्थिति होती है। यदि प्राण की वह गति न्यून स्थिति अर्थात् ४ अंगुल प्रमाण में होगी तो प्राण का अग्नितत्व से सम्बन्ध हो जायेगा जिससे अग्नितत्व बढ़ेगा और वायुतत्व को वह भक्षण करता जायेगा और प्राणशक्ति कम होने लगेगी। जब कभी किसी व्यक्ति में रोग का ताप, क्रोध की अग्नि और श्रम का ताप वृद्धि को प्राप्त होता है तो प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है तथा प्राण की गति लघु एवं शीघ्र चलने लगती है। अतः प्राण की यह लघु समिधा '**ह्रस्वायां व्याधिमाप्नोति**'—या—'**कृशायां याजकक्षयः**—'की स्थिति उत्पन्न करती है। अतः प्राणतत्व की साधना के लिए प्राण का जो आश्रय वायुतत्व है उसी की तत्वानुरूप समिधा की साधना करनी पड़ती है।

अष्टांगुल से अधिक मात्रा की प्राण की समिधा से हानि

यदि प्राणरूपी समिधा वायु तत्वानुकूल न रहकर इससे अधिक अंगुल की १२ अंगुल मात्रा में प्रवाहित होगी तो वह प्राणशक्ति से संबंधित न रहकर पार्थिव तत्व से टक्कर करेगी और उससे पार्थिव तत्वों की वृद्धि होगी जिससे पार्थिव सम्मिश्रण प्राण में होगा। जैसे पर्वतों से वायु टकराकर क्षीण होती है उसी प्रकार शरीर में दोष उत्पन्न होंगे और प्राणशक्ति भी नष्ट होगी। अर्थात्—**दोषं प्रकुर्वते दीर्घा**—यह होगा। अतः प्राणों को बाह्य प्राणों के साथ स्थित कर उससे जीवन तत्व प्राप्त करने के लिए अष्टांगुल प्रमाण में प्राण की समिधा का निर्माण करना आवश्यक है।

अध्यात्म यज्ञ के लिए प्राणरूपी समिधाओं में न्यूनता या आधिक्य न करें

इसी प्रकार १६ अंगुल प्रमाण में प्राण की स्थिति जलतत्व के साथ होती है। वायु और और जल का साहचर्य होने से प्राण में जलतत्व की वृद्धि से भार होने लगता है। अग्नितत्व की न्यूनता होने लगती है जिससे प्राण का बल क्षीण होने लगता है और आकाशतत्व में प्राण प्रवाहित होने पर उसकी बाह्य मात्रा ही नहीं रहती। शून्य मात्रा हो जाती है—तब भी उसकी शक्ति क्षीण होती है। अतः यज्ञाग्नि की समिधा को आठ अंगुल से न्यूनाधिक न करने का जो रहस्य है उसका आध्यात्मिक यज्ञ-संध्यायोग, यज्ञ की प्राणमय समिधा से सम्बन्ध बताने का यह रूपक है।

अष्टांगुल समिधाओं का गायत्री से सम्बन्ध

गायत्री छंद त्रिपदा है तथा इसके प्रत्येक पद अष्टाक्षर के होते हैं। इस प्रकार आठ-आठ अक्षर के तीन पदों से २४ अक्षर की गायत्री बनती है। गायत्री सब छन्दों की माता है एवं वेदमाता भी कही जाती है। उसी के आधार पर सब छन्द बनते हैं और सब मंत्रों में गायत्री ही ओतप्रोत है। गायत्री का सविता देव भी सब देवों का प्रसविता होने से समस्त मन्त्र देवों में वह

मूल रूप से व्यापक ही है। अतः गायत्री ही समस्त विश्व की समिधा व प्राण है और वही समस्त वेद की भी समिधा व प्राण है। वह गायत्री हमारी भी माता, प्राणदाता एवं प्राणरक्षिका है। अतः गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली है। गायत्री त्रिपदा होने से—तीन चरण की होने से यज्ञाग्नि की आत्मा व प्राणरूप समिधाएँ भी तीन ही हैं। जैसे गायत्री का प्रत्येक पाद आठ-आठ अक्षर का होता है उसी प्रकार अध्यात्म यज्ञ की भी प्रत्येक समिधा अष्टांगुल ही होती है। इसी प्रकार बाह्य यज्ञ की भी प्रत्येक समिधा अष्टांगुल ही होती है। समिधा को गायत्री छंद एवं गायत्र प्राण के तुल्य बनाकर यज्ञ करने से यज्ञ देवों तक हवि वहन करने योग्य बन जाता है। इसीलिए वेद ने कहा : **'सा गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभाच देवेभ्यो हव्यं वहतु'** (यजु० १३।६४)—वह अग्नि गायत्री, त्रिष्टुप् और अनुष्टुप् के द्वारा देवों के लिए हवि पहुँचावे। शतपथ (१।३।१।६) में भी **'या गायत्र्या०...देवेभ्यो यज्ञं वहति'**—जो गायत्री के द्वारा गायत्री रूप समिधा को प्रयुक्त करके गायत्री से अन्य छन्दों को समिद्ध करके देवों के लिए यज्ञ को ले जाता है—यह कहा है अर्थात् गायत्री के द्वारा यज्ञ देवों तक पहुँचता है। अतः यज्ञ की प्राणरूपी समिधाओं को गायत्रीरूप अष्टपदों से ३ समिधारूपों को बनाकर २४ अंगुलरूप मात्रा से संयुक्त करके होम करे। अष्टांगुल की ३ समिधाओं का अपने प्राण एवं विश्व के गायत्र प्राण से सम्बन्ध होने से अत्यन्त महत्व है।

इध्म

समिधा दान की समिधाओं के अतिरिक्त यज्ञ में ईंधन के रूप में अग्नि को प्रज्ज्वलित रखने के लिए जिन समिधाओं का प्रयोग होता है उसे इध्म कहते हैं। जिस प्रकार सामिधेनी समित् के लक्षण पूर्व वर्णित किये हैं उसी प्रकार इध्म के भी लक्षण हैं। भेद केवल उनकी मोटाई और लम्बाई में होता है। वे भी बिना फटी हुई, त्वचासहित होनी चाहिए तथा सड़ी-गली, कीड़ा खाई हुई, मलिन देशोत्पन्न, निर्वीर्य तथा अपवित्र नहीं होनी चाहिए। ये इध्म संख्या में १८ या २१ भी होती हैं। 'संस्कार विधि' में समिध पलाश १८ हस्त लिखा है। यही इध्म है। 'आन्हिक सूत्रावली' में लिखा है : **'अष्टादशसंख्यसमित्कः एकविंशति संख्या समित्को वा'**—अर्थात् १८ या २१ संख्या में इध्म संज्ञक समिधाएँ होती हैं।

इध्म का प्रमाण

महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने 'संस्कार विधि' में हस्त प्रमाण की इध्म १८ लिखी हैं। 'आन्हिक सूत्रावली' में—**'अरत्निमात्र पलाशो वा इध्मः कार्यः'**—कहा है। अर्थात्—अरत्नि प्रमाण की पलाश की इध्म बनानी चाहिए। अरत्नि मात्र का प्रमाण कोहनी से कनिष्ठका अंगुलि तक की लम्बाई का है। यह लगभग दो प्रादेश (१६ अंगुल) की लम्बाई है। सामिधेनी समित् एक प्रादेश की होती है और इध्म २ प्रादेश अर्थात् १ अरत्नि प्रमाण की होती है। जब लम्बाई में इध्म सामिधेनी समित् से दुगुनी होगी तो मोटाई में भी दुगुनी मोटी ही होनी चाहिए। इसीलिए 'आन्हिक सूत्रावली' में स्पष्ट कहा है कि : **'इध्मस्तु द्विगुणः कार्यः'**—इध्म तो निश्चय से सामिधेनी समित् से आकार-प्रकार में दुगुनी ग्रहण करनी चाहिए।

इध्म के लिए उपयोगी वृक्ष

इध्म पलाश की शाखा के ग्रहण किये जाते हैं जैसा कि 'संस्कार विधि' में पलाश को ग्रहण करने का उल्लेख है। 'आन्हिक सूत्रावली' में भी प्रधान रूप से पलाश का ही विधान किया है। परन्तु पलाश वृक्ष के अभाव में निम्न वृक्षों को ग्राह्य करने का विधान किया है—

पलाशाभावे वैकंकतः, तद् भावे काश्मर्यः, तदभावे बैल्वो वा उदुम्बरो वा खादिरो वा।

अर्थात्, पलाश के अभाव में विकंकत (वज वृक्ष) की इध्म लेवे। यदि वह भी न मिले तो श्री-पर्ण वृक्ष की लेवे। यदि वह भी न मिले तो बिल्व वृक्ष की, गूलर की या खदिर (खैर) की इध्म ग्रहण करे।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।६।२०) में यज्ञिय वृक्षों की समिधा, इध्म एवं परिधि ग्रहण करने के लिए निम्न प्रकार लिखा है—

यदि पलाशन्न विन्देत्। अथोऽपि वैकंकताः स्युः।
यदि वैकंकतान्न विन्देदथोऽपि काश्मर्यमयाः स्युः।
यदिकाश्मर्यमयान्न विन्देदथोऽपि बैल्वाः स्युः।
अथो खदिरा अथो औदुम्बरा एते हि वृक्षा
यज्ञियारतस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति।

अर्थात् 'आन्हिक सूत्रावली' में शतपथ के ही आधार पर लिखा है।

परिधि

यह भी समिधा है। ये तीन ही होती हैं जैसा कि 'संस्कार विधि' में "परिधि ३ पलाश की बाहुमात्र" का उल्लेख है। महर्षि स्वामी दयानन्दजी का जो भी लेखन है वह कल्पित नहीं है अपितु वह वेद, वेदांग, उपवेद, ब्राह्मण ग्रंथ, उपनिषद, गृह्य सूत्र, श्रौत सूत्र, कल्प सूत्र आदि के आधार पर, प्राचीन वैदिक परिपाटी के आधार पर ही हैं।

इन परिधि समिधाओं का आकार-प्रकार सामिधेनी समित् से तीन गुना बड़ा होता है। बाहुमात्र समिधा स्वभावतः लम्बी व मोटी भी होती है। 'आन्हिक सूत्रावली' में लिखा है: **'परिधि स्त्रिगुणः स्मृतः'** —अर्थात् परिधि संज्ञक समिधाएँ तीन गुनी बड़ी होती हैं।

इनकी स्थापना भी यज्ञ की समिधा चयन में श्रौत कुण्डों में होती है या स्थण्डिल में भी हो सकती है। ये आहवनीय कुण्ड में रखी जाती हैं, गार्हपत्य एवं दक्षिणाग्नि कुण्डों में नहीं। तीन होने से पूर्व दिशा को छोड़कर शेष तीन दिशाओं—दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में रखी जाती हैं। इन परिधि समिधाओं का अग्रभाग और पश्च भाग भी होता है। कुण्ड के दक्षिण और उत्तर दिशा में पूर्वाग्र तथा पश्चिम में उत्तराग्र भाग करके मन्त्रपूर्वक स्थापित की जाती हैं। ये भी पलाश की तथा गीली ही उपयोग में ली जाती हैं जैसा कि शतपथ में **'ते वै पलाशा स्युः'** (१।२।६।१६), **'ते वा आर्द्राः स्युः'**(१।३।७।१)—इन शब्दों से कहा गया है। कात्यायन श्रौत सूत्र में भी इसी के अनुसार लिखा है: **"परिधीन्दधात्यार्द्रानिकवृक्षीयान् बाहुमात्रान्पलाशवैकंकत-काश्मर्यबिल्वानि'** —अर्थात् परिधि बाहुमात्र की पलाश, वैकंकत, श्रीपर्ण, बिल्व आदि अनेक वृक्षों की गीली ही रखी जाती हैं।

चयन एवं समिधादान

यज्ञकुण्ड में समिधाओं का चयन किया जाता है। चयन का तात्पर्य व्यवस्थापूर्वक चुनना है—रखना या जमाना है। सुन्दरता से एवं उपयोगिता के आधार पर उनको स्थापित करना चाहिए। अव्यवस्थित रूप में उनको कुण्ड में भर देना, पटक देना या भरना नहीं चाहिए।

यज्ञ में समिधाओं को अर्पण करने के लिए मन्त्रान्त में स्वाहा पर ही क्रिया करनी चाहिए। बिना स्वाहा शब्द का प्रयोग किये समिधा की आहुति नहीं देनी चाहिए। जो भी समिधा कुण्ड में रखी जाये वह घृत में डुबोकर ही रखी जाये। जब-जब यज्ञ में समिधाओं की आवश्यकता हो तो उनको इसी प्रकार समिधादान के मन्त्रपूर्वक ही रखना चाहिए। कुण्ड में समिधाओं को बीच-बीच में यों ही अव्यवस्थित रूप में झोंकना नहीं चाहिए। जब भी समिधा रखें दायें हाथ से ही रखें, बायें हाथ से नहीं रखनी चाहिए, क्योंकि यज्ञ की प्रत्येक क्रिया दायें हाथ से ही होती है।

चार मंत्रों से तीन समिधा दान

समिधादान के ४ मंत्र हैं। चारों मंत्रों में स्वाहा भी है। परन्तु समिधाएँ तो तीन ही हैं। ऐसी अवस्था में प्रथम और चतुर्थ मंत्र से एक-एक समिधा और मन्त्र के दो मंत्रों से एक-एक समिधा दान करनी चाहिए।

बहुत से व्यक्तियों ने ४ मन्त्रों से तीन समिधादान की क्रिया को न समझकर निम्न प्रकार के प्रयोग प्रचलित कर दिये हैं, यथा—

(१) मध्य के दो मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र के अन्त में '...स्वाहा। इदमग्नये...इदं न मम' —यह बोलना बन्द करके अगले मन्त्र में ओ३म् बोलकर मन्त्र के अन्त में ही '...स्वाहा इदमग्नये जातवेद से...इदं न मम'...बोलते हैं और समिधा की आहुति देते हैं।

(२) कुछ लोग समिधा दान का प्रथम मन्त्र 'ओ३म् अयन्त इध्म आत्मा०...' को नहीं बोलते हैं और शेष तीन मन्त्रों में प्रत्येक से ही समिधा दान करते हैं।

(३) कुछ ऐसे भी हैं जो चारों मन्त्रों से चार समिधा दान करते हैं।

परन्तु ये तीनों ही प्रयोग ठीक नहीं हैं। जैसा कि 'संस्कार विधि' में है, ठीक उसी प्रकार ही चार मन्त्रों से तीन समिधा दान की क्रिया करनी चाहिए। दूसरी समिधादान के लिए दोनों ही मन्त्र बोलने चाहिए और दोनों में स्वाहा और 'इदं न मम' का भी भाग बोलना चाहिए और दोनों मन्त्रों के पश्चात् ही दूसरी समिधा दान करनी चाहिए।

कदाचित् ऐसा भी हो जाता है कि दूसरे मन्त्र के अन्त में स्वाहा की ध्वनि पर समिधा-दान असावधानी से हो जाता है तो उस स्थिति में तीसरे मन्त्र के पूर्ण होने पर उसके अन्त में स्वाहा की ध्वनि पर समिधा दान न करें। अर्थात् दूसरी समिधा मध्य के दो मन्त्रों से देनी चाहिए, परन्तु द्वन्द्वाहुति मन्त्रों में यह भी प्रकार प्रचलित है कि प्रथम स्वाहा पर आहुति दी जायेगी तो दूसरे स्वाहा पर आहुति नहीं दी जायेगी। यदि पहले मन्त्र पर आहुति नहीं दी गयी है तो दूसरे मन्त्र के स्वाहा पर तो आहुति अवश्य देनी ही होगी।

मध्य के दो मन्त्रों से एक समिधादान का रहस्य

समिधादान भी परिधिवत् पूर्वाग्र या उत्तराग्र समिधा को करके ही करे। भौतिक स्थूल समिधाएँ प्राण की समिधाओं की प्रतीक हैं। प्राण ग्रहण करने के लिए नासिका है। इसमें एक छिद्र दक्षिण ओर का है और दूसरा वाम दिशा का है। इनमें से प्राण की गति भी एक नासा छिद्र से, कभी दूसरे नासा छिद्र से होती है। तीसरी गति दोनों नासा छिद्रों से होती हैं। इसी का प्रतीक आदि और अन्त की १-१ मन्त्र की समिधाएँ हैं और दोनों नासा छिद्रों के प्राण की गति का प्रतीक दोनों मन्त्रों से एक समिधा है। दोनों नासा छिद्रों से लिया गया श्वास एक ही होकर शरीर में सुषुम्णा मार्ग में प्रवेश करता है। इडा और पिंगला के मध्य ही सुषुम्णा नाड़ी है। जब दोनों ही प्राण मिलेंगे तभी सुषुम्णा में प्रवेश कर सकेंगे, अन्यथा नहीं। ये तीन समिधाएँ इन्हीं तीन नाड़ियों—इडा, पिंगला और सुषुम्णा के प्राणों की प्रतीक हैं। मध्य के दोनों मन्त्रों का स्वाहा दोनों नाड़ियों के प्राणों को खोलने वाला है। यदि स्वाहा एक मन्त्र में नहीं होगा तो प्राण किसी एक नाड़ी से ही सम्बन्धित हो जायेगा और दोनों प्राणों की पृथक्-पृथक् पूर्ण स्थिति बन जाने से साधक के लिए एक समिधा के मार्ग का प्रतीक नहीं बन सकेगी। इसलिए महर्षि स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने ४ मन्त्रों से जिस प्रकार तीन समिधा दान की विधि लिखी है वही श्रेष्ठ और ग्राह्य है।

जैसे पक्षी अपने बल के अनुसार आकाश को जाते हुए आकाश का पार कोई भी नहीं पाता, इसी प्रकार कोई मनुष्य विद्या ,विषय के अन्त को प्राप्त होने को समर्थ नहीं हो सकता।

—महर्षि दयानन्द

आयुर्वेदीय आचार संहिता

•

वैद्य श्री रणजितराय देसाई
आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य
भूतपूर्व आचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

साधारणतया आयुर्वेद को जीवन-सम्बन्धी शास्त्र माना जाता है परन्तु आयुर्वेद के आचार्यों की दृष्टि में शारीरिक उन्नति के साथ-साथ आयु के लिए चरित्र और शील की वृद्धि आवश्यक होनी चाहिए। इसीलिए आचार्यों ने शास्त्रों में शील और चरित्र-सम्बन्धी आदेश-निर्देश दिये हैं।

बुद्धि तथा मेधा की वृद्धि के उपाय

सतताध्ययनं वादः :
परतन्त्रावलोकनम्।
तद्विदाचार्य—सेवा च
बुद्धि-मेधा करो गणः ।।
आयुष्यं भोजनं जीर्णे
वेगानां चाविधारणम्
ब्रह्मचर्यमहिंसा च
साहसानां च वर्जनम् ।।

(सुश्रुताचार्य)

अपने अभीष्ट विषय के ग्रन्थों का नित्य अध्ययन, वाद (शास्त्र-चर्चा), अपने विषय को समझने में उपयोगी अन्य विषयों के भी ग्रन्थों का अनुशीलन, ज्ञातव्य विषयों के ज्ञाता विद्वानों की संगति, पूर्वकृत भोजन जीर्ण होने पर ही आयु (जीवन-काल) की वृद्धि करने वाले आहार-द्रव्यों का सेवन; मल, मूत्र, क्षुधा, तृषा आदि के वेगों को न रोकना, ब्रह्मचर्य(इन्द्रियों का संयम), शारीरिक, वाचिक, मानसिक अहिंसा (शरीर आदि द्वारा किसी को भी पीड़ा न पहुँचाना), शरीर, मन, मस्तिष्क और वाणी का कोई भी ऐसा कर्म न करना जो इनकी शक्ति से अधिक हो (शास्त्र की संज्ञा में साहसों का परित्याग)—ये पदार्थ बुद्धि और मेधा की अभिवृद्धि करते हैं।

बुद्धि का शुद्ध अर्थ है—किसी भी विषय में उचित और तात्कालिक निर्णय करने का सामर्थ्य (अध्यवसाय या व्यवसाय)। मेधा का वास्तविक अर्थ है—किसी ग्रन्थ अथवा भाषण में आयी वस्तु को यथावत् समझने की शक्ति—ग्रास्पिंग पावर।

मन की निर्विकारता

प्रेत्य चेट च यच्छ्रेयः
श्रेयो मोक्षे च यत्परम्।
मनः समाधौ तत् सर्वम्।
आयत्तं सर्वं देहिनाम्।

(चरकाचार्य)

इस जन्म में, मरणोत्तर पुनर्जन्म में एवं स्वयं मोक्ष में प्राणिमात्र को जो भी कल्याण प्राप्त होता है, उस सबका मूल मन की समाधि—निर्विकारता है। वर्तमान मानस-रोग-विज्ञान का सार इस छोटे से श्लोक में आ गया है।

आचार-रसायन

आयुर्वेद के आठ अंगों में एक रसायन है। इस अंग में निर्दिष्ट आहार, विहार (कर्म), औषध आदि भी रसायन कहाते हैं। रसायन का प्रयोजन यौवन को चिरस्थायी बनाना, अन्य शब्दों में वार्धक्य को दूर हटाना (वयः स्थापन) तथा रोगों की निवृत्ति अर्थात् उनकी अनुत्पत्ति—उन्हें उत्पन्न ही न होने देना—प्रिवेन्शन तथा कारणवश वे उत्पन्न हो ही जाएँ तो उन्हें शान्त करना है। ये दोनों प्रकार के कर्म, संक्षेप में कहें तो, शरीर के स्रोतों के विशुद्ध रहने से सम्पन्न हुआ करते हैं। थोड़े में इस बात को समझ लें।

स्रोत का अर्थ है—शरीरान्तर्गत किसी वहनशील पदार्थ को एक स्थान से अन्य स्थान पर पहुँचाने वाली प्रणालियाँ। इन स्रोतों के दो प्रकार होते हैं। प्रथम प्रकार है शरीर में उत्पन्न होने वाले विकारी द्रव्यों को तत्-तत् मार्ग या द्वार से बाहर निकालने वाले स्रोत। मल, मूत्र, स्वेद एवं वात, पित्त, कफ को वे जैसे-जैसे उत्पन्न होते जायें, वैसे-वैसे पृथक्-पृथक् द्वारों (छिद्रों) से बाहर निकालने का कर्म ये स्रोत किया करते हैं। इस प्रकार शरीर में इन विकारी द्रव्यों की मात्रा आवश्यक मात्रा से अधिक बढ़ने नहीं पाती। ये द्रव्य (पदार्थ) शरीर और मन में रोगोत्पत्ति के कारण होते हैं। इनका प्रमाण (मात्रा) समावस्था में रहने से शरीर में रोग उत्पन्न नहीं होने पाते और वे उत्पन्न हुए ही हों तो उचित उपचारों द्वारा इन विकारी द्रव्यों को सम प्रमाण में लाने से वे (रोग) दूर भी हो जाते हैं।

स्रोतों का द्वितीय प्रकार वह है, जिसमें ये स्रोत जिस वस्तु का वहन करते हैं, उसे शरीर से बाहर नहीं निकालते, किन्तु वहनशील पदार्थ अपने केन्द्र स्थान से अपनी यात्रा आरम्भ कर शरीर में संचरण करते-करते अन्त में पुनः उसी स्थान पर आ जाते हैं, जहाँ से उन्होंने यात्रा का आरम्भ किया था। इस प्रकार उनका अपने स्रोत द्वारा शरीर में संचरणक्रम आजीवन अविराम चलता रहता है। हृदय से रस-रक्त का वहन कर उन्हें शरीर में पहुँचाने वाले स्रोत इस द्वितीय प्रकार के स्रोतों के उदाहरण हैं। ये स्रोत नीरोग हों तो शरीर के समस्त अवयवों को अपने पोषण

तथा स्वाभाविक कर्मों के लिए आवश्यक पदार्थ यथावत् उपलब्ध होते रहते हैं। इस स्वस्थ स्थिति का अन्तिम परिणाम यह होता है कि इन शरीरावयवों का, अन्य शब्दों में उनके समुदाय-रूप समग्र शरीर का, यौवन टिका रहता है, इनमें वार्धक्य के लक्षणों का प्रसार होने नहीं पाता।

रचना और क्रिया की दृष्टि से शरीर की इकाई-रूप कोशाएँ (सैल्स—आयुर्वेद की संज्ञा में शरीर-परमाणु) भी स्रोतों के प्रकार विशेष ही हैं। प्रतिपल उनमें रस-रक्त का प्रवेश तथा उनकी क्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न हुए मलों का निर्गमन होता ही रहता है।

आचार-रसायन, उपचार रसायन का एक प्रकार है। जिस आचरण से रसायन के पूर्वोक्त प्रयोजनों का फल प्राप्त होता है, उसे आचार-रसायन कहा जाता है। इसका लक्षण बताते हुए आचार्य चरक कहते हैं—

सत्यवादिनमक्रोधं निवृत्तं मद्य-मैथुनात्।
जप-शौचपरं धीरं दाननित्यं तपस्विनम्॥
देव - गो ब्राह्मणाचार्य—गुरु-वृद्धार्चने रतम्।
आनृश्यपरं नित्यं, नित्यं करुण-वेदिनम्॥
समजागरण - स्वप्नं नित्यं क्षीर घृताशनम्।
देस - काल-प्रमाणज्ञं युक्तिज्ञमनहं कृतम्॥
शस्ताचारमसंकीर्णम् अध्यात्म-प्रवणेन्द्रियम्।
उपासितारं वृद्धानाम् आस्तिकानां जितात्मनाम्।
धर्मशास्त्र-परं विद्यात् नरं नित्य-रसायनम्॥
गुणैरेतैः समुदितः प्रयुंक्ते यो रसायनम्।
रसायन-गुणान् सर्वान् यथोक्त स समश्नुते॥

(चरक-संहिता)

इस प्रकरण के अन्त में कहा गया है कि मनुष्य रसायन औषधों का सेवन न करे, तथापि आगे कहे आचार का नित्य पालन किया करता हो तो मानना चाहिए कि वह नित्य-रसायन-सेवी है। सत्य तो यह है कि, रसायन औषधों का सेवन करने वाले नर-नारी भी औषध-सेवन का फल तब ही प्राप्त कर सकते हैं, जब वे इस आचार-रसायन के अनुसार जीवन-यापन करते हों।

जो पुरुष सत्य भाषण करता हो, क्रोध से आविष्ट न होता हो, मद्य और मैथुन में आसक्त न हो; कायिक, वाचिक, मानसिक—किसी भी प्रकार की हिंसा न करता हो, आयास (शरीर, वाणी अथवा मन—मस्तिष्क की शक्ति से अधिक श्रम) से रहित हो, स्वभाव से शान्त हो, प्रिय वाणी ही बोलता हो, जप (इष्ट देव का स्मरण) नित्य करता हो,शौच (शुद्धि) में तत्पर रहे, धीर हो—सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों का प्रसंग उपस्थित होने पर भी जो निर्विकार रहे, नित्य ही धन, विद्या, श्रम आदि का दान किया करे, तपस्या में निरत हो; देव, गौ, ब्राह्मण, आचार्य, गुरु और वृद्धों की नित्य सेवा करे; जिसके शरीर, मन और वचन में लेशमात्र क्रूरता न हो, जिसका व्यवहार सदैव करुणापरायण हो, जिसकी निद्रा और जागरण सम (न अधिक, न न्यून) हों, जो नित्य दुग्ध और घृत का सेवन करता हो, देश और काल (परिस्थिति) को लक्ष्य में रखकर बर्ताव करता हो, जो युक्ति-पूर्वक कार्य करे, अहंकार शून्य हो, जिसका आचरण विशुद्ध हो,

जिसका भोजन शास्त्रोक्त नियमों के अनुसार बनाया तथा खाया गया हो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ और मन अध्यात्मरत हों, जो विद्या-वयोवृद्धी, जितेन्द्रियों एवं आस्तिकों की संगति किया करता हो, तथा धर्मशास्त्र के अभ्यास और तदनुरूप आचरण से संलग्न रहता हो, उसको नित्य-रसायन-सेवी समझना चाहिए।

ऊपर सूचित शौच (शुद्धि) रूप आचार का व्यापक अर्थ ग्राह्य है। भगवान् मनु ने कहा है—शौच के सभी प्रकारों में धन-विषयक शौच का स्थान सर्वोपरि है। इस शुद्धि से समन्वित पुरुष को ही शुद्ध (शुचि) मानना चाहिए। केवल साबुन और पानी से शुद्धि का नाम शुद्धि या शौच नहीं है—

सर्वेषामेव शौचानां
अर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः सहि शुचिः
न मृद् वारि-शुचिः शुचिः।

(मनु-संहिता)

आचार-रसायन का एक लक्षण तपस्वी कहा गया है। इससे भगवद्गीता में सूचित कायिक, वाचिक, मानस—त्रिविध तप से युक्त पुरुष का ग्रहण युक्तियुक्त है।

दान, दया—विपन्न पुरुष की सहायता, अक्रोध आदि भावों से मन में जो आह्लाद होता है, वह हृदय, मस्तिष्क और मन को सम-अवस्था में रखता है और उनसे निकलने वाले स्रोतों को भी स्वस्थ रखता है। परिणामतया, पुरुष हृदय, मस्तिष्क तथा इन स्रोतों की हाई ब्लड-प्रेशर आदि व्याधियों से मुक्त रहा करता है। मधुमेह, आमाशय तथा अंत्र के व्रण आदि शरीर-रोगों के मूल में भी चिन्ता, क्रोध प्रभृति मनोविकार ही रहते हैं। किं बहुना, इन मानसिक आवेशों से रहित पुरुष दीर्घायु और स्वस्थ रहता है। आधुनिक मनीषियों ने भी पूर्वाचार्यों के इस अनुभव का पूर्ण अनुमोदन किया है।

भोजन के पचनार्थ मानसिक शान्ति की आवश्यकता

प्राचीन विद्वानों ने भोजन करते हुए भी इन मनोभावों के आवेश से मुक्त स्थिति को अन्नपान के पचन के लिए अनिवार्य बताया है। देखिये—

ईर्ष्या-भय-क्रोध-परिक्षतेन
लुब्धेन शुग्-दैत्य-निपीडितेन।
प्रद्वेष युक्तेन च सेव्यमानम्
अन्नं न सम्यक् परिणामयेति।

(सुश्रुत-संहिता)

उपर अंकित श्लोक में आचार्य सुश्रुत कहते हैं कि भोजन करते समय पुरुष ईर्ष्या (अन्य पुरुष की समृद्धि को सहन न कर सकना), भय और क्रोध—इनमें से किसी आवेश से व्याप्त अन्तःकरण वाला हो, किं वा लोभ, शोक, चिंता (ऐंग्जायटी), दैन्य (लाचारी) अथवा मत्सर (द्वेष—गुणेषु-दोषाविष्कारः) से आविष्ट चित्त वाला हो तो, सेवित अन्नपान का परिपचन—यथावत् नहीं होता।

अन्य जनों को अनुकूल बनाने की कला

आयुर्वेद के आचार्यों ने रोगों के सम्बन्ध में निरूपण करने के अतिरिक्त अन्य अनेक जीवनोपयोगी विषयों का प्रतिपादन किया है। इनमें एक, प्रत्येक पुरुष को समाज में किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, इस वस्तु का विवेचन भी है। दो-एक उदाहरण एतद्-विषयक दर्शनीय हैं—

जनस्याशयमालक्ष्य
यो यथा परितुष्यति।
तं तथैवानुवर्तेत
पराराधनपण्डितः ॥

(आचार्य वाग्भट्ट)

प्रत्येक पुरुष को अपना व्यवहार इस प्रकार का रखना चाहिए कि सभी जन उससे संतुष्ट रहें। एतदर्थ वह जिस भी पुरुष के संपर्क में आये, उसके स्वभाव एवं रुचि-अरुचि, संमति-असंमति को जान लेना चाहिए, एवं उसके साथ ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए, जिससे उसे संतोष हो। लोकप्रिय होने का यह अचूक नुस्खा है। संक्षेप में यही "हाऊ टु विन फ्रैण्ड्स एण्ड इन्फ़्लुएन्स पीपुल" है।

संभाषण प्रथम स्वयं करें

पूर्वाभिभाषी सुमुखः।

(चरक तथा वाग्भट्ट)

पुरुष को सदा प्रसन्न-वदन रहना चाहिए। विशेषतः अन्यों की उपस्थिति में। किसी से मिलने का प्रसंग आये तो वार्तालाप का आरंभ, कुशलता संबंधी प्रश्न आदि के रूप में स्वयं करना चाहिए। इससे सम्मुखस्थ व्यक्ति को आत्मीयता का बोध होता है। वाल्मीकि-रामायण के आरंभ में भगवान् रामचन्द्र के गुण-वर्णन में जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है, उनमें एक "स्मित पूर्वाभिभाषी" है। इसका अर्थ है, वार्तालाप करते समय मुख पर सदा स्मित (मुस्कान) छाया रहना चाहिए।

मध्यमार्ग अपनाएँ

अनुयायात् प्रतिपदं—
सर्वधर्मेषु मध्यमाम् ॥

(वाग्भट्ट)

धर्म, राजनीति, संस्था-संचालन आदि के कार्यों में, इतना ही नहीं, गृहिणी तथा बालकों के साथ व्यवहार में भी, किसी एक मत को ही आग्रहपूर्वक पकड़े न रखकर, सर्वदा मध्यमार्ग का ग्रहण एवं अनुसरण करना चाहिए। अँग्रेजी में इसे "गोल्डन मीन"(सुवर्ण-सदृश मध्यमार्ग) कहा गया है।

शत्रु का भी उपकार ही करें

उपकार-प्रधानः स्यात् ।
अपकारेऽप्यरौ तथा ॥

(वाग्भट्ट)

यदि शत्रु भी अपना अपकार (अहित) किया करता हो, तथापि उसके प्रति भी सदा उपकार ही करें। '**न पापेऽपि पापी स्यात्**' (चरक), अर्थात् पाप करने वाले के प्रति भी पाप का आश्रय न लें।

सर्वदा समचित्तता

संपद् विपत्स्वेकमना—
हेताविष्येत् फले न तु ॥

(चरक, वाग्भट्ट)

धन, विद्या, परीक्षा का उत्तम परिणाम आदि के रूप में, संपत्ति का लाभ होने पर, हर्षित न होना, फूल न जाना चाहिए तथा इसके विपरीत विपत्ति आने पर विषाद, दैन्य आदि से अभिभूत न होना चाहिए। किन्तु सर्व अवस्थाओं में समचित्त, हर्ष-विषाद-रहित रहना चाहिए।

जिन साधनों से अन्य किसी ने उत्कर्ष प्राप्ति की हो, उनके प्रति ईर्ष्या रखनी चाहिए, उन साधनों से जो सुफल प्राप्त हुए हों, उनको लक्ष्य में रख ईर्ष्या न करनी चाहिए। उदाहरण तया, जो व्यक्ति परिश्रम द्वारा समृद्ध हुआ हो तो, 'मैं भी ऐसा ही परिश्रम क्यों न करूँ'—इस प्रकार की ईर्ष्या धारणा करना चाहिए, समृद्धि के प्रति ईर्ष्या न करना चाहिए।

शक्ति से अधिक श्रम न करें

प्राक् श्रमाद् व्यायामवर्जी स्यात् । (चरक)

देहवाक् - चेतसां चेष्टाः
प्राक् श्रमाद् विनिवर्तयेत् ॥ (वाग्भट्ट)

शारीरिक, वाचिक, मानसिक तथा बौद्धिक श्रम शक्ति से अधिक न करें।

भूत-दया को जीवन में उतारें

सर्वप्राणिषु बन्धुभूतःस्यात्, क्रुद्धानामनुनेता,
भीतानामाश्वसयिता, दीनानामभ्युपपत्ता,
सत्यसंधः, साम-प्रधानः, पर-परुष—
वचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः, प्रशम-गुण-
दर्शी, रागद्वेष हेतूनां हन्ता च ॥

(चरकाचार्य)

आत्मवत् सततं पश्येद्—
अपि कीट-पिपीलकम् ।।

(वाग्भट्ट)

प्राणिमात्र के प्रति बन्धुत्व की भावना रखें। कृमि-कीट को भी सर्वदा आत्मतुल्य मानें। कोई व्यक्ति यदि क्रोधाविष्ट हो तो उसे समझा-बुझाकर शांत करें। भयग्रस्त पुरुष को आश्वासन प्रदान कर उत्साहित करें। दीन-दलित व्यक्तियों को आश्रय दें। अपनी प्रतिज्ञा को किसी भी परिस्थिति में भंग न करें। **'रामो द्विर्नाभि भाषते'**—राम कभी द्विवचनी नहीं होता, प्रतिज्ञा को पलटने वाला नहीं होता—वाल्मीकि ऋषि के इस वचन का नित्य पालन करें।

साम्नैव यत्र सिद्धिः
न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः ।
पित्तं यदि शर्करया,
शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन ।।
सामैव हि प्रयोक्तव्यम्
आदौ कार्यं विजानता ।
साम-सिद्धानि कार्याणि
विक्रियां यान्ति न क्वचित्।।

बुद्धिमत्ता का लक्षण है कि साम उपाय से ही अभिलषित कार्य की सिद्धि हो सकती हो तो दण्ड की योजना नहीं करें। इस विषय में लौकिक दृष्टान्त भी है—प्रकुपित हुआ पित्त यदि सितोपला (मिश्री) का सेवन कराने से शांत हो जाता हो तो पटोल-पत्र-सदृश तिक्त (कड़वी) औषध का प्रयोजन ही क्या ? इस नीति-सूत्र को सदैव दृष्टिगत रखें, अन्यों द्वारा उच्चरित कटु वचनों को सहन करने का स्वभाव रखें। क्षमाशील रहें—अमर्ष (अक्षमा) का प्रसंग उपस्थित होने पर प्रयत्नपूर्वक असहिष्णुता को दबाकर क्षमाभाव को अपनायें। पूर्ण मानसिक शांति की गुणवत्ता का सदैव स्मरण करते रहें। राग और द्वेष के कारणों की विद्यमानता में उन कारणों के निर्मूलन के प्रति लक्ष्य बनायें।

लौकिक सद्व्यवहार के इतने ही उदाहरण देकर अब शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के संरक्षण में उपयोगी एक विधान किया जाता है।

उषःपान के विभिन्न प्रकार

समाज में स्वास्थ्य के संरक्षणार्थ प्रातःकाल निरन्न-कोष्ठ शीत-जल के पान की प्रथा प्रख्यात है। यह जल यदि रात को सोते समय ताम्रपात्र में भरकर रखा गया हो तो प्रशस्ततर माना जाता है। परन्तु शरीर कोई निर्जीव गटर नहीं है कि उसमें कितना भी पानी छोड़ा जाये तो भी उसमें कोई विक्रिया न हो। यत् सत्यं, पूर्वाचार्यों ने कतिपय व्याधियों में अल्प ही जल की सेव्यता का उपदेश किया है—

अरोचके प्रतिश्याये
प्रसेके श्वयथौ क्षये।
मन्देऽग्नावुदरे कुष्ठे
ज्वरे नेत्रामये तथा
व्रणे च मधुमेहे च
पानीयं मन्दमाचरेत्॥

(सुश्रुताचार्य)

तात्पर्य—विविध अरुचि, प्रतिश्याय(जुकाम), प्रसेक (लालास्राव), अथवा मुख से अति कफ पड़ना अथवा भुक्त अन्नपान का थोड़ा-थोड़ा करके बाहर आना, सर्वांग में शोथ (सूजन), क्षय (शरीर की क्षीणता अथवा राजयक्ष्मा), अग्निमांद्य, जलोदर प्रभृति उदर नामक रोगवर्ग, कुष्ठ (त्वचा के रोग, रक्तविकार), ज्वर, आँख आना आदि नेत्ररोग, व्रण और मधुमेह (कोई भी मूत्रविकार)—इनमें जल का सेवन अल्प करना चाहिए। अल्प (मन्द) का स्पष्टीकरण करते हुए टीकाकारों ने कहा है कि, पानी पिये बिना रहा जा सके तब तक न पियें। उसके बिना रहना अशक्य हो जाये तभी जलपान किया जाये। यह जल के अल्प (मन्द) सेवन का अभिप्रेतार्थ है।

जल-सेवन संबंधी इस मर्यादा का उल्लेख कर अब शीर्षकोक्त विषय पर आयें। आचार्य सुश्रुत ने प्रकृति-भेद से कई उषःपानों का निर्देश किया है—

शीतोदकं पयः क्षौद्रम्
सर्पिरित्येकशो द्विशः।
त्रिशः समस्तमथवा
प्राक् पीतं स्थापयेद् पयः॥

(सुश्रुताचार्य)

आरंभ में समझ लें कि गर्भस्थिति होते ही पुरुष की शारीरिक-मानसिक रचना, स्वभाव आदि का निर्धारण हो जाता है। गर्भधारण-काल में तत्-तत् कारण के योग से वायु, पित्त और कफ दोषों में किसी एक, दो या तीनों का आधिक्य गर्भ में हो तो तदनुरूप उसकी शारीरिक-मानसिक रचना, स्वभाव आदि का निर्माण हुआ करता है। आयुर्वेद में इस विशिष्टता को 'प्रकृति' संज्ञा दी गयी है। पुरुष की प्रकृति में जिस भी दोष का आधिक्य हो, उसका प्रकोप (वृद्धि, रोगोत्पादन क्षमता) स्वल्पमात्र कारणवश हो जाया करता है। अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुष को अपना आहार-विहार (विहार—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, वाचिक चेष्टा) देश (जलवायु), ऋतु आदि को लक्ष्य में रखकर ऐसे रखने चाहिए कि उसकी प्रकृति का उत्पादक दोष प्रकुपित होकर, रोगोत्पत्ति न करे। उषःपान के उपर्युक्त निर्देश में संहिताकार ने यही दृष्टि रखी है। वे कहते हैं—

जिन उपचारों से यौवन अधिक समय रहे, तथा वृद्धावस्था का आविर्भाव टल जाये, विलम्ब से हो, उन्हें 'वयःस्थापन' कहा जाता है। उल्लिखित श्लोक में प्रकृति-भेद से विभिन्न वयःस्थापन उषःपानों का उपदेश किया गया है। इस दृष्टि से चार द्रव्यों का विधान यहाँ किया है—शीत जल, दुग्ध, मधु एवं घृत। इनका सेवन पृथक्-पृथक् (अकेले-अकेले द्रव्य का) मिलित

किन्हीं दो का, मिलित किन्हीं तीन का तथा मिलित चारों का विधेय होता है।

पुरुष की प्रकृति में वात, पित्त, कफ—तीनों का आधिक्य हो, परन्तु किसी एक या दो की अधिकता न हो, प्रत्युत तीनों की मात्रा सम हो, ऐसे सम, वात, पित्त, कफ-प्रकृति स्त्री-पुरुषों को उषःपान के रूप में शीतल जल का (वह ताम्रपात्रस्थ हो तो अच्छा) व्यवहार करना चाहिए। पुरुष की प्रकृति पित्त-प्रधान हो तो दुग्ध का सेवन योग्य हुआ करता है। पुरुष कफ-प्रकृति होने पर मधु (शहद) का उपयोग प्रशस्त होता है। प्रकृति की उत्पत्ति में प्रधानता वायु की हो तो घृत का प्रयोग उषःपान के रूप में किया जाना चाहिए। प्रकृति के उत्पादक दोष दो हों तो मिलित दो दोषों को लक्ष्य में रखकर द्रव्यों का चुनाव करना चाहिए। घृत-मधु साथ में लेने हों तो उन्हें सम मात्रा में न लेकर, किसी एक का परिमाण अल्प और अन्य का अधिक लेना चाहिए।

आचार्यवर्य के प्रति शुभाशंसा

अन्त में लेख के कलेवर को अधिक विस्तृत न करते हुए, जिन आचार्यवर्य श्रीयुक्त महेन्द्रप्रताप शास्त्री महोदय की अर्हणा में यह अभिनन्दन ग्रंथ प्रकाशित किया जा रहा है, उनके प्रति शुभाशंसा प्रकट किये बिना यह लघु लेख अपूर्ण ही भासित होता है। श्रीयुत् आचार्य महोदय का बहुमुख व्यक्तित्व एवं उनका नाना क्षेत्रव्यापी कार्यकलाप तो ग्रन्थ के पन्नों पर विस्तीर्ण है ही। सो केवल अन्तरतम से, परमकृपालु परमपिता परमात्मा से अभ्यर्थना है कि वे आचार्य महोदय को समस्त स्वजन-परिजन-सहित शताधिकायु, सुखायु, तन और मन से, सर्वथा नीरोग तथा हितायु—जनता-जनार्दन की सेवा में समर्पित जीवनवाले बनाये रखें।

●●●

सो चिन्तु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ॥

(अथर्ववेद ॥१८।१।२०॥)

परमात्मा ने मनुष्य के लिए वेदवाणी को सूर्य के प्रकाश के समान संसार में प्रकट किया है।

तृतीय खण्ड

वैदिक जीवन-पथ

मृत्योर्माऽमृतं गमय

आधार • वैदिक ज्ञान विज्ञान
संस्कृति • विश्ववारा
धर्म • अभ्युदय निःश्रेयस
व्यवस्था • कर्मवाद एवं वर्णाश्रम
उद्देश्य • विश्व शान्ति

अभिलाषा

इन्द्रो वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तोऽराव्णः ।।

ऋग्वेद ९-६३-५ ।

सब जग को आर्य बनायें !
नियमन सबका करें अर्यमा, वैभव इन्द्र बढ़ायें ।।
वरे आप्तता आप्त जनों की संगति का सुख पायें ।
जीवन से अनुदार भावनाएँ कार्पण्य हटायें ।।
हृदय विशाल बनायें जिसमें सारा विश्व समायें ।
रुद्ररूप धर सकल संकुचित दुरित रक्ष विनसायें ।।
ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-मत्सर के तस्कर मार भगायें ।
ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी में नहायें उमगायें ।।
इध्म आत्मा बने अग्निवत् दीप्ति तेज फैलायें ।
त्याग-याग-करुणा-ममता से भू को स्वर्ग बनायें ।।
यज्ञ विश्वतोधार रचायें गायें वेद ऋचायें ।
स्नेह-स्निग्ध हम संस्कृतिवाहक आशा-दीप जलायें ।।
आहुति हव्य बना जीवन की यशःसुरभि छिटकायें ।
अमृत-पुत्र बन परम पिता के अमर परम पद पायें ।।

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार

आर्ष-शिक्षा-पद्धतिः

डा० कपिलदेव द्विवेदी
एम० ए०, डी० फिल्०
प्रधानाचार्य, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोपेश्वर (चमोली)

[१]

का शिक्षा ? न गुणोच्चयं गुणिजने या पोषयेत् पुष्टिदा,
या नो जागरयेज्जने कृतिरतिं सत्ये च निष्ठां ध्रुवाम् ।
सा शिक्षा, श्रुति-शास्त्र-बोध-निपुणा या धर्मवृत्तिप्रदा,
सच्चारित्र्य-प्रदान-तोषित-मनःकामा, न कामाश्रया ।।

[२]

अज्ञानान्धतमः प्रणोदप्रवणा, लोकोपकृत्येकदृक्,
पाषण्डादि-निवारणैकमतिदा, मोदावहा मानिनाम् ।
सद्वृत्तेन विवर्धिताखिलगुणा, या शस्यते ज्ञानिषु,
या देहात्ममनोविकासरुचिरा, शिक्षाऽस्तु सा श्रेयसे ।।

[३]

सत्याचार-विचार-शिक्षण-परा, सर्वाङ्गिकीमुन्नतिं,
छात्राणां विदधद् विवेक-विनयाचार-प्रचारैकधीः ।
चारित्र्योन्नति-साधिका गुणगणैः सारल्य-संसाधिका,
लोकेषु प्रचरेत् सुशिष्यजनिदा शिक्षा सदा कामधुक् ।।

[४]

ज्ञानोद्रेक-प्रणाशिताखिल-मला, दुःखौघ-विध्वंसिनी,
कर्तव्याश्रयणे प्रवृत्तिमतिदा, दुष्कर्म-संहारिणी ।
लोकाज्ञान-निवारणे कृतमतिर्विज्ञानधीर्भास्वरा,
शिक्षा स्याज्जगतां हिताय नितरां, कल्याणधुक् कीर्तिदा ।।

[५]

लोकस्याभ्युदयं तनोति सततं निःश्रेयसं शासती,
लोके ज्ञान-तपः-प्रमोद-सुख-धा दुःखाधि-संहारिणी ।
सद्भावाश्रयतां गता, गुणगुणे निष्ठां दधत् सात्त्विकीम्,
आर्षा पद्धतिरस्तु सर्वजगतः क्षेमाय शान्त्यै श्रियै ।।

•

सभी मनुष्यों को उचित है कि ईश्वर और विद्वान् का सत्कार कभी न छोड़ें क्योंकि अन्य किसी से विद्या और सुख का लाभ नहीं हो सकता ।

—महर्षि दयानन्द

प्राचीन भारत में शिक्षा

डा० हरिशंकर शर्मा
कविरत्न, डी० लिट्०, आगरा

नियमित आचार-विचार धर्म्म-पालन था।
थे जीवन त्याग-प्रधान, तपस्या धन था॥
शिक्षा तन, मन, आत्मा की उन्नायक थी।
मानवता का आधार ज्ञानदायक थी॥
तन पुष्ट और मन शुद्ध-पवित्र बनाना।
आत्मा में भक्ति-शक्ति की ज्योति जगाना॥
सद्शिक्षा का आदर्श यही माना था।
मानवता का उत्कर्ष यही जाना था॥
जो जीवन में सद्भाव सदा भरती थी।
जो ज्ञान-दान दे शुद्ध-बुद्ध करती थी॥
जो मुक्ति-धाम का द्वार दिखा देती थी।
जो प्राणिमात्र से प्रेम सिखा देती थी॥
जिसमें कटुता का लेश नहीं रहता था।
अनुदार भाव का शेष नहीं रहता था॥
वह सद्शिक्षा कल्याण-कर्म्म साधक थी।
निष्काम कर्म्म - प्रेरक, प्रभु - आराधक थी॥
जीवन से शिक्षा भिन्न न हो पाती थी।
वह जीवन में पवित्रता उमगाती थी॥
जो शिक्षा से जीवन को बिलगाता था।
वह साक्षर था, शिक्षित न कहा जाता था॥

विद्यालय में आदर्श, सतगुण - साधक।
आचार्य, तपस्वी, व्रती, सत्य आराधक ।।
इन संस्थाओं में शिक्षा जो पाते थे।
वे देश - जाति के सेवक बन जाते थे।
गुरुकुल - जीवन समता का संचारक था।
विषयुक्त विषमता विधि का संहारक था।।
तब त्याग-तपस्यापूर्ण सुलभ शिक्षण था।
'मानवता का निर्माण' पुण्यमय प्रण था।।
शिशु शिक्षा गर्भकाल ही में पाता था।
हो शुद्ध-बुद्ध वह धरणी पर आता था।।
संस्कृति की ज्योति अनन्त सत्य-बल अक्षय।
थी मात-पिता की गोद विश्व-विद्यालय।।
यों तो शिक्षक, विद्यालय थे घर-घर में।
थे किन्तु 'विश्वविद्यालय' भारत भर में।।
सारा संसार यहीं शिक्षा पाता था।
हो शिक्षित भारत का गौरव गाता था।।
अनिवार्य और निःशुल्क राष्ट्र शिक्षा थी।
सब थे तितिक्षु व्यवसाय, न तब भिक्षा थी।।
थे हृष्ट-पुष्ट आदर्श वीर नर - नारी।
आचारवान्, कर्मठ, विवेक - बलधारी ।।
प्रत्येक ग्राम में विद्यालय होता था।
शिक्षा दे वह अज्ञान-तिमिर खोता था।।
सब जनता के सुख-दु:ख अनुभव करते थे।
शुचिता, समता, सद्भाव, स्नेह भरते थे।।
पुत्री-पुत्रों के गुरुकुल पृथक्-पृथक् थे।
जिनमें कर्मठ आचार्य सुधीन्द्र सजग थे।।
दोनों संस्थाओं की सीमा निश्चित थी।
दूषित सह - शिक्षण की न प्रथा प्रचलित थी।।
प्रारम्भिक शिक्षा शिशु ग्रामों में पाते।
फिर गुरुकुलादि में वे प्रविष्ट हो जाते।।
अपराध निरक्षरता को तब माना था।
विद्या - विलास ही जीवन-व्रत जाना था।।

जब आठ वर्ष का बालक हो जाता था।
उपनयन धार सीधा गुरुकुल जाता था।।
राजा या रंक-कुमार साथ पढ़ते थे।
पढ़-पढ़कर वे गौरव-गिरि पर चढ़ते थे।।
अति सूत्र रूप से ज्ञान दिया जाता था।
फिर विविध भाँति विस्तार किया जाता था।।
भाषा साधन थी, साध्य शुद्ध शिक्षा थी।
उद्देश्य तितिक्षा, सदाचार-रक्षा थी।।
शिक्षा के सारे अंग पढ़ाये जाते।
साहित्य, कला, संगीत सिखाये जाते।।
सहृदयता, शुचिता का विकास होता था।।
सद्ज्ञान ज्योति का प्रिय प्रकाश होता था।।
ब्रह्मचारी विद्या - पाठ किया करते थे।
सद् - गृही लोक में धर्म्म - कर्म्म धरते थे।।
वानप्रस्थी उपदेशक और अध्यापक थे।
संन्यासी - सन्मति, संस्कृति - संस्थापक थे।।
अध्यापक त्याग, तपस्या, वर, व्रतधारी।
आचारवान्, अनुभवी, मुक्ति अधिकारी।।
उनमें न शेष भौतिक माया - ममता थी।
सब शिष्यों के प्रति सहज स्नेह-समता थी।।
वेदांग, वेद, इतिहास, कला पारंगत।
थे विविध शास्त्र, साहित्य काव्य में संरत।।
थे राजनीति या अर्थशास्त्र के ज्ञाता।
थे विज्ञ मानसिक यज्ञों के उद्गाता।।
इन पर न शासकों का प्रभाव पड़ता था।
धन - सत्ता का अंकुश न कभी जड़ता था।।
ये विश्व - हितैषी विज्ञ, विवेक - बिहारी।
थे पूजनीय सबके सागर अधिकारी।।
ये प्राणिमात्र के मित्र, सखा, हितकारी।
थे प्रभु के भक्त अनन्य, धन्य, अधिकारी।।
निश - दिन सबका कल्याण किया करते थे।
सबको विवेक, बल, दान दिया करते थे।।

('रामराज्य' से)

संस्कृति का स्वरूप और भारतीय संस्कृति

डा० विजयेन्द्र स्नातक
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

संस्कृति क्या है और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह निर्णय करना कठिन है। संस्कृति के विधायक तत्वों को दृष्टि में रखकर ही इसके स्वरूप का निर्धारण किया जा सकता है किन्तु संस्कृति-निर्माता तत्त्व भी विद्वानों और विचारकों की दृष्टि में समान नहीं हैं। **'नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्'** जैसी बात संस्कृति की परिभाषाओं में पायी जाती है। इसलिए संस्कृति की सर्वांगपूर्ण, निर्दोष और सर्वसम्मत परिभाषा देने की बात मैं नहीं कर सकता। मैं सबसे पहले एक प्रश्न उठाना चाहता हूँ जो संस्कृति के मूल-उद्भव से सम्बन्ध रखता है, तदनन्तर उसके विधायक तत्त्वों की चर्चा करूँगा।

कुछ विचारक ऐसा मानते हैं कि संस्कृति का मूल जन्मजात वंश-परंपरा से उत्पन्न सहजात संस्कार में निहित है। उन्हीं जन्मजात संस्कारों का प्रतिफलन व्यक्ति के चरित्र में होता है और वही व्यक्ति को संस्कृति की इस धरोहर से निर्मित करता है।

दूसरे विद्वान् इस विचार का जोरदार खंडन करते हैं। उनकी मान्यता है कि संस्कृति शब्द में ही उसके अर्जित करने की प्रक्रिया निहित है। जो संस्कार अर्थात निरन्तर अभ्यास द्वारा विकसित की जाये वह संस्कृति है। इसके लिए शिक्षा, नैतिकता, आचरण की पवित्रता, साहित्य, विज्ञान आदि का उपार्जित ज्ञान तथा समाज में व्यवहार की विधि आदि की अपेक्षा रहती है। उनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः ज्ञानवान्, विवेकी, शिक्षित, अनुभवी या पंडित नहीं होता। आभिजात्य या कुलीनता तो उसे जन्म से प्राप्त हो जाती है किन्तु संस्कृति उसे संसार में रहकर संस्कार द्वारा अर्जित करनी होती है। अतः जन्म या वंश-परम्परा के साथ संस्कृति का अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

तीसरी कोटि के कुछ ऐसे भी विचारक हैं जो वंश-परंपरा या जन्म के मध्य समन्वय करके यह मानते हैं कि संस्कृति प्रतिभाजन्य ईश्वरीय वरदान है। यह वरदान जाति, वर्ण, धर्म आदि की अपेक्षा नहीं करता। अकुलीन, निर्धन या दलित वर्ग में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी ईश्वरीय देन से प्रतिभाशाली और सुसंस्कृत होता देखा गया है, अतः इसे ईश्वरीय देन ही माना जाना चाहिए। वस्तुतः प्रतिभाजन्य संस्कृति में विश्वास रखने वाले यह भूल जाते हैं कि ज्ञान-

विज्ञान, कला और साहित्य में अद्भुत क्षमता रखने वाले प्रतिभाशाली सभी व्यक्ति सुसंस्कृत नहीं होते। कतिपय विलक्षण विद्वान् और प्रतिभाशाली व्यक्तियों का चरित्र इतना संस्कृतिविहीन और अशिष्ट पाया जाता है कि हम उन्हें किसी प्रकार संस्कृत व्यक्ति नहीं कह सकते। संस्कृति-पूर्णता के लिए धन-वैभव, ऐश्वर्य-सम्पत्ति, प्रतिभा-क्षमता, विद्या-कला, ज्ञान-विज्ञान आदि से सम्पन्न होना मात्र पर्याप्त नहीं है। आचरण और व्यवहार की पवित्रता, मानवीय संवेदना, सहिष्णुता, परदुःखकातरता, अहिंसा और क्षमाशीलता आदि गुणों की भी आवश्यकता है। एफ० जे० ब्राउन ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशनल सोशियोलॉजी' में संस्कृति को परिभाषित करते हुए लिखा है कि "संस्कृति मानव के सम्पूर्ण व्यवहार का ढाँचा है जो अंशतः भौतिक परिवेश से प्रभावित होता है। यह परिवेश प्राकृतिक एवं मानवनिर्मित दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु प्रमुख रूप से यह ढाँचा सुनिश्चित विचारधाराओं, प्रवृत्तियों, मूल्यों तथा आदतों द्वारा प्रभावित होता है, जिसका विकास समूह द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जा सकता है।" इसी आधार पर 'प्रिमिटिव कल्चर' के लेखक एडवर्ड टायलर ने संस्कृति को ज्ञान, विश्वास, कला, साहित्य, रीति-रिवाज का अर्जित ज्ञान ठहराया है और कहा है कि मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते इन सबके सम्मिश्रण से संस्कृति को प्राप्त करता है। वास्तव में संस्कृति का विस्तार इतना व्यापक है कि उसे हम न तो जन्मजात कह सकते हैं, न उसे ईश्वरीय देन ठहरा सकते हैं और न विद्वत्ता या प्रतिभा के आधार पर उसकी अनिवार्यता सिद्ध कर सकते हैं।

संस्कृति समाज के संरक्षण और मानव विकास की सरणि है। यदि स्वस्थ और सभ्य समाज की हम अपेक्षा करें तो हमें संस्कृति के संपोषण का प्रयत्न करना होगा। संस्कृति के इस संपोषण में सैकड़ों वर्ष लगते हैं और शनैः-शनैः विविध संस्कारों और रीति-रिवाजों से छनकर संस्कृति रूप धारण करती है। किसी लेखक की मान्यता है कि "सैकड़ों वर्षों में थोड़ा-सा इतिहास बनता है, सैकड़ों वर्षों के इतिहास के बाद परम्परा बनती है, यह परम्परा किसी जाति या देश की आधार-भूमि बनती है। संस्कृति सुदीर्घकालीन अनुभव, प्रयोग और विविध परीक्षणों की परिणति होती है। यह ऐसी सम्पदा है जो राष्ट्र को प्रकाश देती है, आत्मविश्वास जागृत करती है। उसे आशावादी और उत्कर्षकामी बनाती है।"

संस्कृति-विवेचन के संदर्भ में सभ्यता और धर्म की चर्चा करना मैं आवश्यक समझता हूँ। इन दोनों शब्दों को प्रायः संस्कृति के समानान्तर या कभी-कभी प्रमादवश पर्याय के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। विद्वानों ने प्रारंभ से इस भ्रम के निवारण की चेष्टा की है और यह स्पष्ट करना चाहा है कि सभ्यता और संस्कृति के मध्य विभाजक रेखा खींचना कठिन नहीं है। संस्कृति मनुष्य की उन क्रियाओं, व्यापारों और विचारों का नाम है जिन्हें वह साध्य के रूप में देखता है। संस्कृति मानव समाज के विकास की द्योतक है। संस्कृति का सम्बन्ध चिन्तन, मनन तथा आचरण की उदात्तता से है। आध्यात्मिक स्तर पर विकसित होने पर ही मनुष्य संस्कृति के परिवेश में प्रविष्ट होता है। सभ्यता से तात्पर्य मनुष्य के भौतिक उपकरण, साधन, आविष्कार, सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थान एवं उपयोगी कलाओं का अंगीकार है। सभ्यता मनुष्य की क्रियाओं द्वारा उत्पन्न उपयोगी साधनों तथा दैनंदिन वस्तुओं पर निर्भर करती है। किसी समाज या राष्ट्र की आन्तरिक प्रकृति की पहचान उसकी संस्कृति से होती है, सभ्यता उस समाज या राष्ट्र को प्राप्त बाह्य उपकरणों से जानी-पहचानी जाती है। संस्कृति का

लक्ष्य मानव जाति के लिए शाश्वत मूल्यों की खोज है तो सभ्यता का ध्येय मानव समाज के लिए भौतिक सुख-सुविधा के साधन जुटाने से है। जर्मन विद्वान् स्पेंगलर ने सभ्यता को संस्कृति की चरम दशा कहा है। यह चरम दशा उत्थान की नहीं, उसके पतन की भी होती है अर्थात् भौतिक उपकरणों एवं सुख-साधनों की अतिशयता ही पतन का कारण बनती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाश्चात्य देशों की वैज्ञानिक प्रगति तथा उससे उत्पन्न सभ्यता है।

संस्कृति और धर्म का पारस्परिक क्या सम्बन्ध है और क्या धर्म संस्कृति का अविच्छिन्न अंग है? धर्मविहीन समाज और संस्कृतिविहीन समाज क्या समान हैं? इस प्रकार के और भी अनेक प्रश्न इस संदर्भ में उठाये जाते रहे हैं। वास्तव में धर्म शब्द जब संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त न होकर कर्तव्य, शुद्धाचरण, संयम, नियम आदि के अर्थ में प्रयुक्त होता है तब उसमें संस्कृति के अनेक उपादान समाहित रहते हैं। किन्तु जब धर्म, मजहब के संकीर्ण दायरे में रूढ़िवादिता और धर्मांधता का वाचक बनता है तब उसका संस्कृति से सीधा सरोकार नहीं रहता। व्यक्ति और समाज के जीवन को जो धारण कर सके वही सच्चा धर्म है। समाज की व्यवस्था, नियमित चर्चा, तथा व्यक्ति-विकास के नियमों का उपदेष्टा ही धर्म है। कणाद मुनि के शब्दों में '**यतोऽभ्युदय-निश्रेयससिद्धिः सधर्मः**', जिससे अभ्युदय—इस लोक का उत्कर्ष और निश्रेयस परलोक का कल्याण होता हो वह धर्म है। संस्कृत व्यक्ति के लिए इसी प्रकार के धर्माचरण की आवश्यकता है। अतः पंथ, मत, संप्रदाय, मजहब आदि की संकीर्णताओं से ऊपर उठकर जो प्राणिमात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त करे वह धर्म ही सही धर्म है और धर्म-पथ पर संस्कृति के मार्ग से चला जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि धर्म और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी संस्कृति शब्द धर्म का पर्याय नहीं है। इन दोनों में अन्योन्य सम्बन्ध होने पर भी मौलिक अन्तर है। कुछ ऐसे रूढ़िवादी धार्मिक व्यक्ति समाज में देखे जाते हैं जो धर्म के नाम पर दंभ और पाखंड का प्रपंच फैलाकर समाज को भ्रमित करते हैं, वस्तुतः वे धार्मिक नहीं हैं, और संस्कृति से तो उनका दूर का भी नाता-रिश्ता नहीं माना जा सकता।

आधुनिक युग में संस्कृति शब्द का कुछ ऐसा अर्थ-विस्तार हुआ है कि एक ओर वह अपने मूल से विच्छिन्न हो गया है तो दूसरी ओर ऐसे क्षेत्र में पहुँच गया है जहाँ वह अपनी सार्थकता खो बैठा है। इसमें संदेह नहीं कि ललित कलाएँ संस्कृति-निर्माण में सहायक होती हैं किन्तु आजकल जिस प्रकार 'सांस्कृतिक कार्यक्रम' शब्द का प्रयोग होने लगा है वह एक सीमित कलात्मक प्रदर्शन है। संस्कृति कलाओं तक सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति और समाज के मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है। संस्कृति किसी बाह्य प्रदर्शन तक, चाहे वह कलात्मक (नृत्य, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला आदि) प्रदर्शन ही क्यों न हो, सीमित नहीं है। संस्कृति का व्यक्ति-संस्कार के साथ गहरा और अटूट सम्बन्ध है। व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके विकास और परिष्कार के लिए किये गये प्रयासों में संस्कृति का अन्वेषण एक सीमा तक संस्कृति की सही खोज है।

भारतीय संस्कृति के मूलाधार

भारतीय संस्कृति का विवेचन और विश्लेषण करने से पहले यह ध्यातव्य है कि भारत की संस्कृति एक गतिशील (डायनेमिक) संस्कृति है। वह युगधर्म के साथ अपने रूपाकार में परिवर्तनशील रही है। अतः यह मान लेना कि वैदिक युग की, रामायण या महाभारत युग की,

पौराणिक युग की, बौद्धकाल की या मध्ययुग की संस्कृति ठेठ भारतीय है—भारतीय संस्कृति के मूलाधार को न समझना ही है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिनकर प्रणीत 'संस्कृति के चार अध्याय' पुस्तक की भूमिका में भारतीय संस्कृति के व्यापक आयाम को स्पष्ट करते हुए लिखा है—"भारतीय जनता की संस्कृति का रूप सामासिक (कम्पोज़िट) है और उसका विकास धीरे-धीरे हुआ है। एक ओर तो इस संस्कृति का मूल आर्यों से पूर्व मोहंजोदड़ो आदि की सभ्यता तथा द्रविड़ों की महान् सभ्यता तक पहुँचता है, दूसरी ओर इस संस्कृति पर आर्यों की बहुत गहरी छाप है जो भारत में मध्य एशिया से आये थे। पीछे चलकर यह संस्कृति उत्तर-पश्चिम से आने वाले तथा फिर समुद्र की राह से आने वाले लोगों से बार-बार प्रभावित हुई। इस प्रकार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना आकार ग्रहण किया। इस संस्कृति में समन्वयन तथा नये उपकरणों को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता है।" इस लम्बे उद्धरण से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति का इतिहास जितना पुराना है उतने ही उपकरणों का वैविध्य भी इसमें है। इस संस्कृति को विश्व के सभी राष्ट्रों से भिन्न एवं उदात्त माना जाता है। इसे सभी विद्वानों ने उदार संस्कृति की संज्ञा दी है। 'हिन्दू व्यू आफ लाइफ' पुस्तक में डॉ० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि हिन्दू धर्म ने बाहर से आने वाली जातियों तथा आदिवासियों के देवी-देवताओं को स्वीकार कर अपना देवी-देवता मान लिया। ईरानी, हूण, शक, कुषाण, पार्थियन, बैक्ट्रियन, मंगोल, सीथियन, तुर्क, ईसाई, यहूदी, पारसी—सभी भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गये, ठीक वैसे ही जैसी छोटी नदियाँ और नद समुद्र में आकर विलीन हो जाते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति का काल-निर्धारण करना या उसे किसी एक युग विशेष की देन ठहराना समीचीन नहीं है। वांछनीय एवं अभ्युदयमूलक परिवर्तनों को ग्रहण करना भारतीय मनीषा की अपनी विशेषता है। यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय संस्कृति का अनुशीलन किया जाये तो ज्ञात होगा कि इसमें युगानुरूप संशोधन, परिवर्तन, परिमार्जन होते रहे हैं और उस काल की विशिष्ट देन को यह संस्कृति सहेजकर आत्मसात् करती रही है। इसीलिए इसे सामासिक संस्कृति, अनेकता में एकतामूलक संस्कृति, सामंजस्य और समन्वय की संस्कृति कहा जाता है। इस प्रकार के विशेषण विश्व के किसी अन्य राष्ट्र की संस्कृति के साथ प्रयुक्त नहीं होते।

भारतीय संस्कृति को समझने के लिए उसके ऐक्यमूलक सिद्धान्त को समझना होगा। भारत विशाल देश है। विविध वर्णों और जातियों का देश है। विविध भाषाओं तथा धर्म-सम्प्रदायों का देश है। विविध रीति-रिवाजों तथा विविध वेश-भूषा का देश है, फिर भी सांस्कृतिक पीठिका पर यह एक है, इसकी एकता असंदिग्ध है। विसेंट स्मिथ ने 'हिन्दुस्तान का इतिहास' में इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए लिखा है कि "निस्संदेह भारत में एक ऐसी गहरी मूलभूत एकता है जो भौगोलिक पार्थक्य अथवा राजनैतिक शासन से निर्मित एकता से कहीं अधिक गहन एवं गंभीर है। यह एकता रक्त, वर्ण, जाति, भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, धर्म-सम्प्रदाय की अनेकानेक विभिन्नताओं का अतिक्रमण करके बहुत ऊँची उठ जाती है।"

भारतीय संस्कृति के मूलभूत उपादानों में मानव को प्रमुख स्थान पर रखकर उसके विकास का चिन्तन है। इस सृष्टि में मानव को सर्वश्रेष्ठ मानकर समस्त क्रिया-कलाप और सांस्कृतिक अनुष्ठान उसी के निमित्त किये जाने चाहिए, ऐसी मान्यता हमारी संस्कृति में प्रारंभ से व्याप्त रही है। समस्त विश्व की मंगल-कामना भी हमारी संस्कृति की आधारशिला है। **'सर्वे भवन्तु सुखिनो सर्वे सन्तु निरामयाः, सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुखभाग्भवेत्'** में

इसी कामना को व्यक्त किया गया है। ईशोपनिषद् में यही भाव दूसरे शब्दों में व्यक्त किया गया है, "जो व्यक्ति समस्त प्राणियों को आत्मा में और आत्मा को समस्त प्राणियों में देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता।" अर्थात्—मानव ही नहीं, समस्त प्राणियों के प्रति रागात्मक सम्बन्ध का उपदेश भारतीय चिन्तन में वैदिक काल से रहा है। मानवात्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए ही **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अवधारणा भारतीय संस्कृति में है।

भारतीय संस्कृति व्यक्ति के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विकास को समानान्तर रूप से स्वीकार करती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को स्वतंत्र एकांश मानकर पहले अपना परिष्कार करे, तदनन्तर समाज को स्वस्थ दिशा देने का प्रयास करे। व्यष्टि-निर्माण के बिना समाज-निर्माण की कल्पना करना मूल को छोड़कर पत्तियों और शाखाओं को सींचना है। यदि व्यक्ति के निजी जीवन में आचरण की पवित्रता नहीं है और मनसा-वाचा-कर्मणा वह सत्य की प्रतिष्ठा नहीं करता तो वह सुसंस्कृत समाज का निर्माण कभी नहीं कर सकता। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्म में साम्य नहीं रखता उसे विद्वान् होने पर भी दंभी, धनवान होने पर भी लोभी, कुलीन होने पर भी अकुलीन समझा जाता है। अतः संस्कृति का धन, वैभव, ऐश्वर्य, प्रभुता, पांडित्य, आभिजात्य, मान-सम्मान के साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है।

भारतीय संस्कृति में आत्म का विगलन और परमात्म का पोषण है। अर्थात् स्व-सुख-भोग की कामना से रहित होकर समाज को सुखी बनाने के प्रयत्न में संलग्न व्यक्ति सुसंस्कृत है। संस्कृत व्यक्ति को ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिसे वह अपने प्रति सहन नहीं कर सकता। **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** में इसी उदात्त आशय को व्यक्त किया गया है। व्यक्ति को सुसंस्कृत होने के लिए आत्मसंयम, अपरिग्रह, तितिक्षा, करुणा, अहिंसा, सत्य, सेवा, त्याग, समता, प्रेम और समन्वय की आवश्यकता है। जो व्यक्ति दूसरों के लिए अर्थात् समाज के लिए अधिक-से-अधिक कष्ट उठाकर जीवन-यापन में विश्वास करता है वह अपरिग्रही तो होता ही है, आत्म-दमन के साथ निरीह और निस्वार्थ भी होता है। परदुःखकातर होना—पराई पीड़ा को समझना वैष्णव संस्कृति का विशिष्ट तत्त्व ठहरा दिया गया। वास्तव में यह भाव भारतीय संस्कृति के मूल में प्रारंभ से ही व्याप्त रहा है। रामायण और महाभारत, जो प्राचीन भारतीय संस्कृति के संवाहक महाकाव्य हैं, आज भी इसीलिए समाहृत हैं कि उनमें इस कोटि के चरित्रों की अवतारणा की गयी है जिन्हें आज भी हम जाति, देश, काल की सीमाओं से ऊपर उठकर संस्कृति के मानदंड के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। दुष्कृति का विनाश, सुकृति की रक्षा, धर्म की संस्थापना आदि विशेषण उन्हीं महापुरुषों के लिए प्रयुक्त होते हैं जो संस्कृति के यान को युगों-युगों तक बढ़ाते लाये हैं। आज के युग में भी महान् वैज्ञानिकों का मानवता के कल्याण के लिए आत्म-बलिदान, राजनीतिज्ञों का राष्ट्र के लिए उत्सर्ग, समाज-सुधारकों का समाज के लिए निस्वार्थ भाव से समर्पण और साहित्यकारों और विचारकों का मानव की विचारधारा के परिष्कार के लिए किये गये रचनात्मक प्रयत्न संस्कृति-विकास की परम्परा में आने वाले अनुकरणीय कार्य हैं। इन्हीं से राष्ट्रीय संस्कृति बनती है।

'भारतीय संस्कृति' शब्द का प्रयोग करने पर यह प्रश्न अनेक बार उठाया गया है कि क्या किसी देश और जाति की अपनी विभिन्न संस्कृति होती है जो किसी और देश की नहीं हो सकती? क्या भौगोलिक परिवेश एवं सामाजिक परिस्थितियों से राष्ट्रीय अथवा जातीय संस्कृतियों का निर्माण होता है? इन प्रश्नों का आशय यही है कि यदि भारतीय संस्कृति जैसी

कोई संस्कृति है तो क्या वह मानव-संस्कृति या विश्व-संस्कृति से भिन्न, कुछ सीमित संस्कृति है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि संस्कृतियों के निर्माण में एक सीमा तक देश और जाति का योगदान रहता है। संस्कृति के मूल उपादान तो प्रायः सभी सुसंस्कृत और सभ्य देशों में एक सीमा तक समान रहते हैं किन्तु बाह्य उपादानों में अन्तर अवश्य आता है। राष्ट्रीय या जातीय संस्कृति का सबसे बड़ा योगदान यही है कि वह हमें अपने राष्ट्र की परम्परा से सम्पृक्त बनाती है, अपनी रीति-नीति की सम्पदा से विच्छिन्न नहीं होने देती। आज के युग में राष्ट्रीय एवं जातीय संस्कृतियों के मिलन के अवसर अति सुलभ हो गये हैं, संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष भी शुरू हो गया है। कुछ ऐसे विदेशी प्रभाव हमारे देश पर पड़ रहे हैं जिनके आतंक ने हमें स्वयं अपनी संस्कृति के प्रति शंकालु बना दिया है। हमारी आस्था डिगने लगी है। यह हमारी वैचारिक दुर्बलता का फल है। अपनी संस्कृति को छोड़, विदेशी संस्कृति के अविवेकहीन अनुकरण से हमारे देश के राष्ट्रीय गौरव को जो ठेस पहुँच रही है वह किसी राष्ट्रप्रेमी जागरूक व्यक्ति से छिपी नहीं है। भारतीय संस्कृति में त्याग और ग्रहण की अद्भुत क्षमता रही है अतः आज के वैज्ञानिक युग में हम किसी भी विदेशी संस्कृति के जीवन्त तत्वों को ग्रहण करने में पीछे नहीं रहना चाहेंगे किन्तु अपनी सांस्कृतिक निधि की उपेक्षा करके यह परावलम्बन राष्ट्र की गरिमा के अनुरूप नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर्य की आलोक-प्रदायिनी किरणों से पौधे को चाहे जितनी जीवन-शक्ति मिले किन्तु अपनी जमीन और अपनी जड़ों के बिना कोई पौधा जीवित नहीं रह सकता। अविवेकी अनुकरण, अज्ञान का ही पर्याय है।

भारतीय संस्कृति को बिना समझे कुछ विदेशी लेखकों ने इसे रूढ़िवादी तथा अंध-विश्वासमयी संस्कृति कहा है। धर्म के संकीर्ण आवेष्टन में उन्हें भारतीय संस्कृति में जड़ता लक्षित हुई किंतु भारत की धर्मप्राणता ने जिस रूप में अन्य धार्मिक विचारों को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया उस ओर इन लेखकों का ध्यान नहीं गया। भारत की धर्म-प्रवणता से न तो इस्लाम को ठेस पहुँची और न ईसाइयत के प्रचार-प्रसार में बाधा आयी। मुसलमान, ईसाई और पारसी अपने-अपने धार्मिक विश्वासों के साथ भारतीय संस्कृति के अनेक पोषक तत्त्वों से समृद्ध होते रहे। पाकिस्तान की राष्ट्रभाषा उर्दू का उद्भव भारतीय भाषाओं से हुआ, वही उर्दू आज हिन्दू-मुसलमान दोनों की भाषा है। हिन्दुओं की रथ-यात्रा का रूपान्तरण मुसलमानों के ताजियों में माना जाता है। सुख का दुःख में यह विपर्यय भी संस्कृतियों के संघर्ष का परिणाम है। भारतीय संस्कृति भारत से बाहर जिन-जिन देशों में गयी वहाँ अपनी छाप अवश्य छोड़ती आयी। मिस्र का प्रथम धर्मोपदेष्टा और शासक मेनस अब केवल धर्मग्रंथों में ही है किन्तु जिस मनु को उन्होंने मेनस नाम से माना है वह मनु आज भी भारतीय साहित्य, धर्म और स्मृतियों में जीवित है। चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, बर्मा, बोर्नियो आदि देशों में बौद्धधर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति का संक्रमण हुआ और आज भी वह इन देशों की अपनी सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक मान्यताओं में देखी जा सकती है। हमारी संस्कृति आक्रामक कभी नहीं रही, यही उसकी विशेषता है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के कुछ मानदंड थे, जो युग के अनुरूप बदलते गये। वर्णाश्रम व्यवस्था, अध्यात्मवाद, मोक्ष, अपरिग्रह, अहिंसा, यज्ञ, श्रमण या संन्यास, आदि के प्रति आज उस प्रकार का आग्रह नहीं रह गया है। आश्रम-व्यवस्था तो लगभग समाप्त ही हो गयी है।

मोक्ष और पुनर्जन्म के सिद्धान्त दार्शनिक चिन्तन के विषय हो गये हैं। संन्यासाश्रम और श्रमण संस्कृति भी सार्वदेशिक रूप में लक्षित नहीं होती। इसी प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ और आरण्यक जीवन भी संस्कृति का अनिवार्य अंग नहीं रह गया है। यह सब परिवर्तन भारतीय संस्कृति की उदारता के ही सूचक हैं। मूढ़ाग्रह से मुक्त होने का यह प्रमाण है। इन तत्त्वों का विरोध नहीं किया जा सकता, किन्तु युगधर्म ने उन्हें छोड़ दिया तो संस्कृति के भी वे अनिवार्य उपकरण क्यों माने जायें ?

भारतीय संस्कृति के आन्तरिक एवं बाह्य पक्षों को समझने के लिए उन्हें पृथक्-पृथक् करके परखना होगा। यदि संस्कृति का आन्तरिक पक्ष उद्घाटित करना है तो भारत के विभिन्न धर्मों, दर्शनों, साहित्यिक ग्रंथों, लोक-विश्वासों तथा सर्व-स्वीकृत धारणाओं का अध्ययन अपेक्षित है। कुछ ऐसे मौलिक सिद्धान्त और शाश्वत सत्य हैं जो भारतीय संस्कृति के मेरुदंड कहे जा सकते हैं। आस्तिकवाद भारतीय चिन्तन का सुफल है किन्तु बौद्ध और जैन दर्शन नास्तिक होते हुए भी भारतीय संस्कृति से बाहर नहीं है। संसार की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन केवल दर्शन का ही विषय नहीं, भारतीय चिन्तन का परिणाम है जिसे परवर्ती भारतीय सूफी कवियों ने भी स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति में अनासक्त भाव से कर्म करने का विधान है। गीता के द्वारा यह अनासक्ति योग बहुत अधिक मान्य हुआ और अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी कर्म का प्रेरक तथा कर्मफल से अनासक्त बनाने में सहायक हुआ। निष्काम कर्म की भावना को हम भारतीय संस्कृति की महान् देन कह सकते हैं, विश्व के किसी देश की संस्कृति में इस प्रकार की कर्म-प्रेरणा उपलब्ध नहीं होती। भारतीय दर्शन आत्मदर्शन है—पाश्चात्य दर्शन भौतिकता का दर्शन है। अतः उसका सांस्कृतिक आधार भी वैसा ही है।

जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में भी भारतीय संस्कृति द्विधाग्रस्त नहीं है। शरीर के प्रति मोह को इस संस्कृति में स्थान नहीं मिला किन्तु साथ ही निरोग और स्वस्थ शरीर से शतायु होने की कामना पायी जाती है। सुख-दुःख में समान रहने का उपदेश तो गीता में है किन्तु भारतीय महाकाव्यों के नायक उसे चरितार्थ करते हैं। रामायण का नायक रामचन्द्र पुरातन संस्कृति का जीवन्त प्रतीक है। सिंहासनारूढ़ होने का सुख उसे मोहित नहीं करता—वनवास की आज्ञा भी उसके लिए दुःख का कारण नहीं है। दोनों स्थितियों को वह समान रूप से स्वीकारता है। भारत के महाकाव्यों में, लोककथाओं में, पौराणिक आख्यानों में जो महापुरुष सहस्राब्दियों से जीवित हैं उनमें हरिश्चन्द्र, दधीचि, शिवि, बलि, रामचन्द्र, कृष्णचन्द्र, युधिष्ठिर आदि का नाम संस्कृति के किसी-न-किसी एक विशेष गुण के कारण ही है।

अहिंसा, करुणा, मैत्री, मुदिता और विनय को सुसंस्कृत व्यक्ति के लिए अनिवार्य माना गया है। जीव-दया इसी कारण संस्कृति का अंग बन गयी। किन्तु जब विभिन्न देशों और विभिन्न धर्मावलम्बियों का भारत में आगमन और समंजन हुआ, इन तत्वों में यथाभिलषित परिवर्तन भी आये। परिवर्तन भविष्य में भी होंगे, इस संभावना को हम निरस्त नहीं कर सकते किन्तु भारतीय संस्कृति उन परिवर्तनों में अपना स्वरूप विलीन नहीं करेगी।

भारतीय संस्कृति पर यों तो प्राचीन काल से ही आघात होते रहे हैं। इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रहार पूरी निष्ठुरता के साथ हुए किन्तु इन प्रहारों को झेलकर तथा इन धर्मों को अपने अंचल में समेटकर भारतीय संस्कृति जीवित रही, यही इसकी जीवन्तता का प्रमाण है। ब्रिटिश शासनकाल में ही पुनर्जागरण का समय आया। उसी पुनर्जागरण में राजा राममोहन राय,

रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे व्यक्ति उत्पन्न हुए और उन्होंने भारतीय संस्कृति की धारा को अक्षुण्ण रखा। इस युग के इन महापुरुषों ने संस्कृति को अधिकाधिक उदार बनाने का प्रयास किया, धार्मिक सहिष्णुता का परिचय देकर संकीर्ण मनोवृत्ति से बचाये रखा।

संक्षेप में, विश्व संस्कृति का इतिहास मनुष्य के निर्माण का इतिहास है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आधुनिक युग की वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने संस्कृति को आगे बढ़ाया है। ज्यों-ज्यों ज्ञान-विज्ञान के नये क्षेत्र खुलेंगे मनुष्य की बुद्धि, जिज्ञासा और चेतना का प्रसार होगा और संस्कृति की दिशा में भी मनुष्य को अधिक सक्रिय होना पड़ेगा। किन्तु मानव को सतर्क रहकर यह भी देखना होगा कि वैज्ञानिक विकास की यह प्रक्रिया मात्र बौद्धिक ही न बने। मनुष्य की संवेदनशील रागात्मिका वृत्ति से इसका सम्बन्ध टूटे नहीं। विज्ञान के आविष्कार यदि अणुबम, हाइड्रोजन बम और न्यूट्रोन बम बनाने में लगे रहे तो मानव संस्कृति के कलंक नागासाकी और हिरोशिमा के वीभत्स और भीषण दृश्य पुनः उपस्थित हो सकते हैं। भारतीय संस्कृति इसीलिए युद्ध को भी धर्मयुद्ध की संज्ञा देती रही है। मानव और दानव की संस्कृति में भेद मानती रही है। निरीह, निहत्थे, निशस्त्र, निरपराध मनुष्यों पर बमवर्षा केवल असंस्कृत कर्म ही नहीं, अमानवीय भी है। अतः भारतीय संस्कृति ज्ञान-विज्ञान के रचनात्मक विकास में आस्था रखते हुए '**जियो और जीने दो**' में विश्वास रखती है। हम मृत्युपूजक नहीं हैं, हम दूसरे का धन छीनने का स्वप्न नहीं देखते। '**मागृधः कस्यस्विद्धनम्**' हमारा मंत्र है। अहिंसा, अपरिग्रह शक्ति और संतोष हमारी दिनचर्या है। आत्मा की अमरता में हमारा विश्वास है। हम प्राणिमात्र के सुख की कामना करते हैं। अपने महापुरुषों का सम्मान संस्कृति में सर्वोच्च स्थान पाता है। '**महाजनो येन गतः स पन्थः**' इसीलिए कहा गया है। हमने किसी ईसा मसीह को सूली पर नहीं चढ़ाया, किसी सुकरात को जहर का प्याला नहीं पिलाया, किसी गैलेलियो की आँखें नहीं फोड़ीं—यदि हमें कहीं आसुरी वृत्ति के विरोध में खड़ा होना पड़ा तो युद्ध-क्षेत्र में उस असुर का सामना किया और उसे परास्त किया है। हम मानव को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए उसके सांस्कृतिक विकास के लिए साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला, संगीत को आवश्यक मानते हैं। हम समस्त संसार को सुसंस्कृत एवं सभ्य देखना चाहते हैं। हमारा विश्वास है विश्व का सांस्कृतिक विकास ही विश्व-शान्ति, विश्व-मैत्री और विश्व-ऐक्य की सरणि है।

•

मनुष्यों को चाहिए कि सुन्दर शिक्षा दें, ब्रह्मचर्य, विद्याधर्म के अनुष्ठान और अच्छे स्वभाव आदि का सर्वत्र प्रचार करके सब मनुष्यों को ज्ञान और आनन्द से प्रकाशित करें।

—महर्षि दयानन्द

वेद का विश्वव्यापी प्रचार

एक जरूरी याददाश्त

क्या न्यूजीलैण्ड के क्रिस्टो नामक टापुओं में वेदपाठी लोग हैं ?

[नीचे हम स्वर्गीय वेदभक्त श्री ला० रूपलालजी कपूर की डायरी में लिखित 'एक जरूरी याददाश्त' प्रकाशित कर रहे हैं। इसके पढ़ने से यह हर्षवर्धक समाचार ज्ञात हुआ है कि न्यूजीलैण्ड के समीपवर्ती 'क्रिस्टो' नामक टापुओं में अनेक ऐसे परिवार बसे हुए हैं, जिनमें अभी भी वेदों को मौखिक स्मरण रखने की प्रथा विद्यमान है। यह बात जिस व्यक्ति से ज्ञात हुई, उसका नाम भी दिया हुआ है। वह वहीं का निवासी था, और उसे भी यजुर्वेद मौखिक स्मरण था। वह बौद्ध मतानुयायी था। अगर उसका कथन सत्य है, तो इस सम्बन्ध में खोज की जानी चाहिए। भारत सरकार से हमारी प्रार्थना है कि आस्ट्रेलिया-स्थित अपने राजदूत के द्वारा क्रिस्टो टापुओं में रहने वाले ऐसे परिवारों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सर्वसाधारण को सूचित करे। यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण मामला है, इस सम्बन्ध में अवश्य कार्यवाही होनी चाहिए।

—सम्पादक]

मौरिखा २५ मार्च, १९४३ ई० को विरजानन्द आश्रम बारहदरी रावी पार का वाक़या है। महायुद्ध में न्यूगिनी के पास क्रिस्टो नामक जजीरों से जान बचाकर भाग कर आए एक बौद्ध की जबानी, जो एल्फा फैन फैक्टरी में इलेक्ट्रिकल मिस्त्री के काम पर नौकर था, यह पता लगा कि उन सब द्वीपों यानी जजीरों में, जिनमें आस्ट्रेलिया के असली बाशिन्दे भी शामिल हैं, यह आम प्रथा यानी रिवाज है कि चाहे कोई मुसलमान हो, चाहे ईसाई हो, बौद्ध हो या हिन्दू, छह वर्ष की आयु बाद के बच्चे को भिक्षु संन्यासी के सुपुर्द कर दिया जाता है। वहाँ यजुर्वेद-ऋग्वेद कण्ठ कराया जाता है। कोई एक वेद, कोई दोनों जबानी याद कर लेते हैं और वेद जबानी याद कर चुकने के बाद स्कूल में लड़के को दाखिल कराया जाता है।

जिस बौद्ध ने यह हाल सुनाया, उसको खुद यजुर्वेद के चालीस-के-चालीस अध्याय जबानी याद हैं। उसने हमको भिन्न-भिन्न अध्यायों में से जहाँ-जहाँ से हमने सुनना चाहा, स्वरसहित शुद्ध पाठ सुनाया। इसके साक्षी स्वामी अनुभवानन्दजी शान्त, वेदों को जानने वाले श्री पं०

ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु, जिनका जीवन ही वेद स्वाध्यायमय है, मैं खुद, मेरे भाई लाला हंसराजजी व ज्ञानचन्दजी व विरजानन्द आश्रम के ब्रह्मचारी हैं। मैंने पूछा—'क्या आपको इनके अर्थ भी आते हैं?' उसने कहा—'शुद्ध व्याकरण के अनुसार तो नहीं, हाँ कर सकता हूँ। मगर वहाँ जो संन्यासी व ब्राह्मण हैं, उनको शुद्ध अर्थों का ज्ञान भी है। वहाँ चार वर्ण यानी जात हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र। यह अपने-आपको क्षत्रिय कहता है। क्षत्रिय ब्राह्मण की लड़की से शादी नहीं कर सकता। उसने कहा कि आस्ट्रेलिया के वहशी भी, जो इंसान का गोश्त खाते है, वेद आपको जबानी सुना देंगे। हम सब हैरान हुए कि वेद कहाँ-कहाँ सुरक्षित पड़ा है!

फिर स्वामी अनुभवानन्दजी शान्त की जबानी मालूम हुआ कि द्रविड़ों ने सामवेद संभाल कर रखा। १८८३ ई० में ईसाइयों ने लगभग ८०० भाष्य साम के द्रविड़ देश में जलाये। अथर्व को पारसियों ने, क्योंकि जरदुश्त की 'जन्दावस्था' में अथर्ववेद ही कुछ बदल कर जैसा-का-तैसा ही मिलता है। पाँच अक्षर बदल दिये हैं—क, ध, स, दो और; बाकी मंत्रों के मंत्र वैसे ही, थोड़ा-सा शब्दभेद है। उन्होंने 'जन्दावस्था' निकाल कर अनेक स्थल सुनाये। 'जन्दावस्था' के एक टीका-कार ने तो नीचे यह भी दर्ज कर दिया है कि यहाँ वेद के इस शब्द की जगह यह लिखा है। अर्थ भी करीबन वही है, जो हम वेद का करते हैं।

जहाँ समन्दर में पड़े द्वीपों ने यजुर्-ऋग् संभालकर रखा है, पारसियों ने अथर्व, द्रविड़ों ने साम संभालकर रखा हुआ है, वहाँ अभी तक मूल चारों वेद संभले पड़े हैं। हिन्दुओं के पास होते, तो और बात थी। ये तो वह गवाह हैं, जो अपने-आपको हिन्दू या आर्य नहीं कहते। हमारे धर्म का सहारा आर्य-संस्कृति, और जीवन का आधार वेद वैसा ही उसी शक्ल में आज भी है, जैसा कभी पहले था। सत्य की तरह जो था, सो है, और सो ही आगे रहेगा।

—रूपलाल

गांधी-स्क्वायर घर,
सुबह ६ बजे, ३०-३-४३

•

अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा मनीषाम्।
अद्यूत्येऽवसे निह्वये वां वृधे च नो भवतं वाजसातौ॥
(यजुर्वेद, ३४।२९)

जो मनुष्य निष्कपट, आप्त दयालु विद्वानों का निरन्तर सेवन करते हैं, प्रगल्भ धार्मिक विद्वान् होके सब ओर से बढ़ते और विजयी होते हुए सब के लिए सुखदायी होते हैं।

शिक्षा की सर्वांग अवधारणा

डॉ० रामनाथ शर्मा
डी० फिल्०, डी० लिट्०
रीडर, मेरठ विश्वविद्यालय, मेरठ

चेतन प्राणियों में मानव-शिशु सबसे अधिक दुर्बल होता है। जिस समय उसका जन्म होता है, उस समय वह न चल-फिर सकता है, न स्वयं खा-पी सकता है और न अपनी आवश्यकताओं को दूसरों पर अभिव्यक्त कर सकता है। जहाँ अन्य पशुओं के शिशु कुछ सप्ताह अथवा कुछ माह बीतते ही हाथ-पैरों से पुष्ट होकर उछलने-कूदने और शिकार करने लगते हैं, वहाँ मानव-शिशु कितने ही वर्षों तक सर्वथा निरुपाय और पर-निर्भर बना रहता है। यदि दूसरे लोग उसकी देखभाल न करें तो उसका अस्तित्व नहीं बन सकता, किन्तु यही निरुपाय प्राणी बड़ा होकर समस्त प्राणी-जगत पर शासन करता है। वह केवल भूमण्डल पर ही नहीं, किन्तु जल और गगन में भी स्वच्छन्द विचरण करता है। अपने मस्तिष्क की उड़ानों से वह पृथ्वी से करोड़ों योजन दूर के ग्रह-नक्षत्रों की भी खबर लाता है। यह सब अन्तर कैसे होता है? इसका उत्तर है शिक्षा। शिक्षा ही वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा निरुपाय और पर-निर्भर मानव-शिशु सब प्रकार से विकसित होकर समाज में उपयुक्त स्थान ग्रहण करता है। शिक्षा के माध्यम से ही मानव-जाति द्वारा अर्जित सहस्त्रों वर्षों के अनुभव बालक को हस्तान्तरित कर दिये जाते हैं। शिक्षा के माध्यम से ही वह अपने समाज की संस्कृति को ग्रहण करता है। शिक्षा के द्वारा उसका शारीरिक, मानसिक, सौन्दर्यात्मक, नैतिक और आध्यात्मिक विकास होता है। शिक्षा के द्वारा उसके चरित्र का निर्माण होता है और वह आत्म-विकास के पथ पर अग्रसर होता है। शिक्षा से ही उसका समाजीकरण होता है और वह मनुष्य की संज्ञा पाने योग्य बनता है। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि मानव के ज्ञान-विज्ञान की प्रगति में शिक्षा की प्रक्रिया सबसे अधिक आश्चर्यजनक, सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक क्रांतिकारी खोज है।

शिक्षा के शाब्दिक अर्थ

ब्रिटिश दार्शनिक जॉन लाक के अनुसार, बालक का मन एक कोरी पटिया की तरह होता है, जिस पर कुछ भी लिखा जा सकता है। इस प्रकार शिक्षक का कर्तव्य बालक के खाली मन को नये-नये ज्ञान और सूचनाओं से भरना माना जाता था। शिक्षा-सम्बन्धी यह मत

पाश्चात्य शिक्षा के इतिहास में प्राचीन और मध्य काल में विशेष रूप से प्रचलित था, किन्तु अधिकांश शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा को इस अर्थ में नहीं लिया है।

शिक्षा शब्द का पर्याय 'ऐडूकेशन' शब्द लेटिन भाषा के एडूकेटम शब्द से निकला है। इसमें दो शब्द शामिल हैं 'ई' (E) और 'डूको' (Duco)। ई का अर्थ है अन्दर से बाहर की ओर, डूको का अर्थ है आगे बढ़ना। इस प्रकार शाब्दिक रूप में एडूकेशन का अर्थ, अन्दर से बाहर की ओर बढ़ना या विकसित होना है। अस्तु, शिक्षा व्यक्ति की आन्तरिक शक्तियों को विकसित करने की प्रक्रिया है। एडूकेशन शब्द को लेटिन के शब्द Educere से भी जोड़ा जाता है जिसका अर्थ है अन्दर से बाहर की ओर अग्रसर होना। लेटिन के शब्द Educere का अर्थ शिक्षित करना है जो कि व्यवहार में परिवर्तन से होता है। इस प्रकार शिक्षा व्यक्ति में परिष्कार लाती है।

शिक्षा का संकुचित और व्यापक अर्थ

व्यवहार में शिक्षा शब्द का प्रयोग विशेषतया दो अर्थों में किया जाता है : संकुचित और व्यापक। संकुचित अर्थ में शिक्षा से तात्पर्य शिक्षा-संस्थाओं में थोड़े वर्षों की होने वाली पढ़ाई अथवा प्रशिक्षण है। इसमें किसी निश्चित स्थान पर कुछ निश्चित व्यक्तियों द्वारा कुछ निश्चित माध्यमों से निश्चित पाठ्यक्रम की शिक्षा दी जाती है। इससे वास्तविक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसके अलावा भी मनुष्य को बहुत कुछ जानना शेष रह जाता है। व्यावहारिक जीवन में कुशलता प्राप्त करने के लिए जिन गुणों की आवश्यकता होती है वे केवल विद्यालय की पढ़ाई से विकसित नहीं हो सकते। शिक्षा का संकुचित अर्थ औपचारिक शिक्षा (विद्यालयों में होने वाली पढ़ाई-लिखाई) दिखता है। इसमें व्यक्ति कुछ वर्ष विशिष्ट विद्यालय के पाठ्यक्रम की शिक्षा लेकर कोई डिप्लोमा या डिग्री प्राप्त करता है जिससे उसे नौकरी प्राप्त करने में आसानी होती है। परन्तु वास्तव में केवल डिग्री प्राप्त करने से किसी व्यक्ति को शिक्षित नहीं कहा जाना चाहिए। दूसरी ओर, डिग्री के अभाव में किसी व्यक्ति को अशिक्षित कहना भी ठीक नहीं होगा। प्रत्येक देश में ऐसे बहुत-से समाजसुधारक, सन्त और दार्शनिक तथा विचारक पाये जा सकते हैं जिनकी औपचारिक शिक्षा के विषय में 'मसि कागद छुओ नहीं' वाली उक्ति चरितार्थ होती है, परन्तु क्या इससे कोई उनको अशिक्षित कहता है? स्पष्ट है कि शिक्षा को संकुचित अर्थ में लेना ठीक नहीं है।

व्यापक अर्थ में मानव-प्राणी अपने जीवन में, सभी आयु में और सब कहीं कुछ-न-कुछ शिक्षा प्राप्त करता रहता है। इस प्रकार शिक्षा केवल विद्यालय या कक्षा के कमरे तक ही सीमित नहीं होती, बल्कि परिवार और समाज की विभिन्न संस्थाओं तथा समितियों आदि के माध्यम से भी मिलती है। शिक्षा केवल अध्यापक ही नहीं देते, बल्कि वह छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष किसी भी व्यक्ति और यहाँ तक कि प्रकृति से भी मिल सकती है। इस दृष्टि से बालक किसी विशेष व्यक्ति से शिक्षा प्राप्त नहीं करता, बल्कि उसके चारों ओर के परिवेश में शिक्षा के सैकड़ों साधन होते हैं। व्यापक अर्थ में लेने पर शिक्षा के सभी विषयों को निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे अनेक होते हैं। शिक्षा का सम्बन्ध केवल विद्यार्थियों से ही नहीं होता। युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष— सभी कुछ-न-कुछ शिक्षा ग्रहण करते रहते हैं।

इस प्रकार व्यापक अर्थ में शिक्षा 'अनौपचारिक शिक्षा' (Informal Education) को कहा जाता है। शिक्षा का यह पहलू अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसमें शिक्षा पहले से आयोजित

नहीं होती, बल्कि प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में बालक पास-पड़ोस, खेल के साथी तथा समाज के सभी व्यक्तियों से नयी बातों की जानकारी प्राप्त करता रहता है। बहुत-सी बातों को तो वह केवल दूसरों की देखा-देखी सीख जाता है। उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिए कि शिक्षा के व्यापक और संकुचित अथवा अनौपचारिक और औपचारिक अर्थों में परस्पर विरोध है। वस्तुतः शिक्षा शब्द का प्रयोग उपर्युक्त दोनों ही अर्थों में होता रहा है और व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में उपर्युक्त दोनों ही प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता होती है। विद्यालय का शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति पूर्ण शिक्षित तो नहीं होता, परन्तु एक ओर तो वह सामान्य अशिक्षित व्यक्ति से अधिक जानकार होता है और दूसरी ओर उसमें शिक्षा को व्यापक अर्थों में ग्रहण करने की योग्यता आ जाती है। अस्तु, दोनों ही प्रकार की शिक्षा आवश्यक है।

शिक्षा के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण

प्राचीन यूनान में प्लेटो ने शिक्षा को वांछित आदतों के विकास की प्रक्रिया माना था, जिससे बालक सत्कर्म और सद्‌गुणों की ओर आकर्षित होता है। प्लेटो शिक्षा को व्यापक अर्थों में लेता है। उसके अनुसार शिक्षा की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने शिक्षा को स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का निर्माण माना है।

मध्य काल में प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री कमेनियस ने शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना जिसके द्वारा मनुष्य धर्म, ज्ञान और नीति सम्बन्धी गुणों का विकास करके मनुष्य कहलाने का अधिकारी होता है। आधुनिक काल में अनेक पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा की विभिन्न परिभाषाएँ उपस्थित की हैं। रूसो के अनुसार, "बालक की प्राकृतिक शक्तियों और योग्यताओं के स्वतः और स्वाभाविक विकास का नाम शिक्षा है।" इसी बात को दूसरे शब्दों में रखते हुए फ्रोबेल ने लिखा है—"शिक्षा का कार्य प्राकृतिक विकास को उसके लक्ष्य की ओर जाने में सहायता करना है।" कान्ट ने भी शिक्षा को पूर्ण विकास माना है। उसके अपने शब्दों में—"शिक्षा व्यक्ति में उस सब पूर्णता का विकास है, जिसके लिए वह योग्य है।" प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पेस्तालॉजी ने शिक्षा का तात्पर्य बतलाते हुए लिखा हैं—"शिक्षा का अर्थ सब शक्तियों का प्राकृतिक, प्रगतिशील और व्यवस्थित विकास है।" आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों के द्वारा दी गयी उपर्युक्त कुछ परिभाषाओं को टी०पी०नन के इन शब्दों में रखा जा सकता है—"शिक्षा व्यक्ति का पूर्ण विकास है, ताकि वह अपनी सर्वोत्तम सामर्थ्य के अनुसार मानव-जीवन में एक मौलिक योगदान प्रदान कर सके।" इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा को विकास की प्रक्रिया माना है।

यह विकास क्या है? यद्यपि किसी भी क्षेत्र में सीखने की योग्यता विकास पर निर्भर है, परन्तु विकास का अर्थ सीखना नहीं है। विकास का अर्थ शरीर और मस्तिष्क की क्रमशः प्रगति है। इस प्रगति से बालक निम्नलिखित तत्त्व अर्जित करता है—

(१) अपने चारों ओर के परिवेश के विषय में ज्ञान।
(२) अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त गामक (Motor) नियन्त्रण।
(३) साधारण बातचीत करने के लिए भाषा सम्बन्धी योग्यताएँ।
(४) व्यक्तिगत और समूहगत सम्बन्धों की कुछ जानकारी।

शिक्षा के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-शास्त्रियों ने मानव के विकास की प्रक्रिया में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक और नैतिक विकास पर जोर दिया है। कुछ शिक्षा-शास्त्री नैतिक विकास को ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। हरबर्ट ने लिखा है—"नैतिकता में ही शिक्षा का समस्त तत्त्व निहित है।" किन्तु भारतीय दार्शनिकों ने नैतिक स्तर को मानव-विकास का सर्वोच्च स्तर नहीं माना है। वे नैतिक स्तर से भी ऊपर धार्मिक स्तर और धार्मिक से भी ऊपर आध्यात्मिक स्तर को मानते हैं। अस्तु, शिक्षा की जो परिभाषाएँ भारतीय दार्शनिकों ने उपस्थित की हैं, उनमें धार्मिक और आध्यात्मिक विकास पर विशेष जोर दिया गया है। उपनिषदों के ऋषि याज्ञवल्क्य के अनुसार—"शिक्षा वह है जो मनुष्य को सच्चरित्र और संसार के लिए उपयोगी बनाये।" प्राचीन भारतीय विचारक शिक्षा को मुक्ति का साधन मानते थे। इसीलिए कहा गया था, '**सा विद्या या विमुक्तये।**' समकालीन भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों ने भी शिक्षा की परिभाषा करने में उसके आध्यात्मिक पहलू पर विशेष जोर दिया है। विवेकानन्द के शब्दों में—"मनुष्य की आन्तरिक पूर्णता को अभिव्यक्त करना शिक्षा है।" गांधीजी ने लिखा था—"जो मुक्ति के योग्य बनाये वही विद्या है। अतः जो चित्त की शुद्धि न करे, मन और इन्द्रियों को वश में करना न सिखाये, निर्भयता तथा स्वावलम्बन उत्पन्न न करे, जीवन-निर्वाह का साधन न बताये, दासता से मुक्ति और स्वतन्त्रता से रहने का उत्साह तथा सामर्थ्य उत्पन्न न करे, उस शिक्षा में चाहे जितने ज्ञान का कोष, तर्क की कुशलता और भाषा की प्रवीणता क्यों न उपस्थित हो, वह शिक्षा नहीं है।" गांधीजी के इन शब्दों से जहाँ अँग्रेजों द्वारा भारत में चलायी गयी शिक्षा-प्रणाली के दोष स्पष्ट होते हैं, वहाँ शिक्षा के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय विचारधारा भी स्पष्ट होती है। प्राचीन कहने से अर्थ यह नहीं है कि यह अर्वाचीन नहीं है। वास्तव में वर्तमान काल में भारत में स्वामी विवेकानन्द, श्री अरविन्द, रवीन्द्रनाथ, गांधी तथा अन्य दार्शनिकों के विचारों के माध्यम से जो नव्य वेदान्त दर्शन उपस्थित किया गया है, वह विज्ञान के नवीनतम प्रकाश में संशोधित प्राचीन भारतीय वेदान्त-दर्शन ही है। अस्तु, अर्वाचीन और प्राचीन भारतीय विचारकों के मतों में यदि कहीं थोड़ा-बहुत अन्तर है भी तो वह केवल बाह्य आवरण तक ही सीमित है। मूल रूप से दोनों की आत्मा एक ही है। याज्ञवल्क्य से लेकर स्वामी विवेकानन्द, गांधी और श्री अरविन्द तक भारतीय शिक्षा-शास्त्रियों ने शिक्षा की प्रक्रिया में आध्यात्मिक विकास और आन्तरिक पूर्णता पर ही विशेष जोर दिया है। इस दृष्टि से उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली को सीमित अर्थों में ही शिक्षा माना है। श्री अरविन्द के शब्दों में—"जो शिक्षा केवल ज्ञान प्रदान करने तक ही सीमित हैं वह शिक्षा नहीं है। सच्ची शिक्षा वह है जो मानव का आध्यात्मिक विकास करती है, व्यक्ति की चेतना का परम सत्ता से योग कराती है।" भारतीय दार्शनिक मानव के ईश्वर से संयोग की स्थिति से कम में कभी भी सन्तुष्ट नहीं होते। इस दृष्टि से समकालीन भारतीय शिक्षा-दार्शनिकों ने भी शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य मनुष्य का आध्यात्मिक विकास अथवा ईश्वर-साक्षात्कार माना है। मानव-सेवा और मानव-प्रेम इस ईश्वर-साक्षात्कार के लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन माने गये हैं। यह ईश्वर-साक्षात्कार ही दूसरे शब्दों में आत्म-साक्षात्कार कहा जाता है। अस्तु, भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में—"शिक्षा मस्तिष्क को अन्तिम सत्य खोजने के योग्य बनाती

है, जो सत्य हमें पार्थिव बन्धनों से मुक्त करता है और हमें वह धन देता है जो सांसारिक वस्तु नहीं है बल्कि आन्तरिक प्रकाश है, जो शक्ति नहीं है बल्कि प्रेम है और जिसके कारण मानव उस सत्य को अपना लेता है और उसे ढंग से प्रकट करता है।"

सर्वांग शिक्षा : पाश्चात्य और भारतीय मत का समन्वय

शिक्षा की परिभाषा के विषय में पीछे जो पाश्चात्य और भारतीय दार्शनिकों के विचार दिये गये हैं, उनमें केवल आंशिक अन्तर है। जब कि पाश्चात्य दार्शनिक मानव-विकास में नैतिक स्तर को सर्वोच्च स्तर मानते हैं, भारतीय दार्शनिक आध्यात्मिक विकास को सर्वोच्च मानते हैं। इस प्रकार भारतीय मत में पाश्चात्य मत सम्मिलित है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि शिक्षा व्यक्ति का सर्वांग विकास है। सर्वांग विकास में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, व्यक्तिगत और सामाजिक और यदि इनके अलावा विकास के किसी अन्य पहलू का पता लगे तो उसका भी विकास सम्मिलित है। कहना न होगा कि भविष्य में नये अनुसंधानों से शिक्षा की इस व्यापक परिभाषा की व्याख्या में भले ही अन्तर आ जाये, किन्तु इसका रूप यही बना रह सकता है। यहाँ पर सर्वांग विकास के इन विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करना उपयुक्त होगा। मनुष्य के शारीरिक विकास में शरीर के विभिन्न अंगों का विकास और गामक विकास सम्मिलित है। बौद्धिक विकास में उसकी बुद्धि का विकास आता है। मानसिक विकास में विचारात्मक, संवेगात्मक और संकल्पात्मक विकास आता है। विचारात्मक विकास में विभिन्न प्रकार के विषयों की जानकारी प्राप्त करना सम्मिलित है। संवेगात्मक विकास का एक रूप सौन्दर्यात्मक विकास है, जिसके बालक की सौन्दर्य की अनुभूति-विषयक योग्यता बढ़ती है। दूसरी ओर, इसमें संवेगों की परिपक्वता और नियन्त्रण सम्मिलित है। इससे संकल्पात्मक विकास में भी सहायता मिलती है, जिसका परिणाम नैतिक चरित्र का विकास है। नैतिक विकास का ही एक पहलू सामाजिक विकास है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह में उपयुक्त स्थान ग्रहण करने में समर्थ होता है और समाज के सदस्य तथा राज्य के नागरिक के रूप में अपने कर्तव्यों का पालन करता है। नैतिक विकास के अतिरिक्त धार्मिक विकास में व्यक्ति संसार से ऊपर उठकर असीम सत्ता से सम्पर्क स्थापित करता है किन्तु आध्यात्मिक विकास सर्वोपरि है। यह आध्यात्मिक विकास सर्वांगीण विकास का ही परिणाम है। इसके सम्पन्न होने पर व्यक्ति के जीवन में आध्यात्मिक मूल्यों को सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। इसकी एक पहचान व्यक्ति में बढ़ते हुए आनन्द से भी होती है। आध्यात्मिक विकास के बिना अन्य प्रकार के विकास में समन्वय नहीं हो सकता। आध्यात्मिक विकास ही उनमें परस्पर सम्बन्ध स्थापित रखता है। यह विकास शिक्षा की प्रक्रिया भी है और परिणाम भी।

•

शिक्षा का उद्देश्य

श्री क्षितीश वेदालंकार
संपादक 'आर्य जगत्'

जब श्रीमती इन्दिरा गांधी सत्ता के शिखर पर थीं तब एक बार एक सार्वजनिक भाषण में उन्होंने बड़े पते की बात कही थी। उन्होंने कहा था, स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् हमसे दो बहुत बड़ी गलतियाँ हो गयीं। पहली गलती तो यह थी कि हमने अँग्रेजों के जाने के पश्चात् उनके द्वारा प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया और दूसरी गलती यह थी कि हमने अँग्रेजों के समय की नौकरशाही और अफसरशाही को अपनी शासन-व्यवस्था में ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया।

एक प्रकार से, वर्तमान काल में देश में जितनी भी समस्याएँ हैं, उन सबका मूल कारण उक्त दोनों गलतियों को माना जा सकता है। हो सकता है कि किसी को इस बात में अत्यन्त सरलीकरण की गन्ध आये, परन्तु कुशल चिकित्सक की तरह अन्य मनीषी विद्वान् भी किन्तु-परन्तु के हेर-फेर के साथ इसी निदान की स्थापना करेंगे। देश का ऐसा कौन-सा विचारशील व्यक्ति है जिसने शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता न बतायी हो? राष्ट्रपति से लेकर सामान्य राजकर्मचारी तक, साधु-संतों से लेकर सामान्य नागरिक तक, शिक्षितमन्यों से लेकर अनपढ़ किसान तक सब एक स्वर से शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की बात कहते हैं। वह भी आज से नहीं, जिस दिन से भारत ने स्वतंत्रता प्राप्त की है उसी दिन से, परन्तु आज तक स्थिति ज्यों-की-त्यों है।

क्या यह माना जाये कि इस शिक्षा-प्रणाली में स्थायित्व के ऐसे तत्त्व हैं कि यह बारम्बार प्रयत्न करने पर भी हटती नहीं और वज्रलेप की तरह चिपककर बैठ गयी है? या यह माना जाये कि इस शिक्षा-प्रणाली के विरोधी अयथार्थदर्शी हैं, वे इसके गुणों को नहीं जानते, इसीलिए उनके इतना कोसने पर भी यह अपने गुणों के कारण आज तक टिकी हुई है और आगे भी टिकी रहेगी? या यह माना जाये कि भारत के निवासी कायर हैं जो इस शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन की बात तो खूब जोर-शोर से करते हैं, किन्तु इसे हटाने का प्रसंग आते ही उनके सामने अर्जुन के व्यामोह की-सी स्थिति पैदा हो जाती है और वे अपने हाथ से गाण्डीव फेंककर "**सीदन्ति मम गात्राणि...वेपथुश्च शरीरे मे...**" की मुद्रा में किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर बैठ जाते हैं? या यह माना जाये कि भले ही अधिसंख्यक जनता इस शिक्षा-प्रणाली के परिवर्तन के पक्ष में हो, किन्तु इस

शिक्षा-प्रणाली के समर्थक लघुसंख्यक होकर भी इतने साधन-सम्पन्न और चतुर हैं कि वे अपनी चतुराई से इस परिवर्तन को क्रियान्वित नहीं होने देते ?

इसी प्रकार के और भी अनेक कारणों की तलाश की जा सकती है और प्रत्येक कारण के पक्ष में तर्क परम्परा भी प्रस्तुत की जा सकती है, पर हमें लगता है कि उनमें से कोई भी कारण पर्याप्त कारण की कोटि में नहीं आता। फिर सबके चाहते हुए भी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन क्यों नहीं हो पाता ?

वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को जारी करने में अँग्रेजों का क्या उद्देश्य था, यह बात कई बार दुहराई जा चुकी है। अँग्रेजों को अपना शासन चलाने के लिए नौकरशाही की जरूरत थी और यह शिक्षा-प्रणाली उस नौकरशाही की मशीनरी के ऐसे पुर्जे तैयार करती थी जो उसमें पूरी तरह फिट बैठते थे। ये पुर्जे उस मशीनरी में एक बार फिट होने के बाद अपने-आप को कितना सौभाग्य-शाली समझते थे, इसका अनुमान आज के अँग्रेजीदाँ लोगों को देखकर लगाया जा सकता है। यह अँग्रेजपरस्त और अँग्रेजीपरस्त जादू के सिर पर चढ़कर बोलने की पराकाष्ठा का द्योतक है। स्वर्गीय श्री पं० जवाहरलाल नेहरू का यह वाक्य—"मैं इस देश का प्रधानमंत्री बनने वाला अन्तिम अँग्रेज होऊँगा" (I will be the last Englishman to be Prime Minister of India), भारत में भूतपूर्व अमरीकी राजदूत श्री जॉन केनेथ गैलब्रेथ ने हाल में ही लिखी 'एज ऑफ अनसर्टेण्टी' नामक पुस्तक में उद्धृत किया है और उसने इसी मनोवृत्ति के कारण नेहरूजी की प्रशंसा की है। हो सकता है, नेहरूजी ने उक्त बात गम्भीरता से न कही हो, पर इससे उनके मन का रुझान छिपा नहीं रहता।

पर नहीं, किसी पर भी दोषोरोपण करने की आवश्यकता नहीं है—न अँग्रेजों पर, न अँग्रेजपरस्तों पर। इतना कोलाहल होने पर भी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन न होने का मुख्य कारण है—दिशाहीनता, उद्देश्य की अनिश्चितता और मानसिक विभ्रम। परिवर्तन सभी चाहते हैं, पर वह परिवर्तन क्या हो, किस तरह हो और किस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हो—यह किसी के सामने स्पष्ट नहीं है। जब मंजिल ही नहीं मालूम तो जायें किधर ?

महात्मा गांधी न केवल दूरदर्शी राजनीतिज्ञ थे, प्रत्युत अनेक क्षेत्रों में अपने मौलिक तत्त्व-चिन्तन से नवीन और व्यावहारिक स्थापनाएँ करने वाले भी थे। वे स्कूल-कालेजों के इतने विरोधी थे कि अपनी किसी सन्तान को उन्होंने किसी स्कूल या कालेज में नहीं पढ़ाया। इतना ही नहीं, उन्होंने उस समय छात्रों का आह्वान किया कि वे स्कूल-कालेजों का वहिष्कार करें। हमारे आज के कई बड़े नेता उसी समय की उपज हैं। पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का बहिष्कार तो एक नकारात्मक पहलू था। उसका रचनात्मक रूप था—बुनियादी तालीम। इस बुनियादी तालीम का मुख्य उद्देश्य था श्रम की प्रतिष्ठा—अर्थात् बालक कुछ-न-कुछ उत्पादक श्रम करे और साथ में शिक्षा भी प्राप्त करे। उत्पादक श्रम में शामिल था—तकली चलाना, रुई धुनना—पींजना और सूत अटेरना, खिलौने बनाना, बागवानी और खेती-बाड़ी के काम में हाथ बँटाना आदि। बुनियादी तालीम में पुस्तकों का स्थान नहीं के बराबर था और इतिहास, भूगोल, गणित, भाषा आदि सब विषय बालकों को बिना पुस्तकों के सिखाये जाते थे। बुनियादी तालीम का विचार बहुत अच्छा था, पर वह सेवाग्राम के सिवाय और कहीं नहीं चल पाया और अब तो शायद वहाँ भी नहीं है।

इधर जब से जीवन-स्तर को उन्नत करने की लहर चली है, तब से समझा जाने लगा है

कि जो विद्या अर्थकारी नहीं है, वह विद्या नहीं है। इसीलिए शिक्षा को रोजी-रोटी की समस्या हल करने वाली होनी चाहिए—यह विचार उभरकर सामने आया और जो शिक्षा युवकों को अपनी रोजी-रोटी कमाने के योग्य न बना सके, उसे सर्वथा व्यर्थ समझा जाने लगा। पर रोजी-रोटी का अर्थ भी केवल नौकरी समझा गया जो अन्त में नौकरशाही की वंशवृद्धि में ही सहायक हुआ। परिणाम? शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ बेकारों की संख्या में वृद्धि। इस समय देश में शिक्षितों की बेरोजगारी की एक नयी समस्या भयंकर रूप से उपस्थित हुई है, जिसने युवकों के असंतोष में घी का काम किया है।

शिक्षा का वैदिक आदर्श क्या है—यदि एक बार यह स्पष्ट हो जाये तो शायद बहुत-सा वाद-विवाद स्वयं शान्त हो जाये और शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता को हृदय से अनुभव करते हुए भी उस विषय में दिशाहीनता की स्थिति के कारण विद्यमान विवशता समाप्त हो सके। एक बार मंजिल का नक्शा सामने आ जाने पर उस तक पहुँचने का मार्ग भी तैयार किया जा सकता है।

उपनिषत्कालीन ऋषियों ने, शिक्षा कैसी होनी चाहिए, इस प्रश्न का समुचित उत्तर निम्नांकित मन्त्र में दिया है—

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

इस मन्त्र का प्रायः सहभोजों और प्रीतिभोजों के अवसर पर उच्चारण किया जाता है, पर इसका किसी प्रकार के भोज से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो विद्याभ्यास के प्रारम्भ में गुरु और शिष्य द्वारा सम्मिलित रूप से उच्चरित होने वाला मन्त्र है। इस स्थापना का प्रतिपादक शब्द है—'नौ'—जो द्विवचन है—अर्थात् हम दोनों—गुरु और शिष्य। विद्या ग्रहण के साथ ही इस मन्त्र का सम्बन्ध है, इस बात का द्योतक है—'अधीतम्' शब्द। अधीतम् का अर्थ है—विद्या-स्वाध्याय—जो कुछ हम पढ़ते या पढ़ाते हैं। जिस धातु से 'स्वाध्याय' शब्द का निर्माण होता है, 'अधीतम्' में भी वही धातु है। अधीतम्, अध्याय और अध्ययन—तीनों समानार्थक शब्द हैं, व्याकरण की दृष्टि से तीनों में केवल प्रत्यय का अन्तर है। 'अधीतम्' शब्द यहाँ कर्ता के स्थान पर है। अब इस मन्त्र का सीधा अन्वय और अर्थ यों होगा—

नौ अधीतं सह नौ अवतु, सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै,
(नौ अधीतम्) तेजस्वि अस्तु मा विद्विषावहै।

गुरु और शिष्य दोनों मिलकर पाठ प्रारम्भ करने से पहले कहते हैं—हमारा स्वाध्याय साथ-साथ हमारी रक्षा करने वाला हो, साथ-साथ हमारी भोजनाच्छादन की व्यवस्था करने वाला हो, हम दोनों मिलकर साथ-साथ पराक्रम करें, हम परस्पर द्वेष न करें।

अर्थात्, अध्ययन-अध्यापन का उद्देश्य इस मन्त्र के अनुसार यह है कि गुरु और शिष्य आत्म-रक्षा करने में समर्थ हों, भोजन के लिए निराश्रित या पराश्रित न हों, समाज में वीरता के भाव की स्थापना करने वाले हों, उनका स्वाध्याय उन्हें तेजोहीन और आत्म-गौरवहीन न बनाये और वे दोनों परस्पर द्वेष या प्रतिद्वंद्विता के शिकार न हों। अर्थात्, गुरु के अन्दर अपने शिष्य के

प्रति वही भावना होनी चाहिए जो एक पिता में अपने पुत्र के लिए होती है। प्रत्येक पिता चाहता है कि रूप, गुण, शौर्य, विद्या आदि में मेरा पुत्र मुझसे बढ़कर निकले। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—**'सर्वस्माज्जयमिच्छेत् पुत्राविच्छेत् पराजयम्'**—अन्य सबसे विजय की कामना करे, किन्तु पुत्र से पराजय की कामना करे। अपने पुत्र को गुणों में अपने से बढ़कर देखने की इच्छा जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही सृष्टि के विकास के लिए आवश्यक भी। इसी प्रकार गुरु के मन में सदा यह भावना रहनी चाहिए कि मेरा शिष्य विद्यादि गुणों में मुझसे भी बढ़कर निकले, तभी समाज को योग्यतर नागरिकों की उपलब्धि की परम्परा कायम रह सकती है।

इस प्रकार इस मन्त्र के अनुसार शिक्षा के ये पाँच उद्देश्य निष्कर्ष रूप से सामने आये—

१. आत्मरक्षा (सह नौ अवतु)
२. रोजी-रोटी की व्यवस्था (सह नौ भुनक्तु)
३. सामाजिक पराक्रम (सह वीर्यं करवावहै)
४. तेजस्विता (तेजस्वि नौ अधीतमस्तु)
५. अविद्वेष (मा विद्विषावहै)।

विश्व-बन्धुत्व

जो शिक्षा छात्रों को आत्मरक्षा और शत्रुओं से देशरक्षा के योग्य न बना सके; जो शिक्षा छात्रों की रोजी-रोटी की समस्या हल न कर सके—उन्हें श्रम से जी चुराना सिखाये; जो शिक्षा विजिगीषु समाज का निर्माण न कर सके; जो शिक्षा छात्रों को तेजस्वी बनाने के बजाय उनका तेज छीनकर उन्हें अकाल वृद्ध बनाने के लिए छोड़ दे और जो शिक्षा सारे समाज को ऐक्यबद्ध करने के बजाय राग-द्वेष में फँसाकर नाना वर्गों और नाना जातियों में बाँटकर विघटन की ओर प्रवृत्त करे; जो शिक्षा समाज को परस्पर जोड़ने के बजाय तोड़े, वह सही शिक्षा नहीं है।

'सह नौ अवतु' की व्याख्या में ब्रह्मचर्य स्वयं समाविष्ट है, क्योंकि बिना ब्रह्मचर्य के शरीर, मन, बुद्धि का समुचित विकास सम्भव नहीं, और उनके विकास के बिना आत्मरक्षा कैसी ?

'सह नौ भुनक्तु' उस आश्रम व्यवस्था का सूचक है जिसमें आ + श्रम अर्थात् चारों ओर श्रम का ही बोलबाला हो—जहाँ जीवन की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकर-चाकरों का उपयोग न हो, अपितु गुरु और शिष्य स्वयं मिलकर अपने श्रम से अपने भोजनाच्छादन की जरूरतें पूरी कर लेते हों। बिना श्रम के आश्रमों की कल्पना में पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के विलासितापूर्ण होस्टलों की झलक है, जो होटल अधिक और आश्रम कम हैं।

'सह वीर्यं करवावहै' उस स्थिति का संकेत करता है, जब राष्ट्र में कोई नागरिक कायर और दुर्बल न हो। इसीलिए तो 'वीर' एक ऐसा सम्बोधन है, जो आज भी भारतीय भाषाओं में भाई या पति के लिए व्यवहृत होता है।

'तेजस्वि नौ अधीतमस्तु'—इस बात को द्योतित करता है कि राष्ट्र के बच्चों को ऐसी पुस्तकें न पढ़ायी जायें 'जिनको पढ़के बेटे बाप को खब्ती समझते हैं।' अपने पूर्वजों, अपनी संस्कृति, अपने धर्म और अपनी सभ्यता के प्रति हीन भावना पैदा करने वाली शिक्षा-प्रणाली जहाँ व्यक्ति और राष्ट्र को स्वाभिमान से वंचित करती है, वहाँ उनकी अस्मिता छीनकर जीवन में निराशा का संचार करती है।

'मा विद्विषावहै'—शिक्षा-प्रणाली में आजकल विद्यमान प्रतियोगिता और द्वेषभावना के स्थान पर पारस्परिक सहयोग को महत्त्व देती है। यह सहयोग केवल गुरु और शिष्य का ही नहीं, शिष्यों के आपसी सहयोग का भी सूचक है। प्रतियोगिता के वातावरण में पलने वाले बालक ही आगे चलकर युद्धलिप्सु बनते हैं। प्रतियोगिता का पाठ पढ़ाकर विश्व-शान्ति की आशा करना दिवा-स्वप्न मात्र है।

शिक्षा का यही वैदिक आदर्श है, जिसकी संक्षेप में ऊपर चर्चा की गयी है। इसकी और विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। यह वैदिक आदर्श गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली द्वारा ही क्रियान्वित किया जा सकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखा जाये तो शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन के संबंध में कांदिशीकता की स्थिति समाप्त हो सकती है और राष्ट्र के उद्धार के साथ-साथ विश्व-मानव की एकता को स्वप्न से यथार्थ के धरातल पर उतारा जा सकता है।

अभिनन्दनीय श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्रीजी शिक्षा के इसी वैदिक आदर्श की पूर्ति में जीवन-भर लगे रहे हैं और आज भी वे वैदिक अर्थों में आदर्श कुलपति हैं।

•

हे बुद्धिमान् विद्यार्थी जनो! जो आप लोगों के लिए विद्या देवें उनकी कपट-रहित प्रीति से सेवा करो और जितेन्द्रिय होकर यथार्थ विद्या को प्राप्त होओ।

—महर्षि दयानन्द

शिक्षा और उसका स्वरूप

स्व० सत्यपाल विद्यालंकार

शिक्षा के लिए अँग्रेजी का शब्द 'एजुकेशन' एक विशेष अर्थ की ओर संकेत करता है। यह लेटिन के दो शब्दों से बना है—'एड' और 'जुकेट'। एड का अर्थ है 'बाहर' और जुकेट का अर्थ है 'निकालना।' जो शिक्षा-पद्धति किताबी ज्ञान को ऊपर से उँडेलती है वह स-दोष है। सही अर्थों में शिक्षा वही है जो छात्र की भीतरी क्षमताओं व संभावनाओं को बाहर निकाल सकती है।

संस्कृत का 'शिक्षा' शब्द तो और भी अधिक भावपूर्ण है। यह 'शासु अनुशासने' से बना है। अर्थात्, प्राचीन मनीषियों की दृष्टि में शिक्षा वही थी जो भीतरी क्षमताओं व संभावनाओं (Potentialities) को केवल बाहर ही न निकाले, उन्हें अनुशासित भी करे। वाणी, व्यवहार, और आचरण में उन्हें यथा-स्थान सजा दे। इस दृष्टि से शिक्षक का सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह शिष्य की भीतरी क्षमताओं व संभावनाओं की एक साफ तसवीर मन में उतार सके; तब पढ़ाना शुरू करे। वह शिष्य के भीतर गहराई तक झाँक सके।

प्राचीन समय में गुरुजन स्वयं चलकर विद्यालयों-महाविद्यालयों में पढ़ाने नहीं जाते थे। शिष्य ही, चाहे वे बड़े-से-बड़े राजकुमार हों, आश्रमों में आते थे। वे 'अन्तेवासी' बनकर रहते थे। 'अन्तेवासी', यानी उनके अंतरंग-से-अंतरंग जीवन में भी गुरुजन को नजर रखने और दखल देने का अधिकार था। शिष्यों की 'प्राइवेट लाईफ' और 'कालेज-लाईफ' अलग-अलग नहीं होती थीं। तभी वे आश्रमों से सच्चे अर्थों में शिक्षित होकर निकलते थे। गुरुकुल-शिक्षा-पद्धति के मूल में यही मौलिक चिंतन है।

आज जिस किताबी तालीम को दुर्भाग्य से 'शिक्षा' समझ लिया गया है उससे खीझकर उर्दू के महाकवि अकबर को कहना पड़ा था—

हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले ज़ब्ती समझते हैं,
जिन्हें पढ़कर कि लड़के बाप को खब्ती समझते हैं।

गुरुजन के प्रति अगाध श्रद्धा शिष्यों के मन में और शिष्यों के प्रति छलछलाता वात्सल्य गुरुओं के हृदय में—इन दो चीजों के अभाव में किसी गुरुकुल का वातावरण 'गुरुकुलीय वाता-

वरण' नहीं कहा जा सकता। जहाँ के वातावरण में श्रद्धा का सौरभ और वात्सल्य की मिश्री घुली हो, गुरुकुल तो वही है।

प्रश्न यह है कि शिष्यों के हृदय-तल में गहरे पैठा कैसे जाये? मालूम कैसे पड़े कि अमुक शिष्य की भीतरी क्षमताएँ व संभावनाएँ क्या हैं? उन क्षमताओं व संभावनाओं को बिना जाने यह यह संभव ही कहाँ है कि उन्हें उचित मोड़ दिया जा सके? म्याऊँ का ठौर तो यही है; उसे जिस किसी तरह पकड़ना ही होगा।

प्राचीन आश्रमों में शिष्य लोग जाते ही एकदम पढ़ना नहीं शुरू कर देते थे। साल-छह महीने, कभी-कभी दो-दो वर्ष तक, वे गुरु-चरणों की सेवा में लीन रहते थे। आश्रम की गौवें चराते थे, ईंधन बीनते थे, नदी-तट से जल भरकर लाते थे और हर तरह की सेवा में नियुक्त रहते थे। पाठ्यक्रम को एक निश्चित अवधि में पूरा करने की हड़बड़ाहट न उनमें होती थी, न गुरुओं में। इसके दो स्वस्थ परिणाम एक साथ होते थे। पहला यह कि शिष्यों में सेवा और श्रद्धा की भावना जागृत रहती थी। दूसरा यह कि शिष्य किस धातु से गढ़ा है, इसे पहचानने का गुरुओं को अवसर मिलता था। उस पहचान के आधार पर ही शिष्यों के पाठ्यक्रम निर्धारित होते थे। इस बात को पहचाने बिना निस्तार नहीं था। सच तो यह है कि अपनी 'प्रकृति की पहचान' मनुष्य को जीवन-भर थामे रखनी चाहिए। नहीं तो वह दिग्भ्रांत हो जायेगा। सुकरात ने जब कहा था—'Know thyself', तब उसका यही अभिप्राय था। प्लेटो ने जब कहा था—'Knowledge is virtue', तब वह भी यही कहना चाहता था। वैदिक ऋषि ने कहा—'**ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः।**' अपने को जाने बिना छुटकारा नहीं। योग-दर्शन के एक सूत्र की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—'**एकमेव दर्शनं ख्यातिदेव दर्शनम्।**' अर्थात्, सच्ची दृष्टि तो एक ही है और वह है 'ख्याति', यानी 'अपनी पहचान।' गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणकर्माणि सर्वशः।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

अर्थात्, मनुष्य के समस्त गुणों और कार्यकलापों का स्रोत उसकी भीतरी प्रकृति है। अहंकार-वश मनुष्य अपने ही को नितांत कर्त्ता मान बैठता है। एक अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण कहते हैं—'**स्वभावो दुरतिक्रमः।**' भीतरी प्रकृति के आदेश का उल्लंघन करना अति दुष्कर है।

सारांश यह है कि शिक्षा का श्रीगणेश शिष्य की भीतरी प्रकृति की पहचान से होना चाहिए। बिना उसके, ज्ञान को ऊपर से ठूँसना रेत पर महल खड़ा करना है। आज का युग प्रकृति को विजय करने का है। प्राचीन मान्यता प्रकृति को समझकर तदनुकूल आचरण करने की थी। प्रकृति से सामंजस्य ही बड़ी साधना थी। वही विकास का सच्चा सोपान था। प्रकृति चाहे बाहर की हो चाहे भीतर की, उससे निरंतर संघर्षरत रहने में कल्याण नहीं है। विकास की समुचित दिशा का वह लघु-पथ भी नहीं, दीर्घ-पथ है। शक्ति का अहंकार-मूलक अपव्यय भी है वह।

शिष्य गर्भस्थ बालक है

वैदिक ऋषि कहते हैं—

'आचार्य उपनयमानः ब्रह्मचारिणं वृणुते,
गर्भमन्तः। ते रात्रीस्तिस्रः बिभर्ति उदरे।
तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवाः॥'

उपनयन संस्कार के पूर्ण होते ही ब्रह्मचारी को आचार्य खुशी-खुशी अपने गर्भ में रख लेता है। तीन रात तक वह उसे अपने पेट में सँभालकर चलता है। जब उसका जन्म होता है तब विद्वान् लोग ललककर उस ब्रह्मचारी का दर्शन करने के लिए गुरुकुल की ओर दौड़ते हैं।

वैदिक ऋषि भी बड़े सहृदय रसिक थे। नौ महीने की बात सुनकर आचार्य लोग घबरा न जायें, इसी से उन्होंने तीन ही रात की तसल्ली दे दी। पर ये ही तीन रातें तो वामन भगवान् के तीन पगों जितनी सर्वव्यापिनी हैं। उन्हीं में तो ब्रह्मचारी का सारा जीवन आ जाता है। शारीरिक जड़ता, मानसिक जड़ता और आध्यात्मिक जड़ता—ये ही उपनीत शिष्य की तीन रातें हैं।

गुरुकुल में प्रविष्ट होते ही आचार्य का सर्वप्रथम ध्यान ब्रह्मचारी के शारीरिक विकास की ओर जाना चाहिए; फिर मानसिक और फिर आध्यात्मिक। फिर, तीनों विकासों की प्रक्रिया साथ-साथ चलनी चाहिए। माँ के पेट में भ्रूण के विकास का क्रम भी सर्वथा यही होता है। पहले तीन महीनों में अंग बनते हैं; अगले तीन महीनों में चेतना का क्रमिक प्रस्फुटन होता है; तदनंतर संस्कारों का प्रवेश होता है।

भ्रूण और ब्रह्मचारी की उपर्युक्त उपमा अपने-आप में पूर्णोपमा है। माँ जैसा खाती-पीती है, जैसा विचारती है, जैसा आचरण करती है—उन सबका प्रभाव भ्रूण पर पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आचार्य के चिंतन और आचरण का एक-एक बिंदु ब्रह्मचारी के जीवन को प्रभावित व आंदोलित करता है। इस दृष्टि को ग्रहण करने की देर है, गुरुओं का ध्यान जितना शिष्य को सँवारने में लगेगा उससे अधिक ध्यान अपने को सँवारने में लग जायेगा। तभी महाकवि ग़ालिब ने कहा है—

मैं अपने और उन सब शायरों में फर्क करता हूँ
सखुन उनसे सँवरता है सखुन से मैं सँवरता हूँ।

अँग्रेजी की लोकोक्ति है—Example is better than precept. आचार्य के मन-भर उपदेश से उसका छटाँक-भर आचरण ज्यादा वजन रखता है।

उपनिषद् के उपर्युक्त मन्त्र में 'अभिसंयन्ति' शब्द बड़ा भावपूर्ण है। इसका अर्थ केवल 'जाना' नहीं, 'ललककर पहुँचना' है। ऐसी ललक किसी महानिर्माण की संपूर्णता पर ही संभव है। खोदने पर चूहा ही निकले तो वह ललक कितनी उपहासास्पद होगी? भाखड़ा डैम को देखने सभी दौड़ते हैं, पर नाले की पुलिया को देखने कौन जाता है? पंडित नेहरू ने कहा था—"भाखड़ा डैम आधुनिक भारत का तीर्थ है।" कालेजों से प्रतिवर्ष निकलने वाले हज़ारों छात्र तो तीर्थ क्या होंगे? क्या गुरुकुल का कोई स्नातक अथवा स्नातिका 'दर्शनीय तीर्थ' बन पायेगी?

गुरुकुल ही क्यों?

आज की प्रचलित शिक्षा-पद्धति केवल जीवन-पथ (Career) बनाने की चिंता करती है; गुरुकुल का ध्येय 'इंसान बनाना' है। यही कारण है कि आज से लगभग आठ दशक पूर्व वकालत की अपनी चलती प्रैक्टिस को लात मारकर स्वामी श्रद्धानंदजी ने अपने 'कैरियर' की सर्वथा उपेक्षा कर दी थी; वे 'इंसान बनाने' के महान् आदर्श से अनुप्राणित थे। गंगा के उस पार, काँगड़ी गाँव के समीप, एक उजाड़ वन-उपत्यका में अपने दोनों बालकों को ही लेकर उन्होंने

गुरुकुल-आश्रम की स्थापना की। वे अकेले थे, पर दृढ़-संकल्प उनका सच्चा साथी था। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की एक कविता-पंक्ति है जिसे उन्होंने साकार रूप दिया और गुरुकुल आन्दोलन आरम्भ हो गया।

यदि तोर डाक[1] सुने कोई न आशे।
तबे एकला चलो, रे एकला चलो, एकला चलो रे ॥

वे अकेले चल पड़े पर उन्होंने अकेले ही आधुनिक भारत के शैक्षणिक इतिहास में गुरुकुल-युग बना दिया। गुरुकुल पद्धति में आस्था रखने वालों को आज इस गुरुकुल ज्योति को प्रज्ज्वलित और उन्नत बनाये रखना है।

•

त्रयो धर्मस्कन्धाः—यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः,
ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुले ऽवसादयन्।
(छान्दोग्योपनिषद् २।२३।१)

धर्म के स्कन्ध (=आधार) तीन हैं :

यज्ञ, अध्ययन और दान—यह प्रथम स्कन्ध है।

तप अर्थात् कष्ट सहिष्णुता—यह दूसरा स्कन्ध है।

श्रम और संयम का जीवन व्यतीत करते हुए गुरुकुल में दत्तचित्त होकर विद्या-ग्रहण—यह तीसरा स्कन्ध है।

---

१. पुकार

विज्ञान और आस्तिकवाद

श्रीमती राधा स्नातिका
विद्याविभूषिता, लखनऊ

साधारणतया बुद्धिवादी जगत् में यह भ्रम व्याप्त है और इसे बनाये रखने का यत्न किया जाता है कि—

"इस संसार का रचयिता कोई नहीं है। भौतिक पदार्थों के आकस्मिक संयोग से ही इस सृष्टि का स्वरूप बना और विकसित हुआ है। मानव अपनी बौद्धिक शक्ति से इस संसार का इच्छानुसार उपयोग कर सकता है।"

इस भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रचार करते समय विज्ञान का सहारा लिया जाता है। योरूप में विज्ञान के विकास की जो पृष्ठभूमि रही है उसमें विज्ञान और इसके समर्थक तब चाहे ईश्वर की सत्ता में विश्वास भले ही न करते रहे हों, परन्तु आज के शीर्षस्थ वैज्ञानिक प्रकृति के स्वरूप, संचालन, सृजन, नियमन आदि को देखकर स्रष्टा, नियन्ता और संचालक के रूप में दिव्यशक्ति के अस्तित्व में विश्वास करने लगे हैं।

वैदिक धर्म, महर्षि दयानन्द और आर्य समाज का दृष्टिकोण सदैव अध्यात्म और विज्ञान के साथ समन्वय का रहा है। दर्शन के **'यतोऽभ्युदयः निश्रेयस सिद्धि सधर्मः'** सूत्र में भी सांसारिक उन्नति के महत्त्व को स्वीकार किया है, पर साथ ही निःश्रेयस को भी स्वीकार किया है। लोकाभ्युदय के लिए विज्ञान का उपयोग पहले भी होता था और आज भी हो रहा है, परन्तु लोकाभ्युदय के साथ-साथ आत्माभ्युदय की भी आवश्यकता है। यही कारण है कि वैदिक शिक्षाओं में आत्मिक उन्नति पर विशेष बल दिया गया है। आत्मिक उन्नति के लिए आवश्यक है कि आत्मा की पथ-प्रदर्शक शक्ति में विश्वास किया जाये। इस विश्वास के साथ ही ईश्वर की सत्ता स्पष्ट हो जाती है और यहीं से आस्तिकवाद आगे बढ़ता है।

आस्तिकवाद के नाम पर संसार के इतिहास में अनेक बार खून की नदियाँ बही हैं, पर इसमें ईश्वर का कोई हाथ नहीं है। अपने स्वार्थ के लिए ईश्वर का नाम लेने वाले दुनिया को धोखा देते रहे हैं, पर उनकी आत्मा में इस प्रवंचना के प्रति संघर्ष चलता रहा है। वास्तव में आस्तिक व्यक्ति स्वयं चरित्रवान् और मानव एकता में विश्वास रखता है, उसे खूँरेजी से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस कारण हम कह सकते हैं कि धर्म का उपयोग सत्ता-स्वार्थ के लिए जिन लोगों ने किया अन्त में वे विफल हुए। यही बात वैज्ञानिकों के साथ धर्म के नाम पर की गयी।

विज्ञान ने जो नयी बातें विश्व के सम्मुख रखीं, धर्म के नाम पर झूठे अंधविश्वास के कारण उन सबका विरोध हुआ, पर वे बातें आज स्वीकृत सत्य सिद्धान्त बन चुकी हैं। धर्म और विज्ञान के उस संघर्ष में विज्ञान धर्म का विरोधी बन गया और एक-दूसरे पक्ष की निन्दा ही दोनों पक्षों का धर्म बन गया, परन्तु बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मानव, आस्तिकवादी, वैज्ञानिक— सभी एक चिन्तन धरातल पर आकर खड़े हैं। मानव ने अपनी मूढ़ता से, अहम्भाव से मानवता को विनाश के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, परन्तु मानव के अन्दर जगन्नियन्ता दिव्य-शक्ति ईश्वर के प्रति आस्था की भावना फिर से बढ़ने लगी है, यह एक शुभ लक्षण है। हम अपने इस कथन को मनमाने ढंग से सिद्ध नहीं करना चाहते, अपितु इस सम्बन्ध में विश्व के प्रबुद्धतम वैज्ञानिकों के विचार प्रस्तुत कर स्पष्ट करना चाहते हैं कि आज का मानव विनाश की अपार शक्ति हाथ में लेकर भयभीत और आतंकित है और सृष्टि-रचयिता की ओर कातर दृष्टि से देख रहा है। अणु, परमाणु, उदजन, न्यूट्रान आदि बमों की अपार संहारक शक्ति ने मानवता को दुखी बना दिया है। इस दुःख से आस्तिकवाद ही छुटकारा दिला सकता है।

विज्ञान-विशारदों द्वारा ईश्वरीय सत्ता की स्वीकृति में जो शब्द लिखे गये हैं, उनका आज सार्वजनीन प्रचार किया जाना चाहिए और विश्व में ईश्वर-विश्वास स्थापित करने में हम सब को प्रयत्न करना चाहिए।

प्रोटीन में जीवनी-शक्ति[1]

रासायनिक द्रव्यों की भाँति प्रोटीन भी जीवन-शून्य हैं। रहस्यपूर्ण जीवनी-शक्ति जब उनमें प्रवेश करती है तभी वे जीवन धारण करते हैं। कोई अनन्त शक्ति ही यह समझ सकती है कि इस प्रकार का अणु जीवन का आधार बन सकता है। उसी शक्ति ने इस अणु का निर्माण किया है और उसी ने इसे जीवन-धारण के योग्य बनाया है। उस शक्ति का नाम ही परमात्मा है।

१. फ्रेंक एलन—कार्नेल विश्वविद्यालय से एम० ए०, पी-एच०-डी०, मानीटोवा (कनाडा) विश्वविद्यालय में जीव-भौतिकी (बायोफिजिक्स) के प्रोफेसर, कनाडा की रायल सोसायटी से स्वर्ण-पदक प्राप्तकर्त्ता।

निर्णायक परीक्षा[2]

जब कोई उस सम्बन्ध का अध्ययन करता है जो मनुष्य और ईश्वर के मध्य विद्यमान है या होना चाहिए; जब कोई उन शर्तों का अध्ययन करता है जो इन सम्बन्धों की स्थापना के लिए पूरी की जानी चाहिए और जब कोई गम्भीरता से और पूरी तन्मयता के साथ उन शर्तों को पूरा करने के लिए तैयार होता है, तब व्यक्ति के जीवन में उन सम्बन्धों की उपलब्धि इतने व्यापक रूप से प्रकट होती है कि उसके मन में कहीं सन्देह को स्थान नहीं रहता। तब परमात्मा इसके लिए इतने निकट की और इतनी बड़ी निजी अनुभूति बन जाती है कि उसका विश्वास ही विकसित होकर ज्ञान का रूप धारण कर लेता है।

२. डॉ० रावर्ट मोरिस पेज—बी० एस-सी० (हेमलिन), एम० एस-सी० (जार्ज वाशिंगटन), डी० एस-सी० (हेमलिन विश्वविद्यालय), अमरीकी नौसेना प्रयोगशाला के वैज्ञानिक, रेडार के निर्माता और ३९ पेटेन्टों के स्वामी, इलैक्ट्रॉनिक्स प्रयोगशाला के सहनिदेशक।

एक ही उत्तर : सृजन का केन्द्र परमात्मा है[1]

प्रकृति की चाहे किसी भी प्रक्रिया पर विचार किया जाये और सृजन के किसी भी प्रश्न का अध्ययन किया जाये, वैज्ञानिक के तौर पर मुझे सन्तोष तभी होता है जब उसमें परमात्मा को मुख्य स्थान दे देता हूँ। हरेक तसवीर की केन्द्रभूत आकृति परमात्मा ही है। जितने भी ऐसे प्रश्न हैं जिनका अभी तक उत्तर नहीं दिया जा सकता उन सबका ईश्वर ही एक जवाब है।

१. डॉ० डोनाल्ड हैनरी पोरटर—बी० एस-सी० (मैरियन कालेज), पी० एच-डी० (इण्डियाना विश्वविद्यालय), यूनिवर्सिटी फैलो, मैरियन कालेज में गणित और भौतिकशास्त्र के प्रोफ़ेसर, कान्टैक्ट ट्रांसफारमेशन।

प्रकृति में अदृश्य की लीला[2]

इस विचित्र, गतिशील, बुद्धि को चकित करने वाले विश्व-प्रपंच के रहस्यों में अभी किसी ऐसे तथ्य का आविष्कार नहीं हो पाया है, जो किसी भी तरह से एक बन्धनरहित पूर्ण पुरुष परमात्मा के बुद्धिपूर्ण कृत्यों का या उसकी सत्ता का खण्डन करता हो। इसके विपरीत जब सावधान वैज्ञानिकों के रूप में हम प्राकृतिक संसार की उपलब्ध तत्त्व सामग्री का संश्लेषण और विश्लेषण करते हैं तब पाते हैं कि हम केवल उस अदृश्य सत्ता के लीला-विलास का ही अवलोकन कर रहे हैं, जो केवल वैज्ञानिक खोज से प्राप्त नहीं की जा सकती, किन्तु मानव के रूप में अपने आपको प्रकट करती है, क्योंकि विज्ञान वस्तुतः ईश्वर की कृति का अवलोकन ही है।

२. डॉ० मैरिट स्टेनली कांगडन—पी० एच-डी०, एस० एस० डी० (वेब्स्टर), एस० टी० डी० (वर्टन विश्वविद्यालय), ट्रेनिंग-कालेज फ्लोरिडा में प्रोफेसर, फिजिकल सोसायटी और मिडिवल अकादमी आफ अमेरिका के सदस्य।

वैज्ञानिक का सन्तोष[3]

प्राकृतिक घटनाः प्रपंच में अभिव्यक्त परमात्मा को समझने की मनुष्य की शक्ति अभी तक क्योंकि अत्यन्त सीमित है, इसलिए यह भी मनुष्य के स्वभाव का एक अंग है कि उसकी आस्तिकता का कोई आध्यात्मिक तथा धार्मिक आधार भी हो। अनेक लोगों के जीवन में व्यक्तिगत प्रसन्नता के लिए धर्म के आधार पर परमात्मा में विश्वास करने की महत्ता है, परन्तु परमात्मा की सत्ता में विश्वास करने वाले वैज्ञानिक को हर नयी वैज्ञानिक खोज के साथ इस बात का और अधिक सन्तोष प्राप्त होता है कि प्रत्येक खोज से परमात्मा के सम्बन्ध में उसका अपना विचार पुष्ट, सार्थक और महत्त्वपूर्ण बनता जाता है।

३. डॉ० वाल्टर ओस्कर लुवण्वर्ग—पी० एच-डी० (जान हापकिन्स विश्वविद्यालय), मिनिसोटा यूनिवर्सिटी में फिजियालॉजीकल कैमिस्ट्री के प्रोफेसर एवं होर्मल इन्स्टीट्यूट के रेजिडैन्ट डायरैक्टर।

दिव्य-पथ-प्रदर्शक[1]

जो एक बात हम निश्चयपूर्वक जानते हैं वह यह है कि मानव और यह विश्व सर्वथा 'नास्ति' से सहसा 'अस्ति' में नहीं आ गये। ये दोनों सादि हैं और इनका एक आदि रचयिता भी है। हम यह भी जानते हैं कि विश्व की चमत्कारपूर्ण और रहस्यपूर्ण व्यवस्था है, वह मनुष्य द्वारा निर्दिष्ट नियमों का पालन नहीं करती और यह भी हम जानते हैं कि जीवनरूपी चमत्कार भी अपने-आपमें उद्गम वाला है और इसका पथ-प्रदर्शन पूर्ण है—और यह उद्गम भी दिव्य है और पथ-प्रदर्शन भी दिव्य है।

१. डा० क्लेरेन्स खरसोल्ड—स्नातक (स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय), एम०ए०, पी०एच-डी० (कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी), अमरीकी ब्यूरो आफ स्टैण्डर्डस्, मैनहट्टन परियोजना के गवेषणा सम्पर्क अधिकारी, अणुशक्ति आयोग, अमेरिका में आइसोटोप विभाग के अधिकारी।

सृजनात्मक शक्ति : महान् प्रभु[2]

मानव समाज के पास जैसा बौद्धिक स्तर है उसमें किसी को भी कभी भी सृजन-विधि का कोई सबूत मिलने की सम्भावना नहीं है, किन्तु सर्वथा भौतिकवादी व्याख्या में हमारा वैज्ञानिक ज्ञान इतनी अधिक असम्भाव्यताओं को प्रकट करता है कि यह मानना अधिक युक्ति-युक्त लगता है कि एक विशिष्ट सृजन-विधि और किसी लोक-बाह्य शक्ति का प्रमाण ही सृष्टि का मुख्य कारण है। इस बुद्धियुक्त सृजन-शक्ति को स्वीकार करते हुए अल्बर्ट आइन्स्टीन जैसा महान वैज्ञानिक इन शब्दों में उस शक्ति का उल्लेख करता है——

"ऐसी असीमित सर्वोच्च तर्कनाशक्ति, जो इस अबूझ विश्व में व्याप्त हुई है।"

इस विश्व-पथ के आरम्भ में मुझे जो कुछ दीखता है वह शाश्वत ऊर्जा या द्रव्य नहीं है, न अपरिमेय नियति है; न आद्य तत्त्वों का आकस्मिक संगम है; न महान् अज्ञात है—प्रत्युत सर्वशक्तिमान् महान् प्रभु है और मैं अपनी स्थिति को बुद्धि-विरुद्ध नहीं समझता।

२. डा० मारलिन बुक्स क्रैडर—एम० एस-सी०, पी० एच-डी० (मैरीलैण्ड विश्वविद्यालय), ईस्टर्न नैजरीन कालेज में जीवविज्ञान के प्रोफ़ेसर, मेटाबोलिज्म और रक्त-संचार के विशेषज्ञ।

सर्वोच्च बुद्धिमान और कुशल रचयिता[3]

प्रकृति में नियमबद्धता सर्वोच्च बुद्धिमान् के कारण और उसमें रचना-कौशल किसी सर्वोच्च कुशल रचयिता के कारण है। हमारा सीमित मानव मस्तिष्क इस नियमबद्धता और रचना-कौशल को देखकर आश्चर्य से स्तब्ध होकर मौनभाव से घुटने टेककर केवल सोचता ही रह सकता है।

विश्व रचयिता में मुझे जहाँ बुद्धिपूर्वक नियोजन दृष्टिगोचर होता है वहाँ यह भी दिखायी देता है कि उसमें अपनी बनायी सृष्टि के प्रति प्रेम भी है, हित भावना भी है।

३. डा० थामस डेविड पार्क्स—पी० एच-डी० (इलिनाय विश्वविद्यालय), स्टेनफोर्ड गवेषणा संस्थान में रसायन विभागाध्यक्ष, माइक्रो-कैमिस्ट्री के विशेषज्ञ।

परमात्मा ही नियन्ता है[1]

परमात्मा ने प्रकृति में जो संतुलन स्थापित किया है वह नाजुक तो है ही, अकारण भी नहीं है। मनुष्य यदि इस सन्तुलन में हस्तक्षेप करता है तो इससे उसी को भारी हानि उठानी पड़ती है।

मानव के मन में यदि यह भावना आती है कि मैं अपने प्रयत्न से उस सन्तुलन में कुछ सुधार कर सकता हूँ तो यह उसका अहम्भाव ही है। प्रकृति पर जिसका नियन्त्रण है उस परमात्मा की बुद्धि की तुलना में मनुष्य की बुद्धि पासंग भी नहीं है।

१. डा० जान विलियम क्लोट्ज—पी० एच-डी० (पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय), कन्कौर्डिया कालेज में जीव-विज्ञान, शरीर-रचना-शास्त्र और प्रकृति विद्या के प्रोफेसर।

सुनिश्चित धारणा—परमात्मा है[2]

मेरी यह धारणा है कि इन एकाकी कोशों में से हर एक (हर एक में एक ऐसी जटिल और नाजुक प्रणाली है कि उसके पूर्ण कार्यकलाप का अध्ययन अभी तक हम नहीं कर पाये हैं) और इस पृथ्वी पर जितने भी अरब-खरब कोश हैं वे सब निश्चित रूप से युक्तियुक्त अनुमान उपस्थित करते हैं कि—एक चेतन, विचारवान् और बुद्धियुक्त महान् शक्ति है जिसे हम परमात्मा कहते हैं। यह अनुमान विज्ञान-ग्राह्य भी है और मान्य भी। मेरी यह सुनिश्चित धारणा है कि परमात्मा है।

२. डा० रलेस चार्ल्स आर्टिस्ट—बी० एस-सी० (बटलर विश्वविद्यालय), एम० एस-सी० (नार्थ वैस्टर्न विश्वविद्यालय), पी०एच-डी० (मिनिसोटा विश्वविद्यालय), स्विटजरलैण्ड के ज्यूरिख विश्वविद्यालय से ग्रेजुएट स्टडी, फ्रैंकफुर्ट (जर्मनी) में विज्ञान प्रोफेसर, लिक्रोम कालेज में जीव-विज्ञान विभाग के अध्यक्ष, टेनिसी और टैक्सास की विज्ञान अकादमियों के सदस्य।

•

मनुष्य का नेत्र विद्या ही है, बिना विद्या-शिक्षा के ज्ञान नहीं होता। जो बाल्यावस्था से उत्तम शिक्षा पाते हैं वे ही मनुष्य और विद्वान् होते हैं।

—महर्षि दयानन्द

शिक्षा की सफलता

भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय

श्री मूलचन्द शास्त्री, एम० ए०
मुख्याधिष्ठाता, महिला डिग्री कालेज, कनखल

इस समय प्रचलित अनेक वादों में मध्यममार्गवाद तथा अतिवाद दोनों वादों का ही काफी प्रचलन है। स्थिति को देखते हुए अनेक समाज-सुधारकों का अतिवाद की ओर झुक जाना स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है। उधर ऐसे भी अनेक संभ्रान्त समाज-सुधारक हैं जो क्रमिक उन्नति को ही समाज के लिए श्रेयस्कर मानते हैं और इसके लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते हैं।

धार्मिक जगत् में भी मध्यममार्ग और अतिवाद का काफी बोलवाला रहा है। ऐसे भी संत हुए हैं जिन्होंने सांसारिक जीवन को अति तुच्छ समझकर—'कागद की पुड़िया है बूंद परे घुल जाना है' ऐसा समझकर सांसारिक कार्यकलापों से अलग रहने में ही मनुष्य का भला समझा है। पुराने समय में क्योंकि संस्कृत भाषा ही परिष्कृत विचारों को प्रकट करने का माध्यम थी, अतः अतिवाद का सहारा लेकर "**हेयं किमेकं ? कनकं च कान्ता**"—अर्थात्, संसार में छोड़ने योग्य क्या है ? उत्तर मिला—धन और स्त्री।

किन्तु महर्षि स्वामी दयानन्दजी के शुभागमन से हमारे विचारों में आमूलचूल परिवर्तन हुआ। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह समझाया कि मनुष्य के लिए धन एक अति अनिवार्य आवश्यकता है क्योंकि "**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**"—धर्म की परिभाषा में सांसारिक उन्नति भी आवश्यक है। संसार की विषमताओं और संघर्ष से डरकर जो जंगल में भागना चाहते हैं वे धर्मभीरु हैं, धर्मपरायण नहीं हैं। जीवन के कार्यकलापों से पूरी तरह अभिभूत होकर जो मनुष्य यह समझकर यम और नियमों का पालन करता है कि इन दोनों का पालन भी जीवन का अभिन्न अंग है वही मनुष्य सच्चे अर्थों में धर्म का पालन करता है।

आधुनिक समय में स्वामीजी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह समझाया कि स्वर्ग और नरक मरने के बाद नहीं मिलते, किन्तु इसी जीवन में मिलते हैं। उद्धरण दिया—"**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः**"—अर्थात्, जिन गृहस्थों में स्त्रियों का आदर होता है वे सदा भरे-पूरे रहते हैं, वे ही स्वर्ग हैं; जहाँ स्त्रियों का निरादर होता है वे ही घर नरक हैं। घर छोड़कर धर्म की खोज में कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि "**विनीतरागस्य गृहं तपोवनम्**"—जिस व्यक्ति ने

रागद्वेष को जीत लिया है उसका घर सच्चे अर्थों में तपोवन है।

अनेक संभ्रान्त व्यक्तियों में यह धारणा घर किये हुए थी कि भौतिकता और आध्यात्मिकता दो ऐसी विचारधारा के प्रतीक हैं जहाँ एक विचार रहेगा वहाँ दूसरा स्वयं लुप्त हो जायेगा, किन्तु आर्यसमाज के प्रवर्तक महर्षि स्वामी दयानन्दजी ने अपने ग्रन्थों से अपने कार्यों में निरन्तर व्यस्त रहकर यह सिद्ध कर दिया कि मनुष्य यदि प्रयत्नशील रहे तो ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हो सकते हैं। आर्यों की प्राचीन मर्यादा के अनुसार गृहस्थ जीवन के बाद ही वानप्रस्थ आता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सांसारिक सुखों का उपभोग हमारे आदर्शों में त्याज्य नहीं था। किन्तु अन्तर केवल इतना था "**धर्मात् अर्थश्च कामश्च**"— अर्थात्, पैसा खूब कमाओ, अपनी इच्छाओं को भी पूरा करो, बस इतना ध्यान रखो कि 'धर्मात्' धर्मपूर्वक कमाओ और आवश्यकताओं को पूरा करो।

इन विचारों में भौतिकता का वर्जन कहाँ है? यदि निषेध है तो केवल अतिवाद का। जो लोग येन-केन-प्रकारेण धन कमाकर अय्याशी का, विषय-वासना का जीवन व्यतीत करना चाहते हैं या अनैतिक काम करके भोले-भाले व्यक्तियों के जीवन से खिलवाड़ करना चाहते हैं, यदि इसी का नाम भौतिकता है तो यह अवश्य त्याज्य है, किन्तु यह भौतिकवाद नहीं विषय-वासनावाद है। हमारे यहाँ इसीलिए लिखा है, "**सुखार्थिनः कुतो विद्या**", किन्तु आज विद्यार्थी जीवन विलासिता का जीवन बनता जा रहा है और लोग गुरुकुल प्रणाली को भूलते जा रहे हैं।

हम विचारों की जितनी भी गरिमा और गम्भीरता में जायेंगे तो हमें यह मानना होगा कि जीवन के कार्यकलाप ठीक-ठीक चलें, इसके लिए हमें भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करना अनिवार्य होगा। जीवनरूपी रथ के ये दोनों पहिये होंगे और जीवनधुरी को चलाने के लिए आवश्यक सहयोग देते रहेंगे। जीवन के लिए आध्यात्मिकता की इसलिए आवश्यकता है कि हम जो कुछ करें यह मानकर और जानकर करें कि हम जो कुछ कर रहे हैं वह दुनिया वालों से तो छिप सकता है किन्तु सर्वव्यापक प्रभु से नहीं छिप सकता है। तो फिर इस मान्यता के बाद हम कोई ऐसा काम क्यों करें जो हमारे लिए लज्जादायक हो? आध्यात्मिकता का हमारे जीवन के प्रत्येक काम से पूरा सम्बन्ध है। सच्ची ईश्वर-भक्ति और आध्यात्मिकता वही है जो हमें पद-पद पर सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। जिस मनुष्य की धर्म और नीति एक है वही आध्यात्मवादी है। जीवन का कोई काम ऐसा नहीं है जिसका आध्यात्मिकता से अटूट सम्बन्ध न हो।

यदि हम उन बातों का उचित रूप से विश्लेषण करें, जो हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में ओत-प्रोत हैं और जिनके कारण कभी हम संकट में पड़ जाते हैं, कभी घबराहट होने लगती है और कभी-कभी संसार से वैराग्य-सा भी होने लगता है और कभी-कभी असीम सुख का अनुभव करने लगते हैं तो हम इस परिणाम पर निश्चित रूप से पहुँचेंगे कि जीवन को सुचारु रूप से चलने के लिए हमें उस मार्ग का सहारा लेना होगा, जिसमें भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों समन्वित होकर हमारा मार्ग प्रशस्त करेंगे। भौतिकता में हम कोई ऐसा काम या आचरण नहीं करेंगे जिसमें पूरी तरह आध्यात्मिकता का पुट न हो और जिस दिन हम यह समझ बैठेंगे कि इन दोनों का साथ-साथ चलना सम्भव नहीं, उसी दिन हम जीने की कला को खो बैठेंगे। अतः जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय अनिवार्य है। शिक्षा की सफलता इसी में है।

शिक्षा के तीन स्तम्भ

मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद

श्री ओंकार प्रणव शास्त्री
सांख्य योगाचार्य, एम० ए०, फिरोजाबाद

परम पिता परमात्मा की सृष्टि-रचना में केवल मात्र एक मानव ही ऐसा प्राणी है, जिसको शिक्षा की आवश्यकता हो सकती है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक जीवन में यथासमय जब कुछ समझदारी प्राप्त करता है, तब वह किसी भी दृष्टिकोण से उन्नति शिखर पर आसीन होने की ओर अग्रसर हो सकता है। मानव की इस उन्नति को प्राचीन आचार्यों ने तीन भागों में विभक्त किया है—१. शारीरिक, २. आत्मिक, और ३. सामाजिक। इन तीन प्रकार की उन्नतियों से मानवेतर प्राणी, पशु-पक्षी आदि के समुदाय को कोई लगाव या संपर्क नहीं हो सकता। इसका प्रमुख कारण यही है, कि प्रभु ने पशु-पक्षी आदि मानवेतर प्राणियों को स्वाभाविक ज्ञान इतनी पर्याप्त मात्रा में प्रदान किया है कि वे सभी प्राणी यावज्जीवन अपने उसी स्वाभाविक ज्ञान से कार्य चला लेते हैं किन्तु मनुष्य की स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। मनुष्य मात्र केवल स्वाभाविक ज्ञान से मानवोचित सामाजिक उपलब्धियाँ प्राप्त नहीं कर सकता। यदि वह सभ्य मानव समाज से सम्पृक्त न हो तो वह भाषा, वेशभूषा, रीति-नीति, सभ्यता एवं संस्कृति के परिसर में विचरण नहीं कर सकता। अतः यह सर्वविदित तथ्य है, कि पशु-पक्षी, कृमि, कीटादि की अपेक्षा मानव शरीर तथा उसके मस्तिष्क की संरचना विशिष्ट प्रकार से की गयी है। मनुष्य मनुष्योचित व्यवहार समाज के सम्पर्क से सीखता है, इसी आधार पर वैचारिक क्षेत्र में प्राचीनकाल से ही उसको सामाजिक प्राणी माना जाता है।

यह भी एक ऐतिहासिक जाना-माना तथ्य है कि किसी परिस्थितिवश कोई मानव-शिशु मानव समुदाय से सर्वथा पृथक् होकर पशु-संगति में पलता है, तो वह पशु-तुल्य ही हो जाता है। उसके उदाहरणार्थ लखनऊ के बलरामपुर हॉस्पिटल में पले 'रामू भेड़िया' नामक बालक को देखा जा सकता था, यद्यपि वह बालक अब दिवंगत हो गया है। समाचारपत्रों से ज्ञात हुआ था वि यह मानव-शिशु ६-७ वर्ष की आयु में भी भेड़ियों की तरह चार हाथ-पैर से चलता था, कच्चा मांस खाता था, मनुष्य को देखकर उस पर भेड़िये की तरह गुर्राता था क्योंकि यह बालक भेड़ियों के समुदाय में पलता रहा। अतः यह एक स्वीकार्य तथ्य है कि शिक्षा से ही मानव सचमुच

मानव बन सकता है। यों तो जब से भी मानव ने इस धरती माता के अंक में जन्म लिया तभी से सच्चिदानन्द ईश्वर की कृपा एवं प्रेरणा से आदि ऋषियों के द्वारा शिक्षा का प्रावचनिक क्रम चलता रहा। पर्याप्त समय व्यतीत होने पर आश्रमीय शिक्षा-पद्धति प्रचलित रही होगी; तदनन्तर पर्याप्त काल व्यतीत होने पर गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति का प्रचलन हुआ होगा—ऐसा एक अनुमान है, जो कि प्रत्यक्ष की पद्धति में परम्परागत उसको प्रमाण माना जाना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज ने अपने आविर्भाव काल में आज से एक शती पूर्व तत्कालीन मानव समाज में अपने विचारों का आधान जब लेखन-प्रणाली से किया, तब उन्होंने मनुष्य समाज की सार्वजनीन चतुर्मुखी उन्नति के लिए सत्य-अर्थ का प्रकाश करना चाहा। उस समय उनके उर्वर मस्तिष्क में शिक्षा कल्पतरु का बीज उत्पन्न हुआ। यह एक मणि-कंचन संयोग ही जानना चाहिए कि महर्षि ने जहाँ 'सत्यार्थ प्रकाश' में अपने अद्भुत तर्कपूर्ण पांडित्य एवं अगाध वेद-ज्ञान तथा अप्रतिम प्रतिभा के आधार पर मानव समाज की सर्वांगीण समुन्नति के लिए अपनी ललित लेखनी उठायी है, वहाँ शिक्षा के स्वर्णिम प्रारूप पर भी विचार प्रकाशित किये हैं।

'सत्यार्थ प्रकाश' का अनुक्रम जो महर्षि ने रखा है, उसी से इस शिक्षा विषय की उपादेयता, महत्ता एवं आवश्यकता विश्वविदित है। उसमें प्रथम समुल्लास में ईश्वर के अनेक पवित्र नामों की व्याख्या के उपरान्त ही शिक्षा विषयक द्वितीय समुल्लास लिखा गया है। महर्षि दयानन्द ने इस समुल्लास का प्रारम्भ ही **'मातृमान् पितृमान् आचार्यमान् पुरुषो वेद'**—शतपथ ब्राह्मण के इस पवित्र वाक्य से किया है। महर्षि ने इसी के धरातल पर द्वितीय और तृतीय समुल्लास की रचना की है। ऊपरी उद्धृत वाक्य के आधार पर मानव की सम्पूर्ण शिक्षासदन के तीन स्तम्भ—माता, पिता तथा आचार्य माने गये। महर्षि के इस दृष्टिकोण से शिक्षा का समग्र रूप तीन गुरुओं के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। इस कसौटी के आधार पर वर्तमान शिक्षा-प्रणाली एकांगी ही कही जायेगी। विचारशील पाठक विचार करें कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दृष्टिकोण से शिक्षा-क्षेत्र में माता-पिता की कितनी भूमिका है, अथवा कितना अंशदान है? विडम्बना का विषय है कि शिक्षा के विषय में इस तथ्य की ओर शिक्षा-शास्त्रियों का ध्यान भी नगण्य है।

अब क्रमशः इन तीन स्तम्भों पर थोड़ा-सा विचार कीजिये। महर्षि दयानन्द द्वारा उद्धृत शतपथ ब्राह्मण के वाक्य में शिक्षा की ज्योति जगाने में सर्वप्रथम गणना माता की है। इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण है। महर्षि तो गर्भाधान से शिक्षा का क्रम प्रचलित करते हैं। अतः माता-पिता के संयोग से उत्पन्न मानव-शिशु में माता-पिता के स्वरूप, आकृति, शारीरिक स्थिति, मानसिक स्थिति एवं मस्तिष्क में संस्कारों का समावेश होना ही चाहिए और यह कहीं अधिक अथवा कहीं न्यून मात्रा में दृग्गोचर भी होता है। अतः गर्भाधान के उपरान्त भी जहाँ माता शिशु की शारीरिक समुन्नति का ध्यान रखे, वहाँ उसको उसकी मानसिक उन्नति का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिए। शैशव से ही उसमें सुशीलता, सदाचार, पवित्रता, सुसंगति, स्वच्छता, विनम्रता, निर्भीकता, चतुरता, सुजनता, कुलीनता एवं अभिवादनशीलता के गुणों का समावेश करने का प्रयास करना चाहिए। भाषा-शिक्षण में प्रथम मातृभाषा, आर्यभाषा, तदनन्तर यथासमय संस्कृत भाषा के सुन्दर वाक्य, पद्य एवं सूक्त कण्ठस्थ कराने चाहिए जिससे कि वह बालक पूर्ण समर्थ होने पर भी सदाचार आदि की प्रक्रियाओं का सदैव ध्यान रखे। यह भी निश्चित है, जो संस्कार बालकों में शैशव में आ जाते हैं वे चिरस्थायी हो जाते हैं। शिक्षा-क्षेत्र में

मातृशक्ति की इस महत्ता को मनु महाराज भी स्वीकृत करते हुए लिखते हैं—

> उपाध्यायान्दशाचार्यो ह्याचार्याणां शतं पिता।
> सहस्रपितृणां माता गौरवेणातिरिच्यते ।।

इस प्रकार माता गर्भाधान से लेकर ६ वर्ष की आयु तक श्रेष्ठ गुणों का समावेश करे। तदनन्तर छठे वर्ष से ८वें वर्ष तक पिता भी अपने संरक्षण में बालक को उत्तमोत्तम शिक्षा प्रदान करे। ९वें वर्ष के प्रारम्भ में प्रत्येक बालक उपवीती (यज्ञोपवीतधारी) होकर आवासीय प्रणाली पर चलने वाले गुरुकुलों में जाना चाहिए। वैदिक शिक्षा-प्रणाली में सहशिक्षा को कोई स्थान नहीं है। महर्षि दयानन्द ने, बालक और बालिकाओं के शिक्षणालयों में दो कोस का अन्तर होना चाहिए, ऐसा लिखा है तथा वे बालकों के विद्यालयों में स्त्रियों का और बालिकाओं के विद्यालयों में पुरुषों का प्रवेश सर्वथा वर्जित मानते हैं। वर्तमान शिक्षा जगत् में महर्षि की मान्यता की कहाँ तक मान्यता है, यह मान्य पुरुष ही विचार करें। आज भारत में आर्यसमाज के संरक्षण में शतशः शिक्षणालय शिक्षा (तथाकथित) का प्रचार एवं प्रसार कर रहे हैं, किन्तु इन शिक्षणालयों के बालक-बालिकाएँ उपवीती कितने हैं, क्या आप कभी विचार करते हैं? हाँ, गुरुकुलों में अवश्य इस ओर ध्यान है। वहाँ ब्रह्मचारी एवं ब्रह्मचारिणियाँ यज्ञोपवीत धारण करते हैं। वहाँ सहशिक्षा नहीं है। यद्यपि वर्तमान विषाक्त वातावरण की धूप-छाँह से गुरुकुल भी सर्वथा अछूते नहीं हैं, तदपि अन्य शिक्षणालयों के अनुपात में आज भी गुरुकुल अच्छे अंक प्राप्त करने के अधिकारी हैं, यह मैं शिक्षा-क्षेत्र के अपने बत्तीस वर्ष के अनुभव के आधार पर लिख रहा हूँ। बालकों की शिक्षा के लिए आवास-प्रणाली ही सर्वोत्तम प्रणाली मानी गयी है। इसका प्रमुख कारण यही है कि शिक्षार्थी निरन्तर अपने गुरुजनों के सम्पर्क में रहकर सब प्रकार का क्रियात्मक ज्ञान जिस सरलता एवं सुविधा से प्राप्त कर सकता है, उतना अन्य प्रणाली से नहीं। इसलिए मुझको याद आ रहा है कि समय-समय पर स्वर्गीय श्री राजगोपालाचार्य, प्रथम भारतीय गवर्नर-जनरल, स्व० महामहिम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, विश्वविद्यालयीय अनुदान आयोग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री सी० डी० देशमुख आदि महनीय व्यक्ति शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन कर आवासीय शिक्षा-प्रणाली का समर्थन एवं अनुमोदन करते रहे हैं, किन्तु राष्ट्रीय व्यस्तता में उनका शीलन स्वर भी नव कारखाने में तूती की आवाज होकर रह गया।

महर्षि दयानन्द ने गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति का संक्षिप्त पुराचीन प्रारूप, स्वरूप अनुपम रीति से 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में समाविष्ट किया है। महर्षि मानवीय शिक्षा को दो भागों में विभक्त करते हैं—एक, गर्भाधान से लेकर ८वें वर्ष तक माता-पिता के द्वारा जीवन की पवित्रता के लिए चारित्रिक शिक्षा का आधान; द्वितीय, बालक के ९वें वर्ष से लेकर कम-से-कम २६ वर्ष, ३६ वर्ष, अधिकाधिक ४८ वर्ष तक वेदादि सत्य शास्त्रों के आधार पर यथासामर्थ्य ज्ञान, विज्ञानादि प्रक्रिया सहित, तृण से लेकर परब्रह्म तक के जानने की शास्त्रीय एवं प्रक्रियात्मक अध्ययन-अध्यापन की परम्परा। स्त्री जाति के लिए आयु का क्रम भिन्न है।

महर्षि द्वारा उल्लिखित प्रकरण से ज्ञात होता है कि अध्ययन-अध्यापन के अनुक्रम में भी वे बालकों के लिए, शिक्षकों के लिए ब्रह्मज्ञान, देवयज्ञ, स्वाध्याय, प्रवचन, सत्संग, योगा-नुष्ठान, दार्शनिक बोध, शोध आदि परम्पराओं को अवश्यंकरणीय मानते हैं। महर्षि ने इसी स्थल पर जो संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण एक पाठ्यक्रम प्रस्तुत किया है, उसी से यह जाना जा

सकता है कि महर्षि मानव को उन्नति के किस उत्तुंग शृंग पर आसीन देखना चाहते हैं। सम्प्रति देश में आर्यसमाज के दो प्रकार के शिक्षणालय प्रचलित हैं जिन पर आर्यसमाज लाखों रुपया प्रतिवर्ष व्यय करता है, किन्तु युवकों की दशा आज भी कुछ को छोड़कर यथेष्ट समुन्नत एवं वर्तमानकालिक सुविधाजनक नहीं है। इसका प्रमुख कारण है कि हम गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की उत्तमता का ढोल तो बहुत पीटते हैं, किन्तु अपने ही अधिकांश बालक स्कूलों, कालेजों, पब्लिक स्कूलों, कान्वेन्ट स्कूलों में पढ़ते दृष्टिगोचर होते हैं। यह एक कटु सत्य है, जिसकी ओर मैं जान-बूझकर ही संकेत कर रहा हूँ। वस्तुतः मानव की सर्वांगीण उन्नति के लिए तथा उसमें शालीनता, पवित्रता एवं सत्य, राष्ट्रीयता की अनुपम ज्योति जगाने के लिए उल्लिखित तीन मान्य गुरुओं की सम्मिलित शिक्षा की आवश्यकता है। इसी में मानव जाति का कल्याण निहित है।

तुभ्यं दक्ष कविक्रतो यानीमा देव मर्तासो अध्वरे अकर्म।
त्वं विश्वस्य सुरथस्य बोधि सर्वं तदग्ने अमृतं स्वदेह॥

(ऋग्वेद ॥३।१४।७॥)

सब मनुष्यों को चाहिए कि जैसे विद्वान् लोग धर्म-योग्य करें वैसे वे भी करें और सम्पूर्ण जन एक सम्मति करके इस संसार में विद्या और सुख की उन्नति करें।

विश्वजनीन विद्या

डॉ० रामेश्वरदयाल गुप्त
एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, त्रैतवादीय आर्यपीठ, रामेश्वर कुंज, आर्यनगर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

महर्षि दयानन्द कर्मानुकूल भोग व्यवस्था को मानते थे, अतः धन और रयि के समान वितरण के वे पक्षधर नहीं थे—हाँ, सम्पन्नों का उन्होंने यह कर्तव्य अवश्य बताया था कि वे वेदाज्ञानुसार बाँटकर खायें। आर्यसमाज के सत्संगों में एक भजन गाते हैं :

"भूखा-प्यासा पड़ा पड़ोसी तूने रोटी खायी तो क्या ?
पहिले सबसे पूछकर भोजन को फिर खाया कर।"

केवलाघो वाले मंत्र का यह अनुवाद है, इसीलिए आर्यसमाज के छठे नियम में उन्होंने विधान किया था कि "संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।" परन्तु साम्यवाद के एक पहलू को उन्होंने पूर्णतया स्वीकार किया था क्योंकि वह न्यायोचित था। वह था विद्या पर जन-जन का अधिकार। सृष्टि में पैदा हुए हर व्यक्ति को विद्यार्जन कराने की सुविधा और साधन उपलब्ध कराना समाज और राज्यशक्ति का कर्तव्य मानकर उन्होंने बताया था कि विद्या आत्मिक और भौतिक—दोनों उन्नतियों का सोपान है। सबको समान स्तर से, समान वातावरण में, एक-सी शिक्षा देकर जीवन के चौराहे पर—जीवन की दौड़ में छोड़ देना चाहिए, अपनी विद्या और तज्जनित स्वभाव, गुण और अध्यवसाय से एक व्यक्ति दूसरे से तीन गुने (त्रयो रत्नानि धत्तन्) फल तक प्राप्त कर सकता है। जीवन की दौड़ में वह आगे बढ़ने या पीछे रहने—दोनों को स्वतन्त्र है। इस अन्तर की अनुज्ञा की एक अत्यावश्यक शर्त यह है कि हर व्यक्ति के लिए विद्या-प्राप्ति सुलभ हो, विद्या के दरवाजे उसके लिए खुले हों और शिक्षा सबको समान साधनों और उपकरणों से समान वातावरण में दी जाये।

सम्भवतः मध्यवर्ती परम्परा में महर्षि दयानन्द ही प्रथम विचारक हैं जिन्होंने विद्या के दरवाजे जन-जन के लिए खोल दिये। आदिकाल में तो वेदों का उपदेश था कि **'प्रथेमा वाचम्-कल्याणीमा वदानीम् जनेभ्यः।'** परन्तु कालान्तर में प्रवृत्ति यह नहीं थी। ऐसा स्वीकार करने में संकोच नहीं करना चाहिए। सत्य को ग्रहण करने और असत्य को त्यागने में सर्वदा उद्यत

रहना चाहिए। विद्यादान में भेदभाव और संकोच ने देश में अविद्या को फैला दिया।

दयानन्द सरस्वती के समय के अँग्रेजी शासन-काल में शिक्षितों का प्रतिशत इस देश में एक प्रतिशत के लगभग रहा होगा। १९४७ में स्वराज्य-प्राप्ति के समय ७ प्रतिशत था। हाँ, अब ३० वर्ष के परिश्रम से ५२ तक पहुँच गया है। इस विचार-परिवर्तन में दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का प्रमुख हाथ है। उन्होंने १८७५ में आर्यसमाज के ८वें नियम के रूप में घोषणा की थी कि—

"विद्या का प्रचार और अविद्या का नाश करना चाहिए।" उनके शिष्यों ने सारे उत्तरी भारत को विद्यालयों, गुरुकुलों और कालेजों से ढक दिया। करोड़ों बच्चों ने इस संस्थानों में विद्यार्जन करके अपने जीवन को दिशा दी है और सार्थकता दी है। जन-जन को शिक्षा देने का उद्घोष उन्हीं का था। उक्ति प्रसिद्ध है—**'विद्या ददाति विनयं, विनयं ददाति पात्रताम्।'** विद्या से विनय आती है और विनय से पात्रता। यदि गुरु कहे कि पहले पात्रता प्राप्त करो तब विद्या पढ़ाऊँगा तो बात घोड़े के सामने गाड़ी रखने जैसी है। विद्या से ही पात्रता आती है। उस पात्रता से किसी को वंचित रखना पाप है।

अब प्रश्न यह है कि यह शिक्षा कैसी हो जो जन-जन को प्राप्त हो सके? सरकारें कहती हैं कि प्राइमरी शिक्षा को लाजिमी (Compulsory) बनाने हेतु अरबों रुपया चाहिए, जो उनके पास है नहीं। पिछली दशाब्दी में आर्यप्रतिनिधि-सभा उत्तर प्रदेश की स्वर्ण-जयन्ती पर लखनऊ में स्व० पंडित जवाहरलाल नेहरू ने आकर उसके शिक्षा सम्मेलन का उद्घाटन किया था। उनके भाषण के बाद प्रिंसिपल (आचार्य) महेन्द्रप्रताप शास्त्री को आर्यसमाज का अभिमत प्रकट करने का कार्य सौंपा गया। आर्य-पिता के आर्य-पुत्र ने अपने प्रस्तोता दयानन्द सरस्वती द्वारा 'सत्यार्थप्रकाश' में चर्चित संस्कृत के एक श्लोक से भाषण प्रारम्भ किया—

'मातृमान् पितृमानाचार्यमान् पुरुषो वेद।' मैंने सनातनधर्मियों की पुस्तकों में यह टिप्पणी पढ़ी है कि "यह श्लोक किसी उपनिषद में नहीं आया है, वरन स्वामीजी ने स्वयं निर्मित किया है।" पर यह तो स्वामीजी की नम्रता है कि वे अपने को इतने मूल्यवान सूत्र का निर्माता नहीं बताते।

बस, यही सूत्र तो सारी शिक्षा-नीति का सार है। माता के गर्भ में आने के पूर्व बच्चा पिता के गर्भ में रहता है। उसी के शुक्राणु में तो उसका वास होता है। यदि वह परिश्रम और योजनापूर्वक उस अणु को तैयार करता है, यह सोचता है कि जीवन में एक ही तेजस्वी पुत्र पूरी तैयारी से पैदा करेगा, तो बच्चे की शिक्षा और संस्कार वहीं पैदा हो जाते हैं। महाराज कृष्ण ने एक ही पुत्र पैदा किया था। फिर वह शुक्राणु माता के गर्भ में रहता है। वहाँ वह देखता रहता है कि माता क्या खाती है, क्या करती है और क्या सोचती है। अभिमन्यु बनकर वह चक्रव्यूह-भेदन की कला गर्भ में ही हस्तामलकवत कर सकता है। इसीलिए गर्भाधान तथा पुंसवन आदि संस्कारों की व्यवस्था है। जन्म होते ही उसकी जिह्वा पर ओ३म् लिखकर उसके कान में कहते हैं—**'त्वम् वेदोऽसि'**—मानो बता दिया कि ज्ञानार्जन ही तेरा जीवन-लक्ष्य है। फिर ६ वर्ष-पर्यन्त माता और पिता उसे पालते हैं और स्वभाषा-ज्ञान कराते हैं। इन ६ वर्षों में ही उसमें महत्त्वाकांक्षा का सृजन हो जाता है और पारिवारिक संस्कृति व्याप्त जाती है। यदि माता और पिता शिक्षित और सुसंस्कृत होंगे तभी तो वे बच्चों को दिशा दे सकेंगे। अशिक्षित व्यक्ति को तो संतान पैदा ही नहीं करने देना चाहिए। माता-पिता द्वारा प्राइमरी शिक्षा समाप्त करा

देना प्रायः निःशुल्क है। इसके लिए अरबों रुपये क्या, एक कौड़ी भी नहीं चाहिए। दूसरी बात माता-पिता के वात्सल्य से सम्बन्धित है। साम्यवादी देशों में चलन डाला जा रहा है कि समाज में कुनबापरस्ती खत्म करने के लिए बच्चे को जन्म लेते ही धायघर में दे दिया जाये और उसे बताया ही न जाये कि उसके माता-पिता कौन थे, वे विवाह की संस्था के भी खिलाफ हैं—

Born in hospital, brought up in nursery, educated in college, living in hostel. How am I concerned with family ?

यह प्रश्न है जो साम्यवादी समाज में पैदा हुआ बच्चा बड़ा होकर परिवार की खिल्ली उड़ाता हुआ कहता है ! अकबर इलाहाबादी ने एक शेर कहा है—

"हर्फ़ पढ़ा टाइप का, पानी पिया पाइप का।
दूध पिया डिब्बा से, काम क्या अब्बा से ?"

साम्यवादी देशों के अतिरिक्त पश्चिम की रयि-प्रधान संस्कृति भी उससे कुछ कम, पर महाअनिष्टकारी व्यवधान अपनाती जा रही है। भारत में भी उसका अन्धानुकरण प्रारम्भ हो गया है। स्तनों का उभार बनाये रखने के लिए माताएँ अपने बच्चों को अपना अमृत-तुल्य दूध नहीं पिलाती हैं। डिब्बों का कृत्रिम व बासी दूध पिलाकर बालक के उदर को जन्मते ही बीमारियों का घर बनाना शुरू कर देती हैं। ऐसे बच्चों में माता के प्रति क्या ममता होगी और वे क्या 'माँ के दूध की लाज' रखेंगे, जब कि उसे पिया ही नहीं है ?

अतः भारतीय संस्कृति बच्चे को माँ-बाप के वात्सल्य से जन्मते ही वंचित नहीं रखना चाहती, ताकि बचपन के ७ वर्षों में वे मातृ-भाषा तथा पैतृक संस्कृति में निःशुल्क ही निष्णात हो जावें, पर साम्यवाद के इस चिन्तन में बल अवश्य है कि बच्चों को कुनबापरस्त होने से बचाये जाये, अन्यथा राष्ट्र और समाज में भाई-भतीजावाद पनपेगा—जैसा कि हम देख रहे हैं कि प्रजातन्त्र में राजाओं की वंशानुगत परम्परा को उखाड़कर नेताओं की वंश-परम्परा चालू हो जाती है। नैपोलियन ने यही किया, भारत में भी यही शुरू हुआ। हर कोई अपने पुत्र, पुत्री एवं दामाद को उत्तराधिकारी बना जाना चाहता है। अतः हमारे स्मृतिकारों ने व्यवस्था दी कि ७ या ८ वर्ष की आयु में बच्चे को अनिवार्यतः उसके परिवार से निकाल कर आचार्य-कुल को सौंप देना चाहिए। इसे ही गुरुकुल कहते हैं। गुरुकुल-प्रवेश के समय वेदारम्भ संस्कार होता है। इसमें गुरु घोषणा करता है कि मैं अमुक विद्यार्थी को अपने गर्भ में लेता हूँ। पाश्चात्य लोगों ने इस घोषणा की हँसी उड़ायी है कि आर्य संस्कृति में ३०-४० की वय के पुरुष गर्भ धारण करते हैं ! पर वास्तव में गुरु अपने कुल के विद्यार्थी की गर्भवत् पालना करता है। जो कुछ उस पर है उसका श्रेष्ठांश उसे देता है। वहाँ सब विद्यार्थी एक-सा भोजन-वसन-अध्ययन पाते हैं। न किसी को किसी की जाति, वर्ण या सम्पन्नता के बारे में मालूम है, न जन्मस्थान और परम्परा के बारे में। आह ! कैसा अद्भुत साम्य है। राजा और रंक—दोनों की सन्तान एक स्थान पर एक-सा रहकर पढ़ते हैं। आगे गुरु-मात ने कृष्ण और सुदामा दोनों को चना चबाने के लिए दिये और कहा कि जाओ दोनों सखा गायें चरा लाओ—

"आगे चना गुरु-मात दिये ते लिये तुम चाबि हमैं नहीं दीने।"

कवि नरोत्तमदास कृष्ण के मुख से अपने गुरुकुल जीवन के उल्लासपूर्ण दिनों की स्मृति

सुदामा से अपने सामने खुलवाते हैं और उपालम्भ दिलाते हैं कि—

"तुम आये सखा न इतै, कितै दिन खोये।
सो देखि के दीन की दीन दशा, करुणा करिकै करुणानिधि रोये।"

प्रकृति के स्वच्छन्द वातावरण में नगर और गाँव की कुत्सित विचारधाराओं से दूर बालक और बालिकाओं की पृथक् शालाओं में हमारी बाल-पीढ़ी निःशुल्क शिक्षाध्ययन करती थी और गुरु उनकी हर कार्यविधि पर ध्यान रखकर उन्हें जीवन में व्रत लेने के योग्य बना देते थे। इस शिक्षा का उद्देश्य था कि वे मानव में समाज की कोई कमी दूर करने की उत्कट लालसा और आकांक्षा का सृजन करके उन्हें किसी व्रत का व्रती बना दें। आज लोग Basic शिक्षा के नाम पर हर बच्चे को उत्पादक बनाकर कारखाने या खेत में काम करने योग्य एक पुर्जा मात्र बनाना चाहते हैं। यह तो समाज का मात्र चतुर्थांशी प्राप्तव्य है; वैदिक आदर्श है मनुष्य को व्रती बनाना। तभी वह संसार का उपकार करना अपना मुख्य उद्देश्य मानेगा और शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति में अपना योगदान दे सकेगा। कमाओ और खुश रहो—यह आधुनिक नारा है। कुछ करो और दूसरों की सुख-समृद्धि सम्पादन हेतु करो—यह हमारा नारा है।

इस हेतु गुरुकुल में ही वर्ण निश्चित होता था। दयानन्द सरस्वती ने यहाँ तक लिखा है कि इस निश्चय और निर्णयानुसार ही समावर्तन के उपरान्त उपयुक्त माता-पिताओं के पास भेजा जावे जो उसी वर्ण के हों—अर्थात् माता-पिता बदल भी दिये जा सकते हैं। गुरुकुल से ही विद्यार्थी की नियुक्ति होगी। जो कार्य आज Employment exchange करते हैं वह गुरुकुल के कुलपति द्वारा होना चाहिए, क्योंकि उसने १४ वर्ष तक विद्यार्थी को निकट से देखकर उसकी क्षमता और उपादेयता का सही मूल्यांकन किया है। हमारी पद्धति में Total employment होगा, कोई बेकार नहीं होगा तथा हर व्यक्ति से समाज के द्वारा अधिकतम योगदान रयि और ज्ञान का (Maximum utilization) हो सकेगा। यह नहीं कि कॉमर्स का ग्रेजुएट विज्ञान अकादमी का प्रधान है, और साइन्स का ग्रेजुएट क्लर्क है और कला का ग्रेजुएट फैक्टरी का मैनेजर—जैसा कि विनियोजन केन्द्र आज कर पा रहे हैं। और, गुरुकुल से निकला वीर्यवान विद्यार्थी अपने संचित तेज से गृहस्थ का यथोचित आनन्द उठा सकेगा, न कि आज का सह-शिक्षा में पढ़ा युवक, पिचके गाल और क्षुब्ध स्मृति लेकर गोलियों के प्रताप से गृहस्थ भोगता हुआ रुग्ण शरीर से समाज पर बोझ होगा। काश, हमारी राज्य-व्यवस्था ने एक-दो राज्यों में ही इस गुरुकुल प्रणाली का परीक्षण किया होता, पर इसके लिए आर्य राष्ट्र की स्थापना तक प्रतीक्षा करनी होगी और तब तक हमारे इस ज्योति-स्तम्भ को प्रकाशित करते रहने का दायित्व आचार्य-प्रवर महेन्द्रप्रताप शास्त्री एवं गुरुपत्नी अक्षयकुमारी शास्त्री प्रभृति को है, जिसे वे निभा रहे हैं ताकि हमारे संस्थान विलुप्त न हो जावें।

सा विद्या या विमुक्तये

श्री सत्यकाम विद्यालंकार

कठोपनिषद् में नचिकेता को अभियाचित तीसरा वर देते हुए आचार्य यम ने आत्मा संबंधी जिज्ञासा का उत्तर दिया था—

'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥'

उत्तर का सारांश यह हुआ कि विषयभोग से चित्त-वृत्तियों को हटाकर आत्मा में नियुक्त करने से ही विवेकशील मनुष्य हर्ष-शोक से मुक्त होता है। नचिकेता को इस उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। उसने फिर कहा कि मुझे हर्ष-शोक, धर्म-अधर्म, कृत-अकृत से सर्वथा असम्बद्ध यदि कोई तत्त्व है तो उसके स्वरूप का ज्ञान दीजिये। लौकिक ज्ञान तो मैं अन्य आचार्यों से भी ले सकता था।

जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न की गहराई को जानकर आचार्य यम ने कहा था—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि, ओमित्येतत्।'

अर्थात्, समस्त आत्म-तत्त्व का सार 'ओ३म्' पद में निहित है। आचार्य ने आगे यह भी कहा कि—इस परम पद का ज्ञान न तो तर्क से होता है, न मेधा से, न श्रवण से। यह ज्ञान तो केवल 'अनुभव' की वस्तु है।

प्रश्न यह हुआ कि 'अनुभव' का अधिकारी कौन होता है? आचार्य ने बतलाया कि इस स्वानुभव का अधिकारी वही मनुष्य होगा जो संसारी भोगों से सर्वथा विरक्त होगा, सच्चरित्र होगा, शांत-चित्त होगा और समाहित होगा। इतनी योग्यता पाने के लिए उसे साधना करनी होगी।

साधना के मार्ग पर चलने वाले जीवन-रथ का विस्तार से विवेचन करते हुए आचार्य यम ने मनुष्य देह को रथ, आत्मा को रथ का स्वामी, मन को लगाम, बुद्धि को सारथी और इन्द्रियों को रथवाहक अश्वों की उपाधि दी।

शायद नचिकेता का समाधान तब भी नहीं हुआ। तब आचार्य ने भी स्वीकार किया कि—

'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।
दुर्गमपथस्तत्कवयो वदन्ति ॥'

अर्थात्, साधना का यह मार्ग बड़ा दुर्गम है, छुरे की तेज धार के समान दुःसाध्य है।

सच तो यह है कि आचार्य यम भी अपने शिष्य का पूरा समाधान नहीं कर पाये। प्रश्न प्रश्न ही बना रहा, आज भी है, कालान्तर में भी रहेगा।

प्रत्येक विचारक अपनी बुद्धि और प्रकृति के अनुकूल स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर पाने की कोशिश करता है और प्रत्येक सच्चे साधक को अपने मन में ही उसका उत्तर मिल जाता है। कोई एक ऐसा उत्तर ही नहीं बन पाता जो सामूहिक रूप से सबके लिए समाधानकारक हो। अत मैं समझता हूँ कि किसी एक शास्त्र-वाक्य में अपने प्रश्नों का उत्तर पाने की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

मन शंकाशील रहे तो समस्त शास्त्र पढ़कर भी मनुष्य को अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता और वह श्रद्धावनत हो तो वेद के प्रत्येक वाक्य ही नहीं, वाक्यांश से उसका पूर्ण समाधान हो जाता है।

जहाँ तक मैं समझा हूँ, मनुष्य यदि अपने भोक्तृत्व को कम करते-करते इस स्थिति में आ जाये कि वह 'भोक्ता' न रहकर मात्र दर्शक रहते हुए तृप्ति का अनुभव करने लगे, तो उसे ज्योतिर्मय सच्चिदानन्द के साक्षात्कार की प्रतीति होने लगती है।

हमारी आत्मा इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि से युक्त होकर ही भोक्ता बनता है। यदि हम पूर्णतः विरक्त होकर सब संकल्प-विकल्प छोड़ दें और बुद्धि को भी निश्चल करके अपने ही निर्विकल्प रूप में अथवा आचार्य यम द्वारा निर्दिष्ट 'ओ३म्' पद में समाहित हो जायें तो कम-से-कम कुछ क्षणों के लिए तो दु:खों से मुक्ति मिल ही जायेगी।

हम कामकाजी व्यक्तियों को इन कुछ क्षणों के मोक्ष में ही तृप्ति का अनुभव करना श्रेष्ठ होगा। यह तृप्ति हमारे समस्त कार्यकलाप को मधुर बना देगी। धीरे-धीरे इसका प्रभाव हमारे सारे जीवन पर पड़ेगा। सात्विक भावनाओं से ओतप्रोत होकर हम सदा प्रसन्नचित्त रहने लगेंगे।

इस प्रकार जो क्षणिक मोक्ष हमें सहज उपलब्ध हो उसमें सन्तोष करना चाहिए। तब यह संसार ही मोक्षधाम बन जायेगा। इसीलिए कहा गया है—**'सा विद्या या विमुक्तये।'**

प्राचीन भारत के शिक्षा-प्रतिष्ठान

डॉ० विष्णुदेव स्नातक
पी-एच० डी०, सिद्धान्तशिरोमणि
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कर्मक्षेत्र महाविद्यालय, इटावा

संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व एशिया के यायावरों तथा सांस्कृतिक यात्रियों के अभिलेखों द्वारा, विशेष रूप से मेगस्थनीज़ तथा भारतीय तपोवनों के लतावितानों में अपनी ज्ञान-पिपासा को शांत करने वाले फाह्यान, ह्वेनसांग, इत्सिंग के अतिरिक्त अल्बेरूनी तथा बर्नियर जैसे पर्यटकों के ऐतिहासिक आलेखों से तत्कालीन भारतीय शिक्षा-पद्धति एवं पर्वतों की उपत्यकाओं तथा सरिताओं के उपकण्ठों पर स्थित तपोवनों, बौद्ध विहारों और विशाल शिक्षा-संस्थाओं का मानचित्र स्पष्ट होता है। वैदिक-कालीन ऋषियों के तपोवन प्रायः पर्वतों की मनोरम उपत्यकाओं में, अविच्छिन्न गति से प्रवाहित सरिताओं के दुकूलों पर, तथा सान्द्र एवं शीतल छाया वाले पादपों, ऐला लवंग एवं माधवी के लतावितानों से परिवेष्ठित वन-राजि के मध्य अवस्थित रहे हैं। उपनिषदों का युग आध्यात्मिक चिन्तन तथा ब्रह्मोपासना का युग था, अतः तपोधन ऋषियों के उन तपोवनों में चाहे हारिद्रुमत सत्यकाम को उपदेश दे रहे हों अथवा याज्ञवल्क्य अपनी ब्रह्मवादिनी पत्नी गार्गी तथा मैत्रेयी से विचार-विमर्श कर रहे हों, उनका एक ही उद्देश्य था और वह था भौतिकवाद की मृगमरीचिका का मर्षण करने हेतु ब्रह्मोपलब्धि के लिए निरन्तर साधना। रामायण के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इस युग में वैदिक-कालीन शिक्षा को व्यावहारिक रूप देने का सुमहान् प्रयत्न किया गया था। यह वह युग था, जब कि महर्षि वशिष्ठ, विश्वामित्र तथा अप्रतिम वैज्ञानिक महर्षि अगस्त्य ने ज्ञान-विज्ञान के प्रशिक्षण के लिए वृहदाकार विद्यापीठों की स्थापना कर एक ओर ज्ञान-विज्ञान तथा दूसरी ओर आर्य संस्कृति के प्रसार के लिए सिंहनाद किया था। परिणामस्वरूप उपनिषदों की चिंतन-धारा कलात्मक ज्ञान तथा विज्ञान के कलेवर में परिणत होकर बृहत्तर भारत के चारों अंचलों में प्रवाहित होने लगी थी।

(१) यदि एक ओर उत्तरापथ के प्रहरी हिमालय की पावन अधित्यका में ब्रह्मोपासना के विशाल संस्थान प्रतिष्ठित हुए थे, जहाँ का वायुमण्डल, मलयानिल तथा कस्तूरी मृग की नाभि-गन्ध से उद्वेलित हो उठा था, तो दूसरी ओर दक्षिणापथ पर आर्य जाति के विज्ञान तथा आध्यात्मिक शक्ति के प्रतीक महर्षि अगस्त्य का विश्वविख्यात संस्थान था, जो दक्षिण दिग्वधू का

अलंकार माना जाता था। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड का बारहवाँ अध्याय उस विद्या-केन्द्र की विरुदावलि से भरा हुआ है। यह वही विद्यापीठ था जो दण्डकारण्य के भूखण्ड पर आर्यावर्त तथा लंका साम्राज्य के सन्धि-स्थान पर प्रतिष्ठित था तथा स्वयं राम-लक्ष्मण ने महर्षि अगस्त्य की प्रयोगशाला में निर्मित शस्त्रों का प्रशिक्षण तथा अभ्यास कर रावण की वीर वाहिनी का संहार किया था। महर्षि अगस्त्य की वैज्ञानिक प्रयोगशाला धरती के गर्भ में थी जिसका पता रावण का विशाल गुप्तचर विभाग भी नहीं कर सका था। इस पावन प्रतिष्ठान में अनेक देवता, गन्धर्व, किन्नर, नाग तथा यक्ष अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने के लिए अन्तेवासी बनकर रहते थे

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः।
अगस्त्यं नियताहाराः सततं पर्युपासते॥ (वा० रा०, ३।१२१)

महाभारत के आदि पर्व में भी महर्षि वेदव्यास ने इस प्रतिष्ठान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने लोमश ऋषि के साथ इस पावन धाम की यात्रा की थी तथा अर्जुन ने अजेय योद्धा बनने के लिए इसी संस्थान की धूलि अपने मस्तक पर लगायी थी।

(२) गंगा और यमुना के संगम-स्थल प्रयाग में महर्षि भरद्वाज का आश्रम था जो कि रामायण-काल में आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसिद्ध तीर्थ माना जाता था। महर्षि भरद्वाज का यह लोक-प्रसिद्ध संस्थान ४० मील की परिधि में समाहित था, जिसमें कि अनेक देशों के राजकुमार तथा सामान्य जन अनेक प्रकार की शिक्षा प्राप्त करते थे। उक्त संस्थान क्रमिक विकास के साथ विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। महर्षि भरद्वाज के इसी सन्निवेश में राम से भेंट करने के लिए चित्रकूट जाते हुए ससैन्य भरत का राजकीय आतिथ्य किया गया था! चित्रकूट पर्वत के पाद प्रदेश में मन्दाकिनी के तट पर महर्षि वाल्मीकि का सुप्रसिद्ध आश्रम स्थित था, जिसकी पावन पर्णकुटी में राम ने सीता एवं लक्ष्मण सहित आवास किया था। राम के द्वारा परित्यक्ता सीता को लक्ष्मण ने इसी आश्रम के सन्निवेश में लाकर छोड़ा था जहाँ कि सीता के गर्भ से लव-कुश ने जन्म लिया था। यही वही स्थल है, जहाँ महर्षि वाल्मीकि ने रामायण का प्रणयन किया था।

(३) आधुनिक बिहार राज्य में किन्तु प्राचीन समय के अंग देश में कौशिकी नदी के तट पर शृंग ऋषि का पावन तपोवन था, जो कि उस युग में भिषक् शास्त्र का सुप्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र माना जाता था, जिसमें दस सहस्त्र छात्र निःशुल्क अन्तेवासी बनकर अध्ययन करते थे। आयुर्वेद शास्त्र की भिषक् एवं शल्य-शालाक्य पद्धति की विकास-धारा इसी प्रतिष्ठान से निःसृत होकर महाभारत-काल तक अविच्छिन्न गति से बहती रही है। महाभारत के समय यह शिक्षा-केन्द्र अपनी उन्नति के चरम-बिन्दु पर जा पहुँचा था। इसी संस्थान के कुलपति ऋष्य शृंग ने साकेत के अधीश्वर दशरथ की पत्नियों को पुत्रेष्टि यज्ञ के हव्य पदार्थ में पुत्रदा औषधि प्रदान कर वन्ध्या-दोष से विमुक्त किया था।

(४) रामायण-काल में विविध विषयों के अध्ययन तथा विशिष्ट विषय में दक्षता प्राप्त करने के लिए समस्त आर्यावर्त के सीमान्त प्रदेशों तथा मध्य देश में संस्थानों की स्थापना का पूर्ण आयोजन दिखायी देता है। इसी सन्दर्भ में सुदूर पूर्वांचल के सीमान्त पर जहाँ रावण-

साम्राज्य का पूर्वी भाग मिलता था और जिसे रामायण में मलद-करूष प्रदेश कहा गया है, महर्षि विश्वामित्र का सुप्रतिष्ठित विद्यापीठ था जो न केवल शास्त्रों और शस्त्रों के अभ्यास का संस्थान मात्र था, प्रत्युत रावण-साम्राज्य के विस्तार का प्रतिरोधक स्कन्धावार तथा पूर्वी सीमा के सजग प्रहरी के रूप में था। यहाँ अनेक देशों के राजकुमार शस्त्राभ्यास तथा मल्लविद्या के प्रशिक्षण के लिए व्रतनिष्ठ रहते थे। इसी संस्थान में राम-लक्ष्मण ने शस्त्राभ्यास किया था और इसी भू-भाग पर राम ने विश्वामित्र की प्रेरणा से भयानक राक्षसी ताड़का के वध के साथ मारीच और सुबाहु को दण्डित किया था। वस्तुतः इसी सीमान्त से रावण ने आर्यावर्त पर आक्रमण का अभियान प्रारम्भ किया था, जिसकी पृष्ठभूमि में मारीच, सुबाहु, ताड़का के नेतृत्व में विशाल सेना रखकर रावण ने आर्यावर्त में कँपकँपी पैदा कर दी थी, किन्तु ऋषि विश्वामित्र ने एक बार में ही ताड़का का वध करवा कर रावण-साम्राज्य के मस्तक पर गहरी ठोकर मारी थी। ऋषि विश्वामित्र ने इसी संस्थान में निर्मित आग्नेय-पैनाक-नारायण तथा वायव्य नाम के प्रसिद्ध शस्त्रास्त्र राम तथा लक्ष्मण को प्रदान कर अजेय योद्धा बना दिया था। भारत के इसी पूर्वी सीमान्त पर और भी आश्रम थे, जहाँ विभिन्न विषयों का सांगोपांग अध्ययन होता था। यदि हम रामायण तथा महाभारत पर दृष्टिपात करें तो यह बात स्पष्ट होने लगती है कि भारत के सीमान्त पर यौद्धिक विषयों में दक्षता के लिए संस्थानों का जाल बिछाया गया था, जो न केवल शिक्षा-केन्द्र के रूप में ही होते थे प्रत्युत तपोवन के रूप में प्रतिष्ठित वे संस्थान राष्ट्र की सीमा के प्रहरी भी होते थे। भारत के विभिन्न जनपदों में प्रायः नदियों के तट पर वेदों की विभिन्न शैलियों और शाखाओं के विकास हेतु अनेक विद्यापीठों की स्थापना की गयी थी। रामायण-कालीन शिक्षा-केन्द्रों की सजीव धारा महाभारत-युग तक अनवरत दिखायी देती है। महाभारत में आये वर्णनों से तो यह और भी स्पष्ट हो जाता है, कि उस युग में पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा विकसित एवं वृहदाकार शिक्षा केन्द्रों की स्थापना की गयी थी। महाभारत तथा अनेक पौराणिक ग्रंथों के प्रणेता महर्षि वेदव्यास का आश्रम हिमालय के उस उच्च शिखर पर था जिसे आजकल बद्रीनाथ धाम कहते है। वनपर्व में आये उल्लेख के अनुसार पाण्डवों ने गन्ध-मादन पर्वत से चलकर इसी तुंग शैल पर महर्षि वेदव्यास के दर्शन किये थे।[1] वैदिक ज्ञान तथा वेद विद्या का यह रम्य शिक्षा-केन्द्र अपने युग का अप्रतिम स्थान था जिसमें महर्षि जैमिनी तथा ऋषि वैशम्पायन ने भी वैदिक ज्ञान प्राप्त किया था। यह प्रतिष्ठान शताब्दियों तक वैदिक अनुसन्धान एवं अनुशीलन का प्रमुख विद्यापीठ बना रहा।

(५) मेरु पर्वत के पार्श्व भाग में महर्षि वशिष्ठ के तपोवन का वर्णन भी महाभारत में किया गया है। इस संस्थान में पौरोहित्य कर्म तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड का प्रशिक्षण दिया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त विद्यापीठ की संस्थापना रामायण-काल में महर्षि वशिष्ठ के द्वारा की गयी थी तथा महर्षि वशिष्ठ को वैदिक कर्मकाण्ड का आधिकारिक व्यक्तित्व मानकर पौरोहित्य कर्मकाण्ड की विधिवत् शिक्षा के लिए यह संस्थान महाभारत युग में भी प्रतिष्ठित रहा है। महाभारत के आदि पर्व के ७०वें अध्याय में महर्षि कण्व के आश्रम का वर्णन किया गया है। आदि पर्व में आये शाकुन्तलोपाख्यान के आधार पर ही कवि कालिदास ने 'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक की संरचना की थी। वर्णन के अनुसार बिजनौर के समीप कण्व का लोक-प्रसिद्ध तपोवन

१. महाभारत, वनपर्व, १४७-१५

मालिनी नदी के तट पर था। यह वही आश्रम था, जिसकी रज को उस युग के सम्राट अपने मस्तक पर लगाकर गर्व का अनुभव करते थे। इस आश्रम में सहस्रों छात्र ब्रह्म-विद्या का विधिवत् अध्ययन करते थे। कालान्तर में इसी संस्थान में भारत के सम्राट दुष्यन्त एवं शकुन्तला का प्रणय हुआ था।

महाभारत में महान् योद्धा परशुराम के उस प्रतिष्ठान का विशद वर्णन आता है, जो हिमालय के सुप्रसिद्ध शृंग महेन्द्रांचल पर स्थित था। परशुराम का आश्रम धनुर्वेद-विद्या का सर्वोत्तम संस्थान था। यहीं महान् धनुर्वेत्ता भीष्म पितामह तथा आचार्य द्रोण ने शिक्षा प्राप्त की थी। राजर्षि परशुराम ने आचार्य द्रोण को अपने वंश का परिचय देने के उपरान्त सत्पात्र माना था। द्रोण ने स्वयं भीष्म को अपना परिचय देते हुए धनुर्वेद के प्रशिक्षण के लिए परशुराम तथा महर्षि अगस्त्य के शिष्य ऋषि अग्निवेश के आश्रम का स्नातक कहा था—

महर्षे अग्निवेशस्य सकाशमहमुच्यता।
अस्त्रार्थमगमं पूर्वम् धनुर्वेद जिघृक्षया॥ (महा०, आदि०, १२६।४०)

यद्यपि अग्निवेश के आश्रम का विशद वर्णन महाभारत में नहीं दिया गया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि ऋषि अग्निवेश का उक्त तपोवन शस्त्रास्त्र के प्रशिक्षण के लिए महत्वपूर्ण रहा होगा। इसी तपोवन में पांचाल-नरेश द्रुपद भी छात्र बनकर वर्षों रहे थे।

स्वयं आचार्य द्रोण ने पाण्डवों को प्रशिक्षित करने के लिए हस्तिनापुर के समीप धनुर्वेद के अध्ययन एवं शिक्षण के लिए संस्थान की स्थापना की थी, जो गुरुग्राम के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। आज वही गुरुग्राम हरियाणा प्रांत में गुड़गाँव कहा जाता है।

निःसंदेह महाभारत-काल में रामायण-कालीन समाज की उस धारा को सजीव रखा गया था, जिसमें सैनिक संस्थानों के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति के लिए सुरम्य तपोवनों की प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। महाभारत में अत्यन्त गर्व के साथ जिन संस्थानों का वर्णन किया गया है, उनमें नैमिषारण्य के आध्यात्मिक तपोवन का भी चित्र प्रस्तुत किया गया है। वेद-वेदांगों की शिक्षा तथा आध्यात्म-विद्या के लिए प्रसिद्ध इस संस्थान के आचार्य महर्षि शौनक थे, जिनके द्वारा प्रणीत शौनक-संहिता आज भी प्राप्त है। महर्षि शौनक के आश्रम में देश-विदेश से आये हुए अस्सी हजार के लगभग अध्येता निःशुल्क अध्ययन करते थे। सम्भवतः महाभारत-काल का यह सर्वोत्तम तथा विशालतम प्रतिष्ठान था।

मालव प्रदेश की उर्वरा धरती पर अवन्ती देश की राजधानी उज्जयिनी में भी क्षिप्रा नदी के पावन दुकूल पर महर्षि सन्दीपन का सुरम्य आश्रम था जो षडंग वेद-विद्या के अतिरिक्त गान्धर्ववेद-आयुर्वेद-धनुर्वेद आदि विद्याओं का सुप्रसिद्ध संस्थान था। इसी संस्थान के प्रमुख शिष्य कृष्ण तथा सुदामा थे।

भारत की धरती पर प्रतिष्ठित अनेक प्राचीन संस्थानों में ऋषि-मुनियों ने इस देश की संस्कृति एवं सभ्यता का जो गौरवपूर्ण ताना-बाना बुनकर भारतीय समाज के विशाल कलेवर के लिए परिधान उपस्थित किया था, वह सहस्रों वर्षों के उपरान्त भी कितना चमकीला और रुपहला प्रतीत होता है। इन्हीं गुरुकुलों से अमृतमय सांस्कृतिक धारा निकली थी, जिसने इस देश के नूतन अंकुरों को जीवन्त बनाकर विश्व को अमर सन्देश दिया था।

शिक्षा और राष्ट्रीय चरित्र

श्री दत्तात्रेय वाव्ले, आचार्य
मंत्री, आर्य शिक्षा-सभा, अजमेर

हमारे देश की शिक्षा-प्रणाली में सुधार का प्रश्न हमारे राष्ट्रीय जीवन की एक निरन्तर समस्या बन गयी है। अँग्रेजी राज्य में वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का आधार विदेशी और केवल पुस्तकीय रहा है, यह कहकर भारतीय विचारक उसकी सदा समालोचना करते रहे हैं। यह स्पष्ट है कि अँग्रेजी शासन में देश में प्रचलित शिक्षा-प्रणाली भारतीय संस्कृति पर आधारित नहीं थी और न ही उसका मुख्य उद्देश्य हमारे देश के राष्ट्रीय, सामाजिक और सांस्कृतिक आदर्शों और आवश्यकताओं की पूर्ति करना ही था। लॉर्ड मैकाले द्वारा इस शिक्षा-प्रणाली की आधारशिला निश्चित की गयी तो उसके पीछे दो स्पष्ट और घोषित उद्देश्य थे—एक तो भारत में ईसाई धर्म का प्रचार और दूसरा, देश के शासन तंत्र में नीचे श्रेणी के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों की आवश्यकता की पूर्ति।

देश में सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय चेतना का युग अँग्रेजी शिक्षा का परिणाम समझा जाता है। कुछ अंशों में यह सही हो सकता है किन्तु वस्तुतः पुनर्जागरण के इस काल में भी देश के प्रारम्भिक नेताओं ने शिक्षा-प्रणाली के इस मूलभूत दोष को या तो अनुभव नहीं किया या उनके संबंध में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार करने की आवश्यकता नहीं समझी। यह सर्वविदित है कि राजा राममोहन राय न केवल अँग्रेजी शिक्षा के कट्टर समर्थक ही थे, अपितु वह अँग्रेजी राज्य को देश के लिए एक वरदान मानते थे।

इसलिए यह कहना किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शिक्षा के राष्ट्रीयकरण का प्रारम्भ वास्तव में ऋषि दयानन्द और उनके बाद आर्यसमाज ने किया। प्रारम्भ में आर्यसमाज के प्रमुख नेता केवल हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से शिक्षा देने के समर्थक थे। गुरुकुलों की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी थी। लाहौर में इससे पूर्व हाईस्कूल के रूप में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना एक दूसरी विचारधारा का प्रारम्भ था। डी० ए० वी० शिक्षण-संस्थानों के आन्दोलन का मुख्य आधार यह था कि यद्यपि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक है और उसके लिए अँग्रेजी भी जरूरी है, किन्तु उसके साथ ही इन संस्थाओं में भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय भावनाओं को प्रोत्साहन देने के लिए प्रयत्न करना उनका एक लक्ष्य है। अपनी इस विचारधारा के कारण ही डी०-ए० वी० संस्थाओं ने उस समय किसी प्रकार की सरकारी

सहायता नहीं ली, बल्कि सरकार द्वारा इस प्रकार की सहायता दिये जाने के प्रस्ताव को भी अस्वीकार किया था। इसका मूल कारण स्पष्ट था। सरकारी नियंत्रण के बाद यह संस्थाएँ अपनी स्वतंत्रता और राष्ट्रीय स्वरूप को सुरक्षित नहीं रख सकती थीं।

देश की स्वाधीनता के बाद हमारी शिक्षा-प्रणाली में सुधार करने की माँग और आवश्यकता को पुनः महत्त्व दिया गया। राष्ट्रीय आन्दोलन के समय महात्मा गांधी की प्रेरणा से कुछ शिक्षण-संस्थाएँ राष्ट्रीय भावना को उजागर करने के लिए खोली गयी थीं, किन्तु कालान्तर में कुछ अपवादों को छोड़कर वे बन्द हो गयीं। वरधा शिक्षा-प्रणाली के नाम से बेसिक एजुकेशन का प्रयोग भी महात्मा गांधी की प्रेरणा से किया गया। कांग्रेस के शासन में कुछ राज्यों में उसे कार्यान्वित करने की कोशिश भी की गयी, किन्तु धीरे-धीरे उसे अव्यावहारिक समझकर छोड़ दिया गया। आज स्कूलों में कुछ दस्तकारी तथा औद्योगिक समझे जाने वाले विषयों के अतिरिक्त उसका कोई अन्य महत्त्वपूर्ण लक्षण बाकी नहीं है।

गत कुछ वर्षों में शिक्षा-प्रणाली में सुधार के लिए अनेक आयोग नियुक्त किये गये। अनेक रिपोर्टें भी प्रकाशित हुईं। इनमें मुख्य सुझाव परीक्षा-प्रणाली में सुधार, माध्यम के रूप में मातृभाषा का उपयोग, अध्यापकों के वेतनमान और सेवा-सुरक्षा मुख्य थे। भाषा सम्बन्धी विवाद के समाधान के लिए तीन भाषाओं का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। शिक्षाकाल में कभी ग्यारहवीं कक्षा और तीन-वर्षीय स्नातक-क्रम और अब दसवीं, बारहवीं और अन्त में तीन वर्ष का स्नातक अध्ययनकाल विचाराधीन है। जहाँ तक पठनीय विषयों का सम्बन्ध है उनमें संख्या की वृद्धि करके शिक्षा-स्तर को ऊँचा करने की आकांक्षा या अपेक्षा रही है। किन्तु आज स्कूलों में पठनीय विषयों की संख्या १५ तक पहुँचने पर भी विद्यार्थियों के ज्ञान का स्तर बराबर नीचे गिरता जा रहा है। पहले कम विषय होने पर कम-से-कम उनके बारे में विद्यार्थियों की जानकारी अच्छी होती थी। अब इतने सारे विषयों में से किसी की भी जानकारी पहले से बहुत कम है, यह शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों से छुपा हुआ नहीं है।

प्रायः यह कहा जाता है कि हमारी शिक्षा-पद्धति ऐसी होनी चाहिए जिससे पढ़े-लिखे लोगों में बेरोजगारी न बढ़ने पाये, किन्तु इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि शिक्षा-सुधार के नाम पर किये गये उपरोक्त सारे सुधारों के बाद भी शिक्षा के विस्तार के साथ शिक्षित लोगों में बेरोजगारी बराबर बढ़ती रही है। वस्तुतः जीविकोपार्जन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नहीं हो सकता और न ही होना चाहिए। रोजगार चाहे वह नौकरियों द्वारा हो अथवा उद्योग या व्यापार तथा कृषि द्वारा हो, उसका आधार देश की आर्थिक व्यवस्था ही हो सकता हैं। मेरी दृष्टि में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य मनुष्य का बौद्धिक, सांस्कृतिक और चारित्रिक विकास करना है।

अनेक अशिक्षित व्यक्ति धनी और सम्पन्न होते हैं। दूसरी ओर, हमारे देश की परम्परा में विद्वत्ता का साथ बहुधा गरीबी से ही रहा है।

अपनी इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए ही मैंने प्रारम्भ से लेकर आज तक शिक्षा-प्रणाली और उसमें किये जाने वाले सुधारों के प्रयत्नों की संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर दी है।

मेरी दृष्टि में शिक्षा-प्रणाली में किये गये ऊपर के सारे प्रयासों का सबसे बड़ा दोष या कमी यही है कि हमने अपने देश की शिक्षा को स्वाधीन भारत के लिए उपयुक्त नागरिकों के चरित्र-निर्माण का मुख्य साधन समझ कर उस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं किया। आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं ने अपने प्रारम्भिक काल में शिक्षा के इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति के लिए

प्रयत्न अवश्य किया, किन्तु अब धीरे-धीरे यह शिक्षण-संस्थाएँ भी सरकारी शिक्षण-संस्थाओं की अच्छी या बुरी नकल मात्र रह गयी हैं। राष्ट्रीय चरित्र क्या है ? इसका यहाँ विवेचन केवल संकेत रूप में ही करना सम्भव है। हमारे देश की धार्मिक परम्परा में व्यक्तिगत चरित्र को जितना महत्त्व दिया गया है, उतना सामाजिक या राष्ट्रीय चरित्र को नहीं मिला। व्यक्तिगत और राष्ट्रीय चरित्र एक-दूसरे से सम्बन्धित या एक-दूसरे पर निर्भर होते हैं, इस तथ्य से इंकार किये बिना यह कहा जा सकता है और कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि हमारी व्यक्तिवादी विचारधारा में खान-पान, रहन-सहन, शादी-विवाह और पाप-पुण्य को इतना महत्त्व दिया जाता रहा है कि उसकी तुलना में समय की पाबन्दी, सार्वजनिक स्वच्छता, व्यापारिक ईमानदारी, अपने पद व स्थान में कर्तव्यपरायणता तथा अपने पड़ोसी, नगर और देश तथा समाज के प्रति हमारे उत्तरदायित्व आदि सामाजिक महत्त्व के गुणों के बारे में उपेक्षा और उदासीनता रही है। ऐसे गुण ही राष्ट्रीय चरित्र के आधार कहे जा सकते हैं और उन्हें हमारे देश की अनेक भिन्नताओं के होते हुए भी प्रत्येक भारतीय में उत्पन्न करने की आवश्यकता की पूर्ति शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जब कभी हम किसी अँग्रेज, जर्मन या जापानी व्यक्ति की कल्पना करते हैं तो हमारे सामने उनके कुछ ऐसे विशिष्ट गुणों का चित्र आता है जिसकी आशा हम प्रत्येक अँग्रेज, जर्मन या जापानी से करते हैं, यही इन देशों के राष्ट्रीय चरित्र का प्रमाण या मापदण्ड है। प्रत्येक भारतवासी के सम्बन्ध में जब हम इसी प्रकार की समता या समानता उत्पन्न कर सकेंगे, तभी हम वास्तविक अर्थों में एक राष्ट्र हो सकेंगे। शिक्षा-प्रणाली में अन्य अनेक सुधार आवश्यक हैं जिनका मैंने ऊपर संकेत किया है, किन्तु जब तक इन सब सुधारों के साथ शिक्षा हमारे राष्ट्रीय चरित्र का माध्यम नहीं बनती तब तक मेरी सम्मति में अन्य सब सुधार केवल वृक्ष के पत्तों को सींचने के समान होगा।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

(अथर्ववेद ॥११।५।१७॥)

ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा अपने राष्ट्र की रक्षा में समर्थ होता है।

शिक्षा का स्वरूप–तब और अब

श्री युगलकिशोर चतुर्वेदी
सम्पादक, 'लोकशिक्षक', प्रियम्वदा सदन, अशोक मार्ग, जयपुर

भव्य भावभूषित भारतवर्ष में शिक्षा का प्रचार-प्रसार आदिकाल से ही रहता आया है। प्राचीन वैदिक युग में यहाँ सर्वत्र गुरुकुलों, ऋषिकुलों का जाल-सा बिछा हुआ था, जहाँ सांगोपाङ्ग वेदों तक की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। वह शिक्षा राजा से रंक तक बिना किसी जाति, वर्ण अथवा लिंग के भेदभाव के सबको समान रूप से सुलभ थी तथा उसके लिए कोई शुल्क भी नहीं लिया जाता था। वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रंथों में इस प्रकार की शिक्षण-संस्थाओं के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उससे यह भी सिद्ध होता है कि उक्त गुरुकुल आदि में छात्रों के लिए आवासीय व्यवस्था थी अर्थात् छात्र और छात्राएँ अपने अध्ययनकाल के दौरान गुरुओं के सान्निध्य में पृथक्-पृथक् वहीं निवास करते थे तथा शिक्षा की समाप्ति पर स्नातक अथवा स्नातिका होकर ही निकलते थे।

उस युग के छात्र-छात्राएँ पूर्ण सदाचारी, गुरुभक्त, निष्ठावान् एवं देश और समाज की सेवा का व्रत लिये हुए होते थे। उनके अन्दर किसी प्रकार का दुर्व्यसन अथवा दुर्गुण नहीं होता था। 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आदर्श का पालन करते हुए वे कठोर तपस्या और आत्मानुशासन का पालन करते थे।

महाभारत के अनन्तर बौद्धकाल में यहाँ बड़े-बड़े विश्वविद्यालय स्थापित हो चुके थे, जिनमें हजारों की संख्या में छात्र तथा सैकड़ों ही शिक्षक अधिकांश समय अध्ययन एवं अध्यापन-कार्य में ही संलग्न रहा करते थे। इन विश्वविद्यालयों में तक्षशिला, नालन्दा तथा पाटलिपुत्र आदि सर्वत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध थे, जहाँ भारत के अतिरिक्त विदेशों के भी छात्र भारी संख्या में प्रतिवर्ष आते थे और ज्ञान, विज्ञान और अनेक कलाओं में निष्णात होकर वापस जाया करते थे।

इस तथ्य की साक्षी यूनान के मैगस्थनीज तथा चीन के ह्यूनत्सांग और फाह्यान आदि यात्री दे रहे हैं।

आगे चलकर राजा भोज के शासन-काल में तो शायद शिक्षा अनिवार्य भी रही हो, ऐसा

प्रतीत होता है, तभी तो उसने अपने राज्य में यह घोषणा करायी थी कि—

विप्रोऽपिच भवेन्मूर्खो स पुरात् बहिरस्तु मे।
कुम्भकारोऽपि यो विद्वान्, स तिष्ठेत् तु पुरे मम।।

अर्थात्, ब्राह्मण होता हुआ भी जो व्यक्ति अशिक्षित हो तो वह मेरे नगर से बाहर चला जाये और कुम्हार भी यदि शिक्षित है तो मेरे पुर में ठहर सकता है। यही कारण है जो उस समय एक कोली या जुलाहा भी, संस्कृत में ऐसी सुन्दर सानुप्रास रचना कर सकता था—

काव्यं करोमि न हि चारुतरं करोमि,
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपेन्द्रमौलिमणिमंडितपादपीठ,
हे साहसाङ्क! कवयामि, वयामि, यामि।।

उक्त युग की समाप्ति के अनन्तर मुस्लिम काल में यद्यपि शिक्षा का उतना व्यापक प्रचार नहीं रहा था, फिर भी शासकीय तथा अशासकीय स्तर पर जन-साधारण को शिक्षा सस्ती और सुगमतापूर्वक प्राप्त होती रहती थी, चाहे अब अरबी, फ़ारसी आदि विदेशी भाषाओं का भी शिक्षा में समावेश हो चुका था।

वास्तव में हमारी शिक्षा-पद्धति पर सबसे बड़ा आघात अँग्रेजी शासन-काल में लगा था, जब उसका समूचा ढाँचा ही नहीं बदल दिया गया, अपितु शिक्षा का माध्यम भी भारतीय भाषाओं के स्थान पर विदेशी अँग्रेजी भाषा को बना दिया गया था। इस समय शिक्षा का उद्देश्य भी ज्ञानार्जन मात्र न होकर, जीविकोपार्जन बन गया था। साथ ही उसमें जो पाठ्य-पुस्तकें तथा साहित्य-सामग्री रखी गयी थी, वे सब भी हमको हमारे प्राचीन धर्म, सभ्यता तथा संस्कृति से विमुख और पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति ही नहीं, वहीं के रहन-सहन, खान-पान, वेशभूषा अपनाने की ओर प्रवृत्त करने लगी थी, जिनके फलस्वरूप उस समय शिक्षा का स्वरूप विकृत हो गया था।

ह्रासोन्मुखी, भारतीयता-विरोधी इस शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध सर्वप्रथम विद्रोह का झण्डा अब से लगभग १२५ वर्ष पूर्व आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने खड़ा किया था।

उन्होंने उस समय प्रचलित अँग्रेजी भाषा, अँग्रेजी शिक्षा, सभ्यता तथा संस्कृति के प्रसार करने वाले स्कूल और कालेजों के मुकाबले में प्राचीन वैदिक गुरुकुल प्रणाली को पुनर्जीवित करने हेतु प्रबल प्रयास किया था तथा अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' में उन्होंने शिक्षा का जो रूप निर्धारित किया था, उसी के अनुसार गुरुकुलों की स्थापना करने हेतु अपने अनुयायियों को प्रेरित किया था।

आरम्भ में यह पद्धति यहाँ सफलतापूर्वक प्रचलित भी रही, परन्तु आधुनिक अर्थ-प्रधान और सिद्धान्तहीन युग में उक्त प्रयत्न एक सीमा तक ही अपना प्रभाव प्रकट कर सका था। तदुपरान्त अँग्रेजी शासन की भारत-विरोधी नीति के कारण रोजी-रोटी अथवा अर्थोपार्जन की दृष्टि से अँग्रेजी का अध्ययन अधिक आकर्षक बन गया। अतः तब से लेकर अब तक सर्वत्र उसी का प्रभाव बढ़ता जा रहा है, यहाँ तक कि देश के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी उक्त पद्धति में कोई परिवर्तन नहीं आ पाया है।

यद्यपि अब शिक्षा-विस्तार के साथ-साथ शिक्षित बेकारों की वृद्धि होते जाने तथा छात्रों में अशिष्टता तथा अनुशासनहीनता आदि दुर्गुणों को देखकर इस शिक्षा-पद्धति के दोष तथा खोखलापन सिद्ध होता जा रहा है तथा उसको अपने देश की आवश्यकता के अनुकूल ढालने के लिए अनेक शिक्षाविद् एवं राजनैतिक नेताओं से लेकर प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति तक उसमें आमूलचूल परिवर्तन करने पर भी जोर दे रहे हैं।

तन्निमित्त प्राय: प्रतिवर्ष शिक्षा-पद्धति में सुधार करने हेतु समितियाँ तथा आयोग आदि भी नियुक्त होते रहे हैं, परन्तु अभी तक उसमें कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता।

आजकल की शिक्षा का सबसे बुरा परिणाम छात्रों में बढ़ती हुई अनुशासनहीनता, गुरुजनों की अवज्ञा करने की प्रवृत्ति, शराब और सिनेमाओं का शौक, पाश्चात्य सभ्यता और वेशभूषा का अन्धानुकरण करने, अपनी संस्कृति से पराङ्मुख होने आदि के रूप में प्रकट हो रहा है। साथ ही, स्कूल और कालेजों में आये दिन होने वाली हड़तालें, अध्यापकों, प्राध्यापकों तथा प्राचार्यों के ही नहीं, उपकुलपति और कुलपतियों के विरुद्ध किया जाने वाला अभद्र व्यवहार तथा हिंसात्मक प्रदर्शन आदि भी इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति हमारे देश और समाज के बिलकुल अनुकूल नहीं है। अत: अब आवश्यकता है कि देश के सभी विद्वान्, विचारक और शिक्षाविद् इस पद्धति में आमूलचूल परिवर्तन करके, भारत की प्राचीन पद्धति को ही यहाँ प्रचलित करने का प्रयत्न करें।

जो जितेन्द्रिय होके ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या के लिए तथा आचार्यकुल में जाकर विद्या-ग्रहण के लिए प्रयत्न करे, वह ब्रह्मचारी कहलाता है।

—महर्षि दयानन्द

सामाजिक अभ्युत्थान और नारी-शिक्षा

डॉ० मथुरालाल शर्मा
एम० ए०, डी० लिट्०
भूतपूर्व उपकुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राचीन काल में संसार के किसी भी देश में स्त्रियों का समाज में यथोचित स्थान और सम्मान नहीं था। स्त्रियों में स्वाभाविकतया पुरुषों की अपेक्षा शारीरिक शक्ति प्रायः कम होती है, इसलिए सर्वत्र ही पुरुषों ने उनको दबाये रखा। परन्तु भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से ही स्त्रियों का अपने कुटुम्ब में उचित आदर था। ऋग्वेद में विवाह के समय वर कन्या से कहता था कि तू धर्मपूर्वक मेरी पत्नी अर्थात् स्वामिनी है और मैं तेरे घर का स्वामी हूँ। तू मेरे घर चलकर अपने ससुर की, देवर की और घर में अन्य लोगों की साम्राज्ञी बन अर्थात् उन पर शासन कर—यह वर की प्रतिज्ञा थी। वधू अश्मारोहण और ध्रुवदर्शन करती थी जो पारस्परिक संबंध की दृढ़ता का प्रतीक था। आर्य-विवाह धार्मिक बन्धन माना जाता था। स्त्री और पुरुष का मरण-पर्यन्त अविच्छेद्य सम्बन्ध रहता था।

माता की दृष्टि से तो परिवार में स्त्री का बहुत ही ऊँचा स्थान था। पुरुष के ज्ञान और चरित्र का अनुमान उसकी माता के ज्ञान और चरित्र से लगाया जाता था। इसलिए उसको मातृमान् कहा जाता था। तभी तो कुन्ती ने पाण्डवों को सन्देश भेजा था कि जिस दिन के लिए क्षत्राणी पुत्रों को जन्म देती है वह समय तुम्हारे लिए आ गया है (यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य-कालायेमा गतः)। वीर शिवाजी को अपनी सती और साध्वी तथा धर्मपरायणा माता से विदेशियों का सामना करने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं जब माताओं के आदेशों से पुत्रों ने वीर-कार्य और त्याग-कार्य किये थे।

मनु महाराज ने लिखा है कि जिस घर में स्त्रियों का सम्मान होता है वहाँ देवताओं का निवास है और जहाँ स्त्रियों का आदर नहीं होता वहाँ किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती। यह स्थिति भारतवर्ष में ११वीं शताब्दी तक बनी रही। फिर मुसलमानों के आक्रमण होने लगे और उनका राज्य स्थापित हो गया तो हमारा समाज अस्त-व्यस्त और क्षत-विक्षत हो गया। हमारी परम्पराएँ नष्ट हो गयीं और शास्त्रीय मर्यादाएँ लुप्त हो गयीं। तब बाल-विवाह होने लगे। तीन-चार वर्ष की बालिकाएँ भी पत्नियाँ बनायी जाने लगीं। विदेशी लोग स्त्रियों का अपहरण करते थे और लड़कियों को छीन ले जाते थे। इसलिए बाल-विवाह की प्रथा

प्रचलित हुई। कन्या-जन्म भाररूप और दुखदायी माना जाने लगा। इसी युग में कन्या-वध और कन्या-विक्रय की घृणित प्रथाएँ चल पड़ीं। सतियाँ भी बहुधा आर्थिक संकट के कारण बल-पूर्वक की जाने लगीं। स्त्रियों की शिक्षा शून्य हो गयी।

१६वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में स्वामी दयानन्द ने गृह-त्याग करके धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ किया। तब हिन्दू समाज में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हो गया। रूढ़िपंथी लोगों ने उनका विरोध किया और बुद्धिमानों ने उनके विचारों का स्वागत किया। १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना हुई। उस समय के उच्च-शिक्षित और विचारशील पुरुष आर्यसमाज में सम्मिलित हो गये। स्वामी दयानन्दजी महाराज ने स्त्री-शिक्षा पर बल दिया, तब प्राय: सारे उत्तर भारत में और दक्षिण में पूना तक कन्या पाठशालाएँ स्थापित हो गयीं। ईसाई लोग अपने धर्म का प्रचार करने के लिए पहले से ही कुछ पाठशालाएँ चला रहे थे, परन्तु आर्यसमाज के प्रचार के कारण वे सब दब गयीं। रावलपिंडी से कलकत्ते तक और श्रीनगर से बम्बई तक आर्यसमाज की कन्या पाठशालाएँ चलने लगीं, जिनमें हिन्दी और संस्कृत पर जोर दिया जाता था और आर्य संस्कृति की शिक्षा दी जाती थी। इसके परिणामस्वरूप उच्चवर्ण के लोगों की ही नहीं, सब जाति के लोगों की कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करने लगीं। फिर तो सरकार ने स्त्री-शिक्षा अपने हाथ में ले ली और लड़कियों के कई कालेज खुल गये, परन्तु इस प्रगति के आरम्भ का मुख्य श्रेय श्री दयानन्द को है। यह संतोष का विषय है कि इस समय आर्यसमाज के कई कन्या गुरुकुल सुचारु रूप से चल रहे हैं। इनका वातावरण शुद्ध और पवित्र है। इनमें मर्यादा और आचरण पर बल दिया जाता है। आधुनिक अमर्यादिता, उच्छृंखलता और आचरणहीनता के वायुमण्डल में आर्यसमाज के गुरुकुल बड़े अभिनन्दनीय टापू हैं। इन्हीं से आशा है कि भारतीय संस्कृति का सर्वथा लोप नहीं होगा।

•

जो विद्यार्थियों को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार की शिक्षापूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसे आचार्य कहते हैं।

—महर्षि दयानन्द

वैखानस गृह्यसूत्र में आश्रम एवं वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप

श्रीमती दयावती स्नातिका
नरसिंहपुर (म० प्र०)

वैदिक जीवन-पद्धति की व्याख्या गृह्यसूत्रों द्वारा करने का प्रयास किया गया है। अतः वैदिक वाङ्मय की अन्तर्निहित भावना को समझने के लिए गृह्यसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है।

वैदिक वाङ्मय के व्याख्या-ग्रंथों में साम्प्रदायिक विशेषकर वाममार्गीय याज्ञिक हिंसा आदि का प्रक्षेप एवं विधि-विधान चिन्तनीय एवं संशोधनीय है, परन्तु इस दिशा में अभी तक आर्यसमाज के विद्वानों ने, जितना अपेक्षित था, उतना कार्य नहीं किया है। यह कार्य तभी सम्भव हो सकता है जब गृह्यसूत्रों पर विधिवत् अनुसंधान किया जाये।

गृह्यसूत्रों का संक्षिप्त उल्लेख

अभी तक अनुसंधान में उपलब्ध गृह्यसूत्रों का विवरण निम्नस्थ प्रकार है—

ऋग्वेद के तीन गृह्यसूत्र हैं—(१) आश्वलायन (२) शाङ्खायन (३) कौषीतकी।

शुक्ल यजुर्वेद के दो गृह्यसूत्र हैं—(१) पारस्कर (२) वैजवाप।

कृष्ण यजुर्वेद के नौ गृह्यसूत्र हैं—(१) बोधायन, (२) भारद्वाज, (३) आपस्तम्ब, (४) हिरण्यकेशीय, (५) वैखानस, (६) अग्निवेश्य, (७) मानव, (८) काठक, (९) वाराह।

सामवेद के तीन गृह्यसूत्र हैं—(१) गोभिल, (२) खादिर, (३) जैमिनि।

अथर्ववेद का एक गृह्यसूत्र है—वैतानक या कौशिक।

इन गृह्यसूत्रों में से आपस्तम्ब और मानव गृह्यसूत्रों की समीक्षा आर्यसमाज के प्रारंभिक युग के साहित्य में मिलती है, पर आगे का कार्य बन्द-सा है।

इस लेख में शिक्षा और उसके लिए वर्णाश्रम के जिस स्वरूप की कल्पना की गयी थी, उसकी चर्चा करने वाले 'वैखानस गृह्यसूत्र' की चर्चा की जायेगी। वर्णाश्रम के स्वरूप और उसके कार्यक्रम आदि की व्याख्या इस गृह्यसूत्र में की गयी है। वर्णाश्रम धर्म को समझने में इस गृह्यसूत्र की स्थापनाओं से सहायता मिलेगी, ऐसी आशा है।

वैखानस सूत्र ग्रंथ के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वैखानस ऋषि के सार्धकोटि ग्रंथों का संग्रह चार लाख श्लोकों में उनके शिष्य मरीचि आदि ने किया था। उन श्लोकों को ही सारभूत सूत्र ग्रंथ के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

चार आश्रम

वैखानस गृह्यसूत्र में आश्रमों का निम्नस्थ प्रकार से विधान किया गया है—

ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः
क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः।
वैश्यस्य द्वावेव
तदाश्रमिणश्चत्वारः
ब्रह्मचारी। गृहस्थो। वानप्रस्थो। भिक्षुरिति॥

(८-१-१०-३०)

यद्यपि वैखानस गृह्यसूत्र ने ब्राह्मण के लिए चार, क्षत्रिय के लिए प्रारम्भिक तीन और वैश्य के लिए दो ही आश्रमों का विधान किया है, परन्तु यह वैदिक जीवन-पद्धति की सार्वदेशिक उदात्त भावना से मेल नहीं खाता है। प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को चारों आश्रमों में रहने और उनका पालन करने का अधिकार वर्णाश्रम व्यवस्था का मौलिक सन्देश है। अतः वर्णों के क्रम से आश्रमों की संख्या में छूट देना आदर्श समाज-व्यवस्था के अनुकूल नहीं माना जा सकता। महर्षि दयानन्द ने चारों वर्णों के लिए चारों आश्रमों का अधिकार घोषित किया है।

वैखानस गृह्यसूत्र की उपर्युक्त स्थापना से सहमत न होते हुए भी आगे दिये गये विस्तार से वर्णाश्रम व्यवस्था के स्वरूप पर जो प्रकाश पड़ता है, उसे समझने एवं उसमें से उचित भाग को क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाना अपेक्षित हैं, इसी भावना से हम गृह्यसूत्र को उद्धृत कर रहे हैं।

ब्रह्मचारी के भेद

गायत्रो ब्राह्मप्राजापत्यो नैष्ठिकः।

(२-८-३-२)

(अ) गायत्र —केवल गायत्री की दीक्षा लेकर उसी का ध्यान करने वाले ब्रह्मचारी को 'गायत्र' ब्रह्मचारी कहते हैं।

(आ) ब्राह्म —गुरुकुल में आचार्य के संरक्षण में रहकर वेदों का अध्ययन करने वाला 'ब्राह्म' ब्रह्मचारी कहाता है।

(इ) प्राजापत्य—वेद-वेदाङ्ग सहित अध्ययन कर अध्यातम-भावना-प्रधान बनकर गृहस्थाश्रम को स्वीकार करने वाला 'प्राजापत्य' ब्रह्मचारी कहाता है, अर्थात् मानव को गृहस्थ में भी ब्रह्मचर्य का ध्यान रखने वाला होना चाहिए।

(ई) नैष्ठिक —काषाय वस्त्र धारण करके, जटा या शिखा धारण करके आत्मदर्शन का प्रयत्न करते हुए भिक्षाचरण के साथ गुरुकुल में रहने वाला 'नैष्ठिक' ब्रह्मचारी कहाता है।

गृहस्थाश्रमी के भेद

गृह्यसूत्र में गृहस्थाश्रमी के चार भेद बताये गये हैं—

(१) वार्तावृत्तिः—**वार्तावृत्तिः कृषिगोरक्ष्यवाणिज्योपजीवी।** (८-५-३)

अर्थात्—खेती, गोपालन अथवा व्यापार द्वारा जीवन निर्वाह करने वाला 'वार्तावृत्ति' गृहस्थी कहलाता है।

(२) शालीनवृत्तिः—**शालीनवृत्तिः नियमैः युतः पाकयज्ञैरिष्ट्वा अग्नीनाधाय पक्षे पक्षे दक्षपूर्णमासयाजी, षट्सु षट्सु मासेषु याजी, प्रतिवत्सरं सोमयाजी च।** (८-५-४)

नियमानुसार प्रतिदिन, पाक्षिक, मासिक, षाण्मासिक यज्ञों को और वार्षिक सोम यज्ञ को सम्पन्न करने वाला **शालीनवृत्ति** गृहस्थी कहलाता है।

(३) यायावरः—**हविर्यज्ञैः सोमयज्ञैश्च यजते याजयत्यधीतेऽध्यापयति ददाति प्रतिगृह्णाति षट् कर्मनिरतो नित्यमग्निपरिचरणमतिथिभ्योऽभ्यागतेभ्योऽन्नाद्यं च कुरुते।** (८-५-५)

विधिपूर्वक यज्ञों और सोम यज्ञादि का अनुष्ठान करते हुए अर्थात् यजनयाजन के साथ अध्ययन, अध्यापन, दान, प्रतिग्रह आदि षट्कर्मों को करता हुआ, अतिथियों और अभ्यागतों के लिए आदर, सत्कार एवं भोजनादि की समुचित व्यवस्था करने वाला **यायावर** गृहस्थी कहलाता है।

(४) घोरार्चिकः—**घोरार्चिको नियमै युक्तो यजते न याजयत्यधीते नाध्यापयति ददाति न प्रतिगृह्णाति। उच्छवृत्तिमुपजीवति। नारायणपरायणः सायं प्रातरग्निहोत्रं हुत्वा मार्गशीर्षज्येष्ठमासयोरसिधाराव्रतं वनोषधीभिरग्निपरिचणं करोति।** (८-५-६)

नियमानुसार जो यज्ञकर्म सम्पन्न करता है पर यज्ञ करने का कार्य नहीं करता है, नियमित अध्ययन करता है परन्तु अध्यापन नहीं करता है, दान देता है पर दूसरे से दान ग्रहण नहीं करता है, शिलोच्छवृत्ति से जीवन-निर्वाह करता है, ईश्वर-भक्ति के साथ प्रातः-सायं अग्निहोत्र करता हुआ मार्गशीर्ष और जेठ मास में कठोर शारीरिक व्रतों को पूर्ण करने का क्रम निर्वाह करता हुआ तथा वनोषधियों, कन्द-मूल-फलादि से जीवन-यापन करता है, वह **घोरार्चिक** गृहस्थी कहलाता है।

घोरार्चिक के कार्यों में असिधाराव्रत और वनोषधि द्वारा उदरपूर्ति की बातें विचारणीय हैं। असिधाराव्रत की कल्पना कठोर संकल्पों की पूर्ति के रूप में समझी जानी चाहिए। जैसे महाशय मुंशीरामजी ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक गुरुकुल के लिए पच्चीस हजार रुपया संग्रह नहीं कर लूंगा, घर नहीं लौटूंगा। इस प्रकार के सामाजिक व्रत तो स्वाधीनता-संग्रह के

समय अनेक व्रती लेते रहते थे और आज भी लेते हैं। जहाँ तक वनोषधियों द्वारा उदरपूर्ति का प्रश्न है, यह सात्विक वृत्ति और पराश्रयता से मुक्त होने की दृष्टि से बताया गया लगता है। इससे वनोषधियों के गुणों का भी परिज्ञान होता रहता था। एक प्रकार से यह वनोषधि-अनुसंधान का भी रचनात्मक उपाय था। उन्हीं वनोषधियों का उपयोग आयुर्वेद-शास्त्र में विशेष रूप से किया गया था। इससे प्रतीत होता है कि गृहस्थ को वनस्पतिशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिए।

वानप्रस्थी के भेद

वानप्रस्थी दो प्रकार के होते हैं—(१) सपत्नीक, (२) अपत्नीक।

सपत्नीक वानप्रस्थी के चार भेद होते हैं—(१) औदुम्बर, (२) वैरिञ्च, (३) वालखिल्य, (४) फेनप।

अपत्नीक वानप्रस्थी के तीस भेद होते हैं—(१) कालाशिक, (२) उद्दण्ढ संवृत, (३) अश्मकुट्ट, (४) अग्रफलिन, (५) दन्तोलूखलिक, (६) उञ्छवृत्तिक, (७) संदशन वृत्तिक, (८) कापोत वृत्तिक, (९) मृगचारिक, (१०) हस्तादायिन, (११) शैलफलखादी, (१२) अर्कदग्धाशी, (१३) वैल्वाशी, (१४) कुसुमाशी, (१५) पाण्डुपत्राशी, (१६) कालान्तस्याजी, (१७) एककालिक, (१८) चातुष्कालिक, (१९) कण्टकशायी, (२०) वीरासनशायी, (२१) पञ्चाग्नि मध्यशायी, (२२) धूमाशी, (२३) पाषाणशायी, (२४) अध्वकाशी, (२५) उदकुम्भवासी, (२६) मौनी, (२७) अवाक्शिरी, (२८) सूर्यप्रतिमुखी, (२९) ऊर्ध्ववाहुक, (३०) एकपादास्थित।

इन भेदों में भूख पर नियन्त्रण और तपस्या द्वारा शारीरिक कष्टों को सहन करने की क्षमता की भावना ही मुख्य है। वानप्रस्थी जीवन का उद्देश्य गृहस्थ के ममत्व से दूर होना और समाजोपकार के लिए स्वयं को तैयार करना है। उपर्युक्त तीस प्रकार के भेद लाक्षणिक हैं, अनिवार्य नहीं हैं और न यही माना जायेगा कि ऊपर के लक्षण मात्र से ही किसी की वानप्रस्थी-वृत्ति का परिचय मिलेगा। वास्तव में '**न लिङ्गधर्मकारणम्।**' मुख्य प्रश्न तो आन्तरिक वृत्ति का है। फिर भी वानप्रस्थाश्रम के ऐतिहासिक विकासक्रम में इन भेदों पर अनुसंधान की आवश्यकता है।

संन्यासी के भेद

संन्यासी के चार भेद हैं—

(१) कुटीचक्र—अपनी कुटी बनाकर या मन्दिर आदि में निवास करने वाले।

(२) बहूदक—नदी-तीरवासी (स्नानादि की सुविधा रहती है)।

(३) हंस—योगाभ्यास करने वाले।

(४) परमहंस—परमपद ब्रह्म की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने वाले।

परमहंस संन्यासी वृक्षमूल में, शून्यालय में अथवा श्मशान में निवास करते हैं। कुछ वस्त्र धारण करते हैं, कुछ दिगम्बर रहते हैं। परमहंस संन्यासी धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, शुद्धि-अशुद्धि का विचार नहीं करते हैं। समभाव होकर सभी वर्णों से भिक्षा माँगते हैं।

संन्यासाश्रम का अर्थ है—निवृत्ति मार्ग। निवृत्ति के तीन प्रकार हैं—(१) सारंग,

(२) एकार्व्य, (३) विसरग।

(१) **सारंग के भेद**—(१) अनिरोधक, (२) निरोधक, (३) मार्गग, (४) विमार्गग।

अनिरोधक—प्राणायाम की आवश्यकता नहीं मानते हैं।

निरोधक—प्राणायाम, प्रत्याहार, षोडशकल अष्टविध साधनों को प्रमुखता देते हैं।

मार्गग—प्राणायामादि की मुख्य साधना करते हैं।

विमार्गग—यम-नियम अष्टाङ्ग योग की साधना पर विशेष बल देते हैं।

(२) **एकार्व्य के भेद**—(१) दूरग, (२) अदूरग, (३) भ्रूमध्यग, (४) असम्भक्त, (५) सम्भक्त।

दूरग—योगमार्ग द्वारा परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील।

अदूरग—आत्मा को परमात्मा के समीप मान परमात्मा में लीन रहने वाले।

भ्रूमध्यग—सुषुम्णा से प्राणों का आकर्षण और पिङ्गला से निष्क्रमण करने वाले।

असम्भक्त—परमात्मा के दर्शन और श्रवण का अनुभव करने वाले।

सम्भक्त—सर्वत्र परमात्मा को मानकर आकाशवत् चेतन, अचेतन, अन्तः, बहिः, सर्वत्र परमात्मा में लीन रहने वाले।

(३) **विसरग**—विविध पद्धतियों से समाधि आदि द्वारा सांसारिक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करके परमात्मा के दर्शन में लीन रहने वाले संन्यासी विसरग कहलाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में सभी आश्रमों और वर्णों के धर्मों का उल्लेख हुआ है। धर्म के साथ सदाचार का बन्धन अपेक्षित है। इसलिए सूत्रकार ने लिखा—**धर्मं सदाचारम्**। (९-९-१) अर्थात्—धर्म के साथ वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, गुणधर्म, निमित्तधर्म और साधारण धर्म प्रसंगानुसार अपेक्षित समझने चाहिए।

इस प्रकार वैखानस गृह्यसूत्र के अध्ययन से वर्णाश्रम व्यवस्था के व्यावहारिक स्वरूप की झाँकी मिलती है।

आर्यसमाज ने वर्णाश्रम व्यवस्था की स्थापना का संकल्प लिया है। वैखानस गृह्यसूत्र उस दिशा में व्यावहारिक रूप में सहयोगी है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के स्वरूप और उसके भेदों का ज्ञान कराने में वैखानस गृह्यसूत्र से सहायता मिलेगी। इस दृष्टि से इस गृह्यसूत्र को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

• • •

जो धर्म के आचरण और निष्ठता से विद्या देते हैं और ग्रहण करते हैं, वे ही सुख के भोगी होते हैं।

—महर्षि दयानन्द

वैदिक विद्वान् की आचार-संहिता

आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री, ज्वालापुर

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवेऽयताय मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।

विद्या ब्राह्मण की सम्पत्ति है। विद्या ब्राह्मण से रक्षा की भिक्षा माँगती है। ब्राह्मण की विद्या बलवती तभी हो सकती है, जब तीन प्रकार के व्यक्तियों को प्रदान न की जाये—

१. असूयकाय—निन्दा करने वाले के लिए।

२. अनृजवे—कुटिलाचरण वाले के लिए।

३. ऽयताय—आलसी के लिए।

यदि ब्राह्मण असूयक को विद्या प्रदान करेगा तो वह निन्दा द्वारा विद्या को भी विनिन्दित कर देगा। यदि ब्राह्मण कुटिल को विद्या प्रदान करेगा तो कुटिल आचरण वाला व्यक्ति विद्या का प्रयोग कुटिलता को छिपाने में करेगा। यदि आलसी को विद्या प्रदान की जायेगी तो वह कभी भी विद्या के क्षेत्र में नयी खोज नहीं करेगा। इस प्रकार न तो वह विद्या का प्रकाश ही कर सकता है और न विकास ही।

विद्या को इन दोषों से बचाने के लिए निन्दनीय स्वभाव वाले मनुष्यों को विद्या दान नहीं करना चाहिए।

ब्राह्मण की मृत्यु—ब्राह्मण को संसार में कोई भी नहीं मार सकता। ब्राह्मण तो चार कारणों से मरता है, फिर उसको कोई बचा भी नहीं सकता। वे ये हैं—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति ।।

वेदों का अभ्यास न करने से, सदाचार के छोड़ने से, आलसी या निराश जीवन बिताने से तथा दुष्ट अन्न के खाने से मृत्यु ब्राह्मण को मारना चाहती है। इसीलिए मृत्युञ्जय महर्षि दयानन्द ने आर्यमात्र को मृत्यु के मुख से बचाने के लिए आर्यसमाज का तृतीय नियम लिखा है—

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

अतः सबको इसको आचरण में लाना चाहिए।

चतुर्थ खण्ड

आर्यसमाज का शिक्षा कार्य



ज्ञानाग्निः समिध्यते

मानव और शिक्षा • व्यक्तित्व का उद्बोधन

राष्ट्र और शिक्षा • चरित्र, अनुशासन एवं राष्ट्रभक्ति

कार्य प्रणाली • आर्य शिक्षा संस्थाएँ एवं प्रचार कार्य

सर्वहित-भावना

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्मराजन्याभ्या ँ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय ।।

यजुर्वेद २६-२

जैसे वेदवाणी कल्याणी को जनों के लिए,
किया है प्रकाशन प्रकाश सूर्य के समान ।
ब्रह्म औ' राजन्य को तथैव तुम दान करो,
शूद्र और आर्य दोनों वर्गों को करो प्रदान ।।

—'ऋचाओं की छाया में' से साभार

भारतीय शिक्षा को आर्यसमाज की देन

डॉ० भवानीलाल भारतीय
पी-एच० डी०, हिन्दी विभाग, राजकीय कालेज, अजमेर

पूर्वपीठिका

लाला लाजपतराय ने अपनी पुस्तक 'दुःखी-भारत'[1] में लिखा है कि अँग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व भारत में एक व्यवस्थित शिक्षा-प्रणाली प्रचलित थी। गाँव-गाँव में पाठशालाएँ स्थापित थीं, जिनमें छात्र व्यवस्थित रूप से विभिन्न विद्याओं और शास्त्रों का अभ्यास करते थे। कालान्तर में देश में ब्रिटिश शासन व्यवस्था के स्थापित होने पर लार्ड मेकाले ने देश की शिक्षानीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया। प्रचलित भारतीय शिक्षा-पद्धति का मूलोच्छेद कर अँग्रेजी शिक्षाप्रणाली की स्थापना इसी ध्येय से की गयी थी कि देश में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो जो रंग और आकृति में चाहे भारतीय हो, परंतु आचार-विचार, बुद्धि और मन से अँग्रेज होने का दम्भ भरे।[2] लार्ड मेकाले को अपनी शिक्षा-विषयक नीति के सफल होने का पूर्ण विश्वास था, तभी तो १८३८ ई० में अपने पिता के नाम लिखे गये एक पत्र में उन्होंने यह विश्वास व्यक्त किया कि 'जो भी हिन्दू अँग्रेजी शिक्षा ग्रहण कर लेता है, वह अपने धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा व विश्वास खो बैठता है। केवल कुछ दिखावे के रूप में मानते हैं और अनेक शुद्ध ईश्वरवादी बन जाते हैं। कतिपय अन्य ईसाई हो जाते हैं। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि शिक्षा की हमारी यह योजना पूरी तरह काम में लायी गयी तो अब से ३० वर्ष पश्चात् बंगाल के कुलीन घरानों में कोई भी मूर्तिपूजक (हिन्दू) नहीं रहेगा।'[3]

भारत की शिक्षा-नीति को पाश्चात्य ढाँचे के अनुसार ढालने का प्रयास अँग्रेज शासकों

---

१. अमेरिकन महिला मिस कैथेराइन मेयो की प्रख्यात पुस्तक 'मदर इंडिया' के उत्तर में लिखी गयी पुस्तक, जो इंडियन प्रेस, प्रयाग से वर्षों पूर्व छपी थी।

२. "English Education would train up a class of persons – Indian in blood and colour, but English in tastes, in morals and in intellect."

३. No Hindu who has received an English Education ever remains sincerely attached to his religion. Some continue to profess it as a matter of policy, but many profess themselves pure deists and some embrace Christianity. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolater among the respectable class in Bengal thirty years hence.

ने तो किया ही, ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक और भारतीय नवजागरण के सूत्रधार राजा राममोहन राय ने लार्ड मेकाले के ही स्वर में स्वर मिलाकर अँग्रेजी शिक्षापद्धति का ही गौरव-गान किया। यह उस समय की बात है जब बंगाल सरकार का विचार कलकत्ता में एक संस्कृत कालेज की स्थापना करने का था। प्राचीन शिक्षापद्धति के पक्षपाती लोग इस योजना से प्रसन्नता का अनुभव कर रहे थे। परंतु राममोहन राय की दृष्टि में संस्कृत-शिक्षा का प्रचार अनावश्यक और प्रतिगामी कदम था। उन्होंने इस योजना के विरोध में एक पत्र तत्कालीन भारतीय गवर्नर-जनरल लार्ड एमहर्स्ट को दिया। पत्र में संस्कृत-शिक्षा के विषय में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उन्हें पढ़कर हमें खेद व आश्चर्य होता है। पत्र के प्रारंभ में ही उन्होंने लिखा, "हमें यह ज्ञात हुआ है कि सरकार पंडितों के नियंत्रण में एक संस्कृत विद्यालय स्थापित करना चाहती है जिसमें प्रचलित परिपाटी पर संस्कृत की शिक्षा दी जायेगी। इस विद्यालय से यही आशा की जा सकती है कि इसमें जो छात्र शिक्षा प्राप्त करेंगे उनके मस्तिष्क में व्याकरण के सूक्ष्म नियमों तथा दर्शन-शास्त्र की जटिलताओं को ठूँस-ठूँसकर भर दिया जायेगा, जिनका उन छात्रों तथा समाज के लिए कोई उपयोग नहीं है।"[१]

संस्कृत भाषा के अध्ययन को क्लिष्ट बताते हुए उसी पत्र में आगे लिखा गया—"संस्कृत भाषा इतनी कठिन है कि उसे सीखने के लिए लगभग सारा जीवन लगाना पड़ता है। ज्ञान-वृद्धि के मार्ग में यह शिक्षा कई युगों से बाधक सिद्ध हो रही है। इसे सीखने पर जो लाभ होता है वह इसको सीखने में किये गये परिश्रम की तुलना में नगण्य है।" इस पत्र में आगे क्रमशः संस्कृत, व्याकरण, वेदान्त, मीमांसा, न्याय आदि विषयों के शास्त्रीय अध्ययन की निरर्थकता तथा निस्सारता का प्रतिपादन करते हुए अंत में उपसंहार में लिखा था, "यह संस्कृत शिक्षाप्रणाली देश को अंधकार में गिरा देगी। यही ब्रिटिश सरकारी नीति है।"[२] राजा राममोहन राय के इस पत्र में मेकाले की शिक्षा की विजय की प्रतिध्वनि होती है।

स्वामी दयानन्द की संस्कृत-शिक्षाविषयक देन

जिस शताब्दी में राजा राममोहन राय ने अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के प्रचलन का हार्दिक समर्थन किया, नव-जागरण के उसी युग में नवोदय के एक अन्य सूत्रधार, आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के विषय में अपना मौलिक चिंतन प्रस्तुत करते हुए परंपरागत शिक्षा-प्रणाली के पुनरुत्थान का अभूतपूर्व प्रयास किया। शिक्षा-प्रणाली के रूप में स्वामी दयानन्द ने शिक्षा-विषयक जो सूत्र अपने लेखों, ग्रंथों तथा वक्तव्यों में दिये हैं उनका संकलन और आकलन किया जाना आवश्यक है। अपने प्रमुख ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' के द्वितीय व तृतीय समुल्लास उन्होंने बालकों के लालन-पालन व शिक्षा-विषयक ही लिखे हैं। "अथ शिक्षां प्रव-

---

१. We find the government are establishing a Sanskrit School under Hindu Pandits to impart such knowledge as is already current in India. This seminary can only be expected to load the minds of youth with grammatical niceties and metaphysical disinction of little or no practical use to the possessors or society.

—A Letter on English Education.

२. The Sanskrit system of education would be best calculated to keep this country in darkness, if such has been the policy of the British legislator.

—A Letter on English Education by R.R. Roy.

क्ष्याम:"—इस आर्य सूत्र से द्वितीय समुल्लास का प्रारंभ होता है। "अथाऽध्ययनाध्यापनविधिं व्याख्यास्याम:" के साथ तृतीय समुल्लास की रचना आरंभ होती है। दोनों अध्यायों में शिक्षा-विषयक भारतीय शास्त्रीय आर्य परिपाटी का विस्तृत विवेचन करते हुए स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मचर्य आश्रम, स्वाध्याय और प्रवचन, अध्ययन समाप्ति के पश्चात् दीक्षांत अनुशासन, संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय का अध्ययनक्रम और पाठ-विधि, त्याज्य और ग्राह्य पुस्तकें, स्त्रियों और शूद्रों का शास्त्र अधिकार, और स्त्री-शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर सांगोपांग विचार किया है। संस्कृत के पठन-पाठन के लिए स्वामी दयानन्द ने एक विशिष्ट क्रम निर्धारित किया था। इसका उल्लेख 'सत्यार्थ प्रकाश' के अतिरिक्त 'ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका', के पठन-पाठन विषय तथा 'संस्कार विधि' के वेदारम्भ संस्कार के अंदर किया है। पठन-पाठन प्रणाली का यह विस्तृत निर्देश यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि स्वामी दयानन्द संस्कृत शिक्षा-प्रणाली के मर्मज्ञ थे तथा वे उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे।

अपनी इस पाठ-विधि को क्रियान्वित करने के लिए स्वामीजी ने स्वयं उत्तर प्रदेश के कई नगरों में संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना की। धनी वर्ग के लोगों को उन्होंने पाठशाला-संस्थापन के पुनीत कार्य में आर्थिक सहायता देने के लिए प्रेरित किया। इन पाठशालाओं का आदर्श प्राचीन गुरुकुल प्रणाली के अनुरूप रखा गया, जिसके अनुसार छात्र और अध्यापक एक-दूसरे के निकट संपर्क में रहकर चरित्र-निर्माण के साथ-साथ शास्त्राध्ययन में प्रवृत्त हो सकें।

स्वामी दयानन्द ने ये पाठशालाएँ कासगंज, फर्रुखाबाद, मिर्जापुर, बालेसर, काशी आदि स्थानों में स्थापित कीं। योग्य अध्यापकों के अभाव तथा आर्य ग्रंथों के पठन-पाठन में छात्रों द्वारा विशेष अभिरुचि न व्यक्त किये जाने के कारण स्वामीजी को अपने जीवनकाल में ही इन पाठ-शालाओं को बंद करना पड़ा था, तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि संस्कृत-शिक्षा के प्रचार हेतु स्वामीजी का पाठशाला-संस्थापना का यह कार्य वस्तुत: श्लाघनीय था। इन पाठशालाओं में ही आर्यसमाज द्वारा कालांतर में स्थापित गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के बीज छिपे थे, जिसने भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में युगान्तकारी परिवर्तन उपस्थित किया।

स्वामी दयानन्द ने संस्कृत-प्रणाली को सुगम बनाने के लिए पठन-पाठन व्यवस्था के अंतर्गत कतिपय पाठ्यग्रंथ भी लिखे। ऐसे ग्रंथों से 'संस्कृत वाक्य प्रबोध', 'व्यवहार-भानु' तथा 'वेदांग-प्रकाश' के चौदह भाग उल्लेखनीय हैं। 'संस्कृत वाक्य प्रबोध' की रचना छात्रों में संस्कृत संभाषण में रुचि उत्पन्न करने तथा उनमें दैनंदिन विषयों पर संस्कृत के माध्यम से सुगमरीत्या वार्तालाप करने की क्षमता उत्पन्न करने हेतु थी। 'व्यवहार-भानु' छात्रों और अध्यापकों की आचार-संहिता है, जिसमें गुरु-शिष्य-संबंध का विवेचन एवं उनके आचार, व्यवहार तथा नीति-रीति-विषयक स्वर्णिम सूत्रों का गुंफन हुआ है। 'वेदांग प्रकाश' पाणिनीय व्याकरण के विविध अंगों को सुगम रूप से सीखने का अद्भुत ग्रंथ है।

स्वामी दयानन्द केवल पुस्तकीय ज्ञान के ही पक्षपाती नहीं थे। उनकी दृढ़ धारणा थी कि जब तक देश के नवयुवकों को उद्योग, कला तथा कौशल, तकनीकी व्यवस्थाओं की शिक्षा नहीं दी जायेगी तब तक देश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध नहीं होगा। इसी दृष्टि से उन्होंने कुछ युवकों को जर्मनी भेजा, ताकि वहाँ रहकर वे औद्योगिक प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें तथा देश की संपन्नता में अपना योगदान कर सकें।

स्वामी दयानन्द के शिक्षा-सिद्धांत

संक्षेप में स्वामी दयानन्द के शिक्षा-विषयक सूत्रों को इस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है—

१. विद्यार्थी का मुख्य प्रयोजन शास्त्राभ्यास के साथ-साथ चरित्र-निर्माण है। चरित्र-निर्माण की शिक्षा गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली में ही संभव है। अतः प्राचीन रीति-नीति के गुरुकुलों की स्थापना आवश्यक है।

२. पाठ्य-ग्रंथों में उन्हीं पुस्तकों का समावेश होना चाहिए जो साक्षात्कृत-धर्मा मंत्रदृष्टा ऋषियों की कृतियाँ हैं। अनार्य ग्रंथों का पठन-पाठन क्रम में समाविष्ट नहीं होना चाहिए।

३. संस्कृत शास्त्रों और ईश्वरीय ज्ञानवेद की शिक्षा को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

४. शास्त्र के साथ-साथ प्राविधिक कला-कौशल की शिक्षा भी जीवन-यापन की दृष्टि से आवश्यक है।

५. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

६. बालक और बालिकाओं का सहशिक्षण चरित्र-विघातक, फलतः हानिकारक है।

७. कन्या-शिक्षा भी उतनी ही आवश्यक है जितनी बालकों की शिक्षा।

८. शिक्षा के क्षेत्र में राजा और रंक, गरीब-अमीर का भेदभाव अवांछनीय है। प्रत्येक छात्र को अपनी योग्यता के अनुसार शिक्षा प्राप्त करने का समान रूप से अधिकार मिलना चाहिए।

९. अवसर और अनुकूलता होने पर विदेशी भाषाएँ सीखना भी वांछनीय है।

१०. शिक्षा के द्वारा स्वाभिमान, स्वदेश-प्रेम, ईश्वर-भक्ति और स्वावलंबन जैसे गुणों का विकास किया जाना अपेक्षित है।

स्वामीजी के दिवंगत होने के पश्चात् उनके स्थानापन्न आर्यसमाज ने अपने शिक्षा-विषयक कार्यक्रम को इसी आधार पर मूर्त रूप दिया।

डी० ए० वी० कालेज की शिक्षापद्धति

महर्षि दयानन्द के देहान्त के पश्चात् उनके स्मारक के रूप में १८८६ ई० में डी०ए०वी० कालेज, लाहौर की स्थापना हुई, जो शीघ्र ही पंजाब के शिक्षा-क्षेत्र का एक अद्वितीय संस्थान बन गया। महात्मा हंसराज जैसे प्रवीण शिक्षाशास्त्री ने अपना समग्र जीवन अर्पित कर डी० ए० वी० कालेज को भारतीय शिक्षा का एक सफल केन्द्र बना दिया। डी० ए० वी० कालेज को विकसित करने में लाला लाजपतराय तथा पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसे आर्यसमाज के मूर्धन्य चिन्तकों का हाथ रहा है। शीघ्र ही देश-भर में डी० ए० वी० संस्थाओं का जाल बिछ गया। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक संस्थाएँ जहाँ पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली के आवश्यक तत्वों की उपेक्षा नहीं करतीं, वहाँ वे भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म की आधारभूत संस्कृत भाषा तथा आर्यशास्त्रों के शिक्षण की भी सुचारु रूप से व्यवस्था करती हैं।

डी० ए० वी० कालेज, लाहौर की अनेक विशिष्ट उपलब्धियाँ रहीं। वहाँ का लालचंद पुस्तकालय संस्कृत के प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों का अद्वितीय संग्रह था। डी० ए० वी० कालेज,

लाहौर का पृथक् शोधविभाग था, जिसके निदेशक के रूप में सुप्रसिद्ध प्राच्य विद्याविशारद पं० भगवद्दत्त तथा पद्मभूषण आचार्य विश्वबंधु ने अनेक प्राचीन महत्वपूर्ण संस्कृत ग्रंथों का संपादन और प्रकाशन किया।

पंजाब के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश के कानपुर, देहरादून, दिल्ली, वाराणसी तथा दक्षिण के शोलापुर आदि नगरों में भी कालांतर में डी० ए० वी० कालेजों की स्थापना हुई।

कानपुर का डी० ए० वी० कालेज तो उत्तर प्रदेश का बृहत्तम शिक्षण-संस्थान है जिसमें सभी संकायों का विधिवत् अध्ययन होता है। डी० ए० वी० कालेज आंदोलन ने देश को महात्मा पं० हंसराज, प्रिंसिपल सांईयास, दार्शनिक-प्रवर डॉ० दिवानचन्द जैसे प्रख्यात शिक्षा-शास्त्री प्रदान किये। विभिन्न विश्वविद्यालयों के उपकुलपति-पद का योग्यतापूर्ण निर्वाह करने वाले (स्वर्गीय) प्रिंसिपल सूर्यभान (उपकुलपति, पंजाब विश्वविद्यालय) तथा डॉ० दुखनराम (भूतपूर्व उपकुलपति, बिहार विश्वविद्यालय) आदि शिक्षा-विशेषज्ञ आर्यसमाज के डी० ए० वी० कॉलेज की ही देन हैं।

गुरुकुल शिक्षाप्रणाली

वस्तुतः डी०ए०वी०कालेज की स्थापना के द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में पौरस्त्य और पाश्चात्य आदर्शों के समन्वय करने की दृष्टि ही प्रधान थी। चेष्टा यह की गयी थी कि इन शिक्षा-संस्थाओं में प्राचीन संस्कृत भाषा, दर्शन, साहित्य तथा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का सांगोपांग अध्ययन कराया जाये; साथ ही भौतिक विज्ञान, सामाजिक ज्ञान तथा अँग्रेज़ी भाषा और साहित्य का अध्यापन भी अभीष्ट समझा गया, परन्तु आर्यसमाज के शिक्षा-समीक्षकों ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि डी० ए० वी० कालेज के तत्कालीन संचालक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा अँग्रेजी के अध्यापन के प्रति जितने सचेष्ट और आग्रहशील हैं उतने वैदिक वाङ्मय और संस्कृत साहित्य के प्रति नहीं।

इसी दुविधाजनक स्थिति ने गुरुकुल के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्कालीन प्रधान महात्मा मुंशीराम को प्रेरित किया। महात्माजी स्वामी दयानन्द के शिक्षा-सिद्धांतों को मूर्त रूप प्रदान करने के हेतु प्राण-पण से जुट गये। गुरुकुल के लिए उन्हें यथेष्ट आर्थिक सहायता अविलम्ब उपलब्ध हो गयी और उन्होंने गुजराँवाला में गुरुकुल की स्थापना कर दी, जो कुछ समय पश्चात् मुंशी अमनसिंहजी द्वारा प्रदत्त गंगा-पार की रेती के कांगड़ी ग्राम के निकटस्थ अरण्य में चला गया।

स्वामी श्रद्धानन्द के तप, त्याग और श्रम ने गुरुकुल कांगड़ी को देश की एक सर्वोत्तम राष्ट्रीय शिक्षण-संस्था बना दिया, जो प्राचीन और आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का एक सर्वोतम सामंजस्य था। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के मूल सूत्र निम्नस्थ हैं :

१. यह एक समन्वित शिक्षा-पद्धति है, जिसमें प्राचीन आश्रम प्रणाली को आधार बनाकर छात्र के वैयक्तिक, चारित्रिक गुणों का विकास किया जाता है। बालक में विद्यमान शक्तियों को विकसित करने का पूर्ण अवसर इस शिक्षण-प्रणाली में उपलब्ध होता है। छात्र और अध्यापक का निकटतम सम्पर्क गुरुकुल शिक्षा का एक प्रधान तत्व है। प्राचीन शास्त्रीय शिक्षा के साथ-साथ नवीन ज्ञान-विज्ञान एवं पाश्चात्य भाषा और दर्शन की समन्वित शिक्षा गुरुकुल की एक निजी विशेषता है।

२. गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली ने शिक्षा के माध्यम के प्रश्न को दशाब्दियों पूर्व ही हल कर लिया था। गुरुकुल शिक्षण की एक विशेषता है बालक की मातृभाषा (राष्ट्रभाषा हिन्दी) के माध्यम से उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान का शिक्षण। यह अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के ३० वर्ष पश्चात् भी जब हमारे शिक्षाशास्त्री शिक्षा के माध्यम के रूप में भारतीय भाषाओं को ग्रहण करने में अनेक आपत्तियों और विपत्तियों की आशंका करते हैं जब-कि गुरुकुल कांगड़ी ने कई वर्ष पूर्व ही स्नातक स्तर पर विज्ञान की शिक्षा देने हेतु उच्च कोटि की पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण कर लिया था। विज्ञान के जो पाठ्य-ग्रंथ उस समय निर्मित हुए उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं—

हिन्दी केमिस्ट्री—प्रो० महेशचरण सिंह
विकासवाद—प्रो० विनायक गणेश साठे
भौतिकी और रसायन—प्रो० गोवर्धन, एम० ए०
गुणात्मक विश्लेषण—प्रो० रामशरणदास सक्सेना
वनस्पतिशास्त्र—प्रो० महेशचरण सिंह
अर्थशास्त्र—प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार
राष्ट्रीय आय-व्यय शास्त्र—प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार
राजनीतिशास्त्र—प्रो० प्राणनाथ विद्यालंकार
अर्थशास्त्र—प्रो० बालकृष्ण
राजनीतिशास्त्र—प्रो० बालकृष्ण
मनोविज्ञान—प्रो० सुधाकर

गुरुकुल के सुयोग्य स्नातक प्रो० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार ने राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विभिन्न समाजशास्त्रीय विषयों पर अधुनातन महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की है।

३. गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली का एक ध्येय जहाँ चरित्र की दिशा में छात्रों का उचित मार्ग-दर्शन करना था, वहाँ उसका एक मुख्य प्रयोजन छात्र समुदाय में राष्ट्रीय भावनाओं की अभि-वृद्धि और देशभक्ति के भावों को उद्दीप्त करना भी रहा। यही कारण है कि ब्रिटिश शासकों ने इन शिक्षण-संस्थाओं को हमेशा वक्र दृष्टि से देखा। गुरुकुल शिक्षा-संचालकों का भी स्वाभिमान अडिग रहा। अपनी शिक्षा-नीति में वे विदेशी शासकों का हस्तक्षेप कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते थे। फलतः उन्होंने गौरांग शासकों से कभी आर्थिक अनुदान की न तो याचना की और न ही किसी अन्य प्रकार की सहायता को स्वीकार किया। अँग्रेज प्रशासक गुरुकुलों के प्रति एक बार तो इतने अधिक शंकाकुल हो गये थे कि तत्कालीन वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड और संयुक्त प्रांत के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स मेस्टन को गुरुकुल कांगड़ी की यात्रा कर उसके संचालक महात्मा मुंशीराम के समक्ष अपनी शंकाओं का समाधान करना पड़ा था।

गुरुकुल कांगड़ी के ही अनुकरण पर कालान्तर में गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, गुरुकुल वृन्दावन, चित्तौड़गढ़, गुरुकुल झज्झर आदि की स्थापना हुई। संस्कृत और शास्त्रों के सुयोग्य और ख्याति-प्राप्त विद्वान इन गुरुकुलों से निकले हैं तथा देश, धर्म, समाज, भाषा और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में गुरुकुल के स्नातकों ने जो अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है उसका

विशद और यथार्थ समीक्षण अभी भविष्य की वस्तु है। गुरुकुल कांगड़ी के शास्त्रमर्मज्ञ स्नातकों में पं० विश्वनाथ विद्यालंकार, पं० बुद्धदेव विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार (चतुर्वेद भाष्यकार), पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार (निरुक्त भाष्यकार) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर ने दर्शनों के महान विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री विद्याभास्कर, डॉ० सूर्यकान्त, डॉ० हरिदत्त शास्त्री, पं० देवदत्त शर्मोपाध्याय तथा संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान और प्रसिद्ध कवि पं० दिलीपदत्त शर्मोपाध्याय जैसी प्रतिभाएँ देश को प्रदान की हैं। गुरुकुल वृन्दावन के उल्लेख योग्य स्नातकों में स्वर्गीय पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, पं० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय साहित्यशास्त्र और दर्शन-शास्त्र के आकार-ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद और व्याख्या करने वाले स्वर्गीय पं० विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि तथा संस्कृत में 'दयानन्द दिग्विजय' जैसे सर्व लक्षणान्वित महाकाव्य प्रणेता अद्भुत कवि, महाकवि मेधाव्रताचार्य के नाम महत्वपूर्ण हैं।

उपसंहार

गुरुकुलों की स्थापना के साथ-साथ शततः विद्यालयों, संस्कृत पाठशालाओं तथा प्रौढ़ शिक्षण-संस्थाओं, शिक्षणसंस्थाओं और रात्रि पाठशालाओं की स्थापना और संचालन भी आर्य-समाज की शिक्षा-विषयक एक महत्वपूर्ण देन है। नारी-शिक्षा का क्षेत्र भी आर्य-समाज द्वारा उपेक्षित नहीं रहा। जिस समय देश के पुराणपंथी और रूढ़िवादी लोग कन्या-शिक्षण को शंकाकुल दृष्टि से देखते थे तब आर्यसमाज ने कन्याओं की सर्वोच्च शिक्षा हेतु उच्चकोटि के गुरुकुल महा-विद्यालय और कन्या कालेजों की स्थापना की। जालंधर कन्या महाविद्यालय, देहरादून और हाथरस के कन्या गुरुकुल तथा बड़ौदा का आर्य कन्या महाविद्यालय व पोरबन्दर कन्या गुरुकुल महाविद्यालय इसी प्रकार के सफल शिक्षण-संस्थान हैं। आज आर्यसमाज का करोड़ों रुपया शिक्षा-कार्य में व्यय हो रहा है और उसकी सर्वोच्च संस्थाएँ इन शिक्षण-संस्थानों का योग्यतापूर्वक संचालन कर रही हैं। कन्या-शिक्षण की भाँति ही दलित वर्ग के लोगों की शिक्षा का आयोजन भी सर्वप्रथम आर्यसमाज ने ही किया। पं० आत्माराम अमृतसरी ने बड़ौदा राज्य में दलित शिक्षा का जो प्रचार किया वह समाज-सुधार इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है।

अंत में 'Father India'[1] के लेखक श्री रंगाअय्यर के शब्दों में आर्यसमाज के शिक्षा-विषयक कार्य का सिंहावलोकन करने के पश्चात् इस सम्मति को सर्वथा औचित्यपूर्ण ही समझते हैं :

"Arya Samaj educational institutions aim at fostering nationalism. Even their critics recognise that they are genuine educational institutions, very different from political mushroom which in the days of non co-operation came into existence.

अर्थात्, आर्यसमाज के विद्यालयों का उद्देश्य राष्ट्रीयता जाग्रत करना रहा है। उनके समालोचक भी यह स्वीकार करते हैं कि वे असहयोग के दिनों में अचानक स्थापित हुए उन अल्पजीवी राष्ट्रीय स्कूलों से भिन्न वास्तविक शिक्षण-संस्थाएँ हैं।

---

१. Mother India के उत्तर में लिखी गयी एक पुस्तक।

दयानन्दीय शिक्षा-पद्धति
(०+५+३+१६)

श्री लक्ष्मीदत्त आचार्य, एम० ए०
अध्यक्ष, आर्यमहाविद्यालय, पानीपत (हरियाणा)

•

व्यष्टि और समष्टि के सर्वांगीण और समन्वित विकास को लक्ष्य बनाकर 'सत्यार्थप्रकाश' के माध्यम से आधुनिक युग में समग्र क्रान्ति का जो दर्शन महर्षि दयानन्द ने संसार के सामने प्रस्तुत किया है, वह कई अंशों में सर्वथा मौलिक है। अपनी मान्यताओं को मूर्त्त रूप देने के लिए, अविद्या के नाश और विद्या की वृद्धि द्वारा, संसार की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया। व्यक्ति से समाज बनता है। अतः जैसा हम समाज को बनाना चाहते हैं वैसा ही उसकी इकाइयों को बनाना होगा। निर्माण का साधन शिक्षा है और शिक्षा का साधन संस्कार है। स्वामी जी के शब्दों में "शरीर और आत्मा को उत्तम बनाने के लिए ही संस्कारों का प्रावधान किया गया है।"

"मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद"—शतपथ ब्राह्मण के इस वचन की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने लिखा है—"वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य हो तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है।" स्वामी दयानन्द की शिक्षा-पद्धति में शिक्षा का उत्तरदायित्व केवल स्कूल में पढ़ाने वाले अध्यापक पर न होकर माता, पिता और आचार्य—तीनों पर है। इसलिए उन्होंने इन तीनों को ही शिक्षक की संज्ञा दी है।

शिक्षा की इस प्रायः २५-वर्षीय योजना को निम्नस्थ रूप से ४ स्तरों पर विभक्त किया गया है—

० = गर्भाधान से जन्मपर्यन्त—माता के अधीन।
५ वर्ष = जन्म से ५ वर्ष की आयु तक—मुख्यतः माता के अधीन।
३ वर्ष = छठे से ८ वर्ष की आयु तक—मुख्यतः पिता के अधीन।
१६ वर्ष = नवें वर्ष से शिक्षा-समाप्ति तक—आचार्य के अधीन।

० = गर्भाधान से जन्मपर्यन्त

वर्तमान शिक्षा-पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह शिक्षा का आरम्भ बालक के विद्यालय में प्रवेश के साथ मानती है, जबकि वैदिक शिक्षा-पद्धति में वह तभी से शुरू हो जाती

है जब से स्वयं मनुष्य के शरीर का निर्माण शुरू होता है। महर्षि का कथन है कि "जैसे सब पदार्थों के उत्कृष्ट करने की विद्या है वैसे ही सन्तान को भी उत्कृष्ट करने की विद्या है।" किसी भवन का निर्माण करने से पूर्व उसका नक्शा कागज पर बनाया जाता है। किन्तु कागज पर उतारे जाने से भी पहले उसकी रूपरेखा की कल्पना नक्शा बनाने वाले के मस्तिष्क में आती है। इसी प्रकार मनुष्य के निर्माण की प्रक्रिया भी गर्भाधान से पहले ही माता-पिता के विचारों से प्रारम्भ होती है। संकल्प के बिना, विषयभोग के परिणामस्वरूप जो सन्तान स्वतः जन्म लेती है वह बन जाती है, बनायी नहीं जाती। ऐसी सन्तान से 'संकल्पमय पुरुष' बनने की आशा नहीं की जा सकती। बनी-बनायी और आर्डर देकर बनवायी वस्तुओं में अन्तर होना अनिवार्य है। इस सन्दर्भ में स्वामीजी ने लिखा है कि "माता-पिता को अति उचित है कि गर्भाधान से पूर्व, मध्य और पश्चात् मादक द्रव्य, मद्य, दुर्गन्धयुक्त, रुक्ष, बुद्धिनाशक पदार्थों को छोड़ कर जो शान्ति, आरोग्य, बल, बुद्धि, पराक्रम और सुशीलता से प्राप्त करें और श्रेष्ठ पदार्थों का सेवन करें जिससे रज-वीर्य दोषों से रहित होकर अत्युत्तम गुणमुक्त हों।" 'आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः' के नियम के अनुसार भोजन का प्रभाव शरीर पर ही नहीं, बुद्धि और अन्तःकरण पर भी समान रूप से पड़ता है। यदि हम अच्छा मनुष्य बनना चाहते हैं तो उसके लिए रज-वीर्य अर्थात् उपादान कारण का अच्छा होना जरूरी है। महाभारत के अनुसार 'यादृशं वपते बीजं तादृशं लभते फलम्'। बीज के अनुरूप ही फल होता है। विश्व के महान् दार्शनिक डॉ० राधाकृष्णन ने अमरीका में भाषण देते हुए कहा था—"We cannot make genius out of mediocrity or good ability out of inborn stupidity."

गर्भ में प्रविष्ट होने से पूर्व ही संतान को उत्तम बनाने वाले माता-पिता के और मनोगत संकल्प के द्वारा संस्कारों का प्रारम्भ हो जाता है। उदरस्थ बालक पर सबसे अधिक प्रभाव उसकी माता के विचारों का पड़ता है। इसीलिए निरुक्तकार ने 'माता' को 'निर्माता' कहा है। डॉ० राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक Hindi View of Life में मार्टिन नाम के एक युवक का उल्लेख किया है जिसने दो विवाह किये। उसकी एक पत्नी काया से सुन्दर किन्तु विचारों से दूषित थी। दूसरी पत्नी अच्छे परिवार की और पवित्र विचारों वाली थी। पहली पत्नी से होने वाले बेटों,-पोतों में अधिकतर मन्दबुद्धि, चरित्रहीन और वेश्यालयों के संचालक निकले जबकि दूसरी पत्नी से होने वाली सन्तति में अधिकतर गवर्नर, डॉक्टर, जज, प्रोफेसर और यूनिवर्सिटी के संस्थापक निकले। ९ मास तक एकान्तवास में रहते बालक का सम्पर्क केवल माता से ही होता है। इस अवधि में भी समय-समय पर check-up कराते रहने की दृष्टि से 'प्रसवन' और 'सीमन्तोन्नयन' संस्कारों का प्रावधान किया गया है।

५ वर्ष—जन्म से ५ वर्ष की आयु तक

इस अवधि में बालक माता और पिता दोनों के सम्पर्क में आता है किन्तु उसका अधिकांश समय माता के सान्निध्य में बीतने के कारण उसकी शिक्षा का उत्तरदायित्व मुख्यतः माता पर है। बालक को बोलना सिखाना, अच्छी-अच्छी बातें बताते रहना, छोटों-बड़ों से यथायोग्य व्यवहार की शिक्षा देना माता का कर्त्तव्य है। माता की थोड़ी-सी असावधानी के कारण उत्पन्न दोष आगे चलकर अधिक-से-अधिक प्रयत्न करने पर भी दूर नहीं हो पाते। इन पाँच वर्षों में भी बालक के सही दिशा में निर्माण करने की ओर ध्यान आकृष्ट करते रहने के लिए जातकर्म,

नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म और कर्णवेध—इन ६ संस्कारों की व्यवस्था की गयी है।

३ वर्ष = छठे वर्ष से आठ वर्ष की आयु तक

पाँच वर्ष का होते-होते बालक घर से बाहर पिता के साथ आने-जाने लगता है। अतः अब तक जो कर्तव्य मुख्यतः माता के थे अब पिता के बन जाते हैं।

इस प्रकार ८ वर्ष तक पैतृक शिक्षणालय में शिक्षित और दीक्षित होने के बाद जो बालक गुरुकुल में जायेंगे वे ही वहाँ रहकर ठीक प्रकार से शिक्षा ग्रहण कर सकेंगे।

१६ वर्ष = गुरुकुल

९वें वर्ष के आरम्भ में ही बालकों को विद्याभ्यास के लिए गुरुकुल में प्रविष्ट करा देना चाहिए। महर्षि दयानन्द द्वारा निर्धारित गुरुकुल पद्धति की निम्नांकित विशिष्टताएँ हैं:—

अनिवार्य

स्वामीजी के अनुसार "राजनियम और जातिनियम ऐसा होना चाहिए कि ८वें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजें वह दंडनीय हों।" भारत के संविधान की धारा ४५ में अनिवार्य और निःशुल्क शिक्षा का उल्लेख किया है। किन्तु इस धारा के अनुसार—

(क) ऐसी व्यवस्था तत्काल न करके १० वर्ष के भीतर करने का उल्लेख था। ३० वर्ष बीत जाने पर भी इसे कार्यान्वित नहीं किया जा सका।

(ख) इसका पालन न करने वाले के लिए दंड की व्यवस्था नहीं है जबकि स्वामीजी ने इसे दंडनीय अपराध माना है।

(ग) यह व्यवस्था केवल १४ वर्ष की आयु तक के बालकों के लिए है जबकि महर्षि ने इसे निरवधि रखा है।

अभी जातिनियम बनाने-बनवाने की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया है।

सामाजिक न्याय

"सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जायें चाहे वे राजकुमार या राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र की सन्तान हों।" शिक्षा का दायित्व आचार्य के माध्यम से समूचे समाज का है। जब हरेक विद्यार्थी यह अनुभव करेगा कि मुझे मेरे माता-पिता ने नहीं, समाज ने पढ़ाया है तो वह भी समाज के प्रति अपना कर्तव्य पालन करने के लिए प्रेरित होगा। इसी प्रकार जब १६ वर्ष तक सब एक जैसा जीवन बितायेंगे तो स्वतः ही ऊँच-नीच की भावना का लोप होकर समानता की भावना पनपेगी।

निःशुल्क

महर्षि दयानन्द ने स्पष्ट शब्दों में शिक्षा के निःशुल्क दिये जाने की बात नहीं कही है, किन्तु उपर्युक्त सन्दर्भ में अवसर की समानता का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और इस अवसर की

समानता की कोई सीमा भी नहीं बाँधी है। अतः समूची शिक्षा का निःशुल्क होना ध्वनित होता है। शुल्क देने की अवस्था में सबका खानपान व रहन-सहन एक जैसा नहीं हो सकता। नियत तिथि पर फीस न आने पर जिसका नाम काट दिया जाये, अर्थात् जितने पैसे उसने दिये थे उतनी विद्या वह ले चुका, वह विद्यार्थी गुरु का आदर क्यों करेगा ?

नगर से दूर

अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित न होना बड़ा कठिन है और कच्ची बुद्धि वाले बालकों के लिए तो यह असम्भव है। इसलिए स्वामीजी ने ग्राम या नगर से कम-से-कम चार कोस दूर एकान्त स्थान में पाठशाला खोलने की सलाह दी है। आज के युग में इसकी आवश्यकता और भी बढ़ गयी है जबकि शहरों का वातावरण इतना दूषित हो गया है कि वहाँ आने-जाने वालों के लिए 'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिः' की बात सोचना भी मूर्खता है। इस वातावरण में रहकर शिक्षा ग्रहण करने वाले युवक-युवतियों के चरित्रवान् होने की आशा नहीं की जा सकती। यह ऐसा ही है जैसे—

"दरम्याने कारे दरिया तख़्ता बन्दम करदए।
बाज़ मीं गोयी के दामन तरमकुन हुश्यारबाश ॥"

अर्थात्—किसी को तख्ते से बाँधकर नदी में फेंक देना और कहना कि देखना कहीं कपड़ा न भीग जाये।

परिवार से दूर

विद्यार्थियों के माता-पिता अपनी सन्तानों से और सन्तान अपने माता-पिता से न मिल सकें और न आपस में पत्र-व्यवहार कर सकें जिससे वे संसारी चिन्ता से रहित होकर विद्या पढ़ने में तत्पर रहें। घर में समय-समय पर होने वाली सुखद और दुःखद घटनाओं में उलझा हुआ और माता-पिता की खेती-बाड़ी या दूकानदारी के काम में उनका हाथ बटाने के लिए विवश विद्यार्थी अबाधरूप से विद्या ग्रहण नहीं कर सकता।

परिवार का अंग

यह तभी सम्भव है जब गुरुजन विद्यार्थी को अपने परिवार का अंग मानकर, उसके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझकर उसके प्रति माता-पिता के समान व्यवहार करें। यजुर्वेद के दूसरे अध्याय के ३३वें मन्त्र का भाष्य करते हुए स्वामीजी ने लिखा है कि जैसे माता के गर्भ में स्थित भ्रूण का धीरे-धीरे विकास होता है वैसे ही गुरुकुल में रहने वाला विद्यार्थी धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि जिस प्रकार माता के खान-पान, रहन-सहन और आचार-विचार का गर्भस्थित बालक पर प्रभाव पड़ता है वैसे ही विद्यार्थी पर अध्यापकों के आचार-विचार तथा क्रियाकलाप का प्रभाव पड़ता है।

अध्यापक कैसे हों?

आजकल अध्यापक के लिए अपने विषय का ज्ञाता तथा अध्यापन-कार्य में कुशल होना

काफी समझा जाता है। यदि शिक्षा का उद्देश्य मात्र अक्षरज्ञान हो तो यह ठीक है। किन्तु यदि शिक्षा का प्रयोजन जीवन को पवित्र तथा उपयोगी बनाना भी है तो अध्यापक का भी वैसा होना जरूरी है। स्वामी दयानन्द के मत में अध्यापक का विद्वान् होने के साथ-साथ धर्मात्मा होना भी आवश्यक है, क्योंकि पढ़ाने के अतिरिक्त विद्यार्थी को "उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा के बलमुक्त करके नित्य आनन्द की ओर बढ़ाना" भी उसका कर्तव्य है। अध्यापकों की नियुक्ति करते समय ज्ञान के साथ-साथ उनके चरित्र की जाँच-पड़ताल करके चरित्रवान् व्यक्तियों को ही शिक्षक के पद पर नियुक्त करना चाहिए।

सब एक साथ रहें

अध्यापकों का सान्निध्य हर समय प्राप्त हो—इसलिए सभी अध्यापकों और छात्रों का निवास एक ही स्थान पर हो। अध्यापक हर समय छात्रों का मार्ग-दर्शन करते रह सकें—इसके लिए अध्यापकों और छात्रों की संख्या का उचित अनुपात निर्धारित होना आवश्यक है।

स्त्री-शिक्षा

स्त्रियों को पुरुषों के समान ही ऊँची-से-ऊँची शिक्षा पाने का अधिकार होना चाहिए। हर प्रकार की शिल्प-विद्या, कला-कौशल, चिकित्सा-शास्त्र, वेद, दर्शन आदि सभी विद्याएँ उन्हें सीखनी चाहिए। विवाह के लिए १६ वर्ष की आयु कम-से-कम है, अधिक-से-अधिक नहीं।

सहशिक्षा का विरोध

यद्यपि स्वामीजी स्त्रियों के लिए हर प्रकार की ऊँची-से-ऊँची शिक्षा के समर्थक थे किन्तु वह चाहते थे कि "लड़कों और लड़कियों की पाठशाला एक-दूसरे से दो कोस दूर होनी चाहिए। स्त्रियों की पाठशाला में ५ वर्ष का लड़का और पुरुषों की पाठशाला में ५ वर्ष की लड़की भी न जाने पाये। जो वहाँ अध्यापक और अध्यापिका, भृत्य अनुचर हों वे पुरुषों की पाठशाला में सब पुरुष और स्त्रियों की पाठशाला में सब स्त्रियाँ रहें।" इतना ही नहीं, बल्कि "जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें तक तक स्त्री व पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्त सेवन, भाषण, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग—इन आठ प्रकार के मैथुनों से अलग रहें।"

•

विद्वानों को चाहिए कि कभी आपस में ईर्ष्या करके एक-दूसरे की हानि नहीं करें, किन्तु सदैव प्रीति से उन्नति किया करें।

—महर्षि दयानन्द

ऋषि दयानंद और आर्ष पाठविधि

श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती
आचार्य, गुरुकुल झज्झर

आज भारत तथा विश्व में अनेक ऐसे विचारों की प्रबलता है जो कि मानवता के लिए घातक हैं। उन विचारों का उद्गम स्रोत अविद्वान् लोगों का अनार्ष साहित्य तथा अव्यावहारिक शिक्षा-प्रणालियाँ हैं जिनके द्वारा शिक्षित-दीक्षित मनुष्यों की मान्यताएँ वास्तविकता से विपरीत हो जाती हैं। महर्षि दयानन्द ने जहाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों में अपना सुलझा हुआ दृष्टिकोण उपस्थित किया है, वहाँ शिक्षा के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण शिक्षा दी है। उनकी यह निश्चित दृढ़ धारणा है कि गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली तथा आर्ष पाठविधि ही वह मार्ग है, जिस पर चलकर मनुष्य का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास हो सकता है। आज अवैज्ञानिक शिक्षा-प्रणालियों के कारण विद्या का स्तर गिरता जा रहा है। तथाकथित विद्या मनुष्य के लिए हानिकारक सिद्ध हो रही है। जिस समय भारत में आर्ष पाठविधि के अनुसार शिक्षा का प्रबन्ध था उस समय भारत सर्व प्रकारेण गौरव-गरिमा से युक्त था। लोग आर्ष पाठविधि के महत्व को समझ सकें, अतः यहाँ हम आर्ष पाठविधि की कुछ विशेषताएँ उद्धृत कर रहे हैं।

आर्ष पाठविधि की विशेषताएँ

१. अल्प परिश्रम, अधिक ज्ञान।
२. एक काल में एक विषय का अध्ययन।
३. एक विशेष पाठ्यक्रम।
४. शब्दाडम्बर से मुक्ति।
५. आदर्श साम्यवाद।
६. गुरु-शिष्य परम्परा।
७. देशभक्ति और आस्तिकता।
८. पहले धर्म, पीछे धन।
९. ब्रह्मचर्य और सदाचार।

उक्त ९ विशेषताओं पर क्रमशः संक्षिप्त विचार किया जा रहा है।

१ अल्प परिश्रम, अधिक ज्ञान

आर्ष पाठविधि की सबसे प्रथम विशेषता यह है कि विद्यार्थी स्वल्पकाल में और थोड़े-से परिश्रम से अधिक ज्ञानोपार्जन कर लेता है। वास्तव में यह विद्या-प्राप्ति का सीधा और सरल मार्ग है जो कि हमारे पूर्वजों के गम्भीर परिश्रम और तप के द्वारा हमें मिला है। विदितवेदितव्य साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने शिक्षा के प्रत्येक अंग पर गूढ़ चिन्तन करके वास्तविक तथ्य हमारे सम्मुख रखा है। सीधा सुन्दर राजमार्ग बना हुआ है। जो इस पर चलेगा शीघ्र लक्ष्य-प्राप्ति कर सकेगा और जो इधर-उधर पगडंडियों में घूमता रहेगा वह व्यर्थ अपना समय नष्ट करेगा। अनार्ष पाठविधि से पढ़ने वाला छात्र संस्कृत व्याकरण जानने के लिए दस-बारह वर्ष तक निरंतर घोर श्रम करने के उपरांत भी संस्कृत व्याकरण का मर्मज्ञ नहीं बन पाता। लघुकौमुदी, मध्य कौमुदी और वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी की पंक्तियाँ रटते-रटते विद्यार्थी का गला सूख जाता है। किन्तु तेली के बैल की भाँति घूम-फिरकर रहता है, वहीं-का-वहीं।

इसके विपरीत आर्ष पाठविधि के अनुसार पढ़ने वाला विद्यार्थी तीन-चार वर्ष में पूर्ण वैयाकरण बन सकता है। महर्षि दयानन्द ने 'सत्यार्थ-प्रकाश' के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि—

"...बुद्धिमान्, पुरुषार्थी, निष्कपटी, विद्यावृद्धि चाहने वाले नित्य पढ़ें-पढ़ावें तो डेढ़ वर्ष में अष्टाध्यायी (प्रथम और द्वितीयावृत्ति) और डेढ़ वर्ष में पूर्ण वैयाकरण होकर, वैदिक और लौकिक शब्दों का व्याकरण से बोध कर पुनः अन्य शास्त्रों को शीघ्र सहज में पढ़-पढ़ा सकते हैं। किन्तु जैसा बड़ा परिश्रम व्याकरण में होता है वैसा श्रम अन्य शास्त्रों में नहीं करना पड़ता और जितना बोध इनके पढ़ने से तीन वर्ष में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत, चन्द्रिका-कौमुदी, मनोरमादि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता।" "ऐसा प्रयत्न पढ़ाने वाले करें कि जिससे बीस या इक्कीस वर्ष के भीतर समग्र विद्या, उत्तम शिक्षा प्राप्त करके मनुष्य लोग कृत-कृत्य होकर सदा आनन्द में रहें। जितनी विद्या इस रीति से बीस या इक्कीस वर्षों में हो सकती है उतनी अन्य प्रकार से शत वर्ष में भी नहीं हो सकती।"

"क्योंकि जो महाशय महर्षि लोगों ने सहजता से महान् विषय अपने ग्रन्थों में प्रकाशित किया है वैसा उन क्षुद्राशय मनुष्यों के कल्पित ग्रन्थों में क्योंकर हो सकता है?"

"ऋषिप्रणीत ग्रन्थों को इसलिए पढ़ना चाहिए कि वे बड़े विद्वान् सब शास्त्रवित् और धर्मात्मा थे और अनृषि अर्थात् जो अल्पशास्त्र पढ़े हैं और जिनकी आत्मा पक्षपात सहित है उनके बनाये हुए ग्रन्थ भी वैसे ही हैं।"

२. एक काल में एक विषय का अध्ययन

आर्ष पाठविधि की यह दूसरी मौलिक विशेषता है कि एक समय में विशेषतया एक ही विषय का मर्म समझाया जाता है। आज की शिक्षा-पद्धति की भाँति एक साथ अनेक विषयों को लादकर विद्यार्थी के मस्तिष्क में खिचड़ी नहीं पकायी जाती।

जब विद्यार्थी एक विषय को हृदयंगम कर लेता है तब दूसरा और फिर तीसरा विषय उपस्थित करके तत्-तत् विषय का पूर्ण पंडित बनाना ही इस पाठविधि की अपनी विशेषता है।

इसके विपरीत आज के स्कूल आदि की अनार्ष पद्धति के द्वारा दस वर्ष में मैट्रिक-पास छात्र

की योग्यता से सभी परिचित हैं। न उसे भली-भाँति हिन्दी आती है और न अँग्रेजी का ही ठीक-ठीक बोध होता है। यही दशा भूगोल, इतिहास, गणित आदि विषयों में होती है। अनेक विषयों के एक साथ अध्ययन से आज के विद्यार्थी को कुछ भी नहीं आता। उसकी स्थिति 'धोबी का कुत्ता, घर का न घाट का' वाली हो रही है।

यह केवल विद्यार्थी और अध्यापकों का ही दोष नहीं, अपितु शिक्षण-पद्धति का सबसे अधिक दोष है।

३. एक विशेष पाठ्यक्रम

शिक्षा=अ, इ की पढ़ाई से लेकर सम्पूर्ण वेदादि के पठन-पाठन का एक विशेष क्रम है। आर्ष पाठविधि की शिक्षण-पद्धति एक सूत्र में मणियों की भाँति पिरोकर माला बनायी गयी है।

इस विधि में व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांग, उपांग, वेद, उपवेद आदि को ऐसे ढंग से पढ़ने-पढ़ाने का विधान किया है कि एक के पश्चात् दूसरा विषय समझने में विलम्ब न हो। अनार्ष शिक्षण-पद्धति की भाँति साथ-साथ पारिभाषिक शब्दावली-विशेष घोटने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उदाहरणार्थ—सर्वप्रथम वर्णोच्चारण शिक्षा एक मास के भीतर पढ़ा दी जाती है, जिससे विद्यार्थी प्रत्येक अक्षर के उच्चारण-स्थान आदि को भली-भाँति जान लेता है और भविष्य में उच्चारण की अशुद्धियों से सर्वदा दूर रहता है। शिक्षा के पश्चात् संस्कृत व्याकरण तीन-चार वर्ष में पढ़ा दिया जाता है जिससे प्रत्येक शब्द का वास्तविक अर्थ समझने में कोई किसी भी प्रकार की कठिनता उपस्थित नहीं होती और न ही शब्दार्थ के लिए कोष आदि घोटने की आवश्यकता होती है। अर्थ के आधार पर नवीन शब्दरचना भी छात्र अपने बुद्धिकौशल से कर सकता है।

इस प्रकार विद्यार्थी का पर्याप्त अमूल्य समय बच जाता है। छात्र न्यूनतम समय और परिश्रम द्वारा अधिकतम विद्या का अध्ययन कर लेता है।

४. शब्दाडम्बर से मुक्ति

ऋषियों ने भाषा का जगडवाला नहीं बनाया। गूढ़-से-गूढ़ विषय को भी सरलतम भाषा द्वारा समझाकर विषय को अध्येता को हृदयंगम करा देना—यह आर्ष पाठविधि की चतुर्थ विशेषता है।

नव्य नैयायिकों की भाँति एक-एक शब्द को समझाने के लिए दस पंक्ति के अनुच्छेद लिखकर विषय को और भी क्लिष्टतर बनाकर पांडित्य प्रकट करना ऋषियों का ध्येय नहीं था। अपितु छोटे-छोटे सूत्रों में सरल एवं सुबोध शब्दों द्वारा असीम ज्ञान-भंडार को सीमित कर गागर में सागर भर दिया है। इसलिए महर्षि दयानन्द जी ने लिखा है—

"महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे इस प्रकार का होता है और क्षुद्राशय लोगों की मंशा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़कर अल्प लाभ कर सकें जैसे 'पहाड़ का खोदना, कौड़ी का लाभ होना' और आर्ष ग्रन्थों का पढ़ना ऐसा है कि जैसा 'समुद्र में गोता लगाना बहुमूल्य मोतियों को पाना'। (सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

महाकवि हर्ष ने तो इस दोष को स्पष्ट किया है—

"ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित् क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया ।"

अर्थात्, मैंने अपने काव्य में कहीं-कहीं ऐसी शब्दों की ग्रन्थियाँ लगा दी हैं, जिनको साधारण व्यक्ति समझ न सके।

५. आदर्श—साम्यवाद

सब विद्यार्थियों के साथ समान व्यवहार और सबको समान खान-पान आदि देना तथा प्रत्येक को तपस्वी बनाना आर्ष पाठविधि की पाँचवीं विशेषता है। शैशव में तो बच्चा समता और विषमता के व्यवहार का विशेष ज्ञान नहीं रखता। बालक ८ वर्ष का होने पर जब कुछ विवेक-शील होने लगता है तब उसे एकान्त स्थान गुरुकुल में भेज दिया जाता था, जहाँ निर्धन-धनी के और ऊँच-नीच के भेदभाव से सर्वदा पृथक् रहकर एक आचार्य के शिष्य एवं पुत्र होकर भाई-भाई की भाँति पढ़ते थे। इससे अधिक शुद्ध और साम्यवाद का आदर्श संसार के किसी कोने में नहीं मिल सकता। ऐसे ही गुरु के कुल में महाराज श्रीकृष्ण और सुदामा ने शिक्षा ग्रहण की थी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी महाराज लिखते हैं—"पाठशालाओं से एक योजन अर्थात् चार कोस दूर ग्राम व नगर रहे। सबको तुल्य वस्त्र, खान, पान, आसनादि दिये जायें। चाहे वह राजकुमार या राजकुमारी हो चाहे दरिद्र की संतान हो, सबको तपस्वी होना चाहिए।"

(सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास)

आर्ष शिक्षण-पद्धति में गुण-कर्मों के आधार पर ब्राह्मणादि वर्ण माने गये हैं और यदि किसी की संतान अपने वर्ण-विहित कर्म न करे तो माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी संतान का परिवर्तन गुण-कर्म के आधार पर कर लें। संतति व्यक्ति की नहीं, अपितु राष्ट्र की सम्पत्ति है।

६. गुरु-शिष्य परम्परा

आर्ष शिक्षा-पद्धति में गुरु तथा शिष्य का वैसा ही सम्बन्ध रहता है जैसाकि गर्भस्थ बालक का माता के साथ। जैसे माता के गर्भ में बालक का पालन-पोषण होता है वैसे ही आचार्य-कुल में ब्रह्मचारी का निर्माण होता है। उपनयन से समावर्तन तक ब्रह्मचारी आचार्य-कुल में रहता है। अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य सूक्त में गुरु-शिष्य का सम्बन्ध इस प्रकार से बतलाया है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥

(अथर्व, कांड ११ सू० ५)

अर्थात्, आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करके उसे गर्भ अर्थात् गुरुकुल में प्रविष्ट करता है। बालक को तब तक उदर (गुरुकुल) में ही रखता है, जब तक उसकी तीन अज्ञानरूपी रात्रियाँ समाप्त नहीं हो जातीं। तीन रात्रियों से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अज्ञान अथवा पृथ्वी, द्युलोक और अंतरिक्ष सम्बन्धी अज्ञान का ग्रहण समझना चाहिए अथवा निकृष्ट, मध्यम और उत्तम—तीन प्रकार का ब्रह्मचर्य जब तक पूर्ण न हो तब तक गुरुकुल में रखा जाता है।

इसके उपरांत जब ब्रह्मचारी स्नातक बनता है तब उसे विद्वान् लोग देखने के लिए आते हैं।

इस मंत्र से गुरु-शिष्य की परम्परा के सम्बन्ध में अनेक गम्भीर बातें विदित होती हैं—

१. जब ब्रह्मचारी आचार्य के अधीन अर्थात् गर्भ में है, तब निश्चित अवधि से पूर्व पृथक् होना अथवा अवकाश आदि पर जाना स्वयमेव निषिद्ध हो जाता है।

२. आचार्य के प्रतिकूल किसी भी प्रकार का आचरण करना गर्भस्थ शिशु की भाँति अपने आचार्य को कष्ट देना है। इसलिए सूत्रकारों ने कहा है कि—

"आचार्याधीनो भवाऽन्यत्राऽधर्माचरणात्।"

अर्थात्, अधर्माचरण को छोड़कर ब्रह्मचारी को सर्वथा आचार्य के अधीन रहना चाहिए।

३. गर्भस्थ शिशु की भाँति ब्रह्मचारी के पालन-पोषण, निर्माण एवं सर्वांगीण विकास का उत्तरदायित्व आचार्य व गुरु का ही हो जाता है।

४. आचार्य के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी, आचार्य की उन्नति और यश में ब्रह्मचारी की उन्नति और यश निहित है। अभिप्राय यह है कि यह आचार्य और अन्तेवासी का सम्बन्ध इतना उत्कृष्ट और घनिष्ठ है कि जन्मदाता माता-पिता से भी अधिक महत्व रखता है। इसलिए मनु महाराज ने कहा है—

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद्वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साजरामरा॥

(मनुस्मृति, २।१४८)

अर्थात्, माता-पिता जो जन्म देते हैं, उसमें परिवर्तन हो सकता है, अर्थात् ब्राह्मण का पुत्र क्षत्रियादि और शूद्र का पुत्र ब्राह्मणादि बन सकता है, किन्तु आचार्य समावर्तन के समय शिष्य को जिस वर्ण की दीक्षा देता है वह वर्ण गुणकर्मानुसार होने के कारण परिवर्तनरहित होता है।

५. जिस प्रकार पिता का गोत्र जन्म से चलता है, उसी प्रकार आचार्य का गोत्र विद्या से चलता है। स्मृतिकारों ने पिता के सम्बन्ध को "यौन" और आचार्य के सम्बन्ध को "गौरव" संज्ञा दी है।

इस प्रकार आर्ष पाठविधि में गुरु-शिष्य की परम्परा अविच्छिन्न रूप में बन जाती है। बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो कि जो ग्रंथों के अध्ययन से नहीं, किन्तु गुरु-परम्परा से ही उपलब्ध हो सकती हैं। गुरु-परम्परा के नष्ट हो जाने से अनेक गम्भीर तत्व भूत के निविड़ अंधकार में तिरोहित हो चुके हैं।

विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता इस अनार्ष शिक्षा का ही दुष्परिणाम है।

७. देशभक्ति और आस्तिकता

आर्ष शिक्षा-प्रणाली में विद्यार्थी को आरम्भ से अंत तक जो शिक्षा दी जाती है, वह देशभक्ति, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति से ओत-प्रोत होती है। आर्ष पाठविधि से शिक्षित छात्र का केन्द्रबिन्दु वेद और वैदिक संस्कृति होने से उसका हृदय देशभक्ति के रंग से रँगा जाता है। कभी भी देशद्रोह का अंकुर उसके मन में उत्पन्न नहीं होता।

आर्ष पाठविधि में देशभक्ति के साथ आस्तिकता एवं धार्मिकता की शिक्षा भी बाल्यकाल से ही दी जाती है। कोई भी व्यक्ति धार्मिक और ईश्वर-विश्वासी हुए बिना पूर्णतया दुर्गुणों से नहीं बच सकता। हमारी सरकार की धर्मनिरपेक्ष नीति अथवा धर्मरहित राजनीति लँगड़ी है और भयंकर-से-भयंकर पापों का मूल कारण है। प्रत्येक देशवासी जब तक धार्मिक एवं आस्तिक नहीं बनता तब तक सच्चा देश-भक्त बनना कठिन है।

८. पहले धर्म, पीछे धन

आर्ष पाठविधि में सर्वप्रथम स्थान धर्म का है। इसलिए वेद, वेदांग, उपांग के पश्चात् उपवेदों के पठन-पाठन का विधान किया गया है।

"इस प्रकार सब वेदों को पढ़ के आयुर्वेद अर्थात् जो चरक, सुश्रुत आदि ऋषि-मुनि प्रणीत वैद्यक शास्त्र हैं उनका अर्थ, क्रिया, शस्त्र छेदन-भेदन, लेप चिकित्सा, निदान, औषध, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण ज्ञानपूर्वक चार वर्ष के भीतर पढ़ें-पढ़ावें।"

आयुर्वेद तथा व्यवहार विद्या एवं अर्थवेद के सबसे पीछे पढ़ने-पढ़ाने का अभिप्राय यही है कि वेदादि शास्त्रों के पढ़ने के पश्चात् मनुष्य धर्माधर्म का ज्ञान होने के कारण अधर्म से बच सकेगा। वेदादि पढ़े बिना ही आयुर्वेद एवं अर्थवेदादि पढ़कर पैसा इकट्ठा करने वाला अर्थ के स्थान पर अनर्थ ही कमायेगा, क्योंकि "अर्थ वह है जो धर्म ही से प्राप्त किया जाये और जो अधर्म से सिद्ध होता है उसको अनर्थ कहते हैं।"

विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥

(स्वयन्तव्यामन्तव्यप्रकाश, १४)

यहाँ धन से धर्म कमाने का अभिप्राय दूसरा है। यहाँ भी पहले विद्या के द्वारा विनयी पात्र बनाने की चर्चा की गयी है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी पुरुषार्थ चातुष्टय में भी पहले धर्म और पश्चात् अर्थ तथा काम एवं मोक्ष का उल्लेख मिलता है। आज के युग में इसके सर्वथा विपरीत अवस्था होना अनार्ष शिक्षा का ही दुष्प्रभाव है।

प्राचीन काल में जब आर्ष पाठविधि के अनुसार शिक्षा दी जाती थी तब प्रथम वेद-वेदांगादि का अध्ययन और पश्चात् व्यवहार-विद्या अर्थात् जीविका के लिए आयुर्वेद-धनुर्वेद आदि भी पढ़ाये जाते थे।

ब्रह्मचारी हनुमान को बन्दर बना देना भी तुलसीकृत 'रामचरितमानस' आदि अनार्ष ग्रंथों की कृपा है। ब्रह्मचारी हनुमान वेद-वेदांग आदि का पण्डित था। रामचन्द्रजी ने हनुमान की प्रशंसा इस प्रकार की है—

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥२९॥
नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरताऽनेन न किञ्चिदपशब्दितम्॥३०॥

(वाल्मीकि रामायण, किष्किन्धा काण्ड, सर्ग ३)

९ ब्रह्मचर्य एवं सदाचार

ब्रह्मचर्य एवं सदाचार आर्ष पाठविधि की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है। और, अनार्ष शिक्षा प्रणाली का सबसे भयंकर दोष है—ब्रह्मचर्य-पालन और सदाचार का अभाव। अश्लील ग्रंथों का पठन-पाठन और सहशिक्षा प्रज्ज्वलित अग्नि में घृत का कार्य करते हैं। सिनेमादि के कारण दूषित हुआ भोग-विलासमय वातावरणरूपी वायु कामाग्नि को और भी प्रचण्डतर बना देता है। निन्यानवें प्रतिशत नवयुवक और नवयुवतियाँ यौवन से पूर्व विद्यार्थी जीवन में ही कामाग्नि में भस्मसात् हुए जा रहे हैं। यौवन के कान्तिरूप उल्लास आदि गुण उनके ललाट से कोसों दूर हैं। शरीर निस्तेज और अस्थिपञ्जर मात्र शेष दिखायी देता है।

मक्खन निकाले हुए दूध (सप्रेटा) अथवा दही को मथकर नवनीत निकाली हुई छाछ की, रस निचोड़े हुए निम्बू की, कोल्हू में पेले हुए तिल और गन्ने की और निस्तैल टिमटिमाते हुए दीपक की जो दशा होती है ठीक वही दशा आज नष्टवीर्य छात्र-छात्राओं की होती जा रही है।

आप जानते हैं कि जिस प्रकार साईकिल या मोटर आदि की वायु निकल जाती है तो उस पर सवारी नहीं की जा सकती, उल्टी वह भार बन जाती है। आपको विदित है, जिस घड़े के नीचे छिद्र हो जाता है वह शनैः-शनैः खाली हो जाता है। इसी प्रकार जिस लकड़ी को घुन लग जाता है वह शीघ्र ही नष्ट हो जाती है।

आपने देखा होगा, एरण्ड की लकड़ी के चौखट, किवाड़, कड़ी, सैंतीर और थूणी आदि नहीं बनाये जाते, क्योंकि वह सारहीन होती है। एरण्ड की निःसार लकड़ी किसी विशेष काम में नहीं आती, इसी प्रकार जो मनुष्य अपने जीवन के सार वीर्य की रक्षा नहीं करता वह भी जीवन में कोई महत्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता, उसकी जीवन-ज्योति शीघ्र ही बुझ जाती है।

हम प्रतिदिन देखते हैं कि दीपक की ज्योति तभी तक जलती रहती है जब तक उसमें तेल है। तेल जल जाने पर कुछ काल में बत्ती भी जल जाती है और दीपक बुझ जाता है। यही अवस्था वीर्यहीन मनुष्य की होती है। उसकी ज्योति भी निस्तेज होकर शांत हो जाती है।

चरक में लिखा है—

आहारस्य परं धाम शुक्रं तद्रक्ष्यमात्मनः।
क्षयो ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥

(निदानस्थान, अ० ६ श्लोक ८)

अर्थात्—आहार का परम धाम अर्थात् सार वीर्य है। उसकी रक्षा करनी चाहिए। इसका क्षय हो जाने से बहुत से रोग या मृत्यु हो जाती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी महाराज लिखते हैं—जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है तब उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम बढ़कर बहुत सुख की प्राप्ति होती है।

विद्याध्ययन और ब्रह्मचर्य-पालन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। ब्रह्मचर्य-पालन किये बिना विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती और पूर्ण विद्या के बिना उत्तम ब्रह्मचर्य का पालन सम्भव नहीं। इसलिए "विद्यार्थ ब्रह्मचारी स्यात्"—विद्या के लिए ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है।

गुरुकुल प्रणाली के प्रबल समर्थक एवं संचालक का सच्चा अभिनन्दन गुरुकुल प्रणाली को सफल बनाना ही हो सकता है। आचार्य महेन्द्रप्रताप शास्त्री गुरुकुल प्रणाली की देन हैं, वे गुरुकुल में पढ़े, गुरुकुल आन्दोलन को बढ़ाने में सक्रिय योग दिया और आज वे वन्दनीय कुलपति हैं।

शैक्षणिक क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण होने पर आर्य शिक्षण-संस्थाओं का क्या रहेगा ?

श्री पं० आनन्दप्रिय

•

स्वर्गीय मेहरचन्दजी महाजन, जो टंकारा ट्रस्ट के प्रधान थे, ने अजमेर में महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय का आयोजन किया था और सब आर्य शिक्षण-संस्थाओं का संगठन बनाने की योजना भी तैयार की थी। उन्होंने बड़े गर्वपूर्ण रीति से कहा था कि आर्यसमाज अपनी शिक्षण-संस्थाओं पर वार्षिक तीन करोड़ रुपये खर्च करता है।

शैक्षणिक क्षेत्र में गुरुकुल तथा कालेज और हाईस्कूल स्थापित करके आर्यसमाज ने अवश्य उल्लेखनीय क्रांति की, परन्तु अब जब अपनी सरकार शिक्षण का राष्ट्रीयकरण करने जा रही है, आर्यसमाज के समक्ष एक बड़ी समस्या खड़ी हो गयी है।

आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं की आधारशिला प्राचीन आर्य संस्कृति है और वर्तमान प्रचलित शैक्षणिक नीति की आधार-शिला मैकाले का सुप्रसिद्ध परिपत्र है। हमने अवश्य कुछ परिवर्तन किये हैं परन्तु हमारी गति पश्चिमी पद्धतियों की अनुकरण मात्र है। स्वराज्य-प्राप्ति के पश्चात् अँग्रेजी का ग्रहण सब शिक्षण-संस्थाओं पर व्यापक रूप से लग गया है और संस्कृत और संस्कृति—दोनों ही की अवहेलना हो रही है। शैक्षणिक क्षेत्र पर राजनैतिक पार्टियों का प्रभाव होने के कारण अब शिक्षण का आदर्श रोटी-कपड़ा और मकान है। 'सा विद्या या विमुक्तये'—यह मात्र व्याख्यान का विषय रह गया है।

आर्य शिक्षण-संस्थाओं ने आर्य संस्कृति की अवश्य रक्षा की है, पर सरकार के शैक्षणिक विभाग की मान्यता प्राप्त करने के लिए आर्य हाईस्कूलों में भी यही सिखाया जाता है कि आर्य मध्य एशिया से आये थे, वे जंगली थे और क्रमशः देश में सभ्यता का विकास हुआ।

हमारी सरकार सेक्युलर है, अतः आर्य संस्कृति का शिक्षण वर्जित है तथा धर्म-शिक्षा भी वर्जित है। आज साम्यवादी नास्तिकवाद की राजनीति का संसार में बोलबाला है। उस समय भारत में आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाएँ शिक्षण का राष्ट्रीयकरण होने पर कैसे टिक सकेंगी ?

आज इस परिस्थिति में आर्यसमाज ने जिन आदर्शों से प्रेरित होकर आर्य शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित की थीं, वे सब भाव सरकार द्वारा राष्ट्रीयकरण करने के पश्चात् समाप्त हो

जायेंगे। इस परिस्थिति में आर्यसमाज के कर्णधारों को तथा शिक्षण-शास्त्रियों को अपने भविष्य के लिए गंभीर विचार करना होगा।

आज हमारी शिक्षण-संस्थाएँ सरकारी मान्यता तथा ग्रांट प्राप्त करके केवल परीक्षा के केन्द्र के रूप में परिवर्तित हो रही हैं। आज आर्यसमाज को नये युवक कार्यकर्ता हम नहीं दे पा रहे हैं। तीन करोड़ खर्च करके हम उज्ज्वल विद्यार्थी पैदा कर सके, पर उज्ज्वल कार्यकर्ता नहीं पैदा कर सके।

अभी-अभी जो नये शिक्षण-क्रम का ढाँचा बन रहा है उसमें संस्कृत अनिवार्य विषय नहीं रहेगा। हमारे गुरुकुल भी आकर्षण के स्थान नहीं रहे और सरकारी अनुदान प्राप्त करने के लिए वे भी भिन्न-भिन्न परीक्षाओं की तैयारी कराने में शक्ति खर्च कर रहे हैं।

तीन करोड़ वार्षिक खर्च करने पर भी आर्यसमाज को उसकी शिक्षण-संस्थाएँ युवक कार्यकर्ता नहीं दे रहीं, अतः आर्यसमाज को इस नयी परिस्थिति में शैक्षणिक संस्थाओं का भावि का रूप क्या हो, इस पर गम्भीर रूप से विचार करना होगा।

हे विद्यार्थीजनो! जैसे नदियाँ समुद्र को शोभित करती हैं वैसे ही विद्या और नम्रता से युक्त वाणियाँ आप लोगों को शोभित करें जिनके प्रताप से आप लोगों के मुख से सत्य और सबका हित-कारक वचन सदा ही निकले।

—महर्षि दयानन्द

विश्व में आर्यसमाज की शिक्षा-भावना का परिचय

श्री प्रोफेसर विष्णुदयाल
पोर्ट लुईस (मारीशस)

•

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ब्राह्मसमाज की स्थापना की गयी और अंत में आर्यसमाज की नींव रखी गयी (यदि ब्राह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय का विलायत में देहांत न होता जहाँ उनकी समाधि है, वहाँ उनका आज कोई नामलेवा न रहता)। पश्चिम में वेदज्ञ वेदों के अनुवाद करने लगे थे, फ्रांस में लांग्लवा साहब ऋग्वेद को फ्रेंच में १८५० में ही रूपांतरित कर चुके थे और स्वीकार कर गये थे कि उक्त वेद में वर्णित दो पक्षियों में से एक परमात्मा है जबकि दूसरा आत्मा है। मेक्समूलर भी रूपांतरकार थे। उधर ज्यों ही सुनने में आया कि भारत में वेदों के पंडित ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य प्रकाशित होने लगे तो उनको देखने की उत्सुकता हुई। ऋषि-कृत वेद-भाष्य के ग्राहकों में से यूरोपीय संस्कृतज्ञ भी थे। मूलर को वेद का जो ज्ञान था, वह अधूरा ही था। वे क्योंकर असली भाष्यकार से सहमत होते ? फिर भी अन्त में उन्होंने ऋषि की जीवनी लिखी। अनेक अँग्रेज़ों ने उसी को पढ़कर आर्यसमाज क्या है, उसका ज्ञान प्राप्त किया।

इस सदी में रोमाँ रोलाँ की कृपा से फ्रांस में तथा ग्लाजनाप की मेहरबानी से जर्मनी में आर्यसमाज की चर्चा होने लगी। जर्मन भाषा में ही नहीं, फ्रेंच में भी 'सत्यार्थ प्रकाश' का रूपांतर हुआ। जहाँ अँग्रेज़ी में भारतीयों ने इस पुस्तक का अनुवाद किया वहाँ फ्रेंच में फ्रांस की एक योग्य महिला ने इसका अनुवाद किया।

इसी शती के उतरार्द्ध के प्रथम दशक में 'आर्य समाज' शीर्षक से लंदन की विश्व-विश्रुत पत्रिका 'कोंटेम्पोरेरी रिव्यू' में एक लंबा लेख प्रकाशित हुआ जिसे डॉ० राधाकृष्णन ने पढ़ा। उसका असर अचूक रहा। लंदन ही के प्रसिद्ध प्रकाशन-गृह 'लोंगमेन्स' ने एक कोश छापा, जिसमें आर्यसमाज का उल्लेख है जबकि ब्राह्मसमाज का नाम उसमें कहीं भी नहीं आया है।

पश्चिमीय उपन्यास तथा कहानी पढ़ना खूब पसंद करते हैं। वहाँ के उपन्यासों में भी आर्यसमाज चर्चित है। नैवोल नामक प्रवासी भारतीय, जिनका जन्म त्रिनीदाद में हुआ है, अँग्रेजी के उत्तम लेखक हैं। उनके कहानी और उपन्यास को अँग्रेजी-भाषी पढ़ा करते हैं, क्योंकि उनमें प्रवासी भारतीय जीवन पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है।

उनके एक उपन्यास के अनेक पृष्ठ आर्यसमाज के बारे में हैं। उसके नायक का नाम

विश्वास है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय ने उस पुस्तक को किसी कक्षा के पाठ्यक्रम में रखा है, जिससे परीक्षार्थी तक पूछताछ करते रहते हैं कि किनको 'आर्यन' कहा जाता है। उसमें आर्य-समाज के मुख्य सिद्धांतों का महत्व दर्शाया गया है। नयी पीढ़ी इस बात के कारण अपनी खुशी जाहिर करती है कि आर्यन् लोग मानते हैं कि वर-वधू बनने वालों को एक-दूसरे को जानना चाहिए। दाम्पत्य-जीवन में उन आत्माओं का, जो एक-दूसरे से अपरिचित हैं, मेल नहीं होना चाहिए।

प्रवास में अफ्रीकियों के वंशज भी पाये जाते हैं, जिन्हें क्रिओल नाम से पुकारा जाता है। पुराने विचार वाले, नैपोल के कथनानुसार, फबती कसकर आर्यन् लोगों को समय-असमय कहते रहते हैं कि इनको शुद्ध करके समाज में ले लिया जाये तो उसकी शोभा बढ़ेगी।

नैपोल स्वर्गीय पं० जैमिनी की ओर संकेत करते हैं। वे लिखते हैं कि ये आर्योपदेशक कद के छोटे थे, इनमें वक्तृत्व शक्ति थी। ये प्रवचन के हो जाने पर साहित्य प्रचार करते थे। उनके नवीन साहित्य की घर-घर में चर्चा होती थी।

पंडितजी जो संन्यासी होने पर स्वामी ज्ञानानन्द नाम से जाने जाते थे, हिन्दी और अँग्रेजी में पुस्तकें लिखा करते थे। 'वेदों का महत्व', 'उपनिषदों का महत्व', 'संस्कृत भाषा का महत्व', 'ऋषि दयानन्द का संसार पर जादू'——ये इन पुस्तकों के नाम थे।

प्रवासियों के मध्य पधारकर उन्होंने दयानन्द जन्मशती के दिनों में हजारों को समाज का संदेश दिया था। वे प्रचार करने निकले थे और आज उपन्यासों तक में उनकी ओर इशारा किया जा रहा है। जब वे पंजाब विश्वविद्यालय के स्नातक बने थे, थोड़े ही पंजाबियों को बी०ए० की उपाधि प्राप्त हुई थी। नैपोल ने उन्हें पंकज राय बी० ए०, एल-एल० बी० नाम दिया।

लाला लाजपतराय आर्यसमाज के कर्णधार हुए। उन्होंने अँग्रेजी में आर्यसमाज का इतिहास लिखा, जिसके तीन संस्करण छपे हैं। वह ग्रंथ सर्वप्रथम लंदन में प्रकाशित हुआ था।

नैपोल की किताब सावधानी से पढ़ी जाये तो पाठकों को ज्ञात होगा कि लेखक को प्रवा-सियों में धर्म-प्रचार का अभाव खटकता है। वे बताते हैं कि आर्यन् बने हुए प्रवासी उन हिन्दुओं को जो सनातनी थे, समझाते थे कि ईसाई विद्यालय में युवकों को भेजना खतरे से खाली नहीं है। हिन्दूजन अपने इन परामर्शदाताओं से रुष्ट होते थे और कहते थे कि हम अपने बच्चों को शिक्षा से वंचित नहीं रखेंगे। वे हिन्दू धर्म से विमुख होते जा रहे थे और आर्यसमाज के सदस्य उन्हें ईसाइयों के चंगुल से मुक्त करने में प्रयत्नशील थे। ऐसे हिन्दुओं की अब भारत में भी संख्या न्यून नहीं है, जहाँ लाखों की संख्या में हिन्दुओं का हर साल ईसाईकरण किया जा रहा है। भारत में भी आर्यसमाज ही इस मोर्चे पर संघर्ष करता है। शिक्षा-प्रचार करने के बहाने से ईसाई हिन्दुओं पर हमला करते हैं। नियोगी प्रतिवेदन में ये पंक्तियाँ मिलती हैं :

"रिच्टर ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ क्रिश्चियन मिशन्स' में लिखा है कि 'भारत के लिए एक नये युग का समारम्भ हुआ है। लोग शिक्षा के लिए लालायित हैं। क्या मिशन वाले अपने कार्य को अपने आप तक ही सीमित रखेंगे और इस जागृति से कोई लाभ न उठायेंगे? अथवा वे इसमें अपना स्थान ग्रहण करेंगे और अंत में इस आंदोलन के नेता बन जायेंगे तथा इसको एक ऐसा साधन बना लेंगे कि जिससे समूचे भारत को ईसाई बनाया जा सके?' इसी पुस्तक में आगे जाकर लिखा है कि मिशन वालों के लिए यह कोई आदेशात्मक अथवा आवश्यक नहीं है कि वे अँग्रेजी साहित्य, इतिहास, गणित अथवा प्राकृतिक विज्ञान इत्यादि की शिक्षा का प्रचार

करें। मिशन वालों का मूल कर्तव्य यह है कि वे गैर-ईसाई लोगों में बाइबिल का प्रचार करें।"

यह तो षड्यंत्र है। आर्यसमाज उसका भंडा फोड़ने के लिए आया। कवि मैथिलीशरण गुप्त ने क्या ही ठीक कहा है—

"आर्यसमाज !
आर्य भूमि का अरुणोदय-सा,
उठा उष्ण, तू सज कर साज।
अंधकार था चारों ओर,
देख लिया पर, तूने चोर;
घर में शोर मचाया घोर।"

०

विद्वानों के योग्य है कि विद्या के प्रचार के लिए मनुष्यों को निरंतर अंग, उपांग, रहस्य, स्वर और हस्तक्रिया सहित वेदों का उपदेश करे और मनुष्यमात्र इन विद्वानों से सब वेद विद्या को साक्षात् करें।

—महर्षि दयानन्द

श्रीमती एनी बीसेंट द्वारा आर्यसमाज के शिक्षा-कार्य का अभिनंदन

श्री रघुनाथप्रसाद
सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली

एनी बीसेंट के 'दि नेशनलिटी फार रिलीजस एजुकेशन' विषय पर मद्रास में २६ फरवरी, १६०८ को दिये गये सुप्रसिद्ध व्याख्यान में आर्यसमाज की लोकशिक्षा के स्वस्थ उद्देश्य की सही झाँकी का दिग्दर्शन होता है, जिसके स्वरूप का संसार-व्यापी अभिनंदन हुआ है। व्याख्यान का सार इस प्रकार है :

'भारत में ऐसी राष्ट्रीय शिक्षाप्रणाली की स्थापना होनी चाहिए जिसमें धार्मिक पाठ्यक्रम का समावेश हो। मातृभाषा का प्रयोग किया जाये और राष्ट्रीय गौरव और महत्ता के प्रति आस्था उत्पन्न हो। इस शिक्षा-योजना में भारतीय संस्कृति, भारतीय दर्शन, भारतीय इतिहास और भारतीय साहित्य को प्रथम स्थान दिया जाये। विदेशी ज्ञान और विदेशी विषयों को दूसरा स्थान प्राप्त हो। मौलिक चिंतन और सृजनात्मक प्रतिभा को स्वतंत्र क्षेत्र प्राप्त हो सके, इस हेतु बालक पर विदेशी अँग्रेजी भाषा के माध्यम को लादा जाना ठीक नहीं है। प्रत्येक पाठशाला में संस्कृत अनिवार्य विषय होना चाहिए (जैसे लैटिन भाषा यूरोपीय पाठशालाओं में है)। वह अनेक भारतीय भाषाओं और पाली भाषा की जननी है। उसमें भारतीय साहित्य के बड़े-बड़े रत्न भरे पड़े हैं और उसका ज्ञान प्रत्येक भारतीय भद्र पुरुष की शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए। यह ज्ञान राष्ट्रीय एकता उत्पन्न करने वाला सिद्ध होगा, क्योंकि समान भाषा राष्ट्रीयता का एक सबसे शक्तिशाली तत्त्व होता है।

धर्म को विभाजन करने वाला नहीं, एकता के सूत्र में बाँधने वाली शक्ति बनाओ। धर्म को राष्ट्रीयता का निर्माता बनाओ, राष्ट्र का खंड-खंड करने वाला नहीं।

शिक्षा बुनियाद है। बिना शिक्षा के हम स्वतंत्रता के योग्य नहीं हैं। बिना शिक्षा के हम कभी नागरिक के कर्तव्य नहीं सीख सकते। बिना शिक्षा के कोई भौतिक समृद्धि नहीं है, कोई बौद्धिक वैभव नहीं है।'

थियोसोफीकल सोसाइटी के संस्थापकों पर महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का प्रभाव रहा था। यदि थियोसोफीकल सोसाइटी की एक अग्रणी श्रीमती एनी बीसेंट भारत में राष्ट्रीय

एवं धार्मिक शिक्षा का पृष्ठपोषण करें और लोकशिक्षा के प्रसार एवं निरक्षरता के निवारण पर बल दें, शिक्षा का ध्येय भद्र पुरुषों, देवियों और नागरिकों की सृजना बतायें, मातृभाषा एवं संस्कृत के माध्यम को छात्र-छात्राओं में स्वभाषा-स्वदेश, स्व-संस्कृति के प्रति अनुराग पैदा करने वाला प्रतिपादित करें तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि आर्यसमाज की शिक्षा-योजना के प्रायः यही उद्देश्य हैं और रहे हैं। इस तथ्य को थियोसोफीकल सोसाइटी की इस अग्रणी के शिक्षा और स्वराज्य-विषयक विचारों तथा योजनाओं को समीक्षकों ने इस प्रकार स्पष्ट किया है :

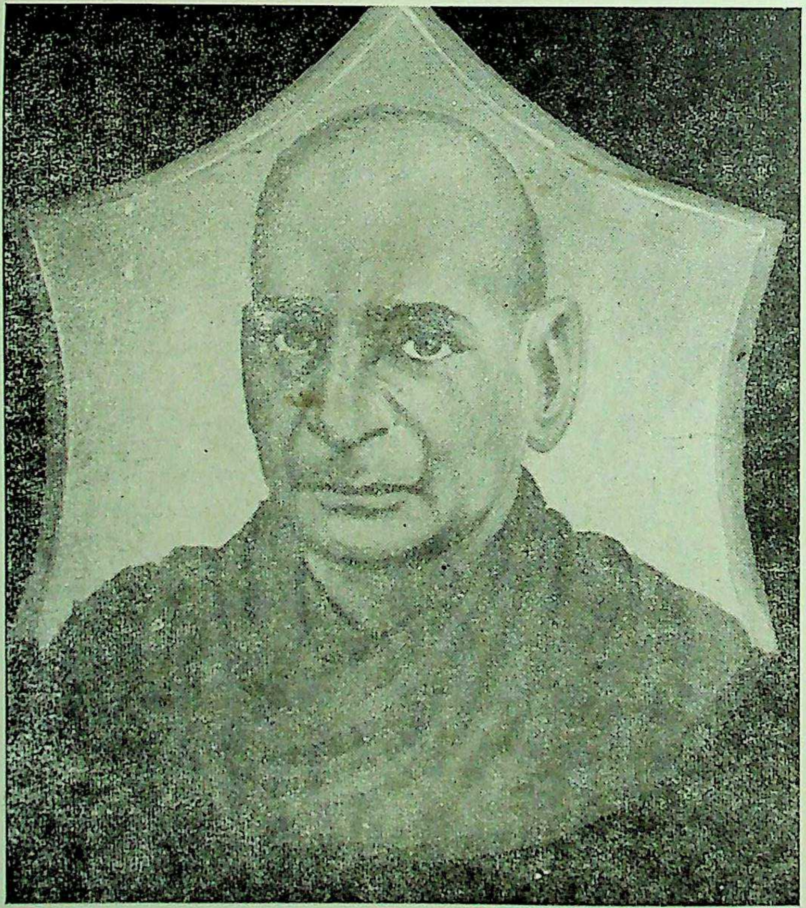
"भारत में एनी बीसेंट और थियोसोफीकल सोसाइटी का सबसे महान् योगदान राष्ट्रीय शिक्षा की संस्थापना रहा है। इस दिशा में थियोसोफीकल सोसाइटी का कार्य आर्यसमाज के बहुत-कुछ समीप रहा। यह बात अवश्य है कि आर्यसमाज की गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली उग्र राष्ट्र-वाद की ओर झुकी रही और थियोसोफीकल सोसाइटी की शिक्षा-प्रणाली का झुकाव साम्य राष्ट्रवाद की ओर रहा।"

—भारत के राजनैतिक पुनर्जागरण पर धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव, पृष्ठ १२१-२२

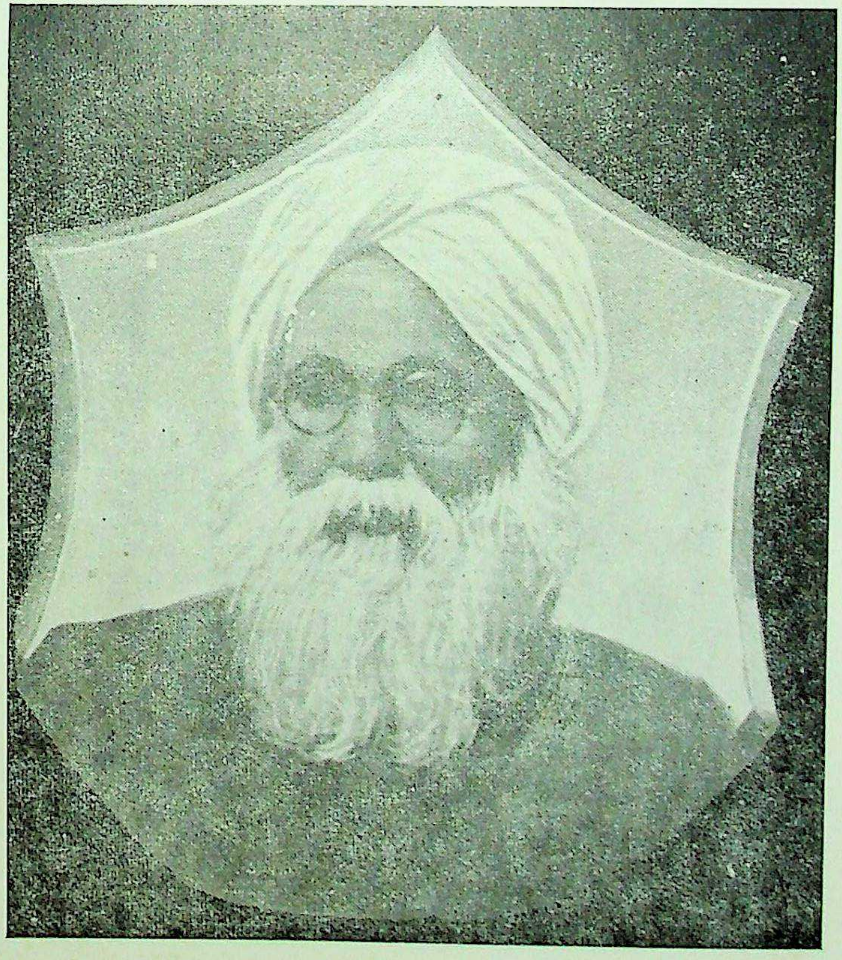
एनी बीसेंट को यह भान हो गया था कि विद्यमान शिक्षा-प्रणाली इस देश का राष्ट्रीय विकास कदापि नहीं कर सकती। आर्यसमाजियों की भाँति एनी बीसेंट ने देश के लिए धार्मिक और नैतिक शिक्षा की आवश्यकता अनुभव की।

आर्यसमाज ही पहला धार्मिक संगठन था, जिसने सरकारी सहायता प्राप्त किये बिना गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को मूर्त्त रूप देने की पहल की तथा महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के आदर्शों पर लोक-शिक्षा का कार्य हाथ में लिया। देश-विदेश में शिक्षा-संस्थानों का जाल बिछा-कर अन्य संगठनों, यहाँ तक कि प्रशासन का भी मार्ग-दर्शन किया। आर्यसमाज ने ही शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरी भावना का सूत्रपात करके उसका प्रसार किया और शिक्षा के कार्य को विशेष महत्व एवं गौरव प्रदान किया। आर्यसमाज ने गुरुकुलों (लड़कों-लड़कियों दोनों के), पाठ-शालाओं, प्राइमरी स्कूलों, हाई स्कूलों और कालेजों ने देश को एवं समाज को श्रेष्ठ मानव, उत्तम नागरिक, संस्कृति तथा देश के प्रेमी, सुयोग्य विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार, कर्मठ एवं ईमानदार कार्यकर्ता देने का श्रेय प्राप्त किया और इस प्रकार एनी बीसेंट के इस स्वप्न को भी साकार रूप देने में सर्वाधिक योगदान किया है कि भारत के महान् नागरिकों के रूप में विकसित हुए लड़के-लड़कियाँ ऐसे भारत में जीवन व्यतीत करेंगे जो शक्तिशाली, समृद्ध और स्वतंत्र होगा और जो उन लोगों की ओर मुड़कर देखेंगे, जिन्होंने अंधकार के दिनों में प्रकाश उड़ेला और धार्मिक शिक्षा दी, जो एकमात्र अच्छे नागरिक और महापुरुष बनाने का साधन होती है।

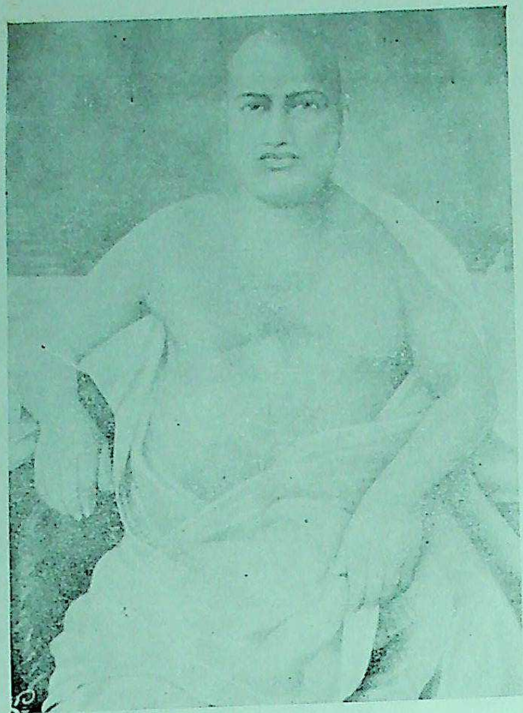
●



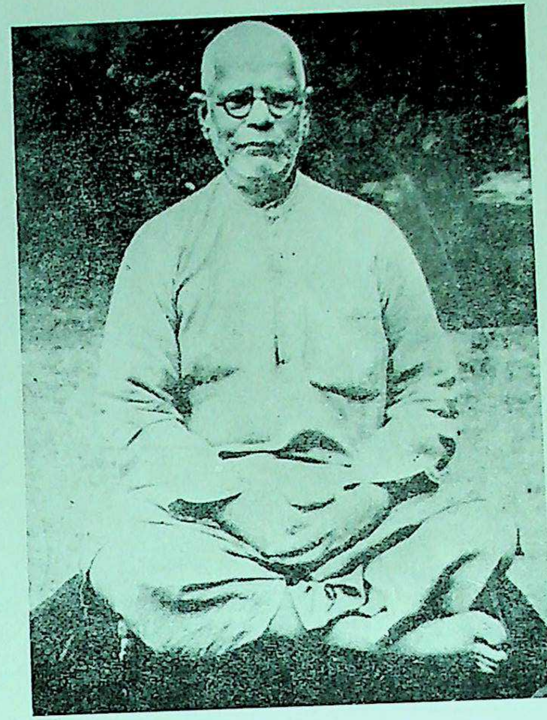
अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द
गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक एवं गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को मूर्त्तरूप देने वाले
अग्रणी आर्य नेता



त्यागमूर्त्ति महात्मा हंसराज
डी० ए० वी० आन्दोलन की अमर आत्मा



आर्यसमाज के तार्किक विद्वान् श्री स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती आपने आजीवन आर्यसमाज का प्रचार-कार्य किया। आप एक कुशल वक्ता एवं तार्किक शास्त्रार्थ महारथी थे। आपने कई गुरुकुलों की स्थापना की थी। कन्या गुरुकुल हाथरस की स्थापना भी आपकी ही प्रेरणा से हुई थी।



आर्यसमाज के मूर्धन्य नेता आदरणीय महात्मा नारायण स्वामी आपने एक समर्पित जीवन की भावना से आर्यसमाज का कार्य किया। उसके संगठन, प्रचार एवं प्रसार में आपका योगदान बहुत महत्वपूर्ण है। आप वर्षों गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता भी रहे। उसकी नींव सुदृढ़ करने और सर्वांगीण विकास में आपने अविस्मरणीय योगदान दिया।

आर्यसमाज के शिक्षा-कार्य का आरंभ और विकास

श्री उमेशचन्द्र स्नातक

महर्षि दयानन्द सरस्वती मंत्रदृष्टा तो थे ही, युगस्रष्टा भी थे। उन्नीसवीं शती में भारत के चरम पराभव काल में उनका आविर्भाव हुआ। हम राजनैतिक दृष्टि से परतंत्र, सामाजिक दृष्टि से पददलित, धार्मिक दृष्टि से पाखंड और अज्ञानान्धकार जटित तथा शैक्षिक दृष्टि से विपन्न थे। उस समय तक शिक्षा पर ईसाई स्कूलों का प्रायः एकाधिकार-सा था, जो शिक्षा के नाम पर अपना धर्म-प्रचार करते थे। महर्षि ने जटिल और असाध्य माने जाने वाले इस राष्ट्र-रोग का विप्रकृष्ट निदान निर्धारित कर 'वेदों की ओर लौटो' के सद्घोष के साथ स्वराज्य, स्वदेश, स्वभाषा, स्वधर्म, स्ववेश, स्वसंस्कृति का ऐसा अभिनव मंत्र दिया कि विश्व विस्मित हो उठा। ऋषिराज ने भारतीय अस्मिता के समुन्नयन के लिए पाखंड-विखंडन एवं सामाजिक क्रांति का आह्वान किया तथा उन्नति के मूलाधार शिक्षा-प्रसार पर बल दिया। उन्होंने आर्य-समाज के आठवें नियम में लिखा—'अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।' उपनिषद् के 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' का भी वास्तविक अर्थ यही है कि अज्ञान नाश होने पर मानव दुःखों से छूट सकता है। 'सत्यार्थ प्रकाश' में जिन शिक्षा-सूत्रों पर विचार किया गया है, उनमें से कतिपय इस प्रकार हैं—

१. बाल्यावस्था में अनिवार्य शिक्षा।
२. बालक-बालिकाओं की पृथक्-पृथक् शिक्षा।
३. निःशुल्क शिक्षा।
४. धार्मिक शिक्षा।
५. गुरु-शिष्य के आदर्श संबंध।
६. वैज्ञानिक शिक्षा, सृष्टि नियमों का ज्ञान।
७. भूत-प्रेतादि की भ्रांत भावना को समाप्त करना।
८. शिल्प शिक्षा।
९. शिक्षा का उद्देश्य : मानव-निर्माण।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने जीवनकाल में पाँच पाठशालाओं की स्थापना की, परंतु उद्देश्य पूर्ति न होते देख उन्हें बंद कर दिया। उन्होंने आर्यसमाज का सार्वभौम संगठन

स्थापित किया तथा घोषणा की कि आर्यसमाज का प्रत्येक सदस्य मेरे कार्य को पूर्ण करेगा।

ऋषि-निर्वाण के बाद लाहौर में पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने महर्षि की स्मृति में विद्यालय की स्थापना का प्रस्ताव रखा। विद्यालय का नाम डी० ए० वी० रखना निश्चित हुआ। डी० से दयानन्द की स्मृति सुरक्षित रहेगी, ए० से ऐंग्लो, आधुनिक आंग्लभाषा और पश्चिमीय भौतिक विज्ञान का समावेश होगा, वी० से वैदिक पूर्वीय दर्शन और शिक्षा का समन्वय किया जायेगा। इस प्रकार डी० ए० वी० स्थापना आर्यसमाज के शिक्षा-क्षेत्र का भावी कार्यक्रम बन गया।

इसी प्रकार महर्षि की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की बैठक में भी भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् न्यायाधीश श्री रानाडे ने प्रस्ताव रखा कि स्वामीजी महाराज के नाम पर दयानन्द आश्रम बनाया जाये, जिसमें पुस्तकालय, अँग्रेजी वैदिक पाठशाला, अनाथाश्रम, विक्रयार्थ पुस्तकों का भंडार, अद्‌भुत वस्तु संग्रहालय, यन्त्रालय, व्याख्यानगृह रहें। प्रथम अधिवेशन में उपस्थित सभासदों ने इस कार्य की पूर्त्यर्थ चौबीस सहस्र रुपये की राशि देना स्वीकार किया तथा कार्य को पूरा करने के लिए व्यवस्थित योजना बनाने का निश्चय किया। सभा के द्वितीय अधिवेशन में जब दयानन्द आश्रम का विचार पुनः प्रस्तुत हुआ तब राजा जयकिशनदास ने प्रस्ताव किया कि आगरा कालेज, आगरा का प्रबन्ध ही सरकार से ले लिया जाये तथा उसे ही दयानन्द आश्रम का रूप प्रदान किया जाये, परंतु बाद में पृथक् रूप से ही आश्रम की योजना स्वीकार हुई। इस निश्चय के फलस्वरूप आर्यसमाज केसरगंज, अजमेर में आश्रम भवन का निर्माण आरंभ कर दिया गया। ३१ दिसंबर, १८८५ तक इस कार्य के लिए ४१,५५३ रुपये धन-संग्रह हुआ था।

आश्रम के अतिरिक्त उस समय तक आर्यसमाज, अजमेर ने एक पाठशाला भी स्थापित कर दी थी। उसी पाठशाला को परोपकारिणी सभा ने अपनी पाठशाला मान लिया और उसकी उन्नति में सहयोग दिया। इस पाठशाला के प्रथम अध्यापक श्री हरविलास शारदा थे। इस पाठशाला का प्रारंभिक नाम डी० ए० ए० वी० (दयानन्द आश्रम ऐंग्लो वैदिक स्कूल) रखा। बाद में इसका नाम डी० ए० वी० कालेज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, जो आज भी अजमेर की प्रमुख संस्था है। कालांतर में इस संस्था का प्रबंध परोपकारिणी सभा ने छोड़ दिया और आर्यसमाज, अजमेर की ओर से ही इसकी व्यवस्था की गयी।

इसी प्रकार पंजाब में आर्यजनों ने पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के प्रस्ताव पर डी० ए० वी० स्कूल स्थापित करने का निश्चय कर लिया था। १ जून, १८८६ को दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज, लाहौर की स्थापना कर दी गयी। अगस्त १८८६ में दयानन्द कालेज कमेटी की रजिस्ट्री हो गयी। दयानन्द के विद्या स्मारक के उद्देश्यों का वर्णन निम्नस्थ किया गया—

१. राष्ट्रीय भाषाओं के स्वाध्याय को उत्साहित किया जाये और शिक्षित लोगों को एक श्रृंखला में बाँधा जाये।
२. प्राचीन संस्कृत के अध्ययन पर जोर देकर सदाचार और धर्म संबंधी ज्ञान को फैलाया जाये।
३. नियमपूर्वक जीवन द्वारा स्वास्थ्य और शक्ति-संपन्न जीवन को पैदा किया जाये।
४. अँग्रेजी साहित्य से पर्याप्त परिचय पैदा किया जाये।
५. भौतिक और क्रियात्मक विज्ञान के प्रचार द्वारा देश की आर्थिक उन्नति को सहायता दी जाये।

यह घोषणा निर्माण से पूर्व की गयी थी। संस्था के बन जाने पर जब सोसायटी को रजिस्टर्ड कराया गया, उस समय संस्था के निम्नांकित उद्देश्य लिखे गये—

१. हिन्दी साहित्य के अध्ययन को उत्साहित, उन्नत और आवश्यक करना।
२. प्राचीन संस्कृत और वेद के अध्ययन को उत्साहित और आवश्यक करना।
३. अँग्रेजी साहित्य, कल्पनात्मक तथा क्रियात्मक विज्ञान को उत्साहित और आवश्यक करना।

डी० ए० वी० स्कूल की भावना का सर्वत्र स्वागत हुआ और स्कूल शीघ्र ही कालेज बन गया। श्री हंसराजजी को उसका प्रिंसिपल बनाया गया। कालेज में श्री भाई परमानन्द, श्री लाला लाजपतराय जैसे राष्ट्रीय व्यक्ति प्रोफेसर बने। लालाजी तो सोसायटी के प्रमुख संचालक ही बन गये थे।

सोसायटी की ओर से कालेज की शाखाओं के रूप में आयुर्वेद विद्यालय, शिल्प विद्यालय (इंजीनियरिंग) और उपदेशक विद्यालय भी खोले गये। इस प्रकार कालेज की चहुँमुखी उन्नति हुई।

श्री पं० गुरुदत्त विद्यार्थी और उनके साथी कालेज की प्रगति के साथ-साथ उसमें संस्कृत के प्रति निष्ठा और प्रगति की अपेक्षा रखते थे, परंतु इस दिशा में उन्हें पर्याप्त निराशा हुई और आर्यजनों में निराशा एवं मतभेद प्रारंभ हो गये। प्राचीनतावादी और अँग्रेजी के समर्थकों में यह मतभेद क्रमशः बढ़ता गया।

डी० ए० वी० कालेज की ओर से एक दयानन्द आश्रम भी स्थापित किया गया था, जिसमें उपदेशक बनने वाले व्यक्ति मुख्य रूप से रहते थे। यह आश्रम इस विरोध के वातावरण में लाहौर से जालंधर चला गया और वहीं श्री मुंशीरामजी द्वारा निमंत्रित श्री पं० गंगादत्तजी के आचार्यत्व में चलने लगा।

शनैः-शनैः डी० ए० वी० में आधुनिकतावादियों का प्रभाव बढ़ गया और संस्कृतवादी गुरुकुल प्रणाली के समर्थक रूप में सामने आ गये।

१८९२ में श्री मुंशीरामजी आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान बने और १८९४ में आर्यसमाज का विभाजन हो गया। एक पक्ष श्री हंसराजजी के साथ हो गया और दूसरा पक्ष श्री मुंशीरामजी के साथ रहा। आर्य प्रतिनिधि सभा में मुंशीरामजी का बहुमत था। अतः कालेज-समर्थक पृथक् हो गये और एक नयी प्रादेशिक सभा का गठन कर लिया। प्रादेशिक सभा ने डी० ए० वी० कालेज प्रणाली का प्रबल समर्थन किया।

आर्य प्रतिनिधि सभा वालों के हाथ में कोई संस्था न थी, परंतु वे गुरुकुल भावना के समर्थक थे। जालंधर का दयानन्द आश्रम वहाँ से हटाकर गुजराँवाला में एक पाठशाला के रूप में ले जाया गया।

१८९८ में मुंशीरामजी ने आर्य प्रतिनिधि सभा में गुरुकुल स्थापना का प्रस्ताव पारित करा लिया। उसी वर्ष गुरुकुल के लिए तीस सहस्र रुपये एकत्र करने की घोषणा कर वे घर से निकल पड़े। १९०० में चालीस हजार रुपया एकत्र हो गया।

२३ मई, १९०० को श्री मुंशीरामजी ने गुजराँवाला की पाठशाला को गुरुकुल का नाम दे दिया। पंजाब में गुरुकुल नाम की यह पहली संस्था थी। श्री मुंशीरामजी ने अपने दोनों पुत्र

उसमें प्रविष्ट करा दिये थे। उन्होंने अपनी कोठी भी गुरुकुल के लिए दान में देने की घोषणा कर दी थी।

गुरुकुल का जो स्वरूप मुंशीरामजी चाहते थे, उसके लिए उपयुक्त स्थान की खोज प्रारंभ हो गयी। लाहौर, अमृतसर तथा गुजराँवाला के प्रस्ताव सफल न हुए। मुंशीरामजी ने बिजनौर के श्री अमनसिंहजी द्वारा कांगड़ी ग्राम की भेंट स्वीकार कर, गंगा के तट पर हिमालय की तलहटी में गुरुकुल खोलने की घोषणा कर दी। तैयारियाँ आरंभ कर दी गयीं और १९०२ में गुरुकुल का आश्रम वहाँ आरंभ हो गया। इस प्रकार एक नये युग का आरंभ हुआ। श्री आचार्य गंगादत्तजी गुजराँवाला से २४ ब्रह्मचारियों सहित वहाँ पहुँच गये।

उत्तरप्रदेश में स्वामी दर्शनानन्दजी के प्रचार-प्रभाव से सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में १८९८ में ही गुरुकुल की स्थापना हो गयी थी। इस प्रकार उत्तर प्रदेश और पंजाब में गुरुकुल आंदोलन आरंभ हो गया।

गुरुकुल आंदोलन में प्राचीन भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय गौरव की भावना निहित थी, संस्कृत का प्रचार और वैदिक धर्म के अनुसार उत्कृष्ट नागरिक तैयार करने की व्यापक अभिलाषा थी। कपिल, कणाद, वाल्मीकि, व्यास के भारत की कल्पनाएँ साकार हो उठी थीं। गुरुकुल संस्थापकों ने जिन आदर्शों की घोषणा की थी, वे संक्षेप में इस प्रकार थे—

१. ब्रह्मचर्य की पुरातन विधि को पुनरुज्जीवित कर शिक्षा का आधार बनाना।
२. ब्रह्मचारी को उपयुक्त वातावरण में रखकर उसके शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास में पूर्ण योग देना।
३. ब्रह्मचारियों के सुदृढ़ चरित्र का विकास कर उनमें अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम का संचार करना तथा सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श से प्रेरित करना।
४. गुरु एवं शिष्य के मध्य पिता-पुत्र जैसे संबंधों की स्थापना करना।
५. वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य एवं मातृभाषा को शिक्षा-पद्धति में उचित स्थान देना।
६. पुरातन शिक्षा-शास्त्रों के अध्ययन के लिए सुविधाएँ प्रदान करना, जो अँग्रेजी साहित्य एवं विज्ञान के भी अनुरूप हो।
७. वर्तमान शिक्षा-पद्धति के परीक्षा-संबंधी दोषों को समाप्त कर नवीन शिक्षा-पद्धति का प्रचलन करना।
८. निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था करना।
९. ब्रह्मचारियों को पुरातन भारतीय इतिहास का अन्वेषणात्मक पद्धति द्वारा अध्ययन कराकर राष्ट्रीय दृष्टिकोण का विकास करना।

इन आदर्शों को व्यावहारिक रूप देना बड़ा कठिन कार्य था। आदर्शों को लेकर कई विवाद उठ खड़े हुए। एक सैद्धांतिक विवाद यह था कि ब्रह्मचारियों से किसी प्रकार का भी शुल्क नहीं लेना चाहिए। व्यावहारिक मध्य मार्ग यह था कि शिक्षा का कोई शुल्क न लिया जाये, भोजन तथा प्रबंध-व्यय लिया जाये।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती निःशुल्क गुरुकुल के पक्ष में थे। जब गुरुकुल कांगड़ी स्थापित हुआ तब उन्होंने ज्वालापुर में गुरुकुल महाविद्यालय खुलवा दिया। गुरुकुल कांगड़ी में

पठन-पाठन व्यवस्था, आश्रम-जीवन में भी व्यावहारिक परिवर्तन किये गये, अँग्रेजी को भी पाठ्यक्रम में स्थान मिला, पर निःशुल्क पद्धति के समर्थक संस्कृत पर ही अधिक जोर देते रहे।

एक भेद पाठ्यक्रम में आर्ष-अनार्ष ग्रंथों के समावेश को लेकर भी आरम्भ हुआ। एक पक्ष पाठविधि में संस्कृत के प्रामाणिक एवं साहित्यिक ग्रंथों को भी स्थान देना नहीं चाहता था, केवल आर्ष ग्रंथों का ही समर्थक था, परन्तु आर्ष ग्रंथों के ज्ञाता अध्यापकों और समर्थकों के अभाव में उपयोगी सभी ग्रंथों का पाठविधि में समावेश ही मध्य मार्ग था। उस समय तथा बाद में अधिकांश गुरुकुलों ने इसी मार्ग को अपनाया और शिक्षा-प्रचार में लग गये। संस्कृत की परीक्षाओं के लिए छात्र तैयार करने वाले अधिकांश संस्कृत विद्यालय इसी पद्धति पर आगे बढ़े। यह बात अवश्य रही कि सामान्य पाठविधि वाले भी आर्ष ग्रंथों के दृष्टिकोण का सैद्धांतिक समर्थन करते रहे।

आर्य जनों में गुरुकुल आन्दोलन के प्रति नवीन उत्साह बढ़ा। यद्यपि उत्तर प्रदेश में सिकन्दराबाद में १८९८ में ही गुरुकुल स्थापित हो चुका था, परन्तु उसका प्रबन्ध स्थानीय था। बाद में उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल स्थापना का निश्चय किया। इस समय एक विचार यह भी था कि समस्त आर्य जगत् का एक ही गुरुकुल रहे। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के साथ गुरुकुल कांगड़ी के संचालन में समानता के आधार पर साझेदारी करने का प्रस्ताव भी किया, परन्तु पंजाब सभा ने थोड़े विचार-विमर्श के बाद इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अतः विवश हो उत्तर प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपने स्वतन्त्र गुरुकुल का विकास आरम्भ कर दिया। १ दिसम्बर, १९०५ को सभा ने गुरुकुल सिकन्दराबाद का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया। १७ सितम्बर, १९०७ को यह गुरुकुल फर्रुखाबाद में स्थानान्तरित हुआ। इसी समय श्री हुकुमसिंहजी तथा श्री नारायणप्रसादजी (महात्मा नारायण स्वामीजी) आदि के प्रयास से देशभक्त राजा महेन्द्रप्रतापजी ने अपना वृन्दावन का बाग सभा को गुरुकुल के लिए दान में दे दिया और १६ दिसम्बर, १९११ को गुरुकुल वृन्दावन में आ गया।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के ग्यारहवें वर्ष में आर्यसमाज के तीन बड़े गुरुकुल अस्तित्व में आ चुके थे—

१. गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा संचालित)
२. गुरुकुल, वृन्दावन (आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश द्वारा संचालित)
३. गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर (महाविद्यालय सभा द्वारा संचालित)।

इसके अतिरिक्त सिकन्दराबाद, गुजराँवाला, बदायूं, बिरालसी आदि में स्थानीय समितियों द्वारा गुरुकुल संचालित होते रहे। बाद में स्वामी श्रद्धानन्द और स्वामी दर्शनानन्दजी के प्रयास से देश-विदेश में गुरुकुलों की स्थापना होने लगी, जिनकी संख्या १९४७ में १०० तक पहुँच चुकी थी।

आर्यसमाज के शिक्षा-कार्यक्रम में स्त्री-शिक्षा का भी अपना विशेष स्थान है। कन्या-शिक्षा-क्षेत्र में सन् १८८६ से ही प्रयत्न प्रारम्भ हो गये थे। २६ दिसम्बर, १८८६ को आर्यसमाज जालन्धर की अन्तरंग सभा ने प्रस्ताव पारित किया कि एक 'जनाना स्कूल' खोला जाये। पहले लाला देवराजजी के घर पर ही कन्या-शिक्षा का कार्य चलता रहा। ३० अगस्त, १८८९ में

विद्यालय स्थापना के लिए आर्यसमाज ने पुनः प्रस्ताव किया कि आर्यसमाज की ओर से गर्ल्स स्कूल खोला जाये। कमेटी भी बनी, पर योग्य अध्यापिकाओं के अभाव में कार्य प्रारम्भ न हो सका। ५ जुलाई, १८९१ को तीसरी बार बड़े उत्साह के साथ यत्न किया गया और आठ कन्याओं से विद्यालय का प्रारम्भ हो गया। यह वह समय था जब किसी कन्या के हाथ में 'अक्षर दीपिका' का होना अपराध माना जाता था और उसकी सगाई छूट जाती थी। इस विद्यालय में कन्या को पढ़ने भेजने पर कहा जाता था कि आर्य लोग तो विधवाओं का भी विवाह करते हैं, हम कन्याओं को पढ़ने नहीं भेजेंगे। ऐसे कठिन समय में लाला देवराजजी ने इस मन्दिर की स्थापना की और स्वयं उसके पुजारी बने। इसे महाविद्यालय के रूप में विकसित किया। इसमें भारत की ही नहीं, विदेशों की भी भारतीय कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करने आने लगीं। लाला देवराजजी के अथक परिश्रम ने आर्यसमाज के स्त्री-शिक्षा कार्यक्रम को प्रेरणा दी। उत्तर भारत की सबसे प्रमुख और प्रसिद्ध शिक्षा-संस्था के रूप में कन्या महाविद्यालय, जालन्धर का ऐतिहासिक महत्व है।

कन्याओं को गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली से दीक्षित करने के प्रयास भी जारी रहे। सन् १९०९ में स्वामी दर्शनानन्दजी की प्रेरणा से कन्या गुरुकुल, (सासनी) हाथरस की स्थापना हुई। स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज रुग्णावस्था में आर्यसमाज, हाथरस में ठहरे हुए थे। हाथरस-निवासी श्री पं० मुरलीधरजी स्वामीजी के पास पहुँचे और सम्पत्ति-दान विषयक अभिलाषा प्रकट की। स्वामीजी बोले—

"भाई, धर्मशालाएँ-पाठशालाएँ तो चलती हैं, चल रही हैं, चलेंगी, परन्तु देश में कन्याओं का कोई गुरुकुल नहीं है। मैंने जिस प्रकार ब्रह्मचारियों के गुरुकुल स्थापित किये हैं, उसी प्रकार कन्याओं का भी एक गुरुकुल हो जाता तो अच्छा था।"

बात मुरलीधरजी को लग गयी, फलस्वरूप इस कन्या गुरुकुल की स्थापना हुई। योग्य कार्यकर्ताओं के अभाव में १९१४ में यह बन्द हो गया। तदनन्तर तपःपूता श्रद्धेया माता लक्ष्मीदेवीजी ने सन् १९३१ में इस गुरुकुल को पुनरुज्जीवित कर नारी-शिक्षा के क्षेत्र में महनीय योगदान दिया। तब से यह संस्था निरन्तर प्रगति-पथ पर अग्रसर है और अब अपना हीरक-जयन्ती समारोह मना रही है।

स्वामी श्रद्धानन्दजी की प्रेरणा पर दिल्ली के समीप आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब ने १९२३ में कन्या गुरुकुल की स्थापना कर दी। बाद में इसको देहरादून में स्थानान्तरित कर दिया गया। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सम्बद्ध संस्था के रूप में यह प्रशंसनीय कार्य कर रही है।

कन्या गुरुकुल, कनखल की स्थापना ठा० संसारसिंहजी ने की। वहाँ आयुर्वेद की शिक्षा का भी प्रबन्ध है। श्री योगेन्द्रपालजी शास्त्री एवं उनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रावतीजी संस्था का संचालन कर रहे हैं।

बड़ौदा में आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना पं० आत्मारामजी ने की। श्री पं० आनन्दप्रियजी संस्था के निर्माता एवं संचालक हैं। सौराष्ट्र और अफ्रीका में संस्था ने नारी-शिक्षा में महत्वपूर्ण योग दिया है।

पोरबन्दर में श्री नानजी भाई कालिदास मेहता ने सन् १९३६ में गुरुकुल महाविद्यालय की स्थापना की, जो उस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

इन कन्या गुरुकुल संस्थाओं के अतिरिक्त पंजाब और उत्तर प्रदेश में आर्य कन्या पाठ-

शालाओं की स्थापनाओं की बाढ़ आ गयी। प्रत्येक नगर में आर्यसमाज की ओर से कन्या पाठशाला स्थापित करने का विशेष प्रयास किया गया। पंजाब में ३०० और उत्तर प्रदेश में २५० आर्य कन्या पाठशालाएँ शिक्षा-क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। इस प्रकार गुरुकुल आन्दोलन से आरम्भ स्त्री-शिक्षा का कार्य कन्या पाठशालाओं तक विस्तृत हो गया।

भारत के शिक्षा-विकास में, विशेषकर स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का ऐतिहासिक योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा। सनातन धर्म के समर्थक जो स्त्री-शिक्षा के विरोधी थे, उन्होंने भी शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया और सनातन धर्म कन्या पाठशालाओं की स्थापना प्रारम्भ कर दी, यह आर्यसमाज की सैद्धान्तिक विजय की स्थायी घोषणा थी।

डी० ए० वी० आन्दोलन लाहौर से आगे बढ़कर पंजाब के सभी जिलों, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, दिल्ली आदि तक फैल गया और देश में डी० ए० वी० संस्थाओं की स्थापना होने लगी। देहरादून, लखनऊ, इलाहाबाद, कानपुर, अजमेर के डी० ए० वी० कालेज आर्यसमाज के प्रमुख कालेज बनकर शिक्षा जगत् के सम्मुख आये। हैदराबाद सत्याग्रह के बाद शोलापुर में डी० ए० वी० कालेज की स्थापना १६३६ में की गयी। फीजी, मारीशस, अफ्रीका आदि में आर्य शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना हुई, जिनसे आर्यसमाज के अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-कार्य का विस्तार हुआ।

डी० ए० वी० कालेज के संस्थापक शिल्प शिक्षा और आयुर्वेद शिक्षा की ओर भी ध्यान दे रहे थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए डी० ए० वी० इंजीनियरिंग और आयुर्वेदिक कालेज, लाहौर भी आरम्भ किये गये, पर अधिक ध्यान साहित्यिक शिक्षा पर रहा और ये कार्य गौण बने रहे। उपदेशक कक्षाओं की दृष्टि से ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर का कार्य भी प्रशंसनीय रहा। उस विद्यालय के तैयार अनेक उपदेशक आज की पीढ़ी के उपदेशकों के रूप में आर्यसमाज की सेवा कर रहे हैं।

इस प्रकार आर्यसमाज ने शिक्षा-क्षेत्र में गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालेजों, उपदेशक विद्यालयों आदि की स्थापना के रूप में जो कार्य आरम्भ किया था, वह विकसित रूप में आज आर्यसमाज की परम्परा का यशोगान कर रहा है।

इस समय आर्यसमाज ने दयानन्द बाल-मन्दिरों की स्थापना का कार्य आरम्भ किया है। बालकों के संस्कार निर्माण और परोपेक्षी शिक्षा से अपने बालकों की सुरक्षा ही बाल-मन्दिरों का उद्देश्य है। आशा है, आर्यसमाज का यह शिक्षा परीक्षण भी सफल होगा।

आर्यसमाज ने 'गुरुकुल' रूप में जिस पुरातन पद्धति को पुनरुज्जीवित किया, आज के पब्लिक स्कूल भी गुरुकुलीय संस्कृति का अनुसरण करते हुए अनिवार्य आश्रमवास (हॉस्टल), नियमित और व्यवस्थित दिनचर्या का पालन करा रहे हैं, यही उनकी प्रसिद्धि का आधार भी है, परन्तु गुरुकुल की आत्मा-धार्मिकता, नैतिकता, तपोमय जीवन एवं पुरुषार्थ चतुष्टय की संसिद्धि के लक्ष्य के बिना इन पब्लिक स्कूलों में समग्र मानवता का विकास नहीं हो रहा है। 'गुरुकुल' शब्द इतना लोकप्रिय हो चुका है कि आर्यसमाज के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा शैव गुरुकुलों की भी एक परम्परा भारत में है। 'इस्कान' जैसी संस्थाओं ने तो पूरे विश्व में गुरुकुलों की शृंखला फैलाना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का प्रभाव सर्वत्र परिलक्षित हो रहा है।

शिक्षा की स्वतन्त्रता में आर्यसमाज को पूर्ण विश्वास है। ब्रिटिश काल में आर्यसमाज के

गुरुकुल और कालेज स्वतन्त्र रहे, परन्तु स्वतन्त्र भारत में शिक्षा-नीति में पूर्ववत् स्वतन्त्रता नहीं है। एक प्रकार से शिक्षा-नीति और प्रबन्ध पर सरकारी नियन्त्रण संव्याप्त है। बीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में यह प्रश्न गम्भीरता से आर्य जगत् के सम्मुख है। यदि आर्यसमाज स्वतन्त्र शिक्षा कार्य नहीं कर सकेगा तो उसकी संस्थाओं की उपयोगिता समाप्त हो जायेगी, इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिए। आर्यसमाज शिक्षा में नैतिकता और स्वतन्त्रता का समर्थक है और इसी के लिए संघर्ष होना चाहिए।

• • •

जो विद्वान जैसे सुई से फटे वस्त्रों को सीवें त्यों अलग-अलग मत वालों का सत्य में मिलाप कर देते हैं और उनको एक मत में स्थापित करते हैं वे जगत् का कल्याण करने वाले होते हैं।

—महर्षि दयानन्द

आर्य शिक्षा-संस्थाएँ : भारत में

असम

उच्च विद्यालय

करबी एंग्लोंग—डी० ए० वी० हाईस्कूल, डीफू; स्थापना : २-१-१९६६, संस्थापक : दयानन्द सेवाश्रम, डीफू; स्तर १०वीं श्रेणी तक, छात्र ३५०; अध्यापक १९; भू-भवन सम्पत्ति मूल्य दस हजार रुपया।

प्राथमिक विद्यालय

गोहाटी—दयानन्द एंग्लो वैदिक स्कूल, गोहाटी।

आन्ध्र प्रदेश

गुरुकुल तथा संस्कृत विद्यालय

निजामाबाद—वैदिक गुरुकुल, कामारेडी।

हैदराबाद—वैदिक आश्रम कन्या गुरुकुल बेगमपेठ, हैदराबाद; स्थापना : ५-१-१९४०; संस्थापक : श्री पं० अनन्तगणेश धारेश्वर, हैदराबाद; स्तर ७वीं तक; छात्रा ४८८; अध्यापिका १२; भू-भवन सम्पत्ति तीन लाख रुपया।

नैलोर—वेद संस्कृत उन्नत पाठशाला, मूलापेट, नैलोर; स्थापना : १९५३; संस्थापक : श्री के० रामारावजी; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र २५०; अध्यापक १५; सम्पत्ति मूल्य लगभग पन्द्रह लाख रुपया।

हैदराबाद—वेद प्रतिष्ठान, हैदराबाद।

हैदराबाद—वैदिक संस्कृत पाठशाला, हैदराबाद।

महाविद्यालय

नैलोर—प्राच्य कलाशाला (ओरियन्टल कालेज), नैलोर; स्थापना : १९२८।

लातूर—दयानन्द वाणिज्य महाविद्यालय, लातूर; स्थापना ५ जून, १९७९; स्तर स्नातकोत्तर; छात्र ६६२; अध्यापक १९; भू-भवन सम्पत्ति चार लाख तिरेसठ हजार चौरानवे रुपया।

हैदराबाद—ओरियन्टल कालेज, हैदराबाद।

हैदराबाद—प्राच्य महाविद्यालय, नारायणगुडा, हैदराबाद; स्थापना : ३ अगस्त, १९५६; संस्थापक स्व० श्री वंशीधरजी विद्यालंकार; स्तर एम० ओ० एल० तक; छात्र १७७; अध्यापक ११; महाविद्यालय के अन्तर्गत राधाकृष्ण अनुसंधान संस्था भी है।

हैदराबाद—हिन्दी महाविद्यालय, प्रेमबाग, सुल्तान बाजार, हैदराबाद; स्थापना : १९६१; संस्थापक : श्री विनायकरावजी विद्यालंकार; अध्यापक १०।

उच्च विद्यालय

खम्माम—ए० एन० हाईस्कूल, वीरा।

खेड़ी—वैदिक विद्यालय, आर्यसमाज परली बैजनाथ।

नलगोंडा—ए० वी० वी० हाईस्कूल, मूथमपल्ली।

निजामाबाद—ए० वी० हाईस्कूल, निजामाबाद।

पुसापुडु—के० ए० वी० एस० हाईस्कूल, पुसापुडु।

वारंगल—आन्ध्रभाषाभिवर्धिनी हाईस्कूल, जनगाँव; स्थापना : ५-३-१९४५; संस्थापक श्री यू० वी० शास्त्री, कालनी; स्तर १०वीं श्रेणी तक; छात्र ५२०; अध्यापक २१; सम्पत्ति लगभग दो लाख रुपया।

सिकन्दराबाद—सरस्वती कन्या विद्यालय, सिकन्दराबाद।

सिकन्दराबाद—सिकन्दराबाद हिन्दी विद्यालय, सिकन्दराबाद; स्थापना : १ अगस्त, १९५२; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र १०००; अध्यापक ३०; संस्थापक श्री रामरखाजी।

हैदराबाद—आर्य कन्या विद्यालय (हाईस्कूल), देवीदीन बाग, सुल्तान बाजार, हैदराबाद; स्थापना : सन् १९२२; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्रा ६४५; अध्यापिका ३२; भू-भवन सम्पत्ति लगभग १३ लाख रुपया।

हैदराबाद—केशव स्मारक आर्य कन्या विद्यालय, नारायणगुडा, हैदराबाद।

हैदराबाद—केशव स्मारक आर्य हाईस्कूल, नारायणगुडा, हैदराबाद।

हैदराबाद—गुरुकुल घटकेश्वर के० रेलवे, हैदराबाद; स्थापना : संवत् १९६५, अनन्तगिरि के एक मन्दिर में, १९४१ ई० में घटकेश्वर में स्थानान्तरित; संस्थापक : पं० वंशीलालजी व्यास; स्तर हाईस्कूल तथा जूनियर कालेज; छात्र ७००।

हैदराबाद—डेविड आर्य कन्या विद्यालय, डेविड बाग, कण्डा स्वामी लेन, सुल्तान बाजार, हैदराबाद।

हैदराबाद—वीरपुत्र हिन्दी विद्यालय, हैदराबाद; स्थापना : १९५०; शिक्षा का माध्यम हिन्दी; छात्र ४०००; सम्पत्ति मूल्य डेढ़ लाख रुपया।

हैदराबाद—वैदिक धर्मप्रकाश हाईस्कूल, हैदराबाद।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

वारंगल—मिडिल आर्य विष्य, गिरमजीपेट।

करीमनगर—प्राथमिक पाठशाला, पेद्दापल्ली।

वारंगल—आर्य पाठशाला, आर्यसमाज वारंगल।

हैदराबाद—आर्य कन्याशाला, स्वामी लेन, सुल्तान बाजार, हैदराबाद।

हैदराबाद—आर्य पाठशाला, आर्यसमाज ध्रुवपेठ, हैदराबाद।

हैदराबाद—केशव स्मारक आर्य विद्यालय, शिशु विहार विभाग, हैदराबाद।

हैदराबाद—प्राथमिक आर्य पाठशाला, चादरघाट, डा० सहिप्पा।

उड़ीसा

गुरुकुल

कालाहाण्डी—महाविद्यालय गुरुकुल आश्रम, आमसेना, डा० खरियार रोड; स्थापना : ८ मार्च, १९६८; संस्थापक : स्वामी धर्मानन्दजी (आचार्य धर्मदेव स्नातक); स्तर आचार्य तक (श्रीमद् दयानन्दार्ष विद्यापीठ गुरुकुल झज्झर); छात्र ४५; कृषि भूमि ३० एकड़।

गंजाम—आर्यसमाज कन्या गुरुकुल, तनाड़ा।

बालेश्वर—पाठशाला वैदिक आश्रम, पिछवाणिया, डा० रूपसा।

सुन्दरगढ़—आर्य गुरुकुल पानपोष, राउरकेला-४।

सुन्दरगढ़—गुरुकुल वैदिक आश्रम वेदव्यास, राउरकेला-४; स्थापना : सन् १९६२; संस्थापक : पूज्य स्वामी ब्रह्मानन्द जी; इस गुरुकुल की उत्कल के विभिन्न जिलों में शाखाएँ खुल चुकी हैं, जो गुरुकुल रूप में पाँच हैं।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

फूलबानी—ए० एन० एम० प्रशिक्षण केन्द्र, फूलबानी।

फूलबानी—डी० ए० वी० माध्यमिक प्रशिक्षण विद्यालय, कलिंगा; स्थापना : १४-११-१९७०; संस्थापक : उ० ए० एन० खोसला, नयी दिल्ली; छात्र ६९; अध्यापक ७; सम्पत्ति मूल्य लगभग पंद्रह लाख रुपया।

महाविद्यालय

कोरापुट—डी० ए० वी० कालेज, कोरापुट।

टिटलागढ़—डी० ए० वी० कालेज, टिटलागढ़; स्थापना : जुलाई १९६८; संस्थापक : डी० ए० वी० कालेज ट्रस्ट तथा प्रबन्धक समिति।

निरंकारपुर—खेतरवासी डी० ए० वी० कालेज, निरंकारपुर।

सम्बलपुर—लक्ष्मीनारायण महाविद्यालय, झारसुगुडा; स्थापना : जुलाई १९६९; संस्थापक : आर्यसमाज झारसुगुडा; स्तर : स्नातक कक्षा तक; छात्र ९००; अध्यापक ३८; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया।

सुन्दरगढ़—एस० के० डी० ए० वी कालेज, राउरकेला।

सुन्दरगढ़—सुशीलावती खोसला डी० ए० वी० महिला कालेज, राउरकेला।

उच्च विद्यालय

कोरापुट—एरोनोटिक्स डी० ए० वी० हाई स्कूल, सुनाबेड़ा; स्थापना : ८ अगस्त, १९६८; संस्थापक : स्कूल एजूकेशन सोसाइटी, सुनाबेड़ा; स्तर एकादश श्रेणी तक; छात्र २००१; अध्यापक ४८; सम्पत्ति मूल्य साठ लाख रुपया ।

लुंगाई—सरस्वती उत्तमदेवी डी० ए० वी० वनवासी हाई स्कूल, लुंगाई ।

सम्बलपुर—घैंस हाई स्कूल, घैंस; स्थापना : १३ सितम्बर, १९६०; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र ३७०; अध्यापक १५; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया ।

सम्बलपुर—दयानन्द वनवासी विद्यालय, हाडुगुदा, डा० लोआरम् ।

सुन्दरगढ़—एस० के० डी० ए० वी० हाई स्कूल, राउरकेला ।

सुन्दरगढ़—सुशीलावती खोसला डी० ए० वी० कन्या हाई स्कूल, सुन्दरगढ़ ।

प्राथमिक विद्यालय

कोरापुट—डी० ए० वी० पब्लिक स्कूल, सुनाबेड़ा ।

पुरी—डी० ए० वी० किंडरगार्टन स्कूल, भुवनेश्वर ।

बोलानी—डी० ए० वी० बोलानी स्कूल, बोलानी ।

प्राविधिक संस्थाएँ

लुंगाई—डी० ए० वी० मल्टीपर्पज हाई स्कूल, लुंगाई ।

सुन्दरगढ़—सुशीलावती खोसला डी० ए० वी० महिला पॉलीटेक्निक, राउरकेला; स्थापना सितम्बर १९६८; डिप्लोमा पाठ्यक्रमों के अन्तर्गत व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक प्रशिक्षण ।

उत्तर प्रदेश

विश्वविद्यालय

सहारनपुर—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार; स्थापना : सन् १९०१ ई० में मुंशी अमरसिंह जी द्वारा प्रदत्त ग्राम कांगड़ी में, १९२५ ई० में हरिद्वार में स्थानान्तरित; संस्थापक : स्वामी श्रद्धानन्दजी; शिक्षा : विद्यालय, वेद महाविद्यालय, आर्ट्स कॉलेज, साइंस महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय; अचल सम्पत्ति दो करोड़ रुपया ।

शोध-संस्थान

कानपुर—श्रीमद् दयानन्द वैदिक शोध संस्थान, २८/१ एलनगंज सैटिलमेंट, कानपुर ।

गुरुकुल

अलीगढ़—कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, (सासनी) हाथरस; स्थापना : सन् १९०९; संस्थापक :

श्री मुरलीधरजी, हाथरस, नवोद्धारकर्तृ माता लक्ष्मीदेवी जी; स्तर शिरोमणि (गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन), आचार्य (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) तक; छात्रा ४०७; अध्यापिका ३०; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य सत्रह लाख रुपया।

अलीगढ़—गुरुकुल, गंगीरी।

अलीगढ़—श्री सर्वदानन्द साधु आश्रम, हरदुआगंज; संस्थापक : स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज; कुछ समय पूर्व सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की आचार्य तक की परीक्षा-व्यवस्था थी, अब आर्ष पद्धति से शिक्षा-व्यवस्था है।

इलाहाबाद—गुरुकुल वैदिक संस्कृत महाविद्यालय, सिराथू; स्थापना : १२ जुलाई, १९५६; संस्थापक : श्री केदारनाथ, श्री रामप्रसादजी, सिराथू; स्तर आचार्य तक; छात्र २२५; अध्यापक १३; भू-भवन सम्पत्ति २५ बीघा भूमि, ४ बड़े छात्रावास, ८ छोटे कमरे, यज्ञशाला, नलकूप।

उन्नाव—ग्राम्य विश्वभारती महाविद्यालय, सरस्वतीनगर; कार्यालय आर्यनगर, डा० सहरावाँ; स्थापना : सं० २०२७; संस्थापक : आचार्य तेजनारायण कात्यायन; स्तर आचार्य तक; छात्र ३६; अध्यापक ४; सम्पत्ति मूल्य पचास हजार रुपया।

एटा—आर्ष गुरुकुल यज्ञतीर्थ, एटा; स्थापना : वैशाख शुक्ला २, सम्वत् २००५, तदनुसार २६ अप्रैल, १९४८; संस्थापक : श्री स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी; छात्र ८०; भू-भवन सम्पत्ति ४४ एकड़ भूमि, ८४ खम्भों की यज्ञशाला, विद्यालय, छात्रावास, भोजनालय आदि; आर्ष पद्धति से शिक्षा।

एटा—आर्ष गुरुकुल संस्कृत विद्यापीठ, देवरी प्रह्लादपुर, सोरों; स्थापना : २२ नवम्बर, १९६४; संस्थापक : श्री मिश्रीलाल चतुर्वेदी, देवरी प्रह्लादपुर, संन्यास के बाद नाम स्वामी मिथिलेश; स्तर मध्यमा तक; छात्र २५; शिक्षक ३।

गाजियाबाद—गुरुकुल, आर्यसमाज गाजियाबाद।

गाजियाबाद—गुरुकुल महाविद्यालय, ततारपुर, डा० बाबूगढ़ छावनी; स्थापना : १३ जुलाई, १९६५; संस्थापक : स्वामी मुनीश्वरानन्द सरस्वती; स्तर आचार्य पर्यंत; छात्र १५६; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

देवरिया—श्री घनश्यामदास आर्य वैदिक महाविद्यालय (गुरुकुल), देवरिया; स्थापना : जुलाई १९२६; संस्थापक : श्री रामेश्वरलाल, श्री विशम्भरलाल, देवरिया; स्तर आचार्य तक; छात्र ५०; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य छः लाख रुपया।

देहरादून—कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, ६० राजपुर रोड, देहरादून; स्थापना : ८ नवम्बर, १९२३ (दीपावली) को दिल्ली में; १ मई, १९२७ को देहरादून में स्थानान्तरित; संस्थापक : आचार्य रामदेवजी, गुरुकुल कांगड़ी; सर्वप्रथम आचार्या कु० विद्यावती सेठ के कार्यकाल में सर्वतोमुखी विकास; स्तर विद्यालंकार (बी०ए०); छात्रा लगभग २५०; अध्यापिका २३; भूमि ८० बीघा।

पीलीभीत—गुरुकुल महाविद्यालय; मनोकामना।

फर्रुखाबाद—गुरुकुल, कृष्णपुर (कलुआपुर), डा० मँझना।

फैजाबाद—निःशुल्क गुरुकुल महाविद्यालय, अयोध्या; स्थापना : श्रावणी पूर्णिमा वि० सं० १९८२; संस्थापक : स्वामी त्यागानन्द सरस्वती; स्तर आचार्य तक; छात्र १३०;

अध्यापक ११; भूमि बीस एकड़।

बदायूँ—गुरुकुल महाविद्यालय सूर्यकुण्ड, बदायूँ; स्थापना : २ फरवरी, १९०३; संस्थापक : स्वामी दर्शनानन्द जी; स्तर आचार्य तक; छात्र १२५; अध्यापक १०; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

बहराइच—श्री सुरभारती निगम विद्यापीठ गुरुकुल, गिलौला; स्थापना : १ अगस्त, १९४३; संस्थापक : स्वामी त्यागानन्द सरस्वती; स्तर मध्यमा तक; छात्र २५०; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

बिजनौर—गुरुकुल महाविद्यालय कुण्डा, डा० पावटी; स्थापना : १४ फरवरी, १९८०; संस्थापक : स्वामी भूमानन्द सरस्वती; स्तर मध्यमा तक; छात्र १९५; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य आठ लाख रुपया।

बुलन्दशहर—गुरुकुल, सिकन्दराबाद; स्थापना : १८९८।

मथुरा—गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन; स्थापना : १८९८ में सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में, १७ सितम्बर, १९०७ को फर्रुखाबाद में स्थानान्तरण, १६ दिसम्बर, १९११ को वृन्दावन में स्थानान्तरित; संस्थापक : स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज; स्तर शिरोमणि (समकक्ष बी० ए०), आयुर्वेद महाविद्यालय।

मुजफ्फरनगर—गुरुकुल महाविद्यालय, शुक्रताल; स्थापना : कार्तिक सुदी पूर्णिमा सं० २०२६ वि०; संस्थापक : ब्र० बलदेव नैष्ठिक (स्वामी आनन्दवेश), कंवाली (सोनीपत); स्तर शास्त्री तक; छात्र २२; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग डेढ़ लाख रुपये।

मुजफ्फरनगर—दयानन्द गुरुकुल, कादीखेड़ा।

मुजफ्फरनगर—दयानन्द गुरुकुल विद्यालय, बनत।

मुरादाबाद—आर्ष कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, खाद्गूजर।

मेरठ—आर्य महाविद्यालय, किरठल; स्थापना : ८ मई, १९२०; संस्थापक : चौ० कूड़ेसिंहजी, किरठल, प्रेरक स्वामी विचारानन्दजी; स्तर आचार्य तक(सं०सं०वि०वि०, वाराणसी); छात्र लगभग १५०; भूमि २८ बीघा पुख्ता।

मेरठ—कुमार आश्रम (लाला लाजपतराय की स्मृति में), मेरठ; संस्थापक : श्री अलगूराय शास्त्री; श्रीमती परमेश्वरी देवी इस आश्रम की प्राण थीं। इसमें २५% सवर्णों तथा ७५% हरिजन बालकों के रहने की व्यवस्था का नियम है। भोजन, भजन, अध्ययन सब साथ होता है। १०० से ऊपर छात्र हैं।

मेरठ—गुरुकुल प्रभात आश्रम, भोलाझाल; स्थापना : सन् १९३९; संस्थापक : स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती (पं० बुद्धदेव विद्यालंकार); स्तर आचार्य तक; छात्र ३६; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग चार लाख रुपये; शिक्षा, आवास, भोजन की निःशुल्क व्यवस्था।

मैनपुरी—महात्मा देवस्वामी गुरुकुल, सिरसागंज; स्थापना : संवत् १९५३; संस्थापक : श्री दृग-पालसिंह, सन् १९५८ से महात्मा देवस्वामीजी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता; स्तर आचार्य तक (क वर्गीय); छात्र ८०; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया। महात्मा देवस्वामी के निधन के बाद संस्था का नाम महात्मा देवस्वामी के नाम पर हो गया।

वाराणसी—जिज्ञासु स्मारक पाणिनि कन्या महाविद्यालय, तुलसीपुर, वाराणसी; प्रारम्भ

१८ जून, १९७२; स्तर आचार्य तक; छात्रा ५०; अध्यापिका २।

वाराणसी—मातृ मन्दिर कन्या गुरुकुल, वाराणसी।

शाहजहाँपुर—गुरुकुल महाविद्यालय रुद्रपुर, तिलहर; स्थापना : १५ जून, १९५०; संस्थापक : श्री पं० सत्यदेव शास्त्री; स्तर आचार्य तक; छात्र ३१५; अध्यापक १२; भू-भवन सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

सहारनपुर—कन्या गुरुकुल, कनखल (हरिद्वार) : स्तर शास्त्री (वाराणसी); आयुर्वेद रत्न (हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग); संस्थापक : श्री ठा० संसारसिंहजी; वर्तमान समय में उनके सुपुत्र श्री योगेन्द्रपाल शास्त्री आयुर्वेद बृहस्पति तथा इनकी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रावतीजी द्वारा संचालित।

सहारनपुर—गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर; स्थापना : ३ वैसाख संवत् १९६४, तदनुसार ३० जून, १९०८; संस्थापक : स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती; भूमि एवं धनराशि प्रदाता श्री बा० सीतारामजी सब-इंसपेक्टर; स्तर विद्याभास्कर (समकक्ष बी० ए०), आयुर्वेद भास्कर (उत्तर प्रदेश इंडियन मेडिसन बोर्ड तथा अन्य प्रांतीय बोर्डों से मान्य), अनुसंधान पीठ, उपदेशक विभाग भी संस्थापित।

संस्कृत विद्यालय

अलीगढ़—वैदिक संस्कृत विद्यालय, कचौरा; स्थापना : १५ जुलाई, १९५३; संस्थापक : श्री निरंजनदेव आर्य, कचौरा; स्तर मध्यमा तक; छात्र २००; अध्यापक ७; संपत्ति मूल्य लगभग पंद्रह हजार रुपया।

कानपुर—श्रीकृष्णायुर्वेदिक संस्कृत महाविद्यालय, मूसानगर (मुक्तानगर), कानपुर; स्थापना : २४-१०-१९३९; संस्थापक : स्वामी नित्यानन्द सरस्वती; स्तर आचार्य तक; छात्र २५०; अध्यापक १२; संपत्ति मूल्य लगभग डेढ़ लाख रुपया। छात्रावास की भी व्यवस्था है।

गाजियाबाद—वेद मंदिर, गाजियाबाद।

गोंडा—संस्कृत पाठशाला, गोंडा।

गोरखपुर—वैदिक संस्कृत विद्यालय, बाँसपार, गोरखपुर; स्थापना : १ जनवरी, १९२२; संस्थापक : स्व० श्री योगेश्वरप्रसाद मिश्र; स्तर आचार्य तक; छात्र ५२; अध्यापक ४; भू-भवन सम्पत्ति : ६ कक्ष, १ एकड़ भूमि।

फतेहपुर—संस्कृत पाठशाला श्री स्वामी सत्यानन्द आश्रम, हथगाँव।

बरेली—आर्यसमाज हिंदी संस्कृत विद्यालय, आर्यनगर, बरेली।

बरेली—संस्कृत पाठशाला, भूड़, बरेली।

बिजनौर—संस्कृत पाठशाला, बिजनौर।

बिजनौर—स्वामी केवलानन्द पाठशाला, केवलानन्द आश्रम, बिजनौर।

बिजनौर—स्वामी शान्तानन्द वैदिक आश्रम, नगीना।

लखनऊ—गुरु विरजानन्द संस्कृत विद्यालय, नगर आर्यसमाज, रकाबगंज, लखनऊ।

वाराणसी—नित्यानन्द वेद विद्यालय, वाराणसी; स्थापना : ५ अगस्त, १९०७; संस्थापक : स्व० श्री गौरीशंकरप्रसाद, श्री पं० रामनारायण मिश्रा; स्तर आचार्य तक; छात्र १००; अध्यापक ५।

हरदोई—संस्कृत पाठशाला, हरदोई।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

कानपुर—डी० ए० वी० ट्रेनिंग कालेज, कानपुर।

कानपुर—दयानन्द महिला प्रशिक्षण कालेज, कानपुर।

देहरादून—दयानन्द महिला ट्रेनिंग कालेज, नेहरू मार्ग, देहरादून।

कानपुर—दयानन्द जूनियर बेसिक प्रशिक्षण महाविद्यालय, कानपुर।

महाविद्यालय

आजमगढ़—डी० ए० वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, आजमगढ़; स्थापना : जुलाई १९५७; संस्थापक : आर्य विद्या सभा, आजमगढ़; स्तर स्नातकोत्तर तक; छात्र १७६७; अध्यापक ६८; संपत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

इटावा—डिग्री कालेज, अजीतमल।

उन्नाव—दयानन्द सुभाष नेशनल कालेज, उन्नाव।

कानपुर—डी० ए० वी० कालेज, मेस्टन रोड, कानपुर।

कानपुर—दयानन्द कालेज ऑफ लॉ, कानपुर।

कानपुर—दयानन्द गर्ल्स कालेज, किदवईनगर, कानपुर।

कानपुर—दयानन्द ब्रजेन्द्रस्वरूप स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गोविन्दनगर, कानपुर।

गाजियाबाद—ए० के० पी० डिग्री कालेज, हापुड़।

जालौन—दयानन्द वैदिक स्नातकोत्तर महाविद्यालय, उरई; स्थापना : जुलाई १९५१; संस्थापक : स्व० श्री मूलचन्द्र अग्रवाल, स्व० श्री रमाशंकर सक्सेना, उरई; स्तर स्नातकोत्तर शिक्षा, कला एवं विज्ञान; छात्र १७१९; अध्यापक ७९; भू-भवन संपत्ति : १२ प्रयोगशालाएँ, १२ शिक्षण-कक्ष, पुस्तकालय-वाचनालय, डिस्पेंसरी आदि, ५८ दुकानें, एक प्रिंटिंग प्रेस, दस एकड़ सैंतीस बीघा भूमि।

झाँसी—आर्य कन्या पाठशाला डिग्री कालेज, सीपरी बाजार, झाँसी।

देहरादून—डी० ए० वी० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कर्णपुर, देहरादून।

देहरादून—डी० बी० एस० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कर्णपुर, देहरादून।

देहरादून—महादेवी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून; संस्थापक : बा० ज्योतिस्वरूपजी, छात्रा लगभग ५०००; संपत्ति लगभग पचास लाख रुपया।

फर्रुखाबाद—नारायण आर्य कन्या डिग्री कालेज, फर्रुखाबाद; स्थापना : १९६५; संस्थापक; डॉ० रघुवीरदत्त शर्मा; स्तर बी० ए० तक; छात्रा लगभग २००; अध्यापिका ८।

बरेली—कन्या महाविद्यालय डिग्री कालेज, भूड़, बरेली; स्थापना : जुलाई १९६०; संस्थापक : आर्यसमाज भूड़, बरेली; स्तर इंटर से बी० ए० तक; छात्रा लगभग ४५०; अध्यापिका १५; संपत्ति : दो मंजिला भवन, छः दुकानें, एक प्रभूत मकान।

बुलंदशहर—आर्य कन्या पाठशाला डिग्री कालेज, खुर्जा।

बुलंदशहर—डी० ए० वी० स्नातकोत्तर कालेज, बुलंदशहर; स्थापना : सन् १९५६; संस्थापक : आर्य विद्या सभा बुलंदशहर; स्तर बी० ए०, एम० ए०; अध्यापक ३०; भवन मूल्य

साढ़े चार लाख रुपये, भूमि ८ एकड़।

मिर्जापुर—कमला माहेश्वरी आर्य कन्या महाविद्यालय, मिर्जापुर; स्थापना : ७ सितंबर, १९६८; संस्थापक : आर्यसमाज मिर्जापुर; स्तर बी०ए० तक; छात्रा २५०; अध्यापिका १५; संपत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

मुजफ्फरनगर—दयानन्द ऐंग्लो वैदिक (स्नातकोत्तर) महाविद्यालय, मुजफ्फरनगर; स्थापना : १९१८; संस्थापक : आर्य विद्या सभा; स्तर एम० ए०, एम० एस-सी०, एल-एल०बी०, बी० एड्०; छात्र लगभग २०००; अध्यापक ८६; संपत्ति मूल्य तीस लाख रुपया।

मेरठ—जनता वैदिक स्नातकोत्तर कालेज, बड़ौत।

रायबरेली—दयानन्द वीरेन्द्रस्वरूप कालेज, बछरावाँ।

लखनऊ—डी० ए० वी० (स्नातकोत्तर) कालेज, लखनऊ।

लखीमपुर—भगवानदीन आर्य कन्या महाविद्यालय, लखीमपुर; स्थापना : ५ फरवरी, १९२९; संस्थापक : आर्यसमाज, लखीमपुर खीरी; संपत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

वाराणसी—आर्य कन्या महाविद्यालय, वाराणसी।

वाराणसी—दयानन्द महाविद्यालय डिग्री कालेज, वाराणसी; स्थापना : जुलाई १९३८; संस्थापक : स्व० श्री गौरीशंकर एडवोकेट; स्तर स्नातक तक; छात्र लगभग १२००; अध्यापक ३०; संपति मूल्य बीस लाख रुपया।

सहारनपुर—के० एल० डी० ए० वी० कालेज, रुड़की।

सुल्तानपुर—रणवीर रणंजय डिग्री कालेज, अमेठी; स्थापना : १८ अगस्त, १९५९; संस्थापक : श्रीमान राजा रणंजयसिंहजी; स्तर बी० ए०, बी० एड्०; अध्यापक २०; भवन मूल्य लगभग ढाई लाख रुपया, भूमि ९० बीघा।

हमीरपुर—ब्रह्मानन्द महाविद्यालय, राठ; स्थापना : जुलाई १९६०; संस्थापक : स्वामी ब्रह्मानन्दजी; स्तर स्नातकोत्तर तक शिक्षा; छात्र ५८२; अध्यापक २९; संपत्ति मूल्य लगभग एक करोड़ रुपया।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

अल्मोड़ा—आर्य कन्या इंटर कालेज, अल्मोड़ा।

अलीगढ़—आर्य कन्या इंटर कालेज, सिकंदराराऊ।

अलीगढ़—श्रीमद् दयानन्द इंटर कालेज, अलीगढ़।

आगरा—जनता इंटर कालेज, फतेहाबाद; स्थापना : १९५२; संस्थापक : स्व० श्री विद्याराम पैंगोरिया; छात्र सं० लगभग ७५०; अध्यापक २८; संपत्ति मूल्य ढाई लाख रुपया।

आगरा—डी० ए० वी० इंटर कालेज, फिरोजाबाद; स्थापना : १९४३; संस्थापक : आर्यसमाज, फिरोजाबाद एवं श्रीमद् दयानन्द विद्यालय, फिरोजाबाद ट्रस्ट; छात्र ७००; अध्यापक ३३; संपत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

आगरा—नारायणदास छज्जूमल वैदिक इंटर कालेज, सुल्तानपुरा, आगरा छावनी; स्थापना : ६ दिसंबर १९४०; छात्र १५००; अध्यापक ३९।

आगरा—श्री केदारनाथ सेकसरिया आर्य कन्या इंटर कालेज, आगरा; स्थापना : २७ जून, १९५२; संस्थापक : स्व० श्री केदारनाथ सेकसरिया; छात्रा लगभग २०००; अध्यापिका

५८; सम्पत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

आजमगढ़—डी० ए० वी० इंटर कालेज, मऊनाथ भंजन, आजमगढ़।

आजमगढ़—डी० ए० वी० इंटर कालेज, आजमगढ़; स्थापना : जुलाई १९२५; छात्र १५२५; अध्यापक ५०; भू-भवन सम्पति ४० कमरों का पक्का भवन, आनुमानिक मूल्य चार लाख रुपया।

इटावा—तिवारी ज्वालाप्रसाद आर्य कन्या इंटर कालेज, इटावा।

इलाहाबाद—आर्य कन्या इंटर कालेज, चौक, इलाहाबाद; स्थापना : १९०५; संस्थापक : आर्य-समाज चौक, प्रयाग; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

इलाहाबाद—डी० ए० वी० इंटर कालेज, चौक, इलाहाबाद; छात्र ७००; अध्यापक ३१; सम्पत्ति मूल्य चौदह लाख रुपया।

उन्नाव—डी० वी० डी० टी० कालेज, उन्नाव।

एटा—अविनाशी सहाय आर्य कन्या इंटर कालेज, एटा; स्थापना : १९४२; संस्थापक : स्व०बा० अविनाशी सहाय; छात्र लगभग १५००; अध्यापक ३९; सम्पत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

एटा—आर० वी० एल० आर्य इंटर कालेज, राजा का रामपुर; स्थापना : २२ फरवरी, १९४४ (शिवरात्रि); संस्थापक : श्रीरामभरोसेलाल गुप्ता; छात्र ५००; अध्यापक २०; सम्पत्ति मूल्य अट्ठाईस हजार रुपया।

एटा—डी० ए० वी० इंटर कालेज, अलीगंज; स्थापना : १ जुलाई, १९५०; संस्थापक : आर्य-समाज अलीगंज; छात्र ९००; अध्यापक २५; सम्पत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

कानपुर—आर्य कन्या इंटर कालेज, गोविन्दनगर, कानपुर; स्थापना : १९५९; संस्थापक : श्री देवीदास आर्य, कानपुर; छात्रा १६००; अध्यापिका ४७; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

कानपुर—डी० एच० डी० इंटर कालेज, कानपुर।

कानपुर—डी० एम० यू० इंटर कालेज, गोविन्दनगर, कानपुर।

कानपुर—डी० ए० वी० इंटर कालेज, कानपुर।

कानपुर—दयानन्द हंसमुखी देवी गर्ल्स इंटर कालेज, कानपुर।

गढ़वाल—डी० ए० वी० इंटर कालेज, पौड़ी गढ़वाल; स्थापना : १९४६; संस्थापक : श्री एन० एन० सिंह; स्तर श्रेणी १२ तक; छात्र ४३५; अध्यापक ३२; सम्पत्ति मूल्य लगभग पन्द्रह लाख रुपया।

गाजियाबाद—आर्य कन्या इंटर कालेज, गोविन्दपुरी, मोदीनगर।

गाजियाबाद—महर्षि दयानन्द इंटर कालेज, गोविन्दपुरी, मोदीनगर; स्थापना : २९ अगस्त, १९५४; छात्र ९००; अध्यापक; ३१; सम्पत्ति मूल्य छः लाख रुपया।

गाजियाबाद—शम्भूदयाल इंटर कालेज, गाजियाबाद।

गाजीपुर—डी०ए०वी० इंटर कालेज, गाजीपुर; स्थापना १९१२; संस्थापक : स्व० श्री महावीर राम, स्व० श्री दुवरी महाराज, स्व० श्री रामचन्द्रलाल; छात्र ५५०, अध्यापक १९; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

गोंडा—डी० ए० वी० इंटर कालेज, बलरामपुर; स्थापना : १९४१; संस्थापक : श्री सुन्दरलाल

अग्निहोत्री, स्तर ६ से १२ तक; छात्र १५००; अध्यापक ४४; सम्पत्ति मूल्य पच्चीस हजार रुपया।

गोरखपुर—डी०ए०वी० इंटर कालेज, गोरखपुर; स्थापना : १९२९; संस्थापक : श्री उमाशंकर; छात्र लगभग २९५०; अध्यापक ८६; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख पचास हजार रुपया।

गोरखपुर—दयानन्द इंटर कालेज, वक्शीपुर, गोरखपुर।

गोरखपुर—दयानन्द कन्या इंटर कालेज, वक्शीपुर, गोरखपुर।

जालौन—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, उरई।

जालौन—आर्य कन्या पाठशाला, इंटर कालेज, कालपी; स्थापना : १९४५; छात्र ३५०; अध्यापिका १३; सम्पत्ति मूल्य एक लाख अस्सी हजार रुपया।

जालौन—डी० ए० वी० इंटर कालेज, उरई।

झांसी—आर्य कन्या इंटर कालेज, सीपरी बाजार, झांसी; स्थापना १९१२; संस्थापक : स्व०श्री बोधराज साहनी, स्व० श्री बाबूलाल शर्मा; छात्रा १८८०; अध्यापिका ६७; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया।

देहरादून—आर० एन० भार्गव इंटर कालेज, मसूरी।

देहरादून—आर्य इंटर कालेज, सुभाषनगर, देहरादून; स्थापना : ८ जुलाई, १९४९; संस्थापक : सेठ पन्नालाल मित्तल, छात्र ८००; अध्यापक ३५; भवन मूल्य तीन लाख रुपया। भूमि लगभग १०० बीघा।

देहरादून—आशाराम वैदिक इंटर कालेज, विकास नगर, देहरादून :

देहरादून—डी० ए० वी० इंटर कालेज, कर्णपुर, देहरादून।

देहरादून—डी० ए० वी० इंटर कालेज, प्रेमनगर, देहरादून, स्थापना : जुलाई १९५२; छात्र १३०२; अध्यापक ३५; कक्ष ४८, स्थान १०.५ एकड़।

देहरादून—पटेल इंटर कालेज, देहरादून।

देहरादून—श्रीमती रामप्यारी आर्य कन्या इंटर कालेज, खुड़बुड़ा मुहल्ला, देहरादून; स्थापना : ३० जनवरी, १९४४; संस्थापक : स्व० बा० आनन्दीप्रसाद अस्थाना; छात्रा ६३०; अध्यापिका २३; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख अड़तालीस हजार रुपया।

नैनीताल—आर्य कन्या इंटर कालेज, रामनगर।

नैनीताल—ललित आर्य महिला इंटर कालेज, हलद्वानी; स्थापना : १९३८; संस्थापक : श्रीमती शोभावती मित्तल, छात्रा ८२२; अध्यापिका २२।

फतेहपुर—डी० ए० वी० इंटर कालेज, बिन्दकी।

फर्रुखाबाद—नारायण आर्य कन्या इंटर कालेज, फर्रुखाबाद।

फर्रुखाबाद—रा० विद्या मन्दिर इंटर कालेज, अकबरपुर।

फैजाबाद—आर्य कन्या इंटर कालेज, टाण्डा।

फैजाबाद—एस० एल० आर० आर्य कन्या इंटर कालेज, रकाबगंज, फैजाबाद।

फैजाबाद—डी० ए० वी० इंटर कालेज, फैजाबाद।

फैजाबाद—राजकरण वैदिक पाठशाला इंटर कालेज, फैजाबाद।

फैजाबाद—विमला देवी वर्मा श०ल०र० आर्य कन्या इंटर कालेज, फैजाबाद; स्थापना १९३२; संस्थापक : आर्यसमाज (सभा) फैजाबाद; छात्रा १५५०; अध्यापिका ४७; सम्पत्ति मूल्य

लगभग पन्द्रह हजार रुपया।

बदायूँ—आर्य कन्या इंटर कालेज, (आर्यनगर) इस्लामनगर; स्थापना : अप्रैल १६१४; संस्थापक : ठा० हेतसिंह, इस्लामनगर; छात्रा ५८६; अध्यापिका १८; भू-भवन सम्पत्ति मूल्य सोलह हजार रुपया।

बदायूँ—पार्वती आर्य कन्या संस्कृत इंटर कालेज, बदायूँ; स्थापना: १६६३; संस्थापिका: श्रीमती पार्वती देवी; छात्रा १०५०; अध्यापिका ३१; सम्पत्ति मूल्य डेढ़ लाख रुपया।

बरेली—आर्य कन्या इंटर कालेज, भूड़, बरेली।

बरेली—आर्यपुत्री इंटर कालेज, सुभाष नगर, बरेली; संस्थापक : आर्यसमाज सुभाष नगर, बरेली; छात्रा लगभग १०००; आध्यापिका ४०; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख पच्चीस हजार रुपया।

बरेली—पटेल इंटर कालेज, धौरां; स्थापना : जुलाई १६५०; संस्थापक : श्री नोनीरामजी; अध्यापक २८; सम्पत्ति मूल्य लगभग डेढ़ लाख रुपया।

बस्ती—झिनकूलाल इंटर कालेज, कलवारी; स्थापना: १६५०; संस्थापक: स्व० श्री हरिचरण-सिंह; छात्र १०२४; अध्यापक ४०; सम्पत्ति मूल्य पच्चीस हजार एक सौ नब्बे रुपया।

बस्ती—डी० ए० वी० इंटर कालेज, मेंहदावल; स्थापना : ४ जुलाई, १६५४; छात्र ८८०; अध्यापक २६।

बाँदा—आर्य कन्या इंटर कालेज, बाँदा; स्थापना : १६ अक्तूबर, १६१६; संस्थापक : स्व० श्री गयाप्रसादजी, बाँदा; छात्र ६६०; अध्यापक २१; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

बिजनौर—आर्य इंटर कालेज, बिजनौर।

बिजनौर—आर्य कन्या इंटर कालेज, नजीबाबाद; स्थापना : १६०१; संस्थापक : आर्यसमाज नजीबाबाद; छात्रा ८००; अध्यापिका ३१।

बिजनौर—आर्य वैदिक कन्या इंटर कालेज, बिजनौर; स्थापना : जुलाई १६६०; संस्थापक : श्री ईश्वरदयालु आर्य, बिजनौर; अध्यापक १६; सम्पत्ति मूल्य लगभग चार लाख रुपया।

बिजनौर—ज्वालाप्रसाद आर्य इंटर कालेज, बिजनौर।

बिजनौर—दयानन्द आदर्श विद्यानिकेतन इंटर कालेज, बिजनौर; स्थापना : जुलाई १६५४; संस्थापक : श्री ईश्वरदयालु आर्य; छात्र लगभग ५००; अध्यापक १६।

बुलन्दशहर—आर्य कन्या इंटर कालेज, गुलावठी; स्थापना : दिसम्बर १६२३; संस्थापक : श्री सागरमलजी; छात्रा लगभग १३००; अध्यापिका ३७; सम्पत्ति मूल्य लगभग बीस हजार रुपया।

बुलन्दशहर—आर्य कन्या इंटर कालेज, बुलन्दशहर; छात्रा ८५४; अध्यापिका २५; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख पचास हजार रुपया।

बुलन्दशहर—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, खुर्जा; स्थापना : १६२२; संस्थापक : आर्य कन्या पाठशाला एसोसियेशन, खुर्जा; छात्रा १७८५; अध्यापिका ५४; सम्पत्ति मूल्य दो लाख रुपया।

बुलन्दशहर—रामस्वरूप आर्य कन्या इंटर कालेज, अनूपशहर; स्थापना : १६२०; संस्थापक : स्व० श्री रामस्वरूप आर्य; छात्रा लगभग ३००; अध्यापिका १५; सम्पत्ति मूल्य पिचहत्तर हजार रुपया।

मथुरा—डी० ए० वी० इंटर कालेज, गोवर्धन; स्थापना : जुलाई १६५८; छात्र लगभग ५००; अध्यापक ३१; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

मथुरा—लक्ष्मणप्रसाद चतुर्वेद आर्य कन्या इंटर कालेज, मथुरा; स्थापना : १६१४; छात्रा १०००; अध्यापिका ३२।

मिर्जापुर—आर्य कन्या पाठशाला इंटरमीडिएट कालेज, मिर्जापुर; स्थापना ६ मार्च, १६१०; संस्थापक आर्यसमाज, मिर्जापुर; प्रमुख व्यक्ति स्व० श्री ज्वालाप्रसादजी डिप्टीकलेक्टर, मिर्जापुर; छात्रा लगभग १६००; अध्यापिका ५४; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया।

मुजफ्फरनगर—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, केराना; स्थापना १ जुलाई, १६४२; संस्थापक श्री प्रभुलाल; छात्रा लगभग ५००; अध्यापिका १५; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

मुजफ्फरनगर—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, मुजफ्फरनगर; स्थापना १६०५; संस्थापक: आर्यसमाज; छात्रा ११३०; अध्यापिका ३५।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० इंटर कालेज, जानसठ।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० इंटर कालेज, मुजफ्फरनगर; स्थापना १६१६; संस्थापक : श्री बाबूराम शर्मा, मुजफ्फरनगर; छात्र १७००; अध्यापक ५८; सम्पत्ति मूल्य तीन लाख रुपया।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० इंटर कालेज, सिसौली।

मुजफ्फरनगर—वैदिक पुत्री पाठशाला इंटर कालेज, मुजफ्फरनगर; स्थापना : सन् १६२६; संस्थापक : वैदिक विद्या सभा; छात्रा ११४८; अध्यापिका ४१; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

मुरादाबाद—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, स्टेशन रोड, मुरादाबाद।

मुरादाबाद—चन्द्रपाल आर्य आदर्श इंटर कालेज, बहजोई।

मुरादाबाद—ब्रजसुन्दर आर्य कन्या विद्यालय, सम्भल; छात्रा ५५५; अध्यापिका २१; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

मुरादाबाद—रामप्यारी आर्य कन्या इंटर कालेज, चन्दौसी; स्थापना जुलाई १६२३; संस्थापिका : श्रीमती रामप्यारी आर्य; छात्रा ८२३; अध्यापिका २४; सम्पत्ति मूल्य डेढ़ लाख रुपया।

मेरठ—आर्य कन्या इंटर कालेज, मवाना; स्थापना १६१३; संस्थापक : आर्यसमाज, मवाना; छात्रा ६१५; अध्यापिका २६; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

मेरठ—आर्य कन्या इंटर कालेज, मेरठ शहर; स्थापना १६१३; संस्थापक : आर्यसमाज, मेरठ शहर; छात्रा १४५५; अध्यापिका ५८; भवन सम्पत्ति मूल्य दो लाख दस हजार रुपया।

मेरठ—आर्य कन्या इंटर कालेज, सदर, मेरठ।

मेरठ—आर्य कन्या इंटर कालेज, स्वामीपाड़ा, मेरठ।

मेरठ—आर्य विद्यालय इंटर कालेज, नेड़ा।

मेरठ—जनता वैदिक इंटर कालेज, बड़ौत।

मेरठ—भागीरथी आर्य कन्या इंटर कालेज, लालकुर्ती, मेरठ; स्थापना १६०६; अध्यापिका २०;

सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

मेरठ—महर्षि दयानन्द इंटर कालेज, गोविन्दपुरी, मेरठ।

मेरठ—श्री मल्हूसिंह आर्य कन्या इंटर कालेज, मटौर, दौराला; स्थापना : १ जुलाई, १९५५; संस्थापक : आर्यसमाज दौराला; छात्रा ६९५; अध्यापिका २०; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया। भूमि दो विस्वे पक्के।

मैनपुरी—दयानन्द इंटर कालेज, मैनपुरी; स्थापना : १९४०; संस्थापक : आर्यसमाज मैनपुरी; छात्र ५००; अध्यापक १८; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

मैनपुरी—दयानन्द इंटरमीडियट कालेज, ज्योंति।

मैनपुरी—श्री दयानन्द सरस्वती साधना इंटर कालेज, जाजूमई; स्थापना : जुलाई १९५७; छात्र ६८६; अध्यापक २५; भवन मूल्य लगभग सैंतीस हजार रुपया। भूमि २९ एकड़।

रायबरेली—श्री दयानन्द इंटर कालेज, गोकुला; स्थापना : जुलाई १९६३; संस्थापिका : श्रीमती द्रौपदी देवी; छात्र ४२५; अध्यापक १८; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख पचास हजार रुपया।

लखनऊ—वैदिक कन्या इंटर कालेज, गणेशगंज, लखनऊ।

लखनऊ—सरस्वती विद्यालय इंटर कालेज, नरही, लखनऊ।

वाराणसी—डी० ए० वी० इंटर कालेज, वाराणसी; स्थापना : सन् १९१२-१३ ई०; संस्थापक : स्व० श्री गौरीप्रसाद एडवोकेट; छात्र १५००, अध्यापक ६८; सम्पत्ति मूल्य लगभग पन्द्रह लाख छत्तीस हजार रुपया।

शाहजहाँपुर—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, शाहजहाँपुर; स्थापना : मई १९१७; संस्थापक : स्व० म० छोटेलालजी; छात्रा ८५९; अध्यापिका ३४; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

शाहजहांपुर—आर्य महिला विद्यालय (इंटर कालेज), कटिया टोला, शाहजहांपुर; स्थापना : १९३२; छात्रा १३००; अध्यापिका ३६; सम्पत्ति मूल्य पचास हजार रुपया।

सहारनपुर—आर्य इंटर कालेज, बहादराबाद; स्थापना : सन् १९४२; संस्थापक : वैद्य बलवन्त सिंह; छात्र ४६०; अध्यापक २९; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

सहारनपुर—आर्य कन्या इंटर कालेज, गंगोह।

सहारनपुर—आर्य कन्या इंटर कालेज, खालापार, सहारनपुर; स्थापना : सन् १८६८ ई०; संस्थापक : आर्यसमाज, खालापार; छात्रा १७३८, अध्यापिका ३९; सम्पत्ति मूल्य लगभग आठ लाख रुपया।

सहारनपुर—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, रुड़की; स्थापना : सन् १८८९ ई०; छात्रा १३५२; अध्यापिका ३७; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

सहारनपुर—ज्वालापुर आर्य कन्या इंटर कालेज, ज्वालापुर।

सहारनपुर—डॉ० हरिराम आर्य इंटर कालेज, मायापुर, हरिद्वार।

सीतापुर—श्री दयानन्द रामेश्वरप्रसाद हंसरानी आर्य कन्या इंटर कालेज, सीतापुर; स्थापना : १ जुलाई, १९६०; संस्थापक : श्री रामेश्वरप्रसाद कपूर; छात्रा १३५०; अध्यापिका ४५; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

हमीरपुर—इंटर कालेज, राठ।

हरदोई—आर्य कन्या पाठशाला इंटर कालेज, हरदोई।

अल्मोड़ा—दयानन्द आर्य उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, देवाट; स्थापना : १६४६-४७; संस्थापक : श्री रामबहादुरजी एडवोकेट; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र लगभग ४००; अध्यापक १४; भवन मूल्य नब्बे हजार रुपया। भूमि साढ़े तीन एकड़।

आगरा—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, फिरोजाबाद; स्थापना : १६३०; संस्थापक : श्री ओंकारदत्त आर्य; स्तर दशम श्रेणी तक; सम्पत्ति मूल्य लगभग अस्सी हजार रुपया।

आगरा—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, कुण्डौल; स्थापना : १ जुलाई १६६०; संस्थापक : श्री रणजीतसिंह आर्य; स्तर दशम श्रेणी तक; अध्यापक १४; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

आगरा—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, धिमिश्री; स्थापना : १ जुलाई, १६४६; स्तर दशम श्रेणी तक; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

आगरा—श्री डालचन्द वैदिक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, भोगीपुरा, आगरा; स्थापना : १ जुलाई, १६६१; संस्थापक : श्री डालचन्द वर्मा, आगरा; स्तर हाईस्कूल तक; छात्र १०००; अध्यापक २८; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

इटावा—एस० ए० वी० हाईस्कूल, भर्थना।

इटावा—ज्वालाप्रसाद उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, इटावा।

इलाहाबाद—गोपीनाथ गिरिजानन्दिनी आदर्श कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, इलाहाबाद; स्थापना : २७ अक्तूबर, १६२०; संस्थापिका : स्व० श्रीमती चन्दा देवी; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्रा १०००; अध्यापिका २५। सम्पत्ति मूल्य लगभग ढाई लाख रुपया।

गढ़वाल—आर्य कन्या पाठशाला उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, कोटद्वार।

देहरादून—दयानन्द कन्या हायर सैकेण्डरी स्कूल, सुभाष नगर, देहरादून; स्थापना : १० जुलाई, १६७२; संस्थापक : स्व० सेठ पन्नालाल मित्तल, देहरादून; स्तर हाईस्कूल तक; छात्रा २७५; अध्यापिका १०; सम्पत्ति मूल्य लगभग चार लाख रुपया।

देहरादून—राम हायर सैकेण्डरी स्कूल, खुदबुदा।

नैनीताल—कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय, काशीपुर।

नैनीताल—रूपकिशोर लालमणि आर्य कन्या विद्यालय, काशीपुर।

नैनीताल—श्री नारायण स्वामी उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, रामगढ़।

प्रतापगढ़—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, प्रतापगढ़।

पीलीभीत—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पीलीभीत।

फर्रुखाबाद—कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, फर्रुखाबाद।

फर्रुखाबाद—डी० ए० वी० हायर सैकेण्डरी स्कूल, रजलामई; स्थापना : १ जुलाई, १६६०; संस्थापक : स्व० श्री मौजीलाल गंगवार, लहरा; स्तर हाईस्कूल तक; छात्र ४०३; अध्यापक १३; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख पचास हजार रुपया।

बदायूँ—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, बिलसी।

बरेली—महावीर प्रसाद सक्सेना उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, भूड़, बरेली।

बरेली—स्त्री सुधार उच्च माध्यमिक विद्यालय, बिहारीपुर, बरेली; संस्थापिका : माता लक्ष्मी

देवीजी, कन्या गुरुकुल सासनी।

बस्ती—हरवंश खारे दयानन्द सरस्वती मंदिर उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, महदेवा लालगंज, बस्ती।

बाराबंकी—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, बाराबंकी।

बुलन्दशहर—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, अनूपशहर।

मथुरा—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, जवाहर द्वार, मथुरा।

मथुरा—आर्यसमाज कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मथुरा; छात्रा ६०१; अध्यापक ३२।

मथुरा—डी० ए० वी० हायर सैकेण्डरी स्कूल, कृष्णनगर चौक, मथुरा।

मथुरा—डी० सी० वैदिक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, आर्यनगर, गजू; स्थापना : १५ जून, १९६८; संस्थापक : श्री डालचन्द वर्मा; स्तर हाईस्कूल तक; छात्र ५६१; अध्यापक २१; सम्पत्ति मूल्य लगभग छः लाख रुपया।

मथुरा—दयानन्द आर्य उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मथुरा।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, ऊन।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० हायर सैकेण्डरी स्कूल, खालूपुर।

मुजफ्फरनगर—श्रीमद् दयानन्द गुरुकुल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, बिरालसी।

मेरठ—चावली देवी आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मेरठ।

मेरठ—दयानन्द महाविद्यालय (उच्चतर माध्यमिक) गुरुकुल, डौरली; स्थापना : श्रावण पूर्णिमा सं० १९८१ अर्थात् सन् १९२५; स्तर उच्चतर माध्यमिक; छात्र ६००; गुरुकुल रूप में श्री पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री, श्री पं० श्रीनिवास शास्त्री आदि २६ स्नातकों का निर्माण; इस गुरुकुल का भारत के स्वाधीनता आंदोलनों (१९३०-३१, १९४२) में विशेष रूप से भाग; सरकार ने इसे क्रांतिकारियों का केन्द्र कहकर अवैध घोषित कर दिया था। क्रांतिकारियों के आकर ठहरने के कारण इसे सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा।

मेरठ—वैदिक कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, अग्रवाल मंडी, टटीरी।

मेरठ—हुकमसिंह हायर सैकेण्डरी स्कूल, गोविन्दपुरी, मेरठ।

मैनपुरी—डी० ए० वी० उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, आर्यपुर खेड़ा।

मैनपुरी—दयानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, घिरौर।

मैनपुरी—दयानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सिरसागंज।

रामपुर—डी० ए० वी० कन्या विद्यालय, बिलासपुर।

रायबरेली—राष्ट्रीय विद्यालय हायर सैकेण्डरी स्कूल, रायबरेली।

लखनऊ—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, बादशाह नगर, लखनऊ।

सहारनपुर—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, मिल कालोनी, सिविल लाइन्स, सहारनपुर; १९६६ से सरकारी मान्यता प्राप्त; छात्र ५५५; अध्यापक १७।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

अलीगढ़—आर्य कन्या विद्यालय, कचौरा।

अलीगढ़—डी० ए० वी० कन्या जूनियर हाईस्कूल, अलीगढ़।

अलीगढ़—सुबोध पुत्री पाठशाला, अगराना।

आगरा—आर्य कन्या पाठशाला (जूनियर हाईस्कूल) माईथान, आगरा; छात्रा लगभग २२५; अध्यापिका १०।

आगरा—आर्य कन्या विद्यालय (जूनियर हाईस्कूल), गोकुलपुरा, आगरा; स्थापना: १६०१; छात्रा २००; अध्यापिका १०; सम्पत्ति मूल्य तीस हजार रुपया।

आगरा—आर्य वैदिक विद्यालय, शमसाबाद।

आगरा—श्री बेनीसिंह वैदिक पूर्वमाध्यमिक विद्यालय, बालूगंज, आगरा; स्थापना: १७ अप्रैल, १६५०; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ७५०; अध्यापक २६।

आगरा—वैदिक जूनियर हाईस्कूल, फिरोजाबाद; स्थापना: १६४२, संस्थापक: डॉ० केशवदेव सिंह, डॉ० ओंकारदत्त आर्य, श्री ज्वालाप्रसाद आर्य; छात्र ५००; अध्यापक १०।

आगरा—वैदिक विद्यालय, गोकुलपुरा, आगरा।

इटावा—श्रीमद् दयानन्द आर्य माध्यमिक विद्यालय, जसवन्तनगर; स्थापना: जुलाई १६५३; संस्थापक: श्री कुंवरलाल आर्य; स्तर श्रेणी ८ तक, सम्पत्ति मूल्य लगभग बीस हजार रुपया।

एटा—डी० ए० वी० स्कूल, सरोऊ।

कानपुर—आर्य कन्या विद्यालय जूनियर हाईस्कूल, रेल बाजार, कानपुर छावनी; स्थापना १६५७; छात्रा २१५; अध्यापिका १०; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

कानपुर—आर्य वैदिक जूनियर हाईस्कूल, अर्मापुर स्टेट, कानपुर; स्थापना: मई १६४५; संस्थापक: श्री चन्द्रिका प्रसाद उपाध्याय; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य पच्चीस हजार रुपया।

गढ़वाल—आर्य कन्या पाठशाला जूनियर हाईस्कूल, कोटद्वार।

गोंडा—डी० ए० वी० शिक्षालय, आर्य नगर, रेवारी।

गोंडा—डी० ए० वी० स्कूल, गोंडा।

गोरखपुर—वैदिक बालिका जूनियर हाईस्कूल, मोहद्दीपुर; स्थापना १६६३; संस्थापक: श्री देवीप्रसाद सिंह; छात्रा ४०; अध्यापिका २; सम्पत्ति मूल्य लगभग बीस हजार रुपया।

जौनपुर—दयानन्द बाल मन्दिर, शाहगंज, जौनपुर; स्थापना: १ जुलाई १६७६; संस्थापक: श्री विश्वेश्वरनाथ आर्य; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ३५०; अध्यापक ११, सम्पत्ति मूल्य पच्चीस हजार रुपया।

देहरादून—आर्य कन्या विद्यालय, डोईवाला; स्थापना: जुलाई १६७७; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्रा १६६; अध्यापिका ४; सम्पत्ति मूल्य लगभग डेढ़ लाख रुपया।

पीलीभीत—आर्य पाठशाला, पूरनपुर; स्थापना: १ अप्रैल, १६३०; संस्थापक: आर्यसमाज पूरनपुर; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र लगभग ३००; अध्यापक ७; सम्पत्ति मूल्य लगभग पन्द्रह हजार रुपया।

फतेहपुर—वैदिक कन्या विद्यालय, आर्यसमाज अहियापुर।

फतेहपुर—श्रीमद् दयानन्द विद्यालय, बिन्दकी।

फिरोजाबाद—आर्य कन्या पाठशाला जूनियर हाईस्कूल, फिरोजाबाद।

फैजाबाद—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, आर्यसमाज, जलालपुर; स्थापना: जुलाई, १६७०;

संस्थापक : श्री सुखमंगल जायसवाल; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ४०४; अध्यापक १४; सम्पत्ति मूल्य लगभग पचास हजार रुपया ।

बदायूँ—आर्य कन्या पाठशाला जूनियर हाईस्कूल, इस्लामनगर।

बदायूँ—जी० ए० वी० स्कूल, उझानी।

बदायूँ—जूनियर हाईस्कूल, आर्यनगर, इस्लामाबाद।

बलिया—महर्षि दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, आर्यसमाज खंडसरा; स्थापना : २७ फरवरी, १९६५(शिवरात्रि); संस्थापक : श्री इन्द्रदेवसिंह; स्तर श्रेणी ६ से ८ तक; छात्र २१६; अध्यापक ५, सम्पत्ति मूल्य दस हजार रुपया।

बस्ती—आर्यकन्या पाठशाला, बढनी; स्थापना : जुलाई १९५३; संस्थापक : पं० वेदनारायण वेदपाठी; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्रा १५०, अध्यापिका ५; भवन मूल्य आठ हजार रुपया, भूमि एक बीघा।

बस्ती—दयानन्द लघु माध्यमिक विद्यालय, बढ़नी; छात्र १००।

बाँदा—डी० ए० वी० स्कूल, बाँदा।

बाराबंकी—डी० ए० वी० जूनियर हाईस्कूल, बाराबंकी।

बिजनौर—आर्य कन्या जूनियर हाईस्कूल, बिजनौर।

बिजनौर—आर्य कन्या विद्यालय, गोहावर।

बिजनौर—आर्य कन्या वैदिक विद्यालय, नहटौर।

बिजनौर—आर्य जूनियर हाईस्कूल, भोजपुर, खेड़ी; अब यह विद्यालय जिला परिषद को दे दिया गया है।

बिजनौर—आर्य विद्यालय, बादापुर।

बिजनौर—दयानन्द जनता स्वावलम्बी विद्यालय जूनियर हाईस्कूल, चाँदपुर।

बिजनौर—दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, कोतवाली; स्थापना : ७ जुलाई १९६९; संस्थापक : डॉ० ओमप्रकाश आर्य; छात्र १००; अध्यापक ४; सम्पत्ति मूल्य दस हजार रुपया।

बिजनौर—दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, बिजनौर।

बिजनौर—दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, हीमपुर दीपा, डा० गढ़ोरे।

बुलन्दशहर—दयानन्द विद्यालय जूनियर हाईस्कूल, खुर्जा।

मथुरा—आर्य कन्या विद्यालय, कोसीकलाँ।

मथुरा—डी० ए० वी० जूनियर हाईस्कूल, मथुरा।

मिर्जापुर—महर्षि दयानन्द बालिका विद्यालय, मिर्जापुर; स्थापना : ७ जुलाई, १९६९; संस्थापक : श्रीमती सन्तोष कुमारी कपूर, मिर्जापुर; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्रा ५१०; अध्यापिका १७; सम्पत्ति मूल्य लगभग बीस हजार रुपया।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० विद्यालय, शामली।

मेरठ—आर्यपुत्र जूनियर हाईस्कूल, बड़ौत।

मेरठ—दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, बड़ौत।

मैनपुरी—डी० ए० वी० जूनियर हाईस्कूल, अधार; स्थापना जुलाई १९६१; संस्थापक : श्री कृष्णगोपाल दास; छात्र १२३; अध्यापक ४; सम्पत्ति मूल्य पन्द्रह सौ रुपया।

मैनपुरी—श्री दयानन्द जूनियर हाईस्कूल, घिरौर।

रायबरेली—राष्ट्रीय विद्यालय जूनियर हाईस्कूल, रायबरेली।

लखनऊ—दयानन्द बालिका विद्यालय, मोतीनगर, लखनऊ।

लखनऊ—माध्यमिक विद्यालय, गणेशगंज, लखनऊ।

वाराणसी—लालबहादुर शास्त्री जूनियर हाईस्कूल, मुगलसराय; स्थापना : १ सितम्बर, १९७५; संस्थापक : श्री हीरालाल उपाध्याय; छात्र ५००; अध्यापक ११, सम्पत्ति मूल्य दस हजार रुपया।

सहारनपुर—आर्य कन्या जूनियर हाईस्कूल, बहादराबाद; स्थापना : २ सितम्बर, १९६३; छात्रा २५०; अध्यापिका ८।

सहारनपुर—आर्य कन्या जूनियर हाईस्कूल, रामनगर, सहारनपुर।

सहारनपुर—आर्य कन्या पूर्वमाध्यमिक विद्यालय, शेरपुर, डा० रामपुर मनिहारान; स्थापना : १ जुलाई, १९७८; संस्थापक : आर्यसमाज, शेरपुर; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्रा २६; अध्यापिका २।

सहारनपुर—जमुनादास आर्य कन्या जूनियर हाईस्कूल, पुरानी मंडी, सहारनपुर; स्थापना : सन् १९२६; संस्थापक : स्व० श्री जमुनादास जी; छात्रा ३०७; अध्यापिका १०, सम्पत्ति मूल्य लगभग पच्चीस हजार रुपया।

सीतापुर—श्री दयानन्द विद्या मन्दिर जूनियर हाईस्कूल, सीतापुर; स्थापना : सन् १९०५; संस्थापक : आर्यसमाज, सीतापुर; छात्र ६९; अध्यापक १०; भवन मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

आगरा—आर्यसमाज विद्या मन्दिर, किरावली; स्थापना : २० जनवरी, १९६३; संस्थापक : स्व० श्री मातादीन 'श्रीमान् जी', किरावली; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र २००; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग दस हजार रुपया।

आगरा—दयानन्द बाल मन्दिर, सुल्तानपुरा आगरा छावनी; स्थापना १९७४; संस्थापक : स्व० श्री रामनारायण भैयाजी, श्री इन्द्रमोहन मेहता; स्तर श्रेणी ५ तक, छात्र ४५०, अध्यापिका १५।

आगरा—महर्षि दयानन्द बाल मन्दिर, दूरा; स्थापना : अगस्त १९७५; संस्थापक : श्री भगवानसिंह शुक्ल, श्री ठाकुरदास आर्य; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र २२५; अध्यापक ७; लागत मूल्य लगभग अस्सी हजार।

आजमगढ़—दयानन्द बाल मन्दिर, आजमगढ़; स्थापना : ७ जुलाई, १९६७; संस्थापक : श्री अक्षयवरनाथ आर्य वानप्रस्थ; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र लगभग ५००, अध्यापक २१; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

आजमगढ़—दयानन्द सरस्वती शिशु मन्दिर, सदर आजमगढ़।

इटावा—श्री दयानन्द माण्टेसरी स्कूल, इटावा; स्थापना १ जुलाई १९५९; संस्थापक : आर्य समाज नया शहर, इटावा; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र लगभग २४०; अध्यापक ८।

इलाहाबाद—आदर्श कन्या पाठशाला, रानी मंडी इलाहाबाद।

कानपुर—आर्य कन्या पाठशाला, अर्मापुर स्टेट, कानपुर।

कानपुर—ग्रीन हाऊस स्कूल, कानपुर।

कानपुर—प्राथमिक पाठशाला, बीहूपुर, कानपुर।

गढ़वाल (पौड़ी)—श्री जयानन्द भारतीय कन्या विद्यालय, पंचपुरी, सावली, डा० बैजरो; स्थापना : १९५२; संस्थापक : आर्यसमाज सावली आदि पंचपुरी; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ५२; अध्यापक २; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

गाजियाबाद—आर्य कन्या पाठशाला, भारत नगर, गाजियाबाद; छात्रा ४५०; अध्यापिका ७।

गाजियाबाद—दयानन्द बाल मन्दिर, नगर आर्यसमाज, गाजियाबाद; स्थापना १ जुलाई, १९७६; संस्थापक : नगर आर्यसमाज; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १५०; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

गाजियाबाद—दयानन्द बाल मन्दिर, सरदार पटेल मार्ग, गाजियाबाद।

गाजियाबाद—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, मोदीनगर।

गाजियाबाद—दयानन्द शिक्षा सदन, मुरादनगर; स्थापना : १९७२-७३; संस्थापक : आर्यसमाज मुरादनगर; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ३१५; अध्यापक ११; सम्पत्ति मूल्य ढाई लाख रुपया।

गाजीपुर—आर्य कन्या पाठशाला, गाजीपुर।

गाजीपुर—आर्य शिशु शाला, दिलदारनगर।

गाजीपुर—दयानन्द बाल मन्दिर, खट्टिपुरी, गोरा बाजार।

गाजीपुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, सादात।

गाजीपुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, सिकन्दरपुर।

गाजीपुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, सैदपुर।

गोंडा—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज करनैल गंज, गोंडा; स्थापना : १० जुलाई, १९७५; संस्थापक : श्री मुरलीमनोहर आर्य, करनैलगंज; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ८०; अध्यापक २; सम्पत्ति मूल्य साठ हजार रुपया।

गोंडा—दयानन्द बाल मन्दिर, बिछुरी, बेलपत्थर।

गोंडा—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, वनगाँव पूरेकालिका।

गोंडा—दयानन्द बाल शिक्षा मन्दिर, बलरामपुर।

गोंडा—प्रकाश दयानन्द बाल मन्दिर, स्टेशन रोड, गोंडा; स्थापना : २३ फरवरी, १९७१; संस्थापक : श्री बलराम गोविन्द, मंत्री आ० उ० प्र० सभा गोंडा, संचालिका कु० उषा श्रीवास्तव; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १००; सम्पत्ति मूल्य लगभग पिचहत्तर हजार रुपया।

गोरखपुर—दयानन्द शिशु सदन, गोरखपुर।

गोरखपुर—दयानन्द शिशु सदन, बक्शीपुर, गोरखपुर।

गोरखपुर—श्रद्धानन्द शिशु सदन, गोरखपुर।

गोरखपुर—स्वामी विरजानन्द बालसदन, हजारीपुर, गोरखपुर; स्थापना : जनवरी १९६९; संस्थापक : आर्यसमाज गोरखपुर, दानदाता श्री रामप्रसादजी; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १२५; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

झांसी—महर्षि दयानन्द सरस्वती बाल विद्यालय, मु० कटरा, मऊरानीपुर; स्तर नर्सरी से कक्षा ४ तक।

झांसी—वैदिक प्रारम्भिक शिक्षालय, आर्यसमाज, सदर, झांसी; स्थापना : १ जुलाई, १९६०; स्तर कक्षा ४ तक; छात्र ४५; अध्यापक ३।

नैनीताल—आर्य कन्या पाठशाला, नैनीताल।

प्रतापगढ़—वैदिक पाठशाला, आर्यसमाज कालाकांकर।

प्रतापगढ़—शीतलप्रसाद आर्य कन्या विद्यालय, आर्यसमाज सहादेरपुर, प्रतापगढ़; स्थापना : १९६९; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ५५०।

फतेहपुर—आर्य कन्या पाठशाला, रकाबगंज, फतेहपुर।

फतेहपुर—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज फतेहपुर।

फर्रुखाबाद—दयानन्द वैदिक पाठशाला, फर्रुखाबाद।

बलिया—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज गढ़वा।

बलिया—दयानन्द बाल मन्दिर, सहतवार; स्थापना : १५ अगस्त, १९७६; संस्थापक : श्री सुदर्शनसिंह; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र २६१; अध्यापक ७; सम्पत्ति मूल्य लगभग अस्सी हजार रुपया।

बस्ती—आर्य कन्या पाठशाला, बरदुई।

बस्ती—दयानन्द बाल मन्दिर, उस्का बाजार; स्थापना : १ जुलाई, १९७५; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र लगभग ६०; अध्यापक २।

बस्ती—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, बढ़नी; छात्र १५०।

बहराइच—आर्य कन्या पाठशाला, नानपारा।

बिजनौर—आदर्श शिशु निकेतन, आर्यसमाज, भोजपुर; छात्र ३०; अध्यापिका २।

बिजनौर—आर्य कन्या पाठशाला, धामपुर; स्थापना : १९३२ ई०; संस्थापक : श्री रणवीरसिंह; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १७; अध्यापक ५।

बिजनौर—आर्यसमाज पाठशाला, बिजनौर।

बिजनौर—वैदिक पाठशाला, स्योहारा; स्थापना : १ अगस्त, १९४३; संस्थापक : श्री दिग्विजय सिंह, चौ० रणवीरसिंह, चौ० राजेन्द्रसिंह, चौ० देवदत्तसिंह, स्व० लाला होरीलाल, स्व० लाला हरस्वरूप; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र २००; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग पचास हजार रुपया।

बिजनौर—दयानन्द बाल मन्दिर, बिजनौर; स्थापना : १ जुलाई, १९७४; संस्थापक : आर्यसमाज, बिजनौर; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ५७५; अध्यापक १७; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

बिजनौर—प्राइमरी पाठशाला, धामपुर।

बिजनौर—प्रारम्भिक आर्यसमाज वैदिक पाठशाला, बिजनौर।

बिजनौर—वैदिक पाठशाला, आर्यसमाज, धामपुर; स्थापना : १९५५; स्तर प्राइमरी तक; छात्र १५०; अध्यापक ५।

बिजनौर—वैदिक कन्या पाठशाला, भोजपुर खेड़ी; स्थापना : ८ जुलाई, १९७९; संस्थापक : आर्यसमाज भोजपुर खेड़ी; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ४०; अध्यापक २; आर्यसमाज भवन में संचालित; मूल्य एक लाख रुपया।

बुलन्दशहर—दयानन्द बाल मन्दिर, गुलावठी; संस्थापक : आर्यसमाज गुलावठी; स्थापना

१९६३; छात्र १६५; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

मथुरा—आर्य कन्या विद्यालय, कोसीकलाँ; स्तर कक्षा १ से ५ तक; छात्रा ६६; अध्यापिका २।

मथुरा—आर्य वैदिक पाठशाला, कोसीकलाँ; स्तर कक्षा १ से ५ तक; छात्र ११५; अध्यापक ३।

मथुरा—श्री विरजानन्द बाल शिक्षा मन्दिर, सौंख; स्थापना : १९६९; छात्र १५०; अध्यापक ४।

मथुरा—श्री विरजानन्द विद्यालय, मथुरा; स्थापना : जून १९४५; संस्थापक : श्री ईश्वरी-प्रसाद प्रेम; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ३५०; अध्यापक ६।

मिर्जापुर—आर्य कन्या शाला, मिर्जापुर।

मिर्जापुर—दयानन्द बाल मन्दिर, रेणुकूट, मिर्जापुर; स्थापना : १ जुलाई, १९७६; संस्थापक : श्री खिरधरलाल आर्य; स्तर कक्षा ४ तक; छात्र ३८५; अध्यापक १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

मिर्जापुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, नारायणपुर।

मुजफ्फरनगर—दयानन्द बाल मन्दिर पाठशाला, गांधी कालोनी, मुजफ्फरनगर; स्थापना : जुलाई १९७४; संस्थापक : श्री हरवंसलाल नन्दा; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १००; अध्यापक ५।

मुजफ्फरनगर—महर्षि दयानन्द सरस्वती शिशु उपवन, मुजफ्फरनगर।

मुरादाबाद—आदर्श बाल मन्दिर, बहजोई।

मुरादाबाद—दयानन्द बाल मन्दिर, अमरोहा; स्थापना : १९७६; संस्थापक : श्री श्यामसिंह राणा; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ४१०; अध्यापक १३; आर्यसमाज भवन, अमरोहा में संचालित; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

मुरादाबाद—बलदेव आर्य कन्या पाठशाला, मुरादाबाद।

मेरठ—आर्य कुमार पाठशाला, मवाना।

मेरठ—आर्य विद्या सदन, आर्यभवन, थापरनगर, मेरठ; स्थापना : ४ सितम्बर, १९६९; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ३२८; अध्यापक १४।

मेरठ—कन्या पाठशाला, आर्यसमाज रसूलपुर, औरंगाबाद।

मेरठ—गुलाबदेवी कन्या पाठशाला, मवाना।

मेरठ—गुरु विरजानन्द विद्यालय, दादरी, डा० सकौती टाँडा; स्थापना : १९७६; संस्थापक : स्वामी वरुणवेश; छात्र २००; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य लगभग पचास हजार रुपया।

मेरठ—गोदावरी देवी आर्य विद्या सदन, मुक्तिपाड़ा, मेरठ।

मेरठ—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, बड़ौत।

मेरठ—दयानन्द शिशु सदन, ब्रह्मपुरी, मेरठ।

मेरठ—श्रद्धानन्द शिशु विहार, आर्यसमाज दयानन्द पथ, सदर मेरठ।

मेरठ—हरिशंकर आर्य विद्या सदन, आनन्दपुरी, मेरठ; स्थापना : ३ जुलाई, १९७३; संस्थापिका : श्रीमती कृष्णादेवी जी; इस शिशु-संस्था की विशेषता इसकी विज्ञान प्रयोगशाला है।

मैनपुरी—डी० एस० आर्य स्कूल, जाजूमई, कटारा हरसा।

मैनपुरी—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज, बेवर।

मैनपुरी—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज सिरसागंज; स्थापना : १८ जुलाई, १९७७; संस्थापक : स्व० श्री आचार्य देवस्वामी; छात्र-छात्रा २८०; अध्यापिका ६; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

मैनपुरी—पं० दयाराम स्मारक दयानन्द बाल मन्दिर, शिकोहाबाद; स्थापना : २ अक्तूबर, १९७६; संस्थापक : आर्यसमाज, शिकोहाबाद; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र-छात्रा २२०; अध्यापिका ८; आर्यसमाज भवन में संचालित।

मैनपुरी—प्रेम पाठशाला, आर्यसमाज मैनपुरी; स्थापना : नवम्बर १९१७; संस्थापक : ठा० दुनियासिंह जी; स्तर कक्षा ५ तक; छात्र १५०।

रामपुर—आर्य प्राथमिक पाठशाला, रामपुर।

रामपुर—आर्य बाल विद्यालय, रामपुर।

रामपुर—ब्रजमोहनलाल आर्य बाल विद्यालय, मुहल्ला देवीदास, रामपुर; स्थापना : १९७१; संस्थापिका : श्रीमती विद्यावती जी; स्तर कक्षा ५ तक; छात्र लगभग २००; अध्यापिका ६।

रायबरेली—वैदिक बाल मन्दिर, रायबरेली।

लखनऊ—दयानन्द स्कूल, महानगर, लखनऊ।

सहारनपुर—आर्य कन्या प्राइमरी स्कूल, बहादराबाद; छात्रा १००; राज्य से मान्यता प्राप्त।

सहारनपुर—जमनादास आर्य कन्या पाठशाला, पुरानी मंडी, सहारनपुर।

सहारनपुर—डी० ए० वी० आदर्श पाठशाला, नकुड़।

सहारनपुर—पुरानी कन्या पाठशाला, अम्बहटा।

सहारनपुर—प्रारम्भिक कन्या पाठशाला, जनकपुर।

सुल्तानपुर—कन्या पाठशाला, आर्यसमाज, अमेठी।

हमीरपुर—कन्या पाठशाला, आर्यसमाज, हमीरपुर।

हरदोई—पुत्री पाठशाला, चठिया।

प्राविधिक संस्थाएँ (विविध)

अनूपशहर—आर्य महिला शिल्प कला केन्द्र, अनूपशहर; स्थापना : १९ नवम्बर, १९७१; संस्थापिका : श्रीमती शान्ति शर्मा।

आगरा—आर्य महिला शिल्पकला केन्द्र, किरावली; स्थापना : जुलाई १९७२; संस्थापक श्री मातादीन जी।

बाँदा—महिला हस्तकला प्रशिक्षण केन्द्र, आर्यसमाज, बाँदा।

मुजफ्फरनगर—आयुर्वेद महाविद्यालय, गुरुकुल घासीपुरा।

मुजफ्फरनगर—डी० ए० वी० कृषि विद्यालय, लखान।

कर्नाटक

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

कनारा (दक्षिण)—वैदिक साहित्य विद्यालय, मंगलौर।

गुलबर्गा—दयानन्द हिन्दी विद्यालय, अलन्द रोड, गुलबर्गा।

गुलबर्गा—हिन्दी माध्यमिक हाई स्कूल, आर्यसमाज गुरुभटकल।

बंगलूर—आर्य हाई स्कूल, आर्यसमाज बंगलूर।

बंगलूर—कन्या हाई स्कूल, आर्यसमाज बंगलूर।

विदर—प्रकाश विद्यालय, घाटवोरल, डा० हुमनाबाद।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

गुलबर्गा—दयानन्द बाल मन्दिर, मेन रोड, यादगीर; स्थापना : १ अक्तूबर, १९३९; संस्थापक : श्री ईश्वरलाल भट्टड़; स्तर सप्तम श्रेणी तक; छात्र लगभग ५००; अध्यापक १०; सम्पत्ति मूल्य लगभग साठ हजार रुपया।

गुलबर्गा—रूपसिंह चतुर्भुज बाल विकास मन्दिर, आर्यसमाज पकिराना बाजार, गुलबर्गा।

बंगलूर—महर्षि दयानन्द विद्यालय, स्वामी श्रद्धानन्द भवन, विश्वेश्वरपुरम् बंगलूर-४; स्थापना : ३ जनवरी, १९७९; स्तर नर्सरी-प्राइमरी तक; छात्र ३५; अध्यापिका ३।

बंगलूर—महर्षि दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज, बंगलूर छावनी।

विदर—आर्य बालक विकास मन्दिर, आर्यसमाज, चिड़गुप्पा।

विदर—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज, चिड़गुप्पा।

विदर—प्रातःकाल वैदिक पाठशाला, आर्यसमाज, मुधोल।

विदर—भाई वंशीलाल स्मृति बाल मन्दिर, आर्यसमाज, बड़ा हालीखेड़।

विदर—हुतात्मा धर्मप्रकाश बाल मन्दिर, आर्यसमाज, बसव कल्याण।

विदर—हुतात्मा शिवचन्द्र बाल मन्दिर, आर्यसमाज, हुमनाबाद।

मैसूर—सुनन्दा विद्यालय (शिशु विहार), मैसूर।

गुजरात

गुरुकुल तथा उपदेशक विद्यालय

पोरबंदर—आर्य कन्या गुरुकुल, पोरबंदर; स्थापना : सन् १९३६; संस्थापक : श्री नानजी भाई कालिदास मेहता; आधार-शिला एक हरिजन बालिका द्वारा रखी गयी; आचार्या सुश्री सविता बहन मेहता; शिक्षण व्यवस्था गुजरात सरकार के शिक्षण विभाग के पाठ्यक्रम के अनुसार होने पर भी गुरुकुलों के अनुरूप आश्रम व्यवस्था एवं अन्य विशेषताएँ; विद्यालय विभाग में छात्राओं की संख्या ७००; अध्यापिका ५०। उच्च शिक्षण विभाग

का नाम गुरुकुल महिला कालेज; १९५५ से प्रारम्भ; स्तर बी० ए०, बी० कॉम०; छात्रा ४९५; अध्यापक २२।

वडोदरा (बड़ौदा)—आर्य कन्या महाविद्यालय, आत्माराम पथ, कारेली बाग, वडोदरा (बड़ौदा); स्थापना : ८ जनवरी, १९२५; संस्थापक : पं० आनन्दप्रियजी; उपाधि : भारती समलंकृता और व्यायामाचार्या; सन् १९६१ के पश्चात सरकारी हायर सैकेण्डरी की परीक्षाएँ प्रारम्भ; स्नातिका कोर्स मान्य न होने के कारण संस्था राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान का प्रथमा से शास्त्री तक का पाठ्यक्रम अपनाने जा रही है। भूमि २३ बीघा। आय-व्ययक ११,७४,८६८ रुपये हैं। संस्था ने १४० स्नातिकाएँ समाज को प्रदान की हैं, जिनमें से ३५ स्नातिकाएँ आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर समाज सेवा कर रही हैं।

वलसाड—महर्षि दयानन्द स्मारक, गुरुकुल सूपा; स्थापना : १८ फरवरी, १९२४; संस्थापक : गुजरात गुरुकुल सभा, गुरुकुल सूपा। स्तर श्रेणी १० तक; छात्र ७५०; अध्यापक (विद्यालय) २८, आश्रम में १७; भू-भवन सम्पत्ति मूल्य लगभग चौदह लाख।

सूरत—गुरुकुल, सोनगढ़; स्थापना : १० मार्च, १९२९; दानदाता श्री मगनलाल छगनलाल देसाई; संस्थापक : आर्यकुमार महासभा, वडोदरा; १९४० में हाईस्कूल में परिवर्तित, पर गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के अनुसार आश्रम व्यवस्था; १९५७ में विविधलक्षी हाईस्कूल के रूप में; छात्र ६००; भू-भवन सम्पत्ति का मूल्य रु० १३,१३९९१-२९ है। कृषि भूमि ३५ एकड़।

राजकोट—उपदेशक विद्यालय, टंकारा।

महाविद्यालय

जामनगर—श्री डी० के० वी० आर्ट्स तथा साइंस कालेज, जामनगर; स्थापना : सन् १९५६; छात्र ७५६; अध्यापक ७९। इस समय यह संस्था गुजरात सरकार के अधीन है।

जूनागढ़—महर्षि दयानन्द आर्ट्स एण्ड कॉमर्स कालेज, जूनागढ़; संस्थापक : ऋषिभक्त श्री पैथलजी भाई चावड़ा ने स्वतंत्र ट्रस्ट बनाकर अपनी भूमि पर अपना धन लगाकर इस कालेज का निर्माण किया।

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

जामनगर—श्रीमद् दयानन्द कन्या विद्यालय, जामनगर; स्थापना : १६ जून, १९४७, संस्थापक : आर्यसमाज, जामनगर; स्तर द्वादश श्रेणी तक; छात्रा २६९०; अध्यापिका ७६; सम्पत्ति मूल्य लगभग पच्चीस लाख रुपये।

राजकोट—डी० ए० वी० हाईस्कूल, टंकारा।

राजकोट—वैदिक विद्यालय, आर्यसमाज राजकोट।

वडोदरा—श्री बलियादेव विद्या मंदिर हाईस्कूल, इटोला।

सूरत—गुरुकुल उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, सोनगढ़; स्तर कक्षा ८ से १२ तक; छात्र ८५२; अध्यापक ३०।

सूरत—महर्षि दयानन्द कन्या विद्यालय, सोनगढ़; स्थापना : १५ जून, १९५६; संस्थापक :

पं० आनन्दप्रियजी; स्तर कक्षा ५ से १०; छात्रा २२०, अध्यापिका ६; सम्पत्ति मूल्य साठ हजाह रुपये।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

सूरत—गुरुकुल प्राथमिक शाला, सोनगढ़; स्तर कक्षा १ से ७ तक; छात्र ६५०; अध्यापक १४।

गोधरा—आर्य पुत्री पाठशाला, आर्यसमाज फ्रीलैंडगंज, दाहोद।

गोधरा—श्री दयानन्द पाठशाला, फ्रीलैंडगंज, दाहोद; स्तर कक्षा ५ तक; छात्र १२२; अध्यापक ४।

वडोदरा—श्रीमती पन्नादेवी जालान बालवाड़ी, बड़ौदा; पूर्वनाम—आनन्द बालवाड़ी; संस्थापक : पं० आनन्दप्रियजी। आनन्द बालवाड़ी का स्वतन्त्र भवन न था। सभा के प्रधान श्री राजा मधुसूदन लालजी पित्ती (बम्बई) की पत्नी, जो सभा की उपप्रधाना हैं, की माताजी की स्मृति में, सेठ श्री मोहनलाल जालान ने उनके ट्रस्ट से साठ हजार रुपया लेकर बालभवन बनवाया। तब से बालवाड़ी का नाम-परिवर्तन हो गया। विशेषतया संस्कृतनिष्ठ बाल मन्दिर।

हिम्मतनगर—दयानन्द शिशु मन्दिर, हिम्मतनगर।

प्राविधिक संस्थाएँ (विविध)

वडोदरा—आर्य कन्या शुद्ध आयुर्वेद महाविद्यालय, वडोदरा; स्थापना : १९६३; जामनगर आयुर्वेद यूनिवर्सिटी से संवधित; संस्थापक : श्री पं० आनन्दप्रियजी, उपाधि बी० एस० ए० एम० (बैचलर ऑफ शुद्ध आयुर्वेद मेडिसिन); वार्षिक बजट ढाई लाख रुपया।

वडोदरा—आर्य कन्या व्यायाम महाविद्यालय, इटोला; स्थापना : सन् १९६३, बड़ौदा; संस्थापक : श्री पं० आनन्दप्रियजी; स्थान की कमी के कारण इटोला में स्थानान्तरित; सरकार मान्य पाठ्यक्रम सी० पी० एड्०; अब तक ५०० से ६०० व्यायाम अध्यापिकाएँ तैयार कीं।

वडोदरा—आर्य कन्या ललित कला विद्यालय, वडोदरा; अहमदाबाद के गान्धर्व महाविद्यालय से सम्बद्ध; शिक्षा भरतनाट्यम्, कंठ संगीत, वाद्य संगीत; आय-व्ययक पचीस हजार रुपया।

राजकोट—महर्षि दयानन्द विविधलक्षी हाईस्कूल, टंकारा; पोरबंदर के सेठ श्री नानजी भाई कालिदास मेहता के दान से निर्मित; छात्र २५०; डेढ़ लाख का नवीन भवन बनाने की योजना।

गोआ

उच्चतर विद्यालय

नेवरा मण्डूर—दयानन्द आर्य हाईस्कूल, नेवरा मण्डूर; स्तर श्रेणी ११ तक।

प्राथमिक विद्यालय

दीव—श्री आर्यसमाज बाल मन्दिर, दीव; स्थापना : १५ अगस्त, १९६३; संस्थापक : श्री आर्यसमाज बाल मन्दिर व्यवस्थापक कमेटी; स्तर कक्षा ३ से ५ तक; छात्र ६०; अध्यापक ३; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

चंडीगढ़

शोध-संस्थान

चंडीगढ़—महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ, चंडीगढ़।

महाविद्यालय

चंडीगढ़—डी० ए० वी० कालेज, चंडीगढ़; स्थापना : १९४७, मुल्तान में, १९५८ में चंडीगढ़ में पुन: स्थापित; स्तर महाविद्यालय; छात्र लगभग ३५००।

चंडीगढ़—मेहरचन्द महाजन डी० ए० वी० कालेज, चंडीगढ़।

चंडीगढ़—मेहरचन्द महाजन डी० ए० वी० महिला कालेज, चंडीगढ़; स्थापना : जुलाई १९६८; स्तर बी० ए०; कालेज में १७ कक्ष, एक विज्ञान प्रयोगशाला, क्रीड़ा मैदान।

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

चंडीगढ़—डी० ए० वी० हायर सैकेण्डरी स्कूल, चंडीगढ़; स्थापना : अप्रैल, सन् १९५५।

चंडीगढ़—डी० ए० वी० हाईस्कूल, सैक्टर-७, चंडीगढ़; स्थापना : १९५७।

मॉडल स्कूल

चंडीगढ़—दयानन्द जूनियर मॉडल स्कूल, सैक्टर-ए, चंडीगढ़; स्थापना : १९४२ में लाहौर में; विभाजन के पश्चात् १९५५ में चंडीगढ़ में पुनः स्थापित।

चंडीगढ़—डी० ए० वी० जूनियर मॉडल स्कूल, सैक्टर १५-ए, चंडीगढ़; स्थापना : अप्रैल १९६६।

चंडीगढ़—दयानन्द मॉडल स्कूल (शिशु), चंडीगढ़।

चंडीगढ़—सी० एल० अग्रवाल दयानन्द मॉडल स्कूल, सेक्टर-७ बी, चंडीगढ़।

जम्मू-काश्मीर

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

श्रीनगर—डी० ए० वी० इंस्टीट्यूट, आर्यसमाज वजीरबाग, श्रीनगर (काश्मीर); शिक्षा

पी० यू० सी० तक; छात्र १५००; इससे सम्बद्ध गर्ल्स हाई स्कूल भी है।

श्रीनगर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, जवाहरनगर, श्रीनगर (काश्मीर); स्थापना : सन् १९२०; छात्र १२००; निजी भवन।

श्रीनगर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, आर्यसमाज रैनावारी, श्रीनगर (काश्मीर); स्थापना : सन् १९३०; छात्र ४६०।

जम्मू—डी० ए० वी० हाई स्कूल, आर्यसमाज (कालेज विभाग), पुरानी मंडी।

नागवानी—महाराज हरिसिंह एग्रीकल्चरल कालेजिएट स्कूल, नागवानी (जम्मू); स्थापना : १९६७; संस्थापक : डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धक समिति; छात्रावास व्यवस्था; स्तर : उच्चतर माध्यमिक; भूमि २७० एकड़।

श्रीनगर—आर्य गर्ल्स हाई स्कूल, मुहल्ला कठलेश्वर, सैकिंड ब्रिज सागर, करणनगर, श्रीनगर (काश्मीर); स्थापना : सन् १९२०; छात्रा ४००।

श्रीनगर—डी० ए० वी० गर्ल्स हाई स्कूल, आर्यसमाज मग्घरमल बाग, श्रीनगर (काश्मीर); छात्रा ५००।

श्रीनगर—देवकी आर्य पुत्री पाठशाला, आर्यसमाज हजूरीबाग, श्रीनगर (काश्मीर); स्थापना : १९००-१९०१ ई०; शिक्षा दशम श्रेणी तक; माध्यम हिन्दी, धर्मशिक्षा अनिवार्य; सम्प्रति छात्रा ५५०।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

श्रीनगर—आर्य स्कूल, आर्यसमाज महाराजगंज, श्रीनगर (काश्मीर); स्तर अष्टम श्रेणी तक; छात्र २००।

श्रीनगर—गर्ल्स स्कूल, आर्यसमाज करणनगर, श्रीनगर (काश्मीर); स्तर अष्टम श्रेणी तक; माध्यम अँग्रेजी; छात्रा २५०।

जम्मू—श्री रामचन्द्र स्मृति पाठशाला, ग्राम बटहरा।

श्रीनगर—वैदिक पाठशाला, आर्यसमाज वजीरबाग, श्रीनगर (काश्मीर); स्तर पंचम श्रेणी तक; छात्र-छात्रा ३००।

त्रिपुरा

अगरतला—दयानन्द फाउंडेशन शिक्षा केन्द्र, अगरतला।

दिल्ली

गुरुकुल तथा संस्कृत विद्यालय

दिल्ली—आर्य कन्या गुरुकुल, न्यू राजेन्द्रनगर, नयी दिल्ली; स्थापना : ११ अक्तूबर, १९६७;

संस्थापिका : श्रीमती ब्रह्मशक्ति जी, आचार्या शान्तिदेवी जी; स्तर मध्यमा तक (राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान का पाठ्यक्रम); छात्रा १२५; अध्यापिका १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख अस्सी हजार रुपया।

दिल्ली—आर्ष गुरुकुल, टटेसर जौन्ती, दिल्ली-४१; स्थापना : ५ फरवरी, १९४१; संस्थापक : श्री मा० लालमणिजी; स्तर विद्याधिकारी (गुरुकुल कांगड़ी)।

दिल्ली—कन्या गुरुकुल, नरेला; स्थापना : १५ सितम्बर, १९५६ (आचार्य भगवानदेव जी द्वारा प्रदत्त भूमि पर); संस्थापक : स्वामी व्रतानन्दजी; स्तर आचार्य तक (श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्यापीठ, गुरुकुल झज्जर); छात्रा १७२; अध्यापिका ११; भूमि २५० बीघा, जिसमें १५० बीघे पर कृषि-कार्य होता है।

दिल्ली—गुरुकुल, इन्द्रप्रस्थ।

दिल्ली—वैदिक गुरुकुल, खेड़ाखुर्द।

दिल्ली—दयानन्द वेद विद्यालय, ११९ गौतमनगर, नयी दिल्ली; स्तर आचार्य तक।

दिल्ली—वेद संस्थान, सी-२२ राजौरी गार्डन, नयी दिल्ली; स्थापना : १४ जून, १९५९; वैदिक उपदेशकों का निर्माण; वैदिक विरक्तों का निर्माण।

महाविद्यालय

दिल्ली—पन्नालाल गिरधारीलाल डी० ए० वी० कालेज, नेहरूनगर, दिल्ली; स्थापना : १९५७ ई०।

दिल्ली—सतभ्रावाँ आर्य कन्या महाविद्यालय, आर्यसमाज रोड, करौलबाग, नयी दिल्ली-५।

दिल्ली—हंसराज कालेज, दिल्ली।

उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

दिल्ली—डी० ए० वी० सीनियर सैकेंडरी विद्यालय, गांधीनगर; स्थापना : मई १९५४; संस्थापक : श्री नन्दलाल कोछड़; स्तर कक्षा १२ तक; छात्र ७५०; अध्यापक ३८; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

दिल्ली—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, चावड़ी बाजार, दिल्ली।

दिल्ली—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, तेलीवाड़ा, दिल्ली।

दिल्ली—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, निजामुद्दीन (वैस्ट), नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, लोदी कालोनी, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, अनाज मण्डी, शाहदरा।

दिल्ली—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, बिरला लाइंस, सब्जी मंडी, दिल्ली-७।

दिल्ली—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, लाजपतनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर० एम० आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, राजा बाजार, नयी दिल्ली।

दिल्ली—एम० बी० डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, यूसुफसराय, नयी दिल्ली।

दिल्ली—क्वेटा डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, वैस्ट पटेलनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—जी० ए० क्वेटा, डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, निजामुद्दीन, नयी दिल्ली; स्थापना : १ मई, १९५६ दिल्ली; इससे पूर्व यह पाकिस्तान के क्वेटा नगर में था।

कहते हैं कि क्वेटा नगर के भयंकर भूकम्प के समय सारा शहर क्षतिग्रस्त हो गया था, पर इसे नाममात्र भी हानि नहीं हुई थी; संस्थापक : क्वेटा आर्यसमाज, निजामुद्दीन, नयी दिल्ली; छात्र १२००; अध्यापक ४०; सम्पत्ति मूल्य लगभग पंद्रह लाख रुपया।

दिल्ली—जी० डी० सोनी डी०ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, पूसा रोड, नयी दिल्ली; स्थापना : १ मई, १९५३; संस्थापक : सरगोधा डी० ए० वी० कमेटी; छात्र ५५९; अध्यापक २२; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

दिल्ली—गुजरांवाला गुरुकुल आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, लोदी कालोनी, नयी दिल्ली।

दिल्ली—गोपालदास सोनी डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, पूसा रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—चिरंजीलाल भल्ला डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, बेयर्ड रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, चित्रगुप्त रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, दरियागंज, दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, दिल्ली छावनी।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, बवाना।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, बेयर्ड रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, यूसुफसराय, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, रघुबरपुरा (यमुनापार), दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, दयानन्द मार्ग, राणाप्रताप बाग, दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, लोदी कालोनी, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, वैस्ट पटेलनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, शमापुर-बादली, दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, सर गंगाराम हॉस्पिटल रोड, राजेन्द्रनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—दीवानचन्द आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, लोधी रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—धनपतमल ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, रूपनगर, दिल्ली।

दिल्ली—धनवन्ती आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, कृष्णनगर, दिल्ली।

दिल्ली—बिरला आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, बिरला लाइन्स, दिल्ली-७।

दिल्ली—मिट्ठनलाल बाम्बे वाला डी०ए०वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, यूसुफसराय, नयी दिल्ली।

दिल्ली—मुल्तान डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, राजेन्द्रनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—मुल्तान डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, वैस्ट पटेलनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—रघुमल आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, राजा बाजार, हनुमान रोड, नयी दिल्ली; छात्रा २०००।

दिल्ली—रोहतगी ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, नयी सड़क, दिल्ली।

दिल्ली—श्रीराम आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, निजामुद्दीन, नयी दिल्ली।

मॉडल स्कूल

दिल्ली—कुलाची हंसराज मॉडल स्कूल, अशोक विहार, दिल्ली-५२।

दिल्ली—डी० ए० वी० मॉडल बाल विद्यालय, रामकृष्णपुरम्, नयी दिल्ली; स्थापना : १९६८।

दिल्ली—दयानन्द आदर्श विद्यालय, आर्यसमाज तिलकनगर, नयी दिल्ली; स्थापना : सन् १९७१; संस्थापक : आर्यसमाज तिलकनगर; स्तर पंचम श्रेणी तक; छात्र २२३; अध्यापक ९; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य दो लाख रुपया।

दिल्ली—दयानन्द कन्या मॉडल हायर सैकेंडरी स्कूल, नयी दिल्ली।

दिल्ली—दयानन्द मॉडल स्कूल, चित्रगुप्त रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—दयानन्द मॉडल स्कूल, मन्दिर मार्ग, नयी दिल्ली।

दिल्ली—दयानन्द मॉडल स्कूल (कन्याओं के लिए), रीडिंग रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—विरमानी मॉडल स्कूल, रूपनगर, दिल्ली।

दिल्ली—हंसराज मॉडल स्कूल, पंजाबी बाग, नयी दिल्ली; स्थापना : १९६६; स्तर हायर सैकेंडरी।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

दिल्ली—आर्य गर्ल्स मिडिल स्कूल, रैगड़पुरा, करौलबाग, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य कन्या विद्यालय, आर्यसमाज आर्यनगर, पहाड़गंज, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य कन्या पाठशाला, डॉक्टर्स लेन, हनुमान रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य पुत्री पाठशाला, गांधीनगर।

दिल्ली—आर्य पुत्री पाठशाला, चूना मंडी, पहाड़गंज, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य पुत्री पाठशाला, तेलीवाड़ा, दिल्ली।

दिल्ली—आर्य कन्या स्कूल, राजेन्द्रनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य पब्लिक स्कूल, नाँगलोई, दिल्ली।

दिल्ली—आर्य विद्या मन्दिर, प्रतापनगर, दिल्ली-७।

दिल्ली—आर्य वैदिक नर्सरी स्कूल, आराम बाग रोड, नयी दिल्ली; स्थापना : १५ जुलाई, १९५४; संस्थापक : श्री हरीशचन्द्र जी; छात्र ५९०; अध्यापक १९।

दिल्ली—आर्य वैदिक पुत्री पाठशाला, आर्यनगर, पहाड़गंज, नयी दिल्ली।

दिल्ली—आर्य स्कूल, दयानन्द वाटिका (गोविन्द भवन), दिल्ली।

दिल्ली—आर्य स्कूल, मालवीयनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—क्वेटा डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, निजामुद्दीन, नयी दिल्ली।

दिल्ली—चन्द्र आर्य विद्या मन्दिर, सन्तनगर, लाजपतनगर, दिल्ली।

दिल्ली—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, करौलबाग, नयी दिल्ली।

दिल्ली—दयानन्द विद्या मन्दिर, गांधीनगर, दिल्ली।

दिल्ली—दयानन्द शिशु मन्दिर, मॉडल बस्ती, शीदीपुरा, दिल्ली।

दिल्ली—दाऊदयाल आर्य स्कूल, नयाबाँस, दिल्ली।

दिल्ली—पुरुषार्थी आर्य पुत्री पाठशाला, पहाड़गंज, नयी दिल्ली।

दिल्ली—पुष्पावती पुरी आर्य कन्या विद्यालय एवं दयानन्द शिशु मन्दिर, मॉडल बस्ती, शीदीपुरा, नयी दिल्ली; स्थापना : सन् १९५३; संस्थापक : श्री रामलोक जी, आर्यसमाज मॉडल बस्ती; स्तर नर्सरी तक; छात्र ५६; अध्यापक २; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

दिल्ली—बाल ज्योति पब्लिक स्कूल, रोहतक रोड, नयी दिल्ली।

दिल्ली—बिरला आर्य कन्या पाठशाला, बिरला लाइन्स, सब्जी मंडी, नयी दिल्ली।

दिल्ली—मोहिनी आर्य पब्लिक स्कूल, पटेलनगर, नयी दिल्ली।

दिल्ली—रतनचन्द आर्य पब्लिक स्कूल, आर्यसमाज सरोजिनी नगर, नयी दिल्ली; स्थापना : ५ मई, १९७१; संस्थापक : श्री रतनचन्द सूद; स्तर पंचम श्रेणी तक; छात्र ११३; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग पचास हजार रुपया।

दिल्ली—रतनचन्द आर्य पब्लिक स्कूल, जंगपुरा भोगल, नयी दिल्ली।

दिल्ली—रतनदेवी पुत्री पाठशाला, कृष्णनगर, दिल्ली।

दिल्ली—श्री रघुमल आर्य कन्या प्राइमरी विद्यालय, डॉक्टर्स लेन, नयी दिल्ली (प्रथम शिफ्ट); स्थापना : सन् १९३६; संस्थापक : श्री लाला हंसराज गुप्त; स्तर प्राइमरी; छात्रा ३६०; अध्यापिका १०।

दिल्ली—श्री रघुमल आर्य कन्या प्राइमरी विद्यालय, डॉक्टर्स लेन, नयी दिल्ली (द्वितीय शिफ्ट); स्थापना : सन् १९५२; छात्रा ३५५; अध्यापिका १०; किराये के भवन में चलता है।

दिल्ली—सहदेव मल्होत्रा आर्य पब्लिक स्कूल, पंजाबी बाग, दिल्ली।

पंजाब

शोध-संस्थान

होशियारपुर—विश्वेश्वरानन्द वैदिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, साधु आश्रम, होशियारपुर; स्थापना १९०३; इस संस्थान के १४ विभाग हैं, जिनके अन्तर्गत शोधकार्य हो रहा है।

गुरुकुल तथा संस्कृत विद्यालय

जालन्धर—श्री गुरु विरजानन्द वैदिक संस्कृत महाविद्यालय, करतारपुर; स्थापना गुरु विरजानन्द दण्डी की जन्म-स्थली करतारपुर के समीप बेई नदी पर स्थित ग्राम गंगापुर का पता लग जाने पर पंजाब के आर्यों ने स्मारक बनाने की योजना बनायी। एक ऋषि-भक्त महाशय बद्रीनाथजी आर्य-प्रचारक ने १९५५-५६ में जालन्धर-अमृतसर रोड पर करतारपुर में बावन हजार रुपये की कीमत से स्मारक खड़ा कर दिया। कुछ समय तक भवन पूर्ण न हो सका। सन् १९६८ में वैदिक संस्कृत पाठशाला के रूप में इसका प्रारम्भ हुआ, आज यह महाविद्यालय है; स्तर आचार्य तक (आर्ष पद्धति); छात्र ४०; अध्यापक ५; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य पाँच लाख रुपया।

गुरदासपुर—श्रीमद् दयानन्द संस्कृत विद्यालय, दयानन्द मठ, दीनानगर।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

अमृतसर—डी० ए० वी० महिला प्रशिक्षण महाविद्यालय, अमृतसर; पहले इसका नाम 'सरस्वती महिला एजूकेशन कालेज' था, १९६६ में नाम परिवर्तित हो गया।

जालन्धर—डी० ए० वी० कालेज ऑफ एजूकेशन, नकोदर।

जालन्धर—दयानन्द अमरनाथ ट्रेनिंग कालेज, नवाशहर द्वाबा।

फरीदकोट—दयानन्द ऐंग्लो वैदिक शिक्षा महाविद्यालय, अबोहर; स्थापना : जुलाई १९६८; संस्थापक : डी० ए० वी० कॉलिज ट्रस्ट तथा प्रवन्धक सोसायटी की प्रवन्धकर्तृ समिति; स्तर बी० एड०; छात्र १८०; अध्यापक १६; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।

फरीदकोट—दयानन्द मथुरादास कालेज ऑफ एजूकेशन, मोगा।

होशियारपुर—ओकोड़ा आर्य पुत्री बेसिक ट्रेनिंग स्कूल, गढ़दीवाला।

महाविद्यालय

अमृतसर—डी०ए०वी० कालेज, अमृतसर; स्थापना : १९५५; छात्र लगभग ४,५००; अध्यापक १२२; स्तर स्नातकोत्तर।

अमृतसर—डी० ए० वी० महिला कालेज, अमृतसर; स्थापना : १३६७; संस्थापक : आर्यसमाज, लारेंस रोड, अमृतसर; स्तर स्नातक कक्षा तक; गुरु नानक विश्वविद्यालय से सम्बद्ध; छात्रा लगभग १५००।

गुरदासपुर—आर्य महिला महाविद्यालय, पठानकोट।

गुरदासपुर—आर० आर० एम० के० आर्य महिला महाविद्यालय, पठानकोट; स्थापना १ जुलाई, १९६९; संस्थापक : श्री रामरक्खामल कालरा, पठानकोट; स्तर बी० ए० तक; छात्रा ५३७; अध्यापिका १५।

गुरदासपुर—एस० एल० बावा डी० ए० वी० कालेज फॉर बॉयज, बटाला।

गुरदासपुर—रामरक्खी बावा डी०ए० वी० महिला कालेज, बटाला; स्थापना : जुलाई १९६५; दानदाता युगांडा (अफ्रीका) के श्री दुर्गादास बावा; कालेज गुरु नानक विश्वविद्यालय से सम्बद्ध है।

गुरदासपुर—वैदिक आर्य स्कूल तथा कालेज, अमर शहीद पं० लेखराम स्मारक मंडल, कादियाँ।

गुरदासपुर—शान्ति देवी आर्य महिला कालेज, दीनानगर; स्थापना : १ जुलाई, १९६५; स्तर स्नातक तक; संस्थापक गुप्ता ब्रदर्स; छात्रा २५०; अध्यापक १०।

गुरदासपुर—स्वामी स्वतन्त्रानन्द मैमोरियल कालेज, दीनानगर; स्थापना : जुलाई १९७३; संस्थापक : आचार्य दयानन्द मठ, दीनानगर; स्तर स्नातक तक; छात्र ३७०; अध्यापक १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख।

जालन्धर—आर० के० आर्य कालेज, नवांशहर, द्वाबा।

जालन्धर—आर्य कन्या महाविद्यालय, नूरमहल।

जालन्धर—आर्य कन्या महाविद्यालय, बंगा।

जालन्धर—कन्या महाविद्यालय, जालन्धर।

जालन्धर—खैरातीराम महिन्द्रू डी० ए० वी० कालेज, नकोदर; स्थापना : जुलाई १९७०; संस्थापक : श्री खैरातीराम महिन्द्रू की धर्मपत्नी श्रीमती वेदकौर, श्रीमती सुशीला देवी, ला० अमरनाथ मिश्र; स्तर स्नातक तक।

जालन्धर—डी० ए० वी० कालेज, जालन्धर; स्थापना : १९१८; स्तर स्नातकोत्तर; कला तथा विज्ञान का उत्तर भारत में सबसे बड़ा कालेज; छात्र ३८३९ (१९७१); अध्यापक

१४७; छात्रावास व्यवस्था।

जालन्धर—दोआबा कालेज, जालन्धर।

जालन्धर—बी० एल०एम० गर्ल्स कालेज, नवांशहर, द्वाबा; स्थापना : मई १९५९; संस्थापक : आर्यसमाज नवांशहर, द्वाबा; स्तर स्नातक (कला); छात्रा ३९५; अध्यापक १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

जालन्धर—बी० डी० आर्य गर्ल्स कालेज, जालन्धर छावनी।

जालन्धर—हंसराज महिला महाविद्यालय, जालन्धर; पहले लाहौर में स्थापित; ६ मार्च, १९४८ को जालन्धर में पुनः स्थापना; स्तर बी० ए०, बी० एस-सी०, एम० ए०, संगीत की विशेष शिक्षा।

पटियाला—गुरुदत्त आर्य कन्या कालेज, धुरी।

पटियाला—सरदार पटेल नेशनल कालेज, राजपुरा।

फरीदकोट—गोपीचन्द आर्य महिला कालेज, अबोहर; संस्थापक : ला० गोपीचन्द आहूजा के पुत्र राय साहब कुंदनलाल आहूजा।

फरीदकोट—डी० ए० वी० कालेज, अबोहर; स्थापना : १९६०; स्तर स्नातकोत्तर, छात्र लगभग २०००; अध्यापक ४४।

फरीदकोट—दयानन्द मथुरादास कॉलेज, मोगा।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० कालेज, मलोट; स्थापना : लगभग १९६७; संस्थापक एडवर्डगंज जन-कल्याण समिति; ९ जून, १९६९ को कालेज का प्रबन्ध डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धक समिति को हस्तान्तरित।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० महिला कालेज, फिरोजपुर छावनी; स्थापना : ७ जुलाई, १९६९; छात्रा १२८।

फिरोजपुर—माता मिश्रीदेवी डी० ए० वी० कालेज, गिद्दरबाह।

भटिण्डा—माता गुणवन्ती डी० ए० वी० कालेज, भटिण्डा।

भटिण्डा—माता दयावन्ती डी० ए० वी० कालेज, भटिण्डा।

लुधियाना—आर्य कालेज, लुधियाना; स्थापना : १९४६; छात्र २९१८; अध्यापक ८९; भवन मूल्य सात लाख रुपया।

लुधियाना—स्वामी गंगागिरि जनता महिला कालेज, रायकोट।

संगरूर—श्री लालबहादुर शास्त्री आर्य महिला कालेज, बरनाला; स्थापना : १३ जून, १९६९; संस्थापक : आर्यसमाज, बरनाला; स्तर स्नातक तक; छात्रा ३२३; अध्यापिका १०; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख।

संगरूर—श्री लालबहादुर शास्त्री मेमोरियल कालेज, बरनाला।

संगरूर—सुखानन्द आर्य कन्या महाविद्यालय, तपा; स्थापना : जून १९७०; संस्थापक : श्री हरवंशलाल गोयल तथा अध्यापक वर्ग एस० एन० आर्य हाईस्कूल, तपा; स्तर श्रेणी ११ से १४ तक; छात्रा ७०; अध्यापिका ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

होशियारपुर—जे० सी० डी० ए० वी० कालेज, दसुआ।

होशियारपुर—डी० ए० वी० कालेज, होशियारपुर।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

अमृतसर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, पट्टी।

अमृतसर—वैदिक कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, बाजार श्रद्धानन्द, अमृतसर।

अमृतसर—सरस्वती गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, अमृतसर।

गुरदासपुर—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, दीनानगर।

गुरदासपुर—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, पठानकोट।

गुरदासपुर—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, दीनानगर; स्थापना : १९०१; संस्थापक : आर्यसमाज, दीनानगर; छात्र ८११; अध्यापक २२; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

गुरदासपुर—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, पठानकोट।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, कादियाँ।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेडरी स्कूल, बटाला।

जालन्धर—ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, नकोदर।

जालन्धर—द्वाबा आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, नवांशहर, द्वाबा।

जालन्धर—देवराज गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, जालन्धर।

जालन्धर—लब्भराम द्वाबा आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, जालन्धर।

जालन्धर—साईंदास ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, जालन्धर; स्थापना : सन् १८९६; १९४० में डी० ए० वी० प्रबन्धक समिति से सम्बद्ध।

पटियाला—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, पटियाला।

पटियाला—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, धुरी।

पटियाला—एस० एन० ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, मंडी गोविन्दगढ़।

पटियाला—श्रीराम आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, पटियाला।

फरीदकोट—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, मोगा।

फरीदकोट—एम० डी० ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, मोगा।

फिरोजपुर—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, फाजिलका।

फिरोजपुर—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, फिरोजपुर छावनी।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, फिरोजपुर छावनी; स्थापना १८९६; छात्रा १०९८।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, फिरोजपुर छावनी।

भटिण्डा—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, भटिण्डा।

भटिण्डा—एम० एच० आर० हायर सैकेंडरी स्कूल, भटिण्डा।

भटिण्डा—महात्मा हंसराज हायर सैकेंडरी स्कूल, भटिण्डा।

रूपनगर (रोपड़)—चकवाल नेशनल हायर सैकेंडरी स्कूल, कुराली; स्थापना : १८ अक्तूबर, १९४८; संस्थापक स्व० लाला बुधरामजी; छात्र ७५६; अध्यापक : २६; सम्पत्ति का मूल्य लगभग बारह लाख रुपया।

रूपनगर (रोपड़)—पब्लिक हिन्दू हायर सैकेंडरी स्कूल, रूपनगर।

लुधियाना—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, लुधियाना।

लुधियाना—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, लुधियाना।

होशियारपुर—डॉ० हरिराम को-एजूकेशनल हायर सैकेंडरी स्कूल, दातारपुर; स्थापना : १ अप्रैल, १९४६; संस्थापक : स्व० श्री अम्बाप्रसादजी, ग्राम रकड़ी, दातारपुर; छात्र २९६; अध्यापक १७; सम्पत्ति मूल्य तीन लाख पाँच हजार रुपया।

होशियारपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, गढ़दीवाला।

होशियारपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, दसुआ; स्थापना : सन् १९१०; संस्थापक : श्री गंडारामजी; छात्र १३०५; अध्यापक ४३; सम्पत्ति मूल्य लगभग पन्द्रह लाख रुपया।

होशियारपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, दौलतपुर।

होशियारपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, बस्तीकलाँ।

होशियारपुर—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, बालाचौर।

होशियारपुर—माई भगवती गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, हरयाना; स्थापना : सन् १९७५; संस्थापिका : माई भगवतीजी, जिनका असली नाम पार्वती (पारो) था; छात्रा ९२३; अध्यापिका २८; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया। इस संस्था का पूर्व-नाम चकझूमरा एस० डी० तथा लाहौर कैंट स्कूल था।

होशियारपुर—श्रीमती पार्वती देवी आर्य महिला हायर सैकेंडरी विद्यालय, होशियारपुर; स्थापना : १ अप्रैल, १९००; संस्थापक : आर्यसमाज होशियारपुर; छात्रा १३००; अध्यापिका ३५; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य चार लाख रुपया।

अमृतसर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, अमृतसर।

अमृतसर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, तरनतारन।

अमृतसर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, मजीठा।

अमृतसर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, लोहगढ़।

अमृतसर—ए० एन० आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, अमृतसर।

अमृतसर—जी० एम० आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, पट्टी।

अमृतसर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, पट्टी।

कपूरथला—आर्य हाईस्कूल, फगवाड़ा।

गुरदासपुर—आर्य कन्या हाईस्कूल, बटाला।

गुरुदासपुर—आर्य हाईस्कूल, कादियाँ।

गुरदासपुर—आर्य हाईस्कूल, करौली, पठानकोट।

गुरदासपुर—आज्ञावती मरवाहा डी० ए० वी० हाईस्कूल, मरवाहा।

गुरदासपुर—कंजरूर डी० ए० वी० हाईस्कूल, झाकोलारी।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० कन्या हाईस्कूल, गुरदासपुर।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कलानौर।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कादियाँ।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, जकोलड़ी।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, धारीवाल।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, बरहामपुर।

गुरदासपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, बाडला बाजार, गुरदासपुर।
गुरदासपुर—वेदकौर आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, कादियाँ।
गुरदासपुर—शंकरगढ़ डी० ए० वी० हाईस्कूल, गुरदासपुर।
गुरदासपुर—सी० एल० अग्रवाल डी० ए० वी० हाईस्कूल, बेहरामपुर।
जालन्धर—आर्य कन्या हाईस्कूल, अपरा, जालन्धर।
जालन्धर—आर्य कन्या हाईस्कूल, करतारपुर।
जालन्धर—आर्य कन्या हाईस्कूल, जालन्धर।
जालन्धर—आर्य कन्या हाईस्कूल, नूरमहल।
जालन्धर—आर्य कन्या हाईस्कूल, बस्ती नौ, जालन्धर।
जालन्धर—आर्य हाईस्कूल, नवांशहर।
जालन्धर—आर्य हाईस्कूल, नूरमहल।
जालन्धर—आर्य हाईस्कूल, बस्तीगुजाँ, जालन्धर।
जालन्धर—ए० एस० हाईस्कूल, अलावलपुर।
जालन्धर—ए० एस० हाईस्कूल, नूरमहल।
जालन्धर—ए० एस० हाईस्कूल, रूरकाकलाँ।
जालन्धर—एस० डी० ए० हाईस्कूल, बस्ती नौ, जालन्धर।
जालन्धर—कुन्दनलाल आर्य पुत्री पाठशाला, जालन्धर।
जालन्धर—डब्ल्यू० एल० आर्य कन्या हाईस्कूल, नवांशहर।
जालन्धर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, अपरा, जालन्धर।
जालन्धर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, करतारपुर।
जालन्धर—पब्लिक आर्य वैदिक हाईस्कूल, पटारा।
जालन्धर—साईंदास ए० एस० गर्ल्स हाईस्कूल, जालन्धर।
जालन्धर—साईंदास ए० एस० हाईस्कूल, बस्ती नौ, जालन्धर।
जालन्धर—हिन्दू हाईस्कूल, बंगा।
पटियाला—आर्य कन्या हाईस्कूल, धुरी।
पटियाला—आर्य कन्या हाईस्कूल, नाभा।
पटियाला—आर्य हाईस्कूल, नाभा; स्थापना : १३ अप्रैल, १९४०; संस्थापक : महाशय पूर्णचन्द्रजी; छात्र ७०५; अध्यापक २२; सम्पत्ति मूल्य पाँच लाख रुपया।
पटियाला—महाशय कृष्ण आर्य कन्या हाईस्कूल, नाभा।
पटियाला—महाशय कृष्ण आर्य कन्या हाईस्कूल, राजपुरा टाउनशिप।
पटियाला—लाजपतराय हाईस्कूल, बस्सी पठानाँ।
पटियाला—वैदिक हाईस्कूल, सामाना।
पटियाला—हिन्दू पब्लिक हाईस्कूल, त्रिपुरी।
फरीदकोट—आर्य कन्या हाईस्कूल, मोगा।
फरीदकोट—डी० ए० वी० कन्या हाईस्कूल, फरीदकोट।
फरीदकोट—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मुक्तसर; स्थापना : सन् १९५४; संस्थापक : मैनेजिंग कमेटी; छात्र १३००; अध्यापक ३२; सम्पत्ति मूल्य लगभग दस लाख रुपया।

फरीदकोट—बी० एल० वैदिक गर्ल्स हाईस्कूल, अबोहर।

फिरोजपुर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, फाजिलका।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, गिद्दरबाह।

फिरोजपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, फाजिलका।

भटिण्डा—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, भटिण्डा; स्थापना : २२ अप्रैल, १९६६; छात्रा ११२१; अध्यापिका २७।

भटिण्डा—आर्य पुत्री पाठशाला, तलवंडी साबो।

भटिण्डा—आर्य हाईस्कूल, मण्डीफूल।

भटिण्डा—एस० एन० आर्य हाईस्कूल, रामामण्डी।

भटिण्डा—के० ए० एस० हाईस्कूल, बारागरी।

भटिण्डा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, डेराबसी।

रूपनगर—आर्य कन्या विद्यालय, खरर।

रूपनगर—आर्य कन्या हाईस्कूल, मोरिण्डा; स्थापना : १३ अक्तूबर, १९१० (विजय दशमी); संस्थापक : स्व० स्वामी विवेकानन्द, स्व० लाला रूठामल, स्व० लाला आत्मारामजी; छात्रा ७७५, अध्यापिका २४; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

रूपनगर—आर्य कन्या हाईस्कूल, रूपनगर।

रूपनगर—भलवाल सर्व हितकारी आर्य हाईस्कूल, सोहाना; स्थापना : १ अप्रैल, १९३८ (भलवाल, पाकिस्तान में), १५ मई, १९५३ (सोहाना में); संस्थापक : श्री तिलकराम सोहाना; छात्र लगभग ४००; अध्यापक १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

रूपनगर—वैदिक गर्ल्स हाईस्कूल, मनीमाजरा।

रूपनगर—सोमनाथ आर्य पुत्री पाठशाला, रूपनगर।

लुधियाना—आर्य कन्या हाईस्कूल, दोराहा।

लुधियाना—ए० एस० हाईस्कूल, खन्ना।

लुधियाना—गुरुकुल महाविद्यालय हाईस्कूल, राजकोट।

लुधियाना—जी० एल० आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, लुधियाना।

लुधियाना—जे० पी० हाईस्कूल, लुधियाना।

संगरूर—आर्य कन्या हाईस्कूल, तपा।

संगरूर—आर्य हाईस्कूल, तपा।

संगरूर—आर्य हाईस्कूल, धुरी।

संगरूर—एस० एन० आर्य हाईस्कूल, तपा; स्थापना : अप्रैल १९५२; संस्थापक : महाशय पूर्णचन्द्रजी, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब; छात्र ५००; अध्यापक १५; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया।

संगरूर—गांधी आर्य हाईस्कूल, बरनाला; स्थापना : २ अक्तूबर, १९४९; संस्थापक : म० पूर्णचन्द्र जी; छात्र १६००; अध्यापक ३२; सम्पत्ति मूल्य लगभग बीस लाख रुपया।

संगरूर—लाजपतराय आर्य हाईस्कूल, संगरूर।

होशियारपुर—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, मुकेरियाँ।

होशियारपुर—ओकोड़ा आर्य पुत्री पाठशाला, गढ़दीवाला।
होशियारपुर—ए० पी० हाईस्कूल, चतरगढ़।
होशियारपुर—एस० एल० डी० हाईस्कूल, रामपुर होलट।
होशियारपुर—के० आर० के० डी० ए० वी० हाईस्कूल, गढ़दीवाला।
होशियारपुर—के० एम० आर्य हाईस्कूल, मुरारकापुर।
होशियारपुर—डी० ए० वी० कन्या हाईस्कूल, उरमर।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, उरमर।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, काठगढ़।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कुमाही।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, खाद।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, गौधपुर।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, तख्तगढ़।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, ब्रह्मपुर।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मेहंगरवाल।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, सन्तोषगढ़।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, सालोह।
होशियारपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, हरियाना।
होशियारपुर—हंसराज आर्य हाईस्कूल, गढ़शंकर।

मॉडल स्कूल

कपूरथला—आर्य मॉडल स्कूल, फगवाड़ा।
जालन्धर—दयानन्द मॉडल स्कूल, जालन्धर।
जालन्धर—दयानन्द मॉडल हायर सैकेंडरी स्कूल, जालन्धर सिटी; स्थापना : १९६३; छात्रावास व्यवस्था; भूमि पन्द्रह एकड़।
जालन्धर—मालतीदेवी दयानन्द मॉडल स्कूल, नकोदर।
फरीदकोट—आर्य मॉडल स्कूल, कोटकपूरा; स्थापना : १८ मार्च, १९७०; संस्थापक : श्री गुरदयालसिंह; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र २९६; अध्यापक ११; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।
फरीदकोट—डी० ए० एम० मॉडल स्कूल, मोगा।
फरीदकोट—डी० ए० वी० मॉडल सैकेंडरी स्कूल, अबोहर; स्थापना : २४ अप्रैल, १९७२; संस्थापक : डी० ए० वी० मैनेजिंग कमेटी; स्तर श्रेणी १० तक; छात्र ५००; अध्यापक बीस।
फिरोजपुर—ईश्वरादेई श्यामनारायण डी० ए० वी० मॉडल स्कूल, फिरोजपुर शहर।
फिरोजपुर—डी० ए० वी० मॉडल हाई स्कूल, फिरोजपुर छावनी; स्थापना : १९६५; छात्र लगभग ४००; अध्यापक १९।
फिरोजपुर—दयानन्द चाननलाल आदर्श बाल विद्या मन्दिर, फाजिलका।
भटिण्डा—एच० एम० आर० मॉडल स्कूल, भटिण्डा।

भटिण्डा—दयानन्द मॉडल स्कूल, रामामण्डी।
रूपनगर—दयानन्द मॉडल स्कूल, कुराली।
लुधियाना—आर० एस० मॉडल स्कूल, मॉडल टाउन, लुधियाना।
लुधियाना—दयानन्द मॉडल स्कूल, मॉडल टाउन, लुधियाना।
संगरूर—दयानन्द आदर्श विद्यालय, अहमदगढ़; स्थापना : १ जनवरी, १९७३; संस्थापक : आर्यसमाज, अहमदगढ़; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ३८०; अध्यापक १३।
संगरूर—दयानन्द कन्या मॉडल स्कूल, अहमदगढ़ मण्डी।
संगरूर—दयानन्द मॉडल स्कूल, तपा।
संगरूर—स्वामी श्रद्धानन्द मॉडल स्कूल, तपा मण्डी; स्थापना : १ अप्रैल, १९७५; संस्थापक : श्री हरवंशलाल गोयल; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १४४; अध्यापक १०; सम्पत्ति मूल्य एक लाख बीस हजार रुपया।
संगरूर—स्वामी शारदानन्द मॉडल स्कूल, तपा; स्थापना : अप्रैल १९७५; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १५०; अध्यापक ७; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।
होशियारपुर—दयानन्द मॉडल स्कूल, उरमर।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

अमृतसर—वैदिक कन्या पाठशाला, बाजार पशमवाला, अमृतसर।
गुरदासपुर—आर्य कन्या पाठशाला (डी० जी० खान), दीनानगर; स्थापना : १ जनवरी, १९५३; संस्थापिका : श्रीमती सरलादेवी; स्तर मिडिल तक; छात्रा १९०; अध्यापिका ९; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।
गुरदासपुर—आर्य कन्या पाठशाला, पठानकोट।
गुरदासपुर—डी० जी० खान आर्य मिडिल स्कूल, दीनानगर।
गुरदासपुर—वैदिक कन्या पाठशाला, बटाला।
जालन्धर—आर्य कन्या मिडिल स्कूल, करतारपुर।
जालन्धर—आर्य पुत्री पाठशाला, राहों।
पटियाला—आर्य पुत्री पाठशाला, राजपुरा।
फरीदकोट—आर्य कन्या पाठशाला, मोगा।
फरीदकोट—डी० ए० वी० कन्या विद्यालय, फरीदकोट।
फरीदकोट—बी० एल० गर्ल्स वैदिक मिडिल स्कूल, अबोहर।
फरीदकोट—महात्मा गांधी विद्यालय, अबोहर।
भटिण्डा—आर्य पुत्री पाठशाला, रामामण्डी।
रूपनगर—आर्य कन्या पाठशाला, मोरिण्डा।
लुधियाना—आर्य कन्या पाठशाला, साहनेवाल।
संगरूर—दयानन्द केन्द्रीय विद्या मन्दिर, बरनाला; स्थापना : ३ मई, १९६३; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ३२५; अध्यापक १२।
होशियारपुर—कन्या विद्यालय, गढ़शंकर।
होशियारपुर—बाबालाल आर्य पुत्री पाठशाला, चालेट।

होशियारपुर—बाबालाल आर्य पुत्री पाठशाला, दातारपुर।
अमृतसर—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, तरनतारन।
कपूरथला—आर्य प्राइमरी स्कूल, बंगरोड, फगवाड़ा।
गुरदासपुर—दयानन्द बाल मन्दिर, किला मन्दिर, बटाला।
जालन्धर—आर्य नेशनल प्राइमरी पाठशाला, फिल्लौर।
जालन्धर—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, नकोदर।
जालन्धर—डी० ए० वी० हिन्दी प्राइमरी स्कूल, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, मुहल्ला अली, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, मुहल्ला किला, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, मुहल्ला गोपालनगर, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, मुहल्ला पंजपीर, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, बस्तीगुजाँ, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, बस्ती नौ, जालन्धर।
जालन्धर—साईदास ए० एस० प्राइमरी स्कूल, मुहल्ला मोहिन्दरू, जालन्धर।
फरीदकोट—आर्य कन्या प्राइमरी स्कूल, अबोहर।
फरीदकोट—आर्य पुत्री पाठशाला, अबोहर।
भटिण्डा—गुरुकुल शिल्प विद्यालय, भटिण्डा; स्थापना : १२ नवम्बर, १९२४; संस्थापक : स्वामी श्रद्धानन्द जी; स्तर श्रेणी १ से ४ तक; छात्र ५७; अध्यापिका २; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक करोड़ रुपया।
होशियारपुर—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, अबोहर।

प्राविधिक संस्थाएँ (विविध)

अमृतसर—डी० ए० वी० मल्टीपर्पज हायर सैकेंडरी स्कूल, अमृतसर; स्थापना : १९१३; सन् १९५८ में बहु-उद्देशीय विद्यालय के रूप में परिवर्तित।
अमृतसर—दयानन्द औद्योगिक शिक्षा संस्थान, अमृतसर; विभिन्न उद्योगों का प्रशिक्षण, तीन मुख्य उपविभाग—१. औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र २. आई० टी० आई० के ढाँचे पर नॉन-इंजीनियरिंग उद्योगों में प्रशिक्षित करने के लिए कन्याओं का औद्योगिक स्कूल ३. प्रशिक्षण तथा उत्पादन केन्द्र।
गुरदासपुर—आर्य महिला क्राफ्ट विद्यालय, गुरदासपुर।
गुरदासपुर—जसवन्ती देवी आर्य कन्या इंडस्ट्रियल स्कूल, कादियाँ।
गुरदासपुर—धनदेवी डी० ए० वी० कन्या शिल्प विद्यालय, गुरदासपुर।
जालन्धर—दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज तथा फार्मेसी, जालन्धर।
जालन्धर—दयानन्द जूनियर टेक्निकल स्कूल, जालन्धर।
जालन्धर—मेहरचन्द टेक्निकल इंस्टीट्यूट, जालन्धर।
जालन्धर—मेहरचन्द पोलीटेक्निक, जालन्धर।
लुधियाना—दयानन्द मेडिकल कालेज, लुधियाना।

पश्चिमी बंगाल

गुरुकुल

मेदिनीपुर (मिदनापुर)---कक्रचन्दी गुरुकुल विद्यालय, डा० अमलहर।

मेदिनीपुर (मिदनापुर)—वासुदेवपुर कन्या गुरुकुल, डा० नन्दपुर।

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

कलकत्ता—आर्य कन्या महाविद्यालय, २० बी विधानसरणी, कलकत्ता; छात्रा १८००।

कलकत्ता—रघुमल आर्य विद्यालय, ८/१ मदनमित्र लेन, कलकत्ता; स्थापना : १९३६; छात्र १२००।

बर्द्धमान—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, आसनसोल।

कलकत्ता—आर्य विद्यालय, १६ कार्नवालिस रोड, कलकत्ता-६।

कलकत्ता—भामाशाह आर्य विद्यालय, ३६ बी आ० जगदीशचन्द्र रोड, कलकत्ता।

कलकत्ता—ए० वी० हाई स्कूल, कृष्णानगर।

चौबीस परगना—आर्य विद्यालय, कांकिनारा; स्थापना : २ जनवरी, १९५३; संस्थापक : आर्यसमाज कांकिनारा द्वारा स्व० सुखू महाशय, स्व० श्री नन्देश्वरप्रसाद जी; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र १०००; अध्यापक २४। छात्राओं की कक्षा प्रातः ६½ से १०½ तक; छात्रों की कक्षाएँ ११½ बजे से ४ बजे तक लगती हैं।

चौबीस परगना—आर्य विद्यालय, टीटागढ़।

चौबीस परगना—हरिहा भाई ए० एस० हाई स्कूल, डा० कोडालिया, सोनारपुर सदर।

बर्द्धमान—आर्य कन्या उच्च विद्यालय, उघाग्राम, आसनसोल; स्थापना : जनवरी १९५१; संस्थापक : श्री चन्द्रशेखर जी; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्रा लगभग ४२५; अध्यापिका १३; सम्पत्ति मूल्य लगभग ढाई लाख रुपया।

बर्द्धमान—दयानन्द विद्यालय (हाईस्कूल), आसनसोल; स्थापना : १ जनवरी, १९७१; संस्थापक : आर्यसमाज, आसनसोल; छात्र ७००; अध्यापक १६; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य दो लाख तीस हजार रुपया।

बर्द्धमान—लक्ष्मीदेवी दारुका आर्य कन्या उच्च विद्यालय, आसनसोल; छात्रा ५००।

मेदिनीपुर (मिदनापुर)—आर्य कन्या विद्यालय, खड़गपुर; स्थापना : १२ जनवरी, १९६२; संस्थापक : स्व० श्री प्यारेलाल वानप्रस्थी; स्तर श्रेणी १० तक; छात्रा १५५; अध्यापिका ८; सम्पत्ति मूल्य डेढ़ लाख रुपया।

मेदिनीपुर (मिदनापुर)—भूता डी० ए० वी० हाई स्कूल, भूता।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

कलकत्ता—आर्य परिषद् विद्यालय, नमक महल रोड, कलकत्ता।

कलकत्ता—आर्य विकास विद्यालय, काशीपुर, २३।१ एफ० बी० टी० रोड, कलकत्ता-२।

कलकत्ता—दक्षिण कलकत्ता आर्य विद्यालय, ३७।१ गर्चा रोड, कलकत्ता-१९।

कलकत्ता—लाभासाह आर्य विद्यालय, मल्लिक बाजार, ३६ बी आ० रोड, डा० पार्क सरकस, कलकत्ता-१ ।

चौबीस परगना—टीटागढ़ आर्यन् विद्यालय, बैरकपुर ।

बर्द्धमान—आर्य विद्यालय, चायदानी ।

बर्द्धमान—डी० ए० वी० माध्यमिक स्कूल, आसनसोल ।

मेदिनीपुर—मुकुटमल आर्य कन्या विद्यालय, डा० अमलहर ।

कलकत्ता—आर्य कन्या विद्यालय (प्राथमिक) २०-बी विधानसरणी, कलकत्ता ।

कलकत्ता—आर्य बाल पाठशाला (आर्य स्त्री समाज), भवानीपुर, माधवलेन, कलकत्ता-२५ ।

कलकत्ता—आर्य विकास विद्यालय (प्राथमिक) काशीपुर, २३।१ एफ० वी० टी० रोड, कलकत्ता-२ ।

कलकत्ता—आर्य विद्या मन्दिर, भवानीपुर, १६ पद्मपुकार रोड, कलकत्ता ।

कलकत्ता—दक्षिण कलकत्ता आर्य विद्यालय (प्राथमिक), ३७।१ ए गर्चा रोड, कलकत्ता ।

कलकत्ता—भामाशाह आर्य विद्यालय (प्राथमिक), मलिक बाजार, ३६-बी आ० जगदीशचन्द्र रोड, कलकत्ता ।

कलकत्ता—रघुमल आर्य विद्यालय (प्राथमिक), ८।१ मदनमित्र लेन, कलकत्ता-६ ।

चौबीस परगना—आर्य विद्यालय, बारकपुर ।

चौबीस परगना—आर्य विद्यालय (प्राथमिक) टीटागढ़ ।

चौबीस परगना—इच्छापुर हरिजन आर्य विद्यालय, डा० ईसपुर ।

दार्जिलिंग—दार्जिलिंग आर्य कन्या पाठशाला, दार्जिलिंग ।

बर्द्धमान—आर्य कन्या प्राथमिक विद्यालय, आसनसोल; छात्रा ३५० ।

बर्द्धमान—आसनसोल डी० ए० वी० स्कूल (प्राथमिक), आसनसोल; छात्र ६०० ।

बर्द्धमान—ए० के० विद्या मन्दिर, सिमलोन (कलना-बर्द्धमान) ।

बर्द्धमान—लक्ष्मीदेवी दारुका प्राथमिक विद्यालय, आसनसोल; छात्रा ५०० ।

मेदिनीपुर—आर्य कन्या पाठशाला, खड़गपुर; स्थापना : १ अप्रैल, १९३६ (रामनवमी); संस्थापक : स्व० श्री प्यारेलाल वानप्रस्थी; स्तर श्रेणी ४ तक; छात्रा १६२; अध्यापिका ५; सम्पत्ति मूल्य पचास हजार रुपया ।

मेदिनीपुर—आर्य कन्या पाठशाला, मेदिनीपुर ।

मेदिनीपुर—राजा रामपुर सागर स्मृति वैदिक विद्यापीठ, नन्दपुर ।

मेदिनीपुर—श्री दयानन्द विद्यापीठ, खड़गपुर; स्थापना : १ जनवरी, १९६३; संस्थापक : स्व० श्री प्यारेलालजी वानप्रस्थी; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १५०; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य तीस हजार रुपया ।

हावड़ा—आर्य विद्यालय, सलकिया, ३८ क्षेत्र मित्रलेन, हावड़ा-६; स्थापना : सन् १९३४; संस्थापक : श्री मिहिरचन्द धीमान्, अध्यक्ष आ० प्र० सभा बंगाल; स्तर श्रेणी ४ तक; छात्र-छात्राएँ १६५; अध्यापक ३ ।

हुगली—चम्पदनी आर्य विद्यापीठ, चम्पदनी ।

हुगली—चम्पदनी आर्य कन्या विद्यालय (प्राथमिक), चम्पदनी ।

प्राविधिक संस्था

बर्द्धमान—डी० ए० वी० बहु-उद्देशीय माध्यमिक स्कूल, आसनसोल; छात्र १०००।

बिहार

गुरुकुल तथा संस्कृत विद्यालय

गया—गुरुकुल महाविद्यालय, पुरानी गोदाम, गया।

चम्पारन—गुरुकुल विद्यालय, औसावी।

छपरा—गुरुकुल महाविद्यालय, अयोध्यानगर (मेहियाँ); स्थापना : १३ अप्रैल, १९४५; संस्थापक : आर्यसमाज, छपरा; छात्र १३७; अध्यापक ११; स्तर शास्त्री तक; सम्पत्ति मूल्य लगभग सवा दो लाख रुपया।

रांची—गुरुकुल दयानन्द विद्यालय, लोहरदग्गा।

संथाल परगना—गुरुकुल महाविद्यालय, वैद्यनाथ धाम; स्थापना १९२४ ई०; संस्थापक : आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार; स्तर शास्त्री तक, बिहार सैकेंडरी बोर्ड की भी परीक्षा व्यवस्था; आश्रम व्यवस्था। छात्र २१५; अध्यापक १५; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

संथाल परगना—वनवासी आर्य गुरुकुल महाविद्यालय, वरदई पोड़ैयाहाट।

सीतामढ़ी—गुरुकुल महाविद्यालय, बैरगनिया; स्थापना : सन् १९५० में रामरुच नगर में, २१ जून, १९५९ को बैरगनिया में स्थानान्तरण; संस्थापक : स्वामी मनीषानन्द सरस्वती; स्तर मध्यमा तक स्वीकृत, शास्त्री, आचार्य प्राइवेट; छात्र १०५; अध्यापक ११; सम्पत्ति मूल्य दस लाख।

हजारीबाग—गुरुकुल विद्यालय, चतरा।

पटना—वेदरत्न विद्यालय, मुस्तफापुर।

पटना—संस्कृत वेद विद्यालय, खुसरुपुर।

पटना—सर्वदानन्द वैदिक विद्यालय, पटना सिटी।

मुजफ्फरपुर—वेदरत्न विद्यालय, मुजफ्फरपुर।

रांची—वैदिक विद्यालय, गोविन्दपुर।

सिवान—वैदिक साहित्य विद्यालय, सिवान।

महाविद्यालय

छपरा—विज्ञान महाविद्यालय, साहेबगंज, छपरा।

पटना—आर्य कन्या महाविद्यालय, बाँकीपुर, पटना।

पटना—दयानन्द महाविद्यालय, मछुआटोली, पटना।

पटना—दयानन्द महिला महाविद्यालय, मीठापुर।

सीवान—डी० ए० वी० महाविद्यालय, सीवान।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

छपरा—मिश्रीलाल साह उच्चतर आर्य कन्या विद्यालय, साहेबगंज, छपरा।

झरिया—डी० ए० वी० उच्चतर विद्यालय, झरिया।

झरिया—डी० ए० वी० उच्चतर विद्यालय, धनबाद।

पटना—डी० ए० वी० उच्चतर विद्यालय, दानापुर।

सीवान—डी० ए० वी० उच्चतर विद्यालय, सीवान।

गोपालगंज—डी०ए०वी० उच्च विद्यालय, गोपालगंज; स्तर मैट्रिक तक; छात्र ७५०; अध्यापक १५; भवन २७ कक्ष, २ एकड़ भूमि।

धनबाद—डी० ए० वी० उच्च विद्यालय, कतरासगढ़।

धनबाद—डी० ए० वी० उच्च विद्यालय, पाथरडीह।

पटना—आर्य कन्या विद्यालय, बाँकीपुर, पटना।

पटना—दयानन्द आर्य कन्या उच्च विद्यालय, खुसरुपुर।

पटना—दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय, मीठापुर।

पटना—दयानन्द विद्यालय, मीठापुर; स्थापना : १९२८; संस्थापक : स्व० रायबहादुर व्रजनन्दसिंह; स्तर मैट्रिक तक; छात्र २०००; अध्यापक ४५; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो करोड़ रुपया।

पटना—दयानन्द हाईस्कूल, कदमकुआँ, पटना।

पटना—मुसद्दीलाल आर्य कन्या विद्यालय, मोकामा।

पटना—वैदिक उच्च विद्यालय. नरगनौसा।

पलामू—डी० ए० वी० उच्च विद्यालय, गढ़वा।

मुंगेर—आर्य कन्या विद्यालय, सन्दलपुर।

मुंगेर—आर्यवृत्ति कन्या उच्च विद्यालय, खगड़िया।

मुंगेर—भारतीय आर्य कन्या उच्च विद्यालय, जमालपुर।

मुंगेर—भारतीय आर्य उच्च विद्यालय, जमालपुर।

संथाल परगना—आदिवासी विद्यालय, मधुपुर।

सारन—कृष्ण बहादुर गुरुकुल उच्च विद्यालय, हरपुरजान; स्थापना : लगभग सन् १९१९, गुरुकुल रूप में, १९३८ में बंद, १९६४ में श्री कृष्णबहादुर सिंह के भ्राता डॉ० नरेन्द्रपालसिंह द्वारा हाईस्कूल के रूप में संचालन; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र २५०; अध्यापक ११; सम्पत्ति का अनुमानित मूल्य पिचहत्तर हजार रुपया।

सारन—डी० ए० वी० हाईस्कूल, घंडवा।

सिंहभूम—आर्य विद्यालय, जमशेदपुर।

सीवान—आर्य कन्या विद्यालय, सीवान।

सीवान—सरयुप्रसाद आर्य प्रैक्टिकल, उच्च विद्यालय, सिकटिया; स्थापना : १९४१; संस्थापक : स्व० श्री सरयुप्रसाद आर्य; स्तर मैट्रिक तक; छात्र ४००; अध्यापक १४।

हजारीबाग—दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय, बोकारो।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

छपरा—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, छपरा।
छपरा—दयानन्द माध्यमिक विद्यालय, छपरा।
छपरा—श्री गंगादेवी आर्य कन्या विद्यालय, साहेबगंज, छपरा।
धनबाद—डी० ए० वी० कन्या विद्यालय, धनवाद।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, नयाटोला।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, बाँकीपुर, पटना।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, बाढ़।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, मोकामा।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, सोहसराय।
पटना—आर्य कन्या विद्यालय, पुनाईचक।
पटना—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, चिन्तामणिचक।
पटना—दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय, खुसरुपुर।
पटना—दयानन्द ऐं०लो वैदिक माध्यमिक विद्यालय, खुसरुपुर।
पटना—दयानन्द कन्या माध्यमिक विद्यालय, खुसरुपुर।
पटना—बिहारीलाल माध्यमिक विद्यालय, खगौल।
पटना—भारतीय विद्या मन्दिर, सहसराय।
पलामू—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, गढ़वा।
पूर्वी चम्पारन—आर्य कन्या माध्यमिक विद्यालय, रक्सौल।
पूर्वी चम्पारन—दयानन्द माध्यमिक विद्यालय, रक्सौल।
मुंगेर—आर्य कन्या विद्यालय, बड़हिया।
मुंगेर—आर्य कन्या विद्यालय, जमालपुर।
मुंगेर—आर्यवृत्ति माध्यमिक विद्यालय, खगड़िया।
मुंगेर—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, मुंगेर।
मुजफ्फरपुर—एस० के० डी० आर्य कन्या विद्यालय, मुजफ्फरपुर।
मुजफ्फरपुर—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, प्रतापटाँड।
मुजफ्फरपुर—बाल विकास माध्यमिक विद्यालय, चन्दवारा।
राँची—डी० ए० वी० कन्या विद्यालय, धुर्वा।
संथाल परगना—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, मधुपुर।
सारन—माध्यमिक विद्यालय, सिकटिया।
सिंहभूम—भारतीय मॉडल मिडिल स्कूल, ताप्ती रोड, साकची, जमशेदपुर-१।
गया—आर्य विद्यालय, नवादा।
गया—डॉ० दुःखनराम वैदिक विद्यालय, मठगुलनी।
गया—निम्न प्राथमिक विद्यालय, अकबरपुर, डा० राजहाट।
चम्पारन—उच्च प्राथमिक विद्यालय, मलाही।
चम्पारन—उच्च प्राथमिक विद्यालय, रामगढ़वा।

चम्पारन—दयानन्द उच्च प्राथमिक विद्यालय, रक्सौल।
चम्पारन—दयानन्द विद्यालय, खोढ़ा, डा० इनखाफूलवार।
चम्पारन—बाल विद्या मन्दिर, बेतिया।
छपरा—रामचन्द्र महाशय आर्य शिशु विद्यालय, छपरा।
दरभंगा—महर्षि दयानन्द राष्ट्रीय विद्यालय, समस्तीपुर।
दानापुर—श्रद्धानन्द आर्य विद्यालय, दानापुर।
नालन्दा—सूर्यदेवी आर्य कन्या विद्यालय, हिलसा।
पटना—आर्य कन्या मध्य विद्यालय, बलीपुर बाढ़।
पटना—आर्य विद्यालय, बाढ़।
पटना—आर्य विद्यालय, मोकामा।
पटना—आर्य विद्यालय, खुसरुपुर।
पटना—आर्य विद्यालय, पालीगंज।
पटना—आर्य बाल विद्यालय, परेव।
पटना—उच्च प्राथमिक विद्यालय, चिन्तामणिचक।
पटना—उच्च प्राथमिक विद्यालय, जक्कनपुर, पटना।
पटना—उच्च प्राथमिक विद्यालय, यारपुर।
पटना—उच्च प्राथमिक विद्यालय, औटा।
पटना—दयानन्द प्राइमरी विद्यालय, खुसरुपुर।
पटना—प्राथमिक विद्यालय, आर्यसमाज बनारसी घाट, बाढ़।
पटना—प्रारम्भिक वैदिक पाठशाला, बिहटा।
पटना—बाबूलाल आर्य विद्यालय, व्यापुर।
पटना—बाल विद्या सदन, आर्यसमाज, बाढ़।
पटना—श्रद्धानन्द आर्य पाठशाला, बाँकीपुर।
मुंगेर—आर्य विद्यालय, खगड़िया।
मुंगेर—आर्यवृत्ति कन्या विद्यालय (प्राथमिक), खगड़िया।
मुजफ्फरपुर—आर्यवीर शिशु विद्यालय, बैरगनियाँ; स्थापना : ५ जुलाई, १९६६; अध्यापक २; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र-छात्रा ४०।
मुजफ्फरपुर—ईश्वरानन्द आर्य कन्या विद्यालय, मुजफ्फरपुर।
मुजफ्फरपुर—बाल मन्दिर, आमगोला।
राँची—डी० ए० वी० जवाहर विद्या मन्दिर, राँची।
शाहाबाद—राजपति विद्या मन्दिर, सासाराम।
सीतामढ़ी—आर्यवीर शिशु विद्यालय, बैरगनिया।
सीवान—आर्य विद्यालय, सीवान।

प्राविधिक संस्था

सीवान—डी० ए० वी० बहुउद्देशीय विद्यालय, सीवान।

मध्य प्रदेश

गुरुकुल

होशंगाबाद—गुरुकुल, होशंगाबाद; स्थापना : सन् १९१२; संस्थापक : आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश व विदर्भ; स्तर आचार्य तक; छात्र २०; अध्यापक ३; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

महाविद्यालय

इन्दौर—आर्य कन्या महाविद्यालय, महू छावनी।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

इन्दौर—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, महू।

ग्वालियर—दयानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, नया बाजार, लश्कर; स्थापना १९३३; स्तर कक्षा ११ तक; छात्र १४५९; अध्यापक २९।

गुना—सरस्वती उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल), आर्यसमाज गुना; स्थापना : ६ सितम्बर, १९३९; संस्थापक : स्व० श्री महाशयजी, श्री मोतीलाल आर्य; छात्र १०००; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य लगभग चार लाख रुपया।

जबलपुर—आर० एन० चोपड़ा आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, जबलपुर।

जबलपुर—आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक शाला, जबलपुर; स्थापना : १९५३; संस्थापक : श्री सत्यपाल हाँडा; छात्र ६००; अध्यापक २२; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

दुर्ग—तुलाराम आर्य कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, दुर्ग; स्थापना : १ जुलाई, १९५०; संस्थापक : स्व० दाऊ घनश्यामसिंह गुप्त; स्तर कक्षा ६ से ११ तक; छात्रा लगभग १०००; अध्यापिका ३०।

भोपाल—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, आर्यसमाज चौक, भोपाल; स्थापना : १९१२; छात्रा ७००।

भोपाल—आर्य कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, मुहल्ला फतेहगढ़, भोपाल।

भोपाल—कन्या हायर सैकेंडरी स्कूल, धमर्रा।

भोपाल—हायर सैकेंडरी स्कूल, धमर्रा।

भोपाल—आर्य बाल मन्दिर, आर्यसमाज तात्याटोपे नगर, भोपाल; स्थापना : २ जुलाई, १९७१; संस्थापक : आर्यसमाज साउथ टी० टी० नगर, भोपाल; छात्र ३६१; अध्यापक १४; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

महेश्वर—शासकीय बालक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, महेश्वर; स्थापना : १९५९; छात्र ७१०; अध्यापक २५; भूमि १० एकड़।

विलासपुर—आर्य विद्यालय, विलासपुर।

विलासपुर—छत्तीसगढ़ उच्चतर माध्यमिक शाला, विलासपुर; यह कीर्तिकर हाईस्कूल के स्थान पर संचाचित है।

विलासपुर—वैदिक कान्वेन्ट, नया सरकंडा; स्थापना : १९६८; संस्थापक : डॉ० विष्णुकान्त वर्मा एवं श्रीमती सुभाषिणी वर्मा, स्वामिनी सभा वैदिक शिक्षण समिति; स्तर हायर सैकेंडरी; छात्र ३२५; अध्यापक १४।

सागर—डी० ए० वी० शाला, बीना; स्थापना : १ अक्तूबर, १९६३; संस्थापक : आर्यसमाज बीना; स्तर प्राथमिक एवं पूर्व माध्यमिक, दो पारियों में संचालित; छात्र लगभग ११००; कक्षा ९ प्रारम्भ कर दी गयी है।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

इन्दौर—आर्य बाल निकेतन (माध्यमिक विद्यालय), महू।

ग्वालियर—डी० ए० वी० माध्यमिक विद्यालय, मुरार।

दुर्ग—महर्षि दयानन्द आर्य माध्यमिक विद्यालय, आर्यसमाज भवन, सेक्टर-६, भिलाई नगर; स्थापना : सन् १९६६; संस्थापक : आर्यसमाज, भिलाई नगर; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ६०२; अध्यापक १८; आर्यसमाज भवन में विद्यालय चलता है।

भोपाल—दयानन्द आर्य वैदिक विद्यालय, बी० एच० ई० एल० पिपलानी, भोपाल; स्थापना : १ जुलाई, १९७१; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ४००; अध्यापक १२।

रतलाम—महर्षि दयानन्द माध्यमिक विद्यालय, आर्यसमाज महर्षि दयानन्द मार्ग, रतलाम; स्थापना : १९५५; संस्थापक : आर्यसमाज, रतलाम; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र ३५०; अध्यापक ११; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

रायपुर—तुलाराम आर्य कन्या पूर्व माध्यमिक विद्यालय, कूरा; स्तर श्रेणी ८ तक; छात्र २१।

इन्दौर—आर्य बाल निकेतन (प्राथमिक शाला), महू।

उज्जैन—दयानन्द बाल मन्दिर, उज्जैन।

ग्वालियर—आर्य कन्या पाठशाला, लश्कर; स्थापना : १ दिसम्बर, १९५९; छात्रा १०१; अध्यापिका ३।

गुना—प्राथमिक जनयुग पाठशाला, आर्यसमाज, अशोकनगर; स्थापना : १९५८-५९; स्तर कक्षा ५ तक; छात्र २००; अध्यापक ३।

छिन्दवाड़ा—दयानन्द बाल मन्दिर, छिन्दवाड़ा; संस्थापक : आर्यसमाज छिन्दवाड़ा; छात्र-छात्रा ६०; अध्यापिका २।

जबलपुर—वैदिक पुत्री पाठशाला, आर्यसमाज गंजीपुरा, जबलपुर।

झाबुआ—दयानन्द प्राथमिक पाठशाला, आर्यसमाज, जोबट।

दुर्ग—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज, दुर्ग।

दुर्ग—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज सेक्टर-६, भिलाई नगर।

पूर्वी निमाण—आर्य बाल मन्दिर, खंडवा; स्थापना : जुलाई १९६६; संस्थापक : आर्यसमाज, खंडवा; २½ से ४ वर्ष तक के बच्चों की मांटेसरी पद्धति पर शिक्षा; छात्र लगभग १००; शिक्षिका ३।

पूर्वी निमाण—हिन्दू बाल सदन, खंडवा।

बस्तर—महर्षि दयानन्द वैदिक कान्वेन्ट, दयानन्द सेवा आश्रम, आर्यसमाज, कांकेर; छात्र १००; अध्यापिका २।

भोपाल—आर्य बाल मन्दिर, आर्यसमाज तात्याटोपे नगर, भोपाल; स्थापना : २ जुलाई १९७१; संस्थापक : आर्यसमाज टी० टी० नगर, भोपाल; छात्र ३६१; अध्यापक १४; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

भोपाल—प्राथमिक शाला, तात्याटोपे नगर, भोपाल।

मंदसौर—दयानन्द प्राथमिक विद्यालय, गरोठ।

मंदसौर—प्रधान प्राथमिक विद्यालय, छावनी नीमच; स्थापना : ६ सितम्बर, १९५५; संस्थापक : कविरत्न वैद्य घीसलालजी; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र १५०; अध्यापक ३।

मंदसौर—श्रीमद् दयानन्द विद्यालय, आर्यसमाज, नीमच कैंट; स्थापना : १९७०; छात्र ६०; अध्यापक १।

रायपुर—अग्निदेव आर्य कन्या पाठशाला, धमतरी; स्थापना : सन् १९५५; संस्थापक : आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य प्रदेश व विदर्भ; छात्रा २००; अध्यापिका ४; स्तर श्रेणी ५ तक; सम्पत्ति मूल्य लगभग पचास हजार रुपया।

रीवा—दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय (प्राथमिक पाठशाला), रीवा; स्थापना १९७०।

रीवा—दयानन्द आर्य विद्यालय, रीवा; स्थापना : ५ अगस्त, १९७२; संस्थापक : आर्यसमाज रीवा; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ३०३; अध्यापक ११।

विलासपुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, विलासपुर; स्थापना १९६८।

विलासपुर—प्राइमरी स्कूल, आर्यसमाज, विलासपुर।

सतना—आर्य कन्या विद्यालय, सतना; स्थापना : १ जुलाई, १९६१; संस्थापक : आर्यसमाज सतना; स्तर प्राइमरी; अध्यापिका २।

सतना—प्राथमिक बालिका शाला, सतना; छात्रा ५०; अध्यापिका २।

सागर—दयानन्द बाल मन्दिर, सागर; स्थापना : ५ अगस्त, १९६९; संस्थापक : आर्यसमाज, सागर; छात्र १५०; अध्यापक ४।

होशंगाबाद—आर्य कन्या पाठशाला, आर्यनगर, इटारसी; स्थापना : १९४६; स्तर प्राइमरी; छात्रा २००; अध्यापिका ५।

होशंगाबाद—आर्य कन्या पाठशाला, पुराना आर्यसमाज, इटारसी।

महाराष्ट्र

गुरुकुल तथा संस्कृत विद्यालय

कोल्हापुर—आर्यसमाज गुरुकुल, कोल्हापुर।

नान्देड़—आर्ष गुरुकुल, वाजेगाँव; नान्देड़ से तीन किलोमीटर की दूरी पर पवित्र गोदावरी के तट पर स्थित; इसमें ४ से १० वर्ष के बालकों का प्रवेश; उद्देश्य : अनाथ व गरीब छात्रों को वैदिक सभ्यता और संस्कृति में शिक्षित-दीक्षित करना।

बम्बई—गुरुकुल आश्रम, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई।

बम्बई—श्रीमती मीठाबाई संस्कृत पाठशाला, आर्यसमाज लेन, वि० भा० पटेल मार्ग, गिरगाँव, बम्बई।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

शोलापुर—दयानन्द शिक्षण महाविद्यालय, शोलापुर; स्थापना : जून १९४४; संस्थापक : डी० ए० वी० ट्रस्ट, दिल्ली; स्तर बी०एड०, एम०एड०; छात्र २६०; अध्यापक २४, दयानन्द कालेज, शोलापुर के अंगभूत।

शोलापुर—दामानी प्रेमरत्न भेरुरत्न दयानन्द कालेज ऑफ एजुकेशन, शोलापुर; स्तर बी०-एड्०, एम० एड्०।

महाविद्यालय

उस्मानाबाद—दयानन्द कालेज, लातूर।

उस्मानाबाद—दयानन्द वाणिज्य महाविद्यालय, लातूर; स्थापना : १५ जून, १९६९; संस्थापकः दयानन्द शिक्षण संस्था, लातूर; छात्र ३०००; अध्यापक १०५; सम्पत्ति मूल्य छः लाख बयालीस हजार, छियत्तर रुपये उनतीस पैसे (लागत मूल्य)। यह विवरण कला कालेज, विधि कालेज, विज्ञान महाविद्यालय का भी है।

उस्मानाबाद—दयानन्द विधि कालेज, लातूर; संस्थापक : दयानन्द शिक्षण संस्था, लातूर।

उस्मानाबाद—दयानन्द विज्ञान महाविद्यालय, लातूर; संस्थापक : दयानन्द शिक्षण संस्था, लातूर।

उस्मानाबाद—श्यामलाल स्मारक आर्य महाविद्यालय, उद्गीर।

बम्बई—महर्षि दयानन्द कालेज ऑफ आर्ट्स एंड साइन्सेज, २५ डॉ० एस० एस० राव रोड, परेल, बम्बई; स्थापना : सन् १९६२; छात्र १५४५; अध्यापक ६२; शिल्प व सैनिक शिक्षा की विशेष व्यवस्था।

शोलापुर—डी० ए० वी० वेलंकर कालेज ऑफ कॉमर्स, शोलापुर।

शोलापुर—दयानन्द कालेज ऑफ कॉमर्स, शोलापुर।

शोलापुर—दयानन्द कालेज, शोलापुर।

शोलापुर—दामानी गोपाबाई भेरुरत्न दयानन्द संकाय एवं विधि कालेज, शोलापुर।

शोलापुर—दामानी भेरुरत्न फतेहचन्द दयानन्द कालेज ऑफ आर्ट्स एंड साइंस, शोलापुर; स्थापना : १९४०; स्तर स्नातकोत्तर।

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

अकोला—भारत हाईस्कूल, रिसोदवाशिम, अकोला।

उस्मानाबाद—गोपाल विद्यालय, चाकूर, ता० अहमदपुर।

उस्मानाबाद—नरेन्द्र आर्य विद्यालय, आपसिंगा, ता० तुलजापुर; स्थापना : १ जनवरी १९४९; संस्थापक : श्री साहेबरावजी; स्तर श्रेणी १० तक; छात्र २५५; अध्यापक ९; छात्रावास 'विद्यार्थी वसति गृह' है।

उस्मानाबाद—श्यामलाल स्मारक आर्य विद्यालय, उदगीर; स्थापना : १५ अगस्त, १९५०; सम्पत्ति मूल्य तीन लाख रुपया।

उस्मानाबाद—श्यामार्य कन्या विद्यालय, उदगीर।

औरंगाबाद—आर्य हिन्दी विद्यालय, जालना।

थाणा—ए० ई० एस० पालधर हाईस्कूल, पालधर, समीप मुमलातदार कचहरी।

थाणा—राजेन्द्रपाल मन्याला हिन्दी हाईस्कूल, थाना रोड, थाणा।

नागपुर—डी० ए० वी० हाईस्कूल, खापड़खेड़ा खामला; स्थापना : १० अक्तूबर, १९४८।

नागपुर—दयानन्द आर्य कन्या विद्यालय, जरीपटका, नागपुर; स्थापना : १ जुलाई, १९६२; स्तर मैट्रिक तक; छात्रा ४६६; अध्यापिका १७; शीघ्र ही विद्यालय, महाविद्यालय के रूप में विकसित होने जा रहा है।

नान्देड़—गांधी राष्ट्रीय हिन्दी विद्यालय संस्था, गाडीपुरा, नान्देड़; स्थापना : १५ जून, १९४९; संस्थापक : स्वामी लक्ष्मणाचार्यजी; स्तर हाईस्कूल तक; छात्र ४१०; अध्यापक १९; सम्पत्ति मूल्य प्राथमिक विभाग गाडीपुरा का भवन एक लाख रुपया, माध्यमिक विभाग (हाईस्कूल) अनुमानित मूल्य तीन लाख रुपया, प्राथमिक विभाग गवलीपुरा एक लाख रुपया।

नान्देड़—नूतन विद्यालय, उमरी; स्थापना : २५ जून, १९४१; संस्थापक : स्वामी रामानन्द तीर्थ तथा स्थानीय संस्था; स्तर हाईस्कूल तक; छात्र १०५१; अध्यापक ४०; सम्पत्ति मूल्य ढाई लाख रुपया।

नान्देड़—हिन्दी मराठी विद्यालय, नान्देड़।

परभणी—माणिक स्मारक आर्य विद्यालय, हिंगोली; स्थापना : १४ जनवरी, १९५०; छात्र ६०७; स्तर दशम श्रेणी तक।

बम्बई—आर्यन् एजूकेशन सोसाइटीज गर्ल्स हाईस्कूल, शारदा सदन, गिरगाँव, बम्बई; स्थापना : १९३३; संस्थापक : श्रीविष्णु बालकृष्णजी; छात्रा ६५३; अध्यापिका १४।

बम्बई—आर्यन् एजूकेशन सोसाइटी हाईस्कूल, ओपेरा हाउस, गिरगाँव, बम्बई।

बम्बई—दयानन्द हिन्दी वैदिक विद्यालय, मुलुन्द, बम्बई; स्थापना : ७ नवम्बर, १९५५; स्तर हाईस्कूल; छात्र लगभग २४००; अध्यापक ४०; चल सम्पत्ति मूल्य पचास हजार रुपया।

बम्बई—श्री वादीलाल चतुर्भज गुरुकुल हाईस्कूल, तिलक रोड, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई; स्थापना : नवम्बर, १९३५; छात्र लगभग २,४००; अध्यापक ७१; विद्यालय दो शिफ्ट में चलता है। प्रत्येक शिफ्ट में कक्षा ५ से १० तक पढ़ाई होती है।

बम्बई—श्री विक्रमसिंह शूरजी गुरुकुल हाईस्कूल, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई; शिल्प शिक्षा; छात्र ४००।

शोलापुर—दयानन्द काशीनाथ आसावा प्रशाला, शोलापुर; स्थापना : १ जून, १९५९; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र ६५०; अध्यापक २०; सम्पत्ति मूल्य एक लाख बीस हजार रुपया।

शोलापुर—रामभाऊ जोशी हाईस्कूल, करकम्ब, शोलापुर; स्थापना : ७ जून, १९५४; छात्र ४६४; अध्यापक २४।

शोलापुर—रामभान जोशी हाईस्कूल, करकम्ब माधा, शोलापुर।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

अकोला—भारत माध्यमिक कन्याशाला, रिशोदवाशिम, अकोला।

उस्मानाबाद—कन्या विद्यालय, उदगीर।

थाणा—आर्य विद्यालय, उल्हासनगर-३।

परभणी—सरजुदेवी भिकुलाल भारुका आर्य कन्या विद्यालय (माध्यमिक विभाग), हिंगोली; छात्रा ४०३।

वम्बई—आर्य विद्या मन्दिर सान्ताक्रुज, बम्बई-४; स्थापना: ८ जून, १९७०; स्तर अष्टम श्रेणी तक; इंडियन स्कूल सर्टिफिकेट का अध्ययन क्रम।

वम्बई—श्री दयानन्द वालक विद्यालय, ३०३ भीमानी स्ट्रीट, माटुंगा रोड, वम्बई।

बम्बई—श्री दयानन्द बालिका विद्यालय, ३०३ भीमानी स्ट्रीट, माटुंगा रोड, बम्बई।

उस्मानावाद—श्यामलाल प्राथमिक विद्या मन्दिर, उदगीर।

थाणा—प्राइमरी स्कूल, उल्हास नगर।

थाणा—लाला लाजपतराय बाल मन्दिर, सीरु चौक, उल्हासनगर।

नागपुर—आर्य बालक मन्दिर, जरीपटका, नागपुर; स्थापना: सन् १९५५; संस्थापक: वूमेन कौंसिल; मांटेसरी पद्धति से शिक्षा; स्तर प्राइमरी तक।

नागपुर—डी० ए० वी० प्राथमिक शाला, खापरखेड़ा; स्थापना: १ अक्तूबर, १९४८; संस्थापक: श्री शंकरलाल पाली, सदर, नागपुर; स्तर श्रेणी ५ तक; छात्र ४००; अध्यापिका ९; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया। पहले डी० ए० वी० हाईस्कूल भी चलता था, १९६६ से वह बन्द हो गया है।

नागपुर—दयानन्द प्राथमिक शाला, जरीपटका, नागपुर; स्थापना: सन् १९६८; शिक्षा का माध्यम हिन्दी; स्तर श्रेणी ४ तक; नैतिक शिक्षा की व्यवस्था।

नागपुर—दयानन्द बाल विद्या मन्दिर, सदर, नागपुर; स्थापना: सन् १९६२; संस्थापक: आर्य-समाज, दयानन्द भवन, नागपुर; ३ से ६ वर्ष तक के बच्चों की शिक्षा; छात्र ५३; अध्यापिका २।

नान्देड़—वैदिक सेवा आश्रम, नान्देड़; स्तर कक्षा ५ तक; ५ से ८ वर्ष तक के बच्चों का निःशुल्क शिक्षण; श्री शिवमुनि द्वारा लाखों रुपये के दान से स्थापित।

परभणी—आर्य कन्या विद्यालय (प्राथमिक विभाग), हिंगोली।

परभणी—बाल पाठशाला, गोण्डीपुरा, पूर्णा।

परभणी—माणिक स्मारक आर्य विद्यालय (प्राथमिक विभाग), हिंगोली; छात्र ४०३; स्तर कक्षा पाँच तक।

परभणी—सरजुदेवी भिकुलाल भारुका आर्य कन्या विद्यालय (प्राथमिक विभाग), हिंगोली; छात्रा १४६; स्तर कक्षा ५ तक।

बम्बई—दयानन्द स्कूल, मलाड, बम्बई।

बम्बई—श्री गुरुकुल किंडरगार्टन स्कूल, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई।

बम्बई—श्री दमयन्ती डी० बखारीया गुरुकुल शिशु सदन, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई-७७।

बम्बई—श्री दलीचन्द दोशी गुरुकुल अँग्रेजी माध्यम स्कूल, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई-७७।

बम्बई—श्री प्रदीपकुमार बाड़ीलाल गुजराती शाला, गुरुकुल लेन, घाटकोपर, बम्बई-७७।

बम्बई—शिशु मन्दिर, आर्यसमाज लोअर परेल, ना० म० जोशी रोड, बम्बई।

राजस्थान

गुरुकुल तथा उपदेशक विद्यालय

अलवर—आर्ष कन्या गुरुकुल, दाधिया; स्थापना : १५ अगस्त, १९६६; संस्थापक : श्री महाशय नन्दलाल, दाधिया; स्तर आचार्य तक; छात्रा १००; अध्यापिका १०; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

चित्तौड़गढ़—श्री गुरुकुल, चित्तौड़गढ़; स्थापना : माघ पूर्णिमा संवत् १९८६ वि०; संस्थापक : श्री स्वामी व्रतानन्द सरस्वती; स्तर आचार्य एवं वेदवागीश; छात्र ३००; अध्यापक १६; सम्पत्ति मूल्य रुपये १४,७३,५६९-४४ पैसे।

अजमेर—उपदेशक विद्यालय, अजमेर।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

अजमेर—जियालाल शिक्षण प्रशिक्षण संस्थान, अजमेर; स्थापना : १९६३; संस्थापक : श्री दत्तात्रेय वाब्ले; स्तर बी० एड्०; छात्र १२०; अध्यापक १२।

भीलवाड़ा—श्रीमद् दयानन्द महिला शिक्षण केन्द्र, शाहपुरा; स्थापना : १९६१।

महाविद्यालय

अजमेर—आर्य कन्या महाविद्यालय, ब्यावर।

अजमेर—दयानन्द कालेज, अजमेर; स्थापना : १८८८; संस्थापक : श्री पं० जियालालजी; स्तर स्नातकोत्तर; छात्र २५९१; अध्यापक ८५।

गंगानगर—डी० ए० वी० कालेज, गंगानगर।

भरतपुर—महिला विद्यापीठ भुसावर; पहले यह गुरुकुल था।

श्रीगंगानगर—भोपाल वाला आर्य कालेज, श्रीगंगानगर।

सिरोही—आर्य कन्या महाविद्यालय, आबू रोड; स्थापना : 1 अगस्त, १९४१; स्तर बी० ए० तक; छात्रा ११००।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

अजमेर—जियालाल आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, अजमेर।

अजमेर—डी० ए० वी० उच्च माध्यमिक विद्यालय, अजमेर; स्थापना : १८८८; संस्थापक : आर्यसमाज, अजमेर; स्तर कक्षा ११ तक; छात्र २०३०; अध्यापक ३०; सम्पत्ति मूल्य ढाई लाख रुपया।

अजमेर—-आर्य पुत्री उच्च माध्यमिक विद्यालय, अजमेर; स्थापना : १८९८; संस्थापक : स्व० श्री फूलचन्द भार्गव, श्री पं० प्रभुदयाल भार्गव, श्री हीरालाल, श्री रघुवीरसिंह, श्री कुंवर चाँदकिरण शारदा; छात्रा ७५०; अध्यापिका २५; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

अजमेर—विरजानन्द उच्च माध्यमिक विद्यालय, अजमेर; स्थापना : सन् १९४३; संस्थापक : आर्यसमाज शिक्षा सभा, अजमेर; छात्र ८५०; अध्यापक २४; सम्पत्ति मूल्य लगभग चार लाख रुपया।

अलवर—वैदिक विद्यालय, वेहरोदरी वाली, अलवर।

जयपुर—वैदिक वालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय, आदर्शनगर, जयपुर; स्थापना : १ जुलाई, १९५५; संस्थापक : आर्यसमाज, आदर्शनगर, जयपुर; छात्रा १०००; अध्यापिका ३६; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

जोधपुर—आर्य बालिका उच्च माध्यमिक विद्यालय, सरदारपुरा, जोधपुर; स्थापना : १४ फरवरी, १९४२; संस्थापक : श्री तेजाराम चौहान, श्री भगवानदास गोयल आदि; छात्रा ३००; अध्यापक १३।

बीकानेर—दयानन्द आदर्श वैदिक कन्या विद्यालय, बीकानेर।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

अजमेर—आर्यन् मिडिल स्कूल, अजमेर।

अजमेर—गोमती आर्य कन्या विद्यालय, अजमेर।

अजमेर—जियालाल आर्य बालिका माध्यमिक विद्यालय, अजमेर; स्थापना : १ जुलाई, १९७३; संस्थापक : श्री दत्तात्रेय वाब्ले; छात्रा २२०; अध्यापिका ७।

अजमेर—डी० ए० वी० मिडिल स्कूल, नसीराबाद।

अजमेर—वैदिक विद्यालय, पर्वतपुरा, अजमेर; स्थापना : २ जुलाई, १९६२; संस्थापक : वैदिक शिक्षा समिति, अजमेर; स्तर उच्च प्राथमिक; छात्र २५०; अध्यापक ९; सम्पत्ति मूल्य तीन लाख पचास हजार रुपया।

कोटा—आर्य विद्यालय (उच्च प्राथमिक), कोटानगर।

कोटा—कन्या शिक्षा सदन, रामपुरा, कोटा; स्तर मिडिल तक; छात्रा ४००; अध्यापिका १०।

कोटा—बालभारती माध्यमिक विद्यालय, आर्य शिशुशाला, आर्यसमाज रोड, रामपुरा, कोटा; स्थापना : १९५३; छात्र ३८९; अध्यापक १६।

कोटा—महर्षि दयानन्द आदर्श विद्यालय, भीममंडी, कोटा जंक्शन; स्थापना : २० अगस्त, १९६७; स्तर कक्षा ८ तक; छात्र ५९३; अध्यापक १६।

कोटा—मातृसेवा सदन बालिका माध्यमिक शाला, आर्यसमाज रोड, रामपुरा, कोटा; स्थापना : २१ जून, १९४७; संस्थापक : आर्यसमाज, रामपुरा, कोटा; स्तर कक्षा ८ तक; छात्र ३९२; अध्यापक १४; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

जयपुर—दयानन्द पब्लिक स्कूल, आदर्शनगर, जयपुर; स्थापना : १९६५; श्तर अष्टम श्रेणी तक; छात्रा ४००।

जयपुर—वैदिक बाल उच्च प्राथमिक विद्यालय, जयपुर; स्थापना : १ अप्रैल, १९५३; संस्थापक :

श्री सूर्यपाल वानप्रस्थी; स्तर कक्षा ८ तक; छात्र २५०; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

सिरोही—श्री वैदिक कन्या माध्यमिक विद्यालय, आबू रोड।

अजमेर—एम० गुलाबदेवी आर्य कन्या पाठशाला, अजमेर।

अजमेर—जियालाल आर्य प्राइमरी स्कूल, अजमेर।

अजमेर—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, अजमेर।

अजमेर—दयानन्द बाल मन्दिर, आर्यसमाज, ब्यावर।

कोटा—बालभारती बालवाड़ी आर्य शिशुशाला, आर्यसमाज रोड, रामपुरा, कोटा; स्थापना : सन् १९५३; छात्र ६३; अध्यापिकाएँ २।

कोटा—बालभारती बालवाड़ी, महर्षि दयानन्द भवन, गुमानपुरा, कोटा; स्थापना : १९७८; छात्र २०; अध्यापिका १।

कोटा—मातृ सेवा सदन आर्य शिशुशाला, कोटानगर।

चित्तौड़—श्री ओंकार प्राथमिक विद्यालय, छोटी सादड़ी, चित्तौड़।

जयपुर—हरिजन पाठशाला, आर्यसमाज साम्भर लेक।

जोधपुर—आर्य कन्या पाठशाला, जोधपुर।

जोधपुर—वैदिक कन्या पाठशाला,जोधपुर।

बीकानेर—शिशुशाला, परमानन्द बस्ती (इथरवाना), बीकानेर।

बीकानेर—मातृसेवा सदन, परमानन्द बस्ती (इथरवाना), बीकानेर।

भरतपुर—आर्य कन्या पाठशाला, भरतपुर।

भीलवाड़ा—बालवाड़ी, आर्यसमाज, शाहपुरा।

सिरोही—आर्य बाल मन्दिर, शिवगंज, सिरोही।

सिरोही—वैदिक कन्या पाठशाला, आबू रोड।

प्राविधिक संस्थाएँ (विविध)

अजमेर—दयानन्द बहु-उद्देशीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, अजमेर।

कोटा—महिला उद्योगशाला, आर्यसमाज रोड, रामपुरा, कोटा; स्थापना : १९६७; छात्रा ४०; अध्यापिका १।

बीकानेर—उद्योगशाला, परमानन्द बस्ती (इथरवाना), बीकानेर।

हरियाणा

विश्वविद्यालय

रोहतक—महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक; यद्यपि यह आर्यसमाज की शिक्षा-संस्था नहीं है, पर नामकरण में आर्यसमाज का प्रभाव है।

गुरुकुल तथा उपदेशक विद्यालय

अम्बाला—वैदिक साधना आश्रम, स्वामी आत्मानन्द रोड, यमुनानगर।

करनाल—आर्य कन्या गुरुकुल संस्कृत विद्यालय, पाढ़ा; स्थापना : २५ नवम्बर, १९७३; संस्थापक : डॉ० गणेशदास अनेजा; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र ८४; अध्यापक ७।

करनाल—आर्ष गुरुकुल संस्कृत महाविद्यालय, डिकाडला; स्थापना : १८-१०-७१; संस्थापक : स्वामी सत्यप्रियजी, महाशय चन्दगीरामजी, ठेकेदार चन्दगीरामजी श्री अभयरामजी, श्री भल्लेराम आदि; छात्र ४१।

करनाल—कन्या गुरुकुल, बला।

करनाल—कन्या गुरुकुल, मोरमाजरा।

करनाल—गुरुकुल, घरौंडा; स्थापना : १७ अप्रैल, १९३९; संस्थापक : पूज्य स्वामी रामेश्वरानन्दजी, सहयोगी श्री धर्मवीरजी; स्तर शास्त्री तक।

कुरुक्षेत्र—गुरुकुल, कुरुक्षेत्र; स्थापना : १३ अप्रैल, १९५२; संस्थापक : स्वामी श्रद्धानन्दजी; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्र २७५; अध्यापक १५; सम्पत्ति मूल्य पन्द्रह लाख रुपया, भूमि एक सौ सत्तर एकड़।

गुड़गावाँ—गुरुकुल, सुढाना।

जीन्द—कन्या गुरुकुल, खरल; स्थापना : २६ जनवरी, १९७६; स्तर दशम श्रेणी तक; छात्रा ३५०; अध्यापिका १४; सम्पत्ति मूल्य चार लाख रुपया।

जीन्द—गुरुकुल, गुल्कनी बलिदान स्मारक।

जीन्द—महाविद्यालय गुरुकुल, कालवा; स्थापना : २०२४ विक्रमाब्द; संस्थापक : श्रीस्वामी चन्द्रवेशजी, स्वामी सत्यवेशजी; स्तर आचार्य पर्यन्त; छात्र १४; अध्यापक २; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

फरीदाबाद—श्रीमद् दयानन्द गुरुकुल विद्यापीठ, गदपुरी; स्थापना : सन् १९३६ ई०; संस्थापक : स्व० श्री बाबू देवीसहाय जी; स्तर आचार्य तक; छात्र १३०; अध्यापक १०; सम्पत्ति मूल्य आठ लाख रुपया।

रोहतक—आचार्य कुल ऋतस्थली, माण्डौठी; स्थापना : १४ जनवरी, १९७५; संस्थापक : श्री मानाचार्य सरस्वती; स्तर आचार्य तक; छात्र १०; अध्यापक १; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

रोहतक—आचार्य कुल (कन्या-महाविद्यालय), लोवाकलाँ, डा० बहादुरगढ़; स्थापना : १५ अगस्त, १९६२ (श्रावणी पर्व); संस्थापक : श्री मानाचार्य सरस्वती; छात्रा १००; आचार्या : श्रीमती शान्ति स्नातिका; स्तर आचार्य तक; अध्यापिका १०; भूमि छः एकड़।

रोहतक—आदर्श गुरुकुल, लडरावन, वाया बहादुरगढ़; स्थापना : १४ अक्तूबर, १९७५ (विजयदशमी); संस्थापक : स्वामी सूर्यवेश परिव्राट्, मा० जोगीराम गोहाना, श्री सत्यपाल शास्त्री, श्री रामफल शास्त्री; स्तर विशारद एवं मिडिल तक; छात्र ५०; अध्यापक ४; सम्पत्ति का अनुमानित मूल्य डेढ़ लाख रुपया।

रोहतक—आदर्श गुरुकुल, सिंहपुरा, सुन्दरपुर; स्थापना : २७ नवम्बर, १९५९; संस्थापक :

महाशय हरद्वारीलाल आर्य, श्री रघुवीरसिंह सरपंच; स्तर आचार्य तक; छात्र १५२; अध्यापक ६; सम्पत्ति का आनुमानिक मूल्य पन्द्रह लाख रुपया।

रोहतक—आर्ष विद्यापीठ गुरुकुल, झज्जर; स्थापना : मई १९१५; संस्थापक : श्री पं० विश्वम्भर जी; स्तर आचार्य तक (श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्यापीठ का १६ वर्ष का पाठ्यक्रम); छात्र १५०; अध्यापक १०।

रोहतक—कन्या गुरुकुल, सिद्दीपुर लोवाँ।

सोनीपत—गुरुकुल विद्यापीठ, हरयाणा, भैंसवाल कलाँ; स्थापना : १९२०; संस्थापक : महात्मा फूलसिंहजी; स्तर विद्यालंकार (गुरुकुल कांगड़ी); भूमि चार सौ बीघा, एक गौशाला।

सोनीपत—गुरुकुल सांदल कलाँ; स्थापना : ४ मई, १९७३; संस्थापक : स्वामी आनन्दप्रकाशजी।

सोनीपत—पाणिनि महाविद्यालय, बहालगढ़; स्थापना : संवत् १९७७; संस्थापक : श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, श्री पं० शंकरदेवजी, श्री पं० बुद्धदेव उपाध्याय; आर्ष पद्धति से शिक्षा; छात्र १०।

सोनीपत—महाविद्यालय गुरुकुल, मटिण्डू; स्थापना : मार्च १९१५ ई०; संस्थापक : स्व० श्री चौ० पीरूसिंहजी; स्तर आचार्य तक।

हिसार—गुरुकुल, आर्यनगर कुरड़ी; स्थापना : १३ अप्रैल, १९६४; संस्थापक : स्वामी देवानन्द जी; स्तर विद्याधिकारी (गुरुकुल कांगड़ी), आचार्य (गुरुकुल झज्जर); छात्र ६३; अध्यापक ५; सम्पत्ति मूल्य लगभग दस लाख रुपया।

हिसार—गुरुकुल, धीरणवास, बालसमन्द रोड; स्थापना : १ सितम्बर, १९७२; पाठ्यक्रम गुरुकुल कांगड़ी के अनुसार; छात्र ८; अध्यापक २; सम्पत्ति मूल्य एक लाख रुपया।

हिसार—गुरुकुल विद्यापीठ, कुम्भाखेड़ा; स्थापना : श्रावणी १९६८; संस्थापक : स्वामी रत्नदेव; स्तर विद्याधिकारी (गुरुकुल कांगड़ी); छात्र १५०; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य चार लाख रुपया।

हिसार—दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार; स्थापना : १८८६ ई०; संस्थापक : डी० ए० वी० कालेज प्रबन्धकर्त्री सभा, लाहौर (वर्तमान नयी दिल्ली); स्तर वेद वाचस्पति (विशारद, मध्यमा के समकक्ष); निःशुल्क भोजन, आवास, वस्त्र, पुस्तक आदि की व्यवस्था; छात्र ५०; अध्यापक ६; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया।

अम्बाला—श्रीमद् दयानन्द उपदेश महाविद्यालय, यमुनानगर; स्थापना : १९२२ ई० लाहौर में, विभाजन के पश्चात् १९४९ ई० में वैदिक साधना आश्रम यमुनानगर में स्थापित; संस्थापक : स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी, श्री महाशय कृष्णजी, स्वामी आत्मानन्दजी आदि; स्तर शास्त्री तक; छात्र २०; निःशुल्क भोजन, आवास, शिक्षा-व्यवस्था।

अम्बाला—स्वामी आत्मानन्द आश्रम गुरुकुल उपदेशक विद्यालय, यमुनानगर।

दीक्षा (ट्रेनिंग) विद्यालय

अम्बाला—सोहनलाल प्रशिक्षण कालेज, अम्बाला शहर; स्थापना : सन् १९३७ लाहौर में, विभाजन के पश्चात् अम्बाला में पुनः स्थापित; स्तर बी० एड्०, नर्सरी टीचर्स कोर्स (केवल महिलाओं के लिए); ओ० टी० आर्ट-क्राफ्ट टीचर्स ट्रेनिंग कोर्स।

करनाल—डी० ए० वी० कालेज ऑफ एजूकेशन फॉर गर्ल्स, करनाल ।
कुरुक्षेत्र—जूनियर बेसिक ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट, पूंडरी ।

महाविद्यालय

अम्बाला—आर्य महिला कालेज, अम्बाला छावनी ।

अम्बाला—के० पी० ए० के० महाविद्यालय, अम्बाला शहर ।

अम्बाला—डी० ए० वी० कालेज, अम्बाला शहर; स्थापना : १८८६ में लाहौर में, विभाजन के पश्चात् अम्बाला में स्थानान्तरित; स्तर स्नातकोत्तर; छात्रावास व्यवस्था; छात्र लगभग २५००; वैदिक धर्म और संस्कृति की विशेष शिक्षा ।

अम्बाला—डी० ए० वी० कालेज, नन्योला ।

अम्बाला—डी० ए० वी० कालेज, साढोरा...स्थापना : जुलाई १९६८; सम्पत्ति मूल्य दस लाख रुपया ।

अम्बाला—डी० ए० वी० महिला कालेज, यमुनानगर; स्थापना : सन् १९५९; धर्मशिक्षा की व्यवस्था ।

करनाल—आर्य कालेज, पानीपत ।

करनाल—आर्य महिला कालेज, पानीपत ।

करनाल—डी० ए० वी० कालेज, करनाल ।

करनाल—डी० ए० वी कालेज फॉर गर्ल्स, करनाल ।

करनाल—हरकौर आर्य गर्ल्स कालेज, पानीपत ।

कुरुक्षेत्र—डी० ए० वी० कालेज, पूण्डरी; स्थापना : जुलाई १९६९; सम्पत्ति मूल्य तीन लाख रुपया ।

भिवानी—आर्य हिन्दी महाविद्यालय, चरखी दादरी ।

रोहतक—डी० ए० वी० कालेज, हसनगढ़ ।

रोहतक—वैश्य आर्य कन्या महाविद्यालय, बहादुरगढ़ ।

रोहतक—स्वतन्त्रानन्द देवनागरी महाविद्यालय, रोहतक ।

सोनीपत—कन्या गुरुकुल खानपुरकलाँ; स्थापना : सन् १९३६; संस्थापक : भक्त श्री फूलसिंह जी; स्तर डिग्री कालेज, ट्रेनिंग कालेज, आयुर्वेदिक कालेज तक; छात्र लगभग २१००; कृषि-भूमि ३०० बीघा ।

हिसार—दयानन्द कालेज, हिसार; स्थापना : १९५०; छात्र लगभग २५००; स्तर स्नातकोत्तर तक ।

उच्च एवं उच्चतर माध्यमिक विद्यालय

अम्बाला—आर्य गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, कालका ।

अम्बाला—ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, अम्बाला शहर ।

अम्बाला—जी० एस० ए० एस० डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, यमुनानगर ।

अम्बाला—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, यमुनानगर ।

अम्बाला—सोहनलाल गर्ल्स हायर सैकेंडरी स्कूल, अम्बाला ।

करनाल—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, पानीपत।

करनाल—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, करनाल; स्थापना : १ अप्रैल, १९४५; संस्थापक : डी० ए० वी० प्रबन्धकर्तृ सभा, करनाल; छात्र १२००; अध्यापक ३०; सम्पत्ति मूल्य पन्द्रह लाख रुपया।

कुरुक्षेत्र—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, शाहाबाद।

जीन्द—आर्य कन्या महाविद्यालय, नरवाना; स्थापना : अप्रैल १९०२; संस्थापक : श्री पतरामजी; स्तर हायर सैकेंडरी तक; छात्रा ५४०; अध्यापिका १७; सम्पत्ति मूल्य लगभग पाँच लाख रुपया।

जीन्द—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, नरवाना; स्थापना : फाल्गुन २००९; छात्र १५००; अध्यापक ३५।

रोहतक—जाट एच० एम० ए० एस० हायर सैकेंडरी स्कूल, रोहतक।

सिरसा—आर्य हायर सैकेंडरी स्कूल, सिरसा।

हिसार—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, हिसार।

अम्बाला—आर्य हाईस्कूल, बूड़िया।

अम्बाला—आर्य हाईस्कूल, मुलाना।

अम्बाला—आर्य हाईस्कूल, मुस्तफाबाद।

अम्बाला—आर्य हाई स्कूल, सोहाना।

अम्बाला—ए० एस० हाईस्कूल, अम्बाला।

अम्बाला—जी० आर० हाईस्कूल, बूड़िया।

अम्बाला—जी० एस० ए० वी० हाईस्कूल, यमुनानगर।

अम्बाला—डी० ए० वी० कन्या हाईस्कूल, यमुनानगर।

अम्बाला—डी० ए० वी० कन्या हाईस्कूल, रेलवे वर्कशाप, जगाधरी।

अम्बाला—डी० ए० वी० हाईस्कूल, अम्बाला छावनी।

अम्बाला—डी० ए० वी० हाईस्कूल, अम्बाला शहर।

अम्बाला—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मुस्तफाबाद।

अम्बाला—बी० एन० आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, लालकुर्ती बाजार, अम्बाला छावनी; स्थापना : १९३८; छात्र २००; स्तर दशम श्रेणी तक।

अम्बाला—भलवाल सर्व हितकारी आर्य हाईस्कूल, अम्बाला।

अम्बाला—लक्ष्मीदेवी आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, रामबाग रोड, अम्बाला छावनी।

अम्बाला—श्री जयरामदास आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, अम्बाला शहर; स्थापना : २२ जनवरी, १९५०; संस्थापिका : श्रीमती सुवीरा देवी; छात्रा ३३३; अध्यापिका १३; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

अम्बाला—सोहनलाल गर्ल्स हाईस्कूल, अम्बाला शहर।

अम्बाला—हिन्दू ए० एस० हाईस्कूल, साढोरा।

करनाल—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, पानीपत।

करनाल—आर्य हाईस्कूल, पानीपत।

करनाल—आर्य हाईस्कूल, रादौर।

करनाल—आर० डी० आर्य कन्या हाईस्कूल, होली मुहल्ला, करनाल।
करनाल—डी० ए० वी० हाईस्कूल, करनाल।
करनाल—दयानन्द गर्ल्स हाईस्कूल, जेहलम।
करनाल—माता हरकौर आर्य कन्या हाईस्कूल, मॉडल टाउन, पानीपत।
कुरुक्षेत्र—आर्य कन्या हाईस्कूल, कैथल।
कुरुक्षेत्र—आर्य कन्या हाईस्कूल, शाहाबाद मारकण्डा; स्थापना : लगभग १९२०; संस्थापक : आर्यसमाज गुरुकुल विभाग, शाहाबाद मारकण्डा; छात्रा १२३३; अध्यापिका ३२; सम्पत्ति लगभग दस लाख रुपया।
कुरुक्षेत्र—आर्य हाईस्कूल, थानेसर।
कुरुक्षेत्र—ए० एस० हाईस्कूल, पूण्डरी।
गुड़गावाँ—आर्य कन्या हाईस्कूल, गुड़गावाँ।
गुड़गावाँ—आर्य हाईस्कूल, सोहना।
गुड़गावाँ—एम० एल० ए० हाईस्कूल, गतौली।
गुड़गावाँ—डी० ए० वी० हाईस्कूल, गुड़गावाँ।
गुड़गावाँ—श्री दयानन्द विद्यालय हाईस्कूल, फिरोजपुर झिरका (दिल्ली-अलवर रोड); छात्र ५०६; सम्पत्ति मूल्य सत्तर हजार रुपया।
रोहतक—आर्य कन्या हाईस्कूल, झज्जर।
रोहतक—आर्य कन्या हाईस्कूल, रोहतक।
रोहतक—आर्य नेशनल हाईस्कूल, मोहाना।
रोहतक—आर्य हाईस्कूल, आसौधा।
रोहतक—आर्य हाईस्कूल, बावरा मुहल्ला, रोहतक।
रोहतक—करोर डी० ए० वी० हाईस्कूल, बहादुरगढ़।
रोहतक—जाट ऐंग्लो वैदिक स्कूल, रोहतक।
रोहतक—जे० ए० वी० हाईस्कूल, मंडौरा।
रोहतक—डी० ए० वी० हाईस्कूल, बहादुरगढ़।
रोहतक—डी० ए० वी० हाईस्कूल, भिखरा।
रोहतक—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मोखरा।
रोहतक—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मातेन हेल।
रोहतक—डी० ए० वी० हाईस्कूल, हसनगढ़।
रोहतक—धनवन्ती आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, झज्जर रोड, रोहतक।
रोहतक—वैदिक सुभाष हाईस्कूल, राजलूगढ़ी।
सिरसा—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, सिरसा।
सोनीपत—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, सोनीपत।
सोनीपत—आर्य नेशनल हाईस्कूल, गोहाना।
सोनीपत—आर्य हाईस्कूल, गोहाना।
सोनीपत—डी० ए० वी० हाईस्कूल, गोहाना।
हिसार—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, हिसार।

हिसार—डी० ए० वी० हाईस्कूल, हिसार।
हिसार—मानवती आर्य कन्या हाईस्कूल, हांसी।
हिसार—सी० ए० वी० हाईस्कूल, हिसार।

मॉडल स्कूल

अम्बाला—के० पी० ए० के० मॉडल स्कूल, अम्बाला सिटी।
अम्बाला—जी० एस० ए० एस० मॉडल स्कूल, रेलवे कालोनी, यमुनानगर।
अम्बाला—सोहनलाल मॉडल स्कूल, अम्बाला शहर।
अम्बाला—दयानन्द मॉडल हाईस्कूल, करनाल।
सोनीपत—माता हरकौर मॉडल स्कूल, मॉडल टाउन, पानीपत; स्थापना : लगभग सन् १९६०; स्तर अष्टम श्रेणी तक; छात्र १००।
हिसार—सीनियर मॉडल स्कूल, फतेहाबाद।

माध्यमिक एवं प्राथमिक विद्यालय

अम्बाला—आर्य कन्या पाठशाला, लालकुर्ती, अम्बाला।
अम्बाला—आर्य कन्या पाठशाला, जगाधरी।
अम्बाला—आर्य कन्या विद्यालय, खरड़।
अम्बाला—दयानन्द आर्य पुत्री पाठशाला, कच्चा बाजार, अम्बाला छावनी।
अम्बाला—मुसद्दीलाल आर्य कन्या पाठशाला, अम्बाला छावनी।
अम्बाला—रतनदेवी आर्य पुत्री पाठशाला, जगाधरी।
अम्बाला—शिक्षा निकेतन, अम्बाला शहर।
गुड़गावाँ—दयानन्द विद्यालय, आर्यसमाज, पुन्नाहाना।
भिवानी—आर्य कन्या विद्यालय, भिवानी।
रोहतक—आर्य कन्या पाठशाला, झज्जर।
रोहतक—आर्य कन्या पाठशाला, निड़ाना।
रोहतक—आर्य कन्या पाठशाला, बहादुरगढ़।
रोहतक—डी० ए० वी० स्कूल, साँघी।
सिरसा—आर्य कन्या पाटशाला, सिरसा।
हिसार—डी० ए० वी० गर्ल्स स्कूल, मॉडल टाउन, हिसार।

अम्बाला—आर्य कन्या पाठशाला, द्रामला।
अम्बाला—जयराम सूरी डी० ए० वी० नर्सरी स्कूल, अम्बाला सिटी।
अम्बाला—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, रेलवे कालोनी, यमुनानगर।
अम्बाला—डी० ए० वी० प्राइमरी स्कूल, लेबर कालोनी, यमुनानगर।
करनाल—आर्य कन्या प्राइमरी स्कूल, पानीपत।
गुड़गावाँ—आदर्श शिशु विद्यालय, फिरोजपुर-झिरका (दिल्ली-अलवर रोड)।
सिरसा—प्राइमरी स्कूल, सिरसा।

प्राविधिक संस्था

सोनीपत—कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, खरखौदा; स्थापना : १५ अगस्त, १९१४; संस्थापक : भक्त दरियावसिंह जी, हुमायूँपुर; स्तर प्रशिक्षण कक्षा, जे० बी० टी० (होमक्राफ्ट) आर्ट व क्राफ्ट; अध्यापक १०।

हिमाचल प्रदेश

महाविद्यालय

ऊना—डी० ए० वी० महाविद्यालय, दौलतपुर चौक, ऊना; स्थापना : १ जुलाई, १९७४; संस्थापक : लाला रामदासजी भू० पू० संसद सदस्य, प्रधान दयानन्द साल्वेशन मिशन होशियारपुर; स्तर प्री यूनिवर्सिटी तक; छात्र ४००; अध्यापक ९; सम्पत्ति मूल्य लगभग चार लाख रुपया।

कांगड़ा—डी० ए० वी० कालेज, कांगड़ा।

उच्च एवं उच्चतर विद्यालय

कांगड़ा—जी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, कांगड़ा; स्थापना : १९०५; छात्र ५००; अध्यापक १९; सम्पत्ति मूल्य लगभग दस लाख रुपया।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, कांगड़ा।

शिमला—डी० ए० वी० हायर सैकेंडरी स्कूल, शिमला।

ऊना—डी० ए० वी० हाईस्कूल, दौलतपुर चौक, ऊना; स्थापना : १३ जून, १९१३; संस्थापक : स्व० महात्मा देवीचन्द्र जी; स्तर श्रेणी ६ से १० तक; छात्र ३००; अध्यापक १२; सम्पत्ति मूल्य लगभग दो लाख रुपया।

कांगड़ा—एस० ए० एस० हाईस्कूल, गर्ली।

कांगड़ा—गुरुदत्त ऐंग्लो वैदिक हाईस्कूल,सल्याणा;स्थापना : १९२३; संस्थापक : स्व० श्री चतुर्भज; छात्र २७५; अध्यापक ८; सम्पत्ति मूल्य लगभग एक लाख रुपया।

कांगड़ा—घृत आर्य हाईस्कूल, (मंगलवाल) पटाजाटियाँ, डा० भरमाड़; स्थापना : १ अप्रैल, १९४४; संस्थापक : बावा गुरमुखसिंह, चौ० वेलीरामवर्धन; छात्र ४००; अध्यापक १०; भवन मूल्य लगभग तीन लाख रुपया।

कांगड़ा—जे० ए० वी हाईस्कूल, सुल्लाहर।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कांगड़ा।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, टौणीदेवी।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, मंगलवाल।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, रेहान।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, बावाराना।

कांगड़ा—डी० ए० वी० हाईस्कूल, सल्याणा।
कांगड़ा—महात्मा हंसराज हाईस्कूल, धीर।
मण्डी—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कमाहीदेवी।
शिमला—आर्य गर्ल्स हाईस्कूल, शिमला।
शिमला—डी० ए० वी० हाईस्कूल, कोटगढ़।
शिमला—डी० ए० वी० हाईस्कूल, शिमला।

प्राथमिक विद्यालय

कांगड़ा—आर्य पुत्री पाठशाला, धरमशाला।
चम्बा—प्राथमिक पाठशाला, चम्बा।

शिक्षा संस्थाएँ : देशान्तर में

अमेरिका

न्यूयार्क—वैदिक तत्त्वज्ञान प्रसार केन्द्र, आर्यसमाज न्यूयार्क; स्थापना १९६८।
ब्रुकलिन—वैदिक पाठशाला, ब्रुकलिन।
मिनोपोलिस—डा० उषर्बुध ध्यानमन्दिरम्, मिनोपोलिस; स्थापना : १९६८; भूमि ३० एकड़।

इंग्लैंड

एलेक्ज़ाण्ड्रा—स्कूल हाल, एलेक्ज़ाण्ड्रा।
गोल्डर्सग्रीन—केवलराम भवन हिन्दू सैन्टर, गोल्डर्सग्रीन।
बर्मिंघम—पाठशाला, आर्यसमाज बर्मिंघम; स्थापना : १९७०।
बर्मिंघम—वैदिक मिशन, बर्मिंघम।
लन्दन—वन्देमातरम् भवन, लन्दन।
लन्दन—वैदिक मिशन, लन्दन।

केनिया

एल्डोरेट—आर्य पाठशाला, एल्डोरेट।
किसुमु—आर्य पुत्री पाठशाला, किसुमु; आर्यसमाज के विशाल भवन में संचालित।
किसुमु—आर्य प्राइमरी स्कूल, किसुमु; संस्थापक : आर्यसमाज, किसुमु; स्तर कक्षा १ से ७ तक; अध्यापक २८; सम्पत्ति मूल्य पच्चीस हजार रुपया।
नकुरु—आर्य पाठशाला, नकुरु।
नैरोबी—आर्य गर्ल्स सीनियर स्कूल, पार्कलैंड, नैरोबी स्कूल में आर्य वीरांगना दल की स्थापना; आर्य बाला सभा द्वारा धर्मशिक्षा एवं आर्यसमाज के सिद्धान्तों का परिचय।
नैरोबी—आर्य पुत्री पाठशाला, फोर्टहाल, नैरोबी; स्थापना : १९१०; १९२० तक निःशुल्क

शिक्षा व्यवस्था; १९२४ से सायं शिक्षा वर्ग एवं रात्रि पाठशाला प्रारम्भ; भवन : ३५ कक्ष, बड़ा हाल, खेल-कूद का मैदान।

नैरोबी—काहु हो उहुरु हाईस्कूल, हराम्बी; उद्‌घाटन : १७ जुलाई, १९६५; 'हराम्बी' अर्थात् 'मिलकर कार्य करो' की भावना; संस्थापक : आर्यसमाज एवं स्त्री आर्यसमाज, नैरोबी।

नैरोबी—दयानन्द होम एण्ड स्कूल, नैरोबी; स्थापना : १९६७; दानदाता श्री सेठ नानजीभाई कालिदास मेहता; बच्चों के संगोपन, संस्कार एवं शिक्षा की उत्तम व्यवस्था; प्रातः सायं सन्ध्या-यज्ञ।

नैरोबी—नर्सरी स्कूल, नैरोबी; आर्य स्त्री समाज, नैरोबी द्वारा संचालित।

नैरोबी—श्रद्धानन्द ब्रह्मचर्याश्रम, नैरोबी; संस्थापक : श्री नानजीभाई कालिदास मेहता; प्रारम्भ में गुरुकुल पद्धति पर आधारित; आश्रम में २०० ब्रह्मचारियों के रहने की व्यवस्था, बाद में संस्था के स्वरूप में परिवर्तन हो गया।

नैरोबी—सन्तोष बेन नानजी भाई आर्य हाईस्कूल, नैरोबी।

मचाकोस—आर्य पाठशाला, मचाकोस।

मोम्बासा—आर्य शिशुशाला, मोम्बासा; संस्थापक : आर्य स्त्री समाज, मोम्बासा।

मोम्बासा—कुमार विद्यालय, मोम्बासा; आर्यसमाज भवन में संचालित; बीच में अनेक झंझावात सहकर अब पुनः ज्ञानाग्नि प्रज्ज्वलित; प्रातः-सायं सन्ध्या-यज्ञ।

मोम्बासा—आर्य पुत्री पाठशाला, मोम्बासा; स्थापना : १९१३ (शिवरात्रि)।

मोम्बासा—सन्तोकबेन मेहता नर्सरी स्कूल, मोम्बासा।

गायना

जार्जटाउन—वैदिक पाठशाला, डरबन स्ट्रीट, जार्जटाउन।

ट्रायम्फ—वैदिक विद्यालय, ट्रायम्फ।

पोर्टमोरान्ट—डी० ए० वी० स्कूल, पोर्टमोरान्ट।

ज़ंज़ीबार

ज़ंज़ीबार—आर्य पुत्री पाठशाला, ज़ंज़ीबार; संस्थापक : श्री भाणजी दयाल, श्री रवजी नानजी, श्री केशवलालजी; मुस्लिम कन्याओं की भी शिक्षा; बाद में सैनिक शासन की अव्यवस्था के कारण भारतीयों को निर्वासित होना पड़ा।

ट्रीनीडाड-टोबेगो

एवोकट—आर्य पाठशाला, एवोकट।

क्यूरोप—आर्य पाठशाला, क्यूरोप।

चौग्वाना—आर्य पाठशाला, चौग्वाना।

टूनापना—आर्य पाठशाला, टूनापना।

ट्रीनीडाड—भारतीय विद्या संस्थान, ट्रीनीडाड।

दीबे—आर्य पाठशाला, दीबे।

पीनाल—आर्य पाठशाला, पीनाल।

प्रिन्स टाउन—आर्य विद्यालय, प्रिन्स टाउन।
बीशे—आर्य पाठशाला, बीशे।
बेराकपुर—आर्य पाठशाला, बेराकपुर।
मारबेला—प्राथमिक पाठशाला, मारबेला।
मोन्टरोझ—वैदिक स्कूल, मोन्टरोझ; स्थापना : १९५२।
सानजुआन—आर्य पाठशाला, सानजुआन।

तन्ज़ानिया

टांगा—आर्य प्रौढ़ शिक्षा शाला, टांगा।
दार-एस्-सलाम—आर्य शिशु शाला, दारेस्सलाम।
दार-एस्-सलाम—देवकुँवर वा आर्य पुत्री पाठशाला, दारेस्सलाम; सरकार मान्य पाठ्यक्रम के अतिरिक्त सन्ध्या-यज्ञ का आयोजन, धर्मशिक्षा का प्रशिक्षण।
दार-एस्-सलाम—देवकुँवर वा डी०ए०वी० गर्ल्स सैकेंडरी स्कूल, दारेस्सलाम; हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती की शिक्षा व्यवस्था। पं० दिलीप वेदालंकार द्वारा शैक्षणिक प्रवृत्तियों का उत्तम मार्ग-दर्शन।

दणिण अफ्रीका

इस्टकोर्ट—आर्य विद्यालय, इस्टकोर्ट।
उस्ला टुझाना—आर्य विद्यालय, उम्ला टुझाना।
एसटटेस—आर्य विद्यालय, एसटटेस।
काटोमनोर—आर्य विद्यालय, काटोमनोर।
केंडेला—आर्य विद्यालय, केंडेला।
डरबन—आर्य बाल गृह, डरबन; स्थापना : १९७५।
डरबन—आर्य वृद्ध सेवा आश्रम, डरबन; स्थापना : १९७५।
डरबन—वेद निकेतन, डरबन; वर्ष में दो बार धर्मप्रथमा, धर्मप्रवेश, धर्मप्रकाश, धर्मप्रवीण, धर्मप्रभाकर की परीक्षा-व्यवस्था।
डरबन—हिन्दी शिक्षा संघ, डरबन; संस्थापक : पं० नरदेव विद्यालंकार (आर्य प्रतिनिधि सभा दक्षिण अफ्रीका की सहायता से), हिन्दी भाषा के पठन-पाठन की विशेष व्यवस्था; राष्ट्र भाषा प्रचार समिति, वर्धा के अनुसार हिन्दी परीक्षाओं का आयोजन।
पीटरमारिट्ज़वर्ग—आर्य विद्यालय, पीटरमारिट्ज़वर्ग।
रिज़र्वायर हिल—आर्य विद्यालय, रिज़र्वायर हिल।
रेजथोर्प—आर्य विद्यालय, रेजथोर्प।
लेडीस्मिथ—आर्य विद्यालय, लेडीस्मिथ।
शेपस्टोन—आर्य विद्यालय, शेपस्टोन।
स्प्रिंगफील्ड—आर्य विद्यालय, स्प्रिंगफील्ड।
सीडेनहेम—आर्य विद्यालय, सीडेनहेम।
सीकॉव लेक—आर्य विद्यालय, सीकॉव लेक।

फीजी

फीजी—विष्णुदेव मेमोरियल कालेज, फीजी।

लौतोका—आर्य गुरुकुल, सवेनी लौतोका; स्थापना १६१८।

वाइनी—भवानीदयाल, मेमोरियल हाईस्कूल, वाइनी; २३ वेद-मन्त्रों द्वारा पढ़ाई का प्रारम्भ।

सामाबुला—डी० ए० वी० कालेज, सामाबुला।

सामाबुला—डी० ए० वी० गर्ल्स कालेज, सामाबुला।

बर्मा

क्यावटान्वा—आर्य विद्यालय, क्यावटान्वा।

कालाव—आर्य विद्यालय, कालाव।

चौक—आर्य विद्यालय, चौक।

जेयावदी—आर्य विद्यालय, जेयावदी; स्थापना १६६६; सन्ध्या-हवन, शारीरिक व्यायाम का प्रशिक्षण।

नामटु—आर्य विद्यालय, नामटु।

स्यीटक्यीना—आर्य विद्यालय, स्यीटक्यीना।

मांडले—आर्य कन्या पाठशाला, मांडले।

मांडले—डी० ए० वी० कालेज, मांडले।

मेम्यो—आर्य विद्यालय, मेम्यो।

मोगोक—आर्य विद्यालय, मोगोक।

येनाग्यौन्ग—आर्य विद्यालय, येनाग्यौन्ग।

रंगून—डी० ए० वी० कालेज, रंगून।

शिवापुर—आर्य विद्यालय, शिवापुर।

मॉरीशस

कांतुलेर—आर्य पुत्री पाठशाला, कांतुलेर; हिन्दी माध्यम, धर्म-शिक्षा की व्यवस्था।

तायाक—आर्य पुत्री पाठशाला, तायाक।

नुवेलदेकुवेत—संस्कृत विद्यालय, नुवेलदेकुवेत; ५ मई, १६६३ को श्री बालमुकुन्द द्विवेदी के आचार्यत्व में डॉ० शिवगोविन्दजी द्वारा उद्घाटन; छात्रावास व्यवस्था।

प्लेनमाया—आर्य पुत्री पाठशाला, प्लेनमाया।

पोर्टलुईस—आर्य विद्यालय, पोर्टलुईस।

पोर्टलुईस—डी० ए० वी० कालेज (सां-दे-गास), पोर्टलुईस; स्थापना : ११ जनवरी, १६६५; अंग्रेजी, फ्रेंच, हिन्दी, गणित, विज्ञान शिक्षा व्यवस्था।

बुआशेरी—आर्य पुत्री पाठशाला, बुआशेरी।

बोनाकेई—अम्बावती पाठशाला, बोनाकेई।

मॉरीशस—आर्य अनाथालय, मॉरीशस; बाल संगोपान और शिक्षण व्यवस्था।

मॉरीशस—इंडोमोरिशन शिक्षा संस्थान, मॉरीशस।

मॉरीशस—हिन्दी प्रचारिणी सभा, मॉरीशस; स्थापना : १९३५; १९५६ से प्रयाग विश्वविद्यालय की परीक्षाओं की व्यवस्था; वार्षिक ३००० परीक्षार्थी परीक्षाओं में सम्मिलित।

मेनीफेनिक्स—आर्य पुत्री पाठशाला, मेनीफेनिक्स।

रिशमार फ्लोक—आर्य पुत्री पाठशाला, रिशमार फ्लोक।

रोबिन्सन—आर्य पुत्री पाठशाला, रोबिन्सन।

लावारिच—आर्य पाठशाला, लावारिच।

वाक्वा—आर्य रात्रि पाठशाला, वाक्वा।

वाक्वा—आर्य विद्यालय, वाक्वा; ८ जुलाई, १९१८ को प्रारम्भ।

मोज़ाम्बिक

बुलवायो—आर्य विद्यालय, बुलवायो।

युगाण्डा

कम्पाला—आर्य पुत्री पाठशाला, कम्पाला; श्री नानजी भाई कालिदास मेहता तथा अन्य आर्य वन्धुओं के दान से निर्मित।

कम्पाला—आर्य शिशुशाला, कम्पाला।

कम्पाला—सन्तोकबेन एन० के० मेहता आर्य गर्ल्स स्कूल, कम्पाला; श्री नानजी भाई कालिदास मेहता के दान से निर्मित।

जिंजा—आर्य पाठशाला, जिंजा।

सुरीनाम

कोमविग्ने—आर्य विद्यालय, कोमविग्ने।

निकेरो—आर्य विद्यालय, निकेरो।

पारामारिवो—आर्य विद्यालय, पारामारिवो।

सारमक्का—आर्य विद्यालय, सारमक्का।

सुरीनाम—बाल संगोपन-गृह, सुरीनाम; स्थापना : १९५६; संस्थापक : आर्य महिला सभा, सुरीनाम।

सुरीनाम—सोहनसिंह हाईस्कूल, सुरीनाम; १९४६ में श्री रामदेव सुहावन द्वारा भूमि दान; डच और हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा।

हाउटीयून—आर्य विद्यालय, हाउटीयून।

सिंगापुर

सिंगापुर—डी० ए० वी० हिन्दू स्कूल, सिंगापुर।

टिप्पणी—इनके अतिरिक्त भारत एवं देशान्तरों में अन्य भी शिक्षा-संस्थाएँ हैं। खेद है कि विवरण प्राप्त न होने से उन्हें उपरि मुद्रित सूची में सम्मिलित नहीं किया जा सका।

आर्य शैक्षिक जगत् के कतिपय प्रमुख कार्यकर्त्ता

टिप्पणी—पाठकों की सुविधा के लिए नाम अकारादि क्रम से दिये हैं।

स्वामी अभयदेवजी (आचार्य देवशर्मा), *चरथावल* (मुजफ्फरनगर)—जन्म : २ जुलाई, १८६६; बाल ब्रह्मचारी; गुरुकुल कांगड़ी के यशस्वी स्नातक। कार्य : वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी के आश्र-माध्यक्ष, वेदोपाध्याय, आचार्य (१९२१-४२)। तरंगित हृदय, वैदिक विनय, ब्राह्मण की गौ आदि पुस्तकों का प्रणयन। मौलिक विचारक, वेदों के विद्वान्। महात्मा गांधी के रचनात्मक कार्यों के लिए सतत प्रयत्नशील। निधन : ९ जनवरी, १९७०।

श्री अमीचन्द, विद्यालंकार, फीजी—जन्म श्रावण वदी दशमी : सं० १९५७ वि०, कानपुर; पिता श्री जीवनलाल। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, डिप्लोमा ऑफ एजूकेशन (न्यूजीलैंड), एम० ए० (न्यूजीलैंड)। कार्य : गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता। १९२६ में फीजी प्रस्थान, फीजी में गुरुकुल में अध्यापक; सूवा में कन्या पाठशाला की स्थापना तथा उसके मुख्याध्यापक व मुख्याधिष्ठाता (१९३६-५१); रात्रि पाठशाला की स्थापना; सूवा व सामाबुला में विभिन्न संस्थाओं एवं संगठनों का संचालन; फीजी में स्काउट आन्दोलन को प्रोत्साहन, स्काउट काउंटी के सदस्य निर्वाचित; फीजी सरकार की ओर से सरकारी शिक्षा बोर्ड के सदस्य मनोनीत; फीजी अध्यापक संघ के अध्यक्ष। फीजी धारा-सभा के सदस्य, फीजी में भारत हितचिन्तक सभा के प्रधान। महारानी एलिजाबेथ द्वितीय के राज्याभिषेक के अवसर पर फीजी सरकार द्वारा स्वर्ण-पदक से सम्मानित। निधन : १४ मार्च, १९५४, हवाई जहाज दुर्घटना में।

श्री पं० आत्माराम अमृतसरी, वड़ौदा—जन्म : सन् १८६७, अमृतसर। मैट्रिक के पश्चात् गवर्नमेंट कालेज में अध्ययन। वहीं श्री गुरुदत्त विद्यार्थी से सम्पर्क होकर आर्यसमाज की विचार-धारा से प्रभावित। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के कई वर्ष तक मन्त्री। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता। वड़ौदा राज्य में शिक्षा-कार्य को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग, शिक्षा-निरीक्षक के रूप में कार्य, वड़ौदा में आर्य कन्या महाविद्यालय की स्थापना। गुजरात में

आपकी प्रेरणा से कई गुरुकुलों की स्थापना। अनेक ग्रन्थों के प्रणेता। बड़ौदा राज्य की ओर से 'राज्य रत्न' और 'राजमित्र' उपाधियों से सम्मानित। हरिजन-उत्थान, स्त्री-शिक्षा, स्वदेशी-प्रचार, विधवा-विवाह, शुद्धि और संगठन के कार्यों में अग्रणी। गुजरात में आर्यसमाज के प्रमुख पुरोधा श्री आनन्दप्रिय जी जैसे पुत्ररत्न के पिता।

श्री प० आनन्दप्रिय, बड़ौदा—जन्म : १८६६, अमृतसर। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल गुजरानवाला, बी०ए०, एल-एल बी०। सिटी मजिस्ट्रेट पद पर कार्य। समाजोद्धार के कार्य करने की तीव्र लालसा के कारण सरकारी नौकरी से त्यागपत्र। १६२१ में आर्यकुमार महासभा, बड़ौदा की स्थापना। आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा का संचालन। गुजरात में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आद्यप्रणेता। आर्यसमाज की गतिविधियों में प्रमुख स्थान, गुजरातप्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान एवं उसकी गतिविधियों में विशिष्ट योगदान। टंकारा ट्रस्ट के मन्त्री।

श्री आनन्दस्वरूप, कानपुर—उत्तर प्रदेश की डी० ए० वी० कालेज ट्रस्ट एवं मैनेजमेंट सोसायटी के संस्थापक एवं प्रधान। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर आदि कई संस्थाओं के संचालन में प्रभावशाली योगदान।

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति, गुरुकुल कांगड़ी—जन्म : ६ नवम्बर, १८८६, जालन्धर। पिता : महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय (१६१४); गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति (१६३४-६०); सं० १६६० वि० में कांगड़ी ग्राम में पाठशाला की स्थापना; 'विजय', 'सत्यवादी', 'नव राष्ट्र', 'अर्जुन' पत्रों के सम्पादक; आर्यसमाज का इतिहास, प्रिन्स बिस्मार्क, स्वामी श्रद्धानन्द आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री एवं प्रधान। भारत के शिक्षा मन्त्रालय की विश्वकोष परामर्शदात्री समिति के सदस्य; राष्ट्रपति द्वारा राज्य परिषद् के सदस्य मनोनीत (१६५२-५८)। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हैदराबाद द्वारा साहित्य वाचस्पति की उपाधि से सम्मानित। निधन : २३ अगस्त, १६६०, दिल्ली।

श्री उमेशचन्द स्नातक, हल्द्वानी—जन्म : मंगूवाल (जालन्धर)। पिता : रायसाहब श्री मानिकचन्द्र जी। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक, एम०ए०, एल० टी। कार्य : एम०बी० इंटर कालेज, हल्द्वानी में प्रवक्ता। आर्य प्रतिनिधि सभा उ० प्र० एवं सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के अनेक वर्षों तक उपमन्त्री; नारायण आश्रम, रामगढ़ के अध्यक्ष; नायक जाति सुधार विभाग के अधिष्ठाता। 'आर्यमित्र' के आदर्श सम्पादक। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन और कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस के मन्त्री तथा प्रबन्ध में विशेष सहयोगी।

स्वामी ओ३मानन्द सरस्वती, झज्जर (रोहतक)—जन्म : नरेला (दिल्ली)। पिता : चौ० कनकसिंह जी; पूर्वनाम श्री भगवान देव। शिक्षा : दयानन्द वेद विद्यालय, दिल्ली में; तत्पश्चात् गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में। कार्य : सन् १६४२ से गुरुकुल झज्जर के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य। आर्य शिक्षा-प्रणाली एवं आर्य संस्कृति का प्रसार। कन्या गुरुकुल, नरेला के लिए भूमिदान एवं

उसके संचालन में सहयोग। ४ अप्रैल, १९७० को संन्यास दीक्षा। संस्कृत और अनुसंधान-कार्य में विशेष अभिरुचि। विश्व संस्कृति सम्मेलनों में भारत सरकार की ओर से प्रतिनिधि। विद्वान् व्याख्याता। अब ताम्रपत्रों पर 'सत्यार्थप्रकाश' उत्कीर्ण करा रहे हैं।

डॉ० कपिलदेव द्विवेदी, वाराणसी—गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक। दो वेद कंठस्थ करके नाम के साथ द्विवेदी शब्द का प्रयोग। रामगढ़ (नैनीताल) में नारायण स्वामी हाईस्कूल में शिक्षक। उत्तर प्रदेश की राजकीय सेवा में अनेक स्थानों पर संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं प्रिन्सिपल। अनेक सुगम ग्रन्थों के प्रणेता। यज्ञ कर्मकाण्ड एवं व्याकरण में विशेष रुचि। मित्र-मंडली के साथ यूरोप-अमेरिका के भ्रमण द्वारा आर्यसमाज का प्रचार।

प्रि० कालकाप्रसाद, भटनागर, कानपुर—अलीगढ़ निवासी। १९२३ में डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के प्राध्यापक पद पर नियुक्त। प्रि० दीवानचन्द के प्रधानाचार्य पद से कार्य मुक्त होने पर अनेक वर्षों तक डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के प्रधानाचार्य। आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति। आर्यकुमार सभाओं को प्रगति देने में विशेष योगदान, कुमार परिषद् की धार्मिक परीक्षाओं के संचालन में विशेष सहयोग। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के अनेक वर्षों तक अन्तरंग सदस्य।

पं० गंगादत्त (शुद्धबोध तीर्थ)—वेलोन (बुलन्दशहर) के निवासी। शिक्षा : खुर्जा और काशी में। काशी में दर्शन और महाभाष्य का अध्ययन। गुरुकुल सिकन्दराबाद, वैदिक आश्रम जालन्धर, गुरुकुल गुजरांवाला, गुरुकुल कांगड़ी आदि में अध्यापक और आचार्य रहकर संस्कृत प्रचार को विशेष गति। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के संस्थापक तथा जीवन-पर्यन्त उसकी उन्नति में योगदान। संन्यास की महादीक्षा लेकर शुद्धबोध तीर्थ कहलाये।

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०, प्रयाग...शिक्षा : वैदिक आश्रम, अलीगढ़। कार्य : कोल्हापुर में राजाराम हाईस्कूल के हैडमास्टर, तत्पश्चात् दयानन्द उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, प्रयाग के मुख्याध्यापक। आर्य जगत् के कर्मठ, तपस्वी नेता, वक्ता, प्रचारक और लेखक। आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के प्रधान। सभा को लखनऊ में केन्द्रित करने में विशेष सहयोग। सार्वदेशिक सभा के मन्त्री (१९४७-५१)। 'आस्तिकवाद' ग्रन्थ पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक से पुरस्कृत।

श्री पं० गोपेन्द्रनारायण पथिक, इटावा—गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के सुयोग्य शिक्षक। फीजी जाकर भारतीय बालक-बालिकाओं को भारत में शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहन, फलत: गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन, डी० ए० वी० कालेज, देहरादून, कन्या महाविद्यालय, जालन्धर में फीजीवासी भारतीय बच्चों का शिक्षार्थ प्रवेश। फीजी में गुरुकुल 'सवेनी लौटोका' में अध्यापन कार्य। फीजी शिक्षा-जगत् में स्मरणीय योगदान, वैदिक सिद्धान्तों का प्रसार।

डॉ० गोवर्धनलाल दत्त, नई दिल्ली—डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के प्रवक्ता एवं प्रिंसिपल।

डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन को सुदृढ़ और व्यापक बनाने में विशेष योगदान। डी०ए०वी० कालेज कमेटी के प्रधान। उज्जैन के विक्रम विश्वविद्यालय के कुलपति। आर्य प्रादेशिक सभा पंजाब के प्रधान।

आचार्य चमूपति, एम० ए०—बहावलपुर के निवासी। बी०ए० तक की शिक्षा उर्दू-फारसी में होने पर भी एम० ए० (संस्कृत) प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा के उपदेशक। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य। वैदिक विषयों पर उत्कृष्ट रचनाएँ। हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, अँग्रेजी में सौ से अधिक ग्रन्थों की रचना। आर्यसमाज के लिए जीवन-दान।

श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती, दिल्ली—जन्म : बरहाणा (रोहतक)। हाईस्कूल करके सेना में भरती। सेना से अवकाश प्राप्त कर संस्कृत की उच्चतम परीक्षा उत्तीर्ण। १६२६ में आर्य महाविद्यालय, किरठल (मेरठ) के दायित्व का वहन। उसको आज के विशालतम रूप में पहुँचाने का समस्त श्रेय। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के वर्षों तक मन्त्री तथा प्रधान। पंजाब में हिन्दी आन्दोलन के नेता। वेद, दर्शन, धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित, वैदिक सिद्धान्तों के विशद् व्याख्याता। १६६२ से १६६७ तक लोक सभा के सदस्य निर्वाचित। आर्य बन्धुओं द्वारा अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट।

श्री जयकुमार मुद्गल, मथुरा—गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक; एम० ए० हिन्दी-संस्कृत। डी० ए० वी० कालेज, आजमगढ़ में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। बी० एस० ए० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के प्रस्तोता। गुरुकुल की विद्या सभा के मन्त्री। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के प्रवन्ध में सहयोग। उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् के पाली समिति के संयोजक, अनेक विश्वविद्यालयों के शिक्षा-पटल सदस्य। वृज क्षेत्र में संस्कृत व वैदिक संस्कृति के प्रमुख व्याखयाकार एवं सम्पोषक।

श्री बा० ज्वालाप्रसाद, कानपुर—कानपुर के यशस्वी, कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं नेता। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के निर्माण में विशेष योगदान, वर्षों तक कालेज के मन्त्री।

श्री पं० जियालाल, अजमेर—जिला बुलन्दशहर के निवासी, शिक्षा-स्थल बुलन्दशहर। आर्यजगत् के कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं राजस्थान के आर्य नेता। अजमेर दयानन्द कालेज के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान। हैदराबाद सत्याग्रह में विशेष सहयोग।

स्वामी त्यागानन्द सरस्वती, अयोध्या—जन्म : कार्तिक शुक्ला ११, सं० १६४० वि०, देवरिया। संस्कृत का अध्ययन। अयोध्या में गुरुकुल महाविद्यालय के संस्थापक, गुरुकुल के आचार्य और कुलपति के रूप में शिक्षा-क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य। आपके कार्यकाल में गुरुकुल की सर्वतोमुखी उन्नति। निधन : १७ मार्च, १६६०।

महर्षि दयानन्द सरस्वती—जन्म : सं० १८८१, टंकारा (मौर्वी राज्य, गुजरात प्रान्त)। पिता :

श्रीकृष्णजी तिवारी औदीप्य ब्राह्मण। शिव मूर्ति से निराश होकर सच्चे शिव की तलाश में इधर-उधर भटकना। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास की दीक्षा। मथुरा में गुरु विरजानन्द दण्डी के चरणों में बैठकर आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन। गुरु-दक्षिणा में गुरु की इच्छानुसार वैदिक धर्म के प्रसार के लिए जीवन-दान। यत्र-तत्र पाखंडों का खंडन करते हुए ईंट-पत्थरों की बौछार का भी सहन। सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेद भाष्य आदि ग्रन्थों का निर्माण। निर्भीक वक्ता, अनेक शास्त्रार्थ-कर्त्ता। निम्नलिखित पाठशालाओं के संस्थापक—

१. फर्रुखाबाद की पाठशाला (कार्यकाल सं० १९२६ से १९३८ तक)।
२. मिर्जापुर की पाठशाला (कार्यकाल जून १८७० से जून १८७३ तक)।
३. कासगंज (एटा) की पाठशाला (कार्यकाल मई १८७० से जून १८७४ तक)।
४. छलेसर (अलीगढ़) की पाठशाला (कार्यकाल नवम्बर सन् १८७० से सितम्बर १८७७ तक)।
५. बनारस की सत्यशास्त्र पाठशाला (कार्यकाल दिसम्बर सन् १८७३ से फरवरी १८७५ तक)।

योग्य गुरु एवं शिष्यों के अभाव में पाठशालाओं का कार्य बन्द। अपने शिष्य ब्र० रामानन्द के साथ यत्र-तत्र व्यक्तियों को कुछ-न-कुछ पढ़ाने का यत्न। प्रमुख शिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को लन्दन में संस्कृत प्रचारार्थ प्रेषण। जर्मनी तथा इंगलैंड के विद्वानों से भारतीय बालकों को शिल्प शिक्षा दिलाने का यत्न। सन् १८७५ में बम्बई में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना। निधन : सं० १९५०, कार्तिक बदी अमावस्या, मंगलवार, अजमेर। स्वामीजी के हृदय में विद्याप्रसार के अंकुरित बीज द्वारा विशाल वटवृक्ष का रूप धारण, फलस्वरूप ऋषि दयानन्द के नाम पर आर्यों द्वारा सैकड़ों शिक्षा-संस्थाओं का निर्माण। इतनी शिक्षा-संस्थाएँ भारत में अन्य किसी एक व्यक्ति के नाम पर नहीं हैं।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती—जन्म : संवत् १९१८ वि०, जगरावाँ (लुधियाना)। पूर्वनाम नेतराम, परिवर्तित नाम श्री कृपाराम। शिक्षा : फारसी और संस्कृत। महर्षि दयानन्द के उपदेशों से प्रभावित होकर सन् १९०१ में संन्यास ग्रहण। जगरावाँ में संस्कृत पाठशाला का प्रारम्भ। काशी, मुरादाबाद, दिल्ली में प्रेस खोलकर सस्ते मूल्य पर पुस्तकें छापकर संस्कृत विद्यार्थियों की सहायता। पत्रों का सम्पादन, संस्कृत शिक्षा का प्रचार। सन् १८९८ में सिकन्दराबाद (बुलन्दशहर) में गुरुकुल की स्थापना; गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर, गुरुकुल बदायूँ, गुरुकुल बिरालसी (मुजफ्फरनगर), गुरुकुल पोठोहार, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, (सासनी) हाथरस की स्थापना। अनेकों शास्त्रार्थों के कर्त्ता, अनेक ग्रन्थों के रचयिता एवं भाष्यकर्त्ता। गुरुकुल प्रणाली के प्रबल समर्थक। निधन : ७ अप्रैल, १९१३, आर्यसमाज हाथरस।

श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, सिद्धान्त शिरोमणि, मेरठ—गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक, संस्कृत साहित्य के धुरन्धर विद्वान्। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता और कुलपति रूप में संस्था के संचालन में महत्वपूर्ण योगदान। अनेक ग्रन्थों के प्रणेता। 'संस्कृत साहित्य विमर्श' ग्रन्थ पर सरकार की ओर से १२०० रु० का पारितोषिक प्राप्त।

श्री दिलीप वेदालंकार, बड़ौदा—जन्म : ११ जुलाई, १९३६, मोगर (आणंद) पिता : श्री आशाभाई दाजीभाई महीड़ा। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, एम० ए० संस्कृत (दिल्ली), पी-एच० डी० संस्कृत (गुरुकुल)। कार्य : हंसराज कालेज, दिल्ली में प्रवक्ता। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से नैरोबी में वैदिक धर्म के प्रचारक। गुरुकुल सूपा के भूतपूर्व आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता। आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा में संस्कृत के प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष। अफ्रीका में अनेक आर्य बाल मन्दिरों एवं आर्यसमाजों की स्थापना। गुजरात प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के मंत्री। अनेक संगठनों एवं संस्थाओं के उपमंत्री। हिन्दू धर्मरक्षक और प्रसारक मंडल, गुजरात के उपाध्यक्ष। पं० सातवलेकर स्मारक अखिल भारतीय संस्कृत प्रसार-समिति, बड़ौदा के मंत्री एवं संयोजक। ओजस्वी वक्ता, सफल लेखक, निपुण प्रशासक।

प्रि० दीवानचन्द, कानपुर—जन्म : पंजाब। कार्य : डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में अध्यापन। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर के प्रधानाचार्य। आपकी कार्य-निष्ठा, विद्वत्ता, त्याग, तप एवं संयमपूर्ण जीवन का छात्रों पर विशेष प्रभाव, फलतः राजस्थान, मध्य भारत, बिहार के सैकड़ों छात्र आपके संरक्षण में इस कालेज में प्रविष्ट। आगरा विश्वविद्यालय के प्रथम उप-कुलपति। एक महान् शिक्षा-शास्त्री, दार्शनिक, प्रभावशाली वक्ता एवं प्रतिभाशाली लेखक। पश्चिमी तर्क, जीवन-ज्योति, वेदोपदेश आदि पुस्तकों के रचयिता। पंजाब से बाहर डी० ए० वी० आन्दोलन को व्यापक रूप देने में सराहनीय योग।

लाला देवराज, जालन्धर—जन्म : ३ मार्च, १८६०, जालन्धर। पिता : श्री शालिग्राम। जालन्धर में शिक्षा। अपने बहनोई श्री मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के साथ आर्यसमाज के कार्यों में योग। मिशन स्कूल की छात्रा अपनी पुत्री वेदकुमारी के गीत 'ईसा ईसा बोल तेरा क्या लगेगा मोल' को सुनकर मुंशीरामजी की चिन्ता एवं कन्या विद्यालय खोलने के लिए लालाजी से विचार-विमर्श। लालाजी द्वारा घर पर ही कन्या-शिक्षा का कार्य। ५ जुलाई, १८९१ को आठ कन्याओं से विद्यालय का आरम्भ। कन्याओं को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए उसको कन्या महाविद्यालय, जालन्धर के रूप में विकसित करने का श्रेय। विद्यालय के साथ कन्या आश्रम की स्थापना। लालाजी के सद्प्रयत्नों से १९१८ में महाविद्यालय से भारत-भर की ११८ कन्या पाठशालाएँ सम्बद्ध। महाविद्यालय के लिए ब्रिटिश सरकार से आर्थिक सहायता लेने के जीवन-भर विरोधी। संस्था के राष्ट्रीय स्वरूप को बनाने में योग।

श्री ला० देवीचन्द, एम० ए०—बहरामपुर (गुरदासपुर) के निवासी। पिता : लाला प्रभुदयाल जी। डी० ए० वी० कालेज, लाहौर से बी० ए० (१९०२); एम० ए०, गवर्नमेंट कालेज, लाहौर (१९०४)। कार्य : डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में अध्यापन; डी० ए० वी० हाई स्कूल, होशियारपुर के हैडमास्टर; १९१५ में कालेज बनने पर प्रधानाचार्य। डी० ए० वी० कालेज सोसायटी के आजीवन सदस्य। दयानन्द साल्वेशन मिशन के संस्थापक। शुद्धि तथा दलितोद्धार का विशेष कार्य। यजुर्वेद दयानन्द भाष्य का अँग्रेजी अनुवाद, सामवेद का अँग्रेजी में भाष्य, अथर्ववेद का अपूर्ण अँग्रेजी भाष्य।

श्री पं० देवेन्द्रनाथ शास्त्री, सिकन्दराबाद—पिता : श्री पं० मुरारीलाल शर्मा। आर्यसमाज के ख्यातिप्राप्त विद्वान्। गुरुकुल सिकन्दराबाद के आचार्य एवं मुख्याधिष्ठाता। गुरुकुल सिकन्दराबाद के विकास में विशेष योगदान। सांख्य दर्शन और इस्लामी साहित्य पर विशेष अध्ययन। दस उपनिषदों पर टीकाओं का लेखन। शास्त्रार्थ महारथी। आर्यसमाज नरही, लखनऊ के वार्षिकोत्सव पर शास्त्रार्थ करते हुए हृदय-गति अवरुद्ध हो जाने के कारण निधन।

श्री दत्तात्रेय वाब्ले, अजमेर—मूलतः हैदराबाद राज्य के निवासी। आर्यसमाज के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री। कार्य : डी० ए० वी० महाविद्यालय, अजमेर के प्रिंसिपल। दयानन्द विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए प्रमुख आन्दोलनकर्त्ता। सार्वभौम आर्य शिक्षा-परिषद् के गठनकर्त्ता। सम्प्रति आर्य शिक्षा-संस्थाओं को एक सूत्र में पिरोने में संलग्न।

डॉ० दुःखनराम, एम० डी०, पटना—चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन। कार्य : चिकित्सक, शिक्षक। पटना विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर। भारत के प्रथम राष्ट्रपति के आनरेरी चिकित्सक। बिहार में आर्यसमाज की शिक्षात्मक एवं सामाजिक गतिविधियों के केन्द्र। आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार के प्रमुख स्तम्भ, सभा के वर्षों तक प्रधान तथा सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के प्रधान। बिहार के आर्य बन्धुओं से अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट द्वारा सम्मानित। पद्मविभूषण उपाधि से सम्मानित।

श्री धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (धर्मानन्द सरस्वती)—जन्म : १२ फरवरी, १९०१, दुनियापुर (मुलतान)। पिता : श्री नन्दलाल। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में वैदिक साहित्य विभाग में मानद प्रोफेसर। गुरुकुल पत्रिका एवं अँग्रेजी-संस्कृत कोष के सम्पादक। सार्वभौम वैदिक परिवार संघ के आचार्य और विश्व वेद परिषद् के प्रधान। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सहायक मन्त्री, सार्वदेशिक धर्मार्य सभा के मन्त्री एवं प्रधान। दक्षिण भारत में वैदिक धर्मप्रचार, समाज सुधार व हिन्दी प्रचार। विद्वत्ता के लिए अनेक संस्थाओं से स्वर्णपदक व उपाधि प्राप्त।

श्री धर्मपाल विद्यालंकार, बदायूँ—जन्म : १८९८, बदायूँ। पिता : श्री कृष्णस्वरूप। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सहायक मुख्याधिष्ठाता। आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के मन्त्री। 'आर्यमित्र' साप्तहिक के अवैतनिक सम्पादक। स्वामी श्रद्धानन्द के निजी मन्त्री।

स्वामी धर्मानन्द सरस्वती, उड़ीसा—गुरुकुल, झज्जर के सुयोग्य स्नातक। गुरुकुल, झज्जर में मुख्याधिष्ठाता पदेन कार्य; गुरुकुल वेदव्यास, राउरकेला के प्राचार्य। वर्तमान समय में महाविद्यालय गुरुकुल, आमसेना का संचालन।

डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, तर्क शिरोमणि, मेरठ—गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक। आगरा विश्वविद्यालय द्वारा 'डाक्टर ऑफ लिटरेचर' की उपाधि से विभूषित। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के आचार्य; कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय एवं मेरठ कालेज में संस्कृत

विभाग के अध्यक्ष। स्वस्थापित भारतीय विद्या संस्थान, दिल्ली में निदेशक रूप में संस्कृत अनुसंधानकर्त्ताओं का मार्ग-दर्शन। 'आर्यमित्र' का सम्पादन। मेरठ में जात-पाँत तोड़क मण्डल की स्थापना। आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश एवं सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के विभिन्न पदों पर कार्य। अनेक पुस्तकों के रचयिता।

डा० नगेन्द्र, दिल्ली—जन्म : १९१५, अतरौली (अलीगढ़)। पिता : श्री राजेन्द्रजी ('भारत में मूर्तिपूजा' आदि ग्रन्थों के रचयिता)। प्रारम्भिक शिक्षा अतरौली और चन्दौसी में, एम० ए० अँग्रेजी (आगरा विश्वविद्यालय); एम० ए० हिन्दी (नागपुर विश्वविद्यालय); डी० लिट० (आगरा विश्वविद्यालय)। बचपन से ही वैदिक मतावलम्बी पिता श्री राजेन्द्रजी के प्रभाव से आर्य विचारधारा। शिक्षा जगत् में लगभग ४५ वर्षों तक कार्य; दिल्ली विश्वविद्यालय में १५ वर्ष तक हिन्दी विभाग के अध्यक्ष। साहित्य समीक्षा तथा साहित्य सिद्धान्त विषयक लगभग तीन दर्जन ग्रन्थों के प्रणेता। मूर्धन्य लेखक एवं साहित्यकार। आर्यसमाज को डा० नगेन्द्र की साहित्य साधना पर गर्व है।

श्री पं० नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ ज्वालापुर—जन्म : मराठवाड़ी, हैदराबाद राज्य। शिक्षा : महाराष्ट्र एवं डी० ए० वी० कालेज, लाहौर। वेदतीर्थ परीक्षा (कलकत्ता)। गुरुकुल कांगड़ी में अध्यापन; फर्रुखाबाद गुरुकुल के आचार्य; गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के आचार्य, मुख्याधिष्ठाता, कुलपति पदों पर आजीवन कार्य। आपके कार्यकाल में महाविद्यालय की सर्वाधिक उन्नति। स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में विशेष रूप से भाग। पाँच बार जेल-यात्रा। १९४९-५० में उत्तर प्रदेश विधान सभा के सदस्य। गीता विमर्श, ऋग्वेदालोचन आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता।

श्री नानजी भाई कालीदास मेहता, पोरबन्दर—उद्योग और व्यापार से अपार धनराशि अर्जित कर भारत और अफ्रीका में अनेक शिक्षा-संस्थाओं की स्थापना। पोरबन्दर में कन्या गुरुकुल के संस्थापक। सम्प्रति आपकी पुत्री कुमारी सविता बेन द्वारा संस्था का संचालन। उदार दानी, कर्मठ कार्यकर्त्ता।

महात्मा नारायण स्वामी—जन्म : संवत् १९२२ वि०, जनपद अलीगढ़। उर्दू-फारसी के अतिरिक्त हिन्दी, संस्कृत और अँग्रेजी की विशेष योग्यता। 'सत्यार्थ प्रकाश' के अध्ययन से वैदिक विचारधारा से जीवन अनुप्राणित। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के प्रबल समर्थक। गुरुकुल वृन्दावन के मुख्याधिष्ठाता एवं आचार्य; आजीवन कुलपति। कन्याा गुरुकुल, (सासनी) हाथरस के नवोद्धार में आशीर्वाद एवं सहयोग; नायक जाति के छात्र-छात्राओं की शिक्षा के लिए सरकार से छात्रवृत्ति दिलाने में योग। अनेक ग्रन्थों का प्रणयन। आर्यसमाज के शिरोमणि संगठन सार्वदेशिक सभा के संस्थापकों में प्रमुख। अनेक वर्षों तक सार्वदेशिक सभा के प्रधान और मन्त्री। आर्यप्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के वर्षों पदाधिकारी। 'आर्यमित्र' साप्ताहिक के सम्पादक; मथुरा में आयोजित महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी के प्रबन्धक; बरेली में आर्य महा सम्मेलन के अध्यक्ष; अजमेर में महर्षिदयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी के प्रधान कार्यकर्त्ता। १९३९ में निजाम हैदराबाद के विरुद्ध आर्यसमाज के सत्याग्रह आन्दोलन का नेतृत्व। ज्वालापुर में वानप्रस्थ-संन्यास आश्रम

के संस्थापक। संन्यास ग्रहण कर नारायण आश्रम, रामगढ़ में तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए एकान्तवास। सन् १९४७ में निधन। आपकी स्मृति में रामगढ़ में नारायण स्वामी इंटर कालेज स्थापित है।

डा० निरूपण विद्यालंकार, मेरठ—जन्म : १० जून, १९२४, गुढा (मैनपुरी)। पिता : चौ० बाबूसिंह जी। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी के सुयोग्य स्नातक, एम० ए० संस्कृत-हिन्दी (आगरा), साहित्यरत्न (प्रयाग), शास्त्री (वाराणसी), पी-एच० डी० संस्कृत (आगरा)। कार्य: श्रीकृष्ण इण्टर कालेज, बदायूँ में प्रवक्ता (१९५०-५४); डी० ए० वी० कालेज, अजमेर में हिन्दी-संस्कृत के प्रवक्ता; डी०ए०वी० कालेज, जालन्धर में हिन्दी के प्रवक्ता। सम्प्रति मेरठ कालेज में संस्कृत के रीडर। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा तथा सीनेट के सदस्य। आगरा, मेरठ, कानपुर की शोध समितियों के सदस्य। मेरठ विश्वविद्यालय संस्कृत अध्यापक परिषद् के संस्थागत मन्त्री। अनेक ग्रन्थों के रचयिता। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रोवाइसचांसलर।

डा० परमात्माशरण, गाजियाबाद—जन्म : गाजियाबाद। शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से एम० ए०। कार्य : दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक। आर्यसमाज की गतिविधियों में योगदान। अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् के प्रधान।

श्री प्रियव्रत विद्यालंकार, कुरुक्षेत्र—जन्म : श्रावण बदी १९४९ वि०, ताजपुर (बिजनौर)। पिता : श्री रघुवंश सहाय। कार्य : गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ के प्रथम मुख्याधिष्ठाता (१९१६-२५); गुरुकुल सूपा के आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता। वर्षों तक गुरुकुल कुरुक्षेत्र के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता।

श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति—जन्म : १ आश्विन १९६३ वि०, भाऊपुर (पानीपत)। पिता : श्री विजयसिंह। कार्य : दयानन्द उपदेशक महाविद्यालय में वेद का अध्यापन (१९२६-३५), प्रधानाचार्य (१९३५-४३)। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में वेद विभागाध्यक्ष, आचार्य एवं उपकुलपति (१९४३-६७), कुलपति (१९६८-७१), सं० संस्कृत वि० वि०, वाराणसी की सीनेट तथा चयन समिति के सदस्य। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा संस्कृत की पुस्तकों पर पुरस्कार देने वाली चयन समिति के कई वर्षों तक सदस्य। गुरुकुल काँगड़ी की मानद उपाधि 'वेद मार्तण्ड' से सम्मानित। अनेक ग्रन्थों के रचयिता।

भक्त फूलसिंह जी—जन्म : २४ फरवरी, १८८५, माहरा (रोहतक)। पिता : श्री बाबर। कार्य : गुरुकुल भैंसवाल के संस्थापक। बालिकाओं की शिक्षा के लिए १९३६ में कन्या गुरुकुल, खानपुर की स्थापना। गो-सेवा, शुद्धि आन्दोलन, दलितोद्धार का कार्य। सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज की सेवा में समर्पित। निधन : १४ अगस्त १९४२, यवन घातकों द्वारा।

श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु—जन्म : मल्लूपोता (जालन्धर)। संस्कृत अध्ययन कर लाहौर में रावी नदी के किनारे विद्यालय के संस्थापक; पाणिनीय अष्टाध्यायी पढ़ाने के लिए शिविरों

के आयोजनकर्त्ता। आर्ष पाठविधि के प्रबल समर्थक, वैदिक वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान्। नवयुवकों को अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य का पण्डित बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य। 'वेदवाणी' हिन्दी मासिक के संस्थापक सम्पादक। यजुर्वेद भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियों के लेखक, वेद-विरुद्ध अनर्गल प्रलापों का खण्डन। महर्षि दयानन्द भाष्य का जोरदार समर्थन। आपकी स्मृति में 'जिज्ञासु स्मारक पाणिनि विद्यालय' काशी में स्थापित है।

स्वामी ब्रह्मानन्द(श्रीब्रह्मदत्तजी)—जन्म : सं० १९२५ वि०, माघ शुक्ला पंचमी, डुमरा(आरा)। 'सत्यार्थ प्रकाश' के अध्ययन से आर्य विचारधारा। गुरुकुल भैंसवाल और गुरुकुल झज्जर में मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पद पर अनेक वर्षों तक कार्य। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से हरियाणा प्रान्त में प्रचार के अध्यक्ष; हरियाणा के प्रचारकों के अधिष्ठाता। निधन : सन् १९४८, गुरुकुल काँगड़ी।

स्वामी ब्रह्मानन्द दण्डी, एटा—जन्म : शाहपुर (एटा)। साधु आश्रम, हरदुआगंज के होनहार छात्र तथा स्वामी सर्वदानन्द जी महाराज के शिष्य। आर्ष पाठविधि के प्रबल समर्थक एवं प्रचारक। उच्च कोटि के दार्शनिक विद्वान्, कर्मकाण्ड मर्मज्ञ। आर्ष गुरुकुल, एटा के संस्थापक एवं संचालक। अपने जिले में कई संस्कृत विद्यालयों के संस्थापक। गुरुकुल एटा में विशाल यज्ञशाला का निर्माण। प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार यज्ञ-पात्रों का क्रियात्मक उपयोग। निर्भीक वक्ता।

स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती, उड़ीसा—उड़ीसा में आर्यसामाजिक गतिविधियों के प्राण, शिक्षा-प्रसार, वेद-प्रचार, शुद्धि-कार्य द्वारा जनसेवा का महनीय कार्य। उड़ीसा में अनेक शिक्षा-संस्थाओं, छात्रावासों की स्थापना में योगदान। दयानन्द सेवा सदन, उड़ीसा के अध्यक्ष।

आचार्य बृहस्पति शास्त्री, गुरुकुल वृन्दावन—जन्म : खरड़ (मुजफ्फरनगर)। शिक्षा : गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन, पंजाब से शास्त्री, आगरा विश्वविद्यालय से एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)। कार्य : गुरुकुल वि० वि० वृन्दावन के आचार्य, मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति, वेदों के विद्वान् एवं व्याख्याता।

डा० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग—हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान्। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के प्रवक्ता एवं अध्यक्ष। कुलपति। भारत सरकार के हिन्दी कोष-निर्माण में योगदान। आर्यसमाज के मूक किन्तु ठोस कार्यकर्त्ता। सन् १९३३ में आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के प्रधान। रायपुर विश्वविद्यालय के कुलपति।

प्रि० भगवानदास एम० ए०, अम्बाला—डी० ए० वी० कालेज, अम्बाला में शिक्षक। डी० ए० वी० कालेज, शोलापुर के प्रिंसिपल। पंजाब में हिन्दी आन्दोलन के समय विशेष सहयोग। ओजस्वी वक्ता और उत्कृष्ट लेखक।

डा० भवानीलाल भारतीय, अजमेर—राजस्थान शिक्षा-विभाग में शिक्षक। आर्यसमाज के प्रबुद्ध एवं कर्मठ कार्यकर्त्ता, राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा एवं परोपकारिणी सभा के उप-मन्त्री। 'परोपकारी' पत्र के प्रमुख सम्पादक। सुयोग्य लेखक, 'आर्यसमाज के वेदसेवक विद्वान्' तथा 'आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी' के रचयिता। आर्यसमाज साहित्य सम्बन्धी शोध-ग्रन्थ पर पी-एच० डी०।

डा० मंगलदेव शास्त्री, काशी—जन्म : बदायूँ। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल, सिकन्दराबाद एवं बदायूँ; ओरियन्टल कालेज, लाहौर से शास्त्री तथा एम० ए०, काशी में षड् दर्शनों का विशेष अध्ययन। १९१८ से १९२२ तक ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में तुलनात्मक भाषाविज्ञान का अध्ययन कर 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' निबन्ध पर डी० फिल० की उपाधि प्राप्त। कार्य : काशी विद्यापीठ में संस्कृत एवं दर्शन के प्राध्यापक; १९३२ से १९४८ तक संस्कृत कालेज, वाराणसी के प्रस्तोता एवं प्रधानाचार्य। प्रदेशीय संस्कृत पाठशाला सुधार समिति के सभापति। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की स्थापना में विशेष योग। स्थापना-काल से ही उपकुलपति। उच्च कोटि के ग्रन्थों के रचयिता। परोपकारिणी सभा के मान्य सदस्य।

स्वामी मनीषानन्द सरस्वती (मास्टर अयोध्यालालजी), *बैरगनिया*—१९२२ में राष्ट्रीय विद्यालय, बैरगनिया के प्रधानाध्यापक। बाद में यह विद्यालय डी० ए० वी० स्कूल के रूप में परिवर्तित हुआ। गुरुकुल महाविद्यालय, बैरगनिया की स्थापना में योग; तत्पश्चात् गुरुकुल की उन्नति के लिए समर्पित भाव से कार्य, वर्तमान में गुरुकुल बैरगनिया के कुलपति। आजादी की लड़ाई में स्वतन्त्रता सैनिक रूप में कार्य।

श्री पं० महेशप्रसाद मौलवी फाजिल, वाराणसी—प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी के सम्बन्धी। शिक्षा : मुसाफिर विद्यालय, आगरा, मौलवी फाजिल (पंजाब)। कार्य : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी, फारसी के प्राध्यापक। आपकी पुत्री कु० कल्याणीदेवी को काशी विश्वविद्यालय में वेदाध्ययन की आज्ञा न मिलने पर श्री प्रिं० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री के सद्-प्रयत्नों द्वारा वेदाध्ययन की अनुमति प्राप्त।

श्री पं० मुरारीलाल शर्मा, सिकन्दराबाद—आर्यसमाज के गुरुकुल आन्दोलन को साकार रूप देने में सहयोग। सन् १८९८ में सिकन्दराबाद में गुरुकुल की स्थापना। इस संस्था को प्रथम गुरुकुल प्राप्त होने का श्रेय। नैपाल के श्री शुक्रराज शास्त्री, आचार्य चतुरसेन शास्त्री, डा० मंगलदेव शास्त्री जैसे योग्य शिष्यों के गुरु। शुद्धि कार्य में सहयोग।

डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम', कानपुर—शिक्षा : आगरा विश्वविद्यालय से डी०लिट्०। प्रतिभा-शाली कवि, ओजस्वी वक्ता एवं उच्च कोटि के लेखक। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कालेज, कानपुर में प्राध्यापक एवं अध्यक्ष हिन्दी विभाग। १९२३ में आर्य कुमार परिषद् के मन्त्री। विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 'राष्ट्रीय प्राध्यापक' उपाधि से सम्मानित।

प्रि० मेहरचन्द, जालन्धर—डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन के प्रमुख कार्यकर्त्ता। डी० ए० वी० कालेज, जालन्धर में अनेक वर्षों तक प्रधानाचार्य पद पर कार्य। भाषणों एवं लेखों द्वारा आर्य-समाज के सिद्धांतों का प्रचार।

प्रो० रतनसिंह, एम० ए०, गाजियाबाद—महानन्द मिशन कालेज में दर्शन विभाग के प्रवक्ता एवं अध्यक्ष, आर्यसमाज के अच्छे विचारक, सुयोग्य लेखक एवं प्रभावशाली वक्ता। सार्वदेशिक सभा के उपमन्त्री पद पर कार्य। इस समय आप सेवा-निवृत्त होकर आर्यसमाज के प्रचार-कार्य में संलग्न हैं।

आचार्य रामदेव, बी० ए०—जन्म : सन् १८८१। आर्यसमाज के शिक्षा कार्यक्रम को आगे बढ़ाने में योग। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आचार्य। कन्या गुरुकुल देहरादून की उन्नति में योगदान। 'वैदिक' मैगजीन के सम्पादक। 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ के लेखक। आर्य सिद्धांतों के प्रमुख वक्ता। राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भाग। निधन : सन् १९३९।

श्री रामनाथ वेदालंकार—जन्म : ७ जुलाई, १९१४, फरीदपुर (बरेली)। पिता : श्री गोपाल-राम। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, एम० ए० संस्कृत (आगरा), पी-एच० डी० संस्कृत (आगरा)। कार्य : रूपगढ़ (जयपुर) में ग्राम सेवाश्रम की स्थापना एवं उसके प्रधानाध्यापक, गुरुकुल कांगड़ी में वेदोपाध्याय, संस्कृत विभाग में उपाध्याय एवं अध्यक्ष। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार, वेद एवं कला महाविद्यालय के आचार्य। विश्वविद्यालय के प्रोवाइसचांसलर। पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसंधान पीठ के प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष। मेरठ, गढ़वाल, कुमाऊँ आदि विश्वविद्यालयों की विभिन्न समितियों के सदस्य। वैदिक सिद्धान्तों के व्याख्याकार। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग एवं हिन्दी परिषद् के सदस्य।

स्वामी रामेश्वरानन्द, घरौण्डा—स्वामी भीष्मजी के शिष्य, ओजस्वी वक्ता, प्रौढ़ लेखक, गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के भक्त। गुरुकुल घरौण्डा के आचार्य। पंजाब के हिन्दी रक्षा आन्दोलन के प्रमुख कर्णधार। भारत की लोक सभा के सदस्य मनोनीत।

श्री पं० रासविहारी तिवारी, लखनऊ—आर्यसमाज के यशस्वी कर्मठ नेता। लखनऊ आर्यसमाज की समस्त प्रगतियों में विशेष योगदान। डी० ए० वी० कालेज, लखनऊ की स्थापना और उसके विकास में तन-मन-धन से सहयोग। दीर्घकाल तक उसके मन्त्री। आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के मन्त्री। जरायम पेशा जाति के उत्थान में विशेष हाथ। सरकारी सहायता से लखनऊ की हिन्दू जनता के संरक्षक। प्रदेशीय काउन्सिल, ज़िला बोर्ड, नगरपालिका एवं उसकी शिक्षा समिति आदि के प्रमुख सदस्य।

प्रिंसिपल लक्ष्मीदत्त दीक्षित, दिल्ली—जन्म : १९१५, बिजनौर। शिक्षा : डी० ए० वी० स्कूल व कालेज, होशियारपुर, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर। कार्य : डी० ए० वी० कालेज,

होशियारपुर। इंजीनियरिंग कालेज, दिल्ली। १९४२ में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के कारण सरकारी नौकरी से त्यागपत्र। १९५४ में आर्य कालेज, पानीपत में प्राध्यापक, प्रिंसिपल। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की विद्या परिषद् के संस्थापक रजिस्ट्रार, गुरुकुल कांगड़ी की सीनेट, परिषद् तथा विद्या सभा के सदस्य। हरियाणा, नॉन गवर्नमेंट कालेज मैनेजमैन्ट्स एसोसियेशन के प्रधान, मन्त्री, उपाध्यक्ष। सार्वभौम आर्य शिक्षण संस्था परिषद् के संयुक्त सचिव एवं अनेक समितियों के सदस्य। ऑल इंडिया दयानन्द साल्वेशन मिशन तथा दयानन्द दलितोद्धार मण्डल के अवैतनिक कार्यकर्त्ता। सार्वदेशिक सभा के उपमन्त्री। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग, हैदराबाद सत्याग्रह में जत्था लेकर सम्मिलित। सम्प्रति संन्यास आश्रम की दीक्षा।

लाला लाजपतराय—जन्म : २८ फरवरी, १८६५, जगरावाँ (लुधियाना)। पिता : श्री राधाकिशन। शिक्षा-काल में श्री गुरुदत्त विद्यार्थी और महात्मा हंसराज जैसे व्यक्तियों की गतिविधियों से प्रभावित। सहपाठी होने के साथ-साथ कार्यों में भी सहयोगी। महर्षि की स्मृति में डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के स्थापना-काल से ही उससे सम्बद्ध। कालेज प्रबन्ध समिति के मन्त्री और उपप्रधान पदों पर वर्षों तक कार्य; वर्षों तक डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में इतिहास और राजनीति के आदरी प्रोफेसर। आर्यसमाज के सेवा मिशन को आगे बढ़ाने में योग, दुर्भिक्ष और भूकम्प आदि के समय सहायता। तीन सौ अनाथ बच्चों को ईसाई विधर्मी बनने से रोकने के लिए फिरोजपुर, लाहौर और मेरठ में अनाथालय खुलवाने में योग। उच्चकोटि के राष्ट्रीय भक्त। १९१९ में कलकत्ता कांग्रेस के अध्यक्ष, गांधीजी के साथ सत्याग्रह आन्दोलन का संचालन। १९२५ में स्वराज्य पार्टी की ओर से केन्द्रीय एसेम्बली के सदस्य। 'आर्यसमाज' और 'दु:खी भारत' जैसी प्रसिद्ध पुस्तकों के रचयिता। 'आर्यसमाज मेरी माता है' का उद्घोष। निधन : १७ नवम्बर, १९२८।

श्री लाला लालचन्द—पंजाब में महर्षि दयानन्द के भक्तों में प्रमुख। महर्षि की स्मृति में कालेज की योजना, निर्माण का निर्वाह। कालेज के संस्थापक सदस्यों में प्रमुख। कालेज कमेटी के प्रधान, कालेज की रजत जयन्ती समिति के प्रधान, डी० ए० वी० कालेज लाहौर के विकास में तन-मन-धन से सहयोग। डी० ए० वी० कालेज सोसायटी की स्थापना। आर्यसमाज के शिक्षा आन्दोलन के ऐतिहासिक पुरुष। महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के प्रधान।

पं० लेखराम शास्त्री, डौरली (मेरठ)—गुरुकुल सिकन्दराबाद के प्रतिष्ठित स्नातक। गुरुकुल डौरली के आचार्य। बीस वर्ष पर्यन्त निरन्तर गुरुकुल के निर्माण एवं विकास में प्रशंसनीय परिश्रम। स्वराज्य आन्दोलन में सक्रिय भाग। निधन : वसन्त पंचमी सन् १९४६।

श्री प्रि० बख्शीरामरतन—१९०५ में दयानन्द स्कूल, लाहौर के हैडमास्टर। डी० ए० वी० कालेज, लाहौर के प्रधानाचार्य। महात्मा हंसराज के मार्ग-दर्शन में डी० ए० वी० कालेज, लाहौर को आगे बढ़ाने में प्रशंसनीय योग। डी० ए० वी० कालेज के विद्यार्थी वर्ग पर आपके निर्मल एवं कर्मठ चरित्र की विशेष छाप। डी० ए० वी० मिशन को चलाने के लिए जीवनदान की घोषणा।

स्वामी व्रतानन्द सरस्वती, चित्तौड़गढ़—जन्म : ३० नवम्बर, १८९२, किला रायपुर(लुधियाना)। पिता : लाला केदारनाथ थापर; पूर्वनाम श्री युधिष्ठिर। शिक्षा : ६ वर्ष की अल्पायु में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ, गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक। माघ पूर्णिमा १९८६ वि० को गुरुकुल चित्तौड़गढ़ की स्थापना। आर्ष कन्या गुरुकुल, नरेला के कुलपति; आर्ष कन्या गुरुकुल, दाधिया, गुरु विरजानन्द वैदिक संस्कृत विद्यालय, करतारपुर, वैदिक आश्रम नान्देड़ (महाराष्ट्र) के संचालक। श्रीमद् दयानन्द आर्ष विद्यापीठ, झज्जर के प्रति कुलपति, पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा में ख्याति प्राप्त उपदेशक। स्वामी श्रद्धानन्द जी के नेतृत्व में शुद्धि सभा का कार्य। आजन्म ब्रह्मचारी। वैदिक धर्म प्रचारार्थ मॉरीशस और वर्मा की यात्रा। निधन : १०-१०-८०; चित्तौड़गढ़।

श्री वागीश्वर विद्यालंकार—जन्म : १३ मई, १८९६, जलालाबाद(बिजनौर)। शिक्षा : गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक, साहित्याचार्य (सं० सं० वि० वि० वाराणसी), एम० ए० संस्कृत-हिन्दी (आगरा)। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में संस्कृत विभागाध्यक्ष; कुल सचिव; शिक्षाध्यक्ष; प्रधानाचार्य विज्ञान महाविद्यालय। उच्चकोटि के लेखक तथा हिन्दी संस्कृत के दक्ष कवि। अगाध पाण्डित्य से पूर्ण अनेक ग्रन्थों के रचयिता। निधन : ३० मई, १९७६।

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, वाराणसी—'पाणिनि कालीन भारत' नामक निबन्ध पर डी० लिट् की उपाधि प्राप्त। काशी विश्वविद्यालय में भारतीय विद्या विभाग के अध्यक्ष। प्राच्य वस्तु भण्डार (म्यूजियम), मथुरा, लखनऊ, दिल्ली के अध्यक्ष। वैदिक साहित्य के प्रौढ़ विद्वान्, विचारक, प्रतिभासम्पन्न लेखक। अनेक ग्रन्थों के प्रणेता।

डा० विजयेन्द्र स्नातक, दिल्ली—जन्म : सन् १९१४, जनपद मथुरा। पिता : श्री मा० जोधसिंह जी। शिक्षा : गुरुकुल वृन्दावन के सुयोग्य स्नातक, एम०ए०(आगरा वि० वि०), शास्त्री (पंजाब विश्वविद्यालय), साहित्य शास्त्री (सं० सं० वि० वि० वाराणसी), पी-एच० डी० (दिल्ली विश्वविद्यालय)। कार्य : मेरठ, अम्बाला, बड़ौत के कालेजों में प्राध्यापक; रामजस कालेज, दिल्ली में हिन्दी के प्राध्यापक। दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग साहित्य जगत् में अपनी मौलिक, चिन्तनपूर्ण कृतियों के कारण पर्याप्त ख्याति प्राप्त। १२ मौलिक ग्रन्थों का प्रणयन तथा ८ ग्रन्थों का सम्पादन। राष्ट्रीय, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक संस्थाओं से घनिष्ठ सम्बन्ध। प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, दिल्ली के अध्यक्ष, भारतीय हिन्दी परिषद के प्रधानमन्त्री तथा सभापति, भारत सरकार की अनेक समितियों के सदस्य मनोनीत; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की स्थायी-समिति के पिछले तीस वर्षों से सदस्य। सम्मेलनों से 'विद्यावारिधि' तथा 'विद्यावाचस्पति' की मानद उपाधियों से सम्मानित। ग्रन्थों पर अनेक पुरस्कार प्राप्त। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा 'राष्ट्रीय भाषणमाला' के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य पर भाषण देने के निमित्त सन् १९७६-७७ में चयन। हिन्दी प्राध्यापकों में यह सम्मान सर्वप्रथम आपको ही प्राप्त हुआ है।

स्वामी विरजानन्द सरस्वती—जन्म : सं० १८५४, कर्तारपुर, जालन्धर। अल्पायु में चेचक के कारण नेत्रज्योति विहीन। हरिद्वार में एक ब्राह्मण से अष्टाध्यायी पाठ श्रवण कर सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ। पतंजलि का व्याकरण महाभाष्य सम्पूर्ण कण्ठस्थ। अनार्ष ग्रन्थों के घोर विरोधी। सोरों, मथुरा, अलवर में आर्ष ग्रन्थों का अध्यापन। स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती से संन्यास दीक्षा। महर्षि दयानन्द के गुरु।

आचार्य विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि, गुरुकुल वृन्दावन—पीलीभीत निवासी। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन के प्रतिष्ठित स्नातक एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित। गुरुकुल विश्व-विद्यालय, वृन्दावन में दर्शन के महोपाध्याय; सन् १९३९ से ६२ तक गुरुकुल के आचार्य; गुरुकुल श्रीधर अनुसंधान विभाग और दर्शन पीठ के अध्यक्ष। गुरुकुल की शिरोमणि उपाधि को भारतीय विश्वविद्यालयों से स्वीकार कराने के प्रयासों में सफलता। अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता। दस ग्रन्थों पर उत्तर प्रदेश एवं विन्ध्य प्रदेश की सरकारों की ओर से हजारों रुपए के पारितोषिक प्राप्त। दिल्ली विश्वविद्यालय के विद्वानों द्वारा अनुसंधान कार्य की विशेष प्रशंसा। निधन : २९ जुलाई, १९६२।

आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री अग्निहोत्री, बरेली—राजकीय शिक्षा विभाग, उत्तर प्रदेश में शिक्षक, प्रवक्ता, आचार्य एवं निरीक्षक; वाराणसी संस्कृत कालेज के सहायक प्रस्तोता। आर्यसमाज के शिक्षा प्रसार कार्य में विशेष योगदान। सार्वदेशिक विद्यार्य सभा के अनेक वर्षों तक मन्त्री; आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश के शिक्षा-विभाग के अधिष्ठाता। धार्मिक परीक्षाओं के कार्यक्रम को आरम्भ करने में योग। वैदिक साहित्य अनुसंधान कार्य में विशेष रुचि। सार्वभौम वेद परिषद् के संस्थापक, विश्व वेद परिषद् पत्रिका के सम्पादक। सामवेद भाष्यकार।

डा० वीरेन्द्र स्वरूप, कानपुर—पिता : श्री ब्रजेन्द्रस्वरूप। कार्य : डी०ए० वी० कालेज आन्दोलन की पैतृक धरोहर को पिता की भाँति ही सुरक्षित और संवर्धित करने में योग। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर एवं अन्य डी० ए० वी० संस्थाओं के विकास में कठोर एवं योजनाबद्ध प्रयास। उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा-परिषद् के वर्षों प्रमुख सदस्य तथा अनेक समितियों के संयोजक। उत्तर प्रदेश विधान परिषद् के अध्यक्ष।

श्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, वेदानुसंधानकर्त्ता, नासिक—जन्म : जौनपुर। वैदिक वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान्, ओजस्वी वक्ता एवं उच्च कोटि के लेखक। बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र में विभिन्न शिक्षा संस्थाओं के प्रधानाचार्य। सार्वदेशिक सभा के अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष। अन्य अनेक अनुसंधान संस्थानों के सदस्य एवं अध्यक्ष। भारत के अतिरिक्त अफ्रीका में भी वैदिक धर्म का प्रचार। अनेक पुस्तकों के रचयिता।

डा० श्यामस्वरूप सत्यव्रत, बरेली—आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता एवं प्रचारक। नगर की सामाजिक, शैक्षिक प्रगतियों में विशेष योगदान। अछूतोद्धार का विशेष कार्य। बत्तीस कल्याणी पाठशालाएँ चलाकर दलित जाति के बच्चों की शिक्षा की व्यवस्था। सरस्वती विद्यालय तथा

स्त्री-सुधार विद्यालय के निर्माण में विशेष हाथ। आर्योला में आर्ष गुरुकुल की स्थापना तथा निजी धन से उसका चलाना। अपनी आय का अधिकांश धन आर्यसमाज के कार्यों पर व्यय। आपका घर एक आश्रम। स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों को गृहस्थाश्रम में प्रवेश से पूर्व आपके घर में कुछ समय बिताकर गृहस्थ धर्म की शिक्षा लेने के लिए भेजना।

पं० शंकरदेव पाठक—जन्म : सन् १८८५, सिवहरा (बिजनौर)। शिक्षा : गुरुकुल, सिकन्दराबाद तथा गुरुकुल, वृन्दावन। अष्टम श्रेणी में अत्यधिक अध्ययन से आँखों के कष्ट के कारण भी काव्यतीर्थ परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। व्याकरण और साहित्य का गहन अध्ययन। सन् १९१८ में गुजरात की महिला से अन्तर्जातीय विवाह कर वैदिक सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप प्रदान। गुरुकुल, वृन्दावन में पन्द्रह वर्ष तक मुख्याध्यापक पद पर कार्य। सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत में अनुवाद। अन्य अनेक ग्रन्थों के रचयिता एवं अनुवादकर्त्ता। दिल्ली में चन्द्र प्रिन्टिंग प्रेस लगाकर वैदिक साहित्य का प्रकाशन।

श्री शंकरदेव विद्यालंकार—जन्म : १९०७, मलवाड़ा (सूरत)। पिता : श्री मुकुन्दजी भाई आर्य। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी; एम० ए० हिन्दी-संस्कृत, आगरा विश्वविद्यालय। कार्य : सूपा गुरुकुल में अध्यापक (१९२८-४३), गुरुकुल कांगड़ी में आश्रमाध्यक्ष तथा अध्यापक (१९४३-५७), गुरुकुल महिला आर्ट्स कालेज, पोरबन्दर में संस्कृत के प्राध्यापक, उपाचार्य एवं प्रबन्धक। प्रतिभाशाली कवि एवं लेखक। सेठ नानजी भाई कालिदास मेहता स्मृति-ग्रन्थ, पं० आनन्द-प्रिय अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक। सूपा गुरुकुल के शिष्टमंडल के साथ पूर्वी अफ्रीका की ज्ञान यात्रा (१९४१)। विश्व हिन्दी सम्मेलन, नागपुर में अहिन्दीभाषी हिन्दी लेखक के रूप में सम्मानित।

स्वामी श्रद्धानन्द—जन्म : सन् १८५६, तलवन (जालन्धर)। जन्मनाम बृहस्पति पर घर में मुंशीराम। पिता : श्री नानकचन्द्र। शिक्षा : बनारस के सरकारी स्कूल और इलाहाबाद के म्योर सैन्ट्रल स्कूल में। बरेली में महर्षि दयानन्द के दर्शन और उपदेश सुनने पर आस्तिक विचार-धारा। नायब तहसीलदार के पद को तथा बाद में वकालत को ठोकर मारकर आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाने में जीवन को समर्पित। स्त्री-शिक्षा के प्रचारार्थ कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की स्थापना में योग। गुरुकुल आन्दोलन का आरम्भ। सन् १९०२ में कांगड़ी ग्राम में गुरुकुल की स्थापना। उससे पूर्व गुजरांवाला में गुरुकुल का संचालन। गुरुकुल के लिए जालन्धर वाली अपनी कोठी, सद्धर्म प्रचारक पत्र और प्रेस। दान अपने दोनों पुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराया। गुरुकुल कांगड़ी का वैदिक संस्कृति और राष्ट्रभक्ति के शिक्षा केन्द्र के रूप में आपके प्रयत्नों से विकास। कन्या गुरुकुल, देहरादून की स्थापना में योग। अपने जीवनकाल में १२ गुरुकुलों की स्थापना। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग। गांधी जी को गुरुकुल में बुलाकर 'महात्मा' की उपाधि से विभूषित करना। कांग्रेस के स्वागताध्यक्ष रूप में कांग्रेस का मार्गदर्शन। जलियांवाला गोलीकाण्ड के विरुद्ध जन-आन्दोलन में सहयोग। शुद्धि आन्दोलन के जन्मदाता। अँग्रेजों की संगीनों के आगे छाती तान कर खड़े होना। २३ दिसंबर, १९२६ को सार्वदेशिक सभा, दिल्ली के कार्यालय में एक मुस्लिम की गोली से शहीद। बाद में

उसी भवन का नाम बलिदान भवन और बाजार का नाम श्रद्धानन्द बाजार रखा गया।

स्वामी सत्यप्रकाश, प्रयाग—पिता : श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय। प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायन विज्ञान के प्राध्यापक एवं अध्यक्ष। आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता। गम्भीर विचारवान् लेखक। कई अंग्रेजी ग्रन्थों के रचयिता। सम्प्रति देश-विदेश में वैदिक धर्म के प्रचार में संलग्न।

श्री सत्यभूषण योगी, वेदालंकार, दिल्ली—जन्म : १४ नवम्बर, १९१७, गुरुकुल कांगड़ी। पिता : आचार्य रामदेव। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक, शास्त्री (पंजाब), एम०ए० संस्कृत-हिन्दी (दिल्ली)। प्रभात आश्रम, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, हिन्दी मिलाप में विविध रूपों में कार्य। गुरुकुल कांगड़ी प्रेस के अध्यक्ष, तुलनात्मक धर्म विज्ञान के उपाध्याय। सेन्ट स्टीफन्स कालेज, दिल्ली में संस्कृत एवं हिन्दी के प्राध्यापक एवं अध्यक्ष। हिन्दी के अच्छे कवि एवं लेखक।

श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार—जन्म : ५ मार्च १८९८, लुधियाना। पिता : श्री पं० बालकराम शर्मा। शिक्षा : गुरुकुल कांगड़ी में। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी में उपाध्याय, कुल सचिव, मुख्याधिष्ठाता (१९३५-४०), कुलपति (१९६१-६६)। अनेक ग्रन्थों के प्रणेता एवं पुरस्कार विजेता। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा 'विद्या मार्तण्ड' की मानद उपाधि से अलंकृत। १९६४ में राज्य सभा के सदस्य मनोनीत। राष्ट्रीय आन्दोलन में जेलयात्रा। नैरोबी में केन्या-अफ्रीका के आर्य सम्मेलन के अध्यक्ष।

श्री सत्याचरण शास्त्री, एम० ए०, गोरखपुर—जन्म : गोरखपुर। प्रारम्भिक शिक्षा : गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन। एम०ए० करने के पश्चात् डी० ए० वी० हाईस्कूल, प्रयाग के प्रधानाध्यापक। उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा परिषद् के प्रमुख सदस्य। सेवा निवृत्त होने पर लोक सभा के सदस्य, वेस्टइन्डीज में हाई कमिश्नर। हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान्। प्रभावशाली वक्ता।

श्री ठा० संसारसिंह, कनखल (हरिद्वार)—कनखल में कन्या गुरुकुल के संस्थापक और वहाँ आयुर्वेद की शिक्षा की भी व्यवस्था। आपके योग्य पुत्र श्री योगेन्द्रपाल शास्त्री एवं पुत्रवधू श्रीमती चन्द्रावती जी द्वारा कन्या गुरुकुल का संचालन।

स्वामी समर्पणानन्द (श्री बुद्धदेव विद्यालंकार)—पिता : श्री रामचन्द्र। कार्य : गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य। प्रभात आश्रम (मेरठ) के संस्थापक। आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान। अनेक ग्रन्थों के रचयिता। अत्यन्त प्रतिभाशाली सुकवि और उत्कृष्ट वक्ता।

स्वामी सर्वदानन्द, साधु आश्रम, हरदुआगंज—जन्म : बजवाड़ा (होशियारपुर)। हरदुआगंज (अलीगढ़) में काली नदी के पुल के समीप साधु आश्रम की स्थापना, जिसमें संस्कृत शिक्षा के साथ-साथ आश्रम में आने वाले साधु-संन्यासियों से अलीगढ़ आदि में प्रचार कार्य। जीवनपर्यन्त आर्यसमाज के प्रचार एवं शिक्षा कार्य को गति देने में योग। आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासी,

वीतरागी, निःस्पृही । प्रभावशाली वक्ता । सत्यार्थ-दर्शन, कल्याण-मार्ग आदि पुस्तकों के रचयिता । श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, स्वामी ध्रुवानन्द जैसे शिष्यों के निर्माता ।

श्री लाला साईंदास—जालन्धर जिले के निवासी । लाहौर में गवर्नर के कार्यालय में मुख्य लेखक । महर्षि दयानन्द के विचारों से प्रभावित होकर आर्यसमाज, लाहौर के सदस्य, मन्त्री और कई वर्ष तक प्रधान । अगस्त १८८६ में आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब की स्थापना तथा उसके प्रधान । महर्षि दयानन्द सरस्वती के निधन के पश्चात् उनकी स्मृति में श्री गुरुदत्त विद्यार्थी के साथ मिलकर दयानन्द कालेज स्थापित करने के आन्दोलन का प्रारंभ । डी०ए०वी० कालेज सोसायटी के संस्थापक सदस्य । पंजाब में आर्यसमाज और डी०ए० वी कालेज आन्दोलन को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान । कर्मठ निष्ठावान् कार्यकर्त्ता । आपके नाम पर आपके पुत्र श्री सुन्दरदास द्वारा जालन्धर में साईंदास ऐंग्लो संस्कृत हाईस्कूल की स्थापना । यही स्कूल आगे चलकर डी० ए० वी० कालेज, जालन्धर के रूप में विकसित हुआ ।

डा० सूरजभान, एम० ए०—आर्यसमाज के विशिष्ट शिक्षा शास्त्री । डी० ए० वी० हाईस्कूल, जालन्धर के हैडमास्टर रहने के पश्चात् वहीं के प्रधानाचार्य । कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय एवं पंजाब विश्वविद्यालय के कुलपति । आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, पंजाब के अध्यक्ष । डी० ए० वी० आन्दोलन को नवीनतम रूप देने में उल्लेखनीय योगदान । विभाजन के पश्चात् सभा के कार्य को व्यवस्थित करने में महात्मा आनन्द स्वामीजी महाराज को विशेष सहयोग । निधन : २८ अगस्त, १९८० ।

डा० सूर्यदेव, अजमेर—जन्म : १ मई, १९०१, ग्राम वरना (एटा) । शिक्षा : होनहार विद्यार्थी, सदैव कक्षा में प्रथम स्थान प्राप्तकर्त्ता । चार विषयों में एम० ए० । कार्य : डी० ए० वी० कालेज, कानपुर में प्राध्यापक (१९२५-३५), डी० ए० वी० हाईस्कूल, अजमेर के प्रधानाध्यापक । आर्य-समाज एवं आर्यकुमार सभा के विशिष्ट कार्यकर्त्ता । दस वर्ष तक परिषद् की धार्मिक परीक्षाओं का सफल संचालन । राजस्थान आर्यकुमार परिषद् के प्रधान । प्रभावशाली वक्ता, लेखक एवं कवि । साठ पुस्तकों के प्रणेता । धार्मिक परीक्षाओं के अध्यक्ष ।

महात्मा हंसराज—जन्म : १८ अप्रैल, १८६४, बजवाड़ा (होशियारपुर) । पिता : श्री चुन्नी-लाल । प्रारम्भिक शिक्षा बजवाड़ा, मैट्रिक लाहौर रंगमहल मिशन स्कूल, बी० ए० गवर्नमेंट कालेज, लाहौर । १९७७ में लाहौर में महर्षि दयानन्द के दर्शन और भाषण श्रवण कर ऋषि के कार्यों के लिए जीवन समर्पण । महर्षि की स्मृति में डी० ए० वी० कालेज प्रणाली के सूत्र-धार, डी० ए० वी० कालेज आन्दोलन को आगे बढ़ाने में सक्रिय सहयोग । डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में हैडमास्टर और प्रिंसिपल रूप में २५ वर्ष तक कार्य । आपका समय डी० ए० वी० कालेज इतिहास का स्वर्णिम काल । डी० ए० वी० कालेज के आचार्य रूप में बीकानेर, कांगड़ा, अवध, मुल्तान, गढ़वाल, उड़ीसा, मालावार, मुजफ्फरगढ़, पुंछ, बिहार, क्वेटा आदि में दुर्भिक्ष, भूकम्प, सांप्रदायिक दंगों के समय सहायता और उद्धार कार्यों का नेतृत्व । राजस्थान में चौदह हजार अनाथ बच्चों की रक्षा का प्रबन्ध । प्रादेशिक सभा के अध्यक्ष । दिल्ली में आयोजित

आर्य महा सम्मेलन के अध्यक्ष। हरिद्वार में मोहन आश्रम की स्थापना। निधन : १५ नवम्बर, १९३८।

श्री पं० हरिदत्त शास्त्री, एकादश तीर्थ, ज्वालापुर—पिता : श्री पं० भीमसेन शर्मा। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के सुयोग्य स्नातक; कलकत्ता की वेदान्ताचार्य, बेद, व्याकरण, काव्य, न्याय, सांख्य आदि एकादश तीर्थ परीक्षाएँ उत्तीर्ण। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के आचार्य, मुख्याधिष्ठाता एवं कुलपति। डी० ए० वी० कालेज, आगरा में अध्यापन; बलवन्त राजपूत कालेज, आगरा में हिन्दी, संस्कृत के प्राध्यापक। डी० ए० वी० कालेज, कानपुर में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष। संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान्।

श्री पं० क्षेमचन्द्र 'सुमन', शाहदरा (दिल्ली)—जन्म : सन् १९१६, बाबूगढ़, गाजियाबाद (पूर्व जि० मेरठ)। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में शिक्षित-दीक्षित। 'आर्यमित्र' साप्ताहिक, आगरा में सम्पादकीय विभाग में कार्य। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के संचालन में सहयोग; अनेक वर्षों तक उसकी प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष। लाहौर में 'फतेहचन्द कालेज फॉर वीमेन' में अध्यापन कार्य। मेरठ विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी के सदस्य। साहित्य अकादमी के कार्यक्रम एवं प्रकाशन अधिकारी। आर्यसमाज के शिक्षाजगत् के जाने-माने साहित्यकार एवं सामाजिक कार्यकर्त्ता। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने पर ताम्रपत्र प्राप्तकर्त्ता। मारीशस में आर्य महासम्मेलन के अवसर पर आयोजित कवि-सम्मेलन के अध्यक्ष। सन् १९६६ में आपको भारत के उप-राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन के करकमलों द्वारा 'एक व्यक्ति एक संस्था' नामक अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट। सम्प्रति हिन्दी के दिवंगत साहित्य सेवियों के परिचय के लिए दस खंडीय ग्रन्थावली के निर्माण में व्यस्त।

श्रीमती अक्षयकुमारी शास्त्री, कन्या गुरुकुल, (सासनी) *हाथरस*—जन्म : सन् १९०९। माता : लक्ष्मीदेवीजी। पति : श्री प्रि० महेन्द्रप्रतापजी शास्त्री। कार्य : कन्या गुरुकुल, देहरादून; श्रद्धानन्द वनिता आश्रम, देहरादून; वैदिक कन्या इंटर कालेज, लखनऊ (प्रबन्धक); महिला आश्रम, लखनऊ (मंत्री) आदि के संचालन में सहयोग। जिला बोर्ड, देहरादून की शिक्षा-समिति की सदस्या। केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड, लखनऊ की मन्त्री, संयोजिका। राष्ट्रसंघ द्वारा निर्धारित 'महिला-वर्ष' में प्रकाशित 'इंडियन वीमेन' में परिचय। सन् १९३१ से कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, (सासनी) हाथरस की प्रस्तोता, मार्च १९६१ से इसी गुरुकुल की आदरी मुख्याधिष्ठात्री एवं आचार्या। सर्वात्मना गुरुकुल के संचालन में संलग्न। समय-समय पर राष्ट्रीय आन्दोलन एवं समाज सुधार के कार्यों में सहयोग।

कु० डा० कंचनलता सब्बरवाल, लखनऊ—शिक्षा : एम० ए० (पंजाब), पी-एच० डी०, लखनऊ। पंजाब में शिक्षा-संस्थाओं में अध्यापन। देश-विभाजन के बाद उत्तर प्रदेश में आर्य कन्या इंटर कालेज, सीतापुर की प्रधानाचार्या। महिला कालेज, लखनऊ की प्रधानाचार्या। शैक्षिक, सामाजिक एवं महिला-उत्थान के कार्यों में विशेष रुचि।

कु० कमला स्नातिका, कन्या गुरुकुल, (सासनी) *हाथरस*—जन्म : १० अगस्त, १९४२, जीतपुर (मेरठ)। पिता : श्री जगत्सिंह आर्य। शिक्षा : गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की शिरोमणि, एम० ए० (आगरा), बी० एड्० (मेरठ विश्वविद्यालय)। कार्य : कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में १९६२ से अध्यापन, १९६८ से प्राचार्या। गुरुकुल के लिए समर्पित जीवन की भावना से कार्यरत।

श्रीमती डा० गायत्री देवी स्नातिका, जयपुर—जन्म : अलीगढ़। पिता : श्री तोतारामजी वकील। कन्या गुरुकुल, (सासनी) हाथरस की स्नातिका, एम० ए०, पी-एच० डी०। महारानी कालेज, जयपुर में प्रधानाचार्या। राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में रीडर। विद्यार्थियों में अनुशासन और चरित्र विकास के लिए श्रद्धा एवं निष्ठा की भावनाओं को समृद्ध करने में संलग्न।

श्रीमती चन्द्रावती, कन्या गुरुकुल, कनखल—श्री योगेन्द्रपाल शास्त्री की धर्मपत्नी। कन्या गुरुकुल, कनखल की आचार्या एवं मुख्याधिष्ठात्री; कन्या गुरुकुल के संचालन एवं उसकी उन्नति में सर्वात्मना समर्पित।

श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल—गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की धर्मपत्नी। कन्या गुरुकुल, देहरादून की आचार्या; महादेवी इंटर कालेज की प्रधानाचार्या। सुप्रसिद्ध लेखिका। उत्कृष्ट रचनाओं पर मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता।

श्रीमती दमयन्ती देवी विद्यालंकृता, देहरादून—जन्म : २ मार्च, १९१६, गुरुकुल कांगड़ी। पिता : आचार्य रामदेव। पति : श्री विष्णुदत्त कपूर। शिक्षा : कन्या गुरुकुल, देहरादून की स्नातिका, साहित्यरत्न हिन्दी (पंजाब), एम० ए० हिन्दी-संस्कृत (आगरा)। कार्य : कस्तूरबा बालिका विद्यालय, दिल्ली में प्रधानाचार्या। बिरला बालिका विद्यापीठ, पिलानी में प्रवक्ता। सम्प्रति कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, देहरादून की आचार्या। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या-सभा, सीनेट, सिण्डीकेट, शिक्षा-पटल की सदस्या।

डा० प्रज्ञादेवी, वाराणसी—श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु की शिष्या। व्याकरणाचार्य, पी-एच०डी०। संस्कृत की विदुषी और प्रबुद्ध लेखिका। ओजस्वी वक्ता। जिज्ञासु स्मारक पाणिनि विद्यालय, वाराणसी की आचार्या। आर्ष पद्धति से कन्याओं को दीक्षित करने और विद्यालय की उन्नति में सर्वात्मना संलग्न। बाल ब्रह्मचारिणी।

श्रीमती ब्रह्मवती विद्यालंकृता, देहरादून—जन्म : ८ अक्तूबर, १९१६, सोलन (शिमला)। पति : श्री देवचन्द्र नारंग। पिता : श्री कालूराम। कन्या गुरुकुल, देहरादून की स्नातिका, एम० ए० संस्कृत (आगरा), बी० टी०, पी-एच० डी० (मेरठ)। कन्या गुरुकुल, देहरादून में मुख्याध्यापिका एवं कार्यवाहक आचार्या। सम्प्रति महादेवी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देहरादून में संस्कृत विभाग एवं छात्रावास की अध्यक्षा। मेरठ विश्वविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक परिषद्

की सक्रिय पदाधिकारिणी। गढ़वाल विश्वविद्यालय की संस्कृत बोर्ड ऑफ स्टडीज की सदस्या। आर्यसमाज की गतिविधियों में योगदान।

श्रीमती लज्जावती, जालन्धर—कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की आचार्या; लाला देवराजजी के मार्गदर्शन में महाविद्यालय को उन्नत बनाने में योगदान। अविभाजित पंजाब में स्त्री-शिक्षा के कार्य में इस महाविद्यालय का अपना विशिष्ट स्थान। आपके आदर्श संचालन में महाविद्यालय, उत्तर भारत की उच्च श्रेणी की शिक्षा संस्था के रूप में विख्यात। राष्ट्रीय आन्दोलन में गांधीजी को पूर्ण सहयोग।

माता लक्ष्मीदेवी, कन्या गुरुकुल, (सासनी) हाथरस––जन्म : सन् १८८७, एलनगंज, इलाहाबाद। पिता : श्री रामचन्द्र वर्मा। शिक्षा : कन्या महाविद्यालय, जालन्धर। ताऊ : श्री रोशनलाल बैरिस्टर, जो लन्दन में आर्यसमाज के संस्थापकों में थे, तथा ताई : श्रीमती हरदेवी, जो समाज-सुधार के विचारों से ओत-प्रोत थीं, द्वारा माता लक्ष्मीदेवीजी को प्रेरणा। विवाहोपरांत डॉ० श्यामस्वरूप सत्यव्रत, बरेली के परिवार में पहुँचकर अपने आदर्शों एवं विचारों को मूर्त्त रूप देने का अवसर लाभ, स्त्री-सुधार के लिए तड़प; फलस्वरूप बरेली में स्त्री-सुधार विद्यालय की स्थापना। कन्या गुरुकुल खोलने की अदम्य आकांक्षा, परिणामस्वरूप कन्या गुरुकुल, (सासनी) हाथरस का पुनरुद्धार एवं आजीवन मुख्याधिष्ठात्री पद पर अवैतनिक कार्य। गुरुकुल कार्य के साथ-साथ उत्तर प्रदेश तथा भारत-भर में महिला जागरण का विशेष कार्य। राष्ट्रीय आंदोलन में सहायता। हैदराबाद सत्याग्रह में विशेष सहयोग। हिन्दी आन्दोलन में सहायता। दृढ़ इच्छा-शक्ति सम्पन्न, वाणी में ओज तथा गांभीर्य, व्यक्तित्व में कठोरता एवं कोमलता का अद्भुत मिश्रण। निधन : ११ मार्च, १९६१, आगरा नर्सिंग होम।

श्रीमती विद्यावती सेठ, देहरादून—जन्म : बिसवाँ (सीतापुर)। आर्यजगत् में प्रथम बी० ए० उत्तीर्ण करने वाली महिलाओं में प्रमुख। कन्या गुरुकुल, देहरादून की संस्थापिका एवं दीर्घकाल तक आचार्या। कन्या गुरुकुल को वैदिक धर्मानुकूल एवं उसके राष्ट्रीय स्वरूप बनाये रखने के लिए बड़ी लगन एवं तत्परता से कार्य। अखिल भारतीय महिला आश्रम की संस्थापिका एवं संचालिका। अनेक संकटापन्न देवियों को स्वाश्रयी बनाने का सफल प्रयास।

श्रीमती शन्नोदेवी, जालन्धर—कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की आचार्या। कन्या महाविद्यालय, जालन्धर की उन्नति में विशेष सहयोग। महाविद्यालय में राष्ट्रीय वेशभूषा, हिन्दी का सम्मान और राष्ट्र भक्ति के कारण स्वाधीनता आन्दोलन में योगदान। कुशल नेतृत्व।

कु० शान्तिदेवी आचार्या, लोवाकलाँ (रोहतक)—पिता : श्री मानाचार्य सरस्वती। शिक्षा : कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, (सासनी) हाथरस। सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में आचार्य (प्राचीन व्याकरण)। आचार्यकुल लोवाकलां पो० बहादुरगढ़ (रोहतक) की संस्थापिका एवं आचार्या। आर्ष पद्धति से कन्याओं में शिक्षा प्रसार करने एवं गुरुकुल के संचालन में सर्वात्मना संलग्न। बाल ब्रह्मचारिणी।

डा० सरस्वती कुमारी पंडित, बड़ौदा—जन्म : १६ अगस्त, १९१७, बड़ौदा। स्व० मास्टर आत्माराम अमृतसरी की पौत्री एवं श्री पं० शान्तिप्रिय की सुपुत्री। शिक्षा : बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से बी० ए०; महाराज सयाजीराव यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा से एम० एड्० तथा पी-एच० डी० शोध प्रवन्ध 'आर्यसमाज का शिक्षा प्रसार'। आर्य कन्या महाविद्यालय से व्यायामाचार्य। कार्य : आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा में अध्यापन कार्य; पूर्वी अफ्रीका में टांगा के सीनियर कैम्ब्रिज स्कूल में अध्यापन; महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी में प्रवक्ता; भारत स्काउट एण्ड गाइड्स (गुजरात) की असिस्टेंट कमिश्नर; सम्प्रति आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा में एजूकेशनल एडवाइजर।

कु० सुशीला पंडित, बड़ौदा—पिता : श्री पं० आत्माराम अमृतसरी। श्री पं० आनन्दप्रियजी की छोटी बहिन। आर्य कन्या महाविद्यालय, बड़ौदा की आश्रमाध्यक्षा, मुख्याधिष्ठात्री एवं आचार्या। बड़ी योग्यता एवं लग्न से संस्था का संचालन। गर्लगाइड की गुजरात की कमिश्नर। ऑल इंडिया वीमेन्स कान्फ्रेंस की कार्यकारिणी की सदस्या। निसर्ग और आरोग्य पत्रिका का प्रकाशन।

श्रीमती डा० सौभाग्यवती स्नातिका, गढ़वाल—जन्म : गढ़वाल। पिता : श्री जोधसिंहजी। कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस की सुयोग्य स्नातिका। एम० ए० हिन्दी-संस्कृत, पी-एच० डी० (अलीगढ़ विश्वविद्यालय)। कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस में प्रधानाध्यापिका पद पर कार्य। कन्या गुरुकुल, हाथरस की प्रस्तोता। सम्प्रति टीकाराम कन्या महाविद्यालय, अलीगढ़ में हिन्दी विभाग में प्रवक्ता।

टिप्पणी—हमें खेद है कि इसमें हम सभी के नाम सम्मिलित न कर सके।

कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हाथरस (अलीगढ़)

संक्षिप्त परिचय

स्थापना

कन्या गुरुकुल, हाथरस की स्थापना आर्यसमाज के प्रमुख संन्यासी श्री स्वामी दर्शनानन्दजी महाराज की प्रेरणा से विक्रमी संवत् १९६६ तदनुसार ईस्वी सन् १९०९ में हुई थी। ५ वर्ष तक यहाँ शिक्षा कार्य चलता रहा, परन्तु अच्छे कार्यकर्ताओं के अभाव में सन् १९१४ में गुरुकुल का कार्य बन्द हो गया। गुरुकुल-भूमि वीरान हो गयी।

पुनरुद्धार

'यमेवैष वृणुते स तेन लभ्यः' उपनिषद् की इस सूक्ति के अनुसार माता लक्ष्मीदेवी जी ने, जो अनन्य ऋषि भक्त थीं और जिनके हृदय में स्त्री-शिक्षा के प्रसार के लिए कन्या गुरुकुल खोलने की धुन लगी हुई थी, इस बन्द हुए गुरुकुल को अनुप्राणित कर पुनर्जीवन दिया। व्यास पूर्णिमा सन् १९३१ से ऋषि का पुण्य प्रताप पुनः यहाँ जगमगाने लगा। महात्मा नारायण स्वामीजी जैसे मूर्धन्य संन्यासी का इसे मार्गदर्शन मिला। माता लक्ष्मी देवी जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन इस पवित्र ज्ञानाग्नि को अखंड रखने के लिए आहुत कर दिया। यह उन्हीं की लगन, त्याग, तपस्या का फल है कि यह गुरुकुल सफलता के साथ अपने उद्देश्य को पूरा कर रहा है।

वर्तमान समय में माता लक्ष्मीदेवी जी की सुपुत्री श्रीमती अक्षय कुमारी जी शास्त्री, मुख्याधिष्ठात्री एवं पूज्य श्री महेन्द्रप्रताप जी शास्त्री कुलपति गुरुकुल को समुन्नत करने में सर्वात्मना लगे हुए हैं। उनके संरक्षण में यह गुरुकुल दिन दूनी-रात चौगुनी उन्नति कर रहा है।

नारी-शिक्षा के क्षेत्र में इस संस्था की ख्याति भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी

पहुँच चुकी है। इस समय भारत के प्रायः सभी प्रदेशों तथा नेपाल, थाईलैंड आदि विदेशों की ४०७ कन्याएँ शिक्षा प्राप्त कर रही हैं जिनका प्रान्तों के अनुसार विवरण इस प्रकार है—

भारत/देशान्तर	ब्रह्मचारिणी संख्या
उत्तर प्रदेश	२८२
बिहार	४८
राजस्थान	२०
दिल्ली	१३
बंगाल	६
हरियाणा	६
पंजाब	४
मध्यप्रदेश	३
असम	३
गुजरात	२
बम्बई	२
कर्नाटक	१
थाईलैंड	११
नेपाल	६
	योग ४०७

स्थिति

गुरुकुल का विशाल प्रागंण अलीगढ़-आगरा मार्ग पर अलीगढ़ से २५ किलोमीटर एवं हाथरस से ८ किलोमीटर के अन्तर पर ग्राम एवं नगरों के भौतिक जीवन की बुराइयों से दूर एकान्त स्थल में स्थित है। गुरुकुल के तपोमय जीवन पर इस वातावरण का अनुकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। ब्रह्मचारिणियों के स्वस्थ, तपःपूत जीवन, अध्ययनशील वातावरण, नियमित दिनचर्या एवं आदर्श गुरु-शिष्य सम्बन्ध के कारण यह संस्था एक प्राचीन तपोवन प्रतीत होती है।

विशेषताएँ

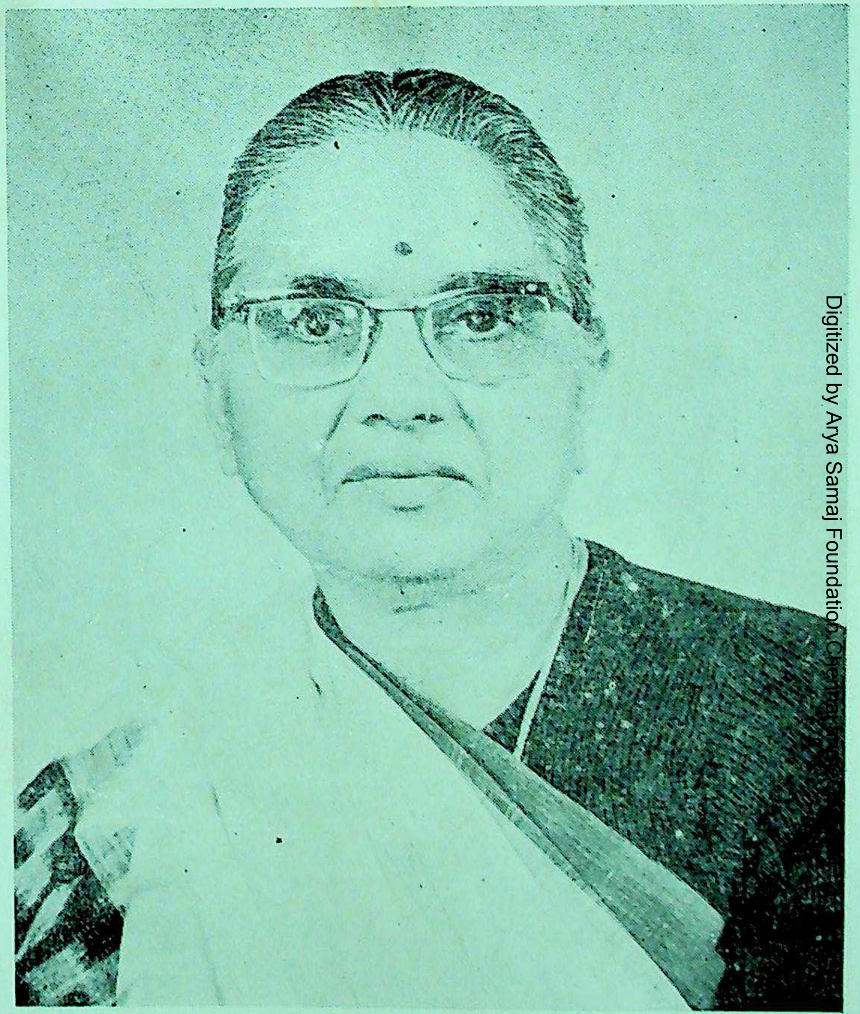
गुरुकुल की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. अनिवार्य आश्रमवास।
२. गुरु एवं शिष्य का अधिक-से-अधिक निकट सम्पर्क।
३. ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन।
४. सादा जीवन उच्च विचार।
५. सबका एक-सा रहन-सहन।
६. धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा।



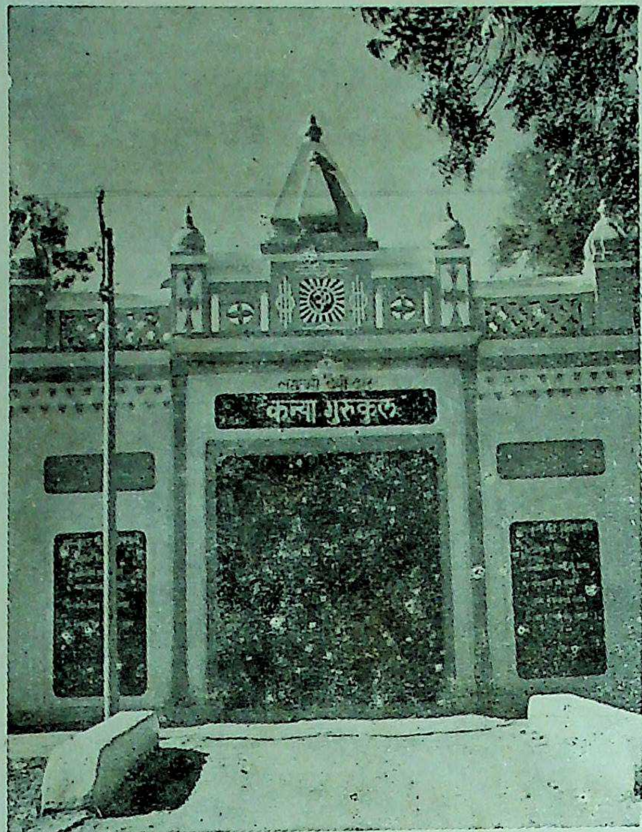
कुलमाता लक्ष्मीदेवी जी

जिन्होंने व्यास पूर्णिमा सम्वत् १९८८ (सन् १९३१) में कन्या गुरुकुल (सासनी) हाथरस को पुनरुज्जीवित कर तीस वर्ष तक अपने त्याग, तपस्या और अध्यवसाय-पथ से पाल-पोसकर पल्लवित और पुष्पित किया तथा यहीं पर महिलाओं की आदर्श शिक्षा के अपने स्वर्णिम स्वप्न को मूर्त्तरूप दिया।



आचार्या अक्षयकुमारी जी शास्त्री

माता लक्ष्मीदेवी जी की पुत्री, जो माता लक्ष्मीदेवी जी के बाद गुरुकुल को जीवन दान देकर अपने अथक परिश्रम एवं लगन से गुरुकुल को निरन्तर उन्नति-पथ पर अग्रसर कर रही हैं।



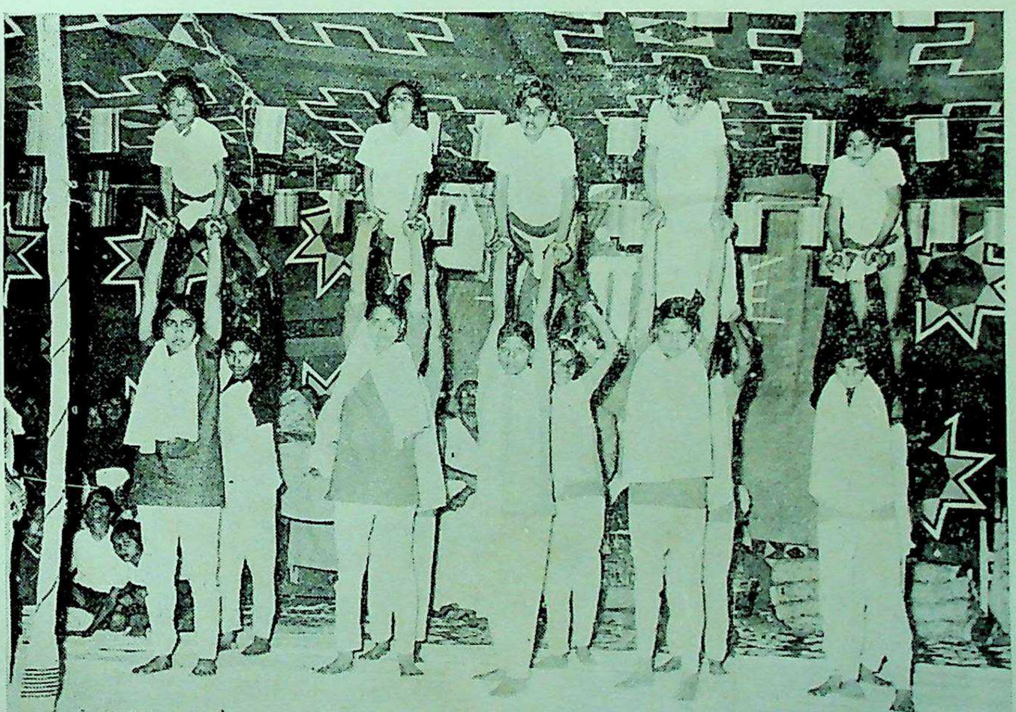
कन्या गुरुकुल का मुख्य द्वार



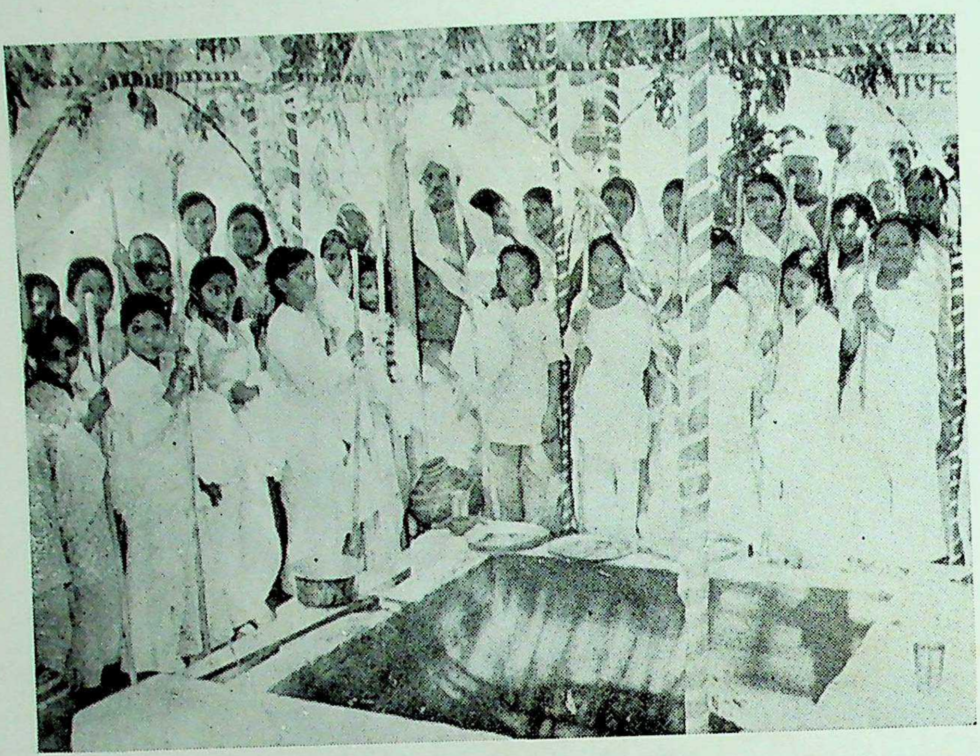
कन्या गुरुकुल का आश्रम द्वार



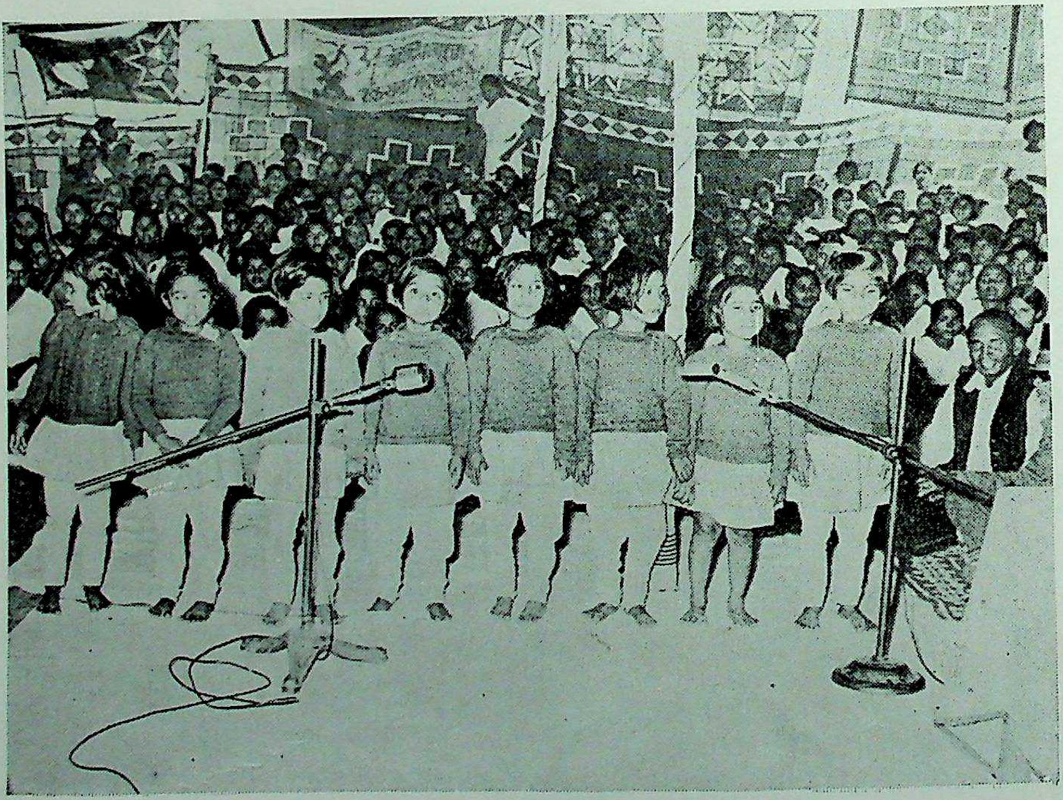
योगासनों का प्रदर्शन करती हुई ब्रह्मचारिणियाँ



स्तूप निर्माण का प्रदर्शन करती हुई ब्रह्मचारिणियाँ



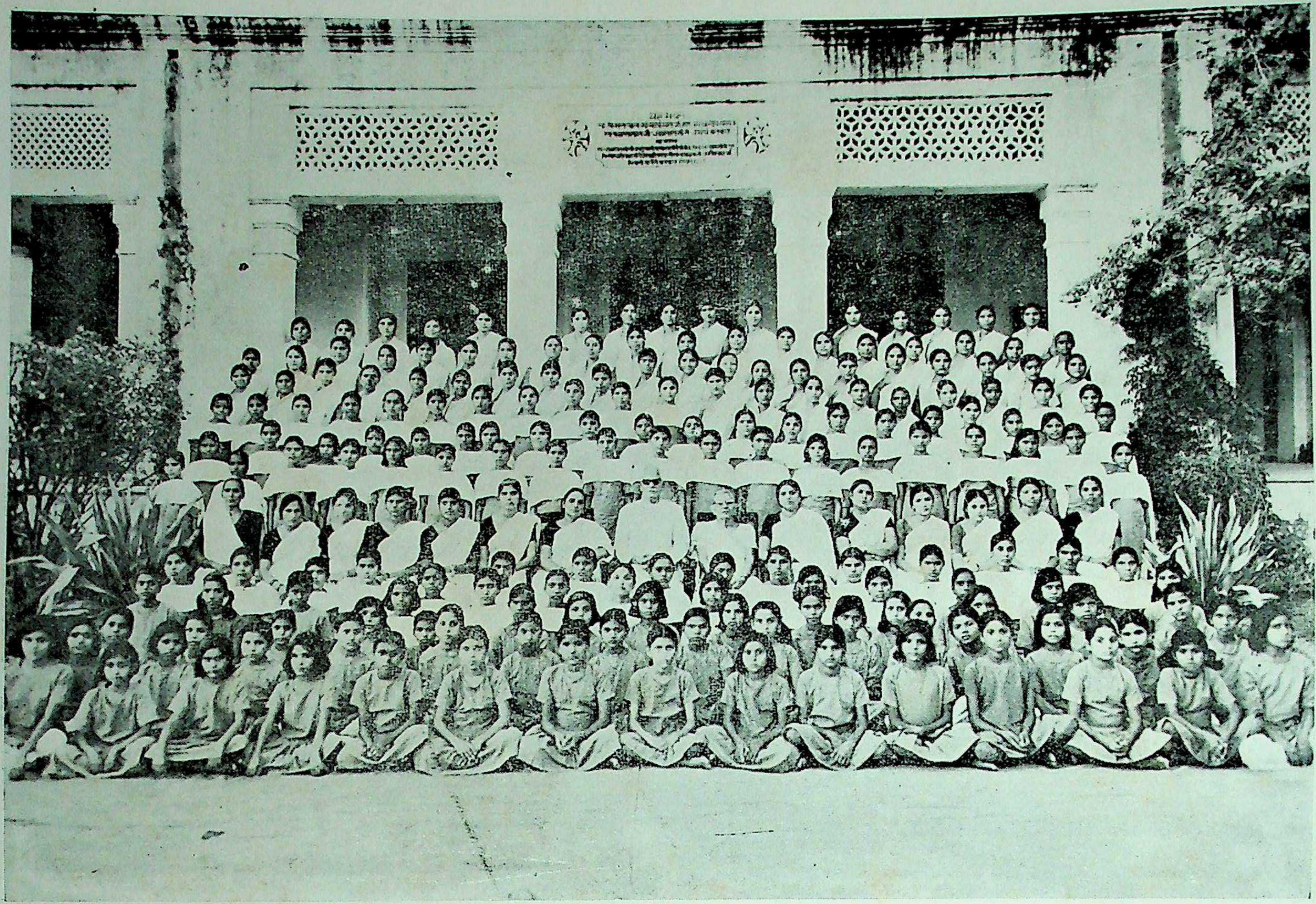
वार्षिकोत्सव पर नवीन प्रविष्ट ब्रह्मचारिणियों के उपनयन संस्कार का एक दृश्य



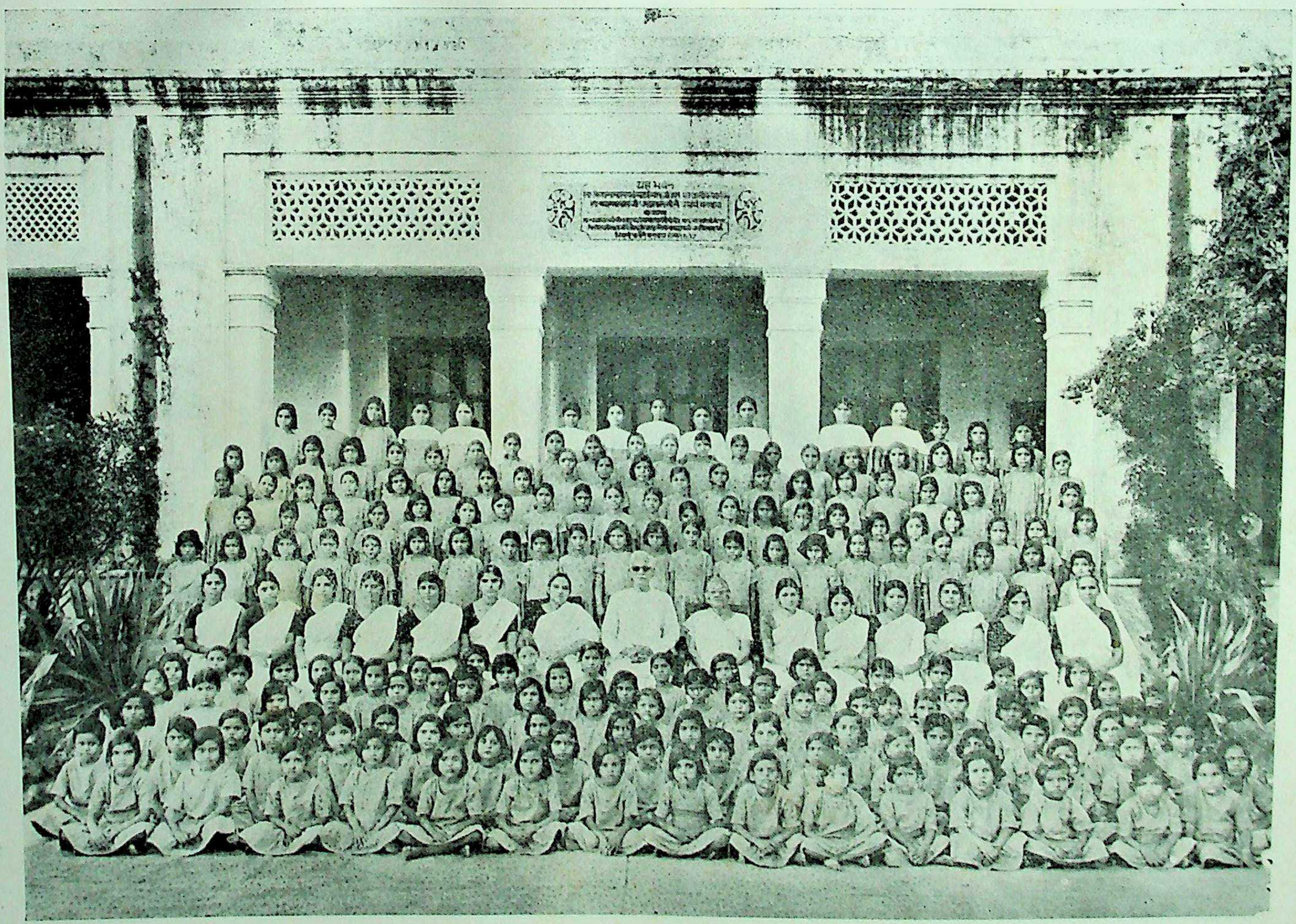
श्लोक पाठ करती हुई शिशु कक्षा की ब्रह्मचारिणियाँ



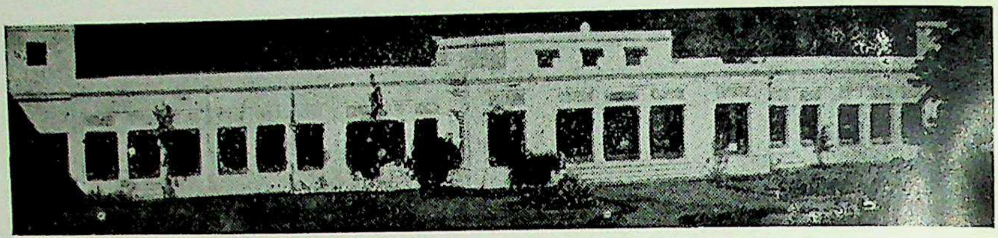
कन्या गुरुकुल का शिक्षक वर्ग माननीय कुलपति जी एवं मुख्याधिष्ठात्री जी के साथ



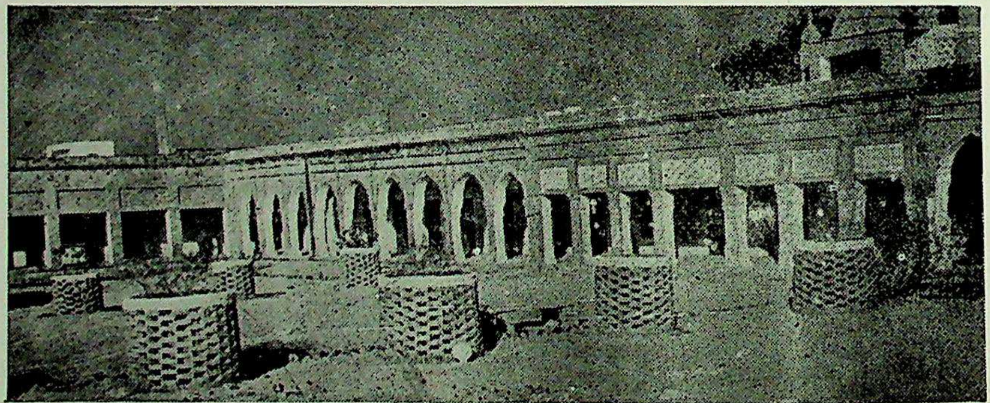
कन्या गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग की ब्रह्मचारिणियाँ शिक्षिकाओं एवं अधिकारी वर्ग के साथ



कन्या गुरुकुल के विद्यालय विभाग की ब्रह्मचारिणियाँ शिक्षिकाओं एवं अधिकारी वर्ग के साथ



विद्यालय भवन का एक भाग



आश्रम भवन का एक भाग

७. निःशुल्क शिक्षा।
८. मातृभाषा द्वारा शिक्षा।
९. स्त्रियोचित विषयों की शिक्षा।
१०. बी० ए० स्तर तक की शिक्षा।
११. सबसे समान वर्ताव।

शिक्षा

गुरुकुल की पाठविधि शिशु (नर्सरी) कक्षा से १४ वीं कक्षा (बी० ए० स्तर) तक की है। पाठविधि में धर्म, वेद, दर्शन, उपनिषद्, संस्कृत (व्याकरण तथा साहित्य), हिन्दी, अँग्रेजी, गणित, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, नागरिक शास्त्र, समाज शास्त्र, गृहविज्ञान और संगीत आदि आधुनिक एवं प्राचीन विषय सम्मिलित हैं।

गुरुकुल की अपनी परीक्षाओं के अतिरिक्त गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की अधिकारी से शिरोमणि, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी की प्रथमा से आचार्य तक और प्रयाग संगीत समिति, इलाहाबाद की गायन, तबला, तन्त्रवाद्य (सितार, बाँसुरी) में प्रथम से षष्ठ वर्ष (संगीत प्रभाकर) तक की परीक्षाओं का प्रबन्ध है। सभी परीक्षाओं का केन्द्र गुरुकुल है।

गुरुकुल का एक विभाग एम० ए० आदि परीक्षाओं के लिए कन्याओं को स्वाध्यायी परीक्षार्थिनियों के रूप में तैयार करता है।

पुस्तकालय

गुरुकुल में एक पुस्तकालय है, जिसमें संस्कृत, हिन्दी और अँग्रेजी भाषा की ६२८३ पुस्तकें हैं। पुस्तकालय के साथ वाचनालय भी है, जिसमें संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी के दैनिक, साप्ताहिक एवं मासिक पत्र आते हैं।

शुल्क

ब्रह्मचारिणियों से शिक्षा, छात्रावास, क्रीड़ा सामान्य चिकित्सा आदि के लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता। केवल भोजन के लिए ५५-६५ रुपये मासिक एवं प्रसाधन (साबुन, तेल आदि) के लिए ५.०० रुपये मासिक लिया जाता है। भोजन में शुद्ध घृत, दुग्ध एवं जलपान सम्मिलित हैं। पुस्तकों एवं वस्त्रों का मूल्य अभिभावकों को देना होता है। ब्रह्मचारिणियों के नियत वेश के वस्त्र गुरुकुल में ही तैयार कराये जाते हैं।

पढ़ने में अच्छी और आर्थिक दृष्टि से निर्बल ब्रह्मचारिणियों को छात्रवृत्तियाँ भी दी जाती हैं।

आश्रम

आश्रम जीवन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली का आधार-स्तम्भ कहा जा सकता है। यहाँ सभी कन्याएँ आश्रम में रहती हैं और प्रत्येक ब्रह्मचारिणी पर वैयक्तिक ध्यान रखा जाता है। आश्रम का जीवन नियमित, अनुशासनपूर्ण एवं कठोर है। आश्रम की एक निर्धारित दैनिक दिनचर्या है, जिसका पालन प्रत्येक ब्रह्मचारिणी के लिए आवश्यक है। प्रातः-सायं सन्ध्या-यज्ञ होता है। सब कन्याओं का नियत वेश है। वे खद्दर और करघे के वस्त्र पहनती हैं।

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य

गुरुकुलवासियों का स्वास्थ्य प्रायः सन्तोषजनक रहता है। कभी-कभी खुजली, सदृश रोग एवं मलेरिया आदि कष्ट पहुँचाते हैं। गुरुकुल में एक राजकीय होम्योपैथिक चिकित्सालय है। इसके अतिरिक्त बाहर के भी एक डाक्टर निश्चित हैं, जो प्रायः प्रतिदिन गुरुकुल आते हैं। आवश्यकता होने पर हाथरस, अलीगढ़, आगरा भेजकर भी चिकित्सा करा दी जाती है।

व्यायाम

गुरुकुल में व्यायाम की भी समुचित व्यवस्था है। व्यायाम में सामूहिक पी० टी०, लेजिम, डम्बबैल, बैम्बो ड्रिल, आसन, कबड्डी, खो-खो आदि सम्मिलित हैं। समय-समय पर प्रतियोगिताएँ भी होती रहती हैं।

सरस्वती परिषद्

ब्रह्मचारिणियों की वक्तृत्व शक्ति एवं सामान्य ज्ञान में उन्नति के लिए गुरुकुल में एक सरस्वती परिषद् है, जिसके अधिवेशन प्रत्येक शनिवार को होते हैं। यहाँ की ब्रह्मचारिणियाँ बाहर वाद-विवाद तथा निबन्ध प्रतियोगिताओं में भी भाग लेती हैं और प्रायः पारितोषिक प्राप्त करती हैं, आर्यसमाजों के यज्ञ, उत्सवों आदि में भी भाग लेती हैं।

सार्वजनिक कार्य

गुरुकुल की ब्रह्मचारिणियाँ एवं अध्यापिकाएँ समय-समय पर सार्वजनिक कार्यों में यथाशक्ति सहयोग देती रहती हैं और इस प्रकार समाज और देश के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना सीखती हैं। समय-समय पर श्रमदान के कार्य भी करती हैं।

उत्सव

गुरुकुल में होली, श्रावणी, विजयदशमी, दीपावली आदि सभी पर्व सोत्साह मनाये जाते

हैं और वर्ष में गुरुकुल का वार्षिकोत्सव होता है। यह प्रायः वसन्तपंचमी के अवसर पर होता है। अब फरवरी १९८१ में वसन्तपंचमी के अवसर पर गुरुकुल अपनी हीरक जयन्ती मना रहा है। उत्सव के अवसर पर ब्रह्मचारिणियों द्वारा सिलाई, कढ़ाई, बुनाई आदि की तैयार की गयी वस्तुओं की एक प्रदर्शनी भी होती है जिसका सब सामान प्रायः बिक जाता है।

गौशाला एवं कृषि

गुरुकुल की अपनी गौशाला भी है, जिसमें छोटे-बड़े सब मिलाकर ४० पशु हैं। पशुओं की अच्छी नस्ल न होने के कारण प्रतिदिन बाहर से भी पर्याप्त दूध मँगाना पड़ता है।

गुरुकुल के पास लगभग दो सौ बीघे कृषि भूमि है, परन्तु उसका अधिक भाग ऊसर है। इसलिए बहुत यत्न करने पर भी भूमि में यथेष्ट मात्रा में अन्न और सब्जी उत्पन्न नहीं होते हैं।

उन्नति की ओर

पूर्ण शासकीय संरक्षण प्राप्त न होने के कारण गुरुकुल के संचालन में अधिकारियों को धनाभाव आदि अनेक असुविधाओं का सामना करना होता है। इन विषम परिस्थितियों में भी गुरुकुल निरन्तर उन्नति-पथ पर अग्रसर है जैसा कि निम्नस्थ आँकड़ों से स्पष्ट है—

वर्ष	**१९६१**	**१९८०**
(क) ब्रह्मचारिणियों की संख्या	११६	४०७
(ख) कर्मचारियों की संख्या	२०	५४
(ग) आय-व्ययक (बजट)	५३,००० रुपया	६,२८,१८० रुपया

गुरुकुल की आर्थिक व्यवस्था दृढ़ करने के लिए निम्नलिखित निधियाँ स्थापित की गयी हैं। दान के धन का उपयोग दानदाता की इच्छानुसार ही किया जाता है।

१. **स्थिर निधि**—इसका धन बैंक आदि में जमा रहेगा और केवल ब्याज ही व्यय किया जायेगा।
२. **छात्रवृत्ति-निधि**—इसका धन बैंक आदि में जमा रहेगा और केवल ब्याज से निर्धन कन्याओं को छात्रवृत्ति दी जायेगी।
३. **भवन-निर्माण-निधि**—इस निधि से प्राप्त धन से भवनों का निर्माण होगा और ५०० रुपया अथवा अधिक देने वाले सज्जनों के नाम के पत्थर लगाये जायेंगे।
४. **पारितोषिक-निधि**—इस निधि की राशियाँ बैंक में जमा रहेंगी और उनकी ब्याज से उत्तम परिणाम दिखाने वाली ब्रह्मचारिणियों को पदक, विजय-वैजयन्ती अथवा अन्य पुरस्कार दिये जायेंगे।
५. **प्रकाशन-निधि**—इसके लिए दान में प्राप्त राशियाँ बैंक में जमा रहेंगी और उनके ब्याज से पत्रिका एवं स्थायी साहित्य की ज्ञानवर्धक पुस्तकें प्रकाशित की जायेंगी। दानदाताओं के नाम पुस्तक पर उनके चित्र सहित मुद्रित किये जायेंगे।

विकास कार्य

गुरुकुल के भवन-निर्माण आदि कार्यों में प्रतिवर्ष कुछ-न-कुछ वृद्धि होती रहती है। आश्रम में ऊपर की मंजिल पर भी चार कक्षों का निर्माण हो गया है। दो कक्ष निर्माणाधीन हैं, तब कहीं ब्रह्मचारिणियों के रहने की समुचित व्यवस्था हो पायेगी। भवनों की कमी एवं साधनों के अभाव के कारण पर्याप्त कन्याओं को प्रवेश न दे पाना हमारी दुःखद विवशता है। संस्था के संचालकों की हार्दिक अभिलाषा है कि गुरुकुल को भारत की उच्च कोटि की आदर्श शिक्षा-संस्था के रूप में विकसित किया जाये, जिसकी पूर्ति के लिए कई नवीन योजनाएँ आरम्भ करने का निश्चय किया गया है। उनमें आयुर्वेद विभाग, दीक्षा विद्यालय, वैदिक अनुसंधान पीठ, शोध पुस्तकालय, छोटी कन्याओं के लिए पृथक् आश्रम, चिकित्सालय एवं आतुरालय, नवीन यज्ञशाला, अध्यापिका आवास निर्माण आदि सम्मिलित हैं।

इन सब योजनाओं की पूर्ति के लिए प्रचुर धनराशि की आवश्यकता है। अधिकारी वर्ग सतत प्रयत्नशील है।

• • •